श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिविश्वेश्वरसरस्वतीशिष्यश्रीमत्परमहंस—
परिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचिता

अद्वैतसिद्धिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णु—
देवानन्दगिरिशिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरिविरचितया
सत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्यया समलङ्कृता

तृतीयो भागः

सम्पादकः

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—६३

–: प्रकाशक :–

श्रीदक्षिणामूर्तिमठ प्रकाशन
डी ४९/९ मिश्र पोखरा
वाराणसी– २२१०१०
उत्तरप्रदेश

प्रथम संस्करण
विक्रमी सम्वत् – २०६७ (चैत्र शुक्ल प्रतिपदा)
शाङ्कराब्द – १२२२
दिनाङ्क – १६ मार्च २०१०
मूल्य – रु. १५०.००

पुस्तकप्राप्तिस्थान

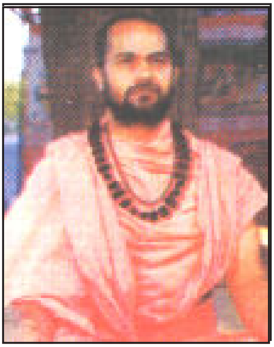
श्रीदक्षिणामूर्तिमठ
डी ४९/९ मिश्र पोखरा
वाराणसी– २२१०१०
उत्तरप्रदेश

(अंशिका कम्प्यूटर्स, कनखल–हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

शिवसम्मतिः



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ–
निरञ्जनपीठाधीश्वरस्वामिपुण्यानन्दगिरिमहाभागः

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।

सर्वेषामपि भारतीयदर्शनानां भवतु नाम आस्तिकानां वा नास्तिकानां ऊहापोहस्य प्रयोजनं मोक्ष एवेति विचारेण ज्ञायते। मोक्षः खलु नास्तिकानां वा आस्तिकानां मते भिन्नमेव स्वरूप– माधत्ते। तत्र नास्तिकानां मते पारिभाषितो मोक्षो
विश्वस्मिन् आधुनिकैः विचारकैः नाधिक आद्रीयते। आस्तिकैः सुपरिभाषितं मोक्षस्वरूपं तु ६
विचारकाणां चेतसि सहसा रत्युपादकं भवति। तत्रापि अनेकैः वादैः वादिभिः परिभाषितं मोक्षः भेदः अभेदः भेदाभेदः विशिष्टः शुद्धः शुद्धाशुद्धः इति मत्वा मननशीलानां मनीषीनां न बुद्धिसमाधानं परिदधातीति। अतः अपौरूषेयपुन्दोषादिरहितवेदतात्पर्यभूता तु अद्वैत एव सिद्धान्तः विचारकाणां आदरणीयतया स्वीकृतो विद्वद्भिरिति निश्चेतुं शक्यतेः।

यैः द्वैताग्रहं मनसि निधाय अद्वैतसिद्धान्तविखण्डनाय महान् प्रयत्नः कृतः तैरपि स्वात्मकल्याणायैव हिरणाक्षहिरण्यकशिपुरावणकुम्भकर्णशिशुपालदन्तवक्त्रवद् विद्वेष–विधया विखण्डनायैव अद्वैतोपासना कृता। तेषामप्युद्धाराय भगवता मधुसूदनेन स्वयमेव आचार्यरूपेण समुत्तीर्य यद् द्वैतसिद्धान्तखण्डनं कृतं तदपि तेषां द्वैतीनां उद्धारायैव मन्ये। यत्र श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादानां सम्यङ् न समुद्धारिता तत्र भगवता ब्रह्मानन्दसरस्वतीस्वामिना प्रपूरिता लघुचन्द्रिकारूपेण, यथा न्यायामृतकारा वर्णयन्ति—नाविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिः। तथाहि सा हि असाध्यत्वापत्त्या नात्मरूपा। नापि तद्भिन्ना सती, अद्वैतहान्यापत्तिः। अत एव आत्मभिन्ना मिथ्यारूपा न सा भवति, अविद्यातत्कार्यत्वान्यतरापत्तेः। अद्वैतसिद्धिकारा–स्तुनिरूपयन्ति—चरमवृत्त्युपलक्षितात्मैवाज्ञाननिवृत्तिः। उपलक्षणसाध्यतयैव मुक्तेरपि साध्यता। पाके निवृत्तेऽपि पाचकानिवृत्तिवद् मुक्तेरपि न निवृत्तिः। तरङ्गिणीकारास्तु प्रतिपादयन्ति–श्रवणादिजन्यवृत्त्युपलक्षितात्मा नाज्ञानहानिः, असाध्यत्वापत्तेः। उपलक्षणसा–ध्यतयौपचारिकसाध्यत्वे चौपचारिकपुरुषार्थत्वं मोक्षस्य समापद्येत। लघुचन्द्रिकाकारास्तु

विवेचयन्ति—अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वरूपं पुरुषार्थत्वं न साध्यत्वघटितमिति नौपचारिकसा—ध्यत्वेन पुरुषार्थत्वौपचारिकत्वापत्तिरिति।

श्रीमधुसूदनसरस्वती प्रणीताऽद्वैतसिद्धिरियं परमतनिराकरण—स्वमतस्थापनाभ्यां नान्यो निबन्धो दर्शनीयतमः। यथाऽद्वैतसिद्ध्या द्वैतमिथ्यात्वश्रुतिप्रमाणप्रदर्शनेन तत्सत्वसा—धकप्रमाणाभावनिरूपणेन च सूत्रभाष्यादिकं श्रवणरूपं तथा श्रुतिसिद्धेऽपि तत्र तर्काभासाभासीकरणेन सत्तर्कावष्टम्भेन विनिश्चयमादधानेयं अद्वैतसिद्धिः मननमेवेति मन्यामहे। एवं च ''श्रोतव्यो मन्तव्यः'' इति श्रवणमिव मननमप्यवश्यकर्त्तव्यमिति अद्वैतसिद्धिपठन—मत्यन्तमावश्यकमेव।

एतद् हिन्दी भाषायां मननशीलानां अद्वैतमननं परमतनिरासपूर्वकं कयारीत्या भवेदिति भावनया प्रेरितेन श्रीमत्स्वामि विशुद्धानन्दगिरिणा महता परिश्रमेण अनुभवरूपेण स्वीकीयां योग्यतां संयोज्य विशिष्टरूपेण सम्पादितं ग्रन्थरत्नं अतिदीर्घकालपर्यन्तं छात्राणां मननशीलानां महदुपकाराय भवेदिति हृदयतः शुभकामः क्रियते मया।

भगवत्पादीयः
स्वामिपुण्यानन्दगिरिः
उमामहेश्वरसन्यास—आश्रमः
कनखलः हरिद्वारः
उत्तराखण्डः

ॐ श्रीकाशीविश्वनाथो विजयतेतराम्

प्रासङ्गिकम्



(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिसत्यानन्दगिरिजी महाराज वेदान्ताचार्य, भूतपूर्व वेदान्तविभागाध्यक्ष)

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।।

अर्थात् सम्पूर्ण वेद जिस पद का प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तपश्चर्याओं को जिसकी प्राप्ति का साधन बताया जाता है, जिसकी इच्छा करते हुए मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, उस पद को मैं तुमसे संक्षेप में कहता हूं, ओम् यही वह पद है। इस प्रकार के आत्मसाक्षात्कार की प्राप्ति से ही पूर्वकाल में महर्षि लोग सभी प्रकार की आसक्तियों को त्याग कर संन्यास ग्रहण करते थे। जैसा कि कहा गया है– ''एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति'' (बृ.उ. ३–५–१) अर्थात् शोक मोह जरा मृत्यु भूख प्यास आदि से रहित उस आत्मतत्त्व को जानकर विद्वान् लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठकर भिक्षाचर्या से विचरते हैं। अर्थात् भिक्षाजीवी संन्यासी हो जाते हैं। ऐसे आत्मतत्त्व के बोध ा के लिए उपनिषदों में नाना प्रकार की जो अनेकों आख्यायिकायें गुरु शिष्य संवाद रूप में, विद्वानों के पारस्परिक प्रश्नोत्तर के रूप में तथा उपदेश रूप में प्राप्त होती है। उन सबका उद्देश्य है, आत्मज्ञान की सर्वश्रेष्ठता तथा सर्वापेक्षा अधिक उपादेयता का प्रतिपादन करना। अज्ञान और अज्ञान से प्रयुक्त अनित्य वस्तुओं की ओर से पुरुषों में वैराग्य उत्पादन कर आत्मज्ञान की ओर स्वतः उन्हें उन्मुख करना उनका लक्ष्य है। अत एव वे आख्यायिकायें सत्य है या असत्य– इस बात का आग्रह नहीं किया जाता है। जैसा कि कहा गया है–आख्यायिका तु विद्याग्रहणविधिप्रदर्शनार्था विधिस्तुत्यर्था च राजसेवितं पानीयमितिवत्। अर्थात् आख्यायिका तो विद्याग्रहण की विधि प्रदर्शित करने के

लिए तथा विधि की प्रशंसा करने के लिए है। जैसे किसी जल को श्रेष्ठ बतलाने के लिए यह कह दिया जाता है कि यहां का पानी तो राजा भी ग्रहण कर चुके है। ऐसी ब्रह्मविद्या की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती है जब तब अज्ञान विद्यमान है। इस अज्ञान का क्या लक्षण है? इसमें प्रमाण क्या है? इस पर विशेष विचार अद्वैतसिद्धि के इस भाग में किया गया है। इसी प्रकार एकजीववाद का निरूपण करते हुए अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्वपक्षी के द्वारा उठाये गये सभी पक्षों का मार्मिक ढंग से खण्डन किया है। जैसे—" न च तत्त्ववित्त्वेन श्रुत्यादिसिद्धानां शुकवामदेवादीनां मुक्तिर्मा भूत्, मम तु भविष्यतीति कथं श्रद्दध्यादिति वाच्यम्, शास्त्रप्रामाण्यदार्ढ्यादिति गृहाण, अन्यथा तेषा महानुभावानां मुक्तत्वेऽपि मम भविष्यति न वेति शङ्कापिशाच्या प्रवृत्तिप्रतिबन्धापत्तेः।" (एकजीववादविचार खण्ड संख्या १५) अविद्या का आश्रय क्या है? और विषय क्या है? इसका भी विश्लेषण बहुत ही युक्तिपूर्वक किया गया है। अज्ञान के कारण जो अध्यास होता है। उसका निरूपण तथा अनिर्वाच्यत्व के लक्षण और प्रमाण का निरूपण और ख्याति का निरूपण, सत्तात्रैविध्य का निरूपण बहुत ही सुगमतापूर्वक श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वती जी ने किया है, जो मुमुक्षुओं और विद्वानों दोनों को ही आनन्द देने वाला है। अद्वैतसिद्धिकार के भावों को "सत्यानन्दप्रबोधिका" टीका में श्री स्वामिविशुद्धानन्दगिरि जी ने सरल हिन्दी भाषा में सुस्पष्ट किया है। आशा करते हैं कि इससे अध्ययन और अध्यापन में पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा। सत्यानन्दप्रबोधिकाकार श्रीस्वामिविशुद्धानन्दगिरि जी के सर्वविध अभ्युदय के लिए भगवान् श्रीकाशीविश्वनाथ जी से प्रार्थना करते हैं। इति शिवम्।।

भगवत्पादीय
स्वामिसत्यान्दगिरि
श्रीस्वामिभोलानन्दविद्याभवन
बी ८/४१ बाडा गंभीर सिंह
वाराणसी (उत्तरप्रदेश)

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

शुभाभिप्राय



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य विद्वद्वरिष्ठ श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्स्वामिस्वयम्प्रकाशगिरि जी महाराज

'तमेव विदित्वा अति मृत्युम् एति' आदि श्रुति से निर्धारित है कि अद्वैत साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ का एकमात्र उपाय है। इस साक्षात्कार के लिये प्रमाण मात्र उपनिषत् है तथा उपनिषदों के अभिप्राय को निःशंक हृदयंगत करने के लिये विभिन्न आचार्यों के दिव्य प्रबन्ध हैं। सकल विचार पुरुषापराध की विनिवृत्ति में सफल है ऐसा कहते हुए श्रीसर्वज्ञात्ममहामुनि विचारात्मक सभी ग्रन्थों का विनियोग स्पष्ट कर देते हैं। ऐसे प्रयासों में सम्भवतः सर्वाधिक सार्थक आचार्य मधुसूदन सरस्वती कृत अद्वैतसिद्धि है। भले ही द्वैतवादी आलोचना का वह प्रतिवाद है फिर भी वेदान्त सिद्धान्त की पूर्ण स्पष्टता के लिये उसका अध्ययन अप्रतिम प्रभावी होता है। किन्तु वह ग्रंथ प्रौढ अधिकारी के लिये रचा होने से सामान्य जिज्ञासु को वह दुर्बोध रहता है। इस समस्या के समाधानार्थ संभवतः प्रथम प्रयत्न पण्डित योगेन्द्रनाथ बागची ने किया। उनसे पूर्व की व्याख्याएं मूल के सरल उपस्थापन के प्रयोजन वाली नहीं रहीं। हिन्दी में श्री रामेश्वर ब्रह्मचारी एवं उदासीनप्रवर स्वामी श्री योगीन्द्रानन्दजी की व्याख्यायें सुलभ हैं किन्तु ग्रंथ की हर पंक्ति का सावतरण स्पष्टीकरण उनमें भी दुर्लभ है। विद्वद्वर श्री स्वामी विशुद्धानन्द गिरि जी ने अद्वैतसिद्धि का विधिवत् अध्ययन श्री स्वामी सत्यानन्द गिरि जी महाराज से किया तथा सभी विद्यारसिकों के उपकारार्थ सम्प्रदाय–प्राप्त अभिप्राय को अनेक युक्ति–प्रमाणों से सुसज्जित कर प्रांजल स्पष्ट लोक–प्रचलित भाषा में उपनिबद्ध किया। प्रारम्भिक भाग पूर्व में प्रकाशित हो चुके हैं। आचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज ने उन भागों का अवलोकन कर व्याख्या को अत्यन्त सन्तोषजनक पाया था। एकजीववाद से प्रारंभकर प्रथम परिच्छेद की समाप्ति पर्यन्त का भाग उनके विदेह कैवल्य के अनन्तर प्रकाश में आ रहा है।

यद्यपि साधनावस्था में बहुजीववाद का ही अनुसरण सम्भव है तथापि युक्ति–अनुसन्धान एक स्तर पर आवश्यक कर देता है कि एकजीववाद अंगीकार किया जाये। मधुसूदन स्वामी अन्यत्र उसे मुख्य वेदान्त सिद्धान्त इसी दृष्टि से कहते हैं कि मुख्याधिकारी के लिये वह उपयुक्त है। जिसे स्वयम् 'अपने' से भी वैराग्य हो चुका है वही इस वाद को आत्मसात् कर सकता है। इसके अनन्तर अविद्या के लक्षण–प्रमाणों पर चिंतन किया गया है। प्राचीन आचार्य ही अविद्या की भावरूपता व्यक्त कर गये हैं, फिर भी आज तक कुछ वेदान्त–विचारक

इस विषय में भ्रान्त मिलते हैं जो संभवत: पर्याप्त उहापोह के उपस्थापक ग्रंथों के परिशीलन के अभाव से है। संभव है इस सुगम व्याख्या से ऐसे प्रवक्ता—प्रचारक लाभ उठाकर मौलिक स्थापनाओं से परिचय पा लेंगे। अभाव के संदर्भ में वेदान्त का दृष्टिकोण सिद्धिग्रंथ में काफी स्पष्ट किया गया है। अविद्या—आश्रय समझना भी शांकर दर्शन के अवबोध के लिये अतीव आवश्यक है और इस पर सरस्वती स्वामी ने प्रभूत विचार किया है। तदनन्तर अहम्—अर्थ का विस्तृत स्पष्टीकरण उपलब्ध है। इसके बाद कुछेक पारिभाषिक एवं प्रक्रियापयोगी बिन्दुओं पर चिंतन किया गया है।

यद्यपि अद्वैतसिद्धि वर्तमान में प्राय: केवल पारम्परिक ढंग से वेदान्ताध्ययन करने वालों द्वारा पढ़ी जा रही है तथापि जो कोई अद्वैत का गम्भीर चिंतक हो, अद्वैत में प्रतिष्ठित होना चाहे, उसे सिद्धान्त—विषयक जिस स्पष्टता की जरूरत है उसके लिये आचार्य मधुसूदन का यह ग्रन्थरत्न अवश्य ज्ञातव्य है। नव्यन्याय की भाषा में ग्रथित होने से आधुनिक विवेचक इससे भय खायें यह स्वाभाविक है किन्तु उनके लिये सुबोध रूप से इसमें स्थापित निर्णय उपस्थित किये जायें तो शायद शनै:शनै: वे भी इसके गांभीर्य से आकृष्ट होंगे। श्री स्वामी विशुद्धानंद जी ने प्रतिपंक्ति अध्येता के लिये ग्रंथ को सुगम बनाने का सफल प्रयास किया है इसमें सन्देह नहीं। एक बार पूरे ग्रंथ का ऐसा ही व्याख्यान प्रकट करने के बाद आशा है वे इसमें विचारित तत्वों का संग्रह कर उन्हें इस तरह क्रमबद्ध कर ऐसी भाषा में व्यक्त करेंगे जो नव्यन्याय की शैली से अपरिचित किन्तु मुमुक्षु वेदान्त—जिज्ञासुओं को शांकर संप्रदाय की निर्णीत मान्यताओं से परिचित करा सके। निज काल के अनुरूप जैसे आचार्यो ने भाव प्रकट किये वैसे ही वर्तमान काल के अधिकारियों के अनुरूप प्रतिपादन करना साम्प्रदायिकों का कर्त्तव्य है। वादग्रंथ मननस्थानीय हैं अत: जो वर्तमान के संदेह हैं उन्हें दूर कर सकने वाला तरीका अपेक्षित है अन्यथा इन ग्रंथो का साधना—पद्धति में स्थान ही नहीं रह पायेगा। यह कार्य अतिगंभीर है पर श्री स्वामी जी के दीर्घकालिक सिद्धिपरिशीलन एवं अध्यापनानुभव से हमें पूर्ण आशा है कि यदि इस ओर उनकी दृष्टि गयी तो वे अपने अध्यवसाय से इस पुण्य कार्य को सुयोग्य ढंग से सम्पन्न कर लेंगे। शांकर विचारधारा पर उनकी दृढ श्रद्धा ही एकमात्र हेतु है कि पूर्ण अन्तर्मुखता से वे अनवरत सारस्वत साधना में संलग्न हैं। आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज, कैलासपीठाधीश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज आदि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठों के कृपापात्र स्वामी जी को श्री स्वामी सत्यानन्द गिरि जी महाराज के परिपक्व अनुभव के प्रसाद रूप में अद्वैतसिद्धि के विस्तृत अध्ययन का जो सौभाग्य प्राप्त हुआ उसे सबको बांटने का उनका यह नि:स्वार्थ प्रयास हर वेदान्त—विद्यार्थी को अधमर्ण बनाता है— इसमें संदेह नहीं। भगवान् श्री दक्षिणामूर्ति से प्रार्थना है कि वे इसी क्रम में स्थिर रहकर परमहंस संन्यासियों के लिये आदर्श बनें एवं शास्त्र की सेवा करते हुए सभी को कृतार्थ करें।

भगवत्पादीय
स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि
श्री शङ्करमठ आबू पर्वत
सिरोही (राजस्थान)

ॐ श्रीदक्षिणामूर्तिमहादेवो विजयतेतराम्

निवेदन



यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।।

'उप' और 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'षदलृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से क्विप् प्रत्यय कर के उपनिषद् शब्द बनता है। ''उपनिषादयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।'' {जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती है, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती है तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है। उसको उपनिषद् कहा जाता है।} इस प्रकार ब्रह्मविद्या को ही उपनिषद् कहा गया है। उपनिषदों में ब्रह्मविद्या का ही प्रधानता से निरूपण किया गया है। अत: उपनिषद् को अध्यात्म विद्या भी कहते हैं। वेद के अङ्गभूत संहिता ब्राह्मण, आरण्यक में से ही ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक भागों को पृथक् कर उनको ''उपनिषद्'' नाम दिया गया है। अमरकोषकार ने उपनिषद् शब्द का अर्थ किया है—धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्।'' अर्थात् गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में उपनिषद् शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार उपनिषद् की विशेष महिमा होने के कारण ही वेद के शिरोभाग उपनिषद् के अर्थ को अपने सिद्धान्त के अनुकूल करने के लिए और अन्य सिद्धान्त के विरुद्ध करने के लिए आचार्यों के द्वारा वाद—जल्प और वितण्डा कथा का आश्रय करके अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया गया। इसी परम्परा में द्वैतवादी व्यासतीर्थ द्वारा रचित न्यायामृत का खण्डन कर अद्वैतसिद्धान्त का उपनिषदादि सम्मत—युक्ति सम्मत तथा अनुभवादि से युक्त ''अद्वैतसिद्धि'' की संरचना श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वती जी के द्वारा की गयी है। अद्वैतसिद्धि के इस भाग में एक जीववाद तथा अज्ञान और अज्ञान के कारण होने वाले देहादि के अध्यास तथा सत्तात्रैविध्य पर विचार किया गया है। अद्वैतसिद्धि के इस भाग का विशेष महत्व है, क्योंकि जब तक जिज्ञासु आचार्यादि का आश्रय करके अज्ञान को पार कर नहीं पाता, तब तक वह शोकादि को पार कर अनन्तसुख में गोता नहीं लगा पाता है, जिसे उपनिषदों में स्पष्ट किया गया है। जैसे—'' नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद् दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगव: शोचामि तं मां भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु।'' (छा.उ. ७—१—३) { आत्मा को मैं नहीं जानता हूं, अर्थात् आत्मा का मुझे अज्ञान है। मैंने आप पूज्यजनों के जैसे महापुरुषों से सुना है कि आत्मज्ञानी शोक को पार कर जाता है और हे भगवन् मैं शोक करता हूं। ऐसे शोकग्रस्त मुझे शोक से पार कर देवें।} इसलिए आचार्यादि जिज्ञासु के अज्ञान की निवृत्ति के लिए ही प्रयत्न करते हैं। (जैसे ''तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार:'' (छा.उ. ७—२६—२)

{अर्थात् रागद्वेषादि रूप कषाय सं रहित नारदजी को भगवान् सनत्कुमार ने अविद्या संज्ञक अन्धकार से परे परमार्थ तत्त्व का दर्शन करा दिया} ऐसे अज्ञान का लक्षण क्या है? इसमें प्रमाण क्या है? इत्यादि प्रश्नों का समाधान ग्रन्थ के इस भाग में विशेष रूप से किया गया है जो कि अन्यत्र दुर्लभ है। इन सभी विषयों को सुगमतापूर्वक जिज्ञासु ग्रहण कर सकें—इसके लिए गुरुजनों का आश्रय करके ''सत्यानन्दप्रबोधिका'' टीका लिखी गयी है। आशा करते हैं कि इससे जिज्ञासुओं को अवश्य लाभ होगा।

सर्वप्रथम सद्गुरु, दीक्षागुरु एवं विद्यागुरु जनों के युगलचरण कमलों में भूयस: प्रमाण निवेदन करता हूं। आपके ही आशीर्वाद से यह लेखन कार्य चल रहा है। श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ निरञ्जनपीठाधीश्वर आ.म.म. अनन्तश्री विभूषित ब्रह्मलीन स्वामिमहेशानन्दगिरि जी महाराज के युगलचरणकमलों में भूयस: प्रणाम निवेदन करता हूं। आप के प्रेरणा और सहयोग से ही अद्वैतसिद्धि के इस भाग का प्रकाशन हुआ। श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यनिरञ्जनपीठाधीश्वर महामण्डलेश्वरश्रीस्वामिपुण्यानन्दगिरि जी महाराज के द्वारा ग्रन्थ के इस भाग पर ''शिवसम्मति:'' लिखने से इस भाग में एक अपूर्वता आयी है। जिसके लिए आपके प्रति हम हृदय से आभार प्रकट करते हैं। ''प्रासङ्गिकम्'' लिखने के लिए और मार्गदर्शन के लिए विद्यागुरु श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीस्वामिसत्यानन्दगिरि जी महाराज के प्रति सदैव हृदय से आभारी रहूंगा। आपके वरदहस्त की छत्रछाया में ही यह लेखन आदि कार्य हो रहा है। विद्वद्वरिष्ठ त्यागमूर्ति परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्स्वामिस्वयंप्रकाशगिरि जी महाराज के द्वारा ''शुभाप्रियाय'' जो लिखा गया है तथा इस भाग में संसोधनादि कार्य किया गया है। उसके लिए आप का सदा कृतज्ञ रहूंगा। समादरणीय डा० सुरेशराय का धन्यवाद करता हूं। आपने "Two Words "(दो शब्द) लिखकर हमें अनुग्रहित किया है। श्रीविश्वनाथधाम (सुन्दरनगर—मण्डी—हिमाचलप्रदेश) के अध्यक्ष परमहंसपरिव्राजकाचार्य परमादरणीय श्रीमत्स्वामिब्रह्मानन्दतीर्थ जी महाराज एवं श्रीविश्वनाथधाम (सुन्दरनगर—मण्डी, हिमाचलप्रदेश) के सभी भक्तों का हृदय से धन्यवाद करता हूं। सपरिवार आप सभी का जीवन मङ्गलमय हो— इसके लिए भगवान् श्री दक्षिणामूर्तिमहादेव के युगल चरणकमलों में प्रार्थना करता हूं। इस भाग के प्रूफ संशोधनादि कार्य में सहयोग करने वाले डा० श्रीहंसचैतन्यजी (वेदान्ताचार्य पी.एचडी.), डा० श्री सुमन झा जी (साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य, एम.ए., पी.एचडी.) के मङ्गलमय जीवन के लिए भगवान् श्रीदक्षिणमूर्तिमहादेव से प्रार्थना करता हूं। सावधानी पूर्वक प्रूफ संशोधनादि कार्य करने पर भी कुछ त्रुटियां रह ही जाती है। पाठकों से सङ्केत प्राप्त होने पर अग्रिम संस्करण में उनका सुधार कर दिया जायेगा। इति शिवम्।

भगवत्पादीय
स्वामिविशुद्धानन्दगिरि
श्रीविश्वनाथधाम सुन्दरनगर मण्डी
(हिमाचल प्रदेश)

सोमवती अमावस्या
विक्रमी संवत् २०६६
शाङ्कराब्द—१२२२
दिनाङ्क १५—३—२०१०

Two Words

Dr. Suresh Rai
B.A.M.S., D.H.O.
Bijnor (U.P.)

Advaita-Siddhi, the word itself says the meaning of achieving ultimate realisation through non-dualism. The one who has achieved can only be the authority to write commentary on it.

Swami Visuddhananda Giri ji with his lucid and exhaustive commentary –सत्यानन्दप्रबोधिका in Hindi with his hard labour & putting Question and Answer section (प्रश्नोत्तरी) in earlier version at end of the work (appendix) will definitely impress the readers. Infact this प्रश्नोत्तरी incorporated at the end of the work can be used by the beginners as an item for independent study. Swami Visuddhananda ji is well known among the student of Advaita-Siddhi of Shri Madhusudana Saraswati.

In modern age of Philosophy. It has become necessary for Universities of world all over to establish a research section. Basically people are getting attracted towards Indian philosophy. Only because not having knowledge of Sanskrit the scholars are unable to find the real meaning and finding it very difficult. Among four siddhis Naishkarmya, Ishta, Brahma and Advaita. Advaita Siddhi is the most renowned among four, the most celebrated work of Shri Madhusudan Saraswati.

May this fourth part of Advaita Siddhi serve as a means of bringing Shri Madhusudan Saraswati's Vedantic classic commentrated by Swami Visuddhananda ji to greater number of readers.

Dr. Suresh Rai

अनुक्रमणिका

तृतीय भागे

ॐ

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

प्रथमः परिच्छेदः

१—एकजीववादविचारः

स च द्रष्टैक एव; तन्नानात्वे मानाभावात्।।१।।

ननु— कथमेक एव जीवः, प्रतिशरीरं 'अहं सुखी, अहं दुःखी, अहं संसारी, अहमस्वाप्सम्(अहमस्य स्वामी)'इत्याद्यनुभवविरोधादिति चेन्न; अविद्यावशाद् ब्रह्मैवैकं संसरति। स एव जीवः। तस्यैव

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता

सत्यानन्दप्रबोधिका

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

यो धत्ते भुवनानि सप्त गुणवान् स्रष्टा रजः संश्रयः
संहर्त्ता तमसान्वितो गुणवतीं मायामतीत्य स्थितः।
सत्यानन्दमनन्तबोधममलं ब्रह्मादिसंज्ञास्पदं
नित्यं सत्त्वसमन्वयादधिगतं पूर्णं शिवं धीमहि।
शिवेतिनामदावाग्नेर्महापातकपर्वताः। भस्मीभवन्त्यनायासात् सत्यं सत्यं न संशयः।।
अरुणकिरणजालैरञ्जिता सावकाशा, विधृतजपवटीका पुस्तिकाभीतिहस्ता।
इतरकरवराढ्या फुल्लकल्हारसंस्था, निवसतु हृदि बाला नित्यकल्याणशीला।।
शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम्। सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने। व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।

जिस द्रष्टा की दृष्टि ही सम्पूर्ण प्रपञ्च की सृष्टि है—(ऐसा जो पीछे प्रकरण में कहा गया) वह जीवरूप द्रष्टा एक ही है, क्योंकि उस जीवरूप द्रष्टा के नानात्व में प्रमाणाभाव है। [यहां पर यह समझ लेना चाहिए कि दृष्टि सृष्टि पक्ष में जीव एक ही होता है और वह है—अविद्यावच्छिन्न चैतन्य (मतान्तर में हिरण्यगर्भ) न कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य। इस एक जीववाद पक्ष में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीवाभास कहते हैं। अर्थात् जो वास्तविक अविद्यावच्छिन्न चैतन्य रूप जीव है, उसके द्वारा अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपजीव कल्पित है]।।१।।

शङ्का— इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि एक ही जीव कैसे हो सकता है? क्योंकि भिन्न—भिन्न शरीरों में "मैं सुखवाला हूं, मैं दुःखवाला हूं, मैं जन्म—मरणादिरूप संसार वाला हूं, मैं सोया था, (मैं इसका स्वामी हूं)।" इस प्रकार की विभिन्न विरुद्ध अनुभूतियां एक जीववाद का विरोध कर रही हैं। [अर्थात् जिस समय एक शरीरावच्छिन्न आत्मा में "अहं सुखी" इस प्रकार का अनुभव हो रहा है, उसी समय अन्य शरीरावच्छिन्न आत्मा में "अहं दुःखी" ऐसा अनुभव होते हुए देखा जाता है। इसलिए एककालावच्छेदेन "अहं सुखी—अहं दुःखी" इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अनुभव की उपपत्ति एक ही जीव मानकर नहीं हो पायेगी। अतः नाना जीव मानना चाहिए।]

प्रतिशरीरमहमित्यादिबुद्धिः स्वाप्नशरीरे 'अयं सुखी अयं दुःखी'इत्येव यत्र बुद्धिर्न त्वहं सुखीत्यादि, तत्तुनिर्जीवम्। यत्र त्वहमित्यादि तत् सजीवम्। जाग्रच्छरीरान्तरे अहमिति प्रतीत्यवच्छेदके सजीवतोक्तिर्न

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त शङ्का का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार कह रहे हैं कि उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या के वशीभूत होकर एक ब्रह्म ही संसारी हो रहा है और वह अद्वितीय ब्रह्म ही जीव है और उसी को प्रतिशरीर में अहङ्कारानुभूति होती है। [अर्थात् एक ही जीव को एक ही काल में देवदत्तशरीरावच्छेदेन ''अहं सुखी'' इस प्रकार का अनुभव और यज्ञदत्तशरीरावच्छेदेन ''अहं दुःखी'' इस प्रकार का अनुभव होना वैसे ही विरुद्ध नहीं होता है जैसे कि नाना जीववाद में एक ही देवदत्त नामक जीव को एक कालावच्छेदेन ही मस्तकावच्छेदेन सुख का अनुभव होना और पादावच्छेदेन दुःख का अनुभव होना विरुद्ध नहीं होता है। कहने का आशय यह है कि एक जीववाद में समष्टि कार्य अभिमानी हिरण्यगर्भ ही एकमात्र जीव है। उसके विराट शरीर का देवदत्तादि के शरीर अवयव ही है। जैसे कि नाना जीववाद में एक जीव शरीर के मस्तक—हस्तादि अवयव होते हैं और उनमें एकावयवावच्छेदेन सुख और अन्य अवयवावच्छेदेन दुःख की व्यवस्था की उपपत्ति हो जाती है वैसे ही एक जीववाद में भी व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी क्योंकि विराट रूप जीव में देवदत्तावयवावच्छेदेन सुख और यज्ञदत्तावयवावच्छेदेन दुख की व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार विराट शरीर का अवयव रूप देवदत्तादि के प्रत्येक शरीर में ''अहं बुद्धिः'' की भी उपपत्ति हो जायेगी। जैसे कि नाना जीववाद में एक ही शरीर से नाना अवयवों में ''अहं बुद्धिः'' की उपपत्ति होती है।] स्वप्न शरीर में ''अयं सुखी, अयं दुःखी'' इस प्रकार से ही जिस शरीर में बुद्धि होती है, ''मैं सुखी'' इत्यादि प्रकार से जिस शरीर में बुद्धि नहीं होती है। वह शरीर निर्जीव होता है और जिस शरीर में ''अहं सुखी'' इत्यादि प्रकार से बुद्धि होती है। वह शरीर सजीव होता है। [अर्थात् जैसे देवदत्त स्वप्न में अनुभव कर रहा है कि ''अयं यज्ञदत्तः सुखी''। ऐसे स्थल पर यज्ञदत्त का जो शरीर है। वह निर्जीव है, क्योंकि यज्ञदत्त नाम का कोई ऐसा सजीव शरीर उस समय नहीं है, जिसको की सुख दुःख का अनुभव होता है किन्तु उस यज्ञदत्त को सुख हो रहा है—ऐसी कल्पना मात्र ही देवदत्त कर रहा है। किन्तु उसी स्वप्न काल में जिस शरीर में देवदत्त को ''अहं सुखी'' ऐसी बुद्धि होती है। वह देवदत्त का शरीर सजीव होता है। ठीक इसी प्रकार एकजीववाद में जाग्रत् काल में जिस शरीर में ''अहं सुखी'' इत्यादि बुद्धि होती है। वह शरीर सजीव होता है और जिसमें ''अयं सुखी'' इत्यादि बुद्धि होती है। वह शरीर निर्जीव होता है।] अहम्— इत्याकारक प्रतीत्यवच्छेदक जो जाग्रत्कालीन शरीरान्तर में सजीवता का कथन जो किया है, वह द्वितीय जीव के सजीवत्व के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि द्वितीय जीव की सत्ता में प्रमाणाभाव है। [अर्थात् जिस जाग्रत् कालीन देवदत्त के शरीर में ''अहं सुखी'' ऐसी बुद्धि के होने से देवदत्त के शरीर को सजीव कहा गया। उसी प्रकार देवदत्त के शरीर से भिन्न यज्ञदत्त के शरीर में भी ''अहं सुखी'' ऐसी बुद्धि होने से जो सजीवता का कथन किया गया है। वह देवदत्त रूप जीव से भिन्न यज्ञदत्तरूप जीव है। इसलिए यज्ञदत्त का शरीर सजीव है—इस अभिप्राय से नहीं कहा गया है किन्तु एक ही हिरण्यगर्भ रूप जीव को लेकर ''अहं सुखी'' इत्यादि बुद्धि वाले शरीरों को सजीव कहा गया है। जैसे नाना जीववाद में एक ही शरीर के प्रत्येक अवयवों को जैसे सजीव कहा जाता है। वह भिन्न—भिन्न जीव को लेकर के नहीं कहा जाता है, अपितु एक ही जीव को लेकर के कहा जाता है।] यह जो पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया कि बन्ध मोक्षादि की व्यवस्था की अनुपपत्ति ही जीव भेद

द्वितीयेन जीवेन सजीवत्वमित्यभिप्रेत्य, तत्र मानाभावात्। बन्धमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तिस्तत्र मानमिति चेन्न, बन्धमोक्षगुरुशिष्यादिव्यवस्थायाः स्वप्नवद्यावदविद्यमुपपत्तेः।।२।।

न चैवं तस्मिन्नेकस्मिन्नेव जीवे सुप्ते समस्तजगदप्रतीत्यापातः, समष्ट्यभिमानिनो मुख्यजीवस्यासुप्तत्वात्। तस्मिन् लयकाले प्रसुप्ते जगदप्रतीतेः। अन्तःकरणावच्छिन्ने जीवाभासे तु, सुप्ते तमेव प्रति जगदप्रतीतिः, न त्वन्यानपि प्रति, तदुपाधीनामप्रलीनत्वात्। संस्कारस्य कारणात्मना स्थितेर्न सुप्तस्य पुनरुत्थानानुपपत्तिरित्युक्तम्। एतेन— मम कल्पकत्वे तव मोक्षार्थं प्रवृत्त्ययोगः, तव

सत्यानन्दप्रबोधिका

में प्रमाण है। [अनुपपत्ति का आकार—जीवभेदं विना कश्चिद् बद्ध अपरश्च मुक्त इत्यादि व्यवस्था अनुपपन्ना।] ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि बन्ध मोक्ष, गुरुशिष्यादि की व्यवस्था स्वप्नावस्था के समान अविद्या जब तक रहती है तब तक बन जायेगी। [जैसे एक ही देवदत्त के स्वप्न में कोई बद्ध है, कोई मुक्त है और कोई गुरु है, कोई शिष्य है—यह सभी व्यवस्था बनती है वैसे ही एक ही हिरण्यगर्भरूप जीव की सृष्टि में भी बद्धादि की व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी।]।।२।।

शङ्का— इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि एक ही जीव है तब तो उसी एक जीव के सुषुप्तिगत होने पर समस्त जगत् के अप्रतीति की आपत्ति आयेगी।

समाधान— इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि ऐसी शङ्का उचित नहीं है क्योंकि समष्ट्यभिमानी मुख्य जीव (हिरण्यगर्भ) असुप्त है और प्रलय काल में उसके सुप्त हो जाने पर जगत् की प्रतीति नहीं होती है। [अर्थात् समष्ट्यभिमानी जो हिरण्यगर्भ है, वह जब तक सृष्टि रहती है, तब तक सोता नहीं है अर्थात् उसका एक कल्प एक दिन के समान होता है और प्रलयकाल एक रात्रि के समान होता है। अतः सृष्टि के समय वह सोता नहीं है। इसलिए उस समय जगत् के अप्रतीति की आपत्ति नहीं आयेगी और प्रलयकाल में उसके सोने पर जगत् की प्रतीति नहीं होती है।] भिन्न—भिन्न अन्तःकरणों के द्वारा अवच्छिन्न भिन्न—भिन्न जीवाभासों में से किसी एक के सो जाने पर उस सुप्त जीवाभास के प्रति ही जगत् की अप्रतीति होती है। असुप्त अन्य जीवाभासों के प्रति जगत् की अप्रतीति नहीं होती है, क्योंकि असुप्त जीवाभासों की उपाधिभूत अन्तःकरणों का लय नहीं हुआ है। [यहां पर प्रश्न होता है कि ''सुषुप्तिकाले सकले विलीने...... '' इस श्रुति के आधार पर संस्कार सहित सम्पूर्ण प्रपञ्च विलीन होने पर संस्कराभाव के कारण पुनः जागत् अवस्था में उत्थान कैसे होगा? अर्थात् उत्थान नहीं होना चाहिए। इसके उत्तर में कह रहे है कि] संस्कार कार्यात्मना विलीन होने पर भी कारणात्मना रहता ही है। अतः सुप्तपुरुष के पुनः उत्थान की अनुपपत्ति नहीं होगी—यह बात दृष्टिसृष्टिविचार के प्रसङ्ग में खण्ड संख्या ७ में कह चुके हैं। एतेन=समष्ट्यभिमानी को मुख्य जीवरूप से स्वीकार करने पर, पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि आप बद्ध है मैं मुक्त हूं—ऐसी कल्पना करने वाला मुख्य जीव यदि मैं हूं तब तो वास्तव में आप बद्ध हैं नहीं, क्योंकि मैनें ही आप के बद्धत्व मात्र की कल्पना की है। अतः आप को मोक्ष के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए। मैं बद्ध हूं और आप मुक्त हैं—ऐसी कल्पना करने वाला मुख्य जीव यदि आप हैं तब तो मेरे प्रति आप को मोक्ष के लिए उपदेश देना अनर्थक है, क्योंकि वास्तव में मैं बद्ध नहीं हूं, क्योंकि मेरे में बद्धत्व की कल्पना आपके द्वारा की गयी है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्न में जैसे पर्यनुयोग (इस प्रकार के प्रश्न करना) अयुक्त है, वैसे प्रकृत में भी पर्यनुयोग अयुक्त है। [अर्थात् जहां देवदत्त स्वप्न देख रहा है कि यज्ञदत्त देवदत्त को बद्ध समझ कर उपदेश कर रहा है, तब उस स्थिति में काल्पनिक (स्वाप्निक) यज्ञदत्त से यह प्रश्न करना नहीं बनता है कि तुम मुझे उपदेश क्यों दे रहे हो? ऐसे ही

कल्पकत्वे त्वत्कल्पितास्मदादिबोधार्थं तव शब्दप्रयोगाद्यनुपपत्तिः, न च स्वप्नवत् पर्यनुयोगा योगः, एवमपर्यनुयोज्यत्वे निर्मर्यादतया कथानधिकारप्रसङ्गादितिनिरस्तम्, चैत्रमैत्रादिसर्वाभिमानिनो जीवस्य कल्पकत्वेन तव ममेत्यादिविकल्पानुपपत्तेः। नापि स्वक्रियादिविरोधः, स्वक्रियायाः कल्पितत्वादिनिश्चय–विरहकालीनत्वेन पर्यनुयोगायोगात्।।३।।

अथ ब्रह्मण एव जीवत्वेन तस्यैव बन्धमोक्षाविति तस्य नित्यमुक्तत्वादिश्रुतिविरोधः, न, मुक्तेः स्वस्वरूपत्वेन बन्धस्य चाविद्यकत्वेन तदविरोधः। न हि मृगतृष्णिकाकल्पितोदकेन स्वभावशुष्का

सत्यानन्दप्रबोधिका

यदि आप कल्पना कर रहे हैं कि मैं बद्ध हूं और मोक्ष के लिए प्रयत्न कर रहा हूं तब हमारे प्रति यह प्रश्न किया नहीं जा सकता कि मोक्ष के लिए क्यों प्रयत्न कर रहे हो? क्योंकि आप की दृष्टि से मैं तो काल्पनिक व्यक्ति हूं और काल्पनिक व्यक्ति से प्रश्न किया नहीं जा सकता है। [ऐसा सिद्धान्ती का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नदृष्ट काल्पनिक व्यक्ति के जैसे अपर्यनुयोज्यत्व (प्रश्न करने का अयोग्यत्व) होने पर तो स्वप्न के समान ही सभी मर्यादाओं का उल्लङ्घन करने वाले सिद्धान्ती को तो जल्पादि कथा में अनधिकार का प्रसङ्ग प्राप्त होगा–ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि चैत्रमैत्रादि कल्पक ही नहीं है किन्तु चैत्र मैत्रादि सर्वाभिमानी मुख्य जीव के कल्पकत्व होने से "चैत्र कल्पक है, या मैत्र कल्पक है।" इत्यादि विकल्प की अनुपपत्ति है। [चैत्र–मैत्र दोनों के कल्पित होने पर भी चैत्र की मैत्र के प्रति उपदेशार्थ प्रवृत्ति हो जाती है, क्योंकि चैत्र मैत्र दोनों कल्पित हैं–यह भान चैत्र को नहीं रहता है। जैसे स्वप्न में देवदत्त देख रहा है कि चैत्र मैत्र को उपदेश दे रहा है। वहां चैत्र मैत्र दोनों कल्पित होने पर भी चैत्र की मैत्र के प्रति उपदेशार्थ प्रवृत्ति होती है। ऐसे स्थल पर किसी प्रकार का दोष नहीं माना जाता है ठीक वैसे ही प्रकृत में भी मानने पर किसी प्रकार का दोष उपस्थित नहीं होगा।] चैत्र बद्ध है–ऐसी कल्पना स्वयं करके, स्वयं ही चैत्र को मोक्षार्थ उपदेश देना रूप स्वक्रिया में विरोध होता है, क्योंकि वास्तव में चैत्र बद्ध नहीं है– ऐसा विरोध पूर्वपक्षी के द्वारा नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि चैत्र बद्ध है–ऐसी स्वयं कल्पना कर रहा हूं–ऐसा देवदत्त को ज्ञात होने पर भी यदि देवदत्त के द्वारा चैत्र को उपदेश दिया जाता तब ऐसा उपदेश देना रूप स्वक्रिया में विरोध आयेगा किन्तु चैत्र मेरे द्वारा कल्पित है– ऐसा निश्चय जिस समय देवदत्त को नहीं है, उस समय यदि देवदत्त चैत्र को उपदेश दे रहा है तब "तुम ऐसा क्यों कर रहे हो?" ऐसा देवदत्त से पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता है।।३।।

शङ्का– पीछे खण्ड संख्या २ में सिद्धान्ती ने कहा था कि "अविद्यावशाद् ब्रह्मैवैकं संसरति। स एव जीवः" इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि ब्रह्म का जीवत्व होने से ब्रह्म को ही बन्ध और मोक्ष प्राप्त होगा। ऐसा होने पर उस ब्रह्म को नित्य मुक्त कहने वाली [नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तम् (नृसिहो प. ९/८) इत्यादि] श्रुतियों से विरोध होगा।

समाधान– नहीं, क्योंकि अविद्या निवृत्तिरूप मुक्ति ब्रह्म का स्वस्वरूप है और अविद्यारूप बन्ध काल्पनिक होने से नित्य मुक्तत्व बोधक श्रुतियों के साथ विरोध नहीं है, क्योंकि मृगतृष्णिका से कल्पित जल से स्वभावतः शुष्क मरुभूमि आर्द्र नहीं होती है। एतेन=एक ही मुख्य जीव के कल्पक होने से। पीछे खण्ड संख्या ३ में कहा गया था कि "चैत्रमैत्रादिसर्वाभिमानिनो जीवस्य कल्पकत्वेन ...." अर्थात् सभी शरीरों में एक ही जीव को अहम् अभिमान होता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि मुख्य जीव को अपने समष्टिशरीर में अहम्–अभिमान तो हो सकता है किन्तु व्यष्टि नाना शरीरों में अहम्–अभिमान नहीं हो सकता है, क्योंकि कल्पक को कल्पित शरीर में अहम्–ऐसी

मरुभूमिरार्द्रा भवति। एतेन– कल्पितस्य जीवस्य कल्पकं प्रति प्रत्यक्त्वायोगः, तेन कल्पकेन प्रत्यक्त्वेनाज्ञानात्, अन्यस्यानुभवितुरभावात्, तथानुभवापलापे एकजीवाद्वैतश्रुत्यादेरप्यसिद्धिरिति–निरस्तम्, अनेकशरीरे एकजीववादस्याङ्गीकारात्।।४।।

न च– तर्हि तमेव प्रति प्रत्यक्त्वपराक्त्वयोरयोगः, मैत्रं प्रति त्वमितिधीविषयस्य चैत्रस्य तमेव प्रति अहमितिधीविषयत्वायोगश्चेति–वाच्यम्, भिन्नभिन्नान्तःकरणाभेदाध्यासेन तत्तदन्तःकरणमादाय प्रत्यक्त्वपराक्त्वाहमित्यादिबुद्धिविषयत्वव्यवस्थोपपत्तेः। न च चैत्रसुखदुःखादीनां मैत्रेणानुसन्धनापत्तिः, अन्तःकरणावच्छिन्नेनाविद्यावच्छिन्नेन वा? नाद्यः, तत्र परस्परं भेदात्। न द्वितीयः, इष्टापत्तेः। अत

सत्यानन्दप्रबोधिका

बुद्धि होती नहीं है,क्योंकि उस कल्पक जीव से कल्पित जीव प्रत्यक्त्वेन ज्ञात नहीं है। एक ही जीव स्वीकार करने के कारण कल्पित शरीरों में एक जीव से अन्य कोई जीव अहम्–इस प्रकार से अनुभव करने वाला माना नहीं जा सकता है। नाना शरीरों में जीव को जो प्रत्यक्त्वेन अनुभव होता है, उस अनुभव का अपलाप करने पर एक जीव, अद्वैत श्रुत्यादि की भी सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि एक जीव–अद्वैतश्रुत्यादि का भी अपलाप सम्भव है–ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि अनेक शरीरों में एक ही जीव माना जाता है [अर्थात् पूर्वपक्षी का उक्त दोष एक शरीर एक जीववाद पक्ष में तो हो सकता है किन्तु सिद्धान्त मत में एक शरीर एक जीववाद को स्वीकार नहीं किया जाता है किन्तु अनेक शरीर एकजीववाद को स्वीकार किया जाता है। अतः एक ही जीव का अनेक शरीर होने के कारण वह अपने शरीरों में अहम् बुद्धि कर लेगा (जैसे नाना जीववाद में एक ही जीव अपने शरीर के विभिन्न अवयवों में अहम् बुद्धि कर लेता है।।४।।

शङ्का–नाना शरीरों में एकजीव स्वीकार करने पर उस एक जीव के ही प्रति प्रत्यक्त्व और पराक्त का अयोग है और मैत्र के प्रति ''त्वम्'' इत्याकारक धी का विषय जो चैत्र है, उस चैत्र को मैत्र के ही प्रति ''अहम्'' इत्याकारकधी विषयत्व का भी अयोग है। [पूर्वपक्षी के कहने का आशय यह है कि अनेक शरीरों में एक जीव मानने पर सभी शरीरों में केवल ''अहम्'' इत्याकारक बुद्धि ही होगी। अतः जिसमें ''अहम्'' बुद्धि होगी, उसमें ''त्वम्'' बुद्धि नहीं होगी। इस प्रकार से एक जीववाद मानने पर ''त्वम्'' इत्याकारक बुद्धि की सिद्धि नहीं हो पायेगी। दूसरी बात यह भी है कि अनेक शरीरों में एक जीव स्वीकार करने पर जिस चैत्र को मैत्र ''त्वम्'' शब्द से कहता है, उसी चैत्र को ''अहम्'' शब्द से भी मैत्र द्वारा कहना चाहिए किन्तु ऐसा व्यवहार देखा नहीं जाता है। अतः एकजीववाद नहीं माना जा सकता है।]

समाधान–उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि भिन्न–भिन्न अन्तःकरणों के साथ तादात्म्याध्यास होने के कारण तत्तदन्तःकरण को लेकर प्रत्यक्त्व, पराक्त्व तथा अहम्–त्वम्–इत्यादि बुद्धियों के विषयत्व की व्यवस्था उपपन्न हो जायेगी। [अर्थात् एक साथ सभी अन्तःकरणों में अभेदाध्यास उस एक जीव को नहीं होता है किन्तु जिस समय जिस अन्तःकरण के साथ अभेदाध्यास होगा। उसमें ''अहम्'' बुद्धि होगी और जिस अन्तःकरण में जिस समय अभेद भ्रम नहीं होगा, उस समय उसमें ''त्वम्'' बुद्धि होगी।]

शङ्का– यदि एक ही जीव सभी शरीरों में स्थित है तब तो चैत्र के द्वारा अनुभूत सुखादि का मैत्र को भी अनुसन्धान होना चाहिए। [कहने का आशय यह है कि एक जीव को जो दूसरे जीव के सुखादि का अनुसन्धान नहीं होता है। उसका प्रयोजक है–व्यावहारिक जीवभेद। एकजीववाद में व्यावहारिक जीवभेद माना नहीं जाता है अपितु प्रातिभासिक जीवभेद माना जाता है। अतः एक

एव—चैत्रस्य शुक्तिसाक्षात्कारेण रजतभ्रमनिवृत्तावन्येषामपि तन्निवृत्तिः स्यादिति—निरस्तम्, अन्तःकरणभेदेन व्यवस्थोपपत्तेः। ननु—एवं मुक्तावपि चैत्राद्यन्यतमान्तःकरणावच्छेदेन साक्षात्कारे उत्पन्ने तदवच्छेदेनैव संसारनिवृत्तिः स्यात्, न तु तदितरान्तःकरणावच्छेदेनेति—चेन्न, तत्साक्षात्कारस्य सविलासमूलाज्ञाननिवृत्तिरूपतया तत्कालेऽन्तःकरणस्याभावेन वैषम्यात्।।५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीववाद में अननुसन्धान का प्रयोजक (व्यावहारिक जीव भेद) न होने के कारण चैत्र के द्वारा अनुभूत सुखादि का मैत्र को भी अनुसन्धान होना चाहिए।]

समाधान—नहीं, क्योंकि जीव दो प्रकार का होता है। १—अन्तःकरणावच्छिन्न जीव। २—अविद्यावच्छिन्न जीव। यदि पूर्वपक्षी अन्तःकरणावच्छिन्न मैत्रीयजीवाभास को अनुसन्धानापत्ति देता है तो वह उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तमत में जीव को एक माना जाता है किन्तु जीवाभासों को एक नहीं माना जाता है। अतः अन्तःकरणावच्छिन्न जीवाभासों में व्यावहारिक भेद होने के कारण अननुसन्धान की उपपत्ति हो जायेगी। दूसरी बात यह भी है कि जीवाभासों में प्रातिभासिक भेद मानकर भी स्वप्न के जैसे अननुसन्धान की उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि स्वप्न में देवदत्त देख रहा है कि मैत्र सुख का अनुभव कर रहा है और चैत्र दुःख का अनुभव कर रहा है। यदि पूर्वपक्षी अविद्यावच्छिन्न मैत्र नामक मुख्य जीव को अनुसन्धानापत्ति देता है। तबतो उसमें इष्टापत्ति है, क्योंकि अविद्यावच्छिन्न जीव समष्ट्यभिमानी होता है। उसको सभी जीवों के कृत्याकृत्य का भान एवं अनुसन्धान होता ही है। अत एव=जीव के एक होने पर भी अन्तःकरणों के भिन्न—भिन्न होने से ही, चैत्र को शुक्ति साक्षात्कार से रजतभ्रम की निवृत्ति होने पर मैत्रादि के रजतभ्रम की भी निवृत्ति हो जायेगी—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि अन्तःकरणों के भेद से व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी। [अर्थात् जीव एक ही है किन्तु चैत्र के अन्तःकरण द्वारा अवच्छिन्न (तादात्म्याध्यासापन्न) होकर उस एक जीव को जब शुक्ति साक्षात्कार होगा तब चैत्र अन्तःकरणावच्छिन्न उसी एक जीव को रजतभ्रम की निवृत्ति होती है किन्तु चैत्र अन्तकरणावच्छिन्न उसी एक जीव से मैत्र अन्तःकरणावच्छिन्न वही एक जीव भिन्न होने के कारण उस काल में मैत्र अन्तःकरणावच्छिन्न उसी एक जीव को रजतभ्रम की निवृत्ति नहीं होती है।]

शङ्का—अन्तःकरणों में भेद मानकर पूर्वोक्त प्रकार से व्यवस्था का प्रतिपादन करने पर मोक्ष में भी चैत्रादिसम्बन्धि—अन्यतम—अन्तःकरणावच्छेदेन साक्षात्कार उत्पन्न होने पर उस अन्यतम—अन्तःकरणावच्छेदेन ही संसार की निवृत्ति होनी चाहिए। उस अन्तःकरण से भिन्न अन्तःकरणावच्छेदेन संसार की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

समाधान—नहीं, क्योंकि मुक्तिदायक ब्रह्म साक्षात्कार कार्य सहित मूलाज्ञान की निवृत्ति रूप होने से मुक्तिकाल में अन्तःकरणों का अभाव हो जाने से किसी भी अन्तःकरणावच्छेदेन संसार की उपस्थिति नहीं दिखायी जा सकती है। जबकि शुक्ति साक्षात्कार से तत्तदन्तःकरणावच्छिन्न पल्लव रूप अज्ञान का नाश होता है न कि अन्तःकरणों का और न ही अन्य अन्तःकरणावच्छिन्न पल्लव रूप अज्ञानों का। अतः तदन्तःकरण परिणाम रूप साक्षात्कार से तदन्तःकरणावच्छिन्न पल्लव रूप अज्ञान की निवृत्ति होने से तदन्तःकरणावच्छिन्न व्यक्ति में रजतभ्रम की निवृत्ति होती है। अन्य अन्तःकरणावच्छिन्न व्यक्ति के पल्लव रूप अज्ञान की न निवृत्ति होती है और न उसके भ्रम की ही निवृत्ति होती है। इस प्रकार से शुक्ति साक्षात्कार और ब्रह्म साक्षात्कार में वैषम्य है। अतः शुक्ति साक्षात्कार के बल पर प्रकृत में विरोध का उद्भावन नहीं किया जा सकता है।।५।।

ननु' श्रुतिषु 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' इत्यादावविद्या, 'रमणीयचरणाः' इत्यादौ कर्मबन्धः, 'सति सम्पद्य न विदु:'इत्यादौ सुषुप्तिः, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्था' इत्यादौ तत्त्वज्ञानं, 'परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे'इत्यादौ मुक्तिश्च चेतनधर्मः कथमनेकेषूच्यत इति— चेन्न, 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते'इत्यादि श्रुतिष्वेकवचनप्राप्तैकत्वविरोधेनोदाहृतश्रुतीनामनेकत्वपरत्वाभावात्। सार्वजनीनभ्रमसिद्धतदनुवादेनाविरोधात्।।६।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— ''अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः'' (क. उ. १—२—५) यह श्रुति ''वर्तमानाः'' इत्यादि बहुवचनान्त पदों के द्वारा अविद्या ग्रस्त जीवों के अनेकत्व का प्रतिपादन कर रही है। ''तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा'' (छा. ५—१०—७) यह श्रुति भी पुण्य—पाप रूप कर्मो की भिन्नता के माध्यम से अनेक जीवों का ही प्रतिपादन करती है।'' ''खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति'' (छा. ६९२) यह श्रुति भी ''सर्वाः प्रजाः'' इत्यादि बहुवचनान्त पदों के द्वारा सुषुप्ति में सभी जीवों के ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन करते हुए अनेक जीववाद का ही समर्थन कर रही है। ''वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।। (मु.उ. ३—२—६) इस श्रुति में स्थित ''सुनिश्चितार्थाः'' इस बहुवचनान्त पद के द्वारा यह दिखलाया गया है कि अनेक जीवों को तत्त्वज्ञान होता है और ''परिमुच्यन्ति सर्वे'' इन बहुवचनान्त पदों से दिखलाया गया है कि अनेक चेतन जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होती है। अतः इस श्रुति के द्वारा भी अनेक जीववाद का ही समर्थन किया गया है। [कहने का आशय यह है कि उक्त श्रुतियों में चेतन वाचक (जीववाचक) जो शब्द है उनसे बहुवचनवाचक प्रत्ययों का प्रयोग है। अतः जीवों में अनेकत्व सिद्ध होता है।]

समाधान— अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा।। (अनादि माया से सोया हुआ जीव जब तत्त्वबोध द्वारा ठीक प्रकार से जाग जाता है, तब उसे जन्म, निद्रा तथा स्वप्न से रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है।) (मा. कारिका—१/१६) इत्यादि श्रुतियों में ''जीवः'' इस एकवचनान्त पद से प्राप्त एकत्व से विरोध होने के कारण पूर्वपक्षी के द्वारा उदाहृत श्रुतियों को अनेक जीव बोधक नहीं माना जा सकता है। यहां पर प्रश्न होगा कि पूर्वोक्त उदाहृत श्रुतियों में बहुवचनान्त पदों का प्रयोग क्यों किया गया? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि जन साधारण में जो जीवानेकत्व का भ्रम है, उस भ्रम से सिद्ध जो जीवानेकत्व है। उसी का अनुवाद पूर्वोक्त उदाहृत श्रुतियों में किया गया है। अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है। [यद्यपि ''अनादि मायया.......'' यह वचन गौडपादीय माण्डूक्यकारिका में विद्यमान है न कि माण्डूक्य श्रुति में तथापि पूर्वपक्षी गौडपादीयकारिका में श्रुतित्व मानता है—इसीलिए अद्वैतसिद्धिकार के द्वारा श्रुतिरूप से इस कारिका का उल्लेख किया गया है। अथवा ''एको देवः सर्वभूतेषु गुढ़'' ''पुरत्रये क्रीडति यस्तु जीवस्ततस्तु जातं सकलं प्रविश्यामूढ़ो मूढ़ इव व्यवहरन्नास्ते, स एष इह प्रविष्टः।'' इत्यादि श्रुतियों और ''देही कर्मानुगोऽवशः शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि गृह्णाति नरः। '' इत्यादि स्मृतियों के अभिप्राय को आचार्यप्रवर ने उक्त कारिका के माध्यम से स्पष्ट किया है''। अतः उक्त कारिका को भी श्रुति शब्द से कहना उचित है और सिद्धान्त मत में गौडपादीय कारिकाओं को श्रुति के जैसे ही आदर दिया जाता है। अतः सिद्धान्त मत की दृष्टि से उक्त कारिका को श्रुति शब्द से कहना सर्वथा ही उचित है।]।।६।।

न च—उदाहृतश्रुतिविरोधेन 'इति सृष्टौ विनिश्चिताः' इति पूर्वेण 'स पूज्यः सर्व—भूतानाम्'इत्युत्तरेण च विरोधेनेदमेकवचनं 'यदा नीतिपरो राजा' 'स्वर्गकामो यजेत'इत्यादि—वन्नैकत्वपरमित्येव किं न स्यादिति—वाच्यम्, प्रत्यक्त्वपराक्त्वमहमित्यादिव्यवहार—प्रयोजकान्तःकरणाभेदाध्यासबलाद् बहुत्वस्य प्राप्तत्वेन पूर्वोत्तरवाक्योदाहृतश्रुत्यादीनामतत्परत्वात्।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती एकवचनान्त पद घटित श्रुति के अनुरोध पर पूर्वोक्त उदाहृत श्रुतियों के बहुवचनान्त पदों का अर्थ अनेक जीव न कर के एक जीव अर्थ कर रहे है, वैसे ही बहुवचनान्त पद घटित श्रुतियों के अनुरोध पर उक्त श्रुति के एकवचनान्त पद का अर्थ (एक जीव) अविवक्षित कर के अनेक जीवपरक कर दिया जाय। [यहां पर प्रश्न होगा कि सिद्धान्ती के पक्ष को स्वीकार न कर के पूर्वपक्षी के पक्ष को स्वीकार करने में एकतर पक्षपातिनी युक्ति क्या है? इसके उत्तर में आगे पूर्वपक्षी युक्ति दे रहा है।] उक्त एकवचनान्त पद घटित गौड़पादीय श्रुति (मा. कारिका १—१६) अपने पूर्वश्रुति (मा. कारिका १/८) और उत्तर श्रुति (मा. कारिका १—२२) से विरुद्ध है। जैसे ''इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः। कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः।'' (मा. कारिका १—८) इस पूर्व श्रुति में '' विनिश्चिताः'' इत्यादि बहुवचनान्त पदों के द्वारा अनेक जीवों का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार ''त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः। सः पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः।'' (मा. कारिका १/२२) इस उत्तर श्रुति में ''सर्वभूतानाम्'' इस बहुवचनान्त पद के द्वारा अनेक जीवों का उल्लेख किया गया है। अतः ''अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः.......'' इस श्रुति में जीव प्रातिपदिक के उत्तर एकवचन एकत्व का बोधक नहीं है। जैसे ''यदा नीतिपरो राजा'' यहां राजन् प्रातिपदिक से उत्तर एकवचन एकत्व का बोधक नहीं माना जाता, क्योंकि एक ही राजा नीतिपरक हो और अन्य राजा नीतिपरक न हो—ऐसा अर्थ विवक्षित नहीं है किन्तु सभी राजा नीतिपरक हो—ऐसा ही अर्थ विवक्षित है। इसी प्रकार ''स्वर्गकामो यजेत'' यहां पर भी ''स्वर्गकामः'' में एकवचन एकत्व का बोधक नहीं है, क्योंकि एक ही स्वर्ग काम याग करे, अन्य स्वर्गकाम याग न करें—ऐसा अर्थ नहीं किया जाता है किन्तु सभी स्वर्गकाम याग करें ऐसा ही अर्थ विवक्षित है। अतः इन स्थलों पर जाति में एकवचन है। इसलिए बहुवचनान्त पद घटित उदाहृत श्रुतियों से जैसे अनेक जीवों का कथन किया गया है ठीक वैसे ही एक वचनान्त पद घटित श्रुति से भी अनेक जीवों का कथन किया गया है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जीव एक होने पर भी अज्ञानियों को जो अनेक जीव का भ्रम होता है, उसका कारण यही है कि एक ही जीव का भिन्न—भिन्न अन्तःकरणों के साथ अभेदाध्यास है। जो कि प्रत्यक्त्व, पराक्त्व, अहम्, त्वम्—इत्यादि व्यवहार का प्रयोजक है। उक्त अभेदाध्यास के बल से जीवगत बहुत्व प्राप्त है। उस प्राप्त जीवगत बहुत्व का ही अनुवाद पूर्ववाक्य (मा.कारिका १—८) तथा उत्तर वाक्य (मा.कारिका १—२२) और पूर्वपक्षी के द्वारा उदाहृत श्रुतियों के द्वारा अनुवाद किया गया है। प्रमाणान्तर से प्राप्त अर्थ के अनुवादक श्रुतिवाक्यों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं माना जाता है, क्योंकि अज्ञातार्थ के ज्ञापन में ही श्रुतियों का प्रामाण्य माना जाता है, ज्ञात ज्ञापन में नहीं। अतः पूर्व—उत्तर वाक्यों और उदाहृत श्रुतिवाक्यों के अतत्परक होने से उनके द्वारा जीवगत बहुत्व सिद्ध नहीं होगा और उनके बल पर एकवचनान्त श्रुति का अर्थ जीवगत बहुत्व बोधक भी नहीं किया जा सकता है। जबकि एकत्व बोधक श्रुति तत्परक है, क्योंकि एकत्व अप्राप्त है और एकत्व मानने में लाघव भी है।।७।।

न च—मुक्तबहुत्वं नान्यतः प्राप्तमिति—वाच्यम्, जीवबहुत्वस्य प्राप्तत्वेन मुक्त्यंश एवाप्राप्तत्वपर्यवसानात्। न चैकस्यैव जीवस्य सर्वकल्पकत्वे जीवस्य कारणत्वं निषिध्य ईश्वरकारणत्वविधायकैः श्रुत्यादिभिर्विरोधः, अविद्याचिन्मात्राश्रयत्वोपपादने निरसिष्यमाणत्वात्।।८।।

न च— एवं सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिबोधकश्रुतीनां निर्विषयत्वम्, शुद्धचैतन्ये ज्ञत्वस्यैवाभावात्, ईश्वरस्य च जीवभिन्नस्याभावाद्, जीवे सार्वज्ञ्यस्यानुभवबाधित्वादिति—वाच्यम्, समष्ट्यभिमानिनो

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का—बद्ध जीवगत बहुत्व तो लौकिक व्यवहारों और प्रमाणों से प्राप्त होने के कारण ''अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः......'' इत्यादि वाक्य जीवगत बहुत्व के प्रतिपादक नहीं है—ऐसा कथञ्चित् माना भी जा सकता है किन्तु ''परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे'' इत्यादि वाक्य जो मुक्त जीवगत बहुत्व का बोधन कराता है, वह मुक्त जीवगत बहुत्व किसी भी प्रमाणान्तर से प्राप्त न होने के कारण ''परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे'' इत्यादि वाक्य का तात्पर्य मुक्तजीवगत बहुत्व में माना ही जा सकता है। अतः जीवगत अनेकत्व बोधक वाक्यों के अनुरोध से जीवगत एकत्वबोधक वाक्यों का भी अर्थ जीवगत अनेकत्व बोधक किया जा सकता है।

समाधान— ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे'' इत्यादि वाक्य मुक्तजीवगत बहुत्व रूप एक अर्थ का बोधक जो प्रतीत हो रहा है। उस मुक्तजीवगत बहुत्व रूप अर्थ में दो अंश है। प्रथम—जीवगत बहुत्व। द्वितीय—मुक्ति। उन दोनों अंशों में से जीवगत बहुत्व रूप अंश (जो कि प्रमाणान्तर से प्राप्त है। अतः उसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है।) का अनुवाद कर के मुक्ति रूप अंश (जो कि प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं है। अतः उसका स्वार्थ में तात्पर्य है।) का प्रतिपादन श्रुति के द्वारा किया गया है। उस मुक्ति में बहुत्व प्राप्त नहीं, वह तो एक ही है। अतः इन वाक्यों के आधार पर जीवगत बहुत्व सिद्ध नहीं होता है क्योंकि प्रमाणान्तर से प्राप्त जीवगत बहुत्व का अनुवाद श्रुति के द्वारा किया गया है और अनुवादक वाक्य स्वार्थ परक माने नहीं जाते हैं।

शङ्का— एक ही जीव सम्पूर्ण प्रपञ्च का कल्पक है— ऐसा स्वीकार करने पर जीव के कारणत्व का निषेध कर के ईश्वरकारणत्व की विधायक श्रुतियों से विरोध होगा। ''श्रुत्यादि'' पद के घटक आदि शब्द से सूत्र तथा भाष्य का ग्रहण किया गया है। अर्थात् श्रुति तथा श्रुति के ऊपर जो भाष्य है उससे विरोध होगा और सूत्रादि जो है तथा उनके ऊपर जो भाष्य है, उनसे विरोध होगा। अतः एक जीव को सम्पूर्ण प्रपञ्च का कल्पक नहीं माना जा सकता है।

समाधान— नहीं, क्योंकि अविद्या के चिन्मात्राश्रयत्व के उपपादन के अवसर पर इस कथन का खण्डन किया जायेगा। [सिद्धान्ती का कथन है कि अविद्या का आश्रय जो है, उसी को ही श्रुत्यादियों के द्वारा जगत् के जन्मादि का कारण कहा गया है। अविद्या का आश्रय तो शुद्ध ब्रह्म ही है और वही एकजीववाद में जीव माना गया है। अतः एक जीव को जगत् का कल्पक मानने में कोई दोष नहीं है।]।।८।।

शङ्का— एवम्=जीव से भिन्न ईश्वर को स्वीकार न किये जाने पर सर्वज्ञत्व—सर्वकर्तृत्वादि बोधक श्रुतियों का निर्विषयत्व होगा, क्योंकि शुद्ध चैतन्य में सामान्यतः ज्ञत्व का ही अभाव है। अतः शुद्ध चैतन्य में सर्वज्ञत्वादि माना नहीं जा सकता है और एकजीववाद में जीव से भिन्न ईश्वर माना नहीं जाता है। अतः ईश्वर में सर्वज्ञतादि है—ऐसा कहा नहीं जा सकता है। जीव में सर्वज्ञत्व बाधित है, क्योंकि किसी भी जीव को ''मैं सर्वज्ञ हूं'' ऐसा अनुभव होता नहीं है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि एकजीववाद में समष्ट्यभिमानी जीव में

जीवस्य सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिस्वीकारात्। न चानुभवविरोधः, अन्तःकरणाभेदाध्यासबलात्तद–ननुभवतद्विपरीतानुभवयोरुपपत्तेः। सर्वाभिमानिनस्तु सार्वज्ञ्यानुभवोऽस्त्येव। अत एव 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप'इत्युपपद्यते।।९।।

न च–'आचार्यवान्पुरुषो वेद'इति श्रुतेरुपदेशं विना जीवस्य तत्त्वज्ञानमनुपपन्नम्, उपदेष्टव्यादन्यस्य चैतन्यस्याभावाच्च नोपदेशो युज्यत इति– वाच्यम्, स्वप्न इवोपदेष्टुः कल्पितस्य सम्भवात्।

ननु– उपदेष्टृत्वं न कल्पितमात्रस्य, किन्तु तत्त्ववित्त्वेन कल्पितस्य, तथा चोपदेशात्प्राक्तत्त्वज्ञाने तदैव मोक्षापत्तिः, उपदेशवैयर्थ्यं च, न चैव स्वप्नेऽपि तुल्यम्, तदा हि शब्दविशेषवक्तृत्वेनैव गुरुकल्पना,

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्वज्ञत्व–सर्वकर्तृत्वादि स्वीकार किया जाता है। [अतः सर्वज्ञत्व–सर्वकर्तृत्वादि बोधक श्रुतियां निर्विषयक नहीं होगी।] मैं सर्वज्ञ हूं–ऐसा अनुभव जीव को जो नहीं होता है, उसके प्रति कारण यह है कि अन्तःकरण के साथ उस जीव का अभेदाध्यास रहता है। उसी अध्यास के कारण जीव को सर्वज्ञत्वादि का अनुभव नहीं होता है और सर्वज्ञत्वादि अनुभव के विपरीत अल्पज्ञत्वादि का अनुभव होता है। सर्वाभिमानी जीव को सार्वज्ञ्यादि का अनुभव होता ही है। अत एव=सर्वाभिमानी जीव को सार्वज्ञ्य का अनुभव होने से ही ''बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तब चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।'' (गी.४–५) [हे परन्तप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, उन सबको तुम नहीं जानता किन्तु मैं जानता हूं।] यह गीतावचन भी उपपन्न हो जाता है।।९।।

शङ्का–'' आचार्यवान् पुरुषो वेद'' (छा.उ. ६–१४–२) [आचार्यवान् पुरुष उस तत्त्व को जानता है।] इस श्रुति से यह निश्चय होता है कि तत्त्ववेत्ता के द्वारा उपदेश के विना जीव को तत्त्वज्ञान अनुपपन्न है और एकजीववाद में उपदेष्टव्य शिष्य रूप जीव से अन्य गुरु रूप चैतन्य का अभाव है। अतः उपदेश होना सम्भव नहीं होगा।

समाधान–ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वास्तव में कोई गुरु के न रहने पर भी शिष्य के द्वारा कल्पित गुरु के माध्यम से शिष्य उपदेश प्राप्त कर सकता है। जैसे स्वप्न में स्वयम् ही गुरु की कल्पना कर के उस स्वाप्निक गुरु से उपदेश श्रवण करता है।

शङ्का– जीव के द्वारा कल्पित तो सम्पूर्ण प्रपञ्च है। उन सभी कल्पित पदार्थो को उपदेशक माना नहीं जा सकता है, क्योंकि मन्दबुद्धिपुरुष में भी उपदेशकत्व की आपत्ति होगी। इसलिए तत्त्ववित्त्वरूप से कल्पित भी उपदेशक बन सकता है। अर्थात् ज्ञायमान तत्त्ववित्त्व विशिष्ट कल्पित उपदेशक बन सकता है। ऐसा होने पर उपदेशक में प्रकार विधया जिज्ञासित जो तत्त्वज्ञान उस तत्त्वज्ञान के उपदेश से पूर्व ही शिष्य में उत्पन्न हो जाने से उपदेश पूर्व ही शिष्य को मुक्त होना चाहिए और उपदेश के बिना ही तत्त्वज्ञान हो जाने से उपदेश में व्यर्थतापत्ति होगी। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार से शङ्का करने पर स्वप्न में भी ऐसे ही दोष आयेंगे। अर्थात् स्वप्न में भी ज्ञायमानतत्त्ववित्त्वविशिष्टकल्पित उपदेशक मानना होगा और उपदेशक में प्रकार विधया जिज्ञासित जो तत्त्वज्ञान, उस तत्त्वज्ञान के उपदेश से पूर्व में ही शिष्य में उत्पन्न हो जाने से उपदेश से पूर्व ही शिष्य मुक्त हो जायेगा और उपदेश के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि स्वप्न में तत्त्वमस्यादि शब्द विशेष के वक्ता के रूप से ही उपदेशक की कल्पना की जाती है न कि उपदेश के द्वारा साध्य जो ब्रह्मज्ञान, उसका विशेष विषय जो ब्रह्म उस ब्रह्म का ज्ञानी के रूप से स्वप्न में उपदेशक की कल्पना नहीं की जाती है। यह ही जाग्रत्कालीन और स्वप्नकालीन उपदेशक की कल्पना में भिन्नता है।

न तूपदेशसाध्यज्ञानविषयविशेषवित्त्वेनेति विशेषादिति—चेन्न, अत्रापि तद्वदेव वाक्यविशेषवक्तृत्वेनैव तत्कल्पनसम्भवात्।।१०।।

ननु— तर्हि ''यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि'इत्यदिश्रुतिः 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' इत्यादिस्मृतिश्चायुक्ता स्यादिति—चेन्न, सामान्यतो मोक्षोपयोगिज्ञानविषयवित्त्वेनाज्ञाततत्त्ववित्त्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यवक्तृत्वेन वा कल्पितस्य उपदेष्टृत्वसम्भवेन उदाहृतवाक्याविरोधात्। अन्यथा तवापि मते तत्त्ववित्त्वेन प्रमित एवाचार्यत्वेनानुसरणीय इति प्रथमत एव तत्त्वज्ञाने तत्कालमोक्षापत्त्युपदेश—वैयर्थ्यादिकं च स्यात्।।११।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— नहीं, क्योंकि जाग्रत्काल में भी स्वप्नवत् तत्त्वमस्यादि शब्द के वक्ता के रूप से उपदेशक की कल्पना होती है। यहां ''एव'' पद के द्वारा उपदेशसाध्यज्ञानविषयविशेषवित्त्वेन का निषेध किया गया है।।१०।।

शङ्का— तर्हि=जाग्रत्कालीन उपदेशक यदि उपदेशसाध्यज्ञानविषयविशेषवित्त्वेन कल्पित नहीं है किन्तु शब्दविशेषवक्तृत्वेन कल्पित है— ऐसा स्वीकार करने पर, ''यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि'' (बृ.उ. २—४—३) [जो आप जानते हैं उसको ही मुझे कहिए।] इत्यादि श्रुति और ''उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'' (गी. ४/३४) [तत्त्वदर्शी ज्ञानी जन तुझको ज्ञान का उपदेश करेंगे।] इत्यादि स्मृति अयुक्त हो जायेगी, क्योंकि इन श्रुति स्मृति के द्वारा सिद्ध हो रहा है कि शिष्य के द्वारा जाग्रत्काल में उपदेशक की कल्पना उपदेशसाध्यज्ञानविषयविशेषवित्त्वेन ही होती है न कि शब्दविशेषवक्तृत्वेन।

समाधान—नहीं, क्योंकि सामान्य रूप से मोक्ष का उपयोगी जो ज्ञान, तादृशज्ञान का जो विषय तादृशविषयवित्त्व रूप से अथवा शिष्य को अज्ञात जो तत्त्व है तादृशतत्त्ववित्त्वरूप से अथवा तत्त्वमस्यादि वाक्य वक्तृत्वरूप से कल्पित उपदेशकत्व सम्भव होने से उदाहृत श्रुति स्मृति वाक्यों से विरोध नहीं है। [अर्थात् तत्त्वज्ञान जो मोक्ष का उपयोगी है, उस तत्त्वज्ञान का विषय जो तत्त्व है। वह क्या है? यह शिष्य को विशेष रूप से ज्ञात नहीं है। किन्तु शिष्य को सामान्य रूप से यह ज्ञात है कि कोई न कोई ऐसा विशेष तत्त्व है जिसका ज्ञान मोक्ष का उपयोगी है और उस तत्त्व का ज्ञान गुरु जी को है—इस प्रकार से गुरु की कल्पना शिष्य करता है। अथवा शिष्य गुरु की कल्पना इस प्रकार से भी कर सकता है कि मोक्षोपयोगी ज्ञान का विषयीभूत तत्त्व जो मुझे अज्ञात है, किन्तु उसका ज्ञान गुरुजी को है। अथवा गुरु की कल्पना शिष्य इस प्रकार से भी कर सकता है कि तत्त्वमस्यादि वाक्यों का जो अर्थ है वह मुझे ज्ञात नहीं है किन्तु उस अर्थ के ज्ञाता और वक्ता गुरु जी हैं। अर्थात् गुरुजी तत्त्वमस्यादि वाक्यों को बोलते हुए मुझे उसके अर्थ को स्पष्ट करें। इस प्रकार से शिष्य द्वारा गुरु की कल्पना सम्भव होने से उक्त श्रुति स्मृति वाक्यों से विरोध नहीं होगा।] अन्यथा—ज्ञायमानतत्त्ववित्त्वविशिष्टगुरु की कल्पना शिष्य के द्वारा करने पर [अर्थात् जिस विशेष तत्त्व का ज्ञान मोक्षोपयोगी है, उस विशेष तत्त्व का प्रमाज्ञान शिष्य को है और शिष्य को यह भी ज्ञान है कि उस विशेष तत्त्व के ज्ञाता गुरु जी है। इस प्रकार से ज्ञायमानतत्त्ववित्त्वविशिष्ट गुरु की कल्पना शिष्य के द्वारा करने पर] तुम्हारे मत में भी शिष्य के द्वारा तत्त्ववित्त्वेन प्रमित ही आचार्यरूप से अनुसरणीय होने से उपदेश से पूर्व ही गुरु में प्रकार विधया जिज्ञासित जो तत्त्वज्ञान, उस तत्त्व ज्ञान के हो जाने पर उपदेश से पूर्व ही मोक्षापत्ति और उपदेश के व्यर्थतापत्ति का प्रसङ्ग आयेगा।।११।।

एतेन– 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' इत्यादिविधिरपि भावितत्त्वज्ञानिकल्पकचेतनं प्रत्येव, न च तस्य शिष्यः स्वाज्ञानकल्पित इति जानतस्तन्मोक्षार्थं प्रवचने प्रवृत्तिर्युक्ता, न च स्वप्नवत् कल्पितत्वाज्ञानात्प्रवृत्तिः, तत्त्वविदस्तदज्ञानानुपपत्तेरिति–निरस्तम्, स्वप्नगुरुवत् कल्पितत्वेन गुरोरपर्यनुयोज्यत्वात्।।१२।।

न च–तत्त्वज्ञानहेतुत्वेन वेदस्य मीमांस्यत्ववद् गुरोरपि पर्यनुयोज्यत्वमिति–वाच्यम्, तर्केण वेद इव तत्तद्रूपकल्पनया गुरावपि तत्परिहारात्। न च–कथास्वपि सदुत्तरापरिस्फूर्तावहं त्वत्कल्पितो

सत्यानन्दप्रबोधिका

एतेन–स्वप्न के जैसे व्यवस्था का उपपादन हो जाने से, वेदाध्ययन करने में और शिष्यों को वेद का अध्यापन करने में प्रमाद नहीं करना चाहिए। यहां जिज्ञासा होती है कि एकजीववाद में यह उपदेश किसके प्रति है? इस पर विचार करने पर यही निर्णय होता है कि वही मुख्य जीव जो कल्पक चेतन है और आगे जिसको तत्त्वज्ञान होने वाला है–ऐसा भावितत्त्वज्ञानी जो कल्पक एक मुख्यजीव, उसके ही प्रति श्रुति का यह उपदेश है। ऐसा होने पर सिद्धान्त मत में यह आपत्ति उठेगी कि जब श्रुति उस भावितत्त्वज्ञानी के प्रति उपदेश दे रही है कि तुम अपने शिष्यों को मोक्ष के लिए वेद का अध्यापन कराओ किन्तु तत्त्वज्ञान के बाद में ही अध्यापन कराने का प्रसङ्ग आयेगा। परन्तु उस भावितत्त्वज्ञानी कल्पक चेतन को जिस समय तत्त्वज्ञान हो जायेगा। उस समय तो उसको यह भी ज्ञात हो जायेगा कि मेरा शिष्य मेरे अज्ञान के द्वारा कल्पित है। इस प्रकार से जानने वाले उस तत्त्वज्ञानी गुरु की स्वाज्ञान कल्पित शिष्यों के मोक्ष के लिए वेदाध्यापान में प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी। जैसे दर्पणादिगत स्वप्रतिबिम्ब के प्रति कोई भी ज्ञानवान् अध्यापनादि नहीं करता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि स्वप्न में जैसे गुरु "यह शिष्य मेरे अज्ञान से कल्पित है" ऐसा न जानता हुआ शिष्य के उपदेशादि में प्रवृत्त हो जाता है ठीक उसी प्रकार प्रकृत में भी सम्भव हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती उक्त प्रकार से समाधान नहीं दे सकते हैं, क्योंकि तत्त्वज्ञानी गुरु में स्वाज्ञान कल्पितत्वाज्ञान की अनुपपत्ति है, क्योंकि जिसमें अज्ञान है, वह तत्त्वज्ञानी ही नहीं हो सकता है। यह पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि स्वप्नगुरु जैसे कल्पित है वैसे ही जाग्रत् गुरु भी अविद्या कल्पित है। जैसे स्वप्न में कल्पित गुरु के प्रति कोई पर्यनुयोग (क्यों और कैसे का प्रश्न) नहीं होता है ठीक उसी प्रकार जाग्रत् में भी अविद्या कल्पित गुरु के प्रति भी पर्यनुयोग नहीं हो सकता है। [अर्थात् स्वप्न में जैसे कल्पित गुरु अनुभव सिद्ध होने पर उस पर किसी भी प्रकार से पर्यनुयोग नहीं किया जाता है ठीक उसी प्रकार से जाग्रत् में अविद्या कल्पित गुरु अनुभव सिद्ध होने से उस पर भी किसी प्रकार से पर्यनुयोग नहीं किया जा सकता है।] ।।१२।।

शङ्का– जैसे तत्त्वज्ञान का हेतु होने से वेद का मीमांस्य (विचार) दोषादि निवारणार्थ होता है ठीक उसी प्रकार तत्त्वज्ञान का हेतु होने से अविद्याकल्पित गुरु के विषय में भी दोषादि निवारणार्थ पर्यनुयोग क्यों नहीं हो सकता है।?

समाधान– ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि तर्क (यदि वेदः तत्त्वज्ञान हेतुः न स्यात् तर्हि मीमांसा शोधितो न स्यात्, यदि वेद अप्रामाणिकः स्यात् तर्हि दोषयुक्तः स्यात्–इत्यादि तर्क) से जैसे वेद में आरोपित दोषों का परिहार होता है, ठीक उसी प्रकार से मोक्षोपयोगिज्ञानविषयवित्त्वादि तत्तद्रूप की कल्पना से गुरु में भी समारोपित दोषों का परिहार हो सकता है।

शङ्का– यदि कल्पित वस्तु के विषय में पर्यनुयोग नहीं हो सकता है तो जल्पादि कथाओं में भी निर्दोष उत्तर की परिस्फूर्ति न होने पर "मैं तुमसे कल्पित हूं, इसलिए तुम मुझको दोष नहीं दे

न पर्यनुयोज्य इत्युत्तरं स्यादिति—वाच्यम्, कथायाः कल्पितत्वानिश्चयकालीनत्वेन समयबन्धविशेष—निबन्धनत्वेन च तादृगुत्तरानवकाशात्। तस्माच्छिष्यवत् गुरोरपि कल्पितत्वात् स्वप्नवत्स—र्वव्यवस्थोपपत्तिः।।१३।।

अथ—कल्पको न निश्चिताद्वैतः, शास्त्रप्रणयनवैयर्थ्यात्, नाप्यनिश्चिताद्वैतः शास्त्रस्य प्रमामूलकत्वाभावप्रसङ्गादिति—चेन्न, प्रमामूलकत्वाभावेऽप्यबाधितविषयत्वेन शास्त्र—प्रामाण्योपपत्तेरन्त्यपक्षाभ्युपगमात्। न चामुकः स इत्यनिश्चये बह्वायाससाध्यमोक्षार्थ प्रवृत्त्ययोगः, प्रतिशरीरमहमहमिकया 'बद्धोऽहम्'इति निश्चयस्य स्वानुभवसाक्षिकत्वेन प्रवृत्तिसम्भवात्, एकनैव जीवेन चैत्रमैत्रादिशरीराणां सजीवत्वसम्भवस्य प्रागेवोक्तत्वात्। किं च चैत्रमैत्रादिषु 'कोऽसौ' इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

सकते हो।'' इत्याकारक भी उत्तर होने लगेगा। ऐसा होने पर जय—पराजय की व्यवस्था ही भङ्ग हो जायेगी।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कथा उस काल में होती है जिस काल में मैं दूसरे के द्वारा कल्पित हूं या दूसरा मेरे द्वारा कल्पित है—ऐसा निश्चय नहीं होता है और समय बन्ध (नियम बन्ध) विशेष के अधीन कथा होती है। [अर्थात् कथा में वादिप्रतिवादी एक दूसरे के प्रति आक्षेप और पर्यनुयोग कर सकते है और उसका सदुत्तर देना होगा। यह नियम होता है।] अतः ''अहं त्वत्कल्पितो न पर्यनुयोज्यः'' ऐसा उत्तर नहीं दिया जा सकता है। फलितार्थ यह हुआ कि शिष्य जैसे कल्पित है वैसे ही गुरु के भी कल्पित होने से स्वप्न की व्यवस्था के समान जाग्रत् में भी सभी व्यवस्थाओं की उपपत्ति हो जायेगी। [अर्थात् स्वप्न में जैसे कल्पित गुरु कल्पित शिष्य के प्रति उपदेश देते है और शिष्य यह पर्यनुयोग नहीं करता है कि ''कथं अयं गुरुः स्वाज्ञानकल्पितं शिष्यमनुशास्ति।'' ठीक उसी प्रकार से जाग्रत् में भी व्यवस्था बन जायेगा।]।।१३।।

शङ्का— एक जीववाद में शास्त्रादि का कल्पक जो जीव है, उसको अद्वैत तत्त्व का निश्चय रहता है? अथवा नहीं? यदि उसे अद्वैत तत्त्व का निश्चय रहता है तब तो शास्त्र कल्पना से पूर्व ही अद्वैत तत्त्व का निश्चय हो जाने से अद्वैत तत्त्व के बोध के लिए शास्त्र की रचना करना व्यर्थ है। यदि उसको अद्वैत तत्त्व का निश्चय नहीं रहता है, तब उसके द्वारा रचित शास्त्र में प्रमामूलकत्व के अभाव का प्रसङ्ग होगा। [अर्थात् जिस विषय का निश्चय नहीं है, उस विषय के शास्त्र की रचना करने पर उस शास्त्र में प्रमाणमूलकत्व सिद्ध नहीं होता है।]

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमामूलकत्व का अभाव होने पर भी अबाधित विषयत्वेन शास्त्र के प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाने से अन्तिम पक्ष को स्वीकार किया जाता है। [यद्यपि अनिश्चित अद्वैत तत्त्व वाले के द्वारा शास्त्र का प्रणयन होता है, तथापि उसके द्वारा प्रणीत शास्त्र अबाधितार्थ विषयक होता है। अतः उस शास्त्र को प्रमाणरूप से स्वीकार किया ही जा सकता है।]

शङ्का— अमुक व्यक्ति शास्त्र का रचयिता है—ऐसा जब तक निश्चय नहीं हो जाता है तब तक उस शास्त्र के द्वारा प्रदर्शित मोक्ष मार्ग जो बहुश्रमसाध्य है, उसमें प्रवृत्ति सम्भव नहीं हो सकती है। [अर्थात् दृष्टिसृष्टिवाद में प्रत्येक जीव की दृष्टि ही अन्य जीवों की सृष्टि है। अतः अनेक जीवों के कल्पना जाल में यह निश्चय करना ही सम्भव नहीं है कि इस शास्त्र का कल्पक कौन है? ऐसा होने पर उस शास्त्र में तथा उस शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित मोक्षादि में मुमुक्षु की प्रवृत्ति सम्भव नहीं हो सकती है।]

समाधान— ऐसा नहीं, क्योंकि प्रति शरीर में ''अहं—अहम्'' इस प्रकार की बुद्धि से प्रयोज्य

प्रश्नस्य किं केनचित् क्रोडीकृतं चैतन्यं विषयः, किं वा निरस्तसमस्तभेदम्। नाद्यः, तस्य कल्पितत्वेनाकल्पकत्वात्। न द्वितीयः, तस्यैकत्वेन तदनिश्चयासिद्धेः। शुद्धचित एकत्वेन वस्तुतोऽसंसारित्वेऽपि आवरणविक्षेपशक्तिद्वयशालिस्वाश्रिताविद्यावशात् संसारित्वकल्पकत्व-मोक्षार्थयतमानत्वाद्युपपत्तिः।।१४।।

ननु— अनादौ संसारे कस्यचित्तत्वज्ञानं मुक्तिश्चाभून्न वा? आद्ये इदानीं संसारोपलब्धिर्न स्यात्, जीवस्यैकत्वाद्, अन्त्ये सम्प्रदायासम्भवेन तत्त्वज्ञानासम्भव इति—चेन्न, न ह्यसाम्प्रदायिकत्वमुत्पत्तिविरोधि, अपूर्वजातीयानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, किन्तु कारणासत्त्वम्, तन्नेदानीमुपदेष्ट्रादिकारणस्य कल्पनासुदृढस्य सत्त्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

''मैं बद्ध हूं'' यह निश्चय होता है। इस निश्चय के प्रति साक्षी अपना अनुभव ही है। मैं बद्ध हूं—इस निश्चय के कारण ही मोक्षार्थ प्रवृत्ति होती है। अतः शास्त्र और उसके विषय में प्रवृत्ति के लिए शास्त्र प्रणेता के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती है। एक ही जीव से चैत्र मैत्रादि के शरीरों के सजीवत्वादि का निरूपण खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है। दूसरी बात यह भी है कि चैत्र मैत्रादियों में ''वह कल्पक कौन है?'' इत्याकारक जो पूर्वपक्षी का प्रश्न है, उस प्रश्न का विषय क्या अन्तःकरणादि से विशिष्ट प्रमातृ चैतन्य है? अथवा समस्त भेद रहित शुद्ध चैतन्य है? प्रथम पक्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह कल्पित होने से कल्पक नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जिसमें कोई भी भेद नहीं है—ऐसा शुद्ध चैतन्य एक ही होने से उसके विषय में किसी को भी संशय नहीं होता है। फलितार्थ यह हुआ कि शुद्धचित् का एकत्व होने से उसमें वस्तुतः असंसारित्व होने पर भी आवरण और विक्षेप रूप शक्ति द्वय शालिनी जो स्वाश्रित अविद्या है, उसके वश में आकर वह संसारी, कल्पक और मोक्ष के लिए प्रयत्न शीलादि हो जाता है।।१४।।

शङ्का— एकजीववाद में आज तक इस अनादि संसार में किसी को तत्त्वज्ञान और मोक्ष हुआ था? अथवा नहीं? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर इस समय संसार की उपलब्धी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि एकजीववाद में एक ही जीव माना जाता है। [अर्थात् जीव एक ही है, उसको तो पूर्व में ही तत्त्वज्ञान और मोक्ष हो चुका है। जीव के मोक्ष के साथ ही जीव की दृष्टि रूप सृष्टि भी समाप्त हो गयी। अतः वर्तमान काल में संसार की जो उपलब्धी हो रही है। वह नहीं होनी चाहिए।]द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर अनादि तत्त्वज्ञान प्रवाह रूप सम्प्रदाय के असम्भव होने से वर्तमान काल में और भविष्यकाल में तत्त्वज्ञान का होना ही असम्भव हो जायेगा, क्योंकि जो तत्त्वज्ञानी नहीं है, उससे तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

समाधान— अन्तिम पक्ष को ही एकजीववाद में स्वीकार किया जाता है। इसको स्पष्ट करने के लिए कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो व्याप्ति बनायी गयी— यत्र यत्र असाम्प्रदायिकत्वं तत्र तत्र अनुत्पत्तिकत्वम्। ऐसी व्याप्ति ठीक नहीं है, क्योंकि महाभारतादि जिसके जातीय महाभारतादि पहले नहीं था। अतः उसमें असाम्प्रदायिकत्व चला गया किन्तु उसकी उत्पत्ति श्री व्यासादि के द्वारा हुयी है। अतः उसमें अनुत्पत्तिकत्व नहीं जाने से व्यभिचार हो गया। अर्थात् पूर्वपक्षी की व्याप्ति मानने पर अपूर्वजातीय महाभारतादि के अनुत्पत्ति का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। इस पर प्रश्न होगा कि यदि पूर्व पक्षी की उक्त व्याप्ति ठीक नहीं है तब निर्दुष्ट व्याप्ति क्या है? इसके समाधान में कह रहे हैं कि ''यत्र यत्र कारणासत्त्वं तत्र तत्र अनुत्पत्तिकत्वम्'' यह व्याप्ति है। प्रकृत में कारण का असत्त्व है— ऐसा कहा नहीं जा सकता है। अर्थात् तत्त्वज्ञान के प्रति वर्तमान में कोई कारण नहीं है—ऐसा कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि कल्पना से सृदृढ़ उपदेष्ट्रादि कारण समूह विद्यमान है। (उपदेष्ट्रादि के स्थान

जीवैक्यस्य प्रमाणसिद्धत्वेन संसारोपलम्भ एवातः पूर्वं तत्त्वज्ञानानुत्पत्तौ प्रमाणम्। न च—तत्त्ववित्त्वेन श्रुत्यादिसिद्धानां शुकवामदेवादीनां मुक्तिर्मा भूत्, मम तु भविष्यतीति कथं श्रद्दध्यादिति—वाच्यम्, शास्त्रप्रामाण्यदार्ढ्यादिति गृहाण। अन्यथा तेषां महानुभावानां मुक्तत्वेऽपि मम भविष्यति न वेति शङ्कापिशाच्या प्रवृत्तिप्रतिबन्धापत्तेः।।१५।।

ननु—तर्हि श्रुतिप्रामाण्यबलादेव तत्सिद्धो जीवभेदः, पूर्वमपि केषाञ्चिन्मोक्षश्चाभ्युपेयताम्, श्रूयते हि—'तद्यो यो देवानां प्रत्युबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां, 'अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः', 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्' इत्यादि। स्मर्यते च—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमाश्रिताः।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर उपदेष्ट्रत्वादि ऐसा पाठान्तर है।) जीव की एकता प्रमाण सिद्ध है और संसार की उपलब्धी आज हो रही है। इसी से यह सिद्ध होता है कि आज से पहले तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति किसी को नहीं हुयी है।

शङ्का— एकजीववाद में तत्त्ववित्त्वरूप से श्रुत्यादि से सिद्ध श्रीशुकदेव—श्रीवामदेवादिकों की भी मुक्ति नहीं मानी गयी तब "मेरी मुक्ति तो हो ही जायेगी।" इस संकल्प पर श्रद्धा कैसे होगी। अर्थात् एकजीववाद में कभी भी किसी के मुक्त होने की आशा नहीं है। ऐसा होने पर मोक्ष के साधनों में प्रवृत्ति नहीं होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्रनिष्ठप्रामाण्य की दृढ़ता से "मेरी मुक्ति हो ही जायेगी" ऐसे संकल्प पर श्रद्धा करेगा और मोक्ष के साधनों में प्रवृत्त भी होगा। अन्यथा—शास्त्रनिष्ठप्रामाण्य में दृढ़ता स्वीकार कर के उक्त प्रकारकी श्रद्धा न मानने पर तो, पूर्वकालीन शुकादि महानुभावों के मुक्तत्व होने पर भी "मेरी मुक्ति होगी या नहीं?" इत्याकारक शङ्का पिशाची से मोक्षार्थ प्रवृत्ति में प्रतिबन्धकता तुम्हारे मत में भी आ जायेगी। इसलिए शास्त्रनिष्ठ—प्रामाण्य की दृढ़ता से ही उक्त संकल्प में श्रद्धा होगी और मोक्ष के साधनों में प्रवृत्यादि की उपपत्ति भी हो जायेगी।।१५।।

शङ्का— तर्हि—यदि शास्त्रनिष्ठ प्रामाण्य की दृढ़ता के आधार पर उक्त संकल्प पर श्रद्धा और मोक्ष के साधनों में प्रवृत्ति और मोक्ष लाभ को सिद्धान्ती स्वीकार कर रहे हैं, तब तो, श्रुति निष्ठ प्रामाण्य के आधार पर सिद्ध जो जीवों का भेद और पूर्व में शुकादि कुछ लोगों का मोक्ष है—इसको भी सिद्धान्ती को स्वीकार करना चाहिए। (यह स्वीकार करने पर एकजीववाद भङ्ग हो जायेगा) आगे जीव बहुत्व और मुक्त बहुत्व में पूर्वपक्षी प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कह रहा है कि बृ.उ. १—४—१० में प्रतिपादन किया गया है कि—देवताओं में जिस—जिस ने उस बह्म को जाना, वह वह देवता ब्रह्मरूप हो गया, वैसे ही ऋषियों में और मनुष्यों में (जिसको ब्रह्मज्ञान हुआ वह बह्मरूप हो गया।) इसी प्रकार श्वे. उ. ४—५ में कहा गया है कि—एक अज (जन्मरहित अनादि बद्ध जीव) तो अनादि सिद्ध अविद्या का सेवन करता हुआ उसके अनुसार ही आचरण करता है और मुक्त पुरुष रूप अज तो भुक्तभोगारूप अविद्या को त्याग देता है। ऐसे ही कठ. उ. ५—१३ में कहा गया है कि —वह नित्यों का नित्य है चेतनों का चेतन है। इस प्रकार से उक्त श्रुतियों के द्वारा देव—ऋषि—मनुष्यादि अनेक जीवों का और अनेक मुक्त पुरुषों का प्रतिपादन किया गया है। गी.४—१० में भी कहा गया है कि—"ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर अनेकों ब्रह्मवित् पुरुष मेरे स्वरूप को प्राप्त कर चुके हैं।" इसी प्रकार गी. १४—२ में कहा गया है कि —" इस ज्ञान का आश्रय लेकर अनेक तत्त्ववित् पुरुष मेरी

इत्यादीति—चेन्न, उक्तवाक्यानां सार्वलौकिकभ्रमसिद्धभेदानुवादकत्वेन तत्परत्वाभावात्, जीवैक्यबोधकवाक्यानां च मानान्तराप्राप्तस्वार्थपरत्वात्, स्वप्नन्यायेन भेदस्य कल्पितत्वोपपत्तेश्च। ज्ञानस्तुतिपराणि वाक्यानि नात्मभेदं प्रमातुं शक्नुवन्ति, तात्पर्यवद्वाक्याविरोधेनातात्पर्यवद्वाक्यानां गुणवादत्वोपपत्तेः।

अतीतानागताश्चैव यावन्तः सहिताः क्षणाः।
ततोऽप्यनन्तगुणिता जीवानां राशयः पृथक्।।

इत्यादिस्मृतिरपि जीवोपाधिभेदानुवादकतया व्याख्येया। तस्मादविद्योपाधिको जीव एक एवेति सिद्धम्।।१६।।

इत्यद्वैतसिद्धावेकजीवाऽज्ञानकल्पितत्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वरूपता को प्राप्त कर चुके है।'' इन स्मृतियों के द्वारा भी अनेक जीवों का और अनेक मुक्तपुरुषों का प्रतिपादन किया गया है।

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्यों के सार्वलौकिक भ्रमसिद्ध भेद का अनुवादकत्व होने से उन वाक्यों में जीव बहुत्व और मुक्तबहुत्व के बोधकत्व का अभाव है, जबकि जीव की एकता के प्रतिपादक वाक्य प्रमाणान्तर से अप्राप्त जीवैक्यरूप अर्थ के प्रतिपादन में मुख्यतात्पर्य रखते हैं। स्वप्नन्याय से जाग्रत्कालीन भेद के कल्पितत्व की उपपत्ति हो जायेगी। (जागत्जीवभेदः कल्पितः, अविद्याप्रयुक्तत्वात्, स्वाप्निकजीवभेदवत्।) दूसरी बात यह है कि ज्ञान के माहात्म्य को बतलाने वाले उक्त श्रुति—स्मृति वाक्य हैं। अतः उक्त श्रुति—स्मृति वाक्य जीव भेद के साधक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि स्वार्थ में तात्पर्य रखने वाले वाक्यों से विरोध होने से स्वार्थ तात्पर्य रहित वाक्यों को गुणवाद रूप अर्थवाद मात्र माना जाता है। ''अतीत और अनागत के सहित वर्तमान में जितने क्षण हैं, उनसे भी अनन्त गुणित जीवों की पृथक्—पृथक् राशियां हैं।'' इत्यादि स्मृति को भी जीव की उपाधि भूत अन्तःकरणों के भेद के अनुवादकत्व मात्र में तात्पर्य है। तस्मात्=श्रुति और स्मृति का भी किसी का भी जीवभेद में तात्पर्य न होने के कारण अर्थात् जीवभेद में प्रमाण का अभाव होने से, अविद्या रूप उपाधि वाला जीव (अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप जीव) एक ही है—यह एक जीववाद के अनुसार सिद्ध हो गया।।१६।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामेकजीवाज्ञानकल्पितत्वोपपत्तिः

२ : अविद्यालक्षणविचारः

अथ– केयमविद्या? न तावद् (१) अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्या सेति, सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यावारकाज्ञानेऽव्याप्तेः, तस्यानादित्वाभावात्, अभावोपादानाज्ञाने च भावत्वाभावात्तत्राव्याप्तिः, अभावस्य भावोपादानकत्वे असत्यस्यापि सत्योपादानकत्वं स्याद्, अज्ञानानुपादानकत्वे तस्य ज्ञानान्निवृत्तिर्न स्याद्–इति।१ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का–एकजीववाद के पर्यवसान के अवसर पर सिद्धान्ती ने कहा–तस्मादविद्योपाधिको जीव एक एवेति सिद्धम्। इस वाक्य का घटक जो अविद्या है उसके विषय में पूर्वपक्षी प्रश्न कर रहा है कि यह अविद्या क्या है? [अर्थात् अविद्या का लक्षण क्या है?और अविद्या में प्रमाण क्या है?] श्री चित्सुखाचार्य कृत जो अविद्या का लक्षण है–अनादिभावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्। [यदि अविद्या का लक्षण '' अनादिभावरूपत्व'' इतना ही बनाते तब तो आत्मा में अतिव्याप्ति हो जाती, क्योंकि आत्मा अनादि और भाव रूप होता ही है। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिए ''ज्ञाननिवर्त्यत्व'' कहा गया। यदि अविद्या का लक्षण ''भावरूपत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्व'' ही बनाते है तब तो ज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञानेच्छादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि पूर्वज्ञान और इच्छादि भाव पदार्थ और ज्ञान से निवर्त्य भी है। अतः अतिव्याप्ति वारण के लिए ''भावरूपत्वे'' का विशेषण ''अनादि'' दिया गया। पूर्वज्ञानेच्छादि अनादि भाव पदार्थ न होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। ''अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'' ऐसा अविद्या का लक्षण बनाने पर ज्ञान के प्रागभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि ज्ञान का प्रागभाव अनादि है और ज्ञान से निवर्त्य भी है। इस अतिव्याप्ति दोष के निवारणार्थ लक्षण में ''भावरूपत्व'' विशेषण दिया गया।] इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि श्री चित्सुखाचार्य का किया हुआ वह अविद्या का लक्षण समीचीन नहीं है, क्योंकि सादि जो शुक्त्यादि तादृश शुक्त्यादि से अवच्छिन्न जो चैतन्य, तादृशचैतन्य का आवरक जो अज्ञान उसमें इस लक्षण की अव्याप्ति है, क्योंकि इस अज्ञान में अनादित्व का अभाव है, क्योंकि शुक्त्यादि के सादि होने से शुक्त्यादि से अवच्छिन्नचैतन्य भी सादि है। अतः उसका आवरक अज्ञान भी सादि है, क्योंकि सादि चैतन्य की सत्ता प्राप्ति से पहले वह अज्ञान निराश्रित और निर्विषयक होकर नहीं रह सकता है। इसी प्रकार घट वाले भूतल में जब किसी को घटाभाव का भ्रम हो जाता है। वहां प्रातिभासिक घटाभाव की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और उसका उपादान कारण (अभावरूप में परिणत होने वाला अभावात्मक) अज्ञान ही मानना होगा। अर्थात् अभाव का उपादान अभाव ही होता है। अतः उक्त आरोपित घटाभाव का उपादानीभूत जो अज्ञान उसको अभावात्मक ही मानना पड़ेगा। ऐसे अभावात्मक अज्ञान में उक्त अविद्या का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि उसमें भावत्व नहीं है। [इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त आरोपित घटाभाव यद्यपि अभावरूप है तथापि उसका उपादान कारणीभूत अज्ञान को भावरूप ही हम मानते है। अतः अव्याप्ति नहीं होगी। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि] उक्त घटाभाव का उपादानकारण भावरूप अज्ञान मानने पर तो सत्य को भी असत्य का उपादानकारण मानना पड़ेगा। [ऐसा होने पर मिथ्याभूत जगत् का उपादानीभूत अज्ञान को भी सत्य मानना पड़ेगा। तब द्वैतापत्ति होगी।] यदि उक्त प्रातिभासिक घटाभाव का उपादानकारण अज्ञान नहीं माना जाता है तब तो उक्त घटाभाव की घटज्ञान से निवृत्ति नहीं हो पायेगी जबकि घटवाले भूतल में आरोपित घटाभाव का घटज्ञान से निवृत्ति होती हुयी देखी जाती है।।१ ।।

अत्र ब्रूमः—रूप्योपादानाज्ञानमप्यनादिचैतन्याश्रितत्वादनाद्येव, उदीच्यं शुक्त्यादिकं तु तदवच्छेदकमिति न तत्राव्याप्तिः, भावत्वं चात्राभावविलक्षणत्वमात्रं विवक्षितम्, अतः आरोपिताभावोपादानाज्ञानेऽप्यभावविलक्षणत्वस्वीकारान्नाव्याप्तिः। न च—सजातीयोपादानकत्वनियमः, अन्यथा असत्यस्यापि सत्यमुपादानं स्यादिति— वाच्यम्, सर्वथा साजात्ये सर्वथा वैजात्ये वोपादानोपादेयभावादर्शनेन तथा साजात्यस्य वैजात्यस्य वा आपादयितुमशक्यत्वात्। न हि

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त शङ्का के समाधानार्थ सिद्धान्ती कहते है कि शुक्तिरजतादि का उपादानभूत जो अज्ञान (सादिशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यावरकाज्ञान) है, वह भी ''आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला......'' इस संक्षेपशारीरक वचन के अनुसार अनादि चैतन्य के आश्रित होने से अनादि ही है। अज्ञानोत्तरकाल में उत्पन्न होने वाले सादि पदार्थ शुक्त्यादि तो शुक्तिरूप्योपादानीभूत अज्ञान का आश्रय जो अनादि चैतन्य है, उसका अवच्छेदकमात्र होते है, जैसे तार्किकादि के मत में अनाद्यत्यन्ताभाव के तत्तत्कालादि अवच्छेदक होते है। अर्थात् शुक्त्यादि अज्ञान के आश्रय या विषय नहीं होते हैं, इसलिए शुक्त्यादि के सादि होने के कारण उससे अवच्छिन्न चैतन्य के आवरक अज्ञान को सादि नहीं माना जा सकता है। अतः शुक्तिरूप्यादि का उपादानभूत सादि शुक्त्याद्यवच्छिन्न चैतन्यावरक—अज्ञान में अज्ञान के कथित लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी। अविद्यालक्षणस्थ भावत्व का अर्थ अभाव से विलक्षणत्व मात्र विवक्षित है। अतः आरोपित घटाभाव के उपादान अज्ञान में भी अभाव विलक्षणत्व का स्वीकार होने से अव्याप्ति नहीं होगी।

शङ्का— इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि कार्य का उपादान कार्य का सजातीय होता है—ऐसा नियम है। अतः आरोपित घटाभाव का उपादान जो अज्ञान है, उसको भी अभाव पदार्थ मानना पड़ेगा। अतः सिद्धान्ती उक्त अज्ञान को अभाव से विलक्षण नहीं मान सकते हैं। अन्यथा=कार्य के विजातीय पदार्थ को भी कार्य का उपादान कारण मानने पर, असत्यरूप कार्य का विजातीय जो सत्य, उसको असत्य का उपादान कारण मानना पड़ेगा।

समाधान—ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य का सर्वथा सजातीय या सर्वथा विजातीय को उपादान कारण मानने पर कहीं पर भी कार्यकारणभाव की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः उपादान कारण में सर्वथा कार्यनिरूपित साजात्य या वैजात्य का आपादन करना शक्य नहीं है। [अर्थात् एक तन्तु का दूसरे तन्तु में सर्वथा ही साजात्य है किन्तु तन्तुओं में परस्पर उपादानोपादेयभाव नहीं देखा जाता है। इसी प्रकार तन्तु का घट में सर्वथा वैजात्य है किन्तु तन्तु तथा घट का भी उपादानोपादेयभाव नहीं देखा जाता है। इसलिए प्रकृत में भी कार्य = आरोपित अभाव और उसका उपादानीभूत अज्ञान में भी सर्वथा साजात्य या वैजात्य का आपादन नहीं किया जा सकता है।] कार्याकारतः और कारणाकारतः रूप से अभेद मानने पर भी कार्यकारणभाव नहीं बन सकता है। [कार्याकार का अर्थ है—कार्यतावच्छेदक धर्म और कारणाकार का अर्थ है—कारणातावच्छेदक धर्म। यहां सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि कार्यतावच्छेदक धर्म से कार्यकारण का साजात्य लेकर भी कार्यकारणभाव नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि असम्भव दोष होगा। जैसे घट कार्य है। उसमें कार्यतावच्छेदक धर्म द्रव्यत्वादि है और तन्तु भी कार्य है उसमें कार्यतावच्छेदक धर्म द्रव्यत्वादि है। किन्तु तन्तु और घट में कार्यकारणभाव सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कारणतावच्छेदक धर्म से कार्यकारण का साजात्य लेकर भी कार्यकारणभाव नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि असम्भव दोष होगा। जैसे तन्तु कारण है, उसमें कारणतावच्छेदक धर्म द्रव्यत्वादि है और घट भी कारण है। उसमें भी कारणतावच्छेदक धर्म

कार्याकारकारणाकारतोऽप्यभेदे कार्यकारणभावः, सत्यस्य त्वसत्योपादानत्वे सत्यस्य निवृत्त्यसम्भवेन तदुपादेयस्यासत्यस्यापि निवृत्तिर्न स्याद्, उपादाननिवृत्तिमन्तरेणोपादेयानिवृत्तेः, अतो न सत्यमसत्यस्योपादानम्, सत्यस्यापरिणामित्वाच्च। विवर्ताधिष्ठानत्वं त्वभ्युपेयत एव।।२।।

न च– ब्रह्माज्ञाने ब्रह्मणो वृत्त्यव्याप्यत्वपक्षेऽव्याप्तिः, तस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वादिति– वाच्यम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्रव्यत्वादि है। किन्तु तन्तु और घट में कार्यकारणभाव स्वीकार करना सम्भव नहीं है। अर्थात् कार्य और कारण में साजात्य चाहिए–यह ठीक है किन्तु सवर्था ही साजात्य सर्वकार्यकारणभावापन्न पदार्थो में अनुगत रूप से बन नहीं सकता है।] सत्य (ब्रह्म) को असत्य (प्रपञ्चादि) का उपादान कारण मानने पर भी दोष होगा, क्योंकि सत्य की निवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः उस सत्य उपादान से उपादेय असत्य की भी निवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि उपादान की निवृत्ति के बिना उपादेय की निवृत्ति होती नहीं है। अतः सत्य को असत्य का उपादान नहीं माना जा सकता है। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उपादान कारण के नाश के विना ही निमित्तकारण के नाश से असत्य कार्य का नाश हो जायेगा, जैसे तन्तु संयोग के नाश से पट का नाश हो जाता है–ऐसा कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि दृश्य मात्र में ज्ञाननाश्यत्व श्रुति और अनुभव से सिद्ध होने के कारण उपादान (अज्ञान) का नाश होना आवश्यक है।] दूसरी बात यह भी है कि परिणामी पदार्थ ही उपादान कारण होता है किन्तु सत्य ब्रह्म परिणामी पदार्थ नहीं है। अतः सत्य ब्रह्म को असत्य प्रपञ्चादि का उपादान कारण नहीं माना जा सकता है। [अर्थात् यत्र यत्र परिच्छिन्नत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्। इसकी व्यतिरेक व्याप्ति होगी– यत्र यत्र सत्यत्वं तत्र तत्र अपरिच्छिन्नत्वम्। जैसे यहां अन्वय–व्यतिरेक व्याप्ति है उसी प्रकार यह अन्वयव्याप्ति भी बनती है–यत्र यत्र परिणामित्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्। व्यतिरेक व्याप्ति होगी–यत्र यत्र सत्यत्वं तत्र तत्र अपरिणामित्वम्। इसलिए सत्य को असत्य का परिणामी उपादान कारण नहीं माना जा सकता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सत्य ब्रह्म को असत्यप्रपञ्च का कारण नहीं मानने पर ''यतो वा इमानि भूतानि''–इस श्रुति और ''जन्माद्यस्य यतः'' इस सूत्र की उपपत्ति सिद्धान्ती के मत में नहीं हो पायेगी, क्योंकि इन दोनों में सत्य ब्रह्म को असत्य प्रपञ्च का कारण माना गया है। ऐसी शङ्का के समाधानार्थ कह रहे हैं कि]असत्यप्रपञ्च का परिणामी उपादान कारण ब्रह्म को न मानने पर भी विवर्ताधिष्ठानत्वरूप उपादानकारणता ब्रह्म में मानी ही जाती है।।२।।

शङ्का– भामतीकार के मत में अखण्डाकार चरम वृत्ति का विषय उपहित ब्रह्म माना जाता है न कि शुद्धब्रह्म, किन्तु मूलाज्ञान शुद्ध ब्रह्म विषयक माना जाता है। अतः ज्ञान और अज्ञान का समान विषय नहीं है। इसलिए अखण्डाकार चरम वृत्ति रूप ज्ञान से ब्रह्मविषयक–अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि समान विषयत्वेन ज्ञान और अज्ञान में निवर्तक निवर्त्यभाव होता है। अतः ब्रह्मविषयक अज्ञान में उक्त अज्ञान लक्षण का विशेष्यभाग (ज्ञाननिवर्त्यत्व) न जाने से अज्ञान के उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष है।

समाधान–उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञायमान होता हुआ और स्वरूप से वर्तमान जो उपाधि है, उसको विषय न करने वाला किन्तु उपहित ब्रह्म को विषय करने वाला होने से ज्ञान से अज्ञान निवर्त्य है–यह भामतीकार के मत में भी माना जाता है। इस विषय का प्रतिपादन दृश्यत्व हेतु के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है। [अर्थात् भामतीकार के मत में जैसे अखण्डाकार चित्त वृत्ति को ब्रह्म की उपाधि माना जाता है और उसका विषय वृत्ति–उपहित ब्रह्म होता है, ठीक वैसे ही अज्ञान को ब्रह्म का उपाधि माना जाता है और उसका विषय अज्ञानोपहित ब्रह्म होता है।

स्वरूपसदुपाधिमत्तद्विषयकज्ञाननिवर्त्यत्वस्य तन्मतेऽपि भावात्। उपपादितं चैतद् दृश्यत्वहेतूपपादने।।३।।

अथ—औपाधिकभ्रमोपादानाज्ञाने ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरविद्यमानजीवन्मुक्ताज्ञाने च ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावादव्याप्तिः, तयोर्ज्ञाननिवर्त्यत्वे उपाधिकालजीवन्मुक्तिकालयोरेव ज्ञानप्रागभाववत्तन्निवृत्त्यापत्तिरिति— चेन्न, उपाधिप्रारब्धकर्मणोः प्रतिबन्धकयोरभावविलम्बेन निवृत्तिविलम्बेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपाधि कार्यानन्वयी होने के कारण वृत्तिरूप ज्ञान के विषय कोटि में प्रविष्ट नहीं होती है। अतः ब्रह्माकारवृत्ति उपाध्यविषयक और उपाहित विषयक है और अज्ञानरूप उपाधि भी कार्यानन्वयी होने के कारण अज्ञान के विषय कोटि में प्रविष्ट नहीं होगी। अतः अज्ञान भी उपाध्यविषयक और उपहित विषयक है। इस प्रकार से अखण्डाकार चित्तवृत्तिरूप ज्ञान और अज्ञान (ब्रह्मविषयकाज्ञान) दोनों ही समानविषयक होने के कारण उनमें निवर्तक निवर्त्यभाव बन जाने से अज्ञान के उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं होगा। दृश्यत्व हेतु विचार के खण्ड २२ में इसका प्रतिपादन किया जा चुका है]।।३।।

शङ्का— सोपाधिक भ्रम (रक्तः स्फटिकः इत्याद्याकारक भ्रम) के उपादान अज्ञान में और ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर विद्यमान जीवनमुक्त के अज्ञान में ज्ञाननिवर्त्यत्वघटित अज्ञान के लक्षण की अव्याप्ति है [जहां पर स्फटिक मणि में जपाकुसुम का लौहित्य पड़ रहा है वहां पर ''रक्तः स्फटिकः'' ऐसा औपाधिक भ्रम होता है। इस भ्रम में अधिष्ठान स्वच्छ स्फटिक मणि है और उपाधि जपाकुसुम है और लौहित्य धर्म का आरोप होता है। ऐसे सोपाधिक भ्रम स्थल पर स्वच्छ स्फटिक मणि रूप अधिष्ठान का ज्ञान होने पर भी आरोपित लौहित्य की निवृत्ति नहीं होती है क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर भी ''रक्तः स्फटिकः'' ऐसी प्रतीति होती रहती है। अतः भ्रम के उपादान भूत अज्ञान की निवृत्ति (अधिष्ठान) ज्ञान से न होने से अज्ञान के उक्त लक्षण में अव्याप्तिदोष है। इसी प्रकार ब्रह्म रूप अधिष्ठान के साक्षात्कार के अनन्तर जीवन्मुक्त के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान होने पर भी जीवन्मुक्त भिक्षाटनादि व्यवहार करता रहता है जो कि अज्ञान का कार्य है।] उक्त सोपाधिक भ्रम के उपादान अज्ञान की और जीवन्मुक्त के अज्ञान की निवृत्ति अधिष्ठानज्ञान से मानने पर जैसे स्फटिक मणि के ज्ञान से स्फटिक मणि के ज्ञान का प्रागभाव और ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्म ज्ञान का प्रागभाव निवृत्त हो जाता है, ठीक वैसे ही जपाकुसुमरूप उपाधि के काल में और जीवन्मुक्त काल में ही उक्त दोनों अधिष्ठानों के ज्ञानों से उक्त दोनों अज्ञानों और उनके कार्यो की निवृत्ति की आपत्ति होगी। अर्थात् स्फटिक मणि का ज्ञान होने के पश्चात् ''रक्तः स्फटिकः'' ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिए और ब्रह्म साक्षात्कार के पश्चात् भिक्षाटनादिव्यवहार नहीं होना चाहिए। यह पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि चन्द्रकान्त मणिरूप प्रतिबन्धक के रहने पर जैसे अग्नि से यद्यपि दाह उत्पन्न नहीं होता है तथापि ऐसा होने मात्र से अग्नि निष्ठ दाह जनकत्व का अपलाप नहीं किया जाता है, क्योंकि चन्द्रकान्तमणिरूप प्रतिबन्धक का अभाव होते ही अग्नि से दाह उत्पन्न हो जाता है। अर्थात् चन्द्रकान्तमणि रूप प्रतिबन्धक के रहने से अग्नि से दाह रूप कार्य होने में विलम्ब मात्र होता है, न कि अग्नि और दाह में कार्यकारणभाव की निवृत्ति हो जाती है। ठीक इसी प्रकार उक्त स्थल द्वय में जपाकुसुमरूप उपाधि तथा जीवन्मुक्त के प्रारब्ध कर्म रूप प्रतिबन्धकों के अभाव में विलम्ब होने के कारण उक्त दोनों ज्ञानों के द्वारा उक्त दोनों अज्ञानों की निवृत्ति में विलम्ब होने पर भी उक्त दोनों अज्ञानों के ज्ञाननिवर्त्यता में व्याघात नहीं है। अर्थात् ज्ञान और अज्ञान

तयोर्ज्ञाननिवर्त्यत्वानपायात्। न हि क्वचिदविलम्बेन जनकस्य क्वचित् प्रतिबन्धेन विलम्बे जनकताऽपैति। न च तर्हि ज्ञातेऽपि तत्राज्ञात इति व्यवहारापत्तिः, तादृग्व्यवहारे आवरणशक्तिमदज्ञानस्य कारणत्वेन तदावरणशक्त्यभावादेव ईदृग्व्यवहारानापत्तेः, यथा चैतत्तथोपपादयिष्यते। न चाविद्याचैतन्य—

सत्यानन्दप्रबोधिका

का निवर्त्य निवर्तक भाव बना ही रहता है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि कहीं पर अविलम्ब से जो जनक है, उस जनक की जनकता कहीं पर प्रतिबन्धक से कार्य में कुछ विलम्ब होने मात्र से निवृत्त नहीं हो जाती है।

शङ्का—तर्हि=ज्ञान के होने पर भी यदि प्रतिबन्धक के कारण अज्ञान की निवृत्ति में विलम्ब होता है—ऐसा मानने पर तो, अधिष्ठान के ज्ञात होने पर भी उसमें अज्ञातत्व के व्यवहार (अधिष्ठानमज्ञातम्=इत्याकारक व्यवहार) की आपत्ति होगी।

समाधान—नहीं, क्योंकि किसी वस्तु के अज्ञातत्वव्यवहार का प्रयोजक आवरण शक्ति युक्त अज्ञान होता है। प्रकृत दोनों उदाहरणों में अधिष्ठान ज्ञान से अज्ञान के आवरण शक्ति का नाश हो जाने से अज्ञातत्व व्यवहार की आपत्ति नहीं हो सकती है और अधिष्ठान के ज्ञान काल में भी प्रतिबन्धक के कारण विक्षेपशक्ति युक्त अज्ञान का नाश न होने के कारण आरोपित पदार्थ की प्रतीति होती रहती है। इस पर विशेष विचार अज्ञान विषय निरूपण के अवसर पर किया जायेगा। [शङ्का होती है कि जिस पक्ष में शक्ति को अज्ञान से भिन्न माना जाता है, उस पक्ष में आवरण शक्ति अज्ञान से भिन्न है और भाव पदार्थ है तथा ज्ञान से निवर्त्य भी है। अतः अज्ञान का लक्षण आवरण शक्ति में समन्वय हो जाने से अतिव्याप्ति दोष होगा। इसका समाधान यह है कि लक्षण में ज्ञाननिवर्त्यत्व के स्थान पर ज्ञाननिवर्त्यशक्तिमत्त्व कहेंगे। ऐसा लक्षण होने पर आवरण शक्ति में अज्ञान के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि शक्ति में शक्तिमत्त्व नहीं रहता है—इत्यादि विशेष विचार का निरूपण आगे किया जायेगा।]

शङ्का—अविद्या और चित् के सम्बन्ध में अज्ञान के इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि ''षडस्माकमनादय.....'' ''इस कथन के अनुसार अविद्या और चित् का सम्बन्ध भी अनादि है और वह भाव पदार्थ तथा ज्ञान से निवर्त्य भी माना जाता है इसलिए ''अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'' यह अविद्या का लक्षण अविद्या चित् सम्बन्ध में समन्वित हो गया।

समाधान—नहीं, क्योंकि लक्षणघटक ज्ञाननिवर्त्यत्व पद से साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्व विवक्षित है। अविद्या और चित् का सम्बन्ध साक्षात् ज्ञाननिवर्त्य नहीं है क्योंकि ज्ञान साक्षात् अज्ञान का ही निवर्तक होता है और अज्ञान निवृत्ति के पश्चात् अज्ञान प्रयुक्त सम्बन्धादि प्रपञ्च की निवृत्ति होती है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होगी। अथवा सिद्धान्त मत में अविद्या और चित् का सम्बन्ध आध्यात्सिक मात्र होता है,जिसको अविद्या स्वरूप ही माना जाता है। अतः उक्त सम्बन्ध भी अज्ञान के उक्त लक्षण का लक्ष्य ही है। इसलिए उसमें लक्षण का समन्वय होना इष्ट ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि लक्षण में ''साक्षात्'' पद देने पर अनादित्व और भावरूपत्व जो विशेषणान्तर हैं, वे व्यर्थ हो जायेंगे, क्योंकि परम्परया ज्ञान से निवर्त्य सादि शुक्तिरजतादि में अतिव्याप्ति वारण के लिए लक्षण में अनादि पद दिया गया था। साक्षात् पद देने पर शुक्तिरजतादि में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि शुक्तिरजतादि ज्ञान से साक्षात् निवर्त्य नहीं किन्तु परम्परया निवर्त्य है। ज्ञान भी स्वप्रागभाव का निवृत्ति रूप है निवर्तक नहीं है। अतः प्रागभाव में अतिव्याप्ति वारण के लिए भी भाव पद की आवश्यकता नहीं है।

सम्बन्धेऽतिव्याप्तिः, साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य विवक्षितत्वात् तस्याप्यविद्यात्मकत्वाद्वा। न च विशेषणान्तरवैयर्थ्यम्, अनादिपदस्योत्तरज्ञाननिवर्त्ये पूर्वज्ञाने भावपदस्य ज्ञानप्रागभावे ज्ञानजन्यकार्यप्रागभावे चातिव्याप्तिवारकत्वेन सार्थकत्वात्। ज्ञानत्वेन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं तु भवति लक्षणान्तरम्।।४।।

ननु— असम्भवः, कल्पितत्वेन दोषजन्यधीमात्रशरीरस्याज्ञानस्य ज्ञाननिवर्त्यस्याभावविलक्षणस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त दोनों विशेषण सार्थक है, क्योंकि अनादि पद उत्तर ज्ञान से निवर्त्य पूर्वज्ञान में अतिव्याप्ति वारण के लिए है और जिन लोगों के मत में प्रतियोगी को प्रागभाव का निवर्तक माना जाता है, उन लोगों के मत में ज्ञान प्रागभाव में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए लक्षण में भावपद दिया गया है। जिन लोगों के मत में प्रतियोगी को प्रागभाव निवृत्ति रूप मानते है और प्रतियोगी की जनक सामग्री को प्रागभाव का निवर्त्तक मानते है। उन लोगों के मत में ज्ञान से जन्य जो इच्छादि है उन इच्छादि का जो प्रागभाव है उन इच्छादि के प्रागभाव की निवृत्ति ज्ञान से होती है, क्योंकि इच्छादि के प्रागभाव का प्रतियोगी इच्छादि है। उनकी जनक सामग्री ज्ञान है। उन ज्ञान से निवर्त्य इच्छादि का प्रागभाव है। अतः ज्ञान से साक्षात् निवर्त्य इच्छादि के प्रागभाव में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि इच्छादि का प्रागभाव ज्ञान से साक्षात् निवर्त्य है और अनादि भी है। इस अतिव्याप्ति दोष के निवारण के लिए लक्षण में भावपद दिया गया है। अतः भाव पद देना सार्थक है। ज्ञानत्वेन अर्थात् ज्ञाननिष्ठनिवर्तकतावच्छेदकज्ञानत्वेन साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्व भी अविद्या का लक्षण माना जा सकता है। अर्थात् ''अनादित्वे सति भावत्वे सति साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'' यह जैसे अविद्या का लक्षण है वैसे ही ''ज्ञानत्वेन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वम्'' यह भी अविद्या का लक्षण है। एक ही लक्ष्य में नानालक्षणों के सद्भावों को दोष नहीं माना जाता है। ज्ञानत्वेन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यमज्ञानम्—इस लक्षण में पूर्वपक्षी यह जो दोष देता है कि अनादि और भाव पद को लक्षण में प्रविष्ट न करने पर पूर्वज्ञान उत्तर ज्ञान से, इच्छा स्वविषयकज्ञान से, शोक सुहृद्दर्शन से, पाप सेतुदर्शन से, प्रवृत्ति प्रागभाव प्रवर्तक ज्ञान से निवृत्त होते है। अतः इन सभी स्थलों पर अतिव्याप्ति दोष होगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त स्थलों पर अतिव्याप्तिदोष नहीं होगा, क्योंकि पूर्वज्ञान के प्रति उत्तर ज्ञान की निवर्तकता विभुविशेषगुणत्वेन है, ज्ञानत्वेन नहीं। इसी प्रकार इच्छादि के प्रति स्वविषयक ज्ञानादि की निवर्तकता सिद्धत्वेन, सुहृज्ज्ञानत्वेन, विहित क्रियात्वेन, प्रवृत्ति सामग्रीत्वेन है ज्ञानत्वेन नहीं है। [इच्छा का प्रागभाव जो ज्ञान से निवर्त्य माना जाता है वहां निवर्तकतावच्छेदक प्रतियोगिजनक सामग्रीत्व को माना जाता है ज्ञानत्व को नहीं। इसी प्रकार जिस मत में ज्ञान का प्रागभाव ज्ञान से निवर्त्य माना जाता है उस मत में निवर्तकतावच्छेदक प्रतियोगित्व को माना जाता है ज्ञानत्व को नहीं। लक्षण में साक्षात् पद प्रविष्ट होने के कारण अविद्या—चित् सम्बन्धादि में भी अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा।]।।४।।

शङ्का—[इस अविद्या के लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का परिहार हो जाने पर पूर्वपक्षी के द्वारा आगे असम्भव दोष दिया जा रहा है। लक्ष्यावृत्तित्व होने से ही लक्षण में अव्याप्ति दोष और असम्भव दोष होते हैं। उसमें में यत् किञ्चित् लक्ष्यावृत्तित्व होने पर लक्षण में अव्याप्ति दोष होता है और यावत् लक्ष्यावृत्तित्व होने पर लक्षण में असम्भव दोष होता है।] पूर्वपक्षी का कथन है कि अविद्या का यह लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है, क्योंकि लक्षण के तीनों भागों में से भावत्व और ज्ञाननिवर्त्यत्व ये दोनों भाग यद्यपि अविद्या में रहते है तथापि ''अनादित्व'' यह तृतीय भाग

च रूप्यवदनादित्वायोगादिति—चेन्न, कल्पिततत्वमात्रं हि न दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वे सादित्वे वा तन्त्रम, किन्तु प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्वं, सादिकल्पकवत्त्वम्, विद्याऽनिवृत्त्यप्रयुक्त—

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविद्या मात्र में नहीं जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती अविद्या को कल्पित मानते हैं। कल्पित पदार्थ दोषजन्यधीमात्र शरीर वाला होता है। अत: दोषजन्यधीमात्र से पूर्व में अविद्या का रहना सम्भव न होने से अविद्या में अनादित्य नहीं रह सकता है। जैसे प्रतिभास मात्र में रहने वाला शुक्ति रजत अनादि नहीं होता है। अत: लक्षण में असम्भव दोष है। यहां पूर्वपक्षी के कथनानुसार दो अनुमान बनते हैं। प्रथम—अज्ञानं दोषजन्यधीमात्रशरीरम्, कल्पिततत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। द्वितीय—अज्ञानं सादि, कल्पिततत्वात्, शुक्तिरजतवत्।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि कल्पिततत्त्वमात्र दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व का साधक नहीं हो सकता है, क्योंकि ''यत्र यत्र कल्पिततत्त्वं तत्र तत्र दोषजन्यमात्रशरीरत्वम्'' यह व्याप्ति घट—पटादि में व्यभिचरित है। इसी प्रकार ''यत्र यत्र कल्पिततत्त्वं तत्र तत्र सादित्त्वम्'' यह व्याप्ति भी जीवेशादि में व्यभिचरित है। प्रश्न होता है कि कल्पिततत्त्वमात्र यदि दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सदित्व का साधक नहीं है तब दोषजन्यमात्रशरीरत्व और सादित्व का साधक क्या है? इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि १. प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्व २. सादिकल्पकवत्त्व ३. विद्याऽनिवृत्यप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्व ४. प्रागभावप्रतियोगित्व को दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व का साधक माना जाता है। [१. यत्र यत्र प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्वं तत्र तत्र दोषजन्यमात्रशरीरत्वं सादित्वं च। इस व्याप्ति का समन्वय दृष्टान्त शुक्तिरजत में इस प्रकार से होगा—शुक्तिरजत का जो प्रतिभास (रजताकार अविद्यावृत्ति) उसका कल्पक जो साक्षी (रजताकार अविद्यावृत्ति से उपहित चैतन्य = साक्षी) है। वही साक्षी प्रतिभास (रजताकार अविद्यावृत्ति) के समानकाल में शुक्तिरजत का भी कल्पक है। अर्थात् रजताकार अविद्यावृत्ति और शुक्तिरजत दोनों समानकालीन हैं और दोनों का ही कल्पक साक्षी है। अत: शुक्तिरजत में प्रतिभास कल्पक समानकालीन कल्पकवत्त्व गया। इस प्रकार से शुक्तिरजत में व्याप्य का समन्वय हो गया। शुक्तिरजत में दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व के होने से शुक्तिरजत में व्यापक का भी समन्वय हो गया। इस प्रकार से इस व्याप्ति का समन्वय दृष्टान्त में हो गया। दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व का प्रयोजक जो प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्व है। वह अनुमान के पक्ष—अनादि अविद्या में नहीं है, क्योंकि प्रलयकाल में अविद्या के रहने पर भी अविद्या का प्रतिभास (अविद्याविषयक अविद्यावृत्तिरूपप्रतिभास) नहीं माना जाता है। अर्थात् अविद्या के रहने से अविद्योपहित चैतन्य रूप साक्षी तो है किन्तु अविद्या विषयकवृत्ति नहीं मानी जाती है, क्योंकि अविद्या विषयक वृत्तिरूप प्रतिभास जो सुषुप्ति में माना जाता है। उसका कारण यह है कि सुप्तोत्थित पुरुष ''मुढोऽहमस्वाप्सम्'' इस प्रकार से अविद्या का स्मरण करता है। स्मरण अनुभवजन्य संस्कार के द्वारा ही होता है। इसलिए सुप्तोत्थितपुरुष के अविद्यास्मरण के बल पर सुषुप्ति में अविद्या का प्रतिभास माना जाता है किन्तु प्रलय के अनन्तर जीवों को उक्त प्रकार का स्मरण नहीं होता है। अत: प्रलय में अविद्याविषयक अविद्यावृत्ति नहीं मानी जाती है। अत: अविद्या और अविद्याविषयकवृत्ति दोनों समानकालीन सिद्ध नहीं हुए। इसलिए ही उसका कल्पक (जो कि अविद्योपहितचित् है और वह अनादि है) भी समानकालीन सिद्ध नहीं होगा। अत: अविद्या में प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्व नहीं गया। इस प्रकार से प्रतिभासकल्पकसमानकालीनकल्पकवत्त्व रूप हेतु पक्ष (अज्ञान) में नहीं गया। अत:

निवृत्तिप्रतियोगित्वम्, प्रागभावप्रतियोगित्वं वा तन्त्रम्। न च तत् प्रकृतेऽस्ति। ज्ञाननिवर्त्यत्व— समानाधिकरणाभावविलक्षणत्वेनाविद्यायाः सादित्वसाधने 'अजामेकाम्' 'अनादिमायया'

सत्यानन्दप्रबोधिका

अज्ञान को पक्ष बनाकर इस हेतु के द्वारा उसमें दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व अथवा सादित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि हेतु स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रस्त हो जायेगा। अथवा यदि रज्जुसर्पादि को पक्ष बनाकर उक्त अनुमान किया जाता है तब तो उक्त अनुमान का हेतु अविद्या में समन्वय नहीं होगा। अतः उक्त हेतु के द्वारा अविद्या में दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व सिद्ध नहीं होगा। अतः अविद्या के लक्षण में असम्भवदोष नहीं होगा। (२) शुक्तिरजत का कल्पकचित् शुक्तिरजताकारा— विद्यावृत्त्युपहित और अधिष्ठानज्ञानवान् है। चैतन्य के अनादि होने पर भी शुक्तिरजताकाराविद्यावृत्ति रूप उपाधि के सादि होने से अधिष्ठानज्ञानवान् तथा शुक्तिरजताकाराविद्यावृत्त्युपहितचित्रूप कल्पक भी सादि है। अतः शुक्तिरजत में सादिकल्पकवत्त्व चला गया। शुक्तिरजत में दोषजन्यधीमात्र शरीरत्व और सादित्व भी है। अतः शुक्तिरजत में ''यत्र यत्र सादिकल्पकवत्त्वं तत्र तत्र दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वं सादित्वं च।'' इस व्याप्ति का समन्वय हो गया। अविद्या में इस व्याप्ति का समन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि अविद्या का कल्पक अविद्योपहित चित् है। इसमें अविद्यारूप उपाधि और चित् दोनों ही अनादि हैं। अतः अविद्या का कल्पक अनादि है। इसलिए अविद्या में अनादिकल्पकवत्त्व है न कि सादिकल्पकवत्त्व। अतः सादिकल्पकवत्त्व हेतु के द्वारा अविद्या में दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। (३) इस तृतीय प्रयोजक के अनुसार व्याप्ति का आकार इस प्रकार से होगा—यत्र यत्र विद्याऽनिवृत्त्यप्रयुक्तनिवृत्तिप्रतियोगित्वं तत्र तत्र दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वं सादित्वं च। इस तृतीय प्रयोजक में विद्या पद से अखण्डाकार चरम वृत्ति विवक्षित है। अनिवृत्ति का अर्थ है सम्बन्ध। अतः यह अर्थ हुआ कि अखण्डाकार चरमवृत्ति के सम्बन्ध से अप्रयुक्त जो निवृत्ति है, उस निवृत्ति का प्रतियोगित्व। यह प्रयोजक शुक्तिरजत में है, क्योंकि ''नेदं रजतम्'' इत्यादि ज्ञान से जन्य शुक्तिरजत की निवृत्ति होती है। अतः अखण्डाकार चरमवृत्ति के सम्बन्ध से अप्रयुक्त शुक्तिरजत की निवृत्ति है। अतः उक्त निवृत्ति का प्रतियोगित्व शुक्तिरजत में चला गया। शुक्तिरजत में व्याप्ति का व्यापक भाग भी है। अतः शुक्तिरजत में व्याप्ति का समन्वय हो गया किन्तु इस व्याप्ति का समन्वय अविद्या में नहीं हो सकता है, क्योंकि अखण्डाकार चरमवृत्ति के सम्बन्ध से प्रयुक्त ही अविद्या की निवृत्ति होती है और उक्त निवृत्ति की प्रतियोगिता अविद्या में रहती है न कि अखण्डाकार चरम वृत्ति के सम्बन्ध से अप्रयुक्त निवृत्ति की प्रतियोगिता अविद्या में रहती है। अतः इस तृतीय प्रयोजक के अविद्या में न रहने से अविद्या में दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व सिद्ध नहीं होगा अपितु अनादित्व ही सिद्ध होगा। ऐसे ही जीव, ईश और इनका भेद तथा अविद्याचित् सम्बन्ध इन सभी की निवृत्ति भी अखण्डाकार चरमवृत्ति के सम्बन्ध से प्रयुक्त है अप्रयुक्त नहीं। अतः इनमें भी यह तृतीय हेतु नहीं जायेगा। इसलिए इनमें भी दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व सिद्ध न होकर अनादित्व ही सिद्ध होगा। (४) यदि अखण्डाकारचरमवृत्ति के सम्बन्ध से प्रयुक्त जो अविद्या निवृत्ति, उस अविद्या निवृत्ति से प्रयुक्त निवृत्ति जीवेशभेदादि की मानी जाती है। अर्थात् उक्त चरमवृत्ति के सम्बन्ध से अविद्या की निवृत्ति होती है और अविद्यानिवृत्ति से जीवेशभेदादि की निवृत्ति होती है तब तो जीवेशभेदादि में उक्त चरमवृत्ति सम्बन्ध से अप्रयुक्त निवृत्तिप्रतियोगित्व ही चला गया। अतः जीवेशभेदादि में दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व मानना पडेगा। इस अरूचि के कारण चतुर्थ प्रयोजक को कहा।

इत्यादिशास्त्रविरोधः, अनादित्वसाधकेन ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति भावविलक्षणत्वेन सत्प्रतिपक्षश्च, भावत्वस्योपाधित्वं च।।५।।

न च अभावविलक्षणाविद्यादौ भावविलक्षणत्वमसम्भवि, परस्परविरोधादिति–वाच्यम्, भावत्वाभावत्वयोर्बाधकसत्त्वेन तृतीयप्रकारत्वसिद्धौ परस्परविरहव्यापकत्वरूपविरोधासिद्धेः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

यहां व्याप्ति का आकार होगा–यत्र यत्र प्रागभावप्रतियोगित्वं तत्र तत्र दोषजन्यधीमात्रशरीरत्वं सादित्वं च। शुक्तिरजत में व्याप्य और व्यापक दोनों ही है। अविद्या तथा जीवेशभेदादि में प्रागभावप्रतियोगित्व नहीं है। अत: अविद्यादि में दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार से अविद्या में दोषजन्यधीमात्रशरीरत्व और सादित्व के उक्त चारों प्रयोजकों में से कोई भी प्रयोजक के अविद्या में न रहने से अविद्या में अनादित्व के सिद्ध हो जाने से अनादित्वघटित अज्ञान के लक्षण में असम्भव दोष नहीं है। पूर्वपक्षी के द्वारा अविद्या में सादित्व सिद्ध करने के लिए यह अनुमान किया जाता है–अविद्या सादि:, ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति अभावविलक्षणत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से व्याप्ति मिल गयी और पक्ष में हेतु भी है क्योंकि अविद्या ज्ञान से निवृत्त होती है और अभाव से विलक्षण भी होती है। अत: पक्षधर्मता भी मिल गयी। इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताज्ञानरूप परामर्श होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान में ''अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वेता. उ. ४–५) ''अनादिमायया सुप्तौ यदा जीव: प्रबुद्ध्यते'' (मां.का. १–१६) इत्यादि शास्त्रों से विरोध होने के कारण बाधदोष है। दूसरी बात यह भी है कि अनादित्व का साधक जो ''ज्ञाननिवर्त्यत्वे सति भावविलक्षणत्व'' है। उससे पूर्वपक्षी का यह अनुमान सत्प्रतिपक्षित भी है। जैसे–अविद्या अनादि:, ज्ञाननिवत्यत्वे सति भावविलक्षणत्वात्, ज्ञानप्रागभाववत्। पूर्वपक्षीकृत अविद्यागत सादित्व साधकानुमान में ''भावत्व'' उपाधि भी है, क्योंकि दृष्टान्त शुक्तिरजत में साध्य और उपाधि दोनों के रहने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में गया और पक्ष में हेतु के रहने पर भी उपाधि नहीं है क्योंकि अविद्या में जैसे अभाव विलक्षणत्व माना जाता है वैसे ही भाव विलक्षणत्व भी माना जाता है। इसलिए पक्ष में उपाधि नहीं है। अत: उपाधि में साधन का अव्यापकत्व भी मिल गया। इस प्रकार पूर्वपक्षी का अनुमान उपाधि दोष से भी ग्रस्त है।।५।।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि जो अभाव से विलक्षण होता है, वह भाव पदार्थ होता है और जो भाव से विलक्षण होता है, वह अभाव पदार्थ होता है। प्रकृत में जब सिद्धान्ती अविद्या को अभाव से विलक्षण मान रहे है तब उसे भावरूप मानना चाहिए न कि भाव से विलक्षण, क्योंकि भाव से विलक्षण मानने पर अविद्या में अभावत्व मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर एक ही अविद्या में भावत्व और अभावत्व दोनों मानना पड़ेगा। जबकि ऐसा माना नहीं जा सकता है, क्योंकि भावत्व और अभावत्व में परस्पर विरोध होता है। अत: अभावविलक्षण अविद्या में भावत्व ही मानना चाहिए। ऐसा होने पर खण्ड संख्या ५ के अनुमान में जो भावत्व को उपाधि बनाया गया था। वह उपाधि नहीं लगेगी, क्योंकि पक्ष में हेतु और उपाधि दोनों के ही रहने से उपाधि में साधनव्यापकत्व ही है।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि विनाशी जो भाव पदार्थ होता है वह सादि होता है। प्रकृत में अविद्या विनाशी तो है किन्तु सादि नहीं, क्योंकि अविद्या को सादि मानने पर ''अजामेकाम्'' तथा '' अनादिमायया सुप्त:'' इत्यादि श्रुतियों से विरोध उपस्थित होता है। अत:

परस्परविरहव्याप्यत्वरूपस्तु विरोधो नैकविरहेणापरमाक्षिपति। न हि गोत्वविरहोऽश्वत्वमाक्षि–पतीत्युक्तम्।।६।।

न चात्मवदनादेरभावविलक्षणस्यानिवर्त्यत्वम्, आत्मत्वस्यैवोपाधित्वात्। न चात्यन्ता–भावान्योन्याभावयोः साध्याव्याप्तिः, अधिकरणातिरिक्तस्यानिवर्त्यस्यात्यन्ताभावादेरनभ्युपगमात्, न

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविद्या में भावत्व नहीं माना जा सकता है। [अर्थात् यदि अविद्या में सादित्व माना जाता तब अविद्या में विनाशित्व और भावत्व दोनों माने जाते किन्तु अविद्या में अनादित्व माना जाता है। अतः अविद्याके विनाशी होने पर भी सादित्व के आधार पर सिद्ध होने वाला भावत्व अविद्या में नहीं माना जा सकता है।] जिसमें अभावत्व रहता है वह किसी का उपादानकारण नहीं होता है। प्रकृत में अविद्या प्रपञ्च का उपादान कारण है। अविद्या में अभावत्व मानने पर अविद्यागत प्रपञ्चोपादानत्व का बाध हो जायेगा। अतः अविद्या में अभावत्व भी नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार अविद्या की भावरूपता और अभावरूपता का बाध हो जाने पर अविद्या में भावाभाव विलक्षण एक तृतीय प्रकारता की सिद्धि होती है। अतः परस्पर विरह व्यापकत्वरूप विरोध नहीं है। [अर्थात्—यत्र यत्र भावत्वाभावः तत्र तत्र अभावत्वम्। तथा—यत्र यत्र अभावत्वाभावः तत्र तत्र भावत्वम्। ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि अविद्या में व्यभिचारदोष है। अर्थात् अविद्या में व्याप्य (भावत्वाभाव और अभावत्वाभाव) के रहने पर भी व्यापक (अभावत्व और भावत्व) नहीं है। परस्पर विरह व्याप्यत्व रूप विरोध के आधार पर एक के अभाव से दूसरे का आक्षेप नहीं हो सकता है, क्योंकि ''यत्र यत्र गोत्वं तत्र तत्र अश्वत्वाभाव'' तथा ''यत्र यत्र अश्वत्व तत्र तत्र गोत्वाभावः'' इस प्रकार परस्पर विरहव्याप्यत्व के आधार पर भी गोत्व के विरह से अश्वत्व का और अश्वत्व के विरह से गोत्व का आक्षेप नहीं किया जा सकता है, क्योंकि महिषादि में गोत्वाभाव और अश्वत्वाभाव दोनों ही रहते है किन्तु महिषादि में कोई भी गोत्व या अश्वत्व नहीं मानते हैं। इस पर विशेष विचार प्रथम मिथ्यात्व के निरूपण के अवसर पर खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है।।६।।

पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि आत्मा के समान ही अनादि और अभाव से विलक्षण पदार्थ में ज्ञाननिवर्त्यत्व नहीं माना जा सकता है। अर्थात् पूर्वपक्षी के कथनानुसार यह अनुमान पर्यवसित होता है—अविद्या ज्ञाननिवर्त्या न भवितुमर्हति, अनादित्वे सत्यभावविलक्षणत्वादात्मवत्। अतः ज्ञाननिवर्त्यत्व घटित अविद्या का लक्षण अविद्या मात्र में न जाने से पुनः असम्भवदोष हो गया। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि उक्त अनुमान में आत्मत्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य और उपाधि के रहने से साध्यव्यापकत्व उपाधि में गया और पक्ष में हेतु के रहने पर भी उपाधि नहीं है। अतः साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में है। अतः सोपाधिक हेतु होने के कारण पूर्वपक्षीकृत अनुमान अनुमानाभास है। इसलिए अविद्या के उक्त लक्षण में इस अनुमान के आधार पर असम्भव दोष नहीं दिया जा सकता है। पूर्वपक्षी का कथन है कि अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव इन दोनों पदार्थो में ज्ञाननिर्वत्यत्व नहीं है, क्योंकि ये दोनों पदार्थ नित्य है। अतः इन दोनों पदार्थो में साध्य गया किन्तु इनमें आत्मत्व उपाधि नहीं है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में नहीं जाने से उक्त अनुमान का हेतु सोपाधिक नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव को सिद्धान्तमत में जब चैतन्यरूप अधिकरण स्वरूप माना जाता है तब उसमें साध्य और उपाधि दोनों के रहने से साध्यव्यापकत्व उपाधि में मिल जायेगा और सिद्धान्तमत में जब अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव को चैतन्यरूप अधिकरण स्वरूप नहीं माना

च तुच्छे साध्याव्याप्तिः, अभावविलक्षणत्वरूपसाधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वोपपत्तेः।।७।।

किञ्च सादित्वमनादित्वं वा न निवर्त्यत्वानिवर्त्यत्वयोः प्रयोजकम्, ध्वंसप्रागभावयोस्तदभावात्। नापि भावत्वविशेषितं तत् तथा, अभावे तदसत्त्वेन भिन्नभिन्नप्रयोजककल्पनापत्तेः, भावनिवृत्यनिवृत्योरेव तयोः प्रयोजकत्वे च भावविलक्षणाविद्यादौ ताभ्यां तयोरनापादनात्। तस्मान्नाशसामग्रीसन्निपातासन्निपातावेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है तब ब्रह्म से भिन्न होने के कारण अत्यन्ताभावादि भी मिथ्या होंगे। अतः उसमें ज्ञाननिवर्त्यत्व रहेगा। इसलिए उसमें साध्य भी नहीं रहेगा। अतः अत्यन्ताभावादि में साध्य और उपाधि दोनों के ही न रहने से उपाधि में साध्य व्यापकत्व मानने पर उक्त व्यभिचार दोष नहीं होगा। पुनः पूर्वपक्षी का कथन है कि शशविषाणादि तुच्छ पदार्थों में साध्य है किन्तु उपाधि नहीं है। अतः उपाधि में साध्यव्यापकत्व नहीं माना जा सकता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अभावविलक्षणत्वरूप साधन से अवच्छिन्न अनिवर्त्यत्व रूप साध्य का व्यापकत्व आत्मत्व—उपाधि में है। अर्थात् तुच्छ पदार्थों में व्यभिचार दोष होने के कारण शुद्ध साध्य का व्यापकत्व उपाधि में न होने पर भी साधनावच्छिन्न साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है, क्योंकि तुच्छ में अनिवर्त्यत्व के रहने पर भी अभावविलक्षणत्व विशिष्ट अनिवर्त्यत्व नहीं है। अर्थात् तुच्छ में विशेष्य (अनिवर्त्यत्व) के रहने पर भी विशेषण (अभावविलक्षणत्व) के न रहने से विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव है। अतः तुच्छ में उक्त प्रकार से साध्य और उपाधि दोनों ही नहीं हैं। अतः उपाधि में साध्यव्यापकत्व मानने पर तुच्छ में व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता है। [जिस पक्ष में अत्यन्ताभावादि को ब्रह्मरूप अधिकरण से अतिरिक्त माना जाता है। उस पक्ष में भी अत्यन्ताभावादि में साधन से अवच्छिन्न साध्य नहीं रहेगा, क्योंकि अत्यन्ताभावादि में विशेषण (अभावविलक्षणत्व) और विशेष्य (अनिवर्त्यत्व) दोनों के न रहने से उभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव के रूप से साध्य का अभाव रहेगा। अतः उपाधि में साध्यव्यापकत्व मानने पर अत्यन्ताभावादि में व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है।]।।७।।

दूसरी बात यह भी है कि सादित्व धर्म को निवर्त्यता का प्रयोजक (व्याप्य) नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ध्वंस में सादित्व के रहने पर भी उसमें निवर्त्यत्व नहीं माना जाता है। इसी प्रकार अनादित्व धर्म को अनिवर्त्यता का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रागभाव में अनादित्व के रहने पर भी उसमें अनिवर्त्यत्व नहीं माना जाता है। यदि कहा जाय कि भावत्व से विशेषित जो सादित्व और अनादित्व है, उनको निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का प्रयोजक क्रम से मानेंगे। अर्थात् ''यत्र—यत्र भावत्वे सति सादित्वं तत्र तत्र निवर्त्यत्वम्।'' ''यत्र यत्र भावत्वे सति अनादित्वं तत्र तत्र अनिवर्त्यत्वम्।'' ऐसी व्याप्ति मानेंगे। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अभाव में भावत्व के न रहने से भावगत निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व के प्रयोजक भावत्वविशेषित सादित्व—अनादित्वरूप धर्मों की अपेक्षा से अभावगत निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व के प्रयोजक धर्मों को भिन्न मानना पड़ेगा। अर्थात् भावस्थल पर निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का जो प्रयोजक माना जायेगा। उस प्रयोजन से भिन्न प्रयोजक अभावस्थल पर निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का माना जायेगा। ऐसा होने पर गौरव दोष होगा। दूसरी बात यह भी है कि पूर्वपक्षी के भावपदार्थ की निवृत्ति और भावपदार्थ की अनिवृत्ति इन दोनों में भावत्व से विशेषित सादित्व और भावत्व से विशेषित अनादित्व को प्रयोजक माना है किन्तु भाव से विलक्षण अविद्या में उन दोनों प्रयोजकों से निवृत्ति और अनिवृत्ति का आपादन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् जब अविद्या में भावत्व नहीं है, तब भावत्व से विशेषित सादित्व और अनादित्व भी नहीं रहेंगे। इस प्रकार से अविद्या में जब व्याप्य ही

निवर्त्यत्वानिवर्त्यत्वयोः प्रयोजकाविति मन्तव्यम्, तौ च फलबलकल्प्याविति न कोऽपि दोषः।।८।।

अपि च यद्यविद्यादेरभावविलक्षणत्वसमानाधिकरणानादित्वेनात्मवदनिवर्त्यत्वं साध्यते, तर्हि भावविलक्षणत्वेन प्रागभाववन्निवर्त्यत्वमेव किं न साध्यते? न च ध्वंसात्यन्तान्योन्याभावेषु व्यभिचारः, अधिकरणातिरेके तेषामपि निवर्त्यत्वाभ्युपगमात्।।९।।

न च—अज्ञानस्य यावत्स्वविषयधीरूपसाक्षिसत्त्वमनुवृत्तिनियमेन निवृत्त्ययोग इति—वाच्यम्, दुःखशुक्तिरूप्यादेः स्वभासके साक्षिणि सत्येव निवृत्यभ्युपगमेन साक्षिभास्यानां यावत्साक्षिसत्त्वम—

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं रहा तब उसके द्वारा व्यापक (निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व) की सिद्धि भी अविद्या में नहीं हो सकती है। इस पर प्रश्न होता है कि यदि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व के प्रयोजक समीचीन नहीं है, तब निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का समीचीन प्रयोजक क्या है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि नाशक सामग्री के सन्निपात को निवर्त्यत्व का और नाशक सामग्री के असन्निपात को अनिवर्त्यत्व का प्रयोजक माना जाता है। (सन्निपात का अर्थ है—कार्यानुकूलसाम्मुख्य विशिष्ट सानिध्य) किस स्थल पर नाशक सामग्री का सन्निपात है? और किस स्थल पर नाशक सामग्री का सन्निपात नहीं है? इसका समाधान क्या है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि नाशक सामग्री के सन्निपात और असन्निपात की कल्पना निवर्त्य और अनिवर्त्य रूप फल को देखकर की जाती है। अर्थात् जहां निवर्त्यत्वरूप फल का अनुभव होता है वहां नाशक सामग्री का सन्निपात माना जाता है और जहां अनिवर्त्यरूप फल का अनुभव होता है। वहां नाशक सामग्री का सन्निपात नहीं माना जाता है।।८।।

दूसरी बात यह भी है कि यदि पूर्वपक्षी के द्वारा—''अविद्या न विनश्यति, अभावविलक्षणत्व—समानाधिकरणानादित्वात्, आत्मवत्।'' इस अनुमान से अविद्या में अनिवर्त्यत्व सिद्ध किया जाता है। अर्थात् आत्मा में जैसे हेतु और साध्य के रहने से अनिवर्त्यत्व माना जाता है, ठीक वैसे ही अविद्या मे हेतु के रहने से अनिवर्त्यत्वरूप साध्य भी मानना चाहिए। ऐसा यदि पूर्वपक्षी का आग्रह है, तब सिद्धान्ती का कथन है कि ''अविद्या विनश्यति, भावविलक्षणत्वे सत्यनादित्वात्, प्रागभाववत्'' इस अनुमान से अविद्या में निवर्त्यत्व सुगमतापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है। [पूर्वपक्षी के अनुमान में बाधदोष है, क्योंकि अविद्या की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है। यह श्रुतियों में तत्—तत् स्थलों पर स्पष्ट किया गया है। अतः पूर्वपक्षी का अनुमान बाधदोष से ग्रस्त होने के कारण स्वसाध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है। इस पर पूर्वपक्षी सिद्धान्ती के अनुमान में दोष देने का प्रयास करते हुए कह रहा है कि] भावविलक्षणत्वे सत्यनादित्वात्—यह हेतु अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में है किन्तु इन दोनों में साध्य नहीं है। अतः व्यभिचारदोष है। यदि हेतु घटक अनादित्व को हटाकर के केवल भावविलक्षणत्व को हेतु बनाया जाता है तब तो ध्वंस में भी हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचार दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जब ध्वंसादि को ब्रह्मरूप अधिकरण से अतिरिक्त माना जाता है, उस पक्ष में ध्वंसादि में निवर्त्यत्व माना जाता है। अतः व्यभिचारदोष नहीं है।।९।।

शङ्का— यद् यत् साक्षिभास्यं तद् यावत् साक्षिसत्त्वमवतिष्ठते—इस नियम को मानकर पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि जब तक अज्ञान विषयकधीरूप साक्षी का सत्त्व है तब तक अज्ञान की अनुवृत्ति का नियम है। साक्षिरूप ज्ञान तो अनिवर्त्य है। इसलिए उसका विषय अज्ञान भी अनिवर्त्य होना चाहिए। [यहां पर पूर्वपक्षी का भाव यह है कि सिद्धान्ती अज्ञान को साक्षिभास्य मानते हैं।

वस्थाननियमानभ्युपगमात्। किञ्च केवलचिन्मात्रं न साक्षि, किन्त्वविद्यावृत्त्युपहितम्, तथा चास्थिराविद्या–वृत्त्युपहितस्य साक्षिणोऽप्यस्थिरत्वेन तत्सत्वपर्यन्तमवस्थानेऽप्यविद्यादेर्निवृत्तिरुपपद्यते। न च वृत्त्यनुपधानदशायामविद्यादेः शुक्तिरूप्यवदसत्त्वापत्तिः, सादिपदार्थ एवैतादृङ्नियमात्, धारावाहिका–विद्यावृत्तिपरम्पराया अतिसूक्ष्माया अभ्युपगमाच्चेति शिवम्।।१०।।

(२) यद्वा भ्रमोपादानत्वमज्ञानलक्षणम्। इदं च लक्षणं विश्वभ्रमोपादानमायाधिष्ठानं ब्रह्मेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

साक्षिभास्य शुक्तिरूप्यादि का अविद्यावृत्तिरूप ज्ञान जब तक रहता है तब तक ही उनकी प्रतीति होती रहती है। अतः जब अज्ञान साक्षिभास्य है तब जब तक अज्ञान का भासक साक्षी रहेगा तब तक अज्ञान भी रहेगा। साक्षिरूपचैतन्य के नित्य होने से उसके द्वारा प्रकाशित अज्ञान भी नित्य ही होगा।]

समाधान— पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उक्त नियम में व्यभिचारदोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि स्वभासक अविद्योपहित चैतन्य रूप साक्षी के रहते हुए ही दुःखादि की और शुक्तिरजतादि की निवृत्ति देखी जाती है। अतः जब तक साक्षी है तब तक साक्षिभास्य पदार्थो को रहना चाहिए—ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है। तुष्यतु दुर्जनः— इस न्याय के अनुसार कुछ क्षण के लिए उक्त नियम को मान भी लिया जाय तब भी दोष नहीं है, क्योंकि केवल शुद्ध चैतन्य को साक्षी नहीं कहा जाता है अपितु अविद्या वृत्ति से उपहित चैतन्य को साक्षी कहा जाता है। अविद्या रूप उपाधि की अस्थिरता के कारण अविद्या—उपहित चैतन्यरूप साक्षी को भी अस्थिर माना जाता है। इसलिए साक्षी के सत्त्व पर्यन्त अविद्या की अवस्थिति मानने पर भी अविद्या की निवृत्ति मानी ही जा सकती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि भासक के असत्त्व से भास्य के असत्त्व का नियम प्रातीतिक पदार्थो में सिद्धान्ती के द्वारा माना जाता है। अतः अविद्यावृत्ति—उपहित चैतन्य को साक्षी मानने पर जिस काल में अविद्या वृत्ति नहीं रहेगी उस काल में अविद्या वृत्ति—उपहित चैतन्यरूप साक्षी भी नहीं रहेगा, तब अविद्यादि का असत्त्व मानना पड़ेगा क्योंकि अविद्यादि साक्षिभास्य पदार्थो को प्रतीतिकाल पर्यन्त ही स्थायी माना जाता है। [ऐसा होने पर ब्रह्मज्ञान के बिना ही अविद्या का नाश हो जाने से मोक्षापत्ति होगी।] जैसे शुक्तिरजताकाराविद्यावृत्ति के नष्ट हो जाने पर उक्त अविद्यावृत्ति—उपहित चैतन्य रूप साक्षी का भी असत्त्व हो जाता है। शुक्तिरजत के भासक साक्षी के असत्त्व हो जाने पर शुक्तिरजत का भी असत्त्व हो जाता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भासक के असत्त्व से जो भास्य के असत्त्व का नियम है। वह शुक्तिरजतादिरूप सादि पदार्थों में ही माना जाता है, अनादि पदार्थों में नहीं। अतः शुक्तिरजतादि के समान अविद्यादि के असत्त्व की आपत्ति नहीं होगी। यदि साक्षिभास्य सादि—अनादि समस्त पदार्थों के लिए उक्त नियम को मान भी लिया जाय तो भी दोष नहीं है, क्योंकि स्थूल अविद्या वृत्ति (शुक्तिरजताकारादिवृत्ति) के नष्ट हो जाने के बाद दूसरी स्थूल अविद्यावृत्ति के बनने के अन्तराल काल में अतिसूक्ष्म सर्वदा उत्पद्यमान अविद्यावृत्ति परम्परा ब्रह्मज्ञान पर्यन्त चलती रहती है। अतः सूक्ष्म अविद्यावृत्ति उपहित चैतन्य रूप साक्षी के विद्यमान रहने से अविद्यादि के असत्त्व की आपत्ति नहीं होगी और ब्रह्मज्ञान के बिना ही मुक्ति की भी आपत्ति नहीं होगी।।१०।।

अज्ञान के प्रथम लक्षण में पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये दोषों का सर्वथा निराकरण हो जाने के पश्चात् आचार्यप्रवर अज्ञान के द्वितीय लक्षण को दिखला रहे है—अथवा भ्रम का उपादानत्व अज्ञान का लक्षण है। विश्वभ्रम उपादान कोटि में ब्रह्म किसी भी प्रकार से (शुद्ध रूप से या मायोपहित रूप से) प्रविष्ट नहीं है किन्तु विश्वभ्रमोपादान कोटि में केवल माया ही प्रविष्ट है और उस माया का

पक्षे, न तु ब्रह्ममात्रोपादानत्वपक्षे, ब्रह्मसहिताविद्योपादानत्वपक्षे वा, अतो ब्रह्मणि नातिव्याप्तिः, इतरत्र तु पक्षे परिणामित्वेनाचेतनत्वेन वा भ्रमोपादानं विशेषणीयमिति न दोषः, न वाऽभावारोपनिवर्तकप्रमा–निवर्त्येऽव्याप्तिः, तस्यापि भ्रमोपादानत्वात्।।११।।

ननु–भ्रमे भावविलक्षणाज्ञानोपादानकत्वं न घटते, भ्रमस्य भावविलक्षणत्वे उपादेयत्वायोगाद्, भावत्वे च भावोपादानकत्वनियमादिति– चेन्न, अज्ञानस्य भ्रमस्य च भावविलक्षणत्वेऽप्युपादानोपा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

अधिष्ठान ब्रह्म है– ऐसे मतानुसार यह लक्षण बनाया गया है और जिस पक्ष में विश्वभ्रम का उपादान कारण केवल ब्रह्म है अथवा ब्रह्म सहित अविद्या है– उस मत को लेकर अज्ञान का यह द्वितीय लक्षण नहीं बनाया गया है। अतः ब्रह्म में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है। जिस मत में विश्वभ्रम का उपादान केवल ब्रह्म अथवा ब्रह्म सहित अविद्या को स्वीकार किया जाता है, उस मत ''परिणामित्वे सति भ्रमोपादानत्वमज्ञानम्'' अथवा ''अचेतनत्वे सति भ्रमोपादानत्वमज्ञानम्'' इस प्रकार से लक्षण का स्वरूप बना देने पर ब्रह्म में अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा।

शङ्का– घटवाले भूतल में घटाभाव का जो भ्रम है, उसका निवर्तक जो घट की प्रमा, उससे निवर्त्य जो अधिष्ठान का अज्ञान वह भी अभावरूप ही है, क्योंकि घट की प्रमा से घट की प्रमा का प्रागभाव ही निवृत्त होता है किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर दोष यह होगा कि कि भावरूप अभावभ्रम का उपादान कारण प्रागभावरूप अज्ञान को मानना पड़ेगा किन्तु यह स्वीकार किया नहीं जा सकता है, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। अतः अभावभ्रम के निवर्तक प्रमाज्ञान से निवर्त्य अज्ञान में अव्याप्ति दोष होगा।

समाधान– उक्त प्रकार से अव्याप्तिदोष नहीं हो सकता है, क्योंकि इसी प्रकरण के खण्ड संख्या २ में कहा जा चुका है कि आरोपित अभाव के उपादान कारण अज्ञान को अभाव से विलक्षण माना जाता है। अतः उक्त अज्ञान को भी भ्रम का उपादान कारण माना ही जा सकता है। अर्थात् अभाव भ्रम और उक्त अज्ञान दोनों ही अभाव के विलक्षण होने के कारण उनमें उपादान–उपादेय भाव माना ही जा सकता है।।११।।

शङ्का– भ्रम का उपादान कारण अज्ञान भाव से विलक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि भ्रम का उपादान कारण अज्ञान का भाव से विलक्षण स्वीकार करने पर भ्रम को भी भाव से विलक्षण अभावरूप मानना पड़ेगा, क्योंकि भाव से विलक्षण उपादान के कार्य को भी भाव से विलक्षण ही मानना होगा किन्तु ऐसा होने पर कार्य में उपादेयत्व ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। जैसे न्यायमत में ध्वंसरूप अभाव को उपादान कारण से जन्य नहीं माना जाता है अपितु केवल निमित्त कारण से ही जन्य माना जाता है। अतः ध्वंसरूप कार्य में उपादेयत्व भी नहीं माना जाता है। फलितार्थ यह हुआ कि उपादान के कार्य को उपादेय कहते हैं। भाव विलक्षण अभावरूप भ्रम मानने पर अभाव का कोई उपादान कारण न होने से भाव विलक्षण अभावरूप भ्रम को उपादेय भी नहीं मान सकते हैं। [सिद्धान्ती इस पर इष्टापत्ति नहीं दे सकते हैं, क्योंकि सिद्धान्त मत में सत्कार्यवाद स्वीकार किया जाता है। सत्यकार्यवाद में उपादेय अपनी अभिव्यक्ति के पूर्वोत्तर काल में भी सूक्ष्मरूप से उपादान में विद्यमान माना जाता है। अतः उपादेय को अभावात्मक नहीं मान सकते हैं] यदि प्रपञ्चादि भ्रम में उपादेयत्व की सिद्धि के लिए भावत्व स्वीकार किया जाता है तब तो उसके उपादान कारण में भी भावत्व स्वीकार करना होगा। ऐसा होने पर सिद्धान्ती भाव से विलक्षण अज्ञान को भ्रम का उपादानकारण नहीं मान सकते हैं। [अतः अभाव आरोप निवर्तक प्रमा ज्ञान से निवर्त्य प्रमा प्रागभाव

देयभावोपपत्तेः। न हि भावत्वमुपादानत्वे उपादेयत्वे वा प्रयोजकम्, आत्मनि तददर्शनात्, किन्त्वन्वयि– कारणत्वमुपादानत्वे तन्त्रम्, सादित्वमुपादेयत्वे, तदुभयं च न भावत्वनियतम्। अत उपादानोपादेयभावोऽपि न भावत्वनियतः। न चैवं ध्वंसस्याप्युपादेयत्वापत्तिः, इष्टापत्तेः।।१२।।

न चैवं–ज्ञानप्रागभावस्यैव भ्रमोपादानत्वमस्तु, किमभावविलक्षणाज्ञानोपादानकल्पनेनेति–वाच्यम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

को ही अभाव आरोप का उपादान कारण मानना चाहिए। यही पूर्वपक्षी का भाव है।]

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान और भ्रम के भावविलक्षणत्व होने पर भी अज्ञान और भ्रम में उपादानोपादेयभाव की उत्पत्ति हो जायेगी। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि ''यत्र यत्र भावत्वं तत्र तत्र उपादानत्वम्'' और ''यत्र यत्र भावत्वं तत्र तत्र उपादेयत्वम्।'' ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि शुद्ध आत्मा में व्याप्य के रहने पर भी व्यापक नहीं है। अतः उक्त व्याप्ति में व्यभिचारदोष है। प्रश्न होगा कि उपादानत्व और उपादेयत्व का प्रयोजक क्या है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि ''यत्र यत्र अन्वयिकारणत्वं तत्र तत्र उपादानत्वम्।'' और ''यत्र यत्र सादित्वं तत्र तत्र उपादेयत्वम्।'' ऐसा नियम स्वीकार किया जाता है। [अन्वयिकारणत्व का अर्थ है– कार्यात्मककारणत्व अर्थात् कार्य से अभिन्न कारणत्व। सिद्धान्तमत में उपादान कारण का उपादेय से अभेद माना जाता है। निमित्तकारण से उपादेय का अभेद नहीं माना जाता है। अतः उपादानकारण वहीं होगा जो कार्य से अभिन्न होगा।] अन्वयिकारणत्व और सादित्व ये दोनों भावत्व के व्याप्य नहीं हैं, क्योंकि ''यत्र यत्र अन्वयिकारणत्वं तत्र तत्र भावत्वम्–ऐसी व्याप्ति व्यभिचारदोष के कारण नहीं मानी जा सकती है। जैसे–अज्ञान में व्याप्य के रहने पर भी व्यापक नहीं है, क्योंकि अज्ञान को भाव से विलक्षण माना जाता है। इसी प्रकार '' यत्र यत्र सादित्वं तत्र तत्र भावत्वम्'' यह व्याप्ति भी नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि ध्वंस में व्याप्य के रहने पर भी व्यापक नहीं है। अतः व्यभिचारदोष है। इस प्रकार से उपादान और उपादेय के जो दोनों प्रयोजक (अन्वयिकारणत्व और सादित्व) कहे गये हैं। वे दोनों ही भावत्व के व्याप्य नहीं हैं। अतः उपादान और उपादेय भी भावत्व के व्याप्य नहीं हो सकते हैं।

शङ्का– ''यत्र यत्र सादित्वं तत्र तत्र उपादेयत्वम्'' ऐसी व्याप्ति मानने पर ध्वंस में भी उपादेयत्व की आपत्ति होगी। अर्थात् ध्वंस को भी उपादानकारण से जन्य मानना पड़ेगा, जबकि नैयायिकादि के मतों में ध्वंस केवल निमित्तकारण से जन्य माना जाता है।

समाधान– नहीं, क्योंकि ध्वंस को उपादान से जन्य उपादेय मानने में इष्टापत्ति है, क्योंकि सिद्धान्तमत में अनित्य–अभावमात्र को अधिकरणरूप और उपादेय माना जाता है। अर्थात् सिद्धान्तमत में ध्वंस को उपादान से जन्य माना जाता है और स्वोपादान के साथ तादात्म्य सम्बन्ध भी माना जाता है।।१२।।

शङ्का– यदि भाव से विलक्षण अज्ञान में भ्रमोपादानत्व स्वीकार करते हैं तब तो भावविलक्षण भ्रमनिवृत्तिस्वरूपयोग्यप्रमाज्ञानप्रागभाव अर्थात् तत्त्वज्ञानप्रागभाव में ही भ्रमोपादानत्व स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि सभी भ्रम के पूर्वकाल में उक्त ज्ञान का प्रागभाव अवश्य ही रहता है और नैयायिकादि प्रागभाव को सभी कार्यों के प्रति साधारणकारण मानते ही हैं। अतः क्लृप्त जो ज्ञान का प्रागभाव उसमें जब भ्रम की कारणता मानना ही है, तब उसमें भ्रम की उपादानकारणता ही मान लिया जाय। अभाव से विलक्षण अज्ञानरूप उपादान से जन्य भ्रम को मानने से क्या लाभ है? दूसरी बात यह भी है कि यदि ज्ञान प्रागभाव से अतिरिक्त अभावविलक्षण अज्ञान को भ्रम का उपादान कारण मानेगें

प्रागभावस्य प्रतियोगिमात्रजनकत्वनियमेन भ्रमं प्रति जनकत्वस्याप्यसिद्धेः, तद्विशेषरूपोपादानत्वस्यैव दूरनिरस्तत्वात्। अतः सद्विलक्षणयोरज्ञानभ्रमयोर्युक्त उपादानोपादेयभावः, भ्रमस्य वा सद्विलक्षणत्वमुक्तम्, वक्ष्यते च।१३।।

न च—एवमज्ञानानुविद्धतया भ्रमस्य प्रतीत्यापत्तिः मृदनुविद्धतया घटस्येवेति— वाच्यम्; यद् यदुपादानकं तत् तदनुविद्धतयैव प्रतीयत इति व्याप्त्यसिद्धेः। न हि घटोपादानकं रूपं घट इति प्रतीयते, प्रकृतिद्व्यणुकाद्यनुविद्धतया प्रतीतेःपरैरप्यनभ्युपगमात्, केनचिद्धर्मेण तदनुवेधस्तु प्रकृतेऽपीष्ट एव।१४।।

न च यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति पक्षे भ्रमापूर्वकप्रमानिवर्त्येऽज्ञाने अव्याप्तिः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

तब तो गौरवदोष भी होगा क्योंकि ज्ञानप्रागभाव और अज्ञान दोनों को ही कारण मानना होगा। यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— किसी का भी प्रागभाव अपने प्रतियोगी के प्रति कारण माना जाता है। अतः प्रकृत में भी ज्ञान का प्रागभाव अपने प्रतियोगी ज्ञानमात्र के ही प्रति कारण होगा। ज्ञानप्रागभाव का प्रतियोगी भ्रम नहीं है। अतः ज्ञानप्रागभाव को भ्रम के प्रतिकारण नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार से जब ज्ञानप्रागभाव में भ्रम के प्रति कारणता ही सम्भव नहीं हुयी, तब उसमें विशेषरूप से उपादान कारणता कैसे सिद्ध हो सकती है। अर्थात् जो कारण ही नहीं, वह उपादानकारण नहीं हो सकता है। इस प्रकार ज्ञानप्रागभाव में भ्रमोपादानत्व असम्भव हो जाने से सद्विलक्षण—अज्ञान और सद् विलक्षणभ्रम में उपादानोपादेय भाव सिद्ध हो गया। भ्रम का बाध होता है। अतः भ्रम सत् नहीं है, अपितु सत् से विलक्षण है— इत्यादि प्रकार से भ्रम में सद्विलक्षणता का प्रतिपादन पीछे किया जा चुका है और आगे भी किया जायेगा।१३।।

शङ्का— भ्रम के प्रति अज्ञान को उपादानकारण मान लेने पर तो जिस प्रकार से घट का उपादान कारण मृत्तिका घट से अनुविद्ध (तादात्म्य) होकर प्रतीत होती है, ठीक उसी प्रकार से भ्रम के उपादानकारण अज्ञान से अनुविद्ध होकर भ्रम के प्रतीति की आपत्ति होगी।

समाधान— नहीं, क्योंकि ''यद् यदुपादानकं तत् तदनुविद्धतयैव प्रतीयते।'' [जिस उपादेय का जो उपादान है, वह उपादेय उस उपादान से तादात्म्यापन्न होकर प्रतीत होता है।] ऐसा कोई नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जिस घटरूप (उपादेय) का उपादानकारण घट है, वह घटरूप घट तादात्म्यपन्न होकर के अर्थात् रूपं घटः—ऐसा प्रतीत नहीं होता है। इसी प्रकार सांख्यमत में महदादि (उपादेय) का उपादानकारण प्रकृति और न्यायमत में त्र्यणुकादि (उपादेय) का उपादानकारण द्वयणुकादि में अनुविद्धतया भान (''प्रकृतिर्महामान्'' और ''द्वयणुकं त्र्यणुकम्'' इस प्रकार से भान) नहीं माना जाता है। यदि कहा जाय कि घटत्वेन घटात्मक उपादान का अनुवेध रूपात्मक कार्य में यद्यपि देखा नहीं जाता है किन्तु शुक्लत्वेन घट का अनुवेध रूप में देखा जाता है। ऐसा पूर्वपक्षी के कहने पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रकृत में भी जड़त्वादि रूप से अज्ञान का अनुवेध भ्रम में भी प्रतीत होता है। अज्ञानत्वेन अज्ञान का अनुवेध जो भ्रम में प्रतीत नहीं होता है, उसका कारण यह है कि भ्रम काल में भ्रम की भ्रमरूप से भ्रान्त व्यक्ति को प्रतीति नहीं होती है। भ्रम के बाधकाल में यह प्रतीति होती है कि मुझे जो रजतज्ञान हो रहा था, वह तो अज्ञान है। इस प्रकार भ्रम के बाधकाल में अज्ञानत्वेन अज्ञान का अनुवेध भ्रम में होता ही है।१४।।

शङ्का— जितने ज्ञान होते हैं उतने ही ज्ञान के प्रागभाव होते हैं— यह जैसे नैयायिकादि मानते हैं, उसी प्रकार इष्टसिद्धिकार ने भी माना है कि जितने ही ज्ञान होते है, उतने ही अज्ञान होते हैं।

भ्रमोपादानतायोग्यत्वस्य विवक्षितत्वात्, सहकारिवैकल्यात् कार्यानुदयेऽपि योग्यतानपायात्। अथ योग्यतावच्छेदकरूपापरिचये कथं तद्ग्रहणम्? प्रथमलक्षणस्यैव योग्यतावच्छेदकत्वात्। एकमेवाज्ञानमिति पक्षे तु तत्र भ्रमोपादानत्वमक्षतमेव।।१५।।

न चैवं शुक्तिज्ञानेनैवाज्ञाननाशे मोक्षापत्तिः, तस्यावस्थाविशेषनाशकत्वाङ्गीकारात्, व्युत्पादितं

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस घटादि प्रमा के पूर्व में घटादि अज्ञान से जन्यभ्रम उत्पन्न ही नहीं हुआ हैं उस घटादि प्रमा के द्वारा उस घटादि—अज्ञान की निवृत्ति तो होती ही है, किन्तु उस घटादि के अज्ञान में भ्रमोपादानत्व रूप अज्ञान का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि उस अज्ञान से कोई भ्रम उत्पन्न ही नहीं हुआ है। अतः उस अज्ञान को भ्रम का उपादान नहीं माना जा सकता है।

समाधान— नहीं, क्योंकि अनेक अज्ञानवाद में भ्रमोपादानत्व शब्द से भ्रमोपादानता योग्यत्व विवक्षित है, [यद्यपि उक्त स्थल पर घट के अज्ञान से कोई भ्रम उत्पन्न नहीं हुआ तथापि उस घट के अज्ञान में भ्रम को उत्पन्न करने की स्वरूप योग्यता होने में उक्त घट के अज्ञान में अव्याप्ति दोष नहीं होगा। इस पर यदि शङ्का की जाय कि जिस अज्ञान से भ्रम उत्पन्न ही नहीं हुआ उस अज्ञान में भ्रम को उत्पन्न करने में स्वरूप योग्यता कैसे मानी जाय? इसके समाधानार्थ कह रहे हैं कि] कोई भी कारण सहकारी के सहयोग से ही कार्य को उत्पन्न करता है। प्रकृत में घट का अज्ञान जो भ्रम को उत्पन्न नहीं किया। उसका कारण यह है कि वहां सादृश्यादि सहकारिकारण का वैकल्य था। किन्तु सहकारी के अभाव से कार्य के उत्पन्न न होने पर भी कारण में कार्य को उत्पन्न करने की स्वरूप योग्यता का निराकरण नहीं होता है।

शङ्का— जब तक योग्यतावच्छेदक धर्म का ज्ञान नहीं होता है, तब तक योग्यता का भी ज्ञान नहीं होता है। प्रकृत में भी योग्यतावच्छेदक धर्म का ज्ञान है? अथवा नहीं? यदि योग्यतावच्छेदकधर्म का ज्ञान है तब तो वही अज्ञान का लक्षण बन जायेगा। यह लक्षण व्यर्थ हो जायेगा। यदि योग्यतावच्छेदक धर्म का ज्ञान नहीं है तब तो योग्यता का ग्रहण (निश्चय) नहीं हो पायेगा।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान का प्रथम लक्षण (अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वम्) ही योग्यतावच्छेदक धर्म है। अर्थात् जहां यह धर्म है वहां भ्रमोपादानत्व की योग्यता है—ऐसा ज्ञान होने से योग्यता का ज्ञान हो जाता है। प्रथम लक्षण से द्वितीय लक्षण की गतार्थता नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि एक ही वस्तु के अनेक लक्षण देखे जाते हैं। वहां पर एक लक्षण से लक्षणान्तरों की गतार्थता नहीं मानी जाती है। जिस पक्ष में एक ही अज्ञान माना जाता है उस पक्ष में अज्ञान में भ्रमोपादानत्व अक्षत ही है। [अर्थात् एक अज्ञानवाद में उस एक अज्ञान से अतिरिक्त घट का अज्ञान होता ही नहीं है। जिसमें पूर्वोक्त प्रकार से अव्याप्ति दोष दिया जा सके। घट का अज्ञान भी मूलाज्ञान ही है और उसमें प्रपञ्चभ्रमोपादानत्व ही है। अतः एक अज्ञानपक्ष में योग्यता पद लक्षण में देने की आवश्यकता नहीं है।]।।१५।।

शङ्का— अज्ञान एक ही है—ऐसा स्वीकार करने पर मूलाज्ञान और शुक्ति का अज्ञान एक ही माना जायेगा। ऐसा होने पर शुक्ति के ज्ञान से जब शुक्ति का अज्ञान नष्ट होगा तब मूलाज्ञान भी नष्ट हो जायेगा, क्योंकि शुक्ति का अज्ञान और मूलाज्ञान अभिन्न है। ऐसा होने पर मोक्ष का लाभ हो जाना चाहिए।

समाधान— अज्ञान एक ही है— इस पक्ष में मूलाज्ञान के अवस्थाज्ञान अनेक होते हैं। शुक्तिज्ञान से मूलाज्ञान का एक अवस्थाज्ञानमात्र का नाश होता है न कि शुद्ध ब्रह्मविषयक मूलाज्ञान का। अतः पूर्वोक्त प्रकार से मोक्षापत्ति नहीं होगी। इसका प्रतिपादन सिद्धान्तबिन्दु में विस्तार से किया गया है।

चैतदस्माभिः सिद्धान्तविन्दौ। ज्ञानत्वेन रूपेण साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा तल्लक्षणमिति च प्रागुक्तमेव, तस्मान्नाविद्यालक्षणासम्भव इति सर्वमवदातम्।।१६।।

इत्यद्वैतसिद्धाववियालक्षणोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

[सिद्धान्त बिन्दु में कहा गया है कि ''शुक्तिर्न भाति'' इस प्रकार से जो व्यवहार होता है, उसके प्रति नियामक है—शुक्तिप्रमाविरहविशिष्टमूलाज्ञान। अतः शुक्तिप्रमा उत्पन्न होने पर मूलाज्ञान के रहने पर भी शुक्तिप्रमाविरहविशिष्टमूलाज्ञान के न रहने के कारण ''शुक्तिर्न भाति'' इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है। अतः शुक्ति प्रमा ''शुक्तिर्न भाति'' इस प्रकार के व्यवहार की निवर्तिका है न कि मूलाज्ञान की निवर्तिका है। अतः शुक्तिप्रमा से मूलाज्ञान की निवृत्ति न होने के कारण सद्यो मुक्ति की आपत्ति नहीं आ सकती है।] अतः अज्ञान का द्वितीय लक्षण निर्दोष है। अथवा से अज्ञान के तृतीय लक्षण का निरूपण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि—ज्ञानत्व रूप से साक्षात् ज्ञाननिवर्त्यत्व भी अज्ञान का लक्षण है। जिसका निरूपण इसी प्रकरण के खण्ड संख्या ४ में किया गया है। अतः अविद्या के लक्षण का असम्भव नहीं है। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि अविद्या के लक्षण के विषय में श्रीविवरणाचार्य श्रीचित्सुखाचार्य प्रभृति ने जो कुछ कहा है, वह सब उचित ही है।।१६।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामविद्यालक्षणोपपत्तिः

३—अज्ञाने प्रत्यक्षप्रमाणविचारः

तत्र चाज्ञाने (सामान्यतः) ' अहमज्ञो मामन्यं च न जानामीति प्रत्यक्षम्, ' त्वदुक्तमर्थं न जानामि'इति विशेषतः प्रत्यक्षम्, 'एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्'इति परामर्शसिद्धं सौषुप्तप्रत्यक्षं च प्रमाणम्।१ ।।

न च—अहमर्थस्याज्ञानानाश्रयत्वेन कथमयं प्रत्ययो भावरूपाज्ञानपक्षे उपपद्यत इति—वाच्यम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

''लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः'' इस न्याय का अनुसरण करते हुए आचार्यप्रवर ने पूर्व प्रकरण में अज्ञान के लक्षण का कथन किया और इस प्रकरण में अज्ञान में प्रमाण को प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं कि पूर्वोक्त लक्षणों से लक्षित आत्माश्रित अज्ञान में ''अहमज्ञः=अहमज्ञानाश्रयोऽस्मि'' यह सामान्य साक्षिप्रत्यक्ष प्रमाण है। अहं माम् (स्वात्मानम्) अन्यं (अन्यमात्मानम्) न जानामि'' अर्थात्— स्वात्मविषयकस्य अन्यात्मविषयकस्य चाज्ञानस्य आश्रयो अहमस्मि। यह सामान्यसाक्षिप्रत्यक्ष भी आत्माश्रित अज्ञान को प्रमाणित कर रहा है। इन दोनों साक्षिप्रत्यक्षों को जो सामान्यतः प्रत्यक्ष कहा गया है। वह इसलिए कि ये दोनों प्रत्यक्ष केवल आत्मविषयक अज्ञान को ही विषय कर रहे हैं न कि आत्मचैतन्य से भिन्न प्रपञ्च अन्तर्गत घटादि से अवच्छिन्नचैतन्य विषयक अज्ञान को विषय करते हैं। ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि=त्वदुक्तार्थविषयकाज्ञानाश्रयोऽहमस्मि।'' यह साक्षिप्रत्यक्ष भी आत्माश्रित अज्ञान में प्रमाण है। इस प्रत्यक्ष को जो विशेषतः कहा गया है। वह इसलिए कि यह प्रत्यक्ष त्वदुक्तार्थ विषय से विशेषित अज्ञान को विषय करने वाला है और ''इतने काल पर्यन्त सुख से मैं सोया और कुछ भी न जाना'' इत्याकारक जो जाग्रत्कालीन स्मृति है। उसके द्वारा सिद्ध अर्थात् स्मृति की अन्यथानुपपत्ति (सौषुप्ताज्ञानप्रत्यक्षं विना जाग्रत्कालीनाज्ञानस्मृतिरनुपपन्ना) से सिद्ध जो सुषुप्तिकालीन साक्षिप्रत्यक्ष है। वह भी आत्माश्रित अज्ञान में प्रमाण है। [ये सभी प्रत्यक्ष अहं पदार्थ विशेष्यक और अज्ञान प्रकारक होते हैं। इसलिए अहं पदार्थ में प्रकार विधया भासित होने वाले अज्ञानों में उक्त सभी साक्षिप्रत्यक्ष प्रमाण माने जाते हैं। यहां प्रश्न होता है कि प्रमा के करण को प्रमााण कहते हैं किन्तु साक्षिप्रत्यक्ष से वस्तु का प्रमाज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि साक्षिप्रत्यक्ष से वस्तु का प्रमाज्ञान मानने पर साक्षिप्रत्यक्ष से अवगत शुक्तिरूप्यादि में अबाधितत्व प्रसक्त होगा। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां जो अज्ञान में साक्षिप्रत्यक्ष को प्रमाण कहा गया है, वह अद्वैतदीपिका की 'येन विना यस्यासत्त्वशङ्का न निवर्तते, सति च तस्मिन् निवर्तते, तत्तस्मिन् प्रमाणम्।'' इस परिभाषा के अनुसार कहा गया है। अतः अज्ञान में साक्षिप्रत्यक्ष प्रमाण है— अद्वैतसिद्धिकार के इस कथन का आशय यह है कि अज्ञान के असत्त्वापादक अज्ञान को निवृत्त कर साक्षिप्रत्यक्ष उसकी सत्ता सिद्ध करता है]।१ ।।

शङ्का— सिद्धान्ती के द्वारा अहमर्थ (जीव) को अज्ञान का आश्रय माना नहीं जाता है, अपितु अज्ञान का आश्रय शुद्ध चैतन्य को माना जाता है, किन्तु ''अहमज्ञः'' इत्यादि साक्षिप्रत्यक्ष अहमर्थ (जीव) को ही अज्ञान का आश्रय सूचित करता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि उक्त साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं होती है, किन्तु जीव में ज्ञानाभाव की सिद्धि होती है।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि वस्तुतः अज्ञान शुद्ध चैतन्य के आश्रित होता है और भावात्मक भी होता है, फिर भी अहम्पदार्थैकदेश जो अन्तःकरण उसमें आश्रितत्त्वेन अज्ञान का अनुभव जो उक्त प्रत्यक्ष के द्वारा होता है, वह इसलिए होता है कि अज्ञान जिस ब्रह्म चैतन्य में अध्यस्त है, उसी ब्रह्मचैतन्य में अन्तःकरण भी अध्यस्त है। फलतः दोनों में एकाधिकरणनिरूपित

अज्ञानाश्रयीभूतचैतन्ये अन्तःकरणतादात्म्याध्यासेन एकाश्रयत्वसम्बन्धेनोपपत्तेः। अत एव जडे आवरणकृत्याभावात् 'घटं न जानामि'इत्यादिप्रतीतेर्ज्ञानाभावविषयत्वे प्रकृतेऽपि तथास्त्विति— निरस्तम्, तत्तदवच्छिन्नचैतन्यस्यैवाज्ञानाश्रयत्वेन तत्रापि तद्व्यवहारोपपत्तेः।।२।।

न च—साक्षिवेद्ये सुखदुःखाज्ञानादौ प्रातिभासिके च भावरूपाज्ञानाभावेन तत्र न जानामीति प्रतीतिः कथमुपपद्यत इति—वाच्यम्, स्वस्मिन्विद्यमाने साक्षिवेद्ये सुखादौ स्वभ्रमसिद्धे रूप्यादौ च 'न जानामि'इति व्यवहारासम्भवात्, परसुखादौ 'न जानामि' इति व्यवहारस्य परोक्षज्ञाननिवर्त्येन

सत्यानन्दप्रबोधिका

वृत्तिता है। इसलिए दोनों में समानाधिकरण है। समानाधिकरण होने से स्वाधिकरणनिरूपितवृत्तित्व सम्बन्ध से अज्ञान का आश्रय अन्तःकरण भी हो सकता है। (यहां स्व पद से अज्ञान लेना चाहिए। उसका अधिकरण शुद्ध चैतन्य होगा। उससे निरूपित वृत्तित्व अन्तःकरण में चला जायेगा।) अतः अहमर्थ आश्रितत्वेन अज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव भी ब्रह्माश्रित अज्ञान में प्रमाण माना ही जा सकता है। अतएव= जैसे ब्रह्म चैतन्य में अज्ञान और अन्तःकरण दोनों अध्यस्त हैं ठीक वैसे ही ब्रह्मचैतन्य में अज्ञान और घटादि दोनों ही अध्यस्त हैं, इसलिए स्वाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसम्बन्ध से जड़ में भी अज्ञान का सद्भाव होने से ही, पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जड़ पदार्थ में आवरण के कृत्य (असत्त्व का आपादन और अभान का आपादन रूप आवरण का कृत्य) का अभाव होता है, क्योंकि जैसे अन्धकार प्रकाश को ही आवृत्त करता है, वैसे ही अज्ञान ज्ञानरूप चैतन्य को ही आवृत्त करता है न कि जड़ को। अतः ''घटं न जानामि'' इस प्रतीति को घटविषयकाज्ञानविषयिणी स्वीकार न करके घटविषयकज्ञानाभावविषयिणी ही स्वीकार किया जाता है। ठीक वैसे ही प्रकृत में भी अहम् पद वाच्य जो अन्तःकरण है। वह जड़ है। अतः ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति को भी अहंविषयकाज्ञानविषयिणी न स्वीकार करके अहंविषयकज्ञानाभावविषयिणी स्वीकार करना चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि घटावच्छिन्नचैतन्य ही अज्ञान का आश्रय होने से अज्ञानाश्रयतावच्छेदक घट में अज्ञानाश्रयत्व और अज्ञान प्रयुक्त आवृतत्त्व का व्यवहार उपपन्न हो जायेगा। अर्थात् जिस घटावच्छिन्नचैतन्य में अज्ञान अध्यस्त है, उसी घटावच्छिन्न चैतन्य में घट अध्यस्त है। अतः स्वाधिकरणनिरूपितवृत्तित्वसम्बन्ध से अज्ञान का आश्रय घट भी हो सकता है। अज्ञान का आश्रय घट के होने से घट में अज्ञानाश्रयत्व और अज्ञानप्रयुक्त आवृतत्त्व के व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी। अतः ''घटं न जानामि'' इस प्रतीति का भावरूपाज्ञानविषयत्व ही है न कि ज्ञानाभावविषयत्व।।२।।

शङ्का— सिद्धान्ती के अनुसार भावरूप अज्ञान केवल चैतन्य के आश्रित रहता है। अर्थात् चैतन्य से भिन्न सुखादि जड़ पदार्थों के आश्रित नहीं रहता है और केवल साक्षिभास्य पदार्थ ज्ञातैक सत्ता वाले होते हैं। अर्थात् वे विद्यमान भी रहें और उनका अज्ञान भी रहे—ऐसा भी नहीं माना जाता है। अतः जब साक्षिवेद्य सुख दुःख अज्ञानादि और प्रातिभासिक शुक्तिरजतादि पदार्थों का भावरूप अज्ञान ही नहीं होता है, तब उन सुखादि पदार्थों में ''सुखादिं न जानामि'' ऐसी प्रतीति का विषय सुखादि का अज्ञान नहीं हो सकता है। अतः बाध्य होकर उन प्रतीतियों का विषय सुखादि के ज्ञान का अभाव ही मानना पड़ेगा। अतः ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति का विषय भी भावरूप अज्ञान न मानकर ज्ञानाभाव को मान लेना चाहिए।

समाधान— पूवपक्षी ने जिस सुखादि को लेकर उक्त दोष दिया। वह सुखादि स्वनिष्ठ है? या परनिष्ठ है? प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अपने में विद्यमान साक्षिवेद्य सुखादि में और अपने भ्रम से सिद्ध शुक्तिरजतादि में ''सुखादिं न जानामि'' ''शुक्तिरूप्यं

प्रमातृगताज्ञानेनैवोपपत्तेः। अत एव परोक्षज्ञानेन प्रमातृगताज्ञाने नाशितेऽपि विषयगताज्ञानसत्त्वेन 'न जानामि'इति व्यवहारापत्तिरिति—निरस्तम्, प्रमातृगताज्ञानकार्यस्य 'न जानामि'इति व्यवहारस्य विषयगताज्ञानेनापादयितुमशक्यत्वात्।।३।।

ननु—भावरूपाज्ञानविषयत्वेनाभिमतस्य 'अहमज्ञः' इति प्रत्ययस्य 'मयि ज्ञानं नास्ति'इति ज्ञानाभावविषयात् प्रत्ययात् 'अघटं भूतलम्' इति प्रत्ययस्य 'घटो नास्ति'इति प्रत्ययादिव

सत्यानन्दप्रबोधिका

न जानामि'' इत्याकारक व्यवहार सम्भव ही नहीं है। यदि पूर्वपक्षी द्वितीय पक्ष को स्वीकार के उक्त दोष दिया है, तब कह रहे हैं कि परकीय सुखादि साक्षिवेद्य होता नहीं है। किन्तु अनुमानादि वेद्य हैं अतः उसका अज्ञान रह ही सकता है। उस अज्ञान की निवृत्ति अनुमित्यादि परोक्षज्ञान से हो जाती है, किन्तु वह जो अज्ञान की निवृत्ति होगी, वह प्रमातृगत असत्त्वापादक अज्ञान की ही निवृत्ति होगी, क्योंकि परोक्षज्ञान से विषयगत अभानापादक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु केवल प्रत्यक्षज्ञान से ही होती हैं अतः जब तक पर सुखादि का परोक्षज्ञान नहीं होता तब तक प्रमाता में उन सुखादि का भावरूप असत्त्वापादक अज्ञान रहेगा और उस अज्ञान के रहने से ''परसुखादिं न जानामि'' ऐसा व्यवहार उपपन्न हो जायेगा। अतः ''सुखादिं न जानामि'' इस प्रतीति के आधार पर भी भावरूप अज्ञान की ही सिद्धि होती है। अतएव— प्रमातृगत अज्ञान के बल पर ही ''न जानामि'' ऐसा व्यवहार होने से। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि अनुमित्यादि परोक्षज्ञान द्वारा प्रमातृगत असत्त्वापादक अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर भी विषयगत (अभानापादक) अज्ञान के वर्तमान होने से उसके द्वारा ''न जानामि'' इस प्रकार की प्रतीति की आपत्ति होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि ''न जानामि'' इस व्यवहार का कारण है— प्रमातृगत असत्त्वापादक अज्ञान, न कि विषयगत अभानापादक अज्ञान, क्योंकि विषयगत अभानापादक अज्ञान के द्वारा ''न जानामि'' यह प्रतीति नहीं होती है किन्तु ''विषयो न भाति'' ऐसी प्रतीति होती है। अतः विषयगत अभानापादकाज्ञान ''न जानामि'' इस व्यवहार का कारण न होने से विषयगत अभानापादक अज्ञान के रहने पर भी ''न जानामि'' इस प्रकार के व्यवहार की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।।३।।

शङ्का — भावरूप अज्ञान विषयकत्वेन अभिमत जो ''अहमज्ञः'' इस प्रत्यय का ज्ञानाभावविषयकत्वेन अभिमत ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रत्यय से विशेषणविशेष्यभाव के वैपरीत्य से अतिरिक्त इनके विषयों में भेद की प्रतीति नही होती है। [अर्थात् ''अहमज्ञः'' यह प्रतीति अज्ञान पदार्थप्रकारक और अहम्पदार्थ विशेष्यक है और ''मयि ज्ञानं नास्ति'' यह प्रतीति अहम्पदार्थप्रकारक और अज्ञानपदार्थविशेष्यक है। इन दोनों ही प्रतीतियों में अज्ञानपदार्थ और अहम्पदार्थ भासित हो रहे हैं किन्तु प्रथम प्रतीति में जो विशेषण है, वह द्वितीय प्रतीति में विशेष्य हो गया और जो प्रथम प्रतीति में विशेष्य है, वह द्वितीय प्रतीति में विशेषण हो गया। इससे अतिरिक्त इन दोनों प्रतीतियों के विषयों में कोई भेद नही है।] सर्वप्रथम अन्वय दृष्टान्त देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे ''अघटं भूतलम्'' इत्याकारक प्रत्यय का ''घटो नास्ति'' इस प्रत्यय से विशेषणविशेष्यभाव के वैपरीत्य से अतिरिक्त इनके विषयों में भेद की प्रतीति नहीं होती है। [अर्थात् ''अघटं भूतलम्'' (घटाभाववद् भूतलम्) यह प्रतीति घटाभावप्रकारक और भूतलविशेष्यक है और ''घटो नास्ति'' (भूतले घटाभावः) यह प्रतीति भूतलप्रकारक और घटाभावविशेष्यक है। इस प्रकार से इन दोनों प्रतीतियों में घटाभाव और भूतल ही विषय रूप से भासित हो रहे हैं किन्तु प्रथम प्रतीति में जो विशेषण के रूप से भासित हो रहा है, वह द्वितीय प्रतीति में विशेष्य के रूप से भासित हो रहा

विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासं विना इच्छाद्वेषाभावज्ञानयोरिव विषयभेदाप्रतीतिरिति– चेत्।।४।।

सत्यम्, धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां ज्ञानसामान्याभावज्ञानस्य व्याहतत्वेन 'मयि ज्ञानं नास्ति'इत्यस्यापि भावरूपाज्ञानविषयत्वेन विषयभेदाप्रतीतेर्युक्तत्वात्। तथा हि–'मयि ज्ञानं नास्ति'इति प्रतीतिः 'वायौ रूपं नास्ति'इति प्रतीतिवद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावविषया, सामान्यावच्छिन्न–

सत्यानन्दप्रबोधिका

है और जो प्रथम प्रतीति में विशेष्य के रूप से भासित हो रहा है वह द्वितीय प्रतीति में विशेषण के रूप से भासित हो रहा है। यही इन दोनों प्रतीतियों में विशेषणविशेष्यभाव का वैपरीत्य होता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों प्रतीतियों के विषयों में कोई भेद नहीं होता है।] अब व्यतिरेक दृष्टान्त देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे ''इच्छामि'' इस भावरूप इच्छाविषयक प्रत्यय और ''न द्वेष्मि'' इस द्वेषाभावविषयक प्रत्यय में विषयभेद की प्रतीति होती है, क्योंकि प्रथम प्रत्यय का विषय =भावरूप इच्छा है और द्वितीय प्रत्यय का विषय द्वेषाभाव है। ठीक उसी प्रकार प्रकृत में उक्त दोनों प्रतीतियों के विषयों में भेद नहीं है। इस प्रकार जब यह सिद्ध हो गया कि ''अहमज्ञः'' और ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इन प्रतीतियों के विषयों में भेद नहीं है। तब जैसे ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति में विशेष्य= अज्ञानपदार्थ का ज्ञानाभाव अर्थ किया जाता है। ठीक वैसे ही ''अहमज्ञः''इस प्रतीति में भी विशेषण=अज्ञानपदार्थ का ज्ञानाभाव ही अर्थ करना चाहिए न कि भावरूप अज्ञान। अतः ''अहमज्ञः'' इस साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा भाव रूप अज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती है। यही पूर्वपक्षी का आशय है।।४।।

समाधान– पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''अहमज्ञः'' और ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इन दोनों का विषय एक ही है। इतने अंश में पूर्वपक्षी का कथन सत्य है, क्योंकि सिद्धान्त मत में जैसे ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति का विषय भावरूप अज्ञान माना जाता है, ठीक वैसे ही ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय भी भावरूप अज्ञान ही माना जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानाभाव क्यों नहीं माना जाता है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति के विषय को यदि ज्ञानसामान्याभाव (कोई भी ज्ञान मुझमें नहीं है–ऐसा) माना जाय, तब यह प्रश्न होगा कि जिस प्रमाता को ज्ञानसामान्याभाव का ज्ञान हो रहा है, उस प्रमाता को ज्ञानसामान्याभाव के ज्ञान से पूर्व में ज्ञानसामान्याभाव के अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान है? अथवा नहीं? यदि अहम्पदार्थ रूप अनुयोगी और ज्ञानरूपप्रतियोगी का ज्ञान प्रमाता में है, तब उसी प्रमाता में ज्ञानसामान्याभाव नहीं रह सकता है, क्योंकि भाव और अभाव को एकत्र मानने पर व्याघातापत्ति होगी। यदि प्रमाता को अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान नहीं है, तब भी प्रमाता को ज्ञानसामान्याभव की प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि अभावज्ञान के प्रति अनुयोगी–प्रतियोगी की प्रतीति कारण होती है। अतः जब कारण (अनुयोगी–प्रतियोगी का ज्ञान) ही नहीं है तब कार्य (ज्ञानसामान्याभाव का ज्ञान) नहीं हो सकता है। अतः अनुयोगी–प्रतियोगी के ज्ञान के विना ज्ञानसामान्याभाव के ज्ञान की उत्पत्ति का व्याघात है। अतः ''मयि ज्ञानं नास्ति'' यह प्रतीति भी भावरूप अज्ञान को ही विषय करती है। अतः ''अहमज्ञः'' और ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इन दोनों प्रतीतियों के विषय में कोई भेद न होना ही उचित ही है। इसी अर्थ को आगे ''तथाहि....'' से स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे ''वायौ रूपं नास्ति'' इस प्रतीति का विषयरूपसामान्याभाव माना जाता है। [सामान्याभाव के विषय में दो मत हैं– १– कुछ आचार्य सामान्याभाव को यावत् विशेषों के अभावकूट (समुदाय) से भिन्न मानते हैं और २– कुछ आचार्य सामान्याभाव को यावत् विशेषों के अभावकूट से भिन्न नहीं मानते हैं।] अतः एकमत में वायु में रहने वाले रूपसामान्याभाव

प्रतियोगिताकयावद्विशेषाभावबिषया वा अभ्युपेया। तथा च तत्कारणीभूतधर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां कथं न व्याघातः?।।५।।

यत्किञ्चिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाभावाद्, अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे

सत्यानन्दप्रबोधिका

(रूपत्वावच्छिन्नरूपाभाव) को यावत् विशेषाभावकूट (नीलरूपाभाव, पीतरूपाभाव इत्यादि अभावकूट) से भिन्न माना जाता है और दूसरे मत में वायु में रहने वाले रूपसामान्याभाव को यावत् विशेषाभावकूट से भिन्न नहीं माना जाता है। अर्थात् यावत् विशेषाभावों के समूह को भी रूपत्वावच्छिन्नरूपाभाव मान लिया जाता है। (इन दोनों विकल्पों में यह भेद है कि प्रथम में एक ही अभाव होता है और द्वितीय में अनेक अभाव होते हैं।) ठीक ऐसे ही प्रकृत में ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति को यावत् ज्ञानविशेषाभाव कूट से भिन्न ज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक सामान्याभावविषयक माना जाय अथवा ज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकयावद् ज्ञानविशेषाभावकूटविषयक माना जाय। दोनों ही पक्षों में ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानसामान्याभाव मानने पर प्रश्न होगा कि ज्ञानसामान्याभाव की प्रतीति का कारणीभूत अनुयोगी और प्रतियोगी का ज्ञान है? अथवा नहीं? यदि अनुयोगी—प्रतियोगी का ज्ञान है तब ज्ञान सामान्याभाव मानने पर व्याघात होगा और यदि अनुयोगी—प्रतियोगी का ज्ञान नहीं है,तब कारण (अनुयोगी—प्रतियोगी का ज्ञान) का अभाव होने से ज्ञानसामान्याभाव की प्रतीति की उत्पत्ति न होने से ज्ञानसामान्याभाव की प्रतीति का व्याघात हो जायेगा। अर्थात् ज्ञानसामान्याभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा।।५।।

[यदि पूर्वपक्षी कहता है कि घटज्ञान—पटज्ञान इत्यादि कुछ ज्ञान ऐसे हैं कि जिसका ज्ञान प्रमाता को रहता है किन्तु ब्रह्मादि कुछ ऐसे भी हैं, जिसका ज्ञान प्रमाता को नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञान नहीं है— ऐसे यत्किञ्चित् विशेष के ज्ञान के अभाव को भी ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव कह ही सकते हैं। इस प्रकार से मानने पर व्याघातदोष भी नहीं होगा, क्योंकि ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस ज्ञानाभाव का प्रतियोगी=ज्ञान। घटज्ञान—पटज्ञानादि का ज्ञान प्रमाता को रहने के कारण प्रतियोगी (ज्ञान) के ज्ञान की उपपत्ति हो जायेगी। यह जो व्याघातदोष दिया था कि प्रतियोगी (ज्ञान) के ज्ञान के रहने से ज्ञानाभाव नहीं रह सकता है। यह दोष भी नहीं आयेगा, क्योंकि कुछ ज्ञानों का ज्ञान रहने पर भी कुछ ब्रह्मादि ज्ञानों का ज्ञान नहीं है। ऐसी शङ्का का निवारण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] ब्रह्मज्ञानाभाव रूप जो यत्किञ्चित् विशेषाभाव है। उसको ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यत्किञ्चित् विशेषाभावीय प्रतियोगितावच्छेदक= ब्रह्मज्ञानत्व होगा न कि ज्ञानत्व, क्योंकि अभावविषयक ज्ञान में प्रतियोगिनिष्ठ प्रकारीभूत अनतिरिक्त धर्म को ही प्रतियोगितावच्छेदक माना जाता है। ब्रह्मज्ञानाभाव का प्रतियोगी ब्रह्मज्ञान, उससे अतिरिक्त घटज्ञानादि। उसमें भी ज्ञानत्व रहता है। अतः ब्रह्मज्ञानाभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक ज्ञानत्व नहीं होगा किन्तु ब्रह्मज्ञानत्व ही होगा। अन्यथा= अभावविषयक ज्ञान में प्रतियोगिनिष्ठप्रकारीभूत अनतिरिक्त धर्म को ही प्रतियोगितावच्छेदक न मानने पर अर्थात् सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन विशेषाभाव का भी भान मान लेने पर यत्किञ्चित् विशेषाभाव भी सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक हो जायेगा। तब तो विशेषाभाव और सामान्याभाव दोनों में प्रतियोगितावच्छेदक एक ही हो जायेगा। किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से ही अभावों में भेद माना जाता है। अतः विशेषाभाव और सामान्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदक में भेद न होने से उन दोनों अभावों में भी भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा। अर्थात् विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि विशेषाभाव ही जब सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन

प्रकारीभूतधर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकत्वादन्यथा सामान्याभावसिद्धिर्न स्यात्।।६।।

यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावानभ्युपगमेऽप्ययं दोषः। यत्किञ्चिद्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले। 'निर्घटं भूतलम्'इति प्रतीतिः स्यात्, 'वायौ रूपं नास्ति' 'पुरो देशे रजतं नास्ति' इत्याद्याप्तवाक्यजन्यप्रतीत्यनन्तरमपि तत्तत्संशयनिवृत्तिर्न स्यात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

भासित हो रहा है। तब विशेषाभाव से भिन्न सामान्याभाव को सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन भासित होने का अवसर ही नहीं मिल पायेगा। [फलितार्थ यह हुआ कि "ब्रह्मज्ञान नहीं है।" यह ब्रह्मज्ञान का अभाव ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानाभाव का प्रतियोगी ज्ञानत्वावच्छिन्न ज्ञान नहीं है किन्तु ब्रह्मज्ञानत्वावच्छिन्न ब्रह्मज्ञान ही प्रतियोगी है। इसी प्रकार सामान्याभाव ("मयि ज्ञानं नास्ति") में भी विशेष धर्म (ब्रह्मज्ञानत्व) प्रतियोगितावच्छेदक नही हो सकता। अतः ब्रह्मज्ञानत्वावच्छिन्न ज्ञानसामान्याभावं नहीं होता किन्तु ज्ञानत्वावच्छिन्नज्ञानसामान्याभाव होता है। अतः खण्ड संख्या ५ में कथित व्याघात दोष बना रही रहेगा। यदि यत्किञ्चित् विशेष का अभाव न लेकर यावत् विशेष मात्र का अभाव लिया जाता हैं तब तो प्रतियोगितावच्छेदक सामान्यधर्म हो सकता है। जैसे ज्ञानत्वावच्छिन्नयावद्विशेषज्ञानाभाव। इसका कारण यह है कि यावद् विशेषाभावकूट को भी सामान्याभावरूप कुछ लोगों के मत में माना जाता है।।]।।६।।

यावद्विशेषाभाव से भिन्न सामान्याभाव को स्वीकार न करने के पक्ष में भी यह दोष (प्रतियोग्यंश में प्रकारीभूत धर्म के प्रतियोगितावच्छेदक होने से असम्भव रूप दोष और अनुयोगी—प्रतियोगी के ज्ञान और अज्ञान को लेकर जो व्याघातदोष दिया गया था, वह व्याघातदोष भी) आयेगा। [अर्थात् यावद्विशेषाभावकूट से अभिन्न सामान्याभाव जिस मत में माना जाता है, उस मत में भी "पटज्ञानं नास्ति" "घटज्ञानं नास्ति" इत्यादिरूप से जो विशेषाभावों की प्रतीति होती है, उस प्रतीति में प्रतियोग्यंश में पटज्ञानत्व, घटज्ञानत्व इत्यादि का ही प्रकारविधया भान होता है। अतः पटज्ञानत्व—घटज्ञानत्व इत्यादि को ही प्रतियोगितावच्छेक माना जाता है न कि शुद्ध ज्ञानत्व को, क्योंकि अभावविषयक प्रतीति में प्रतियोग्यंश में शुद्धज्ञानत्व का भान ही नहीं होता है। अतः शुद्धज्ञानत्व में प्रतियोगितावच्छेदक स्वीकार करना असम्भव है।] यदि पूर्वपक्षी के द्वारा "मयि ज्ञानं नास्ति" इस प्रतीति के उपपादन के लिए यत्किञ्चित् ज्ञानविशेषाभाव का ही सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन भान माना जाता है,तब आपत्ति यह होगी कि जहां भूतल में नीलघट है, वहीं भूतल में कोई भी घट नहीं है— ऐसा घटसामान्याभाव न मिलने पर भी रक्तघटाभावरूप यत्किञ्चित् विशेषाभाव उसी भूतल में मिल ही सकता है। पूर्वपक्षी यत्किञ्चित् विशेषाभाव को सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक मानता ही है। अतः रक्तघटाभाव भी घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक हो जायेगा। तब भूतल में नीलघट के रहने पर भी रक्तघटाभाव को लेकर "भूतल में कोई भी घट नहीं है।" इस प्रकार से घट सामान्याभाव की प्रतीति होनी चाहिए। जब कि उक्त स्थल पर ऐसी प्रतीति कोई भी मानता नहीं है। दूसरा दोष यह भी होगा कि जहां देवदत्त को पहले यह संशय हुआ कि "वायौ शुक्लरूपमस्ति न वा?" "पुरो देशे मदीयं रजतमस्ति न वा?"। इस संशय के निवारण के लिए वहां देवदत्त ने आप्तपुरुष से पूछा कि वायु —आदि में क्या है? तब आप्तपुरुष ने कहा कि "वायौ रूपं नास्ति" पुरो देशे रजतं नास्ति" इन दोनों आप्तवाक्यों से यद्यपि सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव का प्रमाज्ञान हो रहा है तथापि पूर्वपक्षी के अनुसार यत्किञ्चिद् विशेषाभाव भी सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव होता है। अतः उक्त आप्तवाक्यों को सुनकर सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक विशेषाभाव होता है। अर्थात् रूपत्वावच्छिन्न

एकविशेषाभावबोधनेऽपि विशेषान्तरमादाय संशयोपपत्तेः।।७।।

अथ—अभावबोधे प्रकारीभूतधर्मस्यावच्छेदकत्वं पूर्वानुपस्थितमपि संसर्गमर्यादया शाब्दबोधे अन्यत्र च भासते, न ह्यवच्छेदकत्वस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषस्य ग्रहे अन्या सामग्री क्लृप्ता, तथा च 'तत्तद्विशेषाभावानां तत्तद्विशेषावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात्सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

रक्तरूप का भी अभाव होता है—इसके अनुसार देवदत्त उक्त आप्तवाक्य का अर्थ यह कर ही सकता है कि वायु में रक्तरूप नहीं है। पुरो देश में अन्यदीय रजत नहीं है। इन्हीं अर्थो में आप्तपुरुष का वाक्य चरितार्थ हो जायेगा। तब देवदत्त को जो संशय था। उसकी निवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि शुक्लरूप से भिन्न रक्तरूपादि का अभाव और पुरो देश में मदीय रजत से भिन्न अन्यदीय रजत के अभाव का बोधन आप्तवाक्य से होने पर भी वायु निष्ठ श्वेत रूप और पुरो देश निष्ठ मदीय रजत के अभाव का बोधन नहीं हुआ।।७।।

शङ्का— पटाभावादिविषयक शाब्दबोध और प्रत्यक्षादि में प्रतियोग्यंश में प्रकारीभूत पटत्वादिधर्मनिष्ठ अवच्छेदकत्व पूर्व में अनुपस्थित हुआ भी संसर्गमर्यादा से भासता है। [अर्थात् विशेषण ज्ञान के विना विशिष्टज्ञान सम्भव न होने के कारण विशिष्टज्ञान से पूर्व में विशेषण का ज्ञान आवश्यक होता है। जैसे कि पटाभाव विषयकज्ञान से पूर्व प्रतियोग्यंश में प्रकारीभूत (विशेषणीभूत) पटत्व का ज्ञान आवश्यक होता है। अन्यथा प्रतियोगितावच्छेदक पटत्व का ज्ञान न होने पर पटत्वावच्छिन्नपटाभाव का बोध ही नहीं हो सकता है। किन्तु ऐसे ही प्रतियोगित्व और प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि, विशेषण रूप से अभावविषयकबोध के पूर्व में उपस्थित नहीं होते हैं किन्तु जिस समय अभावविषयकबोध होता है, उसी समय ही संसर्गमर्यादा (स्वरूप सम्बन्ध) से प्रतीत होते हैं।] स्वरूप सम्बन्ध विशेषरूप पटत्वादिनिष्ठ प्रतियोगितावच्छेदकत्वादि के ज्ञान में अन्य सामग्री की आवश्यकता नहीं होती है। [अर्थात् पटत्व का बोधक पट शब्द से ही पूर्व अनुपस्थित पटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता का बोध हो जाता है, क्योंकि पटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता पटत्व स्वरूप ही है। अतः जब पट शब्द से पटत्व का बोध होगा तब पटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता का भी बोध हो जायेगा। अतः पट शब्द से भिन्न अन्य कोई सामग्री पटत्वनिष्ठ अवच्छेदकता की बोधक नहीं मानी जाती है।] फलितार्थ यह हुआ कि तत्पट, तज्ज्ञानादि विशेषों का अभाव तत्पटत्व—तज्ज्ञानत्वादि विशेष धर्मो से ही अवच्छिन्न होगा न कि पटत्व—ज्ञानत्वादि सामान्यधर्मों से अवच्छिन्न होगा। [अतः ''वायौ रूपं नास्ति'' इस प्रकार के रूपसामान्याभाव की प्रतीति के पश्चात् ''वायौ श्वेतरूपं न वा?'' ऐसा संशय नहीं रह सकता है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जिस पक्ष में यावद्विशेषाभावकूट ही सामान्याभाव माना जाता है। उस पक्ष में] यावद्विशेषाभावकूट में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व व्यासज्यवृत्ति से रहेगा। [प्रत्येक आश्रय में अभिव्यक्त होने वाले धर्म को अव्यासज्यवृत्ति धर्म कहते हैं—जैसे गोत्वादि धर्म। प्रत्येक आश्रय में अभिव्यक्त न होकर सकल आश्रय में व्याप्त होकर अभिव्यक्त होने वाले धर्म को व्यासज्यवृत्तिधर्म कहते हैं— जैसे त्रित्वादि धर्म। अर्थात् जब तक तीनों पदार्थ रहेंगे तब तक उन तीनों में त्रित्व रहता है। उन तीनों में से एक का ध्वंस हो जाने पर शेष दो में त्रित्व नहीं रहता है। इसी प्रकार जब तक यावद् विशेषाभावों का समूह रहेगा तब तक उसमें सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रहेगा। यदि उन विशेषाभावों के समूह से एक भी अभाव के न रहने पर शेष अभावों में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व नहीं रहेगा।] अथवा (जिस पक्ष में यावद्विशेषाभावकूट से अतिरिक्त एक सामान्याभाव माना जाता है, उस पक्ष में) यावद्विशेषाभाव कूट से अतिरिक्त

यावद्विशेषाभावकूटे वा व्यासज्यवृत्तितदतिरिक्तसामान्याभावे वा प्रत्येकविश्रान्तमिति तादृगभाव–प्रतीतेर्यावद्विशेषप्रतीतिविरोधित्वात् कुतो विशेषसंशयादिरिति–चेत्।।८।।

सत्यम्, प्रकृतेऽपि ज्ञानत्वसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावप्रतीतिर्यावज्ज्ञानविशेषविरोधिनीति कथं तत्तत्कारणत्वाभिमतज्ञानविशेषे सति सा न व्याहन्यते? तथा च क्लृप्ताभावप्रतीति–

सत्यानन्दप्रबोधिका

सामान्याभावरूपधर्मी में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व होने से प्रत्येक आश्रय में यह धर्म अभिव्यक्त होता है। [अर्थात् घटसामान्याभाव, पटसामान्याभाव, रूपसामान्याभाव, ज्ञानसामान्याभाव इत्यादि प्रत्येक सामान्याभाव में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व माना जायेगा।] उक्त दो प्रकार की जो सामान्याभाव की प्रतीति है, वह यावद् विशेषप्रतीति की विरोधी होने से विशेष संशयादि नहीं हो सकता है। अर्थात् उक्त दोनों प्रकार का सामान्याभाव जहां रहेगा, वहां कोई विशेष नहीं रह सकता है। यह जब सिद्ध हो गया तब वहां पर किसी विशेष को लेकर संशय भी नही होगा। अतः ''वायौ रूपं नास्ति'' ''पुरो देशे रजतं नास्ति'' इत्यादि आप्तपुरुष के वाक्य का अर्थ जब रूपसामान्याभाव और रजतसामान्याभाव निश्चित हो गया तब शुक्लरूप विशेष या मदीयरजत विशेष को लेकर किसी प्रकार का संशय नहीं हो सकता है।।८।।

समाधान — जैसे दृष्टान्त में रूपत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव की प्रतीति यावद्रूप विशेष प्रतीति की विरोधी है ठीक वैसे ही ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इत्यादि प्रकृत में भी ज्ञानत्वसामान्यधर्मा–वच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव की प्रतीति यावज्ज्ञान विशेष प्रतीति की विरोधी है। अतः ज्ञानप्रतियोगिकाभावज्ञान के कारणरूप से अभिमत अनुयोगिप्रतियोगिविषयक ज्ञान विशेष के होते हुए ज्ञानत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव की प्रतीति व्याहत क्यों नहीं होगी?तथा च = ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानसामान्याभाव मानने में उक्त व्याघात रूप बाधक के रहने के कारण उक्त प्रतीति का विषय ज्ञानसामान्याभाव मानना असम्भव होने से। क्लृप्त (प्रसिद्ध) घटादिसामान्याभाव प्रतीति से ज्ञानसामान्याभाव प्रतीति का विलक्षणत्व अवश्य कल्प्य है। [यहां पर यह प्रश्न होगा कि ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय यदि ज्ञानसामान्याभाव उक्त व्याघात के कारण न माना जाय तब तो ''भूतले घटो नास्ति'' इस प्रतीति का विषय भी घटसामान्याभाव भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि घटसामान्याभाव का प्रतियोगी यावत् घट होगा। घटसामान्याभाव की प्रतीति के अव्यवहित पूर्व में यावत् घट का ज्ञान रहने पर व्याघातदोष होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्तपक्ष से कहा गया कि ''भूतले घटो नास्ति'' इस प्रतीति का विषय घटसामान्याभाव मानने पर व्याघातदोष नहीं होगा, क्योंकि घटत्वेन घट का भूतलान्य अधिकरणनिष्ठतया ज्ञान प्रतियोगिज्ञान विधया भूतलनिष्ठ घटसामान्याभाव के अव्यवहित पूर्व में रहता है न कि भूतलनिष्ठतया यावत् घटों का ज्ञान भूतलनिष्ठतया घटसामान्याभाव के ज्ञान के अव्यवहित पूर्व में रहता है। अतः व्याघातदोष नहीं होगा। जबकि प्रकृत में आत्मनिष्ठ ज्ञानत्वेन ज्ञानों के सामान्याभाव की प्रतीति के अव्यवहित पूर्व में आत्मनिष्ठतया ही यावत् ज्ञानों का ज्ञान प्रतियोगिज्ञान विधया रहने के कारण व्याघातदोष अवश्य ही होगा। अर्थात् जब आत्मा में ही यावत् ज्ञानों का ज्ञान है तब अव्यवहित उत्तरकाल में आत्मा में ही यावत् ज्ञानों के अभाव की प्रतीति मानने पर व्याघातदोष अवश्य होगा। इस प्रकार ''भूतले घटो नास्ति'' और ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इन दोनों प्रतीतियों में वैलक्षण्य यह है कि भूतल से भिन्न अधिकरण में रहता हुआ घट का बोध तो हो सकता है, किन्तु आत्मा से भिन्न अधिकरण में रहता हुआ ज्ञान का तो बोध नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि आत्मा नाना हैं। अतः यज्ञदत्त में यावत्

वैलक्षण्येऽवश्यकल्प्ये लाघवाद्विषयस्यैवाभाववैलक्षण्यं कल्पयितुमुचितम्, विषयावैलक्षण्ये प्रतीतिवैलक्षण्यायोगात्। विषयाज्ञानमनुभूय च पुरुषस्तन्निवृत्त्यर्थं विचारे प्रवर्तत इति सर्वानुभवसिद्धम्। तद्यदि ज्ञानविशेषाभावो ' न जानामि'इति प्रतीतेर्विषयः, तदा ज्ञातेऽपि तथा प्रतीत्यापातः, तद्विचारार्थं च प्रवृत्तिः स्यात्। सामान्याभावे च बाधकमुक्तमेव। तस्मादभावविलक्षणमेवाज्ञानं 'मयि ज्ञानं

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञानों का ज्ञान रहता है और उसके अनन्तर देवदत्त में यावत् ज्ञानों के अभाव का ज्ञान उत्पन्न होने में कोई व्याघात नहीं होना चाहिए। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि देवदत्त को यावत् ज्ञानों के अभाव की प्रतीति होने के लिए उसी देवदत्त को ही प्रतियोगी (यावत् ज्ञान) का ज्ञान होना आवश्यक है। यदि कहा जाय कि एक ही आत्मा में प्रतियोगी=यावत् ज्ञान का ज्ञान कुछ घंटे पहले था, इसके पश्चात् उसी आत्मा में ज्ञानसामान्याभाव की प्रतीति उत्पन्न हो जायेगी। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि कार्य के अव्यवहित पूर्व में कारण रहना चाहिए। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि ''भूतले घटो नास्ति'' इस प्रतीति से ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति में विलक्षणत्व है।]अतः ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय अभाव से विलक्षण है—ऐसी कल्पना करना ही उचित है और इसमें लाघव भी है। [कहने का आशय यह है कि जैसे घट वाले भूतल में ''घटवद् भूतलम्'' यह ज्ञानप्रमा होता है। वैसे ही ''अज्ञानवाले आत्मा में ''मयि ज्ञानं नास्ति'' यह ज्ञान भी प्रमा ही है। किन्तु यदि इस प्रतीति का विषय ज्ञानसामान्याभाव माना जाय तब तो व्याघातदोष होगा। अतः बाध्य होकर पूर्वपक्षी को ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इससे ज्ञानसामान्याभाव की प्रतीति की कल्पना करके पुनः उसमें भ्रमत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। भ्रमत्व की कल्पना के लिए उसमें दोष जन्यत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय अभाव से विलक्षण भावरूप अज्ञान है—ऐसी कल्पना करने में लाघव है।] दूसरी बात यह भी है कि विषयनिष्ठ वैलक्षण्य के न होने पर प्रतीतिनिष्ठ वैलक्षण्य की ही सिद्धि नहीं होती है। अतः विषयनिष्ठ वैलक्षण्य मानना उचित ही है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानसामान्याभाव से विलक्षण भावरूप अज्ञान है। इसको ही स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि साक्षी के द्वारा विषय विशेषित अज्ञान का अनुभव करके (मैं अमुक विषय को नहीं जानता हूं—इस प्रकार से अनुभव करके) पुरुष उस अज्ञान की निवृत्ति के लिए विचार में प्रवृत्त होता है— यह बात सर्वानुभव सिद्ध है। विचारणीय विषय का ज्ञान हो जाने पर उस विषय के ज्ञान से उस विषय के अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर ''न जानामि'' यह प्रतीति भी समाप्त हो जाती है और पुरुष की उक्त विषयप्रयुक्त विचार प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। 'न जानामि' इस प्रतीति का विषय ज्ञानविशेषाभाव मानते हो? अथवा ज्ञानसामान्याभाव? प्रथम पक्ष पर दोष देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''न जानामि''इस प्रतीति का विषय ज्ञानविशेषाभाव को मानने पर तो विचार के द्वारा एक विषय विशेष का ज्ञान हो जाने पर भी दूसरे विषय विशेष के ज्ञान का अभाव रहने के कारण ''न जानामि'' इत्याकारिता प्रतीति होनी चाहिए और उस विषय के विचारार्थ प्रवृत्ति भी होनी चाहिए, क्योंकि विषयविशेष के ज्ञान का अभाव तो विद्यमान ही है। अतः ''न जानामि'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानविशेषाभाव नहीं हो सकता है। यदि ''न जानामि'' इस प्रतीति का विषय ज्ञानसामान्याभाव मानते हैं तो व्याघातदोष होगा, क्योंकि अभावज्ञान में अनुयोगी—प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। यदि अनुयोगी—प्रतियोगी का ज्ञान है तब तो ज्ञानसामान्याभाव नहीं रह सकता है। यह पीछे कहा जा चुका है। इसलिए ''मयि ज्ञानं नास्ति'' अहमज्ञः'' इत्यादि प्रतीतियों का विषय अभाव से

नास्त्यहमज्ञः' इत्यादि धीविषय इति सिद्धम।।९।।

ननु—अभावविलक्षणमप्यज्ञानं 'न जानामि'इति ज्ञानविरोधित्वेनैव भासते, मोहादिपदेऽपि प्रलयादिपदवत्तदनुल्लेखमात्रम्, उक्तं च विवरणे—'अज्ञानमिति द्वयसापेक्षज्ञानपर्युदासेनाभिधानात्' इति। अन्यथा ज्ञानस्याज्ञानविरोधित्वमप्रामाणिकं स्यात्, तथा च विरोधनिरूपकज्ञानस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यां तवापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

विलक्षण अज्ञान ही है—यह सिद्ध हो गया।।९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव करने पर व्याघातदोष होता है वैसे ही अज्ञान का अर्थ अभावविलक्षणत्वेन भावरूप पदार्थ करने पर भी व्याघातदोष होगा, क्योंकि सिद्धान्ती को अभावविलक्षणत्वेन अभिमत जो अज्ञान है। वह अज्ञान भी ''न जानामि'' इस वाक्य से ज्ञानविरोधित्वेन ही भासित होता है, क्योंकि ''न जानामि'' इस वाक्य में ज्ञा धातु का अर्थ ज्ञान है और नञ् का अर्थ विरोधी है। नञ् का विरोधिरूप अर्थ ''असुरः'' ''अधर्म'' इत्यादि में प्रसिद्ध है, क्योंकि असुर का अर्थ सुरविरोधी और अधर्म का अर्थ धर्मविरोधी किया जाता है। नञ् का विरोधी अर्थ होता है—यह अन्यत्र भी कहा गया है—

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता। अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।।

अतः ''न जानामि'' का अर्थ ''ज्ञानविरुद्धाज्ञानवानहम्'' होता है। [इससे पूर्वपक्षी को यह लाभ हुआ कि जैसे अज्ञान का अर्थ ज्ञानाभाव करने पर व्याघातदोष होता है, क्योंकि ज्ञानाभाव के प्रतियोगी ज्ञान का ज्ञान रहने पर ज्ञानाभाव रह नहीं सकता है और प्रतियोगी (ज्ञान) का ज्ञान न रहने पर ज्ञानाभाव का ज्ञान हो नहीं सकता है ठीक वैसे ही अज्ञान का अर्थ ज्ञानविरोधी करने पर भी दोष होगा, क्योंकि ज्ञान का अभाव जैसे ज्ञान (प्रतियोगी) से निरूपित होता है, वैसे ज्ञान का विरोधी अज्ञान भी ज्ञान से निरूपित होता है। इसलिए अज्ञाननिष्ठविरोधनिरूपक ज्ञान का ज्ञान होने पर उसके विरोधी अज्ञान को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि व्याघातदोष होगा और अज्ञाननिष्ठविरोधनिरूपक ज्ञान का ज्ञान न होने पर ज्ञान के विरोधी अज्ञान की प्रतीति नहीं हो सकती है। इसप्रकार से अज्ञान के प्रतीति का व्याघात हो जायेगा। [अर्थात् अज्ञान का ज्ञान ज्ञाननिरूपितविरोधप्रकारकाज्ञानविशेष्यक होता है। अज्ञान में प्रकारीभूत जो विरोध है, उसका ज्ञान विरोध में निरूपितत्व सम्बन्ध से अवच्छेदकविधयाप्रविष्ट जो विरोध निरूपक ज्ञान है। उस ज्ञान के ज्ञान विना नहीं हो सकता है। अतः विरोध निरूपक ज्ञान के ज्ञान विना अज्ञान की प्रतीति अनुपपन्न है] इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''मुग्धोऽस्मि'' इस प्रतीति का विषय भी अज्ञान माना जाता है क्योंकि ''मुग्धोऽस्मि'' का अर्थ होता है कि मैं अज्ञान वाला हूं। किन्तु यहां नञ् का उल्लेख नहीं है। अतः ज्ञानविरोधित्वेन अज्ञान का भान नहीं माना जा सकता है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कह रहा है कि] मोहादिपद में भी प्रलयादिवत् नञ् का अनुल्लेखमात्र है। अर्थात् जैसे प्रलय पद में नञ् का उल्लेख न होने पर भी प्रलय पद का अर्थ सृष्टिविरोधित्व होता है ठीक वैसे ही मोह पद भी नञ् घटित न होने पर भी मोह पद का अर्थ ज्ञानविरोधित्व होता है। मोहादि पदों में केवल नञ् के उल्लेख का अभावमात्र है। अर्थात् जैसे अज्ञान का अर्थ है ज्ञानविरोधित्व वैसे ही मोह का भी अर्थ है ज्ञानविरोधित्व। विवरण में भी कहा गया है कि अज्ञान पद के द्वारा द्वयसापेक्ष = आश्रय और विषय की अपेक्षा करने वाले ज्ञान का पर्युदास (विरोध) करते हुए ही अज्ञान का अभिधान होता है। अर्थात् उक्त द्वय सापेक्ष जो ज्ञान उस ज्ञान के विरोधी को ही अज्ञान कहा जाता है। अन्यथा = उक्तद्वयसापेक्ष ज्ञान विरोधित्वेन अज्ञान की प्रतीति न स्वीकार करने पर, ज्ञान का अज्ञान के साथ जो विरोध माना जाता है वह ज्ञान का अज्ञानविरोधित्व

कथं न व्याघातः? एवं निर्विषयाज्ञानाप्रतीतेर्विषयज्ञानाज्ञानयोरपि व्याघात आपादनीयः, तथा च
यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोऽपि वा समः। नैकः पर्यनुयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे।।
इति न्यायेन उभयपरिहरणीयस्य व्याघातस्य ज्ञानाभावपक्ष एवापादानमनुचितमिति चेत्।।१०।।

न, प्रमाणवृत्तिनिवर्त्यस्यापि भावरूपाज्ञानस्य साक्षिवेद्यस्य विरोधनिरूपकज्ञानतद्व्या-वर्तकविषयग्राहकेण साक्षिणा तत्साधकेन तदनाशाद्व्याहत्यनुपपत्तेः। अज्ञानग्रहे विषयगोचरप्रमापेक्षायां

सत्यानन्दप्रबोधिका

अप्रामाणिक हो जायेगा। तथा च = उक्त प्रकार से अज्ञान के ज्ञानविरोधित्वेन प्रतीयमानत्व के सिद्ध हो जाने पर सिद्धान्ती के मत में भी व्याघातदोष अवश्य आयेगा, क्योंकि अज्ञाननिष्ठ विरोध का निरूपक ज्ञान का यदि ज्ञान मानते हैं तो अज्ञान की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि ज्ञान—अज्ञान का विरोध है। अतः दोनों एक साथ नहीं रह सकते हैं। इस प्रकार से व्याघातदोष आयेगा और यदि अज्ञाननिष्ठविरोधनिरूपक ज्ञान का ज्ञान नहीं मानते हैं तो भी अज्ञान की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि अज्ञान की प्रतीति ज्ञान विरोधित्वेन ही होती है। इस प्रकार से अज्ञान की प्रतीति की उत्पत्ति का ही व्याघात हो जायेगा। एवम् = जैसे ज्ञानविरोधित्वेन ही अज्ञान की प्रतीति होती है ठीक उसी प्रकार सविषयकत्वेन ही अज्ञान की प्रतीति होती है न कि निर्विषयकत्वेन अज्ञान की प्रतीति होती है। अतः अज्ञान की प्रतीति के पूर्व में यदि विषय का ज्ञान है तब तो उसी विषय के अज्ञान की प्रतीति मानने पर व्याघातदोष होगा, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान में परस्पर विरोध होता है और यदि अज्ञान की प्रतीति के पूर्व में विषय का ज्ञान नहीं है तो भी अज्ञान के प्रतीति की उत्पत्ति का व्याघात हो जायेगा क्योंकि निर्विषयक अज्ञान की प्रतीति होती ही नहीं है। अतः यत्र= (प्रकृत में) अज्ञान के भान में, उभयोः=पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों ही पक्षों में, समो दोष= समानरूप से व्याघातदोष है, परिहारोऽपि वा समः= दोनों ही पक्षों को समानरूप से व्याघात का परिहार भी करना है। ऐसे अज्ञान के विचार के प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती इन दोनों में से किसी एक के प्रति व्याघातदोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता है। इस न्याय से यह सिद्ध हो गया कि पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों के ही द्वारा परिहार योग्य व्याघातदोष है। अतः अज्ञान के ज्ञानाभाव पक्ष में ही व्याघातदोष का आपादन अनुचित है।।१०।।

समाधान— पूर्वपक्षी का ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि भावरूप अज्ञान प्रमाणवृत्ति (प्रमाज्ञान) के द्वारा यद्यपि निवर्त्य माना जाता है। (और ज्ञानविरोधी भावपदार्थ को ही अज्ञान माना जाता है।) किन्तु साक्षी के द्वारा अज्ञान निवर्त्य नहीं माना जाता है। अपितु साक्षिज्ञान तो अज्ञान का ही साधक है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अज्ञान, विरोधनिरूपकज्ञान और अज्ञान का व्यावर्तक विषय इन तीनों का साक्षी के द्वारा प्रकाश होता है। अतः अज्ञान साधक साक्षी के द्वारा अज्ञान का नाश न होने से व्याघात की अनुपपत्ति है। [अर्थात् पूर्वपक्षी ने विरोधनिरूपकज्ञानविषयक ज्ञान को लेकर और अज्ञानविषयविषयक ज्ञान को लेकर जो व्याघातदोष दिया था, वह नहीं हो सकता है, क्योंकि विरोधनिरूपकज्ञानविषयक ज्ञान और अज्ञानविषयविषयकज्ञान साक्षिरूप है। साक्षी का अज्ञान से विरोध नहीं है, अपितु साक्षी अज्ञान का साधक माना जाता है। अतः व्याघातापत्ति नहीं होगी।] अज्ञान की प्रतीति में अज्ञानविषयविषयक प्रमाज्ञान की अपेक्षा होने पर व्याघातदोष की आपत्ति होती है किन्तु अज्ञानविषयविषयक प्रमाज्ञान की अपेक्षा होती नहीं है। अपितु अज्ञानविषयविषयक साक्षिज्ञानमात्र से ही अज्ञान के प्रतीति की उपपत्ति हो जाती है। इसको स्पष्ट करते हुए विवरणकार ने भी कहा है—सर्ववस्तु ज्ञाततया अथवा अज्ञाततया साक्षिचैतन्य का ही विषय है। अर्थात् जब घट का ज्ञान हो जायेगा तब तो ज्ञाततया घट का प्रकाशन होगा वह भी साक्षी के द्वारा होगा और घट

व्याहतिः स्यादेव, सा च नास्ति। तदुक्तं विवरणे 'सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव' इति।।११ ।।

न चैवं– ज्ञानाभावपक्षेऽपि विषयादिज्ञानं साक्षिरूपम्, न जानामि'इति धीस्तुप्रमाणवृत्त्यभाव–विषयेति न व्याहतिरिति–वाच्यम्, भावरूपाज्ञानस्य साक्षात् साक्षिवेद्यत्वेन तदवच्छेदकविषयादेस्तद्द्वारा साक्षिवेद्यत्वसम्भवेऽपि अभावस्यानुपलब्धिगम्यत्वेन साक्षात् साक्षिवेद्यत्वाभावात् न तद्द्वारा तदवच्छेदकविषयादेः साक्षिवेद्यत्वमिति वैषम्यात्। यद्यपि ज्ञानं साक्षिवेद्यम्, तद्द्वारा तदवच्छेदको

सत्यानन्दप्रबोधिका

का अज्ञान के रहने के समय अज्ञाततया जो घट का भान होता है वह भान भी साक्षी के द्वारा ही होता है।।११ ।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे भावरूप अज्ञानवादी के मत में विरोधनिरूपकज्ञानविषयकज्ञान और अज्ञानविषयविषयकज्ञान को साक्षिरूप मानकर व्याघातदोष का निवारण किया जाता है, ठीक वैसे ही ज्ञानाभावरूप अज्ञानवादी के मत में भी ज्ञानाभाव और ज्ञानाभाव का विषय तथा ज्ञानाभाव का प्रतियोगी ज्ञान के ज्ञान को भी साक्षिरूप माना जाता है। ऐसा होने पर ज्ञानाभावरूप अज्ञानवादी के मत में भी व्याघातदोष नही होगा। यहां पर प्रश्न होता है कि अद्वैतवादी और द्वैतवादी दोनों ही साक्षी ज्ञान मान रहे हैं तब इन दोनों में भेद क्या है? इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती ''न जानामि'' इस प्रतीति के विषय को भावरूप अज्ञान मानते हैं और हम प्रमात्मिका वृत्ति का अभावरूप मानते हैं।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि भावरूप अज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य होने से अज्ञान का अवच्छेदक (व्यावर्तक) विषय और अज्ञाननिष्ठविरोध निरूपकज्ञान का अज्ञान द्वारा (परम्परा से) साक्षिवेद्यत्व सम्भव है, किन्तु पूर्वपक्षी (माध्व) सम्मत ज्ञानाभाव रूप अज्ञान में साक्षात् साक्षिवेद्यत्व सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि अभाव अनुपलब्धी प्रमाण से जन्य परोक्षवृत्ति का विषय माना जाता है। अतः ज्ञानाभाव रूप अज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य न होने से ज्ञानाभावात्मक अज्ञान द्वारा (परम्परा से) ज्ञानाभावात्मक अज्ञान के अवच्छेदक विषयादि में भी साक्षिवेद्यत्व सम्भव नहीं हो सकता है। यह भावरूप अज्ञानवादी और ज्ञानाभावरूप अज्ञानवादी में वैषम्य है। यद्यपि ज्ञानाभाव का प्रतियोगिभूत ज्ञान साक्षिवेद्य है। उस ज्ञान द्वारा परम्परा से उस ज्ञान का अवच्छेदक (व्यावर्तक) विषय भी साक्षिवेद्य है तथापि ज्ञानाभाव साक्षिवेद्य नहीं हो सकता है, क्योंकि वह अनुपलब्धी प्रमाण से गम्य है। जिस ज्ञान को तुम साक्षिवेद्य मानते हो उसको उत्पन्न (विद्यमान) मानते हो? अथवा अनुत्पन्न (अविद्यमान)? विद्यमान ज्ञान को साक्षिवेद्य मानने पर ज्ञान के विद्यमान रहने पर ज्ञान का विषय भी प्रकाशित हो जायेगा। इसलिए जिस विषय का ज्ञान है, उस विषय का ज्ञानाभाव नहीं रह सकता है। [कहने का आशय यह है ज्ञान और ज्ञानाभाव दोनों में से एक ही एक काल में रहता है, दूसरे का अविद्यमानत्व रहता है। अविद्यमान पदार्थ का अनावृत साक्षी के साथ तादात्म्य न होने के कारण साक्षी के द्वारा प्रकाशन नहीं होता है। अतः जब ज्ञान का प्रकाशन साक्षी के द्वारा होगा। उस समय ज्ञानाभाव का प्रकाशन साक्षी के द्वारा नहीं हो सकता है। अतः ज्ञान और ज्ञानाभाव दोनों का युगपत् प्रकाशन साक्षी के द्वारा नहीं हो सकता है।] यदि साक्षिवेद्य ज्ञान को अनुत्पन्न (अविद्यमान) मानेंगे तो वह अनुत्पन्न ज्ञान साक्षिवेद्य हो सकता है किन्तु ज्ञानाभाव साक्षिवेद्य नहीं हो सकता है, क्योंकि वह तो अनुपलब्धिवेद्य होता है। अतः ज्ञान और ज्ञानाभाव का युगपत् प्रकाशन साक्षी के द्वारा नहीं हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी को जिस समय ''मयि ज्ञानं नास्ति'' से ज्ञानाभाव का वृत्यात्मक ज्ञान

विषयश्च साक्षिवेद्यः, तथापि ज्ञानाभावो न साक्षिवेद्यः, तस्यानुपलब्धत्वात्। उत्पन्नं च ज्ञानं साक्षात् साक्षिवेद्यम्। तस्मिंश्चोत्पन्ने तद्विषयोऽपि स्फुरतीति कुतो ज्ञानाभावोऽपि? अज्ञानविशेषणतया तु अनुत्पन्नमपि ज्ञानं साक्षिवेद्यमिति न दोषसाम्यम्।।१२।।

न च—अवच्छेदकस्य विषयादेः प्रागज्ञाने कथं तद्विशिष्टाज्ञानज्ञानम्? विशेषणज्ञानाधीनत्वा-द्विशिष्टज्ञानस्येति— वाच्यम्, विशेषणज्ञानस्य विशिष्टज्ञानजनकत्वे मानाभावात्, प्रतियोगित्वाभावत्वयोः पूर्वानुपस्थितयोरपि तार्किकैरभावबोधे प्रकारीभूय भानाभ्युपगमात्।।१३।।

तथापि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानं विना कथं विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धिरिति—चेन्न,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो रहा है उसी समय ज्ञानाभाव के प्रतियोगिभूत ज्ञान का भी वृत्यात्मक ज्ञान मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर व्याघातदोष अवश्य आयेगा। सिद्धान्ती अपने पक्ष में व्याघात दोष को हटाते हुए कह रहे हैं कि जिस समय अज्ञान का साक्षी के द्वारा प्रकाशन होता है, उसी समय अज्ञान के विशेषण के रूप से (अर्थात् ज्ञान विरोधित्व विशिष्ट—अज्ञान के विशेषण = ज्ञान के रूप से) अनुत्पन्न=अविद्यमान होता हुआ भी ज्ञान परम्परा से साक्षिवेद्य होता है। कहने का आशय यह है कि अज्ञान साक्षात् साक्षिवेद्य है और अज्ञाननिष्ठ विरोधनिरूपक ज्ञान अविद्यमान होने पर भी अज्ञान के विशेषण के रूप से परम्परा से साक्षिवेद्य होता है। अतः सिद्धान्त मत में व्याघात दोष का उद्‌भावन नहीं किया जा सकता है। इसलिए पूर्वपक्षी के मत में और सिद्धान्तमत में दोष का साम्य नहीं है। फलतः पूर्वपक्षी पर्यनुयोक्तव्य है।।१२।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कहना है कि ''अज्ञोऽहम्'' इस प्रतीति में अज्ञान विशेषण है और अज्ञाननिष्ठविशेषणता का अवच्छेदक धर्म ज्ञानविरोधित्व और सविषयकत्व है। इसलिए सविषयकत्व और ज्ञानविरोधित्व से विशिष्ट अज्ञान से विशिष्ट अहम् पदार्थ (आत्मा) में वैशिष्ट्यविषयक ज्ञान करने से पहले अज्ञान के अवच्छेदक (विशेषण) विषय और ज्ञान का पहले ज्ञान न होने पर उस विषयादि से विशिष्ट अज्ञान का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि विशिष्टज्ञान में विशेषण ज्ञान कारण होता है।

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि जहां—जहां विशिष्टज्ञान होता है, वहां—वहां उसके अव्यवहित पूर्व में विशेषण का ज्ञान रहना चाहिए—ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि इस व्याप्ति में व्यभिचारदोष है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्रतियोगित्व, अभावत्वादि, विशेषणों से विशिष्ट अभाव का ज्ञान तार्किक मानते हैं, किन्तु प्रतियोगित्वादि से विशिष्ट अभावज्ञान से अव्यवहित पूर्व में प्रतियोगित्वादि विशेषणों का ज्ञान नहीं मानते हैं। कहने का आशय यह है कि नैयायिक पटादिज्ञान से अव्यवहित पूर्व में विशेषणीभूत पटत्वादि का निर्विकल्पक बोध यद्यपि मानता है तथापि पटप्रतियोगिकाभावरूप विशिष्टपदार्थ के ज्ञान के अव्यवहित पूर्व में विशेषणीभूत प्रतियोगित्व और अभावत्वादि का निर्विकल्पक बोध नहीं मानता है, अपितु समस्त विशेषण (प्रतियोगित्व, अभावत्वादि) से विशिष्ट अभाव पदार्थ को केवल सविकल्पकबुद्धि का ही विषय मानता है। अतः विशिष्ट ज्ञान के प्रति विशेषण का ज्ञान कारण होता है— यह नियम भङ्ग हो गया। अतः प्रकृत में भी अज्ञान के अवच्छेदक विषयविषयक ज्ञानादि की अज्ञान ज्ञान के पूर्व में अपेक्षा नहीं है।।१३।।

शङ्का— तथापि=विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान को कारण न मानने पर भी, विशेषणतावच्छेदक प्रकारकज्ञान के बिना विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक बुद्धि (दण्डी पुरुषः, अज्ञोऽहम् इत्यादि बुद्धि) कैसे होगी? [विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषण का ज्ञान कारण होता है—इस नियम के भङ्ग हो जाने पर भी

विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वेन विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वेन च कार्यकारणभावे मानाभावात्, प्रत्यक्षत्वादिरूपेण पृथक्–पृथक् क्लृप्तकार्यकारणभावेनैवोपपत्तेः विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व–

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकबुद्धि के प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को कारण माना जाता है। जैसे ''दण्डी पुरुष'' इस स्थल पर दण्ड विशेषण है। अतः दण्ड में विशेषणता है और उस दण्ड निष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक धर्म दण्डत्व है। दण्डत्व है प्रकार (विशेषण) जिसका ऐसे दण्डत्वविशिष्ट दण्ड के ज्ञान को विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञान के विना विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक ज्ञान (दण्डी पुरुषः—ऐसा ज्ञान) नहीं हो सकता है, क्योंकि पहले दण्डत्वविशिष्ट दण्ड का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् दण्ड का पुरुष में वैशिष्ट्य (विशिष्टत्व) सम्बन्ध होता है। इसके पश्चात् दण्डत्वविशिष्टदण्डवैशिष्ट्यविषयकज्ञान (दण्डी पुरुषः—यह ज्ञान) होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी ''अहमज्ञः'' इस प्रकार के अज्ञानविषयक प्रत्यक्ष का अर्थ है—ज्ञानविरोधिसविषयक भावरूप—अज्ञानवानहम्। यहां आत्मा मुख्य विशेष्य है, उसमें भावरूप अज्ञान पदार्थ विशेषण है। उस अज्ञाननिष्ठ विशेषणता का अवच्छेदक धर्म ज्ञानविरोधित्व और सविषयकत्व है। अतः ज्ञानविरोधित्व और सविषयकत्व से विशिष्ट अज्ञान से विशिष्ट अहं पदार्थ (आत्मा) में वैशिष्ट्यविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान करना हो तो पहले अज्ञाननिष्ठ सविषयकत्व और ज्ञानविरोधित्व का निश्चय आवश्यक है। यदि अज्ञान के प्रत्यक्ष होने से पूर्व अज्ञान के विषय का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है तब अज्ञान के विरोधी ज्ञान के रहने के कारण उस विषय का अज्ञान नहीं रह सकता है और उस विषय के अज्ञान का साक्षिप्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता हैं ऐसा होने पर विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान (सविषयकत्व से विशिष्ट भावरूप—अज्ञान का साक्षिप्रत्यक्षरूप ज्ञान) रूप कारण के विना ''अहमज्ञः'' इत्यात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान रूप कार्य नहीं हो सकता है। इस प्रकार से ज्ञानाभावपक्ष के समान ही भावरूप अज्ञान पक्ष में भी व्याघातदोष होगा— यह पूर्वपक्षी का गूढ़ अभिप्राय है।]

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वरूप से और विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्वरूप से कार्यकारणभाव के मानने में प्रमाणाभाव है। [अर्थात् ''अहमज्ञः'' इत्याकारक अज्ञान के प्रत्यक्ष स्थल पर विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व कार्यतावच्छेदक है और विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्व कारणतावच्छेद है—इसमें प्रमाण न होने से ''अहमज्ञः'' इत्याकारक अज्ञान के प्रत्यक्ष में व्याघातदोष का उत्थापन पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है।] इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रत्यक्षत्वादि रूप से पृथक्–पृथक् क्लृप्त जो कार्यकारणभाव है, उससे ही विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रतीतियों की उपपत्ति हो जाती है। [विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही बुद्धि के प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को कारण मानने वाले तार्किकों के मत में विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक ज्ञान चार प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्दबोध। दण्डी पुरुष—इस प्रत्यक्षात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में कार्यतावच्छेदक प्रत्यक्षत्व होता है न कि विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व और कारणतावच्छेदक इन्द्रियसन्निकर्षत्वादि होता है न कि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्व। इसी प्रकार ''वह्निमान् पर्वतः'' इस वह्नित्वविशिष्टवह्निप्रकारकपर्वतविशेष्यक अनुमित्यात्मक विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि में कार्यतावच्छेदक अनुमितित्व होता है न कि विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व और कारणतावच्छेदक व्याप्तिज्ञानत्व होता है न कि विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्व। इसी प्रकार ''गो सदृशो गवयः'' इस प्रकार से सादृश्यज्ञान के बल पर उत्पन्न होने वाला गवयपदवाच्यत्वप्रकारक गवयविशेष्यक (गवयो गवयपदवाच्य) उपमित्यात्मक बुद्धि में कार्यतावच्छेदक उपमितित्व और

स्यार्थसमाजसिद्धत्वात्।।१४।।

इह च सामग्रीतुल्यत्वेन 'विशेष्ये विशेषणं तत्र च विशेषणान्तरमिति' न्यायेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

कारणतावच्छेदक सादृश्यज्ञानत्व ही होता है। इसी प्रकार ''गामानय'' इत्यादि गोकर्मकानयनक्रिया–नुकूलकृतिमत्त्वविशिष्टविषयकशाब्दबोधात्मक विशिष्टवैशिष्टबुद्धि में कार्यतावच्छेदक शाब्दबोधत्व और कारणतावच्छेदक पदार्थज्ञानत्व ही होता है। उपरोक्त प्रकार से विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्षादि ज्ञान में प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, उपमितित्व और शाब्दबोधत्व ही पृथक्–पृथक् रूप से कार्यतावच्छेदक है और इन्द्रियसन्निकर्षत्वादि ही पृथक्–पृथक् रूप से कारणातावच्छेदक है। प्रत्यक्षादि चारों मिलकर एक रूप से कार्य नहीं माने जाते हैं और उन चारों का एक रूप से कोई कारण नहीं माना जाता हैं अतः विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्वरूप से और विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञानत्व रूप से कार्यकारणभाव नहीं माना जा सकता है। प्रश्न होता है कि प्रत्यक्षादि चारों के प्रति इन्द्रियसन्निकर्षादि चार पृथक्–पृथक् सामग्री मानने पर और प्रत्यक्षादि चारों में प्रत्यक्षत्वादि चार पृथक्–पृथक् अवच्छेदक मानने पर उन विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्याक्षादि चारों बुद्धियों में जो एक ही विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व रहता है, उसकी सिद्धि कैसे होगी? इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पृथक्–पृथक् सामग्री से पृथक्–पृथक् विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि के उत्पन्न हो जाने पर उन चारों विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धियों के सामूहिकरूप में विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धित्व वैसे ही अर्थतः सिद्ध हो जाता है जैसे कि पृथक्–पृथक् सामग्री से पृथक्–पृथक् नील और घट उत्पन्न होता है। अतः कार्यतावच्छेदक नीलत्व और घटत्व होता है न कि नीलघटत्व। नीलघटत्व की सिद्धि कैसे होगी? इसके उत्तर में कहा जाता है कि उस नील और घट के सामूहिकरूप में नीलघटत्व अर्थतः सिद्ध हो जाता है। जैसा कि चिन्तामणिकार ने कहा है–नीलघटत्वं तु विशिष्टं न कार्यतावच्छेदकम्। प्रत्येकानुगतप्रयोजकद्वयादेव विशिष्टसिद्धेरार्थः समाजः (प्रामाण्यवाद पृ. ३१०–३११) इसकी व्याख्या करते हुए श्री मथुरानाथ ने कहा–प्रत्येकेति। नीलसामग्र्या नीलं घटसाग्र्या च घटः। तयोः समाजात् अर्थवशसम्पन्नं विशिष्टं न तु विशिष्टनिर्वाहाय नीलकपालत्वादिना तद्विशिष्टं प्रति हेतुत्वमिति।।१४।।

यदि विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान को विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि के प्रति कारण माना भी जाय तो भी जहां विशेषणतावच्छेदकप्रकारज्ञान सम्भव नहीं है वहां भी सामग्री तुल्यत्व होने से अर्थात् जिस कारण समुदाय से विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकबोध होता है, उसी कारण समुदाय से ही ''विशेष्य में विशेषण और उस विशेषण में विशेषणान्तर'' इस न्याय से भी विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक बोध हो सकता है। [कहने का आशय यह है कि कभी–कभी एक ही सामग्री के द्वारा होने वाला एक ही आकार का ज्ञान दो प्रकार से होता है। जैसे ''नीलघटवान् चैत्रः'' इस प्रकार के विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान से अव्यवहित पूर्व में विशेषणतावच्छेदक नीलत्वप्रकारकज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि वह विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान के प्रति कारण है किन्तु जहां पर ''घटो नीलो न वा?'' इस सन्देह के अनन्तर ''नीलघटवान् चैत्रः'' इस प्रकार से विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान होता है, वहां इस ज्ञान के अव्यवहित पूर्व में विशेषणतावच्छेदकनीलत्वप्रकारकज्ञान नहीं रहता है (किन्तु अव्यवहित पूर्व में उक्तसंशयात्मक ज्ञान रहता है।) इसलिए संशयानन्तर उपस्थित ''नीलघटवान् चैत्रः'' यह ज्ञान विशेषणतावच्छेदक नीलत्वप्रकारकज्ञान से नहीं हुआ किन्तु ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' इस न्याय से होता है। (यहां विशेष्य= घट, उसमें विशेषण=नील, उसमें विशेषण=नीलत्व) फलितार्थ यह हुआ कि ''नीलघटवान् चैत्रः'' यह विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान

विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानसम्भवात्। अन्यथा तार्किकाणामपीश्वरस्य भ्रान्तिज्ञत्वं न स्यात्। भ्रमविषयस्य स्वातन्त्र्येण ग्रहे भ्रान्तत्वापत्त्या भ्रमावच्छेदकतयैव तद्ग्रहणं वाच्यम्, तथा च क्व

सत्यानन्दप्रबोधिका

से भी हो सकता है और ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' इस न्याय के अनुसार भी हो सकता है। ज्ञान के आकार में भी भिन्नता नहीं है और ज्ञान जनक सामग्री में भी तुल्यता है। केवल रीति मात्र में भेद है। अत: ''अहमज्ञ:'' यह विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान (भावरूप अज्ञान का प्रत्यक्ष) विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान के विना भी ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' इस न्याय से हो जायेगा। अर्थात् विषय से विशिष्ट अज्ञान का वैशिष्ट्य जो आत्मा में भासता है, उसमें पहले विशेष्य (आत्मा) का भान होगा उसके पश्चात् अज्ञान का भान होगा उसके पश्चात् अज्ञान के विषय का भान होगा। एक साथ अज्ञान और अज्ञान के विषय का भान नहीं होगा। अत: भावरूप अज्ञान के प्रत्यक्ष में व्याघातदोष नहीं होगा। किन्तु पूर्वपक्षी के ज्ञानाभाव प्रत्यक्ष में प्रतियोगी का ज्ञान अपेक्षित होने के कारण ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' यह न्याय नहीं लग सकता है, केवल विशेषणतावच्छेदकप्रकारक निश्चय से ही विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञानाभावविषयक ज्ञान होगा। इसलिए उसमें व्याघातदोष अवश्य होगा।] अन्यथा=विशिष्टवैशिष्ट्य बुद्धि के पूर्व में विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान होना आवश्यक है। विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान के विना अन्य किसी प्रकार से विशिष्टवैशिष्ट्यबुद्धि हो नहीं सकती है—ऐसा मानने पर, न्यायमत में ईश्वर का भ्रान्तिज्ञत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि भ्रम के विषय जो विशेष्य (इदम्) और विशेषण (रजत) अर्थात् ''इदं रजतम्'' इन दोनों का स्वतंत्र रूप से ग्रह होने पर ईश्वर के भ्रान्तत्व की आपत्ति होगी। इसलिए भ्रमांश में विशेषणत्व रूप से ही भ्रम के विषय विशेष्य (इदम्) और विशेषण (रजत) का ग्रहण कहना चाहिए। [कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर को सर्वज्ञ और अभ्रान्त माना जाता है। अत: देवदत्तादि के भ्रमज्ञान को ईश्वर जानता है—यह स्वीकार करना पड़ेगा। अन्यथा ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो पायेगा। अत: ईश्वर को देवदत्तीय भ्रमज्ञानविषयक ज्ञान होता है—ऐसा स्वीकार किया जाता है। देवदत्तीय भ्रमज्ञान का विषय है—इदं रजतम्। अत: ''रजतेदं ज्ञानवान् देवदत्त:'' ऐसा ईश्वर को विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान है। इस ज्ञान के प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान को हेतु मानने पर ईश्वर को विशेषणतावच्छेदक ''रजतेदन्त्व'' का स्वतन्त्र रूप से ज्ञान होता है—ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा तब तो ''इदं रजतम्'' इस प्रकार से ईश्वर को भी भ्रमज्ञान होने से ईश्वर में भी भ्रान्तत्व की आपत्ति होगी। अत: ईश्वर में प्रसक्त इस भ्रान्तत्व के निवारण के लिए ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणन्तरम्'' इस प्रकार से ''रजतेदं ज्ञानवान् देवदत्त:'' इत्याकारक जो विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक ईश्वर को ज्ञान हैं। इस ईश्वरज्ञानरूप विशेष्य में देवदत्तीयभ्रमज्ञान विशेषण है और उस विशेषणीभूत देवदत्तीय भ्रमज्ञान में ''रजतेदम्'' यह विशेषण है—इस प्रकार परम्परा से ईश्वर को ज्ञान होने पर ईश्वर सर्वज्ञ और अभ्रान्त होता हुआ भी भ्रान्तिज्ञ सिद्ध हो जायेगा।] इस प्रकार से विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्ष के प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान हेतु होता है—इस नियम में व्यभिचारदोष हो जाने पर, अज्ञानप्रत्यक्ष की उत्पत्ति से पहले अज्ञान में विशेषणत्व रूप से ज्ञानविरोधित्व तथा सविषयकत्वरूप अवच्छेदकों के ग्रह का भी नियम नहीं माना जा सकता है। [कहने का भाव यह है कि ''अहमज्ञ:'' इत्यादि अज्ञान के प्रत्यक्ष स्थल पर अज्ञान के आश्रयीभूत आत्मा रूप विशेष्य में अज्ञान विशेषण है। अज्ञानरूप विशेषण में विशेषणान्तर= ज्ञानविरोधित्व तथा सविषयकत्व है। इस प्रकार अज्ञान साक्षात् साक्षिभास्य होने पर भी अज्ञान के विषयादि परम्परा रूप से साक्षिभास्य होने से अज्ञान प्रत्यक्ष में

प्राक्तदवच्छेदकग्रहनियमः? ग्रहणसामग्रीतुल्यत्वं च प्रकृतेऽपि समम्।।१५।।

ननु— श्रवणादिसाध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानप्रागभावस्य सत्त्वेन तज्ज्ञानं त्वयापि वाच्यम्; तथा च तत्रापि व्याहतिस्तुल्येति—चेन्न; श्रवणादि साध्यमोक्षहेतुब्रह्मज्ञानरूपस्य प्रतियोगिनो ज्ञानाज्ञानाभ्यां

सत्यानन्दप्रबोधिका

अज्ञान के विषयविषयकज्ञान को लेकर व्याघातदोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता है।] मूलस्थ ''ग्रहणसामग्रीतुल्यत्वम्'' का अर्थ है—ग्रहण के आकार की तुल्यता न कि ग्रहण के कारण की तुल्यता, क्योंकि न्यायमत में ईश्वर ज्ञान के नित्य होने से न्यायमत में उभयविधज्ञान (देवदत्त को विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान से होने वाला विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान और ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणान्तरम्'' इस न्याय से ईश्वर को होने वाला विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान) के कारण में तुल्यता नहीं कही जा सकती है, क्योंकि ईश्वर ज्ञान का कोई कारण होता ही नहीं है। इसलिए इस प्रकार से अर्थ होगा कि देवदत्त को विशेषणातावच्छेदकप्रकारकज्ञान से जिस आकार का बोध (विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकबोध) होता है, उसी आकार का बोध ''विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषान्तर'' इस न्याय से ईश्वर को भी होता है। अर्थात् यह हो सकता है कि दोनों ज्ञानों की विषयताओं में भिन्नता हो किन्तु दोनों ज्ञानों के आकारों में तुल्यता है। अर्थात् दोनों ही रीति से विशिष्टवैशिष्ट्यविषयकज्ञान ही होगा। यही कहने का भाव है। इसी प्रकार प्रकृत में भी ''न जानामि'' ''अहमज्ञः'' इत्यादि स्थलों पर उक्त दोनों ही रीति से होने वाले ज्ञानों की विषयताओं में भिन्नता होने पर भी दोनों ज्ञानों के आकारों में तुल्यता है।।१५।।

शङ्का— श्रवणादि से साध्य मोक्ष का हेतुभूत ब्रह्मज्ञान के प्रागभाव का सत्त्व होने से ब्रह्मज्ञानप्रागभावविषयकज्ञान (विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान) सिद्धान्ती को भी स्वीकार करना होगा, तब तो जैसे हमारे पक्ष में व्याघातदोष आ रहा है वैसे ही ब्रह्मज्ञानप्रागभाव का ज्ञान मानने वाले सिद्धान्ती के मत में भी व्याघातदोष होगा। [पीछे सिद्धान्ती के द्वारा कहा गया कि जो लोग अज्ञान को ज्ञानाभावरूप मानते हैं उनके मत में अवश्य व्याघातदोष होगा, क्योंकि अभावबोध नियमतः विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही होता है। अतः उसके प्रति विशेषणतावच्छेदकप्रकारकज्ञान (प्रतियोगी का ज्ञान) मानना होगा। प्रतियोगी का ज्ञान और प्रतियोगी का ज्ञानाभाव एक साथ रह नहीं सकता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि तन्तुओं में पटप्रागभाव का ज्ञान होने के कारण ही तन्तुओं से पट के उत्पादन के लिए पुरुष की प्रवृत्ति होती है, ठीक इसी प्रकार मुमुक्षु की अपने में श्रवणादि से साध्य मोक्षहेतुभूत ब्रह्मज्ञान से विशेषित प्रागभाव का निश्चय होने पर ही ब्रह्मज्ञानोत्पादनार्थ वेदान्तश्रवणादि में प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार से सिद्धान्ती को भी वेदान्तश्रवणादि से साध्य मोक्षहेतुभूतब्रह्मज्ञान—प्रकारकप्रागभावविशेष्यकज्ञान (विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान) की नियमतः अपेक्षा है। उक्त ब्रह्मज्ञान के प्रागभाव का ज्ञान तभी हो सकता है जब इसके प्रतियोगी (ब्रह्मज्ञान) का ज्ञान हो, अर्थात् विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान हो। प्रतियोगीभूत ब्रह्मज्ञान का ज्ञान होने पर ब्रह्मज्ञान का प्रागभाव नहीं मान सकते हैं, क्योंकि व्याघातदोष होगा और ब्रह्मज्ञान के पहले से ही विद्यमान रहने के कारण ब्रह्मज्ञानोत्पादानार्थ मुमुक्षु की वेदान्तश्रवणादि में प्रवृत्ति नहीं होगी। अर्थात् उक्त प्रवृत्ति का व्याघात हो जायेगा। वेदान्तश्रवणादि से साध्य ब्रह्मज्ञान के प्रागभाव का ज्ञान मुमुक्षु को अपने में न होने पर मुमुक्षु की वेदान्तश्रवणादि में प्रवृत्ति असम्भव होगी। अर्थात् उक्त प्रवृत्ति का व्याघात हो जायेगा। जैसे जिस पुरुष को यह ज्ञान नहीं है कि तन्तु में पटप्रागभाव है वह पुरुष तन्तु से पट के उत्पादन के लिए प्रवृत्त नहीं होता है। अतः दोनों ही मतों में व्याघातदोष समानरूप से है। अतः ''यत्रोभयो समो दोषः.

व्याहत्यभावात्, न हि श्रवणादिसाध्यत्वमोक्षहेतुत्वादिप्रकारकब्रह्मज्ञानज्ञानं ब्रह्मज्ञानमपि सत् श्रवणादिसाध्यम्, मोक्षहेतुर्वा; येन तस्मिन् सति तादृग्ज्ञानप्रागभावो व्याहन्येत।।१६।।

नन्वेवं 'न जानामि'इति धियो ज्ञानाभावविषयत्वेऽपि न प्रतियोगिज्ञानादिना व्याहतिः; सामान्यतो विषयप्रतियोगिज्ञानेऽपि विशेषतस्तदभावसम्भवात्, अन्यथा प्रागभावधीर्न स्यात्, तत्प्रतियोगिविशेषस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

....'' इस न्याय के अनुसार पूर्वपक्षी के मत में ही व्याघातदोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वेदान्तश्रवणादि से साध्य और मोक्ष का हेतुभूत साक्षात्कारात्मक ब्रह्मज्ञानरूपप्रतियोगी के ज्ञान और अज्ञान से व्याघातदोष नहीं होगा, क्योंकि वेदान्त श्रवणादि साध्यत्व तथा मोक्षहेतुत्वादि से विशिष्ट ब्रह्मज्ञान का ज्ञान यद्यपि परम्परा से ब्रह्मविषयकज्ञान है तथापि साक्षात् ब्रह्मविषयक नहीं है। इसलिए वह श्रवणादि से साध्य भी नहीं है और मोक्ष का हेतु भी नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञान का ज्ञान रहने पर भी वेदान्तश्रवणादि से साध्य और मोक्ष का हेतुभूत साक्षात्कारात्मक ब्रह्मज्ञान के प्रागभाव में व्याघातदोष नहीं होगा। [कहने का आशय यह है कि पूर्वपक्षी ने सिद्धान्ती से पूछा था कि ब्रह्मज्ञानप्रागभाव के प्रतियोगी ब्रह्मज्ञान का ज्ञान मानते हो? अथवा ज्ञान नहीं मानते हो? इसके उत्तर में सिद्धान्ती ने कहा कि प्रतियोगी रूप ब्रह्मज्ञान का ज्ञान नहीं है—ऐसा नहीं मानते हैं। अतः इस पक्ष में दिया गया दोष अनुक्तोपालम्भ है। प्रथम पक्ष (प्रतियोगीरूप ब्रह्मज्ञान का ज्ञान) को मानते हैं। इस पक्ष को स्वीकार करने पर व्याघातदोष नहीं होगा, क्योंकि ब्रह्मज्ञान दो प्रकार का होता है। प्रथम—ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान। द्वितीय—ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान। सिद्धान्ती का कथन है कि ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान भी ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्म के परोक्षज्ञान के ज्ञान से किसी की मुक्ति नहीं होती है और वेदान्तश्रवणादि के प्रवृत्ति का व्याघात नहीं होता है। ऐसे ब्रह्म के परोक्ष ज्ञान के ज्ञान को लेकर प्रतियोगीरूप ब्रह्मज्ञान के ज्ञान की उपपत्ति हो जायेगी। प्रतियोगीरूप ब्रह्मज्ञान का ज्ञान रहने पर ब्रह्मज्ञानप्रागभाव के ज्ञान की उपपत्ति हो जायेगी। ब्रह्मज्ञानप्रागभाव का ज्ञान रहने पर मुमुक्षु की अपने में ब्रह्म के अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति के लिए वेदान्तश्रवणादि में प्रवृत्ति की भी उपपत्ति हो जायेगी।] ।।१६।।

शङ्का — एवम्= भावात्मक अज्ञानवाद में जैसे ब्रह्मज्ञान को दो प्रकार का मानकर ब्रह्मज्ञानप्रतियोगिकप्रागभाव स्थल पर व्याघातदोष का निवारण किया गया, ठीक वैसे ही, ''न जानामि'' इस बुद्धि के ज्ञानाभावविषयक होने पर भी अनुयोगी तथा प्रतियोगी के ज्ञान और अनुयोगी तथा प्रतियोगी के ज्ञान का अभाव मानकर जो सिद्धान्ती ने व्याघातदोष दिया था। उसका निवारण किया जा सकता है। जैसे सामान्यरूप से अनुयोगिज्ञान और प्रतियोगिज्ञान के होने पर भी विशेषरूप (तद् व्यक्तित्वरूप) से अनुयोगिज्ञानाभाव और प्रतियोगिज्ञानाभाव सम्भव है। [जैसे भूतल में घटत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन यत्किञ्चित् घट प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर भी तद्घटत्वादिरूपविशेष—धर्मावच्छिन्नत्वेन तद्घटविशेषप्रतियोगी का अभाव होता है, ठीक इसी प्रकार ''न जानामि'' इस स्थल पर भी ज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन यत्किञ्चित् ज्ञानरूप प्रतियोगी का ज्ञान रहने पर भी तज्ज्ञानत्वादि रूप से विशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन तज्ज्ञानविशेषप्रतियोगिकाभाव रह ही सकता है।] अन्यथा— उक्त प्रकार से प्रतियोगी का सामान्यरूप से ज्ञान और विशेष रूप से ज्ञानाभाव न मानकर प्रतियोगी का विशेषरूप ज्ञान और विशेषरूप से ज्ञानाभाव मानने पर, कहीं पर भी प्रागभाव की बुद्धि ही नहीं होगी,क्योंकि प्रागभाव के प्रतियोगिविशेष का सामान्यधर्म के विना विशेषरूप (तद्व्यक्तित्वरूप)

सामान्यधर्मं विना विशेषतो ज्ञातुमशक्यत्वादिति—चेन्न; विशेषज्ञानाभावे हि विशेषज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रतियोगीति तस्य ज्ञाने स विशेषोऽपि ज्ञात एवेति विशेषज्ञानाभावव्याघातात्। यत्किञ्चिद्विशेषाभावश्च न सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताक इत्युक्तम्। प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानाभावेन प्रागभाव—प्रतीतिरसिद्धैव।१७॥

ननु— प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकज्ञानं नाभावज्ञाने कारणम्, किन्त्वभावज्ञाने

सत्यानन्दप्रबोधिका

से ज्ञान नहीं हो सकता है। [जैसे तन्तु में पट विशेष का प्रागभाव है उस प्रागभाव का प्रतियोगी पट विशेष होता है। उत्पत्ति से पूर्व उस पट विशेष का ज्ञान तत्पटत्वरूपविशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन नहीं हो सकता है, क्योंकि तत्पटरूपविशेष अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। अतः उसका ज्ञान पटत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन ही होता है। इसी प्रकार ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इत्यादि स्थल पर भी अनुयोगी और प्रतियोगी का सामान्यतः ज्ञान और विशेषतः ज्ञानाभाव का सहावस्थान सम्भव है। अतः व्याघातदोष नहीं होगा।]

समाधान— उक्त प्रकार से पूर्वपक्षी व्याघातदोष का वारण नहीं कर सकता है, क्योंकि विशेष ज्ञानाभाव का प्रतियोगी विशेषज्ञान ही होता है और वह प्रतियोगी विशेषज्ञानत्वावच्छिन्न होता है (न कि ज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्न होता है।) अतः विशेषज्ञानाभाव स्थल पर विशेषज्ञानत्वावच्छिन्न प्रतियोगी का ज्ञान होने पर विशेष ज्ञान भी ज्ञात हो जायेगा। इस प्रकार से विशेष ज्ञान का ज्ञान रहते हुए विशेषज्ञान का अभाव मानने पर अवश्य ही व्याघातदोष होगा। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि विशेषज्ञानाभावीय प्रतियोगितावच्छेदक विशेषज्ञानत्व नहीं होता है किन्तु ज्ञानत्वरूप सामान्यधर्म होता है। अतः विशेषज्ञानाभाव स्थल पर ज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन यत्किञ्चित् ज्ञानरूपप्रतियोगी का ज्ञान रहने पर भी तज्ज्ञानत्वादिरूपविशेषधर्मावच्छिन्नत्वेन तज्ज्ञानविशेषाभाव को मानने पर व्याघातदोष नहीं होगा। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे है कि] सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतिगिताक यत्किञ्चिद् विशेषाभाव नहीं होता है—इस का निरूपण पीछे खण्ड संख्या ७ में किया जा चुका है। अतः सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक विशेषाभाव को मानकर व्याघातदोष का वारण नहीं किया जा सकता है। [पीछे पूर्वपक्षी ने प्रागभाव की प्रतीति का आश्रय कर के कहा था कि विशेषज्ञानाभाव की प्रतियोगिता सामान्यधर्मावच्छिन्न होती है न कि विशेषधर्मावच्छिन्न। इस पर सिद्धान्ती कह रहे है कि प्रागभाव की प्रतीति ही असिद्ध है। अतः इसको दृष्टान्त बना कर किसी की सिद्धि नहीं की जा सकती है।] घटप्रागभाव का प्रतियोगी जो भावी विशेष घट है। उसका प्रतियोगितावच्छेदक भावी विशेष घटनिष्ठ जो घटत्व है। तद्घटत्वावच्छिन्न भावी विशेष घट रूप प्रतियोगी का ज्ञान तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वह अनुत्पन्न होने के कारण ज्ञात नहीं हो सकता है। प्रतियोगी का ज्ञान होने पर प्रागभाव की प्रतीति नहीं हो सकती है। अर्थात् विशेषणतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान के न होने के कारण विशिष्टवैशिष्ट्यविषयक प्रागभाव की प्रतीति नहीं हो सकती है।१७॥

शङ्का— जिस मत में सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति नहीं मानी जाती है। उनके मतानुसार प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान (विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही) अभावज्ञान में कारण नहीं माना जाता है किन्तु अभावज्ञान में भासमान प्रतियोगिवृत्ति जो (सामान्य) धर्म तद्धर्मप्रकारकज्ञान ही कारण माना जाता है। [पूर्वपक्षी के कथन का आशय यह है कि तद्घटप्रागभाव का प्रतियोगी तद्घट, प्रतियोगितावच्छेदक तद्घटत्व यद्यपि है तथापि तद्घटप्रागभाव के ज्ञान में तद्घटत्वप्रकारक तद्घटविशेष्यकज्ञान को कारण नहीं माना जा सकता है, क्योकि तद्घटप्रागभाव के ज्ञान के समय

भासमानप्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारकं ज्ञानम्; सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्त्युभ्युपगमे तु प्रतियोगिविषयत्वमपि तस्याधिकम्, इतरथा तु तदेव इष्टवृत्तिसामान्यधर्मप्रकारकज्ञानमिवासिद्धव्यक्तिविषयेच्छाकृत्योः।।१८।।

न च—प्रतियोगितानवच्छेदकधर्मेण कथं प्रतियोगिता गृह्यतामिति—वाच्यम्; विशेषावच्छिन्नाया व्याप्तेरिव सामान्येन ग्रहणसम्भवात्। तथा हि— 'इदमभिधेयवत्, प्रमेयात्'इत्यनुमाने 'यत्र प्रमेयं

सत्यानन्दप्रबोधिका

तद्घट अनुत्पन्न होने के कारण तद्घटत्वप्रकारक तद्घटविशेष्यकज्ञान होना सम्भव ही नहीं है। अतः तद्घटप्रागभाव के प्रतियोगी तद्घटवृत्ति जो घटत्व (सामान्य) धर्म है। तद्प्रकारकज्ञान (घटत्वप्रकारकज्ञान) ही तद्घटप्रागभाव के ज्ञान प्रति कारण है। घटत्वप्रकारकज्ञान भाविघट को ही प्रत्यक्ष करके होगा। ऐसी बात नहीं है। किन्तु किसी भी घट को प्रत्यक्ष करके हो सकता है। अतः तद्घटप्रागभाव की प्रतीति को असिद्ध नहीं माना जा सकता है। पीछे जो प्रागभाव की प्रतीति के आधार पर जो दोष दिया गया था वह उचित ही है।] जिस मत में सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति मानी जाती है। उस मत में प्रतियोगिवृत्तिसामान्यधर्मप्रकारक ज्ञान के साथ—साथ प्रतियोगिविशेष्यकज्ञान को भी तद्घटप्रागभाव की प्रतीति के प्रति कारण मान लिया जाता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि जो लोग सामान्यलक्षणासन्निकर्ष मानते हैं, उनके मत में तद्घटप्रागभाव की प्रतीति के प्रति तद्घटत्वप्रकारकतद्घटविशेष्यक ज्ञान को कारण माना जा सकता है, क्योंकि किसी एक घट को प्रत्यक्ष करके घटत्व सामान्यधर्म का ज्ञान हो जाने पर घटत्वसामान्यरूपप्रत्यासत्ति से घटत्व के आश्रय यावद् घटों का प्रत्यक्ष हो जाता है और उन यावत् घटों में तद्घट व्यक्ति भी है। अतः उसका भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार से तद्घटत्वप्रकारकतद्घटविशेष्यकज्ञान के हो जाने पर तद्घटप्रागभाव के प्रतीति की उपपत्ति हो जाती है।] इतरथा=सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को न मानने पर, तदैव=तद्घटप्रागभाव ज्ञान में भासमानप्रतियोगिवृत्तिधर्मप्रकारकज्ञान को ही कारण माना जाता है। जैसे—असिद्ध (=वर्तमान काल में अनुत्पन्न और भविष्य में उत्पद्यमान) तद्घटविषयक इच्छा और तद्घटविषयककृति के प्रति इष्ट तद्घटवृत्ति जो सामान्य धर्म है, तादृशसामान्यधर्मप्रकारकज्ञान को कारण माना जाता है। [जिस वस्तु का ज्ञान है, उस वस्तु की ही इच्छा होती है और उस वस्तु के लिए ही प्रयत्न होता है किन्तु वर्तमानकाल में अनुत्पन्न और भविष्य में उत्पद्यमान इष्ट तद्घट का ज्ञान तद्घटत्वेन हो नहीं सकता है। अपितु इष्ट तद्घट वृत्ति घटत्वरूप जो सामान्यधर्म है, तत्प्रकारकत्वेन ही घट का ज्ञान होता है। वह किसी भी घट को देखकर हो सकता है। इसलिए जिस मत में सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को कारण नहीं माना जाता है उनके मत में असिद्ध इष्टवस्तु (तद्घट) की इच्छा और कृति के प्रति असिद्ध इष्टवस्तुवृत्तिसामान्यधर्मप्रकारकज्ञान को ही कारण माना जाता है।]।।१८।।

यदि सिद्धान्ती के द्वारा कहा जाय कि ''यत्र यत्र प्रतियोगितावच्छेदकं तत्र तत्र प्रतियोगिता'' ऐसी व्याप्ति है। व्याप्य के ग्रहण से ही व्यापक का ग्रहण होता है। तद्घटप्रागभाव स्थल पर प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म तद्घटत्व है न कि घटत्व, क्योंकि अन्यून अनतिरिक्त वृत्ति धर्म को ही अवच्छेदक माना जाता है। जबकि घटत्व तद्घट से अतिरिक्त दूसरे घटों में भी रहता है। अतः वह अतिरिक्तवृत्तिधर्म है। इसलिए घटत्व प्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकता है। अतः घटत्वादि सामान्य धर्म जब प्रतियोगितावच्छेदक ही नहीं है तब घटत्वादि सामान्य धर्म के द्वारा प्रतियोगिता का ग्रहण नहीं हो सकता है। इसके समाधान में पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे विशेषधर्मावच्छिन्नव्याप्ति का सामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन ग्रहण होता है, उसी प्रकार विशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिता का सामान्यधर्मावच्छिन्नत्वेन ग्रहण हो जायेगा। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट

तत्राभिधेयम्'इति व्याप्तिग्रहणसमये वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेनैव सामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिसत्त्वेऽपि तस्याः प्रमेयत्वरूपेणैव ग्रहणम्, न तु वृत्तिमत्प्रमेयत्वेन, गौरवात्, वृत्तिमत्वविशेषणस्य व्यभिचारावारकत्वेन वैयर्थ्याच्च, अवृत्तिषु साध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्त्यभाववत् साध्याभावसामाना– धिकरण्यरूपव्यभिचारस्याप्यभावात्, व्यर्थविशेषणत्वरहितत्वे सति व्यभिचारिव्यावृत्तत्वमात्रेणैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि इदम्पक्षक अभिधेयसाध्यक प्रमेयहेतुक जो ''इदमभिधेयवत्, प्रमेयात्'' इत्याकारक अनुमान है। इस अनुमान में ''जहां प्रमेय है, वहां अभिधेय है'' इस प्रकार से व्याप्तिग्रहण के समय में वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेन ही साध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्ति का सत्त्व होने पर भी उस व्याप्ति का प्रमेयत्वरूप सामान्यधर्म से ही ग्रहण होता है न कि वृत्तिमत्प्रमेयत्वरूपविशेष धर्म से ग्रहण होता है, क्योंकि प्रमेयत्व की अपेक्षा से वृत्तिमत्प्रमेयत्व में शरीरकृत गौरव है। [कहने का आशय यह है कि ''इदमभिधेयवत्, प्रमेयात्'' इस अनुमान में ''यत्र यत्र प्रमेयं तत्र तत्र अभिधेयम्'' इस प्रकार की अभिधेयनिरूपित प्रमेयनिष्ठ व्याप्ति का आकार होगा– साध्याधिकरणवृत्तित्व (अभिधेयाधिकरणवृत्तित्व) किन्तु इस व्याप्ति का समन्वय वृत्तिमत् घटादि प्रमेयवर्ग में होने पर भी अवृत्तिमत् आकाशादि प्रमेयवर्ग में समन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि आकाशादि पदार्थ अवृत्तिमत् पदार्थ माने जाते हैं। अतः आकाशादि में उक्तवृत्तिमत्त्व घटित व्याप्ति नहीं रह सकती है। केवल वृत्तिमत् घटादि में ही रह सकती है। इसलिए प्रश्न होता है कि व्याप्यता का अवच्छेदक प्रमेयत्व को माना जाय? अथवा वृत्तिमत्प्रमेयत्व को? व्याप्यता का अवच्छेदक प्रमेयत्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है,क्योंकि गगनादि में जहां व्याप्यता नहीं है वहां पर भी प्रमेयत्व रहता है। अतः प्रमेयत्व अतिरिक्त वृत्ति धर्म है जबकि अवच्छेदक अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्म होता है। इसलिए व्याप्यता का अवच्छेदक वृत्तिमत्प्रमेयत्व ही माना जाता है और वृत्तिमत्प्रमेयत्वावच्छेदेन ही साध्यसामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति निश्चित होती है किन्तु व्याप्यता के अनवच्छेदकीभूत प्रमेयत्व धर्म के द्वारा ही व्याप्ति का ग्रहण होता है न कि वृत्तिमत्प्रमेयत्व धर्म के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है, क्योंकि प्रमेयत्व की अपेक्षा वृत्तिमत्प्रमेयत्व गुरु धर्म है। लघु धर्म जब सम्भव हो तो गुरु धर्म में अवच्छेदकता मानी नहीं जाती है। जैसा कि अवच्छेदकत्व निरुक्ति में दीधितीकार ने कहा है कि ''सम्भवति च लघौ धर्मे गुरौ तदभावात्।''] और ''जहां वृत्तिमत्प्रमेयत्व है, वहां अभिधेयत्व है'' इस व्याप्ति में ''वृत्तिमत्व'' विशेषण व्यभिचारवारक न होने से व्यर्थ है। [पहले कहा गया कि प्रमेयत्व की अपेक्षा से वृत्तिमत्प्रमेयत्व में शरीरकृत गौरवदोष होने के कारण वृत्तिमत्प्रमेयत्व को व्याप्यतावच्छेदक नहीं माना जा सकता है। किन्तु इस पक्ष में अरुचि यह है कि नवीन नैयायिकों ने गुरुधर्म को भी अवच्छेदक माना है। जैसा कि दीधितीकार ने कहा है कि ''गौरवप्रतिसन्धानदशायामपि कम्बुग्रीवादिमान् नास्तीति प्रतीतिबलाद् गुरुरपि धर्मोऽवच्छेदकः प्रतियोगितायाः''। इस अरुचि के कारण दूसरा दोष दिया गया है कि ''वृत्तिमत्त्व'' विशेषण व्यभिचारवारक न होने के कारण व्यर्थ है। इसको आगे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि] जैसे हेतुकुक्षि में प्रविष्ट अवृत्तिमान् गगनादि प्रमेयों में साध्याधिकरणवृत्तित्वरूप व्याप्ति नहीं मानी जाती है। ठीक वैसे ही अवृत्तिमान् गगनादि प्रमेयों में साध्याभावाधिकरणवृत्तित्वरूप व्यभिचार भी नहीं माना जाता है। अतः वृत्तिमत्त्व विशेषण व्यर्थ है। [कहने का आशय यह है कि यदि अवृत्तिमान् गगनादि में व्यभिचारदोष होता तो उस व्यभिचारदोष को वारण करने के लिए वृत्तिमत्त्व विशेषण देना सार्थक होता किन्तु अवृत्तिमान् गगनादि में व्यभिचारदोष ही नहीं है। अतः वृत्तिमत्त्व विशेषण व्यर्थ है।] प्रमेयत्व धर्म व्यर्थविशेषणता से रहित है और व्यभिचारिता से रहित है।

व्याप्यतावच्छेदकत्वसम्भवाच्च।।१९।।

तथा च यथा वृत्तिमत्प्रमेयगतापि व्याप्तिः प्रमेयत्वेनैव गृह्यते, तथा तत्तन्नीलादिव्यक्तिगता प्रतियोगिता नीलत्वादिरूपेण गृह्यत इति न काचिदनुपपत्तिः। एवं च 'इहेदानीं घटो नास्ति'इति प्रतीतिरिव घटोपादानगततत्प्रागभावविषया 'मयि ज्ञानं नास्ति'इति प्रतीतिरपि प्रमातृगततत्प्रागभावविषयेति न काप्यनुपपत्तिरिति–चेत्।।२०।।

न,अभावज्ञाने प्रतियोग्यंशे भासमानस्य धर्मस्यैव प्रतियोगितावच्छेदकतया यत्किञ्चि–

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः प्रमेयत्वधर्म में व्याप्यता की अवच्छेदकता मानना सम्भव है।।१९।।

फलितार्थ यह हुआ कि जैसे वृत्तिमान् प्रमेय में रहने वाली व्याप्ति (वृत्तिमत्प्रमेयत्वरूपविशेष धर्म से अवच्छिन्न होकर के ग्रहीत नहीं होती है अपितु) प्रमेयत्व रूप सामान्य धर्म से ही अवच्छिन्न होकर के ही ग्रहीत होती है, वैसे ही जहां तत्तद् नीलादि का अभाव होता है वहां तत्तद् नीलादि में रहने वाली प्रतियोगिता (तत्तद् नीलत्वादि धर्म से अवच्छिन्न होकर के ग्रहीत नहीं होती है अपितु) नीलत्वादि सामान्यधर्म के द्वारा ही ग्रहीत होती होती है, क्योंकि तद्नीलत्व धर्म की अपेक्षा से नीलत्वधर्म लघु है। अतः नीलत्वादि सामान्यधर्म के द्वारा प्रतियोगिता का ग्रहण होने पर किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार इह= तत् कपाल व्यक्ति में, इदानीम्= तद् घट की उत्पत्ति के पूर्वकाल में, घटो नास्ति = तद्घट नहीं है। यह प्रतीति भी तद् घट के उपादान तत् कपाल में तद् घट के प्रागभाव को विषय करती है। [किन्तु तद् घट में रहने वाली प्रतियोगिता का ग्रहण तद् घटत्वेन नहीं होता है किन्तु घटत्वेन होता है, क्योंकि तद्घट की उत्पत्ति से पूर्व तद्घटत्वेन तद्घट की प्रतीति असम्भव है। अतः घटत्वावच्छेदेन ही प्रतियोगी (तद्घट) स्वप्रागभाव की प्रतीति में भासमान होता है।] इसीप्रकार प्रकृत में "मयि ज्ञानं नास्ति" यह प्रतीति भी प्रमातृगत तज्ज्ञानप्रागभाव को विषय करती है। [यद्यपि तज्ज्ञानप्रागभाव का प्रतियोगी तज्ज्ञान है। प्रतियोगितावच्छेदक तज्ज्ञानत्व है तथापि तज्ज्ञान में रहने वाली प्रतियोगिता का ग्रहण तज्ज्ञानत्वेन नहीं होता है, किन्तु ज्ञानत्वेन होता है, क्योंकि तज्ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व तज्ज्ञानत्वेन तज्ज्ञान का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। अतः ज्ञानत्वावच्छेदेन ही प्रतियोगी (तज्ज्ञान) स्वप्रागभाव की प्रतीति में भासमान होता है।] अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है। [अर्थात् "मयि ज्ञानं नास्ति" इस प्रतीति को तज्ज्ञानप्रागभाव को विषय करने वाली मानने पर व्याघातदोष नहीं होगा, क्योंकि तज्ज्ञानप्रागभाव के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान जो कारण है, उसका ज्ञान ज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छेदेन किसी एक ज्ञान में हो जायेगा और विशेषरूप से तज्ज्ञान का प्रागभाव मानेंगे। ऐसा होने पर व्याघातदोष नहीं होगा, क्योंकि तज्ज्ञान का ज्ञान और तज्ज्ञान का प्रागभाव नहीं माना जा रहा है अपितु सामान्य रूप से ज्ञान का ज्ञान और विशेषरूप से ज्ञान का अभाव माना जा रहा है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि "मयि ज्ञानं नास्ति" यह प्रतीति तज्ज्ञान के प्रागभाव को विषय करती है। अतः इसके द्वारा सिद्धान्ती भावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं कर सकते हैं। यही पूर्वपक्षी का भाव है।]।।२०।।

सिद्धान्ती– पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अभावप्रतीति स्थल पर प्रतियोगी अंश में भासमान धर्म ही प्रतियोगितावच्छेदक होता है। अतः यत्किञ्चित् विशेषाभाव (तद्घटाभाव) को घटत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक नहीं माना जा सकता है। यदि तद्घटाभाव को घटत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्न माना जाता है तब तो जहां रक्त घट वाले भूतल में कृष्णघट का अभाव है, वहां घटत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नघट का अभाव स्वीकार करने पर रक्तघटवाले भूतल में भी

द्विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे घटवत्यपि भूतले 'निर्घटं भूतलम्' इति घटज्ञानवत्यपि स्वस्मिन् 'मयि घटज्ञानं नास्ति'इति च प्रतीतेरापत्तेः पूर्वोक्तदोषात्। यत्किञ्चिद्घटज्ञानं घटाभावज्ञाने प्रतिबन्धकमिति तु ज्ञानज्ञानेऽपि तुल्यम्, उदाहृतव्याप्तिग्रहणे तु बाधकाभावात् सामान्यावच्छेदेऽपि न दोषः।।२१।।

अथैवं प्रागभावप्रतीतिरेव न स्यात्, न स्यादेव; 'घटो भविष्यति'इति प्रतीतेः धात्वर्थभविष्यत्ता—

सत्यानन्दप्रबोधिका

"कोई भी घट नहीं है," ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी। इसी प्रकार जिस देवदत्त को रक्तघट का ज्ञान है किन्तु कृष्णघट का ज्ञान नहीं है। उस देवदत्त में घटज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नज्ञान का अभाव स्वीकार करने पर रक्तघटज्ञानवाले देवदत्त को अपने में "मुझे कोई भी घट का ज्ञान नहीं है" ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी। अतः विशेषाभाव (तद्घटाभाव) का प्रतियोगितावच्छेदक विशेषधर्म (तदघटत्व) ही होगा। ऐसा होने पर खण्ड संख्या १७ में दिया गया व्याघातदोष पूर्वपक्षी के मत में होगा ही। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि देवदत्त को जो रक्तघट का ज्ञान है वह घटज्ञान के सामान्याभाव की प्रतीति में प्रतिबन्ध है। अतः रक्त घटवाले भूतल में "कोई भी घट का ज्ञान नहीं है" ऐसी प्रतीति नहीं होगी। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "मयि ज्ञानं नास्ति" इस प्रतीति स्थल पर भी अभावज्ञान के लिए प्रतियोग्यादि का ज्ञान अवश्य रहेगा। अतः प्रतियोग्यादि का ज्ञान भी "मयि ज्ञानं नास्ति" इस प्रतीति से पूर्वपक्षी के अनुसार जो ज्ञानसामान्याभाव की प्रतीति मानी जाती है, उसमें प्रतिबन्धक होगा। [अतः पूर्वपक्षी "मयि ज्ञानं नास्ति" इस प्रतीति के बल पर ज्ञानसामान्याभाव की प्रतीति को सिद्ध नहीं कर सकता है, अपितु सिद्धान्ती के द्वारा उक्त प्रतीति के बल पर जो भावरूप अज्ञान की सिद्धि की गयी है वह ही उचित है।] तदाहृत "यत्र प्रमेयं तत्र अभिधेयम्" इस व्याप्तिग्रह स्थल पर विशेषधर्मावच्छिन्न (वृत्तिमत्प्रमेयत्वावाच्छिन्न) व्याप्ति का सामान्यधर्मावच्छिन्न (प्रमेयत्वावच्छिन्न) ग्रहण होने में कोई बाधक नहीं होने से किसी प्रकार का दोष नहीं माना जाता है किन्तु विशेषाभाव को सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक मानने पर रक्तघटवाले भूतल में भी "निर्घटं भूतलम्" इत्याकार प्रतीति की आपत्तिरूपबाधक दिखलाया जा चुका है। अतः "मयि ज्ञानं नास्ति" यह प्रतीति प्रमातृगत तज्ज्ञान के प्रागभाव (विशेषाभाव) को विषय करती है और उक्त विशेषाभाव की प्रतियोगिता सामान्यधर्मावच्छिन्न होती है—इत्यादि जो पूर्वपक्षी ने कहा था, उसका खण्डन हो गया।।२१।।

शङ्का— विशेषाभाव को सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक न मानने पर प्रागभाव की प्रतीति ही नहीं होगी। [कहने का आशय यह है कि कपालों में जिस भावी विशेष घट का प्रागभाव माना जाता है उसकी प्रतीति "इह विशेषघटो भविष्यति" इस रूप से नहीं होती है अपितु "इह घटो भविष्यति" इस प्रकार से सामान्यरूपेण ही होती है। अतः घटत्वरूप सामान्यधर्म को ही भावी विशेषघट के प्रागभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक मानना चाहिए।]

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि प्रागभाव की प्रतीति होती ही नहीं है। इसका निरूपण खण्ड संख्या १७ में किया जा चुका है। [इस पर प्रश्न होता है कि पूर्वपक्षी "इह घटो भविष्यति" इस प्रतीति का विषय घट का प्रागभाव मानता है। यदि सिद्धान्ती प्रागभाव नहीं मानते हैं तो सिद्धान्ती के मत में "इह घटो भविष्यति" इस प्रतीति का विषय क्या है? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] " घटो भविष्यति" यह प्रतीति भू धातु का अर्थ जो भवन (उत्पत्ति) उसमें भविष्यत्काल सम्बन्धित्व को विषय करती है न कि प्रागभाव को विषय करती है। अन्यथा= यदि "घटो भविष्यति" इस प्रतीति का विषय प्रागभाव माना जाता है तो, प्रागभाव का नाश प्रतियोगी की उत्पत्ति से होने

विषयत्वेन प्रागभावाविषयत्वात्। अन्यथा दिनान्तरोत्पत्स्यमानघटे एतद्दिनवृत्तिप्रागभावप्रतियोगित्वेन 'अद्य घटो भविष्यति'इति धीप्रसङ्गः, भविष्यत्त्वं च प्रतियोगितद्ध्वंसानाधारकालसम्बन्धित्वम्, ध्वंसत्वं च प्रागभावानङ्गीकर्तृमते कादाचित्काभावत्वमेव। तदङ्गीकर्तृमतेऽपि प्रतियोग्यजनक—

सत्यानन्दप्रबोधिका

के कारण प्रतियोगी की उत्पत्ति से पूर्व प्रागभाव विद्यमान रहता है। अत: भावी दिन में उत्पन्न होने वाले घट का वर्तमान दिन में विद्यमान कपालों में प्रागभाव रहता है। अत: भावी दिन में उत्पन्न होने वाले घट का वर्तमान दिन में विद्यमान कपालों में प्रागभाव रहने के कारण वर्तमान दिन में ही ''अद्य घटो भविष्यति'' ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी। [पूर्वपक्षी की शङ्का है कि भविष्यत्व का अर्थ है—प्रागभावाधिकरणकालत्व। यदि सिद्धान्ती प्रागभाव को स्वीकार नहीं करते हैं तब तो प्रागभाव से घटित प्रागभावाधिकरणकालत्वरूप भविष्यत्व का निर्वचन ही नहीं हो पायेगा। अत: सिद्धान्ती को भी भविष्यत्व के निर्वचन के लिए प्रागभाव को मानना पड़ेगा। इस शङ्का का समाधान देते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि] जिस काल में प्रतियोगी या उसका ध्वंस नहीं रहता है उस काल से सम्बन्धित्व को भविष्यत्व कहते हैं। (अर्थात् प्रतियोगी के आधारभूतकाल को वर्तमान काल कहा जाता है और प्रतियोगी के ध्वंस के आधारभूत काल को अतीतकाल कहा जाता है। इन दोनों के अनाधारकाल को भविष्यत् काल कहा जाता है।] इस प्रकार से भविष्यत्व का निर्वचन प्रागभाव से घटित नहीं है। अत: भविष्यत्व के भी निर्वचन के लिए प्रागभाव को मानने की आवश्यकता नहीं है। प्रागभाव को न मानने वालों के मत में ध्वंसत्व का लक्षण कादाचित्काभावत्व होता है। [अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में ध्वंस के इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि ये दोनों अभाव कादाचित्काभाव नहीं होते हैं, किन्तु नित्य अभाव होते हैं किन्तु कादाचित्काभाव भी दो (प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव) होते हैं। अत: ध्वंसाभाव के इस लक्षण की अतिव्याप्ति प्रागभाव में हो सकती है किन्तु जो लोग प्रागभाव मानते ही नहीं हैं उनके मत में प्रागभाव में अतिव्याप्ति रोकने के लिए कोई विशेषण देना आवश्यक नहीं है।] जो लोग प्रागभाव मानते हैं उनके मत में ध्वंसत्व का लक्षण प्रतियोग्यजनककादाचित्काभावत्व होता है। [ध्वंस के इस लक्षण की अतिव्याप्ति प्रागभाव में नहीं होगी, क्योंकि प्रागभाव प्रतियोगी का जनक होता है और अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव कादाचित्काभाव नहीं होते हैं। अपितु नित्य होते हैं। अत: ध्वंस के इस लक्षण की अतिव्याप्ति अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव में भी नहीं होगी। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जनक से घटित ध्वंस का लक्षण बनाया है किन्तु जनकत्व का लक्षण प्रागभाव से घटित है। अत: सिद्धान्ती को प्रागभाव मानना पड़ेगा। अर्थात् जनकत्व का लक्षण है—कार्याव्यवहितनियतप्राक्कालवृत्तित्वे सति अनन्यासिद्धत्वम्। कार्यप्राक्काल का अर्थ होता है—कार्यप्रागभावाधिकरणकाल। इस प्रकार से जनकत्व का लक्षण प्रागभाव से घटित है। अत: सिद्धान्ती प्रागभाव का निराकरण नहीं कर सकते हैं। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] स्वरूपसम्बन्ध विशेष को ही जनकत्व कहते हैं। अर्थात् जनक का स्वरूप ही जनकत्व है। ऐसा स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपजनकत्व प्रागभाव से घटित नहीं है। अत: प्रागभाव को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि पूर्वपक्षी के द्वारा जो प्रागभाव से घटित जनकत्व का लक्षण बनाया गया है वह जनकत्व का लक्षण प्रागभाव में नहीं जायेगा क्योंकि प्रागभाव किसी अन्य प्रागभाव से घटित नहीं माना जाता है। अत: जो लोग प्रागभाव को जनक मानते हैं उनके मत में भी प्रागभाव में जनकत्व ही सिद्ध नहीं होगा। अन्यथा = प्रागभाव में जनकत्व का लक्षण समन्वय करने के लिए स्वात्मक प्रागभाव से घटित जनकत्व का लक्षण मानने पर, आत्माश्रयदोष

कादाचित्काभावत्वम्, जनकत्वं च स्वरूपसम्बन्धविशेषो न प्रागभावघटित:; प्रागभावस्याजनकत्वापत्ते:, अन्यथात्माश्रयात्। अत: प्रागभावमङ्गीकुर्वतोऽपि तत्प्रत्यक्षत्वं दुर्लभम्, तमनङ्गीकुर्वतस्तु न कापि हानि:।।२२।।

'इहेदानीं घटो नास्ति'इति प्रतीतिस्तु सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकतत्काला—वच्छिन्नयावद्विशेषाभावविषया; समयविशेषस्याप्यभावावच्छेदकत्वात्। अन्यथा 'आद्यक्षणे घटो नीरूप:'

सत्यानन्दप्रबोधिका

होगा। अर्थात् प्रतियोगी के जनकत्व रूप से प्रागभाव की कल्पना होती है और प्रागभाव की कल्पना से पूर्व जनकत्व का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि जनकत्व का लक्षण प्रागभाव से घटित है। अत: प्रागभाव के ज्ञान के लिए जनकत्व का ज्ञान चाहिए। जनकत्व के ज्ञान के लिए जनकत्व के लक्षण में आये हुए प्रागभाव का ज्ञान चाहिए। इस प्रकार से प्रागभाव के ज्ञान के लिए प्रागभाव के ज्ञान की आवश्यकता होने से ज्ञप्ति में आत्माश्रयदोष है। अत: जो लोग प्रागभाव को मानते हैं वे भी प्रागभाव से घटित जनकत्व का उक्त लक्षण नहीं मान सकते हैं। अत: प्रागभाव मानने वालों को भी स्वरूपसम्बन्ध विशेष को ही जनकत्व मानना पड़ेगा। अत: प्रागभाव को स्वीकार करने वालों को भी प्रागभाव का प्रत्यक्षत्व दुर्लभ है।[क्योंकि कपालों में तद्घट का प्रागभाव रहता है, इसलिए उस प्रागभाव का प्रतियोगी घटत्वरूप सामान्यधर्मावच्छिन्न नहीं होगा किन्तु तद्घटत्वरूपविशेषधर्मावच्छिन्न होगा। तद्घट के प्रागभावदशा में तद् घट अनुत्पन्न होने से तद्घटत्वावच्छिन्न तद्घट प्रतियोगी का ज्ञान न होने से तद्घटत्वावच्छिन्नतद्घटप्रतियोगिताकप्रागभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।] और प्रागभाव को स्वीकार न करने वालों के मत में कुछ भी हानि नहीं है, क्योंकि उनको प्रागभाव के प्रत्यक्षत्वादि की उपपत्ति करना ही नहीं है।।२२।।

''इस कपाल में इस समय घट नहीं है'' इत्याकारिका प्रतीति प्रागभाव को विषय नहीं करती है किन्तु घटत्वरूप सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक और तत्कालावच्छिन्न यावद्विशेषात्यन्ताभावकूट को विषय करती है। [अर्थात् ''इहेदानीं घटो नास्ति'' यह प्रतीति इस कपाल में घटत्वावच्छिन्नवर्तमानकालावच्छिन्न तत्तद् घटों के जो यावद् अत्यन्ताभाव है उन अत्यन्ताभावों का जो कूट है—उसको विषय करती है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अभाव का अवच्छेदक तत्काल नहीं हो सकता है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि जैसे अभावीय प्रतियोगिता के अवच्छेदक सम्बन्ध और धर्म होते हैं, ठीक वैसे ही] विशेषकाल को भी अभाव का अवच्छेदक माना जाता है। अन्यथा = जिस अधिकरण में इस समय प्रतियोगी न रहने पर भी भावीकाल में प्रतियोगी रहेगा। उस अधिकरण में इस समय प्रतियोगी का कालविशेषावच्छिन्न अत्यन्ताभाव न स्वीकार करके प्रागभाव स्वीकार करने पर, ''आद्य क्षण में घट नीरूप है।'' इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति जो आद्यक्षणावच्छिन्न रूपात्यन्ताभाव की प्रतीति को लेकर होती है, वह नहीं हो पायेगी। [वैशेषिकगणों की यह मान्यता है कि जन्य द्रव्य उत्पत्ति के प्रथम क्षण में निर्गुण और निष्क्रिय रहता है। ऐसा न मानने पर उनके मतानुसार गुणकर्मादि की अव्यवहित पूर्ववृत्तित्वघटित समवायिकारणता द्रव्य में सिद्ध नहीं हो पायेगी। अब विचारणीय विषय यह है कि ''आद्यक्षणे घटो नीरूप:'' इस प्रतीति का विषय क्या ''आद्यक्षणावच्छिन्नो घटो रूपप्रागभाववान्'' है? अथवा '' आद्यक्षणावच्छिन्नो घटो रूपात्यन्ताभाववान्'' है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर दोष यह होगा कि जहां श्यामघट में पाक से उत्पन्न होने वाले भावीरूप का प्रागभाव है वहां पर ''श्यामरूपवान् घटो नीरूप:'' ऐसी विरुद्ध प्रतीति की आपत्ति होगी, क्योंकि जब नीरूप का अर्थ रूपप्रागभाव किया गया तब भावीरूप का प्रागभाव भी रूपप्रागभाव ही है। अत:

इत्यादिप्रतीतिर्न स्यात्।।२३।।

अथ— अस्मिनपक्षे सामान्याभावो न सिध्येदिति—चेत्, प्रागभावाभ्युपगमेऽपि तुल्यमेतत्, सामान्याभावप्रागभावयोः सुन्दोपसुन्दयोरिव परस्परपराहतत्वात्। तथा हि— प्रागभावसिद्धौ विशेषाभावस्यापि सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वात् न तावन्मात्रप्रमाणकसामान्याभावसिद्धिः, सामान्याभावसिद्धौ च विशेषाभावस्य सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वाभावात् कादाचित्काभावस्य च सामान्याभावत्वायोगात् न सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकविशेषप्रतीतिमात्रशरणप्रागभावसिद्धिः, इति न तदुभयमपि विपश्चितां चेतसि चमत्कारमावहति।।२४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसका भी अर्थ नीरूप किया ही जा सकता है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। अतः उक्त प्रतीति का विषय '' आद्यक्षणावच्छिन्नो घटो रूपात्यन्ताभाववान्'' मानना ही उचित है। फलतः प्रागभाव सर्वथा ही असिद्ध हो गया। कुत्रचित् सिद्धान्तमत में जो प्रागभाव को स्वीकार किया गया है वह पररीत्या है—ऐसा समझना चाहिए।]।।२३।।

शङ्का— यदि ''इह कपाले इदानीं घटो नास्ति'' इत्यात्मक प्रतीतियों को घटप्रागभावविषयक न मानकर सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकतत्तत्कालावच्छिन्नयावद् विशेषात्यन्ताभावकूटविषयक माना जाता है तो यावद्विशेषात्यन्ताभावकूट से अतिरिक्त सामान्याभाव की सिद्धि नहीं हो पायेगी।

समाधान— प्रागभाव को मानने वाले पक्ष में भी प्रागभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव की असिद्धि तुल्य ही है, क्योंकि सामान्याभाव और प्रागभाव में सुन्द और उपसुन्द न्याय से परस्पर एक दूसरे का पराहतत्त्व प्राप्त होता है। इसको ही स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रागभाव के सिद्ध होने पर विशेषाभावीय प्रतियोगिता सामान्यधर्मावाच्छिन्न माननी पड़ती है। [पीछे खण्ड संख्या १७ में पूर्वपक्षी ने प्रागभाव को एक विशेषाभाव माना है और प्रागभाव को सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक मानकर प्रागभाव की सिद्धि की है।] ऐसा होने पर विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव की सिद्धि नहीं हो पायेगी, क्योंकि सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वधीमात्र से प्रमाणित सामान्याभाव माना जाता है। [अर्थात् सामान्याभाव को सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्वीकार कर और विशेषाभाव को विशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक स्वीकार कर दोनों में भेद सिद्ध किया जाता है किन्तु जब विशेषाभाव को भी सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक मान लिया गया तब सामान्याभाव से विशेषाभाव का भेद सिद्ध नहीं हो सकता है।] विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक सामान्याभाव की सिद्धि होने पर विशेषाभाव सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः कदाचित्क अभाव अर्थात् कालावच्छिन्नत्वेन भासमान ध्वंस और प्रागभाव को सामान्याभाव नहीं कहा जा सकता है। फलतः सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन जो विशेषाभाव की प्रतीति, तादृशप्रतीतिमात्र है। शरण जिसकी ऐसा जो प्रागभाव, उस प्रागभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। अर्थात् सामान्यधर्मावच्छिन्नाप्रतियोगिताक विशेषाभाव की प्रतीति के आधर पर पूर्वपक्षी प्रागभाव की सिद्धि नहीं कर सकता है। (दूसरी बात यह भी है कि प्रागभाव रूप विशेषाभाव के सिद्ध न होने पर यावद्विशेषाभावकूट से व्यतिरिक्त सामान्याभाव अथवा यावद्विशेषाभाव कूटरूप सामान्याभाव सिद्ध नहीं होगा) इस प्रकार से ये दोनों एक दूसरे का आश्रय न करते हुए पृथक्—पृथक सिद्ध न होकर के ब्रह्मवादी विद्वानों के चित्त में किसी आश्चर्य को उत्पन्न नहीं करते हैं, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त सब कुछ जब स्वप्न के समान मिथ्या है, तब इनकी सिद्धि हुयी तो क्या? न हुयी तो क्या?।।२४।।

ननु— यावद्विशेषाभावनिश्चयेऽपि 'रूपं वायुवृत्ति न वा' 'वायू रूपवान्न वा'इति रूपाभावसन्देहात् निश्चिते च संशयायोगाद्यावद्विशेषाभावान्यसामान्याभावसिद्धिः, अत एतावन्त्येव रूपाणीति निश्चयदशायामेतादृशसंशयस्याननुभूयमानत्वेन तदनिश्चयदशायामेवैतादृशः संशयो वाच्यः, तथा च 'रूपत्वं पार्थिवाप्यतैजसरूपत्रितयातिरिक्तवृत्ति भविष्यति'इत्यधिकसम्भावनया अनिश्चितेष्वेव संशयः, उक्तसम्भावनाविरहसहकृतनिश्चयस्यैव प्रतिबन्धकत्वादिति—चेन्न; एवं प्रतिबन्धककल्पने मानाभावाद्, उक्तसम्भावनाविरहदशायामप्येतादृशसंशयदर्शनाच्च।।२५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का—यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव को मानने वाले वादी का कथन है कि वायु में नील—पीतादि सभी विशेषरूपों के अभाव का निश्चय रहने पर भी ''रूप वायु में है या नहीं?'' ''वायु रूपवान् है या नहीं'' ऐसा रूपाभाव का सन्देह होते हुए देखा गया है। इस संशय में दो कोटि है, प्रथम कोटि रूप है और द्वितीय कोटि रूपाभाव है। द्वितीय कोटि के रूप से भासमान जो रूपाभाव उसको विशेषाभाव अथवा सामान्याभाव क्या माना जाय? उक्त संशय के विषय रूपाभाव को विशेषाभाव मान नहीं सकते हैं, क्योंकि यह नियम है कि जिस विषय का निश्चय है, उस विषय में संशय नहीं हो सकता है। अतः जब यावद् विशेषाभाव का निश्चय है तब विशेषाभाव को लेकर के संशय नहीं हो सकता है। अतः उक्त संशय के विषय रूपाभाव को विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव मानना चाहिए। अर्थात् यह सिद्ध हो गया कि विशेषाभावकूट से अतिरिक्त सामान्याभाव होता है। [जो लोग यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव नहीं मानते हैं अपितु विशेषाभावकूट ही सामान्याभाव होता है—ऐसा मानने वाले विशेषाभाववादी का कथन है कि] रूपों की संख्या सप्त ही है और तत्तद्रूपों का वायु में अभाव है—ऐसा जिस व्यक्ति को निश्चय है, उस व्यक्ति को ''वायु रूपवान् न वा'' ऐसे संशय का अनुभव होते हुए नहीं देखा गया है, किन्तु जिस व्यक्ति को रूपों की संख्या सप्त ही है—ऐसा निश्चय नहीं है और वायु में कुछ रूपों का अभाव है, ऐसा निश्चय है उस व्यक्ति को ही ''वायु रूपवान् न वा?'' ऐसे संशय का अनुभव होता है— यही कहना पड़ेगा। फलितार्थ यह हुआ कि ''रूपत्व पार्थिव जलीय और तैजस रूपों से अतिरिक्त में भी रहता है।'' अर्थात् पृथिवी—जल—वह्निनिष्ठ सप्तरूपों से अतिरिक्त भी रूप होता है—इस प्रकार से जिस व्यक्ति को सप्तरूपों से अधिक रूपों की सम्भावना है उस व्यक्ति को वायु में कुछ रूपों के अभावों का निश्चय होने पर भी ''वायु रूपवान् न वा?'' इत्याकारक संशय होता है, क्योंकि अधिक रूपों की सम्भावना से रहित यावद्विशेषरूपों के अभाव का निश्चय ही ''वायु रूपवान् न वा?'' इत्याकारक संशय का प्रतिबन्धक होता है। [अतः विशेषाभावकूट से अतिरिक्त सामान्याभाव को मानने वाले वादी ने जो कहा था कि ''निश्चिते च संशयायोगात्'' अर्थात् उक्त विशेषाभाव का निश्चय होने पर उक्त संशय नहीं होता है—उसका खण्डन हो गया क्योंकि उक्त विशेषाभाव का निश्चय ही उक्त संशय का प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु उक्त अधिक सम्भावना से रहित उक्त विशेषाभाव का निश्चय ही उक्त संशय का प्रतिबन्धक होता है। अतः उक्त संशय के आधार पर यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती है।]

समाधान— यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव को मानने वाले सामान्याभाव वादी का कथन है कि उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सम्भावना विरह सहकृत निश्चय संशय के प्रति प्रतिबन्धक है—ऐसी जो कल्पना है। उसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि उक्त सम्भावना विरहसहकृत निश्चयदशा (विशेषाभावकूट निश्चयदशा) में भी उक्त संशय होता है। अतः उक्त संशय के आधार पर यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव सिद्ध होता है।।२५।।

ननु– यथा यावद्विशेषाभावेभ्योऽतिरिक्तः सामान्याभावो रूपस्य संशयकोटिः, तथा रूपसामान्यमपि यावद्विशेषेभ्योऽतिरिक्तं संशयकोटिर्नाभ्युपगन्तुं शक्यते, तथा च कथं रूपस्य संशयकोटित्वम्? सर्वरूपाभावनिश्चयात्। यदि तु नीलपीताद्यभावत्वेन निश्चयेऽपि रूपाभावत्वेना–निश्चयाद्रूपसंशय इति ब्रूषे, तदा किं सामान्याभावेन? रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन संशयसम्भवात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वेन यावद्विशेषाभावानामेव रूपत्वावच्छिन्न–

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– यावद् विशेषाभाव से अतिक्ति सामान्याभाव को न मानने वाले विशेषाभाव वादी का कथन है कि ''वायु में रूप है या नहीं?'' इत्याकारक वायु में रूप का जो संशय होता है। उसमें एक कोटि रूप है और द्वितीय कोटि रूपाभाव है। इस द्वितीय कोटि (रूपाभाव) के विषय में सामान्याभाववादी का जैसे यह कथन है कि यावद्रूपविशेषाभाव से अतिरिक्त रूपसामान्याभाव के रूप से इस द्वितीय कोटि (रूपाभाव) को स्वीकार करना चाहिए, ठीक वैसे ही सामान्याभाववादी उक्त संशय के प्रथम कोटि (रूप) के विषय में भी यह नहीं कह सकता है कि यावद्रूपविशेष से अतिरिक्त रूपसामान्य के रूप से इस प्रथम कोटि (रूप) को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि यावद्रूपविशेष से भिन्न रूप सामान्यप्रसिद्ध ही नहीं है। अर्थात् जैसे भिन्न–भिन्न सप्तरूपविशेष होते हैं, ठीक वैसे ही कोई अष्टम रूपसामान्य होता है–ऐसा प्रसिद्ध ही नहीं है। [जब रूप सामान्य ही नहीं है तब रूपसामान्य का अभाव भी माना नहीं जा सकता है। अतः यावद्रूपविशेषाभाव से अतिरिक्त रूपसामान्याभाव मानना असङ्गत है।] दूसरी बात यह है कि जब वायु में यावद्रूपविशेषाभाव का निश्चय है तब वायु में उक्त प्रकार से रूप का संशय भी नहीं हो सकता है। [अतः ''वायु रूपवान्न वा?'' ऐसा संशय सर्वथा अनुपपन्न है। इसलिए उक्त संशय के आधार पर यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती है।] यदि सामान्याभाववादी कहता है कि नीलरूपाभावत्व–पीतरूपाभावत्वादि रूप से वायु में नीलरूप–पीतरूपादि के अभाव का निश्चय होने पर भी रूपाभावत्वेन रूपाभाव का निश्चय न होने से उक्त प्रकार से संशय होता है। [अर्थात् वायु में नीलादि विशेषरूपों के अभाव का निश्चय होने पर भी सामान्यतः रूपत्वेन रूप के अभाव का निश्चय न होने से उक्त प्रकार से वायु में रूप का संशय होता है। अतः उक्त संशय के आधार पर यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव की सिद्धि हो जायेगी।] इसका खण्डन करते हुए विशेषाभाववादी कह रहा है कि यदि सामान्याभाववादी के उक्त कथनानुसार वायु में रूप का संशय मान भी लिया जाय तो भी उक्त संशय की द्वितीय कोटि (रूपाभाव) को रूपसामान्याभाव के रूप से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि नीलत्वावच्छिन्ननीलाभावत्वेन यावद्विशेषरूपाभाव का निश्चय रहने पर भी रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन विशेषरूपाभावों का निश्चय न रहने के कारण रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वेन विशेषरूपाभाव का संशय सम्भव हो जायेगा। [इस संशय की एक कोटि रूप होगी और द्वितीय कोटि यावद्विशेषरूपाभाव न कि रूपसामान्याभाव। अतः यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव उक्त संशय के आधार पर सिद्ध नहीं हो सकता है।] यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव को मानने वाले वादी को सामान्याभाव रूपधर्मी और सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपधर्म की कल्पना करनी पड़ती है और विशेषाभाववादी को विशेषाभावकूट गत सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपधर्ममात्र की कल्पना करनी पड़ रही है। इस पर विशेषाभाववादी का कथन है कि सामान्याभाववादी और विशेषाभाववादी दोनों को ही सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप धर्म की कल्पना करनी पड़ रही है किन्तु सामान्याभाववादी

प्रतियोगिताकत्वकल्पनाद्, अतो न यत्किंचिदभावमादाय 'घटो नीरूपः' इति प्रतीतिप्रसङ्ग इति—चेत्।।२६।।

न,यावद्विशेषाभावेषु यद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, तत् प्रत्येकविश्रान्तम्? व्यासज्यवृत्ति वा? आद्ये यत्किञ्चिदभावमादाय 'घटो नीरूपः' इति प्रतीतिप्रसङ्गः, द्वितीये तत्तद्रूपत्वावच्छिन्न—प्रतियोगिताकत्वस्याव्यासज्यवृत्तिस्वभावत्वेन तद्व्यतिरिक्तं रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं व्यासज्यवृति कल्पनीयम्, तद्वरं रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक एवाभावः कल्प्यते, ममैकोऽभावः रुपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं चेति वस्तुद्वयं कल्प्यम्, तव तु रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वम्, तस्य च व्यासज्यवृत्तित्वेन बहुष्वभावेषु प्रत्येकं सम्बन्धा इति बहु कल्प्यम्। 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वम्' इति न्यायस्तु कल्पनीयाधिक्यापेक्षः।।२७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

को सामान्याभावरूपधर्मी की भी कल्पना करनी पड़ रही है। अतः विशेषाभाववादी के मत में लाघव है, क्योंकि धर्मी की कल्पना से धर्म की कल्पना में लाघव माना जाता है। यावद्विशेषाभावकूट में रहने वाले सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप धर्म को व्यासज्यवृत्ति (समुदाय में व्याप्त होकर रहने वाला) माना जाता है। अतः एक विशेषाभाव में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूप धर्म नहीं रहेगा। अतः श्यामघट में रक्तरूप का अभाव रहने पर भी रक्तरूपाभाव रूपत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वधर्म से अवच्छिन्न न होने के कारण ''श्यामरूपवान् घटो नीरूपः'' ऐसी विरुद्ध प्रतीति की आपत्ति नहीं होगी।।२६।।

समाधान— विशेषाभाववादी के पूर्वोक्त कथन का खण्डन करते हुए सामान्याभाववादी कह रहा है कि यावद्विशेषाभावों में जो सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व माना जाता है। वह घटत्वादि जाति के जैसे प्रत्येक विशेषाभावव्यक्ति में रहता है। अथवा उभयत्वादि के जैसे व्यासज्यवृत्ति माना जाता है। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर श्यामरूप वाले घट में रक्तरूप का अभाव रहने पर ''श्यामरूपवान् घटो नीरूपः'' ऐसी विरुद्ध प्रतीति की आपत्ति खण्ड संख्या २१ और २३ में दी जा चुकी है। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करते हैं तो तत्तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व व्यासज्यवृत्ति स्वभाववाला न होने से तत्तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व से अतिरिक्त रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व (सामान्य—धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व) रूप व्यासज्यवृत्तिधर्म की कल्पना यावद्विशेषाभावकूट में विशेषाभाववादी को करनी पड़ती है। जबकि सामान्याभाववादी के मत में रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक एक ही अभाव की कल्पना की जाती है। वह उचित भी है, क्योंकि सामान्याभाववादी को धर्मी रूप सामान्याभाव और उसमें रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपधर्म—इस प्रकार से दो पदार्थों की कल्पना करनी पड़ रही है जबकि सामान्याभाव को न मानने वाले विशेषाभाववादी को तत्तद्रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व से अतिरिक्त रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व की कल्पना करनी पड़ती है और रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के व्यासज्यवृत्ति रूप होने से यावद्विशेषाभावों के घटक प्रत्येक विशेषाभाव के साथ भिन्न—भिन्न सम्बन्धों (अर्थात् अनेक सम्बन्धों) की कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि जो पदार्थ (रूपत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वरूपधर्म पर्याप्तिसम्बन्ध से) प्रत्येक (तत्तदभाव में) में नहीं रहता है वह पदार्थ समुदाय (यावद्विशेषाभावकूट) में भी नहीं रह सकता है। अतः नाना पर्याप्तिसम्बन्धों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार से कल्पनाधिक्य विशेषाभाववादी के मत में ही है। धर्मी की कल्पना से धर्म की कल्पना में लाघव है— इस न्याय का तात्पर्य यह है कि स्वल्प कल्पना की अपेक्षा से कल्पनाधिक्य में गौरव होता है। कल्पनाधिक्य सामान्याभाववादी के मत में नहीं है। किन्तु उक्त प्रकार से विशेषाभाववादी के मत में ही कल्पनाधिक्य है। अतः उक्त न्याय के अनुसार विशेषाभाववादी के मत में ही दोष होता है।।२७।।

किञ्च घटद्वये यावद्विशेषाभावसत्वेऽपि रूपसामान्याभावबुद्ध्यनुदयाद् ऐकाधिकरण्या—वच्छेदेनाप्यभावा विशेषणीयाः तथा चातिगौरवमपि च व्यासज्यवृत्तिधर्मग्रहे यावदाश्रयग्रहस्तद्भेदग्रहश्च हेतुः, अगृहीतेषु भिन्नतया वाऽगृहीतेषु वस्त्रादिषु द्वित्वादिबुद्ध्यनुदयात्, तथा च यावदभावतद्भेदाग्रहे प्रथमत एव नीरूप इति धीर्न स्यात्, व्यासज्यवृत्तिसामान्यप्रतियोगिताकत्वस्याग्रहणात्। अतः सामान्याभावस्य प्रामाणिकत्वात् कथं तत्पराहतिरिरिति—चेत्।।२८।।

अत्र ब्रूमः—एवं तर्हि सामान्यप्रकारेण विशेषाभावाप्रतीतेर्ज्ञानविशेषप्रागभावो न जानामीति

सत्यानन्दप्रबोधिका

जहां पर समूहालम्बनत्वेन नीलघटरक्तघटद्वय की प्रतीति हो रही है, वहां पर नीलघट में नीलेतर छः रूपों का विशेषाभाव है और रक्त घट में रक्तेतर छः रूपों का विशेषाभाव है। कुल मिलाकर उक्त घटद्वय में सभी रूप विशेषों का अभाव रहने पर भी उक्त घटद्वय में रूपसामान्याभाव रहता है। (अर्थात् उक्त घटद्वय में कोई भी रूप नहीं रहता है।) इस प्रकार की बुद्धि का उदय नहीं होता है। (क्योंकि उक्त घट में नीलरूप और रक्तरूप विद्यमान ही है।) अतः विशेषाभाववादी को यह कहना पड़ेगा कि एक अधिकरण में रहने वाले यावद् विशेषाभावकूट को ही सामान्याभाव कहा जाता है न कि भिन्न—भिन्न अधिकरण में रहने वाले यावद्विशेषाभावकूट को सामान्याभाव कहा जाता है। इस प्रकार से विशेषाभाववादी के मत में यावद्विशेषाभावकूट का एकाधिकरणवृत्तित्वरूप विशेषण देना पड़ेगा। अर्थात् एकाधिकरणवृत्ति यावद्विशेषाभावों में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रहता है—ऐसा कहना पड़ेगा। ऐसा कहने पर अतिगौरव दोष होगा। दूसरी बात यह भी है कि व्यासज्यवृत्ति धर्मों के ज्ञान के प्रति हेतु होता है—व्यासज्यवृत्ति धर्म जिन आश्रयों में रहता है। उन आश्रयों का ज्ञान और उन आश्रयों के भेद का ज्ञान। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए सामान्यभाववादी कह रहा है कि दो वस्त्रों में द्वित्वव्यासज्यवृत्तितया रहता है। उस द्वित्व के ज्ञान के लिए उस द्वित्व के आश्रयीभूत दो वस्त्रों का ज्ञान और उन दो वस्त्रों का पारस्परिक भेद का ज्ञान हेतु होता है, क्योंकि जब तक दो वस्त्रों का ज्ञान नहीं होगा अथवा दो वस्त्रों का ज्ञान होने पर भी अभिन्नतया दोनों वस्त्रों का ज्ञान हो अर्थात् दोनों वस्त्रों के भेद का ज्ञान न होने पर उन दोनों वस्त्रों में द्वित्व बुद्धि का उदय नहीं होता है। तथा च = व्यासज्यवृत्तिधर्मग्रह में यावदाश्रयग्रह और तद्भेदग्रह के हेतु सिद्ध हो जाने पर यावद्विशेषाभाव (जो कि व्यासज्यवृत्तिसामान्यधर्म का आश्रय है) और यावद् विशेषाभावों के पारस्परिक भेद का ग्रहण जब तक नहीं होता है तब तक उससे पहले ही (अर्थात् आश्रय ग्रह और आश्रय के भेद ग्रह से पहले ही) वायु नीरूप है—ऐसी बुद्धि नहीं होगी, क्योंकि व्याज्यवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप धर्म का ग्रहण ही नहीं हुआ। अतः यावद्विशेषाभावों और उनके परस्पर भेदों का ज्ञान होने पर व्याज्यवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप धर्म का ज्ञान होगा और व्यासज्यवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप धर्म का ज्ञान होने पर उससे अवच्छिन्न यावद्विशेषाभावकूट का ज्ञान होगा। इस प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष होने के कारण और अतिगौरवदोष होने से विशेषाभाववादी का मत असङ्गत है। इसलिए यावद्विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव को स्वीकार करना उचित ही है। इस प्रकार से जब सामान्याभाव प्रामाणिक सिद्ध हो गया तब उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है।।२८।।

समाधान— पीछे विशेषाभाववादी और सामान्याभाववादी के मतों को स्पष्ट करने के लिए उनके मतों का उल्लेख किया गया। अब अद्वैतवादी का क्या मत है? इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सामान्याभाव का प्रामाणिकत्व सिद्ध होने पर और पूर्वोक्त प्रकार से जब

धियो ज्ञानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताको न विषय इति सिद्धं नः समीहितम्। न हि प्रागभावोऽपि कश्चित्सामान्याभावोऽस्ति, येन तत्प्रतियोगिता सामान्यधर्मेणावच्छिद्येत, विशेषाभावप्रतियोगिता तु तत्तद्घटत्वादिना विशेषेणावच्छिद्यते। न च तेन तेन रूपेण भविष्यद्घटादि ज्ञातुं शक्यम्, तज्जन्मानन्तरं तु तत्तद्रूपेण तज्ज्ञानसम्भवेऽपि न प्रागभावधीःप्रत्यक्षा स्यात्, तदानीं प्रागभावासत्त्वात्, प्रत्यक्षस्य विषयजन्यत्वात्। सामान्यप्रकारकज्ञानं च न विशेषाभावज्ञाने हेतुरित्युक्तम्, प्रतियोगितावच्छेदक– प्रकारकप्रतियोगिज्ञानस्याभावत्वप्रकारकाभावज्ञाने हेतुत्वात्, तस्यानुमानगम्यत्वेऽपि 'न जानामि' इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्ध कर दिया गया कि सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन विशेषाभाव की प्रतीति नहीं हो सकती है, तब ''न जानामि'' इत्यात्मक प्रतीति को ज्ञानत्वरूपसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकज्ञानविशेषप्रागभाव विषयक नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार से भावरूप अज्ञानवादी अद्वैतवेदान्ती का अभीष्ट भावरूप अज्ञान ही सिद्ध हुआ। [कहने का आशय यह है कि ''न जानामि'' ''मयि ज्ञानं नास्ति'' इत्यादि प्रतीतियों का विषय ज्ञानसामान्याभाव माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर व्याघातदोष होगा। इसका स्पष्टीकरण पीछे खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है। उक्त प्रतीतियों का विषय सामान्याधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन विशेषाभाव भी माना नहीं जा सकता। इसको खण्ड संख्या २७ और २८ में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः उक्त प्रतीतियों का विषय अस्मत्सिद्धान्त अभिप्रेत भावरूप अज्ञान ही सिद्ध हुआ। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] प्रागभाव भी कोई सामान्याभाव होता नहीं है। यदि प्रागभाव को सामान्याभाव माना जाता तब उसकी प्रतियोगिता सामान्यधर्म से अवच्छिन्न होती किन्तु प्रागभाव को सामान्याभाव माना नहीं जाता है। अतः उसकी प्रतियोगिता सामान्यधर्म से अवच्छिन्न भी नहीं होती है। अतः सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक प्रागभाव का प्रत्यक्ष माना नहीं जा सकता है। प्रागभाव को विशेषाभाव के रूप से माना जाता हैं विशेषाभावीय प्रतियोगिता तत्तद् घटत्वादि विशेषधर्म से अवच्छिन्न होती है। तत्तद्विशेषघटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न भावी घटादि का ज्ञान हो नहीं सकता है, क्योंकि भावी घटादि की उत्पत्ति ही नहीं हुयी है। अतः विशेष धर्मावच्छिन्नप्रतियोगी का ज्ञान न होने से विशेषाभाव के रूप से भी प्रागभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। भावी घटादि के उत्पत्ति के अनन्तर तत्तद्विशेषघटत्वादि धर्म से अवच्छिन्न तत्तद्विशेषघटादि (प्रतियोगी) का ज्ञान होने पर भी प्रागभाव का प्रत्यक्षज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि तत्तद्विशेषघटादि के प्रागभाव के प्रतियोगी तत्तद्विशेषघटादि की उत्पत्ति होते ही तत्तद्विशेषघटादि का प्रागभाव ही नहीं रहता है। प्रागभाव के न रहने के कारण प्रागभाव का प्रत्यक्षज्ञान हो नहीं सकता है, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान वर्तमान विषय से जन्य होता है। सामान्यप्रकारकप्रतियोगी का ज्ञान विशेषाभाव (प्रागभाव) के ज्ञान के प्रति कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रतियोगी विशेष (तद्घटादि) में विद्यमान विशेष धर्म (तत्तद् घटत्वादि) ही विशेषाभावीय प्रतियोगिता के अवच्छेदक माने जाते हैं और उन्हीं अवच्छेदकों से अवच्छिन्न प्रतियोगी का ज्ञान अभावत्वप्रकारक अभाव के प्रत्यक्षज्ञान का हेतु होता है। यह पीछे खण्ड संख्या ७ में कहा जा चुका है। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रागभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मानेंगे अपितु प्रागभाव का अनुमिति ज्ञान मानेंगे। प्रागभाव के अनुमितिज्ञान के लिए प्रागभाव के प्रतियोगी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होगी, क्योंकि अनुमिति ज्ञान के लिए लिङ्गादि ज्ञान की अपेक्षा होती है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रागभाव अनुमानगम्य होने पर भी ''न जानामि'' इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय प्रागभाव नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि कपालादि में घटादि का प्रागभाव है—इसको सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी के पास कोई सद् हेतु भी उपलब्ध

धियोऽपरोक्षायास्तद्विषयत्वायोगात्। अव्यभिचारिलिङ्गाद्यभावात्तदनुमानमपि दूरनिरस्तमेव।।२९।।

ननु— 'इदं मा भूत्' इतीच्छाविषयतया तत्सिद्धिः, न, प्रागभावस्य स्वरूपतोऽसाध्यत्वेन प्रतियोगिजनकविघटनेन तत्सम्बन्धस्येवात्यन्ताभावसम्बन्धस्यापि साध्यत्वात्तेनैवान्यथासिद्धेः।।३०।।

अथ— उत्पन्नस्य द्वितीयक्षणे पुनरुत्पत्त्यभावात्तत्पूर्वक्षणे सामग्र्यभावो वाच्यः, स च

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है। अतः अनुमान के द्वारा भी प्रागभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है।।२९।।

शङ्का— "अनिष्टवस्तु की प्राप्ति न हो (अपितु इष्टवस्तु की प्राप्ति हो)" इस प्रकार की इच्छा से शुभकर्मों के अनुष्ठान के लिए व्यक्ति की प्रवृत्ति मानी जाती है। ऐसी इच्छा का विषय अनिष्टवस्तु का प्रागभाव होता है। यदि प्रागभाव की असिद्धि है तब अनिष्टवस्तु के प्रागभावविषयक इच्छा भी नहीं हो सकती है, क्योंकि अज्ञात वस्तु की इच्छा होती नहीं है। जबकि उक्त प्रकार से इच्छा होती है। अतः उक्त इच्छाविषयत्वेन प्रागभाव की सिद्धि माननी होगी।

समाधान— "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय से यदि उक्त इच्छा का विषय अनिष्टवस्तु का प्रागभाव मान भी लिया जाय तो भी वह प्रागभाव स्वरूप से तो प्रयत्न से साध्य (उत्पन्न करने योग्य) नहीं होता है, क्योंकि प्रागभाव को अनादि माना जाता है। अतः उक्त इच्छा का विषय स्वरूपतः प्रागभाव नहीं बन सकता है किन्तु अनिष्टवस्तु के प्रागभाव का इच्छा करने वाले व्यक्ति के साथ जो सम्बन्ध है। वह ही उक्त इच्छा का विषय माना जा सकता है, क्योंकि इच्छा करने वाला व्यक्ति यह चाहता है कि इस समय जैसे अनिष्टवस्तु के प्रागभाव का सम्बन्ध है, वैसे ही आगे भी उक्त सम्बन्ध बना रहे। अतः उक्त इच्छा का विषय अनिष्टवस्तु के प्रागभाव का सम्बन्ध हुआ न कि स्वरूपतः प्रागभाव। अनिष्टवस्तु के प्रागभाव का सम्बन्ध इच्छा करने वाले व्यक्ति के साथ भविष्य में भी कैसे बना रह सकता है? इसके उत्तर में कहा गया—प्रतियोगिजनकविघटनेन। अर्थात् अनिष्टवस्तु के प्रागभाव का प्रतियोगी अनिष्टवस्तु उसका जनक नित्यकर्म का अननुष्ठान या पाप कर्म का अनुष्ठान। अनिष्ट के जनक का विघटन यदि हम कर दें। अर्थात् नित्य कर्म करते रहें और पाप कर्म न करें तो अनिष्ट नहीं उत्पन्न होगा और अनिष्ट के प्रागभाव का अपने से सम्बन्ध बना रहेगा। अतः अनिष्टवस्तु के प्रागभाव के प्रतियोगी के जनक के विघटन के द्वारा जैसे उक्त प्रागभाव का सम्बन्ध साध्य हो सकता है ठीक वैसे ही नित्य होने के कारण अनिष्ट वस्तु का अत्यन्ताभाव स्वरूपतः साध्य न होने पर भी अनिष्टवस्तु के अत्यन्ताभाव का इच्छा करने वाले व्यक्ति के साथ जो सम्बन्ध है। वह भी अनिष्टवस्तु के अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी के जनक के विघटन के द्वारा साध्य हो ही सकता है। अतः उक्त प्रागभाव का सम्बन्ध अन्यथासिद्ध है, क्योंकि अत्यन्ताभाव सर्वसम्मत है। अतः उक्त अत्यन्ताभाव के सम्बन्ध से ही उक्त इच्छा की उपपत्ति हो जायेगी। अतः उक्त इच्छा की उपपत्ति के लिए उक्त प्रागभाव का सम्बन्ध मानना व्यर्थ है। इसलिए उक्त इच्छा विषयत्वेन भी प्रागभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है।।३०।।

शङ्का— [यह नियम है कि सामग्री जिस क्षण में विद्यमान होती है, उसके अव्यवहित द्वितीय क्षण में कार्य उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में घट के उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वक्षण में सामग्री की वर्तमानता में कोई विवाद नहीं है, किन्तु प्रश्न होता है कि वह सामग्री घट उत्पत्ति के आद्यक्षण में विद्यमान है? अथवा नहीं? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर घट उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में भी पुनः घट की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि सामग्री के होने पर उसके अव्यवहितक्षण में कार्य होता है। अतः द्वितीय पक्ष को ही स्वीकार करना पड़ेगा। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि] उत्पन्न

प्रागभावाभावादेव, अन्यहेतूनां सत्त्वादिति— चेन्न, सामयिकात्यन्ताभावेनैवान्यथासिद्धेः, उत्पन्नस्यैव स्वोत्पत्तिविरोधित्वाच्च।।३१।।

अपि च सामग्री कार्यसत्त्वे प्रयोजिका, न तु तस्याद्यकालसम्बन्धरूपोत्पत्तावपि। आद्यकालसम्बन्धो

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो घट है उसकी पुनः द्वितीय क्षण में उत्पत्ति न होने से घटोत्पत्ति के द्वितीय क्षण के पूर्वक्षण (घटोत्पत्ति के आद्यक्षण) में सामग्री का अभाव कहना होगा। वह सामग्री का अभाव प्रागभाव के अभाव से ही उपपन्न होगा, क्योंकि प्रागभाव को छोड़कर घट के जनक चक्र, चीवर, कुलालादि तो घटोत्पत्ति के आद्यक्षण में विद्यमान ही है। अतः सामग्री का अभाव प्रागभाव के न होने से ही सिद्ध होता है। अतः प्रागभाव को मानना आवश्यक है—यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि समयविशेषावच्छिन्न अत्यन्ताभाव से ही प्रागभाव अन्यथासिद्ध हो जाता है। [कहने का आशय यह है कि प्रागभाव को घट का जनक न मानकर पूर्वक्षणावच्छिन्न घट के अत्यन्ताभाव (सामयिक—अत्यन्ताभाव) को अव्यवहित उत्तरक्षणावच्छिन्न घट का जनक मानने से ही उत्पन्न घट की द्वितीय क्षण में पुनः उत्पत्ति का अभाव जब सिद्ध हो जाता है, तब पुनः द्वितीयक्षण में घट की उत्पत्ति के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रागभाव को मानना व्यर्थ है, क्योंकि घट के उत्पन्न हो जाने से सामयिक—अत्यन्ताभाव नष्ट हो जाता है और उसके नष्ट हो जाने से घट उत्पत्ति के आद्यक्षण में सामग्री के अभाव की सिद्धि हो जाने से घटोत्पत्ति के द्वितीय क्षण में पुनः घट के उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं होगा।] दूसरी बात यह भी है कि प्रथम क्षण में उत्पन्न घट ही द्वितीय क्षण में पुनः अपनी उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होता है, क्योंकि समवायिकरण (कपाल) में जब तक एक कार्य (प्रथम क्षण में उत्पन्न घट) विद्यमान रहता है तब तक उसी समवायिकरण (कपाल) से पुनः दूसरा घट द्वितीय क्षण में उत्पन्न नहीं हो सकता है।।३१।।

[पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि प्रागभाव को न मानने पर घटोत्पत्ति के आद्यक्षण में प्रागभाव से अतिरिक्त सामग्री के विद्यमान रहने के कारण घटोत्पत्ति के द्वितीय क्षण में पुनः घट के उत्पत्ति की आपत्ति होगी। इस तर्क में पूर्वपक्षी ने सामग्री को कार्य उत्पत्ति के प्रति प्रयोजक माना था। उसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] सामग्री केवल कार्य के सत्त्व के प्रति प्रयोजिका है, कार्य के आद्यकाल के साथ सम्बन्ध रूप उत्पत्ति के प्रति प्रयोजिका नहीं है। कार्य के आद्यकाल के साथ सम्बन्धरूप उत्पत्ति के प्रति सामग्री प्रयोजिका क्यों नहीं है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि कार्य के आद्यकाल के साथ सम्बन्धरूप उत्पत्ति का अर्थ होता है— स्वसमानकालीन—पदार्थध्वंसानाधारकालाधारत्वम्। [कार्यसमानकालीनाः ये पदार्थाः तेषां ध्वंसाः। तेषां ध्वंसानामनाधारभूतः यः कालः। सः कालः आधारो यस्य तत्त्वम्। कार्य के आद्यक्षण के पूर्वक्षण में जितने पदार्थ थे, उनमें से कुछ पदार्थों का ध्वंस तो कार्य के आद्यक्षण में हो जायेगा। अतः उन ध्वस्त पदार्थों को कार्यसमान कालीन नहीं माना जा सकता है। कार्य के समानकालीन पदार्थ तो कार्य के आद्यक्षण में उत्पन्न होने वाले पदार्थ हो सकते हैं या नित्य पदार्थ हो सकते हैं। नित्य पदार्थ का ध्वंस होता नहीं है अपितु अनित्यपदार्थ का ध्वंस होता है किन्तु अनित्यपदार्थों का भी ध्वंस आद्यक्षण (जिस क्षण में वे सब उत्पन्न हुए हैं) में नहीं हो सकता है, किन्तु द्वितीयादि क्षण में उनका ध्वंस होगा। इस प्रकार से द्वितीयादि क्षण कार्य के समानकालीन पदार्थों के ध्वंस का आधार काल होगा, न कि अनाधारकाल। केवल आद्यक्षण ही कार्य के समानकालीन पदार्थों के ध्वंस का अनाधार काल है। इस प्रकार कार्य के आद्यकाल के साथ सम्बन्ध रूप उत्पत्ति के लक्षण की अतिव्याप्ति कार्योत्पत्ति के पूर्वक्षणों में और

हि स्वसमानकालीनपदार्थध्वंसानाधारकालाधारत्वम्। तत्र सामग्री कार्यस्य कालाधारत्वांशमात्रे प्रयोजिका, न तु विशेषणांशेऽपि, तस्य तादृक्पदार्थध्वंससामग्रीविरहादेव सिद्धेः। पाकजरूपादिभेदोऽप्यग्निसंयोगभेदात् पूर्वरूपादिध्वंसभेदाद्वा, न तु प्रागभावभेदात्, प्रतियोगिभेदं विना प्रागभावभेदायोगाच्च।।३२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कार्योत्पत्ति के उत्तरक्षणों में नहीं होगी।] तत्र= कार्य के आद्यकाल के साथ सम्बन्धरूप उत्पत्ति के लक्षण में (विशेषण भाग है—स्वसमानकालीनपदार्थध्वंसानाधारत्व और विशेष्य भाग है—कालाधारत्व।) सामग्री कार्य के कालाधारत्वरूप विशेष्यांश में प्रयोजिका है, स्वसमानकालीनपदार्थध्वंसानाधारत्व रूपविशेषणांश में प्रयोजिका नही है, क्योंकि उक्त ध्वंस की अनाधारता ध्वंस सामग्री के अभाव से ही सिद्ध हो जायेगी। इस प्रकार से जब यह सिद्ध कर दिया गया कि सामग्री कार्योत्पत्ति की प्रयोजिका नहीं होती है तब पूर्वपक्षी जो यह कह रहा है कि कार्य के उत्पत्ति के द्वितीय क्षण में प्रागभाव को छोड़कर शेष सामग्री है और सामग्री कार्योत्पत्ति के प्रति हेतु है। अतः सामग्री के होने से कार्य के पुनः उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा। अतः प्रागभाव को मानना चाहिए। इसका खण्डन हो गया। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि किसी एक ही घट के साथ अग्नि संयोग होने पर उस घट में विभिन्न रूपरसादि उत्पन्न होते हैं। ये जो पाकज रूप रस गन्ध स्पर्श विभिन्न कार्य एक ही घट में उत्पन्न हुए। उन कार्यों के भेद के प्रति कारणों में भेद मानना होगा, क्योंकि कारण में भेद के बिना कार्य में भेद हो नहीं सकता है। समवायिकरण में भेद नहीं है, क्योंकि उक्त पाकजरूपरसादि का समवायिकरण एक ही घट है और असमवायिकरण घटाग्निसंयोग भी एक ही है। अतः बाध्य होकर पाकजरूपादि कार्यों में भेद की सिद्धि के लिए पाकजरूपादि चार कार्यों के प्रति चार भिन्न—भिन्न पाकजरूपादि के प्रागभाव को हेतु मानना पड़ेगा। इस प्रकार से प्रागभाव की सिद्धि हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विचार न करने पर अग्निसंयोग एक ही प्रतीत होने पर भी वस्तुतस्तु अग्निसंयोग अनेक है, क्योंकि अग्नि के अनेक अवयव है। अग्नि के उन अवयवों के साथ भी घट का संयोग ही है। अतः अग्निसंयोग भिन्न—भिन्न है।] अग्नि संयोग के भेद के द्वारा पाकज रूप रस गन्ध और स्पर्श में भी भेद सिद्ध हो जायेगा। अतः पाकजरूपादि में भेद के लिए भिन्न—भिन्न प्रागभाव मानना व्यर्थ है। [यदि कहा जाय कि पार्थिव परमाणु के साथ तेजः परमाणु रूप अग्नि का संयोग एक ही है, क्योंकि तेजः परमाणुरूप अग्नि निरवयव है। अतः अग्नि के नाना अवयव मानकर नाना अग्निसंयोग की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस अरुचि के कारण सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] अग्नि संयोग से घटादि में पाकज नवीन रूपादि की उत्पत्ति होने पर पूर्व रूपादि चारों का चार ध्वंस उत्पन्न होते हैं। उन चार ध्वंसों के पारस्परिक भेद से पाकजरूपादि में पारस्परिक भेद सिद्ध हो जायेगा। अतः पाकजरूपादि में पारस्परिक भेद की सिद्धि के लिए भिन्न—भिन्न प्रागभाव मानने की आवश्यकता नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि पूर्वपक्षी पाकजरूपादि के चार प्रागभाव मानता है तब भी पूर्वपक्षी को चार प्रागभावों में पारस्परिक भेद सिद्ध करने के लिए चार प्रागभावों के प्रतियोगियों में भेद मानना पड़ेगा, क्योंकि प्रतियोगी के भेद के विना अभावों में भेद सिद्ध नहीं होता है। अतः पूर्वपक्षी के मत में अन्योन्याश्रयदोष होगा—पाकजरूपादि प्रतियोगियो में भेद सिद्ध होने पर पाकजरूपादि के प्रागभाव में भेद सिद्ध होगा और पाकजरूपादि के प्रागभाव में भेद सिद्ध होने पर पाकजरूपादि प्रतियोगियों में भेद सिद्ध होगा। पूर्वपक्षी के मत में गौरवदोष भी होगा, क्योंकि पूर्वपक्षी को पूर्वरूपादि का ध्वंस और उनमें भेद के साथ—साथ प्रागभाव और उनमें भेद मानना पड़ रहा है। जबकि सिद्धान्त मत में पूर्वरूपादि का ध्वंस और उनमें भेद ही मानना पड़ रहा है।।३२।।

नाप्युपादानत्वव्यवस्था तत्र मानम्, तन्तुत्वादिनैव तत्सिद्धेः। अन्यथा प्रागभावस्य सम्बन्धिविशेषोऽपि कुतः सिद्ध्येत्? न च तदत्यन्ताभाववतः कथं तदुपादानत्वम्? सम्बन्धान्तरेण त्वयाप्यभ्युपगमात्समयावच्छेदतदनवच्छेदाभ्यां वैलक्षण्याभ्युपगमाच्चेत्यलमतिविस्तरेण।।३३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जिसमें जिसका प्रागभाव रहता है वह उसका उपादान कारण होता है। जैसे तन्तु में पट का प्रागभाव है। अतः तन्तु पट का उपादानकारण होता है। इस प्रकार से उपादानत्व की व्यवस्था ही प्रागभाव के सत्त्व में प्रमाण है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि तन्तु में तन्तुत्व के रहने से ही तन्तु में पटोपादनत्व सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् जिसमें तन्तुत्व रहता है वह पट का उपादानकारण होता है। इस प्रकार से उपादानत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अतः उपादानत्व की उपपत्ति के लिए प्रागभाव को मानना अनुचित है। अन्यथा—सिद्धान्ती के द्वारा उक्त उपादानता की व्यवस्था का प्रयोजक स्वीकार न करके पूर्वपक्षी के द्वारा कथित प्रागभाव को ही उपादानता की व्यवस्था का प्रयोजक मानने पर, प्रागभाव का सम्बन्ध विशेष भी किससे सिद्ध होगा? [कहने का भाव यह है कि तन्तु में पट का प्रागभाव है कपाल में नहीं। इस प्रकार से तन्तु पट प्रागभाव का सम्बन्धी है और कपाल पट प्रागभाव का सम्बन्धी नहीं है—इस प्रकार से प्रागभाव के सम्बन्धिविशेष का निर्धारण नहीं हो सकता है, क्योंकि तन्तु में पटप्रागभाव का व्यवस्थापक जिसको माना जायेगा। उसका भी व्यवस्थापक किसी अन्य को मानना पड़ेगा। इस प्रकार से अनवस्था होगी। इस अनवस्थादोष की निवृत्ति के लिए पूर्वपक्षी को यही मानना होगा कि जिसमें तन्तुत्व है। उसमें पटप्रागभाव है। तब तो तन्तुत्व को ही साक्षात् पटोपादानता के व्यवस्था का प्रयोजक मान लेना ही उचित है। पटोपादानत्व के लिए पटप्रागभाव को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रागभाव को स्वीकार न करने पर कार्य उत्पत्ति के पूर्व उपादानकारण में कार्य का जो अभाव रहता है उसको अत्यन्ताभाव ही मानना पड़ेगा किन्तु कार्य के अत्यन्ताभाव वाले पदार्थ को कार्य का उपादानकारण नहीं माना जाता है। जैसे घटात्यन्ताभावाले तन्तु को घट का उपादानकारण नहीं माना जाता है अपितु तन्तु में रहने वाले घटात्यन्ताभाव को तन्तु से घट के उत्पत्ति में प्रतिबन्धक माना जाता है।

समाधान— पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि—जिसमें जिसका अत्यन्ताभाव रहता है वह उसका उपादानकारण नहीं हो सकता है। इस नियम में व्यभिचारदोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी भी तन्तु में समवाय से भिन्न संयोगसम्बन्ध के पट का अत्यन्ताभाव मानता है और तन्तु को पट का उपादान कारण भी मानता है। अतः कार्यात्यन्ताभाववाला पदार्थ कार्य का उपादान कारण नहीं हो सकता है—ऐसा पूर्वपक्षी नियम नहीं बना सकता है। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि पटात्यन्ताभाव मात्र को पटोपादानत्व का प्रतिबन्धक नहीं मानते हैं किन्तु सम्बन्धान्तर (समवाय) से पटात्यन्ताभाव को पटोपादानत्व का प्रतिबन्धक मानते हैं। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ठीक वैसे ही सिद्धान्त मत में भी व्यवस्था बन जायेगी। जैसे] समयानवच्छिन्न अत्यन्ताभाव (सार्वदिक अत्यन्ताभाव) को उपादानता का प्रतिबन्धक और (प्रागभावस्थानापन्न अत्यन्ताभाव) समयावच्छिन्न अत्यन्ताभाव को उपादानता का साधक मानते हैं, तन्तु में घट का अत्यन्ताभाव समयानवच्छिन्न होने के कारण घटोपादानत्व नहीं होता और ''इदानीं कपालेषु न घटः'' इस प्रतीति का विषयीभूत कपाल में जो घट का अत्यन्ताभाव है। वह समयविशेषावच्छिन्न अत्यन्ताभाव होने के कारण घटोपादानत्व होता हैं इस प्रकार से प्रागभाव का खण्डन हो गया। इसके खण्डन के लिए अतिविस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है।।३३।।

एवं सामान्याभावोऽपि गौरवपराहत एव। तथा हि— सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं अभावः तस्य च तत्तदधिकरणसम्बन्धा इति त्रयं वा कल्प्यताम्? क्लृप्ततत्तदधिकरणसम्बन्धानामेका—धिकरणवृत्तित्वावच्छेदेन सिद्धानामभावनां सामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं, तस्य च व्यासज्यवृत्तित्वमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

इसी प्रकार यावद्विशेषाभव से अतिरिक्त सामान्याभाव को भी गौरवदोष होने के कारण माना नहीं जा सकता है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सामान्याभाववादी को सामान्यधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व धर्म, इस धर्म का आश्रय विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव धर्मी और सामान्याभाव का तत्तदधिकरणों के साथ अनन्त सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती है। (जैसे वायु में रूपसामान्याभाव रहता है। वह कार्यरूपवायु तो अनेक हैं। उन अनेकों वायु के साथ में रूपसामान्याभाव का अनेक सम्बन्ध होगा।) इस प्रकार से तीन पदार्थों की कल्पना करनी पड़ रही है। जबकि यावद्विशेषाभावकूट से अतिरिक्त सामान्याभाव नहीं होता है। इस प्रकार मानने वाले विशेषाभाववादी के पक्ष में नियत तत्तदधिकरणों के साथ सम्बन्ध रखने वाले और एकाधिकरणवृत्तित्वावच्छिन्न होकर सिद्ध तथा दोनों पक्षों (विशेषाभाववादी और सामान्याभाववादी) से स्वीकृत यावद्विशेषाभावों का सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्म और उसकी व्यासज्यवृत्तिता—इन दो पदार्थों की ही कल्पना करनी पड़ रही है। [विशेषाभाववादी के कथन का तात्पर्य यह है कि सामान्याभाववादी को भी वायु में नीलरूप नहीं है, पीतरूप नहीं है—इस प्रकार की प्रतीति के आधार पर एक ही वायु अधिकरण में रहने वाले तत्तद्रूपों के अभाव को अर्थात् विशेषाभाव को मानना ही पड़ेगा और कार्यरूपवायु नाना होने के कारण उन विशेषाभावों का अपने—अपने अधिकरणों के साथ भिन्न—भिन्न सम्बन्ध भी मानने होंगे। इतनी कल्पना सामान्याभाववादी और विशेषाभाववादी दोनों को ही करनी पड़ रही है। विशेषाभाववादी के मत में नवीन कल्पना यह है कि विशेषाभावों में सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्म रहता है और वह धर्म व्यासज्यवृत्तितया रहता है। इस प्रकार दो की कल्पना करनी पड़ रही है। लाघव होने के कारण इन दोनों पक्षों में से उत्तर पक्ष ही प्रेक्षावान् लोगों को रुचिकर होता है। द्वितीय पक्ष युक्ति और अनुभवगम्य भी है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''आद्यक्षणे घटो नीरूपः'' यह प्रतीति सर्वमत सिद्ध है। इस प्रतीति का विषय सामान्यधर्मावाच्छिन्न विशेषाभाव से अतिरिक्त रूपसामान्याभाव नहीं हो सकता है, क्योंकि नैयायिक उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न घट में जिन भावी रूपों का प्रागभाव मानता है, उन रूपों का अत्यन्ताभाव उसी घट में नहीं मानता है, क्योंकि जिसका जहां प्रागभाव होता है, उसका वहीं पर सार्वदिक अत्यन्ताभाव नहीं माना जाता है। अतः ''आद्यक्षणे घटो नीरूपः'' इस प्रतीति का विषय सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक विशेषाभाव ही मानना उचित है। यावदाश्रय का ज्ञान और यावदाश्रयों के भेद का ज्ञान द्वित्वादि व्यासज्यवृत्ति धर्मों के ज्ञान में कारण होने पर भी सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व रूप व्यासज्यवृत्ति धर्म के ज्ञान में कारण नहीं माना जाता है, क्योंकि कार्य (फल) के द्वारा कल्पनीय कारणत्वादि धर्मों की वहां ही कल्पना होती है, जहां उनका कार्य (फल) उपलब्ध होता है। [कहने का आशय यह है कि कार्य के प्रति जो हेतु जिस प्रकार से देखा जा जाता है उसी प्रकार से उस हेतु की कल्पना की जाती है। दृष्टान्त में व्यासज्यवृत्ति द्वित्व के ज्ञान के प्रति उसके आश्रय दो पदार्थों का ज्ञान और उन दोनों पदार्थों के भेद के ज्ञान को हेतु के रूप से देखा गया है। अतः व्यासज्यवृत्ति द्वित्व के ज्ञान के प्रति उनको हेतु के रूप से माना जा सकता है, किन्तु प्रकृत में व्यासज्यवृत्ति सामान्यधर्मावच्छिन्न—प्रतियोगिताकत्व के ज्ञान के प्रति सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के आश्रय यावद्विशेषाभाव

द्वयं वा कल्प्यताम्। तत्रोत्तरः पक्ष एवं प्रेक्षावद्भ्यो रोचते, आद्यक्षणे 'घटो नीरूपः' इति प्रतीतेः सर्वसिद्धत्वाद्, यावदाश्रयतद्भेदग्रहस्य द्वित्वादिग्रहे हेतुत्वेऽपि उक्तप्रतियोगिताग्रहे हेतुत्वानभ्युपगमात्, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्नयनात्।।३४।।

न चैवं—अतिलाघवात् क्लृप्तानामधिकरणानामेवाभावधीहेतुत्वमस्तु, किं विशेषाभावैरपीति—

सत्यानन्दप्रबोधिका

और उनका पारस्परिक यावद् भेद का ज्ञान अल्पज्ञ व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। अतः व्यासज्यवृत्ति सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के ज्ञान के प्रति सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व के आश्रय यावद्विशेषाभाव का ज्ञान और उनके पारस्परिक भेद के ज्ञान को हेतु के रूप में नहीं माना जा सकता हैं इस पर प्रश्न होता है कि जब व्यासज्यवृत्ति पदार्थों के ज्ञान के प्रति जो हेतु है। उन हेतुओं से उक्त प्रतियोगिताकत्व धर्म का ग्रहण नहीं हो रहा है। तब उक्त प्रतियोगिताकत्व को कैसे व्यासज्यवृत्ति धर्म मान रहे हो? इसेक समाधान में कहा गया कि ''उत्पन्नं क्षणं द्रव्यं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति'' इस नियम के अनुसार उत्पन्न पट आद्यक्षण में निर्गुण (नीरूप) रहता है। अर्थात् रूपत्वसामान्य—धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव का ग्रहण आद्यक्षणविशिष्ट पट में होता है। इस प्रकार से आद्यक्षणविशिष्ट पट में यावद्रूपविशेषाभाव रहता है और उसमें व्यासज्यवृत्ति होकर स्थित रूपत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्म का ग्रहण होता है, किन्तु उक्त प्रतियोगिताकत्व धर्म के ज्ञान के पहले उक्त प्रतियोगिताकत्व धर्म के आश्रय यावद्रूप विशेषाभाव और उनके भेद का ज्ञान अल्पज्ञ व्यक्ति को हो नहीं सकता है। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि व्यासज्यवृत्ति द्वित्वादि के ज्ञान में उनके आश्रय और उनके भेद का ज्ञान हेतु होने पर भी व्यासज्यवृत्ति सामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्म के ज्ञान के प्रति उक्त धर्म का आश्रय और उनके भेद का ज्ञान हेतु नहीं है, क्योंकि जैसा कार्य देख जाता है। उसके अनुसार ही उसके कारण की कल्पना की जाती है। ''कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्नयनात्।'' इसका अर्थ इस प्रकार से है। कार्य= आद्यक्षणे घटो नीरूपः—ऐसा प्रत्यक्ष। उसको देखकर उन्नेय धर्म=कल्पनीयधर्म= रूपत्वसामान्यधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व धर्म, उसका, यथा= यावद् आश्रयप्रत्यक्ष और यावद् आश्रयों का भेद प्रत्यक्ष से अनपेक्षित होकर जो कार्य= ''आद्यक्षणे घटो नीरूपः'' यह प्रत्यक्ष होता है। इस प्रत्यक्ष के अनुसार ही, उन्नयनात्= यावद् आश्रय का ज्ञान और उनके भेद का ज्ञान से अनपेक्षित व्यासज्यवृत्तिरूपत्वसामान्यधर्मावच्छिन्न—प्रतियोगिताकत्व धर्म की कल्पना होती है]।।३४।।

शङ्का— एवम्= लाघव के बल से विशेषाभावकूट से अतिरिक्त सामान्याभाव को स्वीकार न करने पर, अतिलाघव के बल पर क्लृप्त जो विशेषाभावों के अधिकरण है, उन अधिकरणों को ही अभाव बुद्धि का हेतु मान लेना चाहिए। अभावबुद्धि की हेतुता के रूप से विशेषाभावों को भी नहीं मानना चाहिए? [कहने का आशय यह है कि पीछे सिद्धान्ती ने कहा था कि विशेषाभाव को विशेषाभाववादी और सामान्याभाववादी दोनों को मानना आवश्यक ही है तब विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव मानना व्यर्थ है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि विशेषाभाव जो लोग मानते हैं उनको भी विशेषाभावों का अधिकरण मानना ही होगा और जो लोग अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं उनको भी अधिकरण मानना ही होता है। तब अधिकरण से अतिरिक्त अभाव को मानना व्यर्थ हैं अधिकरण को ही अभाव बुद्धि का हेतु मान लेना चाहिए।]

समाधान—प्रपञ्चाभाव को अधिकरण (ब्रह्म) स्वरूप मानने वाले सिद्धान्ती का कथन है कि अभावों को यदि अधिकरणस्वरूप माना जाता है तो हमको इष्टापत्ति है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता

वाच्यम्, अस्माकमिष्टापत्तेः, घटाभावो नेत्यादावतिरिक्ताभावस्य त्वयाप्यनभ्युपगमेन भावस्याप्यभावत्व–प्रकारकप्रमाहेतुत्वस्योभयवादिसिद्धत्वात्।।३५।।

यदपि कश्चिदाहप्रतियोगितावच्छेदकभेदस्याभावभेदनियामकत्वाद्विशेषाभावान्यसामान्या–भावसिद्धिः, अन्यथा अभावभेदासिद्धेः, प्रतियोगिभेदस्याभावभेदकत्वे एकघटप्रतियोगिकस्य प्रागभावादिचतुष्टयस्याभेदप्रसङ्गाद्, अवच्छेदकभेदात्तु तद्भेदे न कोऽपि दोषः, क्वचित्तादात्म्यस्य क्वचित्संसर्गस्य क्वचित् पूर्वापरकालीनतत्तद्घटत्वादेश्च भेदात्–इति।।३६।।

तन्न, संसर्गप्रतियोगिविशेषणसाधारणस्यैकस्यावच्छेदकत्वस्य दुर्वचत्वात्, तादात्म्यादेश्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

है कि अभावाधिकरण भाववस्तु है। भाववस्तु अभावप्रतीति का विषय नहीं हो सकती है, क्योंकि भाव और अभाव में वैलक्षण्य होता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''घटाभावो नास्ति'' इस प्रतीति के विषयीभूत घटाभावाभाव स्थल पर प्रथमाभाव (घटाभाव) के प्रतियोगी (घट) से अतिरिक्त द्वितीयाभाव (घटाभावाभाव) को पूर्वपक्षी भी नहीं मानता है, अपितु घटस्वरूप ही मानता है। इसलिए भाववस्तु में अभावत्वप्रकारक प्रमा की हेतुता उभयवादी सिद्ध ही है। [अर्थात् पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों ही घटाभावाभाव इत्याकारिका प्रतीति घट को विषय करती हुयी अभावत्वप्रकारक मान रहे हैं, तब अभावत्वप्रकारक प्रमा के प्रति भावरूप घट हेतु है। यह सिद्ध हो गया। इसी प्रकार सर्वत्र अभावों के अधिकरणों में भी अभावत्वप्रकारकधीविषयत्व रह सकता है। अतः अभावों को अधिकरण स्वरूप मानने पर कोई अनुपपत्ति नहीं है।]।।३५।।

शङ्का– सामान्याभाव का समर्थन करने वाले सामान्याभाववादी का कथन है कि प्रतियोगितावच्छेदक धर्मों का भेद अभावभेद का नियामक होने के कारण विशेषाभाव से भिन्न सामान्याभाव सिद्ध होता है। [अर्थात् विशेषाभाव (तद्घटादि) जहां होता है, वहां विशेषाभावीयप्रतियोगितावच्छेदक तद्घटत्वादि होते हैं और सामान्याभाव (घटाभाव) जहां होता है, वहां सामान्याभावीयप्रतियोगितावच्छेदक घटत्वादि होते है। विशेष धर्म (तद्घटत्व) और सामान्य धर्म (घटत्व) एक ही नहीं होते हैं। अपितु, भिन्न–भिन्न होते हैं, इसलिए इनके भेद से ही अभावों में भेद सिद्ध होता है। अतः इस युक्ति के आधार पर विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव सिद्ध होता है।] अन्यथा– प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभावों में भेद न मानकर प्रतियोगी के भेद से अभावों में भेद मानने पर अभावों में परस्पर भिन्नत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसी को स्पष्ट करते हुए सामान्याभाववादी कह रहा है कि प्रतियोगी के भेद को अभावों का भेदक मानने पर एक घटप्रतियोगिक जो प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव है। इन चारों में अभेद की आपत्ति होगी, क्योंकि प्रतियोगी में भेद ही नहीं है। प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभावों में परस्पर भेद मानने पर कोई भी दोष नहीं होगा, क्योंकि एक घट प्रतियोगिक प्रागभावादि चारों अभावों का एक ही घट प्रतियोगी होने पर भी उन चारों अभावों के प्रतियोगितावच्छेदक भिन्न–भिन्न होते हैं। जैसे अन्योन्याभाव स्थल पर प्रतियोगितावच्छेदक तादात्म्य होगा, अत्यन्ताभावस्थल पर प्रतियोगितावच्छेदक संयोगादि संसर्ग होगा तथा प्रागभावस्थल पर प्रतियोगितावच्छेदक भाविकालीन तद्घटत्व होगा और प्रध्वंसाभावस्थल पर प्रतियोगितावच्छेदक पूर्वकालीन तद्घटत्व होगा। अतः प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभावों में भेद होने से विशेषाभाव से भिन्न सामान्याभाव अवश्य स्वीकार करना चाहिए।।३६।।

समाधान– सामान्याभाववादी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि संसर्ग और प्रतियोगी के

प्रतियोगितावच्छेदकत्वे मानाभावात्। भेदसिद्धिस्तु भाववदभावस्यापि विरुद्धधर्माध्यासादेव। अवच्छेदकभेदस्याभावभेदनियामकत्वं लिङ्गविधया तज्ज्ञापकत्वमेव वाच्यम्, न तु तज्जनकत्वम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेषण इन दोनों में साधारण किसी एक अवच्छेदक धर्म का निरूपण करना सम्भव नहीं है। [संसर्ग शब्द से अत्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक संयोगादि संसर्ग लेना है और प्रतियोगिविशेषणशब्द से तादात्म्य (अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक) भाविकालीन तद्घटत्व (प्रागभावका प्रतियोगितावच्छेदक) पूर्वकालीन तद्घटत्व (प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक) इन तीनों को लेना है। सिद्धान्ती का कथन है कि संसर्ग और प्रतियोगी के विशेषण में साधारणरूप से रहने वाला कोई ऐसा धर्म नहीं है। जिसके बल पर संसर्गादि चारों को एक ही ''प्रतियोगितावच्छेदक'' शब्द से कहा जा सकता है। अर्थात् प्रतियोगी का विशेषण प्रतियोगी से न्यूनवृत्ति या अधिकवृत्ति होने पर उसको प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं माना जाता है जबकि संयोगादि संसर्ग को प्रतियोगी से न्यूनवृत्ति या अधिकवृत्ति होने पर भी प्रतियोगिता का अवच्छेदक माना जाता है। जैसे जहां पर ''समवायेन घटो नास्ति'' यह प्रतीति होती है, वहां पर घटाभावीय प्रतियोगिता समवाय से समनियत नहीं होती है, क्योंकि वही समवाय पटादि में भी होता है, क्योंकि समवाय को एक ही माना जाता है। इसलिए संयोगादि संसर्ग और प्रतियोगी का विशेषण घटत्व दोनों में साधारण अवच्छेदक धर्म का निरूपण करना सम्भव नहीं है। अतः इनको प्रतियोगितावच्छेदक शब्द से कहा नहीं जा सकता है। इसलिए जब संसर्गादि चारों को प्रतियोगितावच्छेदक शब्द से ही नहीं कह सकते हैं, तब चारों अभावों के परस्पर भेद के प्रति चारों प्रतियोगितावच्छेदक नियामक होता है– यह भी नहीं कह सकते हैं।] अन्योन्याभाव का प्रतियोगितावच्छेदक तादात्म्य और प्रागभाव का प्रतियोगितावच्छेदक भाविकालीनतद्घटत्व तथा प्रध्वंसाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक पूर्वकालीन तद्घटत्व को मानने में प्रमाणाभाव है। [इस पर प्रश्न होता है कि यदि प्रतियोगितावच्छेद भेद से अभावों में भेद नहीं होता है तो अभावों में भेद की सिद्धि कैसे होगी? इसका उत्तर देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] भावरूप पदार्थ शीत–उष्णादि में जो भेद है उसकी सिद्धि जैसे शीतत्व, उष्णत्वादि विरुद्धधर्म के अध्यास से हो जाती है, ठीक वैसे ही अभावों में भेद की सिद्धि प्रागभावत्व, प्रध्वंसाभावत्व, अत्यन्ताभावत्व तथा अन्योन्याभावत्व रूप विरुद्ध धर्म के अभ्यास से ही हो जायेगी। अवच्छेदक भेद को यदि अभावभेद के प्रति नियामक (हेतु) मान भी लिया जाय तो भी उस अवच्छेदक भेद को लिङ्ग के रूप से अभावभेद का ज्ञापक ही मानना होगा। अर्थात् ''यत्र यत्र प्रतियोगितावच्छेदकभेदः तत्र तत्र अभावभेदः'' इस प्रकार प्रतियोगितावच्छेदकभेद के ज्ञान से अभावों में भेद का ज्ञान होता है। यही पूर्वपक्षी को कहना पड़ेगा, क्योंकि पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता है कि प्रतियोगितावच्छेदक भेद अभावों के भेद का जनक होता है, क्योंकि भेद नित्य है। उसका कोई जनक ही नहीं होता है। तच्च न = वह ज्ञापकत्वरूप नियामकत्व भी नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि ''यत्र यत्र प्रतियोगितावच्छेदकभेदः तत्र तत्र अभावभेदः'' इस व्याप्ति में विपक्षबाधक अनुकूलतर्क (हेतु और साध्य में व्यभिचार शङ्का का उद्भावन करने पर उसका बाधक अनुकूल तर्क) का अभाव है और साध्य तथा साधन में सामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति का भी अभाव है। [कहने का आशय यह है कि ''यत्र यत्र प्रतियोगितावच्छेदक भेदः तत्र तत्र अभावभेदः'' इस व्याप्ति में व्यभिचारदोष है, क्योंकि ''भूतले घटो नास्ति'' इस प्रतीति का विषयीभूत घटाभाव एक ही है किन्तु प्रतियोगी घट के अवच्छेदक संयोग और घटत्व दो है। अतः घटाभाव के प्रतियोगितावच्छेदक (संयोग और घटत्व) में भेद है किन्तु घटाभाव

तच्च न, विपक्षबाधकतर्काभावेन सामानाधिकरण्याभावेन च व्याप्तेरेवासिद्धेः।।३७।।

अत एव— तदितरधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकान्यत्वव्याप्यमित्यपि— निरस्तम्, एवं चावृत्तीनां गगनादीनां समनियतानां वाऽन्येषां धर्माणामेक एवात्यन्ताभावः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

में भेद नहीं है क्योंकि घटाभाव एक ही है। इस प्रकार से घटाभाव में व्याप्य (प्रतियोगितावच्छेदकभेद) के रहने पर भी व्यापक (अभावभेद) न होने से व्यभिचार दोष हो गया। अतः उक्त व्याप्ति असिद्ध है।]।।३७।।

इसी प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा आगे कही जाने वाली व्याप्ति भी असिद्ध है। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो व्याप्ति कही गयी है कि ''यत्र तदितरधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वं तत्र तदवाच्छिन्नप्रतियोगिताकान्यत्वम्'' [इस व्याप्ति का समन्वय इस प्रकार से होगा —जैसे तद् पद् से घटत्व लिया। इस घटत्वधर्म से इतर पटत्व धर्म है। पटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व पटाभाव में है। ऐसे पटाभाव में ही घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव का अन्यत्व (भेद) भी है। इस प्रकार से व्याप्ति का समन्वय हो जाने से पूर्वपक्षी को प्रकृत में यह लाभ होगा कि पूर्वपक्षी तद् पद से घटत्व रूप सामान्यधर्म लेगा। उस घटत्वरूप सामान्यधर्म से इतर तद्घटत्वरूप विशेषधर्म होगा। तद्घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व तद्घटाभाव (विशेषाभाव) में है। ऐसे तद्घटाभाव में ही घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटाभाव (सामान्याभाव) का भेद भी है। इस प्रकार से इस व्याप्ति के बल पर विशेषाभाव से अतिरिक्त सामान्याभाव सिद्ध हो जायेगा।] सिद्धान्ती का कथन है कि यह व्याप्ति भी असिद्ध है, क्योंकि अवृत्ति अर्थात् संयोगसमवायान्यतर सम्बन्ध से कहीं भी न रहने वाले दिशा, गगनादि पदार्थों का अत्यन्ताभाव केवलान्वयी होने के कारण अवच्छेदकभेद से इनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् गगनात्यन्ताभाव और दिशात्यन्ताभाव में भेद नहीं माना जाता है, क्योंकि इन सभी का अत्यन्ताभाव केवलान्वयी होने से अभिन्न ही माना जाता है। जबकि गगनात्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक गगनत्व और दिशात्यन्ताभाव का प्रतियोगितावच्छेदक दिशात्व में भेद है। अतः प्रतियोगितावच्छेद भेद से गगनादि के अत्यन्ताभाव में भेद सिद्ध न होने से उक्त व्याप्ति में व्यभिचार दोष आ गया। इसी प्रकार अवृत्ति गगनादि से भिन्न समनियम धर्मों का अत्यन्ताभाव एक ही माना जाता है। [परस्पर व्याप्य होकर के जो परस्पर व्यापक हो। उसको समनियत कहा जाता है। जैसे गन्ध और पृथिवित्व, जलत्व और स्नेह, ज्ञेयत्व, अभिधेयत्वादि धर्म समनियत है। इनके अत्यन्ताभावों में भेद नहीं माना जाता है, क्योंकि '' समनियतयोः अभावयोः ऐक्यात्'' ऐसा नियम है किन्तु गन्धाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक गन्धत्व और पृथिवित्वाभाव का प्रतियोगितावच्छेदक पृथिवित्वत्व में भेद माना जाता है। इस प्रकार से समनियत धर्मों के अत्यन्ताभाव में उक्त व्याप्ति व्यभिचरित है।] पूर्वोक्त प्रकार से जैसे उक्त अत्यन्ताभावों में व्यभिचारदोष है ठीक वैसे ही प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव में भी व्यभिचारदोष है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि बाधक के न होने पर समान देश में और एक काल में साथ—साथ उत्पन्न होने वाले घटगतरूपरसादि पदार्थों का प्रागभाव एक ही माना जाता है और बाधक के न होने पर समानदेश में तथा एक काल में साथ—साथ विनष्ट होने वाले घटगतरूपरसादि पदार्थों का प्रध्वसाभाव भी एक ही माना जाता है किन्तु प्रतियोगितावच्छेदक रूपत्व रसत्वादि में भेद होता है। अतः उक्त प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में भी उक्त व्याप्ति व्यभिचरित है। [असति बाधके—इसलिए कहा गया है कि एक ही काल में और एक ही वृक्षादि देश में अग्रावच्छेदक तथा मूलावच्छेदेन प्रागभाव भिन्न—भिन्न होता हैं और एक ही काल और एक ही वृक्षादि देश में

युगपद्विनष्टानामुत्पन्नानां वा समानदेशानामसति बाधके एक एव ध्वंसः प्रागभावो वा, व्यधिकरण– धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽपि चेदभावः प्रामाणिकः, तदा तस्यैकस्यैव प्रतियोगिताः सर्वैरेव व्यधिकरणैः सर्वैश्च समानाधिकरणैः सम्बन्धैरेवावच्छिद्यन्ताम्, आकाशाभाव एव वा तथाऽऽस्ताम्, एकेनैवोपपत्तावभावभेदकल्पने मानाभावात्।।३८।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अग्रावच्छेदेन और मूलावच्छेदेन प्रध्वंसाभाव भी भिन्न–भिन्न होता है, क्योंकि इनका ज्ञान भिन्न–भिन्न अवच्छेदेन ही होता है। जैसे एक ही काल में एक ही वृक्षरूप देश में श्यामरूप वाले और रक्तरूपवाले दो कपि का मूलावच्छेदेन और अग्रावच्छेदेन संयोग है। यदि दोनों ही कपि एक साथ वृक्ष से हट जाते हैं, तब उक्त दोनों संयोगों का नाश युगपद् हो जाता है। उन दोनों संयोग के नाशों में भेद माना जाता है, क्योंकि अग्रावच्छेदेन संयोग का नाश है–ऐसा एक प्रतीति होती है। और मूलावच्छेदेन संयोग का नाश है–ऐसा द्वितीय प्रतीति होती है। इस प्रकार से भिन्नावच्छेदेन प्रतीतिरूप बाधक के रहने से उन दोनों नाशों में अभेद नहीं माना जाता है। इसी प्रकार प्रागभाव के विषय में भी समझ लेना चाहिए। किन्तु सिद्धान्ती के द्वारा पूर्वोक्त स्थलों पर जहां बाधक नहीं है वहां प्रतियोगितावच्छेदकों में भेद होने पर भी पूर्वोक्त प्रकार के प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में अभेद ही माना जाता है। यही सिद्धान्ती के कथन का आशय है।] यदि व्याधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव को प्रामाणिक माना जाता है तो उस एक ही अभाव की प्रतियोगिता सभी व्यधिकरण सम्बन्धों से और सभी समानाधिकरण सम्बन्धों से अवच्छिन्न मानी जा सकती है। [अर्थात् जब भूतल में घटत्वेन पटाभाव लेंगे, तब घटत्वेन पटाभाव को संयोगेन पटाभाव माना ही जाता है, क्योंकि घटत्वेन पटाभाव केवलान्वयी होता है। अतः जहां पट है वहां पर भी घटत्वेन पटाभाव रहता ही है। अतः उक्त अभाव को संयोगेन पटाभाव कह ही सकते हैं। अतः पटाभाव की प्रतियोगिता पट में रहेगी और संयोगसम्बन्ध भी पट में रहेगा। इस प्रकार से प्रतियोगिता और प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध में समानाधिकरण है और घटत्वेन पटाभाव को समवायेन पटाभाव भी माना ही जा सकता है, क्योंकि घटत्वेन पटाभाव केवलान्वयी होता है। अतः पटाभाव की प्रतियोगिता पट में रहेगी किन्तु पट का समवायसम्बन्ध पट में नहीं रहता है किन्तु तन्तु में रहता है। अतः प्रतियोगिता और प्रतियोगितावच्छेदक समवाय सम्बन्ध में व्यधिकरण है। प्रकृत में यह आया कि प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध संयोग और समवाय में भेद रहने पर भी संयोगेन घटत्वेन पटाभाव और समवोयन घटत्वेन पटाभाव में भेद नहीं माना जाता है, क्योंकि ये दोनों ही अभाव केवलान्वयी हैं। अतः प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभावों में भेद नहीं माना जा सकता है।] अथवा एक गगनाभाव में ही तत्तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकत्व और तत्तत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए। ऐसा होने पर एक ही आकाशात्यन्ताभाव से ही सर्व व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावों के व्यवहारकी उपपत्ति हो जायेगी। अतः (प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से) व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभावों में भेद की कल्पना अप्रामाणिक है। [जितने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव होते हैं, वे सभी केवलान्वयी होते हैं और गगनाभाव भी केवलान्वयी होता है। अतः लाघव की दृष्टि से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभावों को गगनाभाव से अभिन्न मान लेना चाहिए। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव से अभिन्न गगनाभाव को ही समस्त अधिकरणों में समस्त व्यधिकरणाभावों का साधक माना जा सकता है। इस प्रकार व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव तथा गगनाभाव एक ही है किन्तु इनके प्रतियोगितावच्छेदक भिन्न–भिन्न हैं। अतः प्रतियोगितावच्छेदक भेद से अभावों में भेद मानना अप्रामाणिक है।]।।३८।।

न च—एवमेक एव जगतीतले भवत्वभावः, स एव तत्तदवच्छेदकदेशकालादिभेदेन तत्तद्व्यवहारभेदं जनयिष्यतीति किमधिककल्पनयेति—वाच्यम्, उपपद्यते चेदस्तु। प्रकृते तु न बाधकं किञ्चित्। अत एव वैशेषिकाणां स्वाभ्युपगतकालपदार्थस्यैव सर्वव्यवहारहेतुत्वोपपत्तौ न

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभावों में भेद मानने वाले सामान्याभाववादी का कथन है कि लाघव की दृष्टि से सिद्धान्ती ने व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव और गगनाभाव को जैसे अभिन्न मान लिया, ठीक उसी प्रकार अतिलाघव की दृष्टि से सिद्धान्ती को इस संसार में एक ही अभाव मान लेना चाहिए। वह एक ही अभाव तत्तदवच्छेदक देशकालादि के भेद से तत्तद् अभाव के व्यवहारों के भेद को उत्पन्न कर देगा। अनन्त अभावों की कल्पना करना व्यर्थ है। [पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य यह है कि भूतल में घट नहीं है, भूतल में पट नहीं है—ये दोनों अभाव एक ही हैं, किन्तु इनमें जो भेद का व्यवहार होता है, वह अवच्छेदक घटत्व और पटत्व के भेद के कारण होता है। ऐसे ही गृह में घट नहीं है। मठ में घट नहीं है— ये दोनों अभाव एक ही है, किन्तु इनमें जो भेद का व्यवहार होता है वह अवच्छेदक गृह और मठ के भेद के कारण होता है। इसी प्रकार रविवार को घट नहीं है, सोमवार को घट नहीं है—ये दोनों अभाव एक ही हैं किन्तु इनमें जो भेद व्यवहार हो रहा है, वह अवच्छेदक काल के भेद के कारण होता है। अतः एक ही अभाव मानना चाहिए। यह पूर्वपक्षी का भाव है।]

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि यदि पूर्वपक्षी नैयायिकादि विरोधियों की शङ्काओं का निराकरण करके एक अभाव सिद्ध कर देता है तो हमें भी एक अभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं है,क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक के भेद से अभावों में भेद नहीं होता है—ऐसी जो हमारी व्यवस्था है। उसमें कोई बाधा नहीं आती है। सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी ने जैसे एक ही अभाव माना और हमने इष्टापत्ति दे दी ठीक उसी तरह हम एक ही भाव पदार्थ ब्रह्म मानते हैं। पूर्वपक्षी को उसमें इष्टापति दे देनी चाहिए। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि भिन्न—भिन्न जो भाव और अभाव पदार्थों का व्यवहार होता है। उसकी उपपत्ति कैसे होगी। इसके उत्तर में आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे वैशेषिक एक ही काल पदार्थ को सर्वाधार मानता है। हम भी उस काल पदार्थ को चिद्रूप मानकर उसके द्वारा ही सर्व व्यवहारों की उपपत्ति कर लेंगे। चिद्रूपकाल पदार्थ से अतिरिक्त पदार्थ मानने की आवश्यकता ही नहीं है। चिद्रूप काल से अतिरिक्त पदार्थ चिद्रूप काल पदार्थ से भासित होते है। चिद्भास्य वस्तु मात्र ही मिथ्या होती है, जैसे शुक्तिरजत। इस प्रकार चिद्रूपकाल पदार्थ से भिन्न पदार्थान्तर की तात्त्विकता ही नहीं है—यही अद्वैतवादी कहते है। इस प्रकार ''अहमज्ञः'' यह ज्ञान अभावज्ञान सामग्री (प्रतियोगी का ज्ञानादि) से विलक्षण सामग्री (साक्षी) से जन्य होने के कारण इसका विषय ज्ञानाभाव से विलक्षण भावात्मक अज्ञान सिद्ध हो गया। [यहां पर विशेष बात यह है कि अद्वैतसिद्धिकार ने सभी प्रकरणों में न्यायामृतकार के द्वारा उद्भावित दोषों का निराकरण कर के अद्वैतसिद्धान्त में निर्दोषत्व सिद्ध किया है किन्तु कुछ स्थलों पर न्यायामृतकार के द्वारा अनुद्भावित शङ्काओं को भी पूर्वपक्ष के रूप से उत्थापित करके खण्डन किया है। जैसे इसी प्रकरण में प्रागभाव और सामान्याभाव का मण्डन न्यायामृतकार ने नहीं किया है। किन्तु अद्वैतसिद्धिकार ने वैशेषिकादिदर्शनों से पूर्वपक्ष का संग्रह कर के प्रागभाव और सामान्याभाव का विस्तार से खण्डन किया है। इस प्रकार अद्वैतसिद्धकार ने विविधविद्या के अनुशीलन के द्वारा जो जो तत्त्व अधिगत किया। उन सबकों इस ग्रन्थ में अत्यन्त कुशलता पूर्वक समाहित किया है जिसे स्वयं अद्वैतसिद्धिकार ने अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ

पदार्थान्तरसिद्धिरित्यद्वैतवादिनो वदन्ति। तदेवं 'अहमज्ञः' इति ज्ञानस्याभावज्ञानसामग्रीविलक्षण–सामग्रीजन्यत्वादभावविलक्षणविषयत्वं सिद्धम्।।३९।।

एवं ' त्वदुक्तमर्थं न जानामि'इति प्रत्यक्षस्यापि। ननु– साक्षात्त्वदुक्तार्थविषयं प्रमाणज्ञानं मयि नास्तीत्येतद्विषयकमुदाहृतज्ञानम्, तच्च न साक्षादर्थविषयम्, प्रमाणज्ञानावच्छेदकतयार्थस्य भानाद्, अतो न व्याघात इति–चेन्न, साक्षात्त्वदुक्तार्थमवेत्य हि तदभावो ग्राह्यः। तज्ज्ञानं च न साक्षिणा,

सत्यानन्दप्रबोधिका

के समाप्ति के अवसर पर कहा है–

गुरुणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयात्, श्रुतेर्जन्मे सम्यङ्मननपरिनिष्पन्नमभवत्।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनम्, तदेतस्मिन् ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम्।।]।।३९।।

जैसे ''अहमज्ञः'' यह साक्षिप्रत्यक्ष ज्ञानाभाव से विलक्षण भावात्मक अज्ञान का साधक है ठीक इसी प्रकार ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' (तुम्हारे द्वारा कहे गये अर्थ को मैं नहीं जानता हूं) यह साक्षिप्रत्यक्ष भी ज्ञानाभाव से विलक्षण भावरूप अज्ञान को सिद्ध करता है। अर्थात् '' त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' यह प्रतीति अर्थ विषयक अज्ञान को विषय करने वाली है।

शङ्का– भावात्मक अज्ञान को स्वीकार करने वाले सिद्धान्ती के अनुसार '' त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस वाक्य का अर्थ होता है कि त्वद्वाक्यजन्यज्ञानविषयविषयक–अज्ञान वाला मैं हूं। जो लोग भावात्मक अज्ञान न मानकर अज्ञान को ज्ञानाभाव रूप मानते हैं। उनके अनुसार उक्त वाक्य का अर्थ होता है कि त्वद्वाक्यजन्यज्ञानविषयविषयक ज्ञानाभाव वाला मैं हूं। किन्तु ऐसा अर्थ करने पर व्याघातदोष होगा, क्योंकि अभाव ज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। यहां पर प्रतियोगी त्वद्वाक्यजन्यज्ञानविषयविषयकज्ञान है। इसलिए जब प्रतियोगी (त्वद्वाक्यजन्यज्ञान–विषयविषयकज्ञान) का ज्ञान रहेगा तब त्वद्वाक्यजन्यज्ञानविषयविषयकज्ञानाभाव नहीं रह सकता है। इसलिए पूर्वपक्षी व्याघात दोष से बचने के लिए ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' का अर्थ अन्य प्रकार से करते हुए कह रहा है कि] सिद्धान्ती के द्वारा भावात्मक अज्ञान की सिद्धि के लिए जो उदाहृत ज्ञान है। वह ज्ञान''साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयकप्रमाज्ञान मुझमें नहीं है।'' एतादृश अर्थ को विषय करने वाला है और उक्त ज्ञान साक्षाद् अर्थ विषयक नहीं है, क्योंकि यहां पर प्रमाज्ञान में अर्थ अवच्छेदक रूप से भान होता है। अतः व्याघातदोष नहीं होगा। [पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य यह है कि जहां पर '' घटज्ञानवानहम्'' ऐसा अनुव्यवसाय ज्ञान होता है। वहां पर उस अनुव्यवसायज्ञान का साक्षाद् विषय ज्ञान ही होता है, घट नहीं। घट तो केवल अनुव्यवसाय ज्ञान के विषयीभूत ज्ञान का अवच्छेदक होता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी त्वदुक्तार्थविषयकप्रमाज्ञानाभावज्ञानवानहम् = इस स्थल पर अभावज्ञान का साक्षाद् विषय प्रमाज्ञान है और प्रमाज्ञान में त्वदुक्तार्थ अवच्छेदक रूप अर्थात् परम्परा से भान होता है अर्थात् त्वदुक्तार्थविषयकप्रमाज्ञानाभावज्ञानवानहम्–इस स्थल पर अभावज्ञान का साक्षाद् विषय प्रमाज्ञान है और परम्परया विषय त्वदुक्तार्थ है। किसी विषय का साक्षाद् ज्ञान हो और उसी विषय का साक्षाद् ज्ञानाभाव मानने पर व्याघातदोष होता है किन्तु किसी विषय का परम्परयाज्ञान रहते हुए उसका साक्षाद् ज्ञानाभाव रहने पर व्याघातदोष नहीं होता है। जैसे मीमांसक ने कहा''शब्दो नित्यः''। मीमांसक की बात सुनकर नैयायिक कहता है कि ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि''। अर्थात् मीमांसक को जिस विषय का प्रमाज्ञान है। उस प्रमाज्ञान के विषय से नैयायिक के वृत्तिज्ञान का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है किन्तु स्वविषयीभूतप्रमाज्ञानावच्छेदकत्वरूप परम्परा सम्बन्ध है। (स्व=नैयायिक का ज्ञान उसका विषयीभूत प्रमाज्ञान=मीमांसक का प्रमाज्ञान, उसका अवच्छेदकत्व विषय में गया।) अतः

स्वस्मिंस्तादृक्प्रमाणज्ञानाभावात्, अन्यनिष्ठं तु शब्दादिना ग्राह्यम्। शब्दादिश्च त्वदुक्तार्थं बोधयन्नेव तद्विषयत्वं ज्ञाने बोधयेत्। तथा च प्रथमतस्त्वदुक्तार्थविषयकं साक्षादेव ज्ञानमागतमिति तन्निषेधे न कुतो व्याघातः?।।४०।।

अत एव — विशेषस्य स्वरूपतो ज्ञानेऽपि विशेषप्रकारकज्ञानाभावो न व्याहत—इत्यपास्तम्, करतलामलकज्ञाने स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयत्वं प्रसिद्धमिह निषिध्यत इत्यपि न; त्वदुक्तत्वस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्याघातदोष नहीं होगा। यही पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।]

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। अतः साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयकप्रमाज्ञान के अभाव को ग्रहण करने के लिए नैयायिक को साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयकप्रमाज्ञान का होना आवश्यक है। साक्षाद् त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञान केवल साक्षी के द्वारा नैयायिक को हो नहीं सकता है, क्योंकि साक्षी स्व सम्मुख उपस्थित विषय को ही प्रकाशित करता है। मीमांसक द्वारा कथित ''शब्दो नित्यः'' विषयकज्ञान मीमांसक के साक्षी के सम्मुख है नैयायिक के साक्षी के सम्मुख नहीं है। अतः मीमांसक निष्ठ शब्दगतनित्यत्व विषयक प्रमाज्ञान का ज्ञान नैयायिक को शब्दादिप्रमाण के द्वारा ही हो सकता है। शब्दादि प्रमाण तो त्वदुक्तार्थ का बोधन कराता हुआ ही त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञान के बोध को उत्पन्न करेगा। अर्थात् शब्दादि प्रमाण से उत्पन्न होने वाला शाब्दबोधात्मक प्रमाज्ञान अपने विषय को प्रकाशित न करते हुए उत्पन्न तो होगा नहीं किन्तु अपने विषय को प्रकाशित करते हुए ही उत्पन्न होगा) फलतः शब्दादि के द्वारा प्रथमतः साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञान होने पर ही प्रतियोगी का ज्ञान निष्पन्न होगा। इस प्रकार से प्रतियोगी (साक्षात्त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञान) का ज्ञान रहने पर साक्षात् त्वदुक्तार्थविषयक प्रमाज्ञान का अभाव मानने पर अवश्य ही व्याघातदोष होगा।।४०।।

अत एव=जिस रूप से पदार्थ का निषेध करना है, उसी रूप से ही पदार्थ का ज्ञान आवश्यक होने से ही, पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि विशेष वस्तु का स्वरूपतः (प्रमेयत्वाद्याकारेण) ज्ञान होने पर भी विशेषप्रकारकज्ञान का अभाव मानने पर भी व्याघातदोष नहीं होगा। [अर्थात् प्रमेयत्वेन घटादि रूप अर्थ विशेष का सामान्यतः ज्ञान रहने पर भी घटत्वादि विशिष्टत्वेन घटादि का ज्ञान नहीं है—ऐसा स्वीकार करने पर व्याघातदोष नहीं होगा—यह पूर्वपक्षी का अभिप्राय है।] पूर्वपक्षी का यह कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि अभाव ज्ञान के प्रति प्रतियोगितावच्छेदकादि विशेषरूप से ही प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है, प्रमेयत्वादि सामान्यरूप से नहीं। अतः विशेषप्रकारकज्ञानाभाव की सिद्धि के लिए प्रतियोगी (विशेषप्रकारकज्ञान) का ज्ञान मानना आवश्यक है। विशेषप्रकारकज्ञान का ज्ञान रहने पर विशेषप्रकारकज्ञान का अभाव मानने पर अवश्य ही व्याघातदोष होगा। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि स्वहस्तस्थित (आमलक) आंवले के प्रत्यक्षज्ञान में स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयत्व प्रसिद्ध है। [अर्थात् स्व=करतल आमलक का ज्ञान, उसका विषय=आमलक, उस आमलक को आमलक इतर से व्यावृत्त करने वाला धर्म आमलकत्व, उस आवलकत्व रूप व्यावर्त्तक धर्म को विषय करने वाला आवलकज्ञान। इस प्रकार आवलकज्ञान में स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयत्व प्रसिद्ध है। इस प्रकार से पूर्वपक्षी ने इस दृष्टान्त के द्वारा यह सिद्ध किया कि प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तुओं से स्व को व्यावृत्त करने वाला कोई न कोई एक असाधारण धर्म होता है—यह लोक में प्रसिद्ध है और इस धर्म का वस्तु में ज्ञान होने पर ही वस्तु का यथार्थ रूप से ज्ञान माना जाता है अन्यथा नहीं। इसको पूर्वपक्षी ने करतल आमलक ज्ञान के दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया। इसको प्रकृत में समन्वय करते हुए पूर्वपक्षी

मदुक्ताद्व्यावर्तकत्वेन सामान्यतो व्यावर्तकधर्मविषयत्वस्य निषेद्धुमशक्यत्वात्।।४१।।

ननु—अवच्छेदकतया विशेषज्ञाने जातेऽपि न व्याहतिः। तथा हि—न हि विशेषज्ञानाभावस्त्व—दुक्तार्थविषयकज्ञानाभावो वात्र प्रतीयते, किन्तु त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञानाभावः, तत्र च त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञानत्वेन प्रतियोगिज्ञानेऽपि तादृक्प्रकारकतद्विशेष्यकज्ञानाभावसम्भवः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

कह रहा है कि] त्वदुक्तमर्थं न जानामि—इस प्रकार से सामान्यज्ञान हो रहा है और उस सामान्य ज्ञान में स्वविषय व्यावर्त्तकधर्मविषयत्व का निषेध ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस प्रकार से किया जा रहा है। अतः व्याघातदोष नहीं है, क्योंकि अन्य यथार्थ ज्ञानों में जो स्वविषयव्यावर्त्तक धर्मविषयत्व प्रसिद्ध है। उसका निषेध ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' में किया गया है। अन्यत्र प्रसिद्ध पदार्थ का अन्यत्र निषेध करने पर किसी प्रकार का व्याघातदोष माना नहीं जाता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रकृत में अर्थगत् जो त्वदुक्त धर्म है। वह मदुक्तार्थ से त्वदुक्तार्थ का व्यावर्त्तक है। इस प्रकार से ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस ज्ञान में भी स्वविषयव्यावर्त्तक यत्किञ्चित् धर्म की विषयता विद्यमान है, तब ''त्वदुक्तमर्थ न जानामि'' इस ज्ञान में सामान्यतः स्वविषयव्यावर्तकधर्मविषयकत्व का निषेध नहीं किया जा सकता है। जैसे भूतल में यत्किञ्चित् घट के विद्यमान रहने पर घटत्वेन घट नहीं है—ऐसा सामान्य रूप से निषेध नहीं किया जा सकता है। इसलिए व्याघातदोष पूर्ववत् विद्यमान है।।४१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस स्थल पर ज्ञान के अवच्छेदक के रूप से त्वदुक्तार्थरूपविशेष का ज्ञान होने पर भी व्याघातदोष नहीं होगा, क्योंकि ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' इस प्रतीति में अवच्छेदकीभूतविशेष त्वदुक्तार्थ का ज्ञानाभाव और ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस प्रतीति में त्वदुक्तार्थ विषयक विशेष ज्ञानाभाव प्रतीत नहीं होता है किन्तु त्वदुक्तार्थ विशेष्यकविशेषप्रकारक जो ज्ञान है, उस ज्ञान का अभाव प्रतीत होता है। इस प्रकार से उक्त ज्ञानाभाव स्थल पर त्वदुक्तार्थविशेष्यक विशेषप्रकारकज्ञानत्वेन प्रतियोगी का ज्ञान होने पर भी विशेषप्रकारक त्वदुक्तार्थ विशेष्यकज्ञान का अभाव सम्भव है। (अर्थात् व्याघातदोष नहीं होगा।) क्योंकि उक्त प्रतियोगिज्ञान का ज्ञानरूप विशेष्य भी विशेषप्रकारकत्व प्रकारक है अर्थात् प्रतियोगी= त्वदुक्तार्थविशेष्यक विशेषप्रकारकज्ञान। अतः प्रतियोगी का ज्ञान=उक्त ज्ञान का ज्ञान। उक्त ज्ञान के ज्ञान में विशेष्य उक्त ज्ञान होगा और विशेष प्रकार उक्तज्ञानत्व होगा, न कि त्वदुक्तार्थविशेष्यक विशेष प्रकारक ज्ञान में भासित होने वाला विशेषप्रकारकत्व होगा। [पूर्वपक्षी के कहने का आशय यह है कि जब घट का ज्ञान होता है तब उसमें घट विशेष्य होता है और घटत्व प्रकार होता है, किन्तु जब घट ज्ञान का ज्ञान होता है तब उसमें घटज्ञान विशेष्य होता है और घटज्ञानत्व प्रकार होता है। इस प्रकार के घटज्ञान और घटज्ञान का ज्ञान के प्रकारों में भिन्नता है। अतः जहां घटत्वप्रकारक घट विशेष्यक ज्ञान का अभाव है वहां पर घटज्ञानत्वप्रकारक घटज्ञान विशेष्यक ज्ञान रहने पर व्याघातदोष नहीं होता है। दूसरी बात यह भी है कि जब घट ज्ञानत्वेन घटज्ञान का ज्ञान होता है तब इस ज्ञान (घटज्ञान के ज्ञान) में भी विशेष प्रकार=घटज्ञानत्व भासित होता है न कि घटत्व रूप विशेष प्रकार भासित होता है। इसको पूर्वपक्षी ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस स्थल पर इस प्रकार से समन्वय करते हुए कह रहा है कि ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस प्रतीति का विषय त्वदुक्तार्थविशेष्यक विशेषप्रकारकज्ञानाभाव है। इस प्रतीति को अपेक्षित जो प्रतियोगी का ज्ञान है। अर्थात् प्रतियोगी= त्वदुक्तार्थ विशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञान का ज्ञान। अतः प्रतियोगी का

अस्य ज्ञानस्य ज्ञाने विशेष्ये विशेषप्रकारकत्वप्रकारकत्वात्, यत्रापि त्वदुक्तविशेषं न जानामीत्यभिलापः, तत्राप्येवमेव व्याहत्यभावः कथञ्चिदुन्नेयः। न च यत्रोक्तप्रतियोग्यप्रसिद्धिः, तत्र कथमभावप्रतीतिरिति–वाच्यम्, समवेतवाच्यत्वं नास्तीत्यत्रेव विशेष्ये विशेषणाभावविषयत्वेन व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न–प्रतियोगिताकाभावविषयत्वेनवोपपत्तेरिति–चेत्।।४२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान= त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेष– प्रकारकज्ञानविशेष्यकत्वदुक्तार्थविशेषप्रकारकज्ञानत्वप्रकारज्ञान। इस प्रकार से प्रतियोगी का ज्ञान होने पर व्याघातदोष नहीं होगा क्योंकि प्रतियोगी का ज्ञान त्वदुक्तार्थ विशेष्यक विशेषप्रकारकज्ञात्व प्रकारक ज्ञान है जबकि त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञान का अभाव कहा जा रहा है। अर्थात् प्रतियोगिज्ञान में विशेषप्रकारकत्व नहीं है (अपितु उक्तज्ञानत्वप्रकारकत्व है) जब कि जिस ज्ञान का अभाव कहा जा रहा है। वह विशेष प्रकारक है। अतः जहां पर उक्त विध प्रतियोगी का ज्ञान रहेगा वहां पर भी त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषप्रकारकज्ञान का अभाव रह सकता है। अतः व्याघातदोष नहीं होगा। अतः''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इत्याकारिका प्रतीति त्वदुक्तार्थ विशेष्यक विशेषप्रकारक ज्ञानाभाव को विषय करती है न कि भावरूप अज्ञान को विषय करती है।] जहां पर ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' ऐसा कथन होता है, वहां पर भी उक्त प्रकार से व्याघातदोष का निवारण कर लेना चाहिए। [कहने का आशय यह है कि ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' इस प्रतीति में जिस ज्ञान का अभाव प्रतीति होता है, उस ज्ञान में और अभावावगाही ज्ञान को अपेक्षित जो ज्ञान रूप प्रतियोगी का ज्ञान जिसे कि ज्ञान का ज्ञान कह सकते है। उस ज्ञान में भिन्न प्रकारकत्व है। अर्थात् उक्त प्रतीति में जिस प्रकारकत्वेन (त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषत्वप्रकारकत्वेन) ज्ञान का अभाव प्रतीत हो रहा है। उससे भिन्न प्रकारकत्वेन (त्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषत्वप्रकारकज्ञान–विशेष्यकत्वदुक्तार्थविशेष्यकविशेषत्वप्रकारकज्ञानत्वेन) प्रतियोगी का ज्ञान हो रहा है। अतः व्याघातदोष नहीं होगा।] जिस विशेष में कोई धर्मान्तर प्रसिद्ध नहीं है, उस विशेष में विशेषत्वप्रकारक ज्ञान नहीं हो सकता है। तब पूर्वोक्त प्रकार से प्रतियोगी का ज्ञान ही नहीं हो पायेगा। प्रतियोगी का ज्ञान न होने पर अभाव का ज्ञान भी नहीं होगा–ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वहां पर भी '' समवेतवाच्यत्वं नास्ति'' के जैसे विशेष्य में विशेषणाभावविषयक के रूप से उपपत्ति हो जायेगी। अथवा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव विषयक के रूप से उपपत्ति हो जायेगी। [कहने का भाव यह है कि दृष्टान्त में वाच्यत्व केवलान्वयी माना जाता है और वह सभी वस्तुओं में स्वरूप सम्बन्ध से रहता है, समवाय सम्बन्ध से कहीं भी नहीं रहता है। अतः ''समवेतवाच्यत्वं नास्ति'' इस अभाव का प्रतियोगी=समवेतवाच्यत्व अप्रसिद्ध हो गया। प्रतियोगी की प्रसिद्धि न होने पर उक्त अभाव की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। इसलिए समवेतवाच्यत्वाभाव का अर्थ इस प्रकार से किया जाता है कि वाच्यत्व रूप विशेष्य में समवेतत्त्व रूप विशेषण का अभाव है। इस प्रकार विशेषणाभाव विषयकज्ञान माना जाता है। अथवा ''पटत्वेन घटो नास्ति'' के जैसे ''समवेतत्त्वेन वाच्यत्वं नास्ति'' इस प्रकार से व्यधि–करणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावविषयकज्ञान माना जाता है। इसी प्रकार ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' इस स्थल पर भी प्रकृत विशेष में विशेषान्तर न होने पर भी अन्य में प्रसिद्ध जो विशेषान्तर रूप विशेषण है। उसका अभाव प्रकृत विशेष में मानकर विशेषणाभाव विषयक ज्ञान हो जायेगा अथवा ''अन्यनिष्ठ विशेषत्वेन प्रकृतविशेषं न जानामि'' इस प्रकार से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न प्रतियोगिताकाभाव विषयक ज्ञान हो जायेगा।] ।।४२।।

न, अनुभवविरोधाद्, विशेषज्ञानाभावस्य त्वदुक्तार्थज्ञानाभावस्य वाऽनभ्युपगमे तद्विषयज्ञानसत्त्वेन तद्व्यवहारापत्तेश्च। न चैवं दृश्यते। स्वतःप्रामाण्यमते तु तत्प्रकारकत्वे तद्विशेष्यकत्वे च गृह्यमाणे तद्वत्त्वग्रहणस्यावश्यकतया तदंशे तत्प्रकारकतद्विशेष्यकत्वस्य तादृशप्रतियोगिज्ञाने सम्भवात् स्पष्ट एव व्याघातः, भावरूपाज्ञानपक्षे तु सर्वस्यापि साक्षिवेद्यतया न व्याघात इत्युक्तम्। तदेवं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इति प्रत्यक्षं भावरूपाज्ञानविषयमिति सिद्धम्।।४३।।

एवमेतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषमिति परामर्शसिद्धं सौषुप्तं प्रत्यक्षमपि भावरूपाज्ञानविषयमेव। ननु— परामर्शः किमनुमानं, किं वा स्मरणम्। आद्ये ज्ञानाभाव एवानुमीयताम्, किं भावरूपाज्ञानेन?

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव से विरोध हो रहा है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि यदि ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' इस प्रतीति का विषय विशेषज्ञानाभाव और ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस प्रतीति का विषय त्वदुक्तार्थज्ञानाभाव नहीं स्वीकार करेंगे तो जिस व्यक्ति को ''त्वदुक्तं विशेषं न जानामि'' और ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' यह प्रतीति हो रही है। उस व्यक्ति को विशेष का ज्ञान और त्वदुक्तार्थ का ज्ञान रहता है—ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। विशेष का ज्ञान और त्वदुक्तार्थ का ज्ञान मानने पर विशेषविषयकव्यवहार (विशेषं जानामि) और त्वदुक्तार्थ विषयकव्यवहार (त्वदुक्तमर्थं जानामि) की आपत्ति होगी। किन्तु ऐसा अनुभव में आता नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि स्वतः प्रामाण्यवादी के मत में प्रमाज्ञान के साथ ही प्रमाज्ञानगत तत्प्रकारकत्व और तद्विशेष्यकत्व का भी ग्रहण हो जाता है। अतः ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस स्थल पर प्रतियोगीभूतज्ञान के ज्ञान के ग्रहण समय में विशेषप्रकारकत्व और त्वदुक्तार्थविशेष्यकत्व का ग्रहण भी अवश्य होगा। इस प्रकार से त्वदुक्तार्थ अंश में विशेषप्रकारकत्व का ग्रह भी अवश्य होगा। ऐसा होने से विशेषप्रकारकत्वदुक्तार्थविशेष्यकत्व का अभावज्ञान का कारणीभूत प्रतियोगीभूतज्ञान के ज्ञान में अवश्य भान होने से व्याघातदोष अवश्य ही होगा, क्योंकि विशेषप्रकारकत्वदुक्तार्थविशेष्यकज्ञान के काल में विशेषप्रकारकत्वदुक्तार्थविशेष्यकज्ञान का अभाव माना नहीं जाता है। भावरूप अज्ञान पक्ष में भावरूप अज्ञान, अज्ञान का विषय तथा अज्ञान में रहने वाला ज्ञानविरोधित्व रूपधर्म और विरोध का निरूपकज्ञान आदि साक्षिवेद्य होने से व्याघातदोष नहीं होगा। यही पीछे खण्ड संख्या ११ में कहा जा चुका है। इस प्रकार से ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' यह साक्षिप्रत्यक्ष भी भावरूप—अज्ञानविषयक है—यह सिद्ध हो गया।।४३।।

इस प्रकरण के खण्ड संख्या एक में आचार्यप्रवर ने कहा था—''एतावन्तं कालं सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति परामर्शसिद्धं सौषुप्तप्रत्यक्षं च प्रमाणम्।'' अब इसकी व्याख्या करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जाग्रत् काल में ''एतावन्तं कालं न किञ्चिदवेदिषम्'' (इतने काल पर्यन्त मैंने कुछ नहीं जाना) इत्याकारक सुप्तोत्थित पुरुष का परामर्श (स्मृतिज्ञान) से सिद्ध जो सुषुप्ति अवस्था में होने वाला प्रत्यक्ष, वह प्रत्यक्ष भी भावरूप अज्ञान विषयक है। [सुषुप्तिकालीन भावरूप अज्ञान विषयक प्रत्यक्ष अर्थापत्ति प्रमाण से इस प्रकार सिद्ध होता है—सौषुप्तमज्ञानविषयकप्रत्यक्षं विना जाग्रत्कालीनाज्ञानपरामर्शः अनुपपन्नः।]

शङ्का— इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जिसको परामर्श कह रहे हैं वह क्या अनुमान रूप है? अथवा स्मरणरूप है। यदि सिद्धान्ती परामर्श को अनुमानरूप मानते हैं तब पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त परामर्श से ज्ञानाभाव का ही अनुमान कर लेना चाहिए। क्योंकि ज्ञानाभाव का अनुमान करने पर लाघव होगा, क्योंकि ज्ञानाभाव को सिद्धान्ती के मत में और पूर्वपक्षी के मत में

तथा हि— संप्रतिपन्नोदयास्तमयकालवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमययोरन्तरालकालमनुमाय तत्कालमहं ज्ञानाभाववान्, अवस्थाविशेषवत्त्वात्, ज्ञानसामग्रीविरहवत्त्वात्, तुल्ययोगक्षेम आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि तद्वत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वाद्वेति प्रयोगसम्भवात्।।४४।।

द्वितीये तु नास्त्युपपत्तिः, संस्कारासम्भवाद्, विनश्यदेव हि ज्ञानं संस्कारं जनयति, विना व्यापारं व्यवहितकार्यजननाक्षमत्वाद्, अविनश्यता तु तेन स्वयमेव तत्कार्यस्य जनयितुं शक्यत्वात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोनों में माना जाता है, इसलिए जब ज्ञानाभाव के अनुमान से ही उक्त परामर्श की उपपत्ति हो गयी, तब ज्ञानाभाव से अतिरिक्त भावरूप अज्ञान पदार्थ मानकर उसको सिद्ध करने के लिए अनुमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि गौरवदोष होगा। सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव के अनुमान को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सम्प्रतिपन्न उदयास्तमयकाल को दृष्टान्त बनाकर विवादास्पद उदयास्तमयकाल के अन्तरालकाल का अनुमान करेंगे। पुनः अन्तरालकाल वाला आत्मा है—इसको अनुमान से सिद्ध करेंगे। पुनः अन्तरालकालवाला आत्मा ज्ञानाभाव वाला था, अवस्था विशेष (सुषुप्तावस्था) वाला होने से, ज्ञान की सामग्री से रहित होने से, ज्ञानवान् रूप से सर्वदा अस्मर्यमाणत्व होने से। [कहने का आशय यह है कि अज्ञात पक्ष में हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रकृत में भी सुषुप्तिकालीन आत्मा अज्ञात है। अतः उसमें किसी हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए सुषुप्तिकालीन आत्मा को पक्ष बनाने के लिए सर्वप्रथम विवादास्पद उदयास्तमय काल का अनुमान करते हैं—विमतौ उदयास्तमयौ (सुषुप्त्युदयास्तमयौ) अन्तरालकालवन्तौ, उदयास्तमयत्वात्, सम्प्रतिपन्नोदयास्तमयवत्। (सूर्योदय और सूर्यास्त के अन्तरालकाल को दिन कहते हैं—यह सर्वानुभव सिद्ध है। इसको इस अनुमान में दृष्टान्त बनाया गया है। सुषुप्ति के पूर्व का सूर्यास्त और सुषुप्ति के उत्तर का सूर्योदय को पक्ष बनाया गया है। अन्तरालकाल को साध्य और उदयास्तमयत्व को हेतु बनाया गया है। इसप्रकार इस अनुमान से जो सुषुप्त्यन्तरालकाल सिद्ध होता है। उस अन्तरालकाल से युक्त आत्मा है। इसको सिद्ध करने के लिए यह अनुमान किया जाता है—सुषुप्त्यन्तरालकालः आत्मावान्, कालत्वात्, जाग्रत्कालवत्। इस प्रकार से सुषुप्तिकालावच्छेदेन आत्मा का अनुमान करके उस आत्मा में तीन हेतुओं से ज्ञानाभाव सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जाता है—सुषुप्तिकालीनोऽहं (आत्मा) ज्ञानाभाववान्, अवस्थाविशेषवत्त्वात् (जाग्रत् अवस्था और स्वप्न अवस्था से भिन्न सुषुप्तिरूपविशेष अवस्था वाला होने से) ज्ञानसामग्रीविरहवत्त्वात्, ज्ञानवत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवं यथा जाग्रत्कालीन आत्मा। इस प्रकार इन तीन हेतुओं से आत्मा में ज्ञानाभाव सिद्ध किया जाता है।] मूलस्थ ''तुल्ययोगक्षेम आत्मादौ स्मर्यमाणेऽपि'' यह भाग हेतु कोटि में प्रविष्ट नहीं है, अपितु उक्त ज्ञानाभाव के अनुमान को पुष्ट करने के लिए ''यदि तत्कालमहं ज्ञानवान् स्याम्, तदा ज्ञानवत्तया स्मर्यमाणः स्याम्'' (यदि सुषुप्तिकाल में किसी भी घटपटादि का ज्ञान होता तब तो जागने के पश्चात् यह स्मरण होता कि मुझे सुषुप्तिकाल में घट पटादि का ज्ञान हुआ था, किन्तु ऐसा स्मरण होता नहीं है। अतः सुषुप्तिकाल में ज्ञान का अभाव मानना चाहिए।) इस तर्क के ज्ञापक के लिये है।।४४।।

द्वितीय पक्ष मानकर अर्थात् उक्त परामर्श को स्मरणरूप मानकर के अज्ञान के स्मरण की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि स्मरणजनक भावरूप अनादि अज्ञान का संस्कार सम्भव नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अनित्यज्ञान ही विनष्ट होता हुआ संस्कार को उत्पन्न करता है। अनित्यज्ञानादि कारण पदार्थ अपने संस्कारादि व्यापार के विना व्यवहित (अपनी अनुपस्थिति के) काल में स्मरणादि कार्य के जनन में समर्थ नहीं होता है। (जैसे यज्ञ किया भूलोक

किमिति संस्कारो जन्येत? न हि संस्कारोऽपि प्रत्यक्षः, येन कार्यान्यथानुपपत्तिमन्तरेणापि अभ्युपेयते, सौषुप्तं चानाद्यज्ञानोपरक्तं साक्षिचैतन्यरूपं ज्ञानं स्वतो वा उपाधितो वा न विनश्यतीति संस्कारं कथं जनयेत? तदभावात् कथं स्मर्येत, अस्मर्यमाणं वा कथं प्रमाणत्वेनोदाह्रियेतेति—चेत्।।४५।।

न, न तावदनुमानं तत्र सम्भवति। हेतोः पक्षविशेषणस्य चाज्ञानात्। न हि ज्ञानाभावमन्तरेणावस्थायां विशेषो वक्तुं शक्यः। ज्ञानसामग्रीविरहश्च ज्ञानाभावानुमेयत्वेनान्योन्याश्रयग्रस्तः। न चेदानीन्तनेनेन्द्रियप्रसादेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

में और उसका फल मिला परलोक में। यज्ञकाल और फलकाल के मध्य में काल का व्यवधान है जबकि कार्य के अव्यवहित काल में कारण रहता है—ऐसा माना जाता है। इसलिए वहां अदृष्ट को व्यापार मानते हैं। ठीक इसी प्रकार सुषुप्तिकालीन अज्ञान का अनुभव और जाग्रत्कालीन अज्ञान का स्मरण इन दोनों के मध्य में काल का व्यवधान है। ऐसी स्थिति में सुषुप्तिकालीन अज्ञान का अनुभव रूप कारण संस्काररूप व्यापार के विना व्यवहित स्मरणरूप कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है।) नित्य अनुभव कालान्तर में विद्यमान विषय को प्रकाशित करता है। इसलिए कालान्तर में विषय प्रकाशन के लिए स्मरण की अपेक्षा नहीं होगी। स्मरण की अपेक्षा न होने पर स्मरण के कारण के रूप से संस्कार की भी अपेक्षा नहीं होगी। इसलिए नित्य अनुभव संस्कार को उत्पन्न नहीं करता है। (दूसरी बात यह भी है कि यदि नित्य अनुभव से संस्कार की उत्पत्ति मानेंगे तो अनुभव में नित्यत्व ही सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अनुभव के नाश होने पर ही संस्कार उत्पन्न होता है। इसलिए वैशेषिकों ने ईश्वर के नित्यज्ञान को संस्कार का जनक नहीं माना है। इसलिए वैशेषिक मत में ईश्वर को स्मरण भी नहीं होता है, क्योंकि नित्यज्ञान से संस्कार उत्पन्न नहीं होता है।) संस्कार भी कोई प्रत्यक्ष पदार्थ तो नहीं है, जिससे कार्यान्यथानुपपत्ति के विना भी माना जा सके। (कहने का भाव यह है कि संस्कार अतीन्द्रिय पदार्थ है कार्यान्यथानुपपत्ति (संस्कारं विना स्मृतिरूपकार्यमनुपपन्नम्) के द्वारा उसकी सिद्धि होती है किन्तु नित्यज्ञान का संस्कार अर्थापत्ति के द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता है। इसको पीछे स्पष्ट कर दिया गया कि नित्यज्ञान का संस्कार मानने पर उसका नित्यत्व ही नष्ट हो जायेगा और नित्यज्ञान कालान्तर में विद्यमानवस्तु का स्वयं ही प्रकाशन कर देता है। कालान्तर में विद्यमान वस्तु के प्रकाशन के लिए स्मृतिज्ञान को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।) सुषुप्ति में होने वाला अनादि अज्ञान से उपरक्त साक्षिचैतन्यरूपज्ञान है। वह साक्षिचैतन्य रूप ज्ञान सुषुप्ति में न तो स्वयम् नष्ट होता है और न उसकी उपाधि के नाश से उसका नाश होता है, क्योंकि उसकी उपाधि अज्ञान है, उसका नाश तो ब्रह्मज्ञान से होता है। सुषुप्तिकाल में ब्रह्मज्ञान हुआ नहीं। अतः अज्ञानरूप उपाधि का नाश भी नहीं होगा। अतः साक्षिचैतन्यरूपज्ञान भी संस्कार को उत्पन्न नहीं कर सकता है। अतः जब पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध कर दिया गया कि संस्कार उत्पन्न नहीं हो सकता है, तब संस्कार के विना अज्ञान का स्मरण भी सिद्ध नहीं हो सकता है और अज्ञान का स्मरण न होने पर भावरूप अज्ञान की सिद्धि में सौषुप्तप्रत्यक्ष को प्रमाण रूप से उदाहृत नहीं किया जा सकता है।।४५।।

सिद्धान्ती— पूर्वपक्षी के द्वारा ज्ञानाभाव की सिद्धि के लिए जो अनुमान (सुषुप्तिकालीनोऽहं (आत्मा) ज्ञानाभाववान्, अवस्थाविशेषवत्त्वात्, ज्ञानसामग्रीविरहवत्त्वात्, ज्ञानवत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वात्) किया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि पक्ष का विशेषण सुषुप्तिकालीनत्व और प्रथम हेतु=अवस्थाविशेषवत्त्व =सुषुप्त्यवस्थावत्त्व का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञानाभाव से अतिरिक्त अवस्था विशेष (सुषुप्ति) का निर्वचन नहीं हो सकता है। [कहने का भाव यह है कि उक्त अनुमान का पक्ष= सुषुप्तिकालीनोऽहम् है। इस पक्ष में विशेषण के रूप से सुषुप्ति प्रविष्ट है। सुषुप्ति का ज्ञान

पूर्वकालीनं तदुपरममनुमाय सामग्रीविरहानुमानम्, इन्द्रियप्रसादस्य सुखानुभवहेतुकस्य तदुपरमहेतुकत्वासिद्धेः।।४६।।

नियमेनास्मर्यमाणत्वं च यथाश्रुतं वा सुषुप्तिकालावच्छेदेनेति वा? आद्ये असिद्धिः, द्वितीये

सत्यानन्दप्रबोधिका

उक्त अनुमान के द्वारा ज्ञानाभाव की सिद्धि से पहले हो नहीं सकता है, क्योंकि सुषुप्ति का अर्थ ही होता है निखिलज्ञानाभाव। अत: उक्त अनुमान के साध्य सिद्धि से पहले पक्ष का विशेषण=सुषुप्ति=निखिलज्ञानाभाव का ज्ञान सम्भव नहीं है। अत: जब पक्ष का विशेषण अज्ञात है तब विशेषण से विशिष्ट पक्ष भी असिद्ध हो जाने से आश्रयासिद्धि दोष होगा। इसी प्रकार हेतु =अवस्था विशेषवत्त्व= सुषुप्त्यवस्थावत्त्व=निखिलज्ञानाभाववत्त्व और साध्य= ज्ञानाभाववत्त्व अभिन्न हो जाने से अर्थात् हेतु और साध्य एक ही हो जाने से भी यह अनुमान सर्वथा ही अयुक्त है, क्योंकि पक्ष पर हेतु का ज्ञान होते ही साध्य सिद्ध हो जाने से अनुमान करना व्यर्थ हो जायेगा। यदि पक्ष पर हेतु का ज्ञान नहीं है तो पक्षधर्मतादि की सिद्धि न होने से अनुमान करना सम्भव नहीं होगा। यही सिद्धान्ती के कथन का भाव है।] उक्त अनुमान का द्वितीय हेतु= ज्ञानसामग्रीविरह भी ज्ञानाभाव से अनुमेय है, क्योंकि योग्यायोग्यपदार्थघटितज्ञानसामग्री का निरूपण अनुमान के विना हो नहीं सकता है। इसलिए ज्ञानसामग्रीविरह की सिद्धि होने पर ज्ञानाभाव की सिद्धि होगी और ज्ञानाभाव की सिद्धि होने पर ज्ञानसामग्रीविरह की सिद्धि होने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी अन्योन्याश्रयदोष का खण्डन करते हुए कह रहा है कि ज्ञानाभाव से ज्ञानसामग्री विरह का अनुमान नहीं होता है किन्तु सुप्तोत्थित पुरुष का जाग्रत्कालीन इन्द्रियों का जो प्रसाद है। (अर्थात् पुरुष को सुषुप्ति से उठते ही इन्द्रियों में प्रसाद (स्फूर्ति) का जो अनुभव होता है।) उस प्रसादरूप हेतु से पूर्वकालीन (सुषुप्तिकालीन) आत्मा में इन्द्रियों के उपरम (लय) को सिद्ध करेंगे। [अर्थात् सुषुप्तिकालीनोऽहमिन्द्रियलयवान्, सुषुप्त्युत्तरकालीनेन्द्रियप्रसादप्रागभाववत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जाग्रत्कालीनोऽहम्। इस अनुमान से इन्द्रियों के उपरम को सिद्ध करेंगे।] इसके पश्चात् इन्द्रियोपरम रूप हेतु के द्वारा सुषुप्तिकालीन आत्मा में ज्ञानसामग्रीविरह का अनुमान करेंगे। (अनुमान का आकार होगा—सुषुप्तिकालीनोऽहं ज्ञानसामग्रीविरहवान्, इन्द्रियलयवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जाग्रतकालीनोऽहम्।) अत: ज्ञानाभाव से ज्ञानसामग्रीविरह का अनुमान न होने से उक्त अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि सुप्तोत्थित पुरुष को जाग्रत्कालीन इन्द्रियों के प्रसाद का जो अनुभव होता है, उसके प्रति इन्द्रियों का लय कारण नहीं होता है, किन्तु सुषुप्तिकालीन जो सुखानुभव है, उसके कारण होता है। सिद्धान्ती के कथन में अनुकूलतर्क यह है— यदि इन्द्रियोपरम एव इन्द्रियप्रसादस्य हेतु: स्यात्तर्हि समाध्युत्तरकाले मनसोऽव्यग्रताकाले इन्द्रियाणामनुपरमादिन्द्रियप्रसादो न स्यात्। अत: इन्द्रियों के प्रसाद के द्वारा इन्द्रियों के लय की सिद्धि और इन्द्रियों के लय के द्वारा ज्ञानसामग्रीविरह की सिद्धि पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है। अत: पूर्वोक्त अन्योन्याश्रयदोष का निवारण नहीं हुआ।।४६।।

"ज्ञानवत्तया नियमेनास्मर्यमाणत्वात्" इस तृतीय हेतु के द्वारा भी सुषुप्तिकालीन आत्मा में ज्ञानाभाव की सिद्धि नहीं की जा सकती है, क्योंकि "नियमेन" का यथाश्रुत अर्थ सर्वदा करने पर व्याप्ति का आकार होगा—"ज्ञानवत्तया सर्वदा यत्राऽस्मर्यमाणत्वं तत्र ज्ञानाभाव:।" (ज्ञानवान् के रूप से आत्मा का सर्वदा अस्मरण होने से आत्मा में ज्ञानाभाव है।) यदि "नियमेन" का अर्थ

तूपेक्षणीयज्ञानाभावो न सिध्येत्, तत्रैव व्यभिचारश्च। न च—तर्हि प्रातरनुभूतचत्वरे गजज्ञानाभावज्ञानं कथमिति—वाच्यम्, ज्ञानानुपलब्ध्यैवेत्यवेहि। अनुपलब्धिज्ञानं च भावरूपाज्ञानेन लिङ्गेन। तथा हि—पूर्वकालेऽहं, गजज्ञानाभाववान्, गजाज्ञानवत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा गजज्ञानवानहमिति, एवं

सत्यानन्दप्रबोधिका

सुषुप्तिकालावच्छेदेन करते हैं, तब व्याप्ति का आकार होगा—''ज्ञानवत्तया सुषुप्तिकालावच्छेदेन यत्राऽस्मर्यमाणत्वं तत्र ज्ञानाभावः।'' (ज्ञानवान् के रूप से आत्मा का सुषुप्तिकालावच्छेदेन अस्मरण होने से आत्मा में ज्ञानाभाव है।) प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर हेतु में स्वरूपासिद्धिदोष होगा, क्योंकि पक्षीभूत सुषुप्तिकालीन आत्मा में ज्ञानवत्त्वेन सर्वदा अस्मर्यमाणत्व नहीं रह सकता है, क्योंकि किसी समय भ्रम से ज्ञानवत्त्वेन उसका स्मर्यमाणत्व हो सकता है। द्वितीय पक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उपेक्षणीय वस्तु विषयक उपेक्षणीय ज्ञान का अभाव उक्त हेतु के द्वारा आत्मा में सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि उपेक्षणीय वस्तु विषयक उपेक्षणीयज्ञान का संस्कार नहीं माना जाता है। इसलिए जाग्रत्कालावच्छेदेन (पथि गच्छन् तृणं स्पृशन् कालावच्छेदेन) उपेक्षणीय ज्ञानवान् जो आत्मा है, तत्कालावच्छेदेन उस आत्मा में उपेक्षणीय ज्ञान का संस्कार न होने से उस आत्मा में उपेक्षणीय ज्ञानवत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्व है। इस प्रकार से तत्कालावच्छेदेन उस आत्मा में नियमेन अस्मर्यमाणत्व होने पर भी उपेक्षणीयज्ञानवत्त्व ही है न कि उपेक्षणीय ज्ञानाभाव। इस प्रकार से जब जाग्रत्कालीन आत्मा में जब उपेक्षणीयज्ञानवत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्व हेतु के द्वारा उपेक्षणीय ज्ञानाभाव सिद्ध नहीं हो सका तब उक्त हेतु के द्वारा सुषुप्तिकालीन आत्मा में भी ज्ञानाभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर उपेक्षणीय ज्ञानवान् आत्मा में उक्त हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि ''पथि गच्छन् तृणं स्पृशन्'' कालावच्छेदेन जाग्रत्कालीन आत्मा में उक्त हेतु है किन्तु साध्य नहीं है। (सिद्धान्त मतानुसार आत्मा चिद् रूप होने से उसमें कभी भी ज्ञानाभाव नहीं माना जा सकता है। अतः उक्त हेतु में बाधदोष भी है।)

शङ्का— यदि तज्ज्ञानवत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्व हेतु के द्वारा ज्ञानाभाव की सिद्धि को स्वीकार नहीं करोगे तो प्रातःकाल में अनुभूत चत्वर (प्राङ्गण) में गजज्ञानाभाव के ज्ञान की सिद्धि कैसे होगी? [कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी यहां यह अनुमान कर रहा है—प्रातःकालीनोऽहं गजज्ञानाभाववान्, गजज्ञानवत्तया नियमेन अस्मर्यमाणत्वात्। अर्थात् मैंने प्रातःकाल गज को देखा था ऐसा तो स्मरण नहीं आ रहा है। इसलिए प्रातःकाल मुझे गज का ज्ञान नहीं हुआ था। इस प्रकार पूर्वपक्षी के मत में इस हेतु से गज के ज्ञानाभाव की सिद्धि होने जा रही है किन्तु यदि सिद्धान्ती इस हेतु को नहीं मान रहे हैं तब सिद्धान्ती के मत में किस हेतु के द्वारा गज के ज्ञानाभाव की सिद्धि होगी। यही पूर्वपक्षी का आशय है।]

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त स्थल पर अनुपलब्धी के ज्ञान से ही गजज्ञानाभाव का ज्ञान हो जायेगा और अनुपलब्धी का ज्ञान भावरूप अज्ञानात्मकहेतु के द्वारा हो जायेगा। जैसे— जो देवदत्त प्रातःकाल चत्वर देखकर आया है। वही देवदत्त सायंकाल अनुमान कर रहा है—प्रातःकालेऽहं गजज्ञानाभाववान्, गजाज्ञानवत्त्वात्, यत्रैवं तत्रैवं यथा सायंकालीनो गजज्ञानवानहम्। [प्रातःकाल में मैं गजविषयक ज्ञान के अभाववाला था, गजविषयक अज्ञानवाला होने से। जो गजविषयक ज्ञान के अभाववाला नहीं होता है, वह गजविषयक अज्ञानवाला भी नहीं होता है। जैसे सायंकालीन गजविषयक ज्ञानवाला मैं। इस प्रकार इस अनुमान से गजज्ञानाभाव=गजोपलब्धी का

सर्वत्राज्ञानस्य ज्ञानाभावव्याप्यत्वेन तदनुमापकत्वम्।।४७।।

न च—सुषुप्तिकाले ज्ञानाभावानुमानार्थं भावरूपाज्ञानमिव रागाभावानुमार्थं द्वेषोऽपि स्वीकरणीयः, तद्विरोधिपदार्थानुभवं विना तदभावानुमानायोगादिति—वाच्यम्; भावरूपाज्ञानेन ज्ञानाभावेन वा रागाभावानुमानसम्भवात्, तस्यापि तद्विरोधित्वात्।।४८।।

अथापरोक्षतो ज्ञातेऽज्ञानाभावात् कथं परोक्षज्ञानाभावानुमानम्? सामग्रीविरहादिनेति गृहाण। न चात्राप्यन्योन्याश्रयः, शब्दादीनां योग्यानां योग्यानुपलब्ध्या अभावनिश्चयेन परोक्षज्ञानविरहज्ञानं विनैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

अभाव= गजानुपलब्धी की सिद्धि हुयी।] फलितार्थ यह हुआ कि ''यत्र यत्र अज्ञानं तत्र तत्र ज्ञानाभावः।'' इस प्रकार भावात्मक अज्ञान व्याप्य और ज्ञानाभाव व्यापक है। इसलिए सर्वत्र व्याप्य=अज्ञान के द्वारा व्यापक = ज्ञानाभाव का अनुमान किया जा सकता है।।४७।।

शङ्का— सिद्धान्ती के द्वारा सुषुप्तिकालीन आत्मा में ज्ञानाभाव का अनुमान करने के लिए जैसे भावात्मक अज्ञान माना जाता है, ठीक वैसे ही सुषुप्तिकालीन आत्मा में रागाभाव का अनुमान करने के लिए द्वेष को भी स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि रागविरोधिद्वेष के अनुभव के विना रागाभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता है। [सिद्धान्ती ने पीछे कहा था कि सुषुप्ति में भावात्मक अज्ञान रहता है। वह ज्ञान का विरोधी है। अतः विरोधी के रहने से ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् ज्ञानाभाव रहता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सुषुप्ति में रागाभाव रहता है—यह सर्वमान्य है। अतः रागाभाव को सुषुप्ति में सिद्ध करने के लिए सुषुप्ति में राग के विरोधी द्वेष को मानना पड़ेगा, क्योंकि जैसे ज्ञान विरोधी अज्ञान के अनुभव के विना ज्ञानाभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता है, ठीक वैसे ही राग विरोधी द्वेष के अनुभव के विना रागाभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता है। सिद्धान्ती सुषुप्ति में द्वेष को स्वीकार करते हैं तो वह अनुभव विरुद्ध होगा, ठीक इसी प्रकार यदि सिद्धान्ती सुषुप्ति में अज्ञान को स्वीकार करते हैं तो वह भी उचित नहीं है। यह पूर्वपक्षी का भाव है।]

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि भावात्मक अज्ञान के द्वारा अथवा ज्ञानाभाव के द्वारा ही सुषुप्ति में रागाभाव का अनुमान हो जायेगा, क्योंकि भावात्मक अज्ञान और ज्ञानाभाव दोनों ही राग के विरोधी होते हैं, क्योंकि जो वस्तु अज्ञात है अथवा जिस वस्तु का ज्ञान ही नहीं है अर्थात् ज्ञानाभाव है। उस वस्तु में किसी को भी राग नहीं होते हुए देखा गया है।।४८।।

शङ्का— अथ= साक्षिप्रत्यक्ष सिद्ध अज्ञान के द्वारा यदि ज्ञानाभाव का अनुमान होता है—ऐसा स्वीकार करने पर, अपरोक्ष रूप से ज्ञात घट वस्तु का अज्ञान नहीं रहता है क्योंकि अपरोक्षज्ञान के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाता है। अतः घट के अपरोक्षज्ञान से आत्मा में अज्ञान नहीं रहेगा किन्तु घट के अपरोक्षज्ञान से युक्त आत्मा में घट के परोक्षज्ञान का अभाव रहता है। ऐसे परोक्षज्ञान के अभाव का अनुमान अज्ञानरूप हेतु के द्वारा हो नहीं सकता है, क्योंकि वहां अज्ञान रहता ही नहीं है। अतः अपरोक्षज्ञानस्थल पर परोक्षज्ञानाभाव का अनुमान किस हेतु के द्वारा होगा? यह सिद्धान्ती को स्पष्ट करना चाहिए, अन्यथा परोक्षज्ञानाभाव ही सिद्ध नहीं हो पायेगा।

समाधान — सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त परोक्षज्ञानाभाव का अनुमान सामग्री विरह से हो जायेगा। (जैसे घटापरोक्षज्ञानवानात्मा घटपरोक्षज्ञानाभाववान्, घटपरोक्षज्ञानसामग्रीविरहात्, सम्मत्वत्।) इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त प्रकार से परोक्षज्ञानाभाव का अनुमान करने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि परोक्षज्ञानाभाव का ज्ञान होने पर सामग्री विरह का ज्ञान होगा और सामग्री विरह का ज्ञान होने पर परोक्षज्ञानाभाव का ज्ञान होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर

सामग्रीविरहनिश्चयात्, सुषुप्तिकाले चेन्द्रियादिघटितसामग्रीविरहस्य फलाभावं विना ज्ञातुमशक्यत्वेनान्योन्याश्रयोक्तेः।।४९।।

न च स्मरणपक्षे संस्कारानुपपत्तिः, अज्ञानस्याज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितसाक्षिभास्यत्वेन वृत्तिनाशादेव संस्कारोपपत्तेः, अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्यैव साक्षिपदार्थत्वात्। न च–जागरेऽप्यज्ञानस्य वृत्तिवेद्यत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

कह रहे हैं कि उक्त अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि हमें मान्य नहीं है, क्योंकि परोक्षज्ञान की सामग्री है–व्याप्ति, सादृश्य और शब्द। ये तीनों प्रत्यक्ष के योग्य हैं। इन योग्य शब्दादि का योग्यानुपलब्धी के द्वारा ही अभाव का निश्चय हो जायेगा। इस प्रकार परोक्षज्ञानाभाव ज्ञान के बिना ही योग्यानुपलब्धी के द्वारा परोक्षज्ञान की सामग्री का अभाव निश्चित हो जाने से अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा। [शब्दादीनां योग्यानाम्– यहां पर शब्दादि का विशेषण योग्य पद इसलिए दिया गया है कि परोक्ष ज्ञानमात्र की सामग्री का अभाव योग्यानुपलब्धी से नहीं हो सकता है, क्योंकि परोक्ष ज्ञानमात्र की सामग्री के अन्तर्गत श्रोतेन्द्रिय–अदृष्टादि भी है। ये प्रत्यक्ष के अयोग्य है। अतः योग्यानुपलब्धी से उक्त इन्द्रियादि के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः योग्य पद दिया गया है। सिद्धान्त पक्ष से खण्ड संख्या ४६ में जो अन्योन्याश्रयदोष पूर्वपक्षी के मत में दिया गया था वह उचित ही है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] सुषुप्तिकाल में अयोग्य इन्द्रियादि घटित सामग्री का अभाव फलाभाव के ज्ञान के विना सम्भव न होने से अन्योन्याश्रयदोष होगा। [कहने का भाव यह है कि ज्ञानमात्र के प्रति जो इन्द्रियादि घटित सामग्री है, उस सामग्री के अभाव की सिद्धि सुषुप्तिकाल में योग्यानुपलब्धी के द्वारा नहीं हो सकती है,क्योंकि इन्द्रियादि पदार्थ अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष के अयोग्य होते हैं जबकि प्रत्यक्ष के योग्य पदार्थों का ही अभाव योग्यानुपलब्धी के द्वारा सिद्ध होता है। अतः सुषुप्तिकाल में इन्द्रियादि घटित सामग्री के अभाव की सिद्धि फलाभाव (फल=ज्ञानमात्र के सामग्री का फल = कार्य= ज्ञान, का अभाव) रूप हेतु के द्वारा ही हो सकती है। अतः खण्ड संख्या ४६ में कथित उक्त अन्योन्याश्रयदोष पूर्वपक्षी के मत में अवश्य आयेगा।]।।४९।।

सुप्तोत्थित व्यक्ति के परामर्श को स्मरणरूप मानने पर पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या ४५ में स्मरण कारणीभूत संस्कार की अनुपपत्तिरूप दोष दिया था। वह उचित नहीं है, क्योंकि अज्ञान का परिणामरूप जो अज्ञान की वृत्ति है। उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य को साक्षी कहते हैं और उसी साक्षी के द्वारा ही अज्ञान का भान सुषुप्ति में होता है। उक्त सुषुप्तिकालीन अज्ञान की वृत्ति का जाग्रत् काल में नाश हो जाने से उक्त अज्ञान की वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप साक्षी का भी नाश हो जाता है, क्योंकि उपाधि का नाश हो जाने पर उपधेय का भी नाश हो जाता है–ऐसा सर्वमान्य है। इस प्रकार अज्ञान के भासक साक्षी के नाश हो जाने पर अज्ञान का संस्कार उत्पन्न हो जायेगा और उस संस्कार के बल पर जाग्रत् काल में अज्ञान की स्मृति सिद्ध हो जायेगी।

शङ्का– कादाचित्काज्ञानवृत्तिवेद्यत्व अज्ञान में स्वीकार करने पर जाग्रत्काल में अज्ञानगोचर अज्ञानवृत्ति के अभाव दशा में अज्ञानविषयक संशय अथवा विपर्यय होना चाहिए। [कहने का भाव यह है कि जाग्रत्काल में ''अहमज्ञः'' इस प्रकार से अज्ञान का प्रत्यक्ष होता है–यह सिद्धान्ती के मतानुसार साक्षिप्रत्यक्ष है। अज्ञानवृत्ति प्रतिबिम्बितचैतन्य को साक्षी कहते हैं। किन्तु जाग्रत् काल में सभी समय अज्ञानाकार अज्ञान की वृत्ति रहती नहीं है। अतः जिस समय अज्ञानविषयक अज्ञान की वृत्ति नहीं रहेगी, उस समय अज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप साक्षी के द्वारा अज्ञान का भान भी नहीं होगा। ऐसी अवस्था में ''मुझमें अज्ञान है या नहीं?'' ऐसा संशय अथवा ''मुझमें अज्ञान नहीं है।''

वृत्त्यभावदशायां संशयाद्यापत्तिरिति—वाच्यम्, अज्ञानविषयाज्ञानाभावेन तदयोगात्, संशयादेस्तत्कारणी—भूताज्ञानसमानविषयत्वनियमात्। भावत्वादिना संशयेत्विष्टापत्तिरेव, भावत्वादेः साक्षिवेद्यत्वाभावेनाज्ञान—विषयत्वाद्, अज्ञानस्य स्वरूपेणैव साक्षिवेद्यत्वात्।।५०।।

ननु—तदा ज्ञानाभावोऽपि स्वरूपेणैव भासताम्, सप्रतियोगिकत्वेनाभावज्ञान एव प्रतियोगिज्ञानस्य हेतुत्वाद्, अन्यथा 'प्रमेयम्'इति ज्ञानेऽप्यभावो न भासेतेति—चेन्न, साक्षिणा तावन्न स्वरूपेणाभावावगाहनम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

ऐसा विपर्यय होना चाहिए।]

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि साक्षिभास्य पदार्थों का ज्ञातैक सत्त्व होता है। अत: साक्षिभास्य अज्ञान का अज्ञान न होने से अज्ञानविषयक संशय या विपर्यय नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि संशय और विपर्यय को भ्रमात्मकज्ञान माना जाता है और भ्रम ज्ञान का उपादानकारण अज्ञान होता है। अत: जब अज्ञानविषयक संशय और विपर्यय का उपादानकारण अज्ञानविषयक अज्ञान ही नहीं है तब अज्ञानविषयक संशय और विपर्यय नहीं हो सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए मूल में कहा गया कि अज्ञान विषयक संशयादि का कारणीभूत अज्ञानविषयक अज्ञान होना चाहिए क्योंकि संशयादि (कार्य) का जो विषय होगा वही विषय संशयादि के कारणीभूत अज्ञान का भी होना चाहिए—ऐसा नियम है। किन्तु ऐसा है नहीं। अत: अज्ञानविषयक संशयादि नहीं हो सकता है। भावत्वादि रूप से अज्ञान के संशयादि में इष्टापत्ति है, क्योंकि भावत्वादि साक्षिभास्य नहीं होते हैं। अत: भावत्वादि विषयक अज्ञान माना जाता है किन्तु अज्ञान तो स्वरूप से ही साक्षिभास्य है। [अर्थात् अज्ञान अज्ञानत्वेन साक्षिभास्य माना जाता है। किन्तु अज्ञान भावत्वेन या अनादित्वेन साक्षिभास्य नहीं माना जाता है, क्योंकि भावत्व—अनादित्व धर्म प्रमाणवेद्य माने जाते हैं। अत: प्रमाणोदय के पूर्व प्रमाणवेद्य भावत्वादि धर्मविषयक अज्ञान रहेगा इसलिए ''अज्ञान भाव है या नहीं''। अथवा '' अज्ञान अनादि है या नहीं?'' इत्यादि संशय हो जायेगा। किन्तु इस संशय का विषय भावत्वादि रूप से अज्ञान है न कि अज्ञानत्वरूप से अज्ञान है।]।।५०।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान स्वरूपत: साक्षिभास्य माना जाता है। अर्थात् अज्ञानत्वेन अज्ञान साक्षिभास्य माना जाता है, भावत्वेन या अनादित्वेन अज्ञान साक्षिभास्य नहीं माना जाता है, ठीक उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में ज्ञानाभाव भी स्वरूपत: साक्षिभास्य मान लेना चाहिए। ऐसा होने पर ज्ञानाभाव के ज्ञान के लिए प्रतियोगी (ज्ञान) के ज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि जहां स्वरूपेण ज्ञानाभाव (अभावत्वेन ज्ञानाभाव) का ज्ञान होता है। वहां ज्ञानाभाव के ज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण नहीं होता है किन्तु जहां सप्रतियोगीकत्वेन अभाव का ज्ञान होता है अर्थात् प्रतियोगिविशिष्टत्वेन अभाव का ज्ञान होता है, वहां ही अभाव के ज्ञान के प्रति प्रतियोगी के ज्ञान को कारण माना जाता हैं अन्यथा= प्रतियोगी के ज्ञान के विना स्वरूपत: अभाव का ज्ञान न मानने पर, ''घट: प्रमेय:'' इस प्रकार किसी एक प्रमेय के ज्ञान के समय प्रमेयत्व रूप सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष से लिखिल प्रमेयों का जब ज्ञान होता है, उस समय अभावरूप प्रमेय का भी जो स्वरूपत: ज्ञान होता है वह नहीं हो पायेगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणवृत्ति की सहायता के विना केवल साक्षी के द्वारा अभाव का स्वरूपेण ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि अभाव साक्षात् साक्षिभास्य नहीं माना जाता है अपितु अभाव का बोध अनुपलब्धी प्रमाण से होता है—ऐसा माना जाता है। सुषुप्तिकाल में शब्दादि से भी ज्ञानाभाव का ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि उस समय शब्दादि का अभाव होता

तस्य साक्षात्साक्ष्यवेद्यत्वात्। नापि शब्दादिना, तदानीं तेषामभावात्। नाप्यनुपलब्ध्या, तस्याः प्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षाया अजनकत्वात्। न च—दृष्टाभावान्तरविलक्षणस्वभाव एवायमभाव इति स्वरूपेण साक्षिवेद्योऽस्त्विति—वाच्यम्, निर्विकल्पकबुद्धिवेद्यत्वे भावत्वस्यैवौचित्याद्, अन्यथा परिभाषामात्रापत्तेः।।५१।।

ननु ज्ञानविरोधित्वादेस्तदाननुभवेन 'नावेदिषम्'इति तेनाकारेण कथं परामर्शः? न, द्रष्टुर्ह्यन्तःकरणतादात्म्येनाहमुल्लेखस्येव ज्ञानविरोधित्वादेरपि तदैवानुभूयमानत्वेन तदंशे

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अनुपलब्धी के द्वारा भी सुषुप्ति काल में ज्ञानाभाव का ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रतियोगी का ज्ञान होने पर ही अनुपलब्धी के द्वारा अभाव का बोधन होता है। जबकि सुषुप्तिकाल में प्रतियोग्यादि किसी का भी ज्ञान नहीं रहता हैं अतः सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव के ज्ञान के प्रति प्रतियोगिनिरपेक्ष अनुपलब्धी प्रमाण जनक नहीं हो सकता है। अन्यथा (प्रतियोगिनिरपेक्ष अनुपलब्धी प्रमाण के द्वारा अभाव का ज्ञान मानने पर) अनुपलब्धी प्रमाण के द्वारा ''न'' इत्याकारक ज्ञान के होने की आपत्ति होगी, किन्तु ऐसा मानना सर्वथा अनुभव विरुद्ध है।

शङ्का— लोक में प्रसिद्ध दृष्ट घटादि के अभाव से विलक्षण सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव है। अतः सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव स्वरूपतः साक्षिभास्य हो जायेगा। [कहने का भाव यह है कि लोक में जो घटाभावादि प्रसिद्ध है। उनका ज्ञान सप्रतियोगिकत्वेन होता है। स्वरूपतः नहीं होता है—यह पूर्वपक्षी को भी मान्य है किन्तु पूर्वपक्षी का कथन है कि सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव लोक प्रसिद्ध अभावों से विलक्षण है इसलिए सुषुप्तिकालीन ज्ञानाभाव का भान स्वरूपतः साक्षी के द्वारा हो जायेगा।]

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूपेण अभाव का ज्ञान होता है—इसका अर्थ होगा कि अभाव निर्विकल्पकबुद्धि के द्वारा वेद्य है किन्तु निर्विकल्पकबुद्धिवेद्यत्व यह भावत्व का लक्षण होने से ज्ञानाभाव को अभावरूप न मानकर सिद्धान्त मत के जैसे भावरूप अज्ञान ही मानना पड़ेगा। अन्यथा = निर्विकल्पकबुद्धि के द्वारा वेद्य पदार्थ को भी अभाव शब्द से कहने पर, घि, टी संज्ञा के जैसे तुम्हारे घर की परिभाषा मात्र है। तुम्हारी इस निजी परिभाषा से भावरूप अज्ञान मानने में कोई भी बाधा नहीं होगी। जैसे हरि की घि संज्ञा होने से हरि के मानने में कोई बाधा नहीं होती है।।५१।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण का विलय हो जाता है। इसलिए सुषुप्तिकाल में भासित अज्ञानगत ज्ञानविरोधित्व और सविषयकत्व का भान नहीं होगा, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान अन्तःकरण के रहने पर ही होता है। इसलिए जब सुषुप्तिकाल में ज्ञानविरोधित्वेन और सविषयकत्वेन अज्ञान का अनुभव ही नहीं हुआ तब सुप्तोत्थित पुरुष को ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस प्रकार से स्मरण नहीं हो सकता है, क्योंकि जाग्रत्कालीन उक्त स्मरण में सविषयकत्व और ज्ञानविरोधित्व का स्पष्ट उल्लेख होता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे सुषुप्तिकाल में केवल आत्मा (न कि अहन्त्व विशिष्ट आत्मा) का अनुभव होता है और उसके बल पर केवल आत्मा का ही जाग्रत्काल में स्मरण होता है किन्तु जाग्रत्काल में आत्मा के साथ अन्तःकरण का तादात्म्य होने से उस स्मर्यमाण आत्मा के साथ अहन्त्व का अधिकभान ''अहमवेदिषम्'' इस प्रकार से मान लिया जाता है, ठीक इसी प्रकार जाग्रत्काल में अनुभूयमान ज्ञानविरोधित्व और सविषयकत्व का अधिकभान ''नाहं किञ्चिदवेदिषम्'' इस प्रकार की प्रतीति में मान लिया जाता है। इसलिए ज्ञानविरोधित्व और सविषयकत्व अंश में स्मरणत्व नहीं माना जाता है, अपितु जाग्रत्कालीन अनुभव माना जाता है, केवल अज्ञान अंश में ही स्मरणत्व माना जाता है। इसलिए सुषुप्तिकाल में अनुभूत स्वरूपतः अज्ञान

परामर्शत्वानभ्युपगमात्, सुषुप्तिकालीनस्य द्रष्टुरेव परामृष्टत्वात्।।५२।।

नन्वज्ञानवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपस्याज्ञानानुभवस्य जाग्रत्यपि विद्यमानत्वात् कथमज्ञानस्मरणम्? न हि धारावाहिकेषु अनुभवेषु तुल्यसामग्रीकेषु स्मरणव्यवहारः, तथा च धारावाहिकोऽज्ञानानुभव इति वक्तव्यम्, न तु परामर्श इति, सत्यम्, सुषुप्त्याख्यायास्तामस्या अज्ञानवृत्तेर्नाशे जाग्रति तद्विशिष्टाज्ञानस्य साक्षिणाऽनुभूयमानत्वाभावेन संस्कारजन्याविद्यावृत्त्यैव सुषुप्तिविशिष्टाज्ञानभानात् परामर्शत्वोपपत्तेः, केवलाज्ञानांशे तु तुल्यसामग्रीकत्वाद्धारावाहिकत्वमेव।।५३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

(न कि ज्ञानविरोधित्वादि से विशिष्ट अज्ञान) और उसके द्रष्टा केवल आत्मा (न कि अहन्त्व विशिष्ट आत्मा) का ही स्मरण जाग्रत्काल में माना जाता है।।५२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सुषुप्तिकाल में अज्ञान का प्रत्यक्ष जिन अज्ञान, अज्ञानाकारवृत्ति और उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यादिरूप सामग्रियों के द्वारा होता है, वे सभी सामग्रियां जाग्रत्काल में भी विद्यमान हैं और उनके द्वारा जाग्रत्काल में ''अहमज्ञः'' इस प्रकार से अज्ञान का प्रत्यक्ष भी हो रहा है। अतः सिद्धान्ती जाग्रत्कालीन अज्ञान की प्रतीति को प्रत्यक्ष न मानकर स्मरण जो मान रहे हैं। वह असङ्गत है। इसको पूर्वपक्षी दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए कह रहा है कि समान सामग्री से जन्य धारावाहिक पटादि अनुभवों में स्मरण का व्यवहार कोई भी नहीं करता है। [अर्थात् पट के प्रत्यक्ष ज्ञान की सामग्री चक्षुरादि के द्वारा ''अयं पटः'' ''अयंः पटः'' इस प्रकार से धारावाहिक पट का ज्ञान जहां उत्पन्न होता है, वहां उत्पन्न होने वाले धारावाहिक सभी ज्ञानों के प्रति समान रूप से चक्षुरादि ही सामग्री है और उक्त सामग्री जन्य सभी पट ज्ञानों को प्रत्यक्ष ही माना जाता है। अर्थात् प्रथम पट ज्ञान को प्रत्यक्ष और द्वितीयादि पट ज्ञान को स्मरण कोई भी नहीं मानता है।] इसी प्रकार प्रकृत में जिस सामग्री से सुषुप्ति में अज्ञान का अनुभव हुआ, उसी सामग्री से जाग्रत्काल में भी अज्ञान का अनुभव हुआ। अतः इस प्रकार से होने वाले अज्ञान के अनुभवों को धारावाहिक प्रत्यक्षात्मक अनुभव ही मानना चाहिए, न कि परामर्शात्मक अनुभव, यही पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी ने जाग्रत्काल में ''अहमज्ञः'' इस प्रकार की प्रतीति को जो अज्ञानविषयक माना वह तो सत्य है। (कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी के द्वारा पीछे ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति को ज्ञानाभाव विषयक कहा जा रहा था किन्तु अब पूर्वपक्षी ने उक्त प्रतीति को ज्ञानाभाव विषयक न कह कर अज्ञानविषयक कहा। इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि यह कथन तुम्हारा ठीक है।) किन्तु सुषुप्ति नामक जो अज्ञान की तामसी वृत्ति है, उस वृत्ति के जाग्रत्काल में नाश हो जाने पर जाग्रत्काल में उस तामसी वृत्ति से विशिष्ट अज्ञान का अनुभव साक्षी के द्वारा नहीं होता है। अपितु उक्त तामसी वृत्ति के नाश से जन्य जो संस्कार उस संस्कार से जन्य जो स्मृतिरूप अविद्यावृत्ति है, उस वृत्ति के द्वारा ही उक्त तामसीवृत्ति से विशिष्ट अज्ञान का भान होने के कारण परामर्श की उपपत्ति हो जायेगी। केवल अज्ञान अंश में तुल्यसामग्रीकत्व होने से धारावाहिकत्व सिद्धान्त मत में भी मान्य है। [कहने का भाव यह है कि सुषुप्तिकाल में उक्त तामसी वृत्ति से विशिष्ट जो अज्ञान का प्रत्यक्षात्मक अनुभव साक्षी के द्वारा जैसे होता है, वैसे ही प्रत्यक्षात्मक अनुभव जाग्रत् काल में साक्षी के द्वारा नहीं होता है, क्योंकि उक्त तामसीवृत्ति का नाश जाग्रत्काल में हो जाता है। किन्तु सुषुप्तिकाल में साक्षी के द्वारा जिस अज्ञान का प्रकाशन हो रहा था उसी ही अज्ञान का साक्षी के द्वारा प्रकाशन जाग्रत्काल में हो रहा है। अतः अज्ञान अंश के प्रकाशन में समान सामग्री होने से अज्ञान के प्रत्यक्षात्मक अनुभव को धारावाहिक प्रत्यक्षात्मक अनुभव माना जाता है न कि स्मरणात्मक अनुभव माना जाता है।।५३।।

अत एव कार्योपाधिविनाशसंस्कृतमज्ञानमात्रमेव प्रलयोपमं सुषुप्तिरित्यभिप्रेत्य वार्तिककारपादैः सौषुप्ताज्ञानस्मरणमपाकृतम्। तथा चोक्तम्—

न सुषुप्तिगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः।
कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अत एव= उक्त प्रकार से केवल अज्ञान अंश में धारावाहिकत्व का प्रत्यक्षात्मक अनुभव होने से ही, कार्योपाधिभूत अन्तःकरण के विनाश से संस्कृत अज्ञान मात्र का ही अनुभव प्रलयवत् सुषुप्ति में माना जाता है। [अर्थात् जाग्रत्काल में अज्ञान का कार्य जो अन्तःकरण है उससे अज्ञान विशिष्ट हो जाता है और सुषुप्तिकाल में कार्य उपाधिरूप अन्तःकरण का विनाश हो जाने से उस समय अज्ञान संस्कृत हो जाता है अर्थात् केवल अज्ञान ही रह जाता है। उस अज्ञान मात्र का ही प्रलयतुल्य सुषुप्ति में अनुभव माना जाना जाता है। प्रलयतुल्य क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह है कि प्रलयकाल में साक्षी के द्वारा अज्ञान का अनुभव होने पर भी प्रलय के पश्चात् सृष्टिकाल में अज्ञान का स्मरण नहीं माना जाता है। इसलिए सृष्टिकाल में अज्ञान के स्मरण की उपपत्ति के लिए जो प्रलयकाल में अज्ञानाकार अज्ञान की वृत्ति मानी जाती थी। वह अज्ञानाकार अज्ञान की वृत्ति भी प्रलय में नहीं मानी जाती है। अज्ञान का अनुभव तो अज्ञानाकार वृत्ति के विना ही अज्ञान उपहित साक्षी के द्वारा सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार से जैसे प्रलयकाल में अज्ञानाकार अज्ञान की वृत्ति नहीं मानी जाती है, ठीक उसी प्रकार से सुषुप्तिकाल में भी अज्ञानाकार अज्ञान की वृत्ति नहीं मानी जाती है और जैसे प्रलयकाल में अनुभूत अज्ञान का सृष्टिकाल में स्मरण नहीं होता है, वैसे ही सुषुप्ति में अनुभूत अज्ञान का जाग्रत्काल में स्मरण नहीं होता है। इसलिए प्रलयवत् सुषुप्ति कहा गया है।] इस अभिप्राय से ही वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्य जी ने सौषुप्त अज्ञान के स्मरण का निषेध किया है। जैसा कि वार्तिककार ने बृहदारण्यक उपनिषत् के ''तद्धीदं तर्हि अव्याकृतमासीत् (बृ.उ. १—४—१) इस अव्याकृत प्रक्रिया के व्याख्या के प्रसङ्ग पर कहा है—

न सुषुप्तिगविज्ञानं नाज्ञासिषमिति स्मृतिः।
कालाद्यव्यवधानत्वान्न ह्यात्मस्थमतीतभाक्।। (बृ.भा.वा. १—४—१—३००)

सुषुप्तिकालीन अज्ञान के ज्ञान को जन्य नहीं माना जाता है। [अतः जाग्रत्काल में उस सौषुप्त अज्ञान के ज्ञान का नाश न होने के कारण अज्ञान का संस्कार भी उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए] जाग्रत्काल में होने वाला ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान को स्मरणात्मक नहीं माना जा सकता है। इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि सुषुप्तिकाल और जाग्रत्काल के मध्य में संस्कार काल लेना है। आदि पद से अज्ञानाकार वृत्ति का नाश तथा अज्ञान का नाश लेना है। इन तीनों का व्यवधान सौषुप्त अज्ञान के अनुभव और जाग्रत् अज्ञान के अनुभव के मध्य नहीं है। अर्थात् यदि ये तीनों होते तब जाग्रत्कालीन अज्ञान के ज्ञान को स्मृति कहा जाता किन्तु ये तीनों ही नहीं हैं। अतः जाग्रत्कालीन अज्ञान के ज्ञान को स्मृति नहीं कहा जा सकता है। [यदि शङ्का की जाय कि जैसे सुख साक्षात्कार में जन्य सुखाकार अविद्या वृत्ति न मानने पर भी सुख के नाश हो जाने से सुखावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञान का भी नाश हो जाने पर उत्पन्न सुख संस्कार के बल पर सुखस्मृति उत्पन्न होती है। इसी प्रकार यहां पर भी स्मृति होनी चाहिए। इस शङ्का का समाधान देते हुए वार्तिककार कह रहे हैं कि] सुख आत्मा में स्थित होने पर भी जैसे सुख के नाश होने पर सुख में अतीतभाक्= अतीतत्व आ जाता है, वैसे ही अज्ञान आत्मा में स्थित होने पर भी ब्रह्मज्ञान के पूर्व नाश नहीं होने से उसमें अतीतभाक्=

न भूतकालस्पृक्प्रत्यङ् न चागामिस्पृगीक्ष्यते।
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थो विकल्पस्तेन स स्मृतः।।

इत्याद्यव्याकृतप्रक्रियायाम्।।५४।।

विवरणकारैस्तु—'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा'इति योगसूत्रानुसारेण तमोगुणात्मकावरण—मात्रालम्बना काचिद्वृत्तिः सुषुप्तिरित्यभिप्रेत्य तदुपरक्तचैतन्यस्य तन्नाशेनैव नाशात्तत्कालीनाज्ञानानुभव—जनितसंस्कारवशेन 'न किंचिदवेदिषम्'इति 'स्मरणमभ्युपेतम्'इति वार्तिकविवरणयोरपि अविरोधः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतीतत्व नहीं होता है और अज्ञान का नाश न होने के कारण अज्ञान का संस्कार भी नहीं होता है। इसलिए अज्ञान के ज्ञान को स्मरणात्मक भी नहीं माना जा सकता है।

न भूतकालस्पृक्प्रत्यङ् न चागामिस्पृगीक्ष्यते।
स्वार्थदेशः परार्थोऽर्थो विकल्पस्तेन स स्मृतः।। (बृ.भा.वा. १—४—१—३०१)

प्रत्यक् (अज्ञानोपहितचित्) न तो भूतकालस्पृक् और न तो आगामी स्पृक् देखा जाता है। [अर्थात् अज्ञानोपहित साक्षिचैतन्य भूतकालीन अज्ञान और भविष्यत्कालीन अज्ञान को प्रकाशित नहीं करता है किन्तु वर्तमानकालीन अज्ञान को ही प्रकाशित करता है, क्योंकि साक्षिचैतन्य संस्सृष्ट विद्यमान को ही प्रकाशित करता है। अतः "न किञ्चिदवेदिषम्" इस जाग्रत्कालीन ज्ञान के द्वारा जाग्रत्कालीन अज्ञान का ही प्रकाशन होता है। "न किञ्चिदवेदिषम्" इस जाग्रत्कालीन ज्ञान के द्वारा सुषुप्तिकालीन अज्ञान का प्रकाशन न होने से "न किञ्चिदवेदिषम्" इस ज्ञान को स्मृतिरूप नहीं माना जा सकता है।] तेन= पंक्ति प्रथम में कहे गये हेतु से, सः= न किञ्चिदवेदिषम्—यह प्रत्यय, विकल्पः=सविकल्पक अनुभवरूप है (न कि निर्विकल्पक स्मृतिरूप है।) यतः = क्योंकि, स्वार्थदेशः = स्वस्य अर्थः स्वार्थः। स्वार्थः देशो यस्यः सः स्वार्थदेशः। स्व शब्द से "न किञ्चिदवेदिषम्" इस ज्ञान को लेना चाहिए। इस ज्ञान का अर्थ (विषय) अज्ञान है। वह अज्ञानरूपदेश (अधिकरण) है जिसका ऐसा जो (अर्थात् अज्ञानरूप अधिकरण में रहने वाला जो) परार्थः = यह स्वार्थदेश का विशेषण है। परार्थ शब्द घटक पर शब्द का अर्थ है अज्ञानभिन्न और अर्थ शब्द का अर्थ है ज्ञानविरोधित्व, सविषयकत्व। अर्थात् "न किञ्चिदवेदिषम" यह ज्ञान सविषयकत्व, ज्ञानविरोधित्व धर्म से विशिष्ट अज्ञान को विषय करता है। अतः जैसे घटत्वविशिष्ट घट का ज्ञान सविकल्पक अनुभव रूप है ठीक उसी प्रकार "न किञ्चिदवेदिषम्" यह ज्ञान भी सविकल्पक अनुभवरूप ही है न कि स्मृतिरूप है। यदि सुषुप्तिकाल में अज्ञान में रहने वाले दो धर्मों (ज्ञानविरोधित्व और सविषयकत्व) का अनुभव हुआ होता तब तो जाग्रत्काल में उन धर्मों से विशिष्ट अज्ञान की स्मृति हो सकती थी किन्तु सुषुप्तिकाल में केवल अज्ञान का अनुभव हुआ था, इसलिए जाग्रत्काल में ज्ञानविरोधित्वादि से विशिष्ट अज्ञान की स्मृति नहीं हो सकती है। इस प्रकार से वार्तिककार ने बृहदारण्यक भाष्य के अव्याकृत प्रक्रिया के निरूपण के अवसर पर कहा है।।५४।।

विवरणकार का कथन है कि "अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा" (यो.सू. १—१०) इस योग सूत्र के अनुसार तमोगुणात्मक ज्ञानविरोध्यावरण को आलम्बन करने वाली कोई अविद्यावृत्ति सुषुप्ति है। उस अविद्यावृत्ति से उपहित चैतन्य का भी उस अविद्या वृत्ति के नाश से नाश हो जाने के कारण सुषुप्तिकालीन अज्ञान के अनुभव से जन्य जो संकार उत्पन्न होते होता है। उस संस्कार के बल पर "न किञ्चिदवेदिषम्" इस ज्ञान को स्मरण के रूप से अङ्गीकार किया गया है। किन्तु वार्तिककार और विवरणकार के कथन में कोई विरोध नहीं है,क्योंकि वार्तिकार ने निद्रावृत्ति को न मानने वालों

अत एवोक्तं वार्तिककारैरुषस्तिब्राह्मणे—

न चेदनुभवव्याप्तिः सुषुप्तस्याभ्युपेयते।
नावेदिषं सुषुप्तोऽहमिति धीः किंबलाद्भवेत्।। इत्यादि।

अभिप्रायस्तु वर्णित एव।।५५।।

एवञ्च साक्ष्यज्ञानसुखाकारास्तिस्त्रोऽविद्यावृत्तयः सुषुप्त्याख्यैकैव वा वृत्तिरित्यन्यदेतत्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

और प्रलय (दैनन्दिन प्रलय) मानने वालों के विचार से कहा है और विवरणकार ने निद्रावृत्ति के मानने वालों के विचार से कहा है। अर्थात् उपनिषद् पुराणादि में सुषुप्ति को दैनन्दिन प्रलय के रूप से वर्णित किया गया है। अतः वार्तिककार ने सुषुप्ति के दैनन्दिन प्रलयरूपत्व की रक्षा के लिए कुछ स्थलों पर निद्रावृत्ति को स्वीकार नहीं किया है। इस पक्ष में ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान को स्मृतिरूप नहीं माना गया है किन्तु अन्य स्थलों पर लौकिक अनुभव के स्वारस्य की रक्षा के लिए निद्रावृत्ति को वार्तिककार ने स्वीकार किया है। इस मत से ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान को स्मृतिरूप माना गया है। इसी लौकिक अनुभव के दृष्टिकोण से विवरणकार ने भी ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान को स्मृतिरूप माना है। अतः लौकिक अनुभव के दृष्टिकोण से दोनों ही आचार्यों ने ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान को स्मृतिरूप ही माना है। इसलिए वार्तिककार और विवरणकार के कथन में किसी प्रकार से विरोध नहीं है। यहां पर प्रश्न होता है कि लौकिक अनुभव के स्वारस्य की रक्षा के लिए निद्रावृत्ति मानकर विवरणकार ने ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान को स्मृतिरूप माना है। इससे वार्तिककार सहमत हैं—यह किसी स्थल पर प्रतिपादित है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि अतएव= विवरणकार के द्वारा कथित अर्थ भी विवक्षित होने से ही, वार्तिककार ने उषस्तिब्राह्मण के भाष्यवार्तिक में कहा है—

न चेदनुभवव्याप्तिः सुषुप्तस्याभ्युपेयते।
नावेदिषं सुषुप्तोऽहमिति धी किं बलाद्भवेत्।।

सुषुप्त पुरुष को यदि अज्ञान के अनुभव की व्याप्ति (सम्बन्ध) सुषुप्तिकाल में नहीं होती तब तो सुप्तोत्थित पुरुष को ''सुप्तोऽहं न किञ्चिदवेदिषम्'' इस प्रकार का स्मृत्यात्मक ज्ञान किसके बल पर होता? इत्यादि कहा गया है। अभिप्रायस्तु वर्णित एव = जो अभिप्राय विवरणकार का है, वही अभिप्राय ''न चेदनुभवस्यव्याप्तिः.......'' इस वार्तिक में वार्तिककार के द्वारा वर्णित किया गया है। अतः दोनों आचार्यों के कथनों में कोई विरोध नहीं है।।५५।।

अद्वैतसिद्धिकार ने विवरणकार के मत का अनुसरण करके सुषुप्तावस्था में साक्ष्याकार, अज्ञानाकार और सुखाकार अविद्या की तीन वृत्तियों को अङ्गीकार किया है। लाघव की दृष्टि से पातञ्जल सिद्धान्त का अनुसरण करके सुषुप्त्याख्या एक ही समूहालम्बनात्मिका वृत्ति को कहा है किन्तु इस प्रकृत के प्रसङ्ग में इस लाघव वाले पक्ष का बहुत उपयोग नहीं है, क्योकि प्रकृतप्रसङ्ग में स्मरण के बल पर अज्ञान की सिद्धि करनी है। इसको ''अन्यदेतत्'' के द्वारा सूचित किया है। [यहां पर यह शङ्का होती है कि सुषुप्ति में अन्तःकरण के न रहने के कारण सविकल्पकवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः सुषुप्तिकाल में अज्ञानविषयक निर्विकल्पक अनुभव (स्वरूपतः अज्ञान का अनुभव) ही मानना होगा।, किन्तु निर्विकल्पकज्ञान से स्मृति उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि निर्विकल्पक अनुभव से संस्कार उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए सौषुप्तानुभव जन्य स्वरूपतः अज्ञान का स्मरण कैसे होगा?इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] निर्विकल्पक ज्ञान भी स्मृति का जनक

निर्विकल्पकस्यापि स्मरणजनकत्वम्। अहंकारोपरागकालीनत्वाभावेन तत्तानुल्लेख इत्यादि सर्वमुपपादित-मस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ। तस्मात् सौषुप्तानुभवोऽपि भावरूपाज्ञानविषय इति सिद्धम्।।५६।।

इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानप्रत्यक्षोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है– इसका प्रतिपादन सिद्धान्त बिन्दु में किया गया है। [तत्त्वचिन्तामणिकार ने भी कहा है कि आकाशादि पद से शुद्ध आकाशादि विषयक अनुभव होता है। इसके पश्चात् उससे शुद्ध आकाशादि विषयक स्मृति होती है। इस पर प्रश्न होता है कि स्मृति में ''सः घटः'' इस प्रकार से तत्ता का उल्लेख होता है किन्तु जाग्रत्कालीन ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान में तत्ता का उल्लेख नहीं है। अतः इस ज्ञान को स्मृति नहीं मान सकते हैं। इसका उत्तर देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] अहङ्कार का जो उपराग (सम्बन्ध), वह उपराग होता है, जिस काल में उस काल में अज्ञान का अनुभव न होने से स्मृति में तत्ता का उल्लेख नहीं होता है। अर्थात् सर्वत्र स्मृति में तत्ता का उल्लेख होता है– यह कोई नियम नहीं है किन्तु स्मृति के कारणीभूत अनुभव में यदि तत्ता का उल्लेख है तभी उस अनुभव से जन्य स्मृति में भी तत्ता का उल्लेख होगा। प्रकृत में अज्ञान के सौषुप्त अनुभव के काल में अहङ्कार का अभाव है। सप्रकारकज्ञान के प्रति अहङ्कार हेतु होता है। अहङ्कार के अभाव होने से सौषुप्त ज्ञान में तत्देशकालसम्बन्धरूप तत्ता का अभाव होता है। इस प्रकार से अज्ञानविषयक सौषुप्तज्ञान में तत्ता का उल्लेख न होने के कारण उस अनुभव से जन्य ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस स्मृति में भी तत्ता का उल्लेख नहीं होता है। इसका विस्तार से निरूपण सिद्धान्त बिन्दु में किया गया हैं इस प्रकार से सौषुप्त अनुभव भी भावरूप अज्ञान विषयक होता है–यह सिद्ध हो गया है।।५६।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामज्ञानप्रत्यक्षोपपत्तिः।।

४— अज्ञानेऽनुमानप्रमाणविचारः

अनुमानमपि तत्र विवरणोक्तं प्रमाणम्– विवादपदं प्रमाणज्ञानम्, स्वप्रागभावव्यतिरिक्त–स्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाश(क)त्वाद्, अन्धकारे

सत्यानन्दप्रबोधिका

[पूर्व प्रकरण में ज्ञान से निवर्त्य भावरूप अनादि अज्ञान स्वरूपतः साक्षिप्रत्यक्ष से सिद्ध है– यह कहा गया। विवरणाचार्य ने उक्त प्रकार के साक्षिसिद्ध अज्ञान का प्रदर्शन करके पुनः उक्त प्रकार के अज्ञान की सिद्धि के लिए अनुमानादि प्रमाणों को प्रदर्शित किया है। इस पर यह शङ्का होती है कि यदि अज्ञान अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध है तब तो जैसे प्रमाणों से सिद्ध आत्मा में पारमार्थिकत्व माना जाता है, ठीक वैसे ही अज्ञान में पारमार्थिकत्व की आपत्ति होगी। अज्ञान को पारमार्थिक मानने पर उसका ब्रह्मज्ञान से नाश नहीं होगा। अतः शास्त्र आरम्भ ही व्यर्थ हो जायेगा। इस शङ्का का समाधान यह है कि पूर्व प्रकरण में स्वरूपतः अज्ञान साक्षिमात्र से सिद्ध है न कि प्रमाण से सिद्ध है–यह कहा गया है। आगे के प्रकरणों में अज्ञान में जो अनुमानादि प्रमाणों का उपन्यास किया गया है, उन अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा अज्ञान के स्वरूप की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि अज्ञान का स्वरूप तो साक्षिमात्र से सिद्ध है। किन्तु जो अज्ञान का स्वरूप साक्षी के द्वारा सिद्ध है। उस साक्षी सिद्ध अज्ञान में अभावभिन्नत्व, अनादित्व और ज्ञाननिवर्त्यत्वादि की सिद्धि अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा होती है। अतः शास्त्र आरम्भ सार्थक है। यह जो शङ्का की जाती है कि अज्ञान साक्षिवेद्य है। अतः अज्ञान की अज्ञात सत्ता नहीं मानी जा सकती है। जैसे सुखादि साक्षिवेद्य होने से अज्ञातसत्ता वाले नहीं होते हैं। इसलिए अज्ञान में अनुमानादि प्रमाणों का उपन्यास करना व्यर्थ है, क्योंकि प्रमाण अज्ञात के ज्ञापक होते हैं। अर्थात् प्रमाणों से जो प्रमाज्ञान उत्पन्न होता है, वह अबाधित तथा अनधिगतविषयक होता है। इस शङ्का का समाधान यह है कि अज्ञान के जो धर्म अभावभिन्नत्व, अनादित्व तथा ज्ञाननिवर्त्यत्वादि हैं, वे साक्षी के द्वारा सिद्ध नहीं हैं। इसलिए अज्ञानगत अभावभिन्नत्वादि, धर्म अज्ञात ही माने जाते हैं। इसलिए अज्ञात अज्ञानगत अभावभिन्नत्वादि धर्मों की सिद्धि के लिए अज्ञातज्ञापक प्रमाणों का उपन्यास करना सार्थक है। इस पर विशेष विचार अविद्याप्रतीति विचार के समय किया जायेगा। प्रमाज्ञान मात्र अज्ञान का निवर्तक है–इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] विवरणोक्त अनुमान भी उक्त लक्षण घटक अज्ञान में प्रमाण है। (अर्थात् विवरणोक्त अनुमान भी अज्ञानगत ज्ञाननिवर्त्यत्व में प्रमाण है।) तथाहि–विशेषाकार प्रमाणजन्य प्रमावृत्ति में स्वप्रागभाव से भिन्न स्वविषयावरण स्वनिवर्त्य स्वदेशगत वस्त्वन्तर पूर्वकत्व है, क्योंकि उसमें अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्व है, जैसे अन्धकार में प्रथमोत्पन्न प्रदीपप्रभा। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय– अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीप प्रभा अप्रकाशित घटादिविषय का प्रकाशक है। अतः अप्रकाशितार्थ प्रकाशकत्व अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीपप्रभा में गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–अन्धकार में प्रथम उत्पन्न प्रदीपप्रभा अपने प्रागभाव से भिन्न प्रभा के विषय घटादि का आवरण (अन्धकार) प्रभा से निवर्त्य (अन्धकार) प्रभा देश में स्थित घटादि से भिन्न अन्धकारपूर्वक (अन्धकार है पूर्व में जिसके ऐसी जो) प्रभा है। अतः उक्तपूर्वकत्व उक्त प्रभा में चला गया। पक्ष में हेतु का समन्वय–घटाद्याकार जो प्रमावृत्ति है, वह भी पहले जो घटादि प्रकाशित नहीं थे, उन घटादि की प्रकाशिका है। अतः उक्त प्रमावृत्ति में अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्व है। इस प्रकार से पक्ष में हेतु का समन्वय हो गया। दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से व्याप्ति मिल गयी और पक्ष में हेतु के रहने से पक्षधर्मता मिल गयी।

प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावदिति।।१ ।।

अत्र प्रमाणपदं प्रमाणवृत्तेरेव पक्षत्वेन सुखादिप्रमायां साक्षिचैतन्यरूपायामज्ञानानिवर्तिकायां बाधवारणाय। धर्म्यंशप्रमाणवृत्तेरिदमित्याकाराया अज्ञानानिवर्तिकायाः पक्षबहिर्भावाय विवादपदमिति विशेषणम्। विशेषाकारप्रमाणवृत्तिरिति फलितोऽर्थः। परोक्षप्रमाया अप्यसत्त्वावरणरूप—

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता रूप परामर्श के बल पर पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् प्रमावृत्ति अपने प्रागभाव से भिन्न अपने विषय आत्मा के आवरण अपने देश में स्थित वस्त्वन्तर =जन्यभ्रम से भिन्न अज्ञानपूर्वक (अज्ञान है पूर्व में जिसके ऐसी जो) प्रमावृत्ति है। अतः उक्त पूर्वकत्व उक्त प्रमावृत्ति में चला गया। इस प्रकार से इस अनुमान के द्वारा अज्ञान की सिद्धि हो जाती है।।१ ।।

इस अनुमान के पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्त घटक पदों की व्याख्या स्वयं ही आचार्यप्रवर कर रहे हैं। सर्वप्रथम ''विवादपदं प्रमाणज्ञानम्'' (पक्ष) का अर्थ करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान में प्रमाणज्ञान शब्द से प्रमाणजन्य प्रमावृत्ति रूप ज्ञान को पक्ष रूप से उल्लेख करने से साक्षिचैतन्यरूपसुखादि प्रमा को लेकर बाधदोष नहीं होगा। [अर्थात् यदि प्रमामात्र को पक्ष बनाया जाता तब पक्ष के अन्तर्गत सुखादिप्रमा का भी प्रवेश हो जाता किन्तु ऐसा होने पर बाधदोष होता, क्योंकि सुखादि प्रमा साक्षिरूप है। साक्षी अज्ञान का साधक ही होता है, निवर्तक नहीं होता है। इसलिए सुखादि प्रमा में अज्ञाननिवर्तकत्वरूप साध्य का बाध हो जाता। प्रमाणजन्य प्रमावृत्तिरूप ज्ञान को पक्ष बनाने पर बाधदोष नहीं होगा, क्योंकि सुखादि प्रमा प्रमाणजन्य प्रमावृत्ति रूप नहीं मानी जाती है अपितु नित्य साक्षिचैतन्य रूप मानी जाती है।] धर्मी अंश को विषय करने वाली अज्ञान की अनिवर्तिका जो ''इदम्'' इत्याकारिका प्रमाणजन्य प्रमावृत्ति है। उस वृत्ति को पक्ष से पृथक् करने के लिए ''प्रमाणज्ञानम्'' का विशेषण ''विवादपदम्'' दिया गया है। [अर्थात् रज्जुसर्पादि भ्रम स्थल पर अधिष्ठान के ज्ञान के रूप से इदमाकार जो इदम्रूप धर्मी अंश की अन्तःकरण की प्रमात्मिकावृत्ति होती है, उसको सिद्धान्तमत में अज्ञान का निवर्तक नहीं माना जाता है, क्योंकि अधिष्ठान का सामान्यज्ञान भ्रम का हेतु होता है। इसलिए वह भ्रमोपादान अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है। यदि उसके द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तो आगे भ्रम ही नहीं होगा। क्योंकि भ्रम का उपादानकारण अज्ञान ही नहीं है। विवादपद न देने पर इदमाकार प्रमावृत्ति भी पक्षकोटि में प्रविष्ट हो जायेगी और तब इदमाकार प्रमावृत्ति में अज्ञाननिवर्तकत्वरूप साध्य का बाध हो जायेगा, क्योंकि इदमाकार प्रमावृत्ति अज्ञान का निवर्तक होती ही नहीं है। विवादपद देने पर अज्ञाननिवर्तकत्व जिसमें विवादग्रस्त है ऐसी विशेषाकार प्रमाणजन्य प्रमावृत्ति ही पक्ष के अन्तर्गत प्रविष्ट होगी न कि सामान्याकार (इदमाकार) प्रमाणजन्यप्रमावृत्ति, तब उक्त प्रकार से बाधदोष नहीं होगा।] इसप्रकार से पक्ष ''विवादपदं प्रमाणज्ञानम्'' का फलितार्थ हुआ—विशेषाकार प्रमाणजन्य प्रमावृत्ति रूप ज्ञान। विशेषाकार का अर्थ है—इदन्त्वान्यप्रकारिका। अर्थात् इदन्त्वान्यप्रकारिका प्रमाणजन्य प्रमावृत्ति रूप ज्ञान को पक्ष बनाया गया है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त प्रकार से पक्ष बनाने पर परोक्षप्रमात्मिका प्रमा भी प्रमावृत्ति रूप होने के कारण पक्षकोटि में प्रविष्ट हो जायेगी, किन्तु परोक्षप्रमा अज्ञान का निवर्तक होती नहीं है। अतः बाधदोष होगा। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] प्रमावृत्ति के दो अंश होते हैं—अपरोक्षप्रमा अंश और परोक्षप्रमा अंश। अपरोक्षप्रमा असत्त्वापादकाज्ञान और अभानापादकाज्ञान दोनों का ही नाशक है। परोक्षप्रमा अभानापादकाज्ञान का नाशक न होते हुए भी प्रमातृगत असत्त्वापादकाज्ञान का नाशक होती हैं अतः प्रमावृत्ति के

प्रमातृगताज्ञाननिवर्तकत्वाद् न तदंशेऽपि बाधः।।२।।

नन्विदमिति प्रमाणवृत्तेरज्ञानानिवर्तकत्वे अज्ञातज्ञापकत्वरूपप्रमात्वेन व्यवहारो न स्यात्, न, इदमाकारभ्रमसंशयादर्शनेन तद्गोचराज्ञानकल्पने मानाभावेन तत्र सुखादिज्ञानवद्यथार्थत्वमात्रेण प्रमात्वव्यवहारोपपत्तेः। यथाहुः—'धर्म्यंशे सर्वमभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्ययः' इति।।३।।

यदि तु भ्रमसंशयाजनकमपि तदाकारमज्ञानमनुभवबलादास्थीयेत, तर्हि सापि पक्षेऽन्तर्भवतु,

सत्यानन्दप्रबोधिका

परोक्षप्रमा अंश में भी बाधदोष नहीं होगा।।२।।

शङ्का—सामान्याकार (इदमाकार) ''इदम्'' इस प्रकार की जो प्रमावृत्ति है। वह यदि अज्ञान की निवर्त्तिका नहीं है तब तो उसमें अज्ञातज्ञापकत्वरूप प्रमात्व का व्यवहार नहीं होगा। [कहने का भाव यह है कि अज्ञातज्ञापकज्ञान को ही प्रमा कहते हैं और अज्ञान की निवृत्ति होने पर ही अज्ञातवस्तु का ज्ञापन सम्भव है। अतः सभी प्रमा को अज्ञाननिवर्तक होना आवश्यक है। सिद्धान्ती यदि इदमाकार वृत्ति को प्रमात्मिकावृत्ति मानते हैं तब उस वृत्ति के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति भी माननी होगी, ऐसा होने पर इदमाकारवृत्ति के पक्षकोटि में प्रवेश होने पर भी बाधदोष नहीं होगा, क्योंकि उस वृत्ति के द्वारा भी अज्ञान की निवृत्ति होती है। अतः बाधदोष के निवारण के लिए ''विवादपदम्'' यह विशेषण देना व्यर्थ है। सिद्धान्ती यदि इदमाकारवृत्ति को प्रमात्मिकावृत्ति नहीं मानते हैं तब इदमाकारवृत्ति का पक्षकोटि में प्रवेश ही नहीं होगा और तब बाधदोष भी नहीं होगा। अतः बाधदोष के वारण के लिए ''विवादपदम्'' यह विशेषण देना व्यर्थ है।]

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इदमंश विषयक भ्रम और संशय नहीं देखा गया है। इसलिए इदमंश विषयक अज्ञान की कल्पना में प्रमाणाभाव है। [कहने का भाव यह है कि इदम् का अज्ञान यदि रहता तभी इदमाकार प्रमावृत्ति उस इदम् के अज्ञान को निवृत्त करती किन्तु इदम् का अज्ञान माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ''भ्रमोपादानमज्ञानम्'' इस अज्ञान के लक्षण के अनुसार अज्ञान को भ्रम और संशय का उपादानकारण माना जाता है। इसलिए यदि इदम् का अज्ञान रहता तब तो इदम् के विषय में कभी न कभी भ्रम और संशय दिखाई पड़ता किन्तु इदम् के विषय में भ्रम और संशय दिखायी नहीं पड़ता है। अतः इदम् का अज्ञान माना नहीं जा सकता है। इस पर प्रश्न होता है कि इदमाकारप्रमावृत्ति जब अज्ञान की नाशिका नहीं है तब इदमाकार प्रमावृत्ति अज्ञात ज्ञापक भी नहीं हो पायेगी। और तब प्रमा शब्द से उसका व्यवहार भी नहीं होना चाहिए? इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] जैसे सुखादि का ज्ञान सुखादि के अज्ञान का निवर्तक नहीं माना जाता है, क्योंकि साक्षिभास्य पदार्थों का ज्ञातैकसत्त्व होता है। अतः सुखादिज्ञान सुखादि अज्ञान के निवर्तक न होने पर भी सुखादि ज्ञान में यथार्थत्व (व्यवहारकालाबाध्यविषयकत्व) के रहने के कारण उसमें जैसे प्रमात्व व्यवहार होता है। ठीक ऐसे ही इदमाकार प्रमावृत्ति में भी यथार्थत्व के रहने के कारण इदमाकारप्रमावृत्ति में भी प्रमात्व व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी। न्यायलीलावतीकार के कथन के द्वारा स्वपक्ष को दृढ़ करते हुए कह रहे हैं कि धर्मी अंश (इदन्त्व अंश) में सर्वज्ञान (भ्रम—प्रमा साधारण सभी ज्ञान) प्रमा माने जाते हैं और भ्रम ज्ञानों के केवल प्रकार अंश (रजतत्वादि अंश) में विपर्यय (भ्रम) माना जाता है।।३।।

यदि पूर्वपक्षी कहता है कि भ्रम और संशय के अजनक इदमाकार अज्ञान को ''इदमज्ञातम्'' इस प्रकार से होने वाले अनुभव के आधार पर मानना चाहिए तब सिद्धान्ती कह रहे हैं कि हम इदमाकार प्रमावृत्ति को भी पक्ष के अन्तर्गत मान लेंगे। ऐसा होने पर कोई दोष भी नहीं होगा, क्योंकि

प्रमाणवृत्तित्वावच्छेदेनैवाज्ञाननिवर्तकत्वानपायात्, तदा च विवादपदमिति विशेषणमनादेयम्। एतस्मिन् पक्षे भ्रमोपादानत्वयोग्यत्वमविद्यालक्षणं द्रष्टव्यम्, भ्रमोपादानत्वस्य धर्म्यंशज्ञाननिवर्त्या–ज्ञानेऽव्याप्तेरित्यवधेयम्। धारावाहिकबुद्धीनां च तत्तत्कालावच्छिन्नार्थविषयत्वेनाज्ञातज्ञापकत्वमस्त्येव; कालस्य सर्वप्रमाणवेद्यत्वाभ्युपगमात्।।४।।

अनात्माकारप्रमाणवृत्तीनां च तत्तदवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेन स्वविषयावरणनिवर्तकत्वमस्त्येव,

सत्यानन्दप्रबोधिका

सभी प्रमावृत्तियां अज्ञान का निवर्तक होने से इदमाकार प्रमावृत्ति के भी अज्ञान का निवर्तक होने में कोई आपत्ति नहीं होगी, तब खण्ड संख्या २ में दिया गया बाधदोष भी नहीं होगा। अत: इदमाकार प्रमावृत्ति को पक्ष से बाहर रखने के लिए ''प्रमाणज्ञानम्'' का विशेषण ''विवादपदम्'' नहीं देना चाहिए। इदमाकारप्रमावृत्ति भी अज्ञान का निवर्तक होती है–इस मत में ''भ्रमोपादानयोग्यत्व'' को ही अविद्या का लक्षण माना जाता है, क्योंकि ''भ्रमोपादानत्व को अज्ञान का लक्षण मानने पर धर्म्यंश के ज्ञान (इदमाकार प्रमावृत्ति) से निवर्त्य जो इदम् का अज्ञान, उसमें अज्ञान का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि इदम् का अज्ञान भ्रम या संशय का उपादानकारण होता नहीं है। अत: अव्याप्तिदोष होगा। अज्ञान का लक्षण ''भ्रमोपादानयोग्यत्व'' करने पर अव्याप्तिदोष नहीं होगा, क्योंकि इदम् के अज्ञान में भ्रम को उत्पन्न करने की योग्यता होने पर भी सहकारी कारण के न होने से भ्रम नहीं होता है किन्तु भ्रम को उत्पन्न करने की योग्यता रहने से इदम् के अज्ञान में उक्त योग्यता घटित अज्ञान का लक्षण चला जायेगा। [यह जो शङ्का की जाती है कि जब सभी प्रमावृत्तियों को पक्ष के अन्तर्गत रखा जायेगा तब ''अयं घट:, अयं घट:'' इत्याकारक धारावाहिकज्ञान स्थल पर प्रथम घटज्ञान द्वितीयघटज्ञान आदि का भी पक्ष में प्रवेश होगा किन्तु प्रथम घटज्ञान रूप प्रमावृत्ति के द्वारा ही घट के अज्ञान का नाश हो जाता है, द्वितीय घटज्ञानरूप प्रमावृत्ति के द्वारा घट के अज्ञान का नाश होता नहीं है। अत: द्वितीय घटज्ञानरूपप्रमावृत्ति अज्ञान का निवर्तक न होने से बाधदोष होगा। इस शङ्का का समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] धारावाहिकज्ञान स्थल पर प्रथमज्ञान का विषय केवल घट नहीं होता है किन्तु प्रथम क्षण विशिष्ट घट होता है। इसी प्रकार द्वितीयज्ञान का भी विषय द्वितीय क्षण विशिष्ट घट होता है। इस प्रकार विषय भिन्न–भिन्न होने से प्रथम–द्वितीयादि प्रत्येक ज्ञान अपने–अपने अज्ञान का निवर्तक होता है। अर्थात् पूर्व–पूर्व बुद्धि का अविषय जो तत्तत्क्षण, तादृशक्षणविशिष्ट विषयकत्वेन धारावाहिकबुद्धियों में भी अज्ञातज्ञापकत्व है ही। अत: बाधदोष नहीं होगा। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''अयं घट:, अयं घट:'' इत्याकारक धारावाहिकस्थल पर ज्ञानों का विषय तत्तत्क्षणविशिष्ट घटादि नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ये सभी धारावाहिक ज्ञान प्रत्यक्षात्मक हैं और तत्तत्क्षणादि रूपकाल का प्रत्यक्ष होता नहीं है। इसका समाधान देते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि ''अस्मिन् क्षणे घटो मया दृष्ट:'' इस अनुभव से सिद्ध है कि तत्तत्क्षणादिरूपकाल का प्रत्यक्ष होता है। अत:] काल को प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों का विषय माना जाता है। इस पर विशेष विचार परिच्छिन्नत्वहेतु के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है।।४।।

[यह जो शङ्का की जाती है कि अज्ञान घटादि जड़ को आवृत नहीं करता है। अत: घटादि जड़विषयक प्रमावृत्तियों को अज्ञान का निवर्तक नहीं माना जा सकता हैं अत: पक्ष में प्रविष्ट घटादि जड़विषयकप्रमावृत्तियों में बाधदोष होगा। इस शङ्का का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] घट पटादि रूप जो अनात्माकार प्रमावृत्तियां हैं। उनका विषय केवल घटादि नहीं है अपितु घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य है। घटाद्याकार प्रमावृत्तियां भी तत्तत् जड़ावच्छिन्नचैतन्य के आवरक अज्ञान का निवर्तक मानी

चित्त्वेनैव प्रकाशप्रसक्तेः, न त्वनवच्छिन्नचित्त्वेन, गौरवात्, 'एतावन्तं कालं मया न ज्ञातोऽयमिदानीं ज्ञातः' इत्यनुभवाच्च। रूपादिहीनस्यापि तत्तदवच्छिन्नचैतन्यस्य प्रत्यक्षादिविषयत्वमुक्तं प्राक्। प्रतिकर्मव्यवस्थामभ्युपगम्य चेदमनुमानम्, न तु दृष्टिसृष्टिपक्ष इति ध्येयम्।।५।।

साध्ये चाद्यं विशेषणं प्रतियोग्यतिरिक्ता प्रागभावनिवृत्तिरिति मते प्रागभावेनार्थान्तरवारणाय।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाती हैं अतःबाधदोष नहीं होगा। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अनवच्छिन्न चैतन्य (शुद्ध चैतन्य) ही अज्ञान से आवृत्त है न कि जड़ावच्छिन्न चैतन्य (परिच्छिन्न चैतन्य) अतः जड़ावच्छिन्नचैतन्य को अज्ञान का निवर्तक नहीं माना जा सकता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] अनवच्छिन्न—अवच्छिन्न उभय साधारण चैतन्यत्वेन चैतन्य मात्र में ही घटादि के प्रकाश की प्रसक्ति मानने में लाघव है, क्योंकि अनवच्छिन्नचैतन्यत्वेन चैतन्य में घटादि के प्रकाश की प्रसक्ति मानने पर गौरवदोष होगा, क्योंकि केवल चैतन्यत्व धर्म की अपेक्षा अनवच्छिन्नचैतन्यत्व गुरुधर्म है। (अवच्छिन्नचैतन्य भी अज्ञान का निवर्तक है। अर्थात् अज्ञात का ज्ञापक है—इसमें अनुभव प्रमाण देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि) '' इतने समय तक घट मुझे ज्ञात नहीं था, अब घट ज्ञात हुआ है।'' अर्थात् घटावच्छिन्नचैतन्य का इतने काल अज्ञान था और इस समय अज्ञान की निवृत्ति हो गयी है। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''अयं घटः'' इस प्रत्यक्ष का विषय घटावच्छिन्नचैतन्य को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि चैतन्य रूपादि से रहित होता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] रूपादि से रहित तत्तद—वच्छिन्नचैतन्य को भी प्रत्यक्ष का विषय माना जाता है। इसका निरूपण ''सन् घट इति प्रत्यक्षेऽधिष्ठानानुवेधः'' और ''परिच्छिन्नत्वहेतुविचारः'' के निरूपण के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। विषय के अज्ञात सत्त्व को स्वीकार करके (सृष्टिदृष्टिपक्ष का अवलम्बन करके) पहले जो प्रतिकर्म व्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। उस प्रतिकर्मव्यवस्था को मानकर के ही यह अनुमान किया गया है। दृष्टिसृष्टिपक्ष को मानकर यह अनुमान नहीं किया गया है, क्योंकि दृष्टिसृष्टिपक्ष में विषय प्रतीतिकालमात्रस्थायी और प्रातिभासिक सत्तावाले होने से प्रमाण गम्य नहीं होते हैं। इसलिए उनका अज्ञातसत्त्व भी नहीं होता है। इसलिए दृष्टिसृष्टिपक्ष में किसी भी विषय की सिद्धि के लिए प्रमाण का उपन्यास नहीं किया जा सकता है।।५।।

[अविद्यानुमान के पक्ष घटक पदार्थों के निर्वचन के अनन्तर साध्य घटक पदार्थों का निर्वचन प्रारम्भ हो रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि साध्य का प्रथम (स्वप्रागभाव व्यतिरिक्त) विशेषण व्यर्थ है, क्योंकि साध्य के तृतीय (स्वनिवर्त्य) विशेषण के द्वारा ही प्रमा प्रागभाव की व्यावृत्ति हो जायेगी। अतः स्वप्रागभावव्यतिरिक्तरूप प्रथम विशेषण देना व्यर्थ है। अर्थात् प्रमाप्रागभाव का प्रतियोगी प्रमा प्रमाप्रागभाव का निवर्तक नहीं है, क्योंकि प्रमाप्रागभाव का प्रतियोगी =प्रमा प्रमाप्रागभाव निवृत्तिस्वरूप है। अतः स्व= प्रतियोगी=प्रमा=प्रमाप्रागभाव निवृत्ति से प्रमाप्रागभाव की निवृत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रमाप्रागभाव के उत्तर प्रमाप्रागभाव की निवृत्ति रहती है। अतः पूर्व में स्थित प्रमाप्रागभाव के नष्ट होने के पश्चात् उत्तर में स्थित प्रमाप्रागभाव की निवृत्तिरूप प्रमा प्रमाप्रागभाव के निवृत्ति के प्रति कारण नहीं हो सकती है, क्योंकि कारण कार्य के अव्यवहित पूर्व में रहता है। इस प्रकार स्वनिवर्त्य इस तृतीय विशेषण के द्वारा ही प्रमाप्रागभाव की व्यावृत्ति हो गयी। अतः साध्य का प्रथम विशेषण नहीं देना चाहिए। इस शङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] प्रागभाव की निवृत्ति के विषय में दो मत हैं। प्रथम मत में कुछ लोग मानते हैं कि प्रागभाव की निवृत्ति प्रतियोगी से अतिरिक्त है और द्वितीय मत में कुछ लोग मानते हैं कि प्रागभाव की निवृत्ति प्रतियोगीस्वरूप है।

तदुदीच्यध्वंसादिकमादाय नार्थान्तरप्रसक्तिः, किन्तु पूर्ववृत्त्यभावमादायेति वस्तुगतिमनुरुध्य प्राक्पदम्। अवैयर्थ्यं च प्रतियोगिविशेषणत्वेनाखण्डाभावसम्पादकतया।।६।।

एतेन—यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति नियमस्तस्मात् स्वनिवर्त्यपदेनैव प्रागभावव्युदासे

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वितीय मत में पूर्वपक्षी के कथनानुसार साध्य के प्रथम विशेषण की उपयोगिता यद्यपि नहीं है तथापि आद्यमत में साध्य का प्रथम विशेषण न देने पर प्रमाप्रागभाव को लेकर अर्थान्तर दोष होता है, क्योंकि जब पट उत्पन्न होता है तब उस पट के प्रागभाव का नाश हो जाता है—यह अनुभव सिद्ध है। अत: पटप्रागभाव के प्रतियोगी पट से जन्य पटप्रागभाव का नाश होता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में पक्ष है प्रमावृत्ति। उसके प्रागभाव का प्रतियोगी =प्रमावृत्ति। उस प्रमावृत्ति के द्वारा प्रमावृत्ति का प्रागभाव निवर्त्य है। अत: साध्य के तृतीय विशेषण (स्वनिवर्त्य) के द्वारा प्रमावृत्ति के प्रागभाव की व्यावृत्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रमाप्रागभाव अपने प्रतियोगी प्रमा के द्वारा निवर्त्य है। अत: साध्य का प्रथम विशेषण देना सार्थक है। प्रमावृत्ति के प्रागभाव के प्रतियोगी=प्रमावृत्ति के उत्तरकालीन प्रमावृत्ति के ध्वंसादि को लेकर अर्थान्तर दोष नहीं होता है, क्योंकि प्रतियोगी (प्रमावृत्ति) के द्वारा प्रमावृत्ति ध्वंस की निवृत्ति नहीं होती है,क्योंकि जब उत्तरकाल में प्रतियोगी=प्रमावृत्ति का ध्वंस होगा तब प्रतियोगी रहेगा ही नहीं। जब प्रतियोगी ही नहीं है तब उस प्रतियोगी के द्वारा प्रतियोगी (प्रमावृत्ति) के ध्वंस की निवृत्ति भी नहीं होगी। इस प्रकार से प्रतियोगी के उत्तरकालीन ध्वंसादि को लेकर के अर्थान्तरदोष ही नहीं है,किन्तु प्रतियोगी के पूर्ववर्ती अभाव (प्रागभाव) को लेकर के ही अर्थान्तरदोष होता है। अत: आद्यविशेषण के रूप से प्रागभावव्यतिरिक्त न कहकर केवल अभावव्यतिरिक्त कहने पर भी फलत: प्रागभाव की व्यावृत्ति सिद्ध हो जायेगी। अत: प्रागभावव्यतिरिक्त का घटक प्राग् पद व्यर्थ है। किन्तु इस वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने के लिए प्राग् पद दिया गया कि प्रतियोगी के उत्तरवर्ती अभाव को लेकर अर्थान्तरदोष नहीं होता है, अपितु पूर्ववर्ती अभाव को लेकर अर्थान्तरदोष होता है। अत: प्राग् पद सार्थक है। इस पर प्रश्न होता है कि स्पष्टीकरण के लिए कोई विशेषण देने पर भी व्यर्थता दोष का निवारण तो होता नहीं है। अत: व्यर्थता दोष विद्यमान ही रहेगा। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि अभावत्त्व के जैसे ही प्रागभावत्व भी एक अखण्ड उपाधि है। अखण्ड उपाधि को जाति के समान निरवयव माना जाता है। अर्थात् प्रागभाव एक अखण्ड अर्थात् निरवयव पद है। अर्थात् दो अवयव (एक प्राग् और एक अभाव) को जोड़कर प्रागभाव पद नहीं बना है। अत: प्रागभाव शब्द से प्राग् शब्द को पृथक् नहीं किया जा सकता है। अत: प्राग् पद देना व्यर्थ नहीं है। इसलिए प्रागभावप्रतियोगी इस स्थल पर प्रतियोगी का विशेषण प्रागभाव है। इस प्रागभाव में प्राग् शब्द प्रागभावरूप अखण्डाभाव के सम्पादक के रूप से सार्थक है।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पञ्चपादिकाकार ने कहा है कि ''ज्ञानमज्ञानस्यैवनिवर्तकम्'' अर्थात् ज्ञान अज्ञान का ही निवर्त्तक है—इत्याकारक नियम है। इसलिए ''स्वनिवर्त्य'' विशेषण से ही प्रागभाव की व्यावृत्ति हो जाने पर आद्य विशेषण का कोई प्रयोजन शेष बचता ही नहीं है। [कहने का भाव यह है कि प्रागभाव यदि ज्ञान से निवर्त्य होता तो स्वनिवर्त्य विशेषण से प्रागभाव की व्यावृत्ति नहीं होती। इसलिए प्रागभाव की व्यावृत्ति करने के लिए आद्यविशेषण को देना सार्थक होता है किन्तु ज्ञान अज्ञान से भिन्न प्रागभावादि का निवर्त्तक ही नहीं होता है। अत: स्वनिवर्त्य विशेषण से ही प्रागभाव की व्यावृत्ति हो जायेगी। अत: आद्यविशेषण व्यर्थ है।]

समाधान— पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी पञ्चपादिकाकार के कथन का

किमाद्यविशेषणेनेति—निरस्तम्; प्रमात्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्येषां नेत्यत्र तात्पर्यात्। न च स्वविषयावरणपदेनैव तद्व्युदासः, 'अस्ति प्रकाशते' इति व्यवहारविरोधित्वरूपस्यावरणत्वस्य भावाभावसाधारणत्वात्।।७।।

वृत्तिजनकादृष्टेनार्थान्तरवारणाय तु विशेषणमिदम्। न चावरणपदेनैव तद्व्युदासे स्वविषयेति व्यर्थम्, यददृष्टं स्वविषयज्ञानजनकं विषयान्तरज्ञानप्रतिबन्धकतया तदावरकं तादृशादृष्ट—

सत्यानन्दप्रबोधिका

तात्पर्य ही समझ नहीं पाया है। पञ्चपादिकाकार के कथन का तात्पर्य यह है कि प्रमात्वेन ज्ञान से निवर्त्य अज्ञान ही होता है, अज्ञान से भिन्न प्रागभावादि नहीं होते हैं—ऐसा नियम है। अत: प्रमात्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्व अज्ञान में रहेगा और प्रतियोगित्वेन ज्ञान निवर्त्यत्व प्रागभाव में रहेगा। जैसे स्वपूर्ववृत्ति गुणों के प्रति उदीच्ययोग्यविभुविशेषणगुणत्वेन ज्ञान निवर्तक होता है। इसलिए प्रतियोगित्वेन ज्ञान से प्रागभाव की निवृत्ति मानने पर पञ्चपादिकाकार के कथन से कोई विरोध नहीं है। अत: प्रतियोगित्वेन ज्ञान से निवर्त्य स्वप्रागभाव की व्यावृत्ति के लिए आद्यविशेषण देना सार्थक है।

शङ्का— स्वविषयावरण—इस द्वितीय विशेषण के द्वारा ही प्रागभाव की व्यावृत्ति हो जायेगी, क्योंकि ''अभावो नावरणम्'' इस अनुभव से सिद्ध है कि प्रागभावादि अभाव पदार्थ प्रमा के विषय के आवरक नहीं होते हैं। अत: आद्यविशेषण व्यर्थ है।

समाधान— अस्ति प्रकाशते—इत्याकारक व्यवहार का विरोधित्व रूप आवरणत्व भावाभाव साधारण माना जाता है। अर्थात् स्वविषयावरण का अर्थ है प्रमा के विषय का ''अस्ति, प्रकशते'' इस प्रकार का जो व्यवहार है, उसका विरोधित्व। अज्ञानरूपभावपदार्थ और प्रागभावरूप अभाव पदार्थ दोनों ही प्रमा के विषय के आवरक (प्रमा के विषय का ''अस्ति, प्रकाशते'' इस प्रकार के व्यवहार के विरोधित्व) है। इसको स्वीकार करके ही श्रीविवरणाचार्य ने उक्त अनुमान प्रयोग किया है। अर्थात् जैसे घट का अज्ञान रहने पर ''घटोऽस्ति, घटो प्रकाशते'' इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार घटप्रागभाव के रहने पर ''घटोऽस्ति, घटो प्रकाशते'' इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है। अत: प्रागभाव भी स्वविषयावरक होने से स्वविषयावरण पद के द्वारा प्रागभाव की व्यावृत्ति नहीं होती है। अत: आद्यविशेषण सार्थक है। यहां तक साध्य के प्रथम विशेषण (स्वप्रागभावव्यतिरिक्त) पर विचार किया गया है।।७।।

यहां से साध्य में ''स्वविषयावरण'' को देने से क्या लाभ है? इसका विचार किया जा रहा है। साध्य घटक द्वितीय विशेषण (स्वविषयावरण) को न देने पर प्रमावृत्ति के जनक अदृष्ट को लेकर अर्थान्तरदोष होगा, क्योंकि द्वितीय विशेषण को छोड़कर साध्य का आकार ''स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्'' इतना ही रह जाता है। ऐसा साध्य प्रमावृत्ति के जनक अदृष्ट में समन्वय हो जायेगा, क्योंकि प्रमावृत्ति का जनक अदृष्ट प्रमावृत्ति के प्रागभाव से भिन्न है और प्रमावृत्ति से निवर्त्य भी है क्योंकि प्रमावृत्तिरूप कार्य की निष्पत्ति हो जाने पर उसका जनक अदृष्ट निवृत्त हो जाता है। जहां ज्ञान रहता है, वहां ही अदृष्ट भी रहता है। इसलिए स्वदेशगत भी है। अर्थात् उक्त अदृष्ट प्रमावृत्ति देश (अन्त:करण) गत भी है और उक्त अदृष्ट वस्त्वन्तर भी है, क्योंकि वस्तु पद से जन्यभ्रम का ग्रहण किया जाता है। अत: उक्त अदृष्ट जन्यभ्रम से भिन्न भी है। इसलिए अज्ञान सिद्धि के लिए प्रयुक्त अनुमान के द्वारा प्रमावृत्ति के जनक अदृष्ट रूप अर्थान्तर की सिद्धि हो जायेगी। इस अर्थान्तरदोष की निवृत्ति के लिए साध्य घटक स्वविषयावरण दिया गया है। स्वविषयावरण देने पर उक्त अदृष्ट में साध्य का समन्वय नहीं होगा, क्योंकि उक्त अदृष्ट कार्यानुकूल है। इसलिए उसमें स्वसत्तादशा में कार्यानुत्पादप्रयोजकत्वरूप स्वविषयावरणत्व नहीं रहता

पूर्वकत्वेनार्थान्तरवारकत्वात्। न च जड़े अज्ञानस्यानङ्गीकाराच्चितश्चाज्ञानादिसाक्षितया भासमानत्वात् क्वावरणमिति—वाच्यम्, अज्ञानादिसाक्षितया चितः प्रकाशमानत्वेऽपि 'अस्ति प्रकाशते' इति व्यवहाराभावेन तदंशेऽज्ञानावरणस्यावश्यकत्वात्। वक्ष्यते चैतत्।।८।।

स्वनिवर्त्येति च विशेषणं वृत्तिप्रतिबन्धकादृष्टेनार्थान्तरवारणाय। न च—चरमसाक्षात्कारोत्पत्ति—

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अर्थात् उक्त अदृष्ट के रहने पर घटाकार प्रमावृत्ति होगी और उसके द्वारा घट का प्रकाशन हो जाने से घट का आवरण नहीं होगा। मूलस्थ ''विशेषणमिदम'' के घटक ''इदम्'' का अर्थ है—स्वविषयावरणरूपद्वितीय विशेषण।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि स्वविषयावरण न कहकर केवल आवरण कहने पर भी प्रमावृत्ति के जनक अदृष्ट की व्यावृत्ति हो जायेगी, क्योंकि अदृष्ट अनावरणरूप होता है। अतः स्वविषयावरण का स्वविषय अंश व्यर्थ है।

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि पटाकार प्रमावृत्ति का जनक अदृष्ट यद्यपि पटाकार प्रमावृत्ति के उत्पत्ति का प्रतिबन्धक नहीं होता है किन्तु घटाकार प्रमावृत्ति के उत्पत्ति का प्रतिबन्धक होता है। अतः उक्त अदृष्ट में विषयान्तर (घटाकार प्रमावृत्ति) के उत्पत्तिरूप प्रतिबन्धकरूप आवरणत्व है। आवरण मात्र कहने पर प्रमावृत्ति के जनक अदृष्ट में अर्थान्तरदोष होता, क्योंकि उक्त अदृष्ट पटाकारप्रमावृत्ति के उत्पत्ति का प्रतिबन्धक न होने पर भी घटाकारप्रमावृत्ति के उत्पत्ति का प्रतिबन्धक है। (अर्थात् पटाकार प्रमावृत्ति के जनक अदृष्ट के द्वारा घटाकार प्रमावृत्ति की उत्पत्ति अवरूद्ध हो जाने से घटाकारवृत्ति के द्वारा घट का प्रकाशन नहीं हो पायेगा।) स्वविषयावरण कहने पर पटाकारप्रमावृत्ति का जनक अदृष्ट पटाकारप्रमावृत्ति के उत्पत्ति का प्रतिबन्धक नहीं होता है। इसलिए उक्त अदृष्ट में कार्यानुत्पादप्रयोजकत्वरूप स्वविषयावरण नहीं रहने से अर्थान्तरदोष नहीं होगा।

शङ्का— जड़ में अज्ञान माना नहीं जाता है, क्योंकि जड़ में प्रकाश प्रशक्त ही नहीं है और जो चैतन्य है उसको अज्ञान आवृत्त कर दे तो अज्ञान का प्रकाशन ही नहीं हो पायेगा। जबकि ''अहमज्ञ'' इस प्रकार से अज्ञान को प्रकाशित करते हुए साक्षी का भान होता है। अतः साक्षी में भी अज्ञान का आवरण नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार से जड़ और चैतन्य दोनों में ही आवरण सम्भव न होने से ''स्वविषयावरण'' यह विशेषण ही व्यर्थ है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञानादिसाक्षित्वेन चित की प्रकाशमानता होने पर भी अर्थात् स्वरूपेण चैतन्य अज्ञान के द्वारा आवृत्त न होने पर भी ''अविद्यावृत्यवच्छिन्नचैतन्यरूपसाक्षिचैतन्यमस्ति'' ''अविद्यावृत्यवच्छिन्नचैतन्यरूपसाक्षिचैतन्यं भाति'' ''घटोऽस्ति'' ''घटो भाति'' इत्यादि व्यवहार कभी—कभी नहीं होते हुए देखा जाता है। ऐसे व्यवहार की उपपत्ति के लिए जड़ावच्छेदेन चैतन्य (अज्ञान और अज्ञान के द्वारा प्रयुक्त पदार्थ से अवच्छिन्न चैतन्य) अज्ञान के द्वारा आवृत्त रहता है— यह मानना ही पड़ेगा। अन्यथा सदा अनावृत्त जड़ावच्छिन्न चैतन्य के द्वारा ''साक्षिचैतन्यमस्ति'' ''साक्षिचैतन्यं भाति'' ''घटोऽस्ति'' ''घटो भाति'' इत्याकारक व्यवहार सर्वदा ही होने लगेगा। अतः जड़ावच्छेदेन चैतन्य में आवरण का आवश्यकत्व है। अज्ञान के विषय निरूपण के अवसर पर आगे विस्तार से इस विषय पर चर्चा की जायेगी।।८।।

यहां से साध्य के तृतीय विशेषण (स्वनिवर्त्य) के देने का क्या प्रयोजन है? इस पर विचार किया जा रहा है। ''स्वनिवर्त्य'' यह विशेषण प्रमावृत्ति के प्रतिबन्धक अदृष्ट से होने वाले अर्थान्तरदोष के निवारण के लिए है। [कहने का भाव यह है कि साध्य घटक स्वनिवर्त्य विशेषण

प्रतिबन्धकादृष्टस्य तदनिवर्त्यत्वे मिथ्यात्वासिद्धिः, तन्निवर्त्यत्वे तद्व्युदसनमशक्यमिति—वाच्यम्, प्रतिबन्धकादृष्टे विद्यमाने न ज्ञानोत्पत्तिरिति प्रथमं तन्निवृत्तेः कारणात्मना स्थितस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

को न देने पर साध्य का आकार होगा—स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्। उक्तवृत्ति का प्रतिबन्धकीभूत जो अदृष्ट है, वह स्वप्रागभाव से व्यतिरिक्त है और उसमें कार्यानुत्पादप्रयोजकत्वरूप स्वविषयावरणत्व भी है। (अर्थात् उक्त वृत्ति के प्रतिबन्धकीभूत उक्त अदृष्ट के द्वारा उक्तवृत्ति की उत्पत्ति रोक दिये जाने से उक्तवृत्ति ही नहीं उत्पन्न होगी और उक्तवृत्ति के उत्पन्न न होने पर उक्तवृत्ति के विषय का प्रकाशन भी नहीं होगा। इस प्रकार से उक्त अदृष्ट में उक्तवृत्ति के विषय का आवरणत्व भी है।) उक्त अदृष्ट प्रमावृत्ति देशगत भी है तथा जन्यभ्रम से भिन्न होने के कारण उक्त अदृष्ट में वस्त्वन्तरपूर्वकत्व भी है। इस प्रकार अज्ञानसिद्धि के लिए प्रयुक्त अनुमान प्रमावृत्ति के प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट की सिद्धि से गतार्थ हो जाने से अर्थान्तरदोष हो जाता है। ''स्वनिवर्त्य'' विशेषण देने पर अर्थान्तरदोष नहीं होगा, क्योंकि कार्य जो उत्पन्न होता है, वह प्रायश्चित्तादि कारणान्तर के द्वारा प्रतिबन्धकीभूत अदृष्टादि के निवृत्ति के बाद होता है— यह सर्वसम्मत है। अतः उक्त प्रमावृत्ति का प्रतिबन्धक जो अदृष्ट है, वह उक्त प्रमावृत्ति से निवर्त्य नहीं होगा। अर्थात् उक्त प्रमावृत्ति पश्चात् होने वाली है और उक्त प्रतिबन्धक की निवृत्ति पूर्व में होती है। इसलिए उक्तप्रमावृत्ति के द्वारा उक्त अदृष्ट की निवृत्ति नहीं होती है। अतः उक्त प्रमावृत्ति और उक्त अदृष्ट में निवर्त्यनिवर्तकभाव भी नहीं माना जाता है।]

शङ्का— सिद्धान्ती ने प्रतिबन्धकीभूत उक्त अदृष्ट में अर्थान्तरदोष वारण के लिए स्वनिवर्त्य दिया और कहा कि पश्चात् होने वाली उक्त वृत्ति के द्वारा पूर्व स्थित अदृष्ट का नाश नहीं होता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि चरम साक्षात्कार रूप प्रमावृत्ति के उत्पत्ति का प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट यदि चरम साक्षात्काररूपप्रमावृत्ति से निवर्त्य नहीं है तब उसमें ज्ञाननिवर्त्य का अभाव होने से मिथ्यात्व ही सिद्ध नहीं होगा। यदि उक्त वृत्ति के द्वारा उक्त अदृष्ट में निवर्त्यत्व माना जाता है तब स्वनिवर्त्य विशेषण देने पर भी उक्त अदृष्ट को लेकर अर्थान्तरदोष बना ही रहेगा।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिबन्धक अदृष्ट के विद्यमान होने पर चरम साक्षात्काररूप प्रमावृत्ति की उत्पत्ति ही नहीं होती है। इसलिए पहले प्रायश्चित्तादि कारणान्तर से उक्त अदूट की निवृत्ति हो जाने पर ही चरमसाक्षात्कार की उत्पत्ति होती है। इसलिए उक्त अदृष्ट की निवृत्ति चरमसाक्षात्कार से नहीं मानी जाती है। प्रायश्चित्तादि कारणान्तर से उक्त अदृष्ट की स्थूलरूपेण निवृत्ति होने पर भी वह अदृष्ट कारणात्मना सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है। उसी सूक्ष्मरूप से विद्यमान अदृष्ट की निवृत्ति चरमसाक्षात्कार के द्वारा होती है। इसलिए उक्त अदृष्ट में ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व का लक्षण चले जाने से उक्त अदृष्ट में मिथ्यात्व की सिद्धि हो जायेगी। [तृतीय मिथ्यात्व विचार के अवसर पर खण्ड संख्या ३ में ज्ञाननिवर्त्यत्व का पर्यवसित अर्थ कहा गया है— ज्ञानप्रयुक्तावस्थितिसामान्यविरहप्रतियोगित्वम्। इसके अनुसार दण्डादि से घटादि का ध्वंस हो जाने पर भी अतीत घटादि का कारणात्मना अवस्थान बना रहता है। उसकी निवृत्ति तत्त्वज्ञान से होती है। अतः अतीत घटादि में मिथ्यात्व के लक्षण का समन्वय हो जाता है। ठीक इसी प्रकार चरम साक्षात्कार का प्रतिबन्धकीभूत जो अदृष्ट है उसका प्रायश्चित्तादि के द्वारा स्वरूपेण (कार्यरूपेण) अवस्थिति का अभाव होने पर भी कारणात्मना अवस्थिति का अभाव नहीं होता हैं किन्तु कारणरूपेण अवस्थिति का अभाव चरम साक्षात्कार के द्वारा होता है। अतः उक्त अदृष्ट में मिथ्यात्व

मिथ्यात्वम्। न चैवमपि स्वनिवर्त्यत्वमव्याहतम्, स्वनिवर्त्यस्वरूपत्वे तात्पर्यात्॥९॥

अन्धकारेणार्थान्तरवारणार्थमिदमिति—केचित्, तन्न, स्वदेशगतेत्यनेनैव तद्व्युदासात्। यथा च

सत्यानन्दप्रबोधिका

का लक्षण समन्वय हो जाता है।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने चरमसाक्षात्कार के द्वारा उक्त अदृष्ट का स्वरूपेण निवृत्ति न मानने पर भी कारणात्मना निवृत्ति मानी है। अत: उक्त अदृष्ट में चरमसाक्षात्कारनिवर्त्यत्व अव्याहत है। अत: स्वनिवर्त्य विशेषण देने पर भी उक्त अदृष्ट में पूर्वोक्त प्रकार से अर्थान्तरदोष होगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि साध्य के स्वनिवर्त्यत्व विशेषण के द्वारा स्वरूप से स्वनिवर्त्यत्व कहा गया है। अत: उक्त अदृष्ट में अर्थान्तरदोष नहीं होगा, क्योंकि उक्त अदृष्ट की स्वरूपत: (कार्यरूपेण) निवृत्ति प्रायश्चित्तादि से होती है, चरमसाक्षात्कार के द्वारा नहीं होती है, यह कहा जा चुका है। अत: स्वनिवर्त्य विशेषण देने पर चरमसाक्षात्कार के द्वारा उक्त अदृष्ट की स्वरूपेण निवृत्ति न होने से उक्त अदृष्ट में अर्थान्तरदोष नहीं होगा॥९॥

कुछ लोगों का कथन है कि साध्य में स्वनिवर्त्य विशेषण न देने पर अन्धकार को लेकर अर्थान्तरदोष होगा, क्योंकि अन्धकार स्वप्रागभाव से व्यतिरिक्त और स्वविषयावरणरूप है। स्वनिवर्त्य विशेषण देने पर अन्धकार में अर्थान्तरदोष नहीं होगा, क्योंकि अन्धकार स्वनिवर्त्य नहीं है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''स्वदेशगत'' इस विशेषण के द्वारा ही अन्धकार की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि प्रमावृत्ति के अन्त:करणादि देश में अन्धकार नहीं रहता है अपितु प्रमावृत्ति के विषयीभूत पटादि के देश में अन्धकार रहता है। अत: स्वनिवर्त्य विशेषण के द्वारा अन्धकार में प्रसक्त अर्थान्तरदोष का निवारण नहीं किया गया है। अपितु प्रमावृत्ति के प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट में प्रसक्त अर्थान्तरदोष का निवारण किया गया है। [पूर्वपक्षी का कथन है कि साध्य में तृतीय विशेषण (स्वनिवर्त्य) न देने पर पूर्वोक्त प्रकार से प्रमावृत्ति प्रतिबन्धकीभूत अदृष्ट को लेकर अर्थान्तरदोष होगा और तृतीय विशेषण देने पर बाधदोष होगा, क्योंकि प्रमारूपान्त:करणवृत्ति पक्ष है। सिद्धान्ती प्रमावृत्ति का फल तीन प्रकार का मानते हैं—आवरणाभिभवार्था वृत्ति, अभेदाभिव्यक्तर्था वृत्ति और चिदुपरागार्था वृत्ति। वृत्ति के चिदुपरागार्थ पक्ष में वृत्ति अज्ञान का निवर्तक न होने से प्रमावृत्ति मात्र अज्ञान का निवर्तक है—यह सिद्ध नहीं हो पायेगा। प्रमावृत्ति अज्ञान का निवर्तक न होने से बाधदोष होगा। यदि घटाकारवृत्ति के द्वारा अथवा घटाकारवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा घटाधिष्ठानीभूत चैतन्य अभिव्यक्त होता है—ऐसा कहते हैं। तब घटाधिष्ठानीभूत अभिव्यक्त चैतन्य को घटज्ञान मानने पर घटाकारवृत्ति अथवा घटाकारवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा घटाधिष्ठानीभूतचैतन्य के आवरण का नाश होने पर भी जो घटज्ञान (घटाधिष्ठानीभूत चैतन्य) है, उसके द्वारा आवरण का नाश नहीं हुआ और जिस घटाकारवृत्ति या घटाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य के द्वारा आवरण का नाश हुआ वह घटज्ञान नहीं है। अत: बाधदोष होगा। यदि घटाकारवृत्ति या घटाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को घटज्ञान मानते हैं तब घटज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर भी ज्ञान में ज्ञेय अध्यस्त होता है—ऐसा जो सिद्धान्ती का मत है, उसका बाध हो जायेगा, क्योंकि घटादि घटाकारवृत्ति या घटाकारवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य में अध्यस्त नहीं होते हैं अपितु स्वाधिष्ठानचैतन्य में अध्यस्त होते हैं। इस शङ्का का समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य विषयावच्छिन्नचैतन्य के साथ संसृष्ट होकर अज्ञान का निवर्तक होता है। इसका प्रतिपादन प्रतिकर्मव्यवस्था विचार में किया जा चुका है। अर्थात्

वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्येन सहैकलोलीभावादज्ञाननिवर्तकत्वं, तथोक्तं प्राक्।।१०।।

स्वदेशगतेति च विशेषणं विषयगताज्ञातत्वेनार्थान्तरवारणाय। यद्यप्यविद्याविषयत्वरूप–

सत्यानन्दप्रबोधिका

वृत्ति के चिदुपरागार्थ पक्ष में भी वृत्ति को अज्ञान का निवर्तक माना जाता है। इसका प्रतिपादन प्रतिकर्मव्यवस्था के निरूपण के अवसर पर खण्ड संख्या २२ में कहा गया है–'' अत एव एकवृत्युपारूढ़लक्षणैकलोलीभावापन्नं प्रमातृप्रमाणप्रमेयचैतन्यं भवति, ततस्तदवच्छेदेन अज्ञाननिवृत्या भासमानं प्रमेयचैतन्यमपरोक्षं फलमित्युच्यते।'' इसलिए वृत्ति के चिदुपरागार्थत्व पक्ष में भी अज्ञानगत आवरणनिवर्तकत्व होने से बाधदोष नहीं होगा। प्रमावृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त विषयाधिष्ठानभूत चैतन्य ही विषय का प्रमाज्ञान है। अभिव्यक्त अधिष्ठानभूत चैतन्य में विषय अभेदेन (तादात्म्येन) अध्यस्त है। अतः ज्ञान में ज्ञेय अध्यस्त है–इस मत में भी कोई दोष नहीं है।।१०।।

यहां से साध्य के चतुर्थविशेषण (स्वदेशगत) के देने का क्या प्रयोजन है? इस पर विचार प्रारम्भ किया जा रहा है। साध्य का चतुर्थ विशेषण ''स्वदेशगत'' न देने पर साध्य का आकार होगा–स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यवस्त्वन्तरपूर्वकम्। ऐसा साध्य विषयगत अज्ञातत्व धर्म में समन्वय हो जाने से अर्थान्तरदोष होगा। अर्थात् कोई भी विषय ज्ञात होने से पूर्व अज्ञात रहता है, इसलिए विषय में अज्ञातत्व धर्म माना जाता है। विषयगत अज्ञातत्व धर्म प्रमा के प्रागभाव से भिन्न, प्रमा के विषय को आवृत्त करने वाला तथा प्रमा से निवर्त्य माना जाता है। अतः अज्ञानसाधक अनुमान विषयगत अज्ञातत्व को लेकर चरितार्थ हो जाने से अर्थान्तरदोष होगा। इस दोष के निवारण के लिए ''स्वदेशगत'' यह विशेषण दिया गया है। साध्य का चतुर्थ विशेषण देने पर अर्थान्तरदोष नहीं होगा, क्योंकि विषय में रहने वाला अज्ञातत्व धर्म विषयगत होता है, प्रमादेश (अन्तःकरण) गत नहीं होता है। [इस पर पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि विषयगत अज्ञातत्व धर्म क्या है? वह क्या विषयविषयक ज्ञानाभाव है? अथवा विषय में अज्ञान की विषयता है? प्रथम पक्ष में भी प्रश्न होता है कि विषयविषयकज्ञानाभाव से विषयविषयकज्ञानप्रागभाव विवक्षित है? अथवा विषयविषयकज्ञानात्यन्ताभाव विवक्षित है? यदि विषयविषयक ज्ञानाभाव से विषयविषयकज्ञानप्रागभाव विवक्षित है तब तो उसकी व्यावृत्ति साध्य के प्रथम विशेषण स्वप्रागभावव्यतिरिक्त के द्वारा ही हो जायेगी। दूसरी बात यह भी है कि प्रागभाव प्रतियोगी के समानदेश में नियत होता है। अतः स्वदेशगत विशेषण देने पर भी प्रागभाव की व्यावृत्ति नहीं हो पायेगी। यदि विषयविषयकज्ञानाभाव से विषयविषयकज्ञानात्यन्ताभाव को स्वीकार करते हैं, तब भी ''स्वदेशगत'' विशेषण को देने की आवयकता नहीं है, क्योंकि प्रथम विशेषण में प्राग् शब्द को न देकर केवल स्वाभावव्यतिरिक्त कहने पर विषयविषयकज्ञानात्यन्ताभाव की व्यावृत्ति हो जायेगी। यदि अज्ञानविषयत्व को विषयगत अज्ञातत्व कहते हैं तब तो इस अनुमान से पहले अज्ञान ही असिद्ध है। अतः असिद्ध अज्ञानविषयत्व को लेकर अर्थान्तरदोष की शङ्का ही नहीं होगी। अतः अर्थान्तरदोष की व्यावृत्ति के लिए ''स्वदेशगत'' विशेषण देना व्यर्थ है। यदि इस अनुमान से पहले ही अज्ञान की सिद्धि सिद्धान्ती मानते हैं तब तो यह अनुमान गृहीत ग्राही होने से इस अनुमान में प्रामाण्य ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। अप्रमाणीभूत अनुमान में अर्थान्तरदोष का कोई फल नहीं है। पूर्वपक्षी की इस शङ्का को मूल में अद्वैतसिद्धिकार ने इन शब्दों में कहा है–यद्यपि अविद्याविषयत्वरूपमज्ञातत्वमसिद्धम्, ज्ञातत्वात्यन्ताभवरूपं तु प्रथम विशेषणैन परास्तम्।] यद्यपि अविद्याविषयत्व रूप अज्ञातत्व विषय में असिद्ध है और ज्ञातत्वाभाव रूप अज्ञातत्व की व्यावृत्ति प्रथम विशेषण (स्वप्रागभावव्यतिरिक्त) से ही हो जाती हैं तथापि

मज्ञातत्वमसिद्धम्, ज्ञातत्वाभावरूपं तु प्रथमविशेषणेनैव परास्तम्, तथापि प्रथमेन प्रागभावव्युदा- सादत्यन्ताभावव्युदासाय चतुर्थमिति द्रष्टव्यम्।।११।।

ननु—कथं ज्ञानाश्रयगतत्वमज्ञानस्य? वृत्त्यादिरूपस्य ज्ञानस्याज्ञानाश्रयचिदनाश्रितत्वादिति चेन्न, अन्तःकरणस्य चिदाश्रितत्वेन तद्वृत्तेस्तत्प्रतिफलितचैतन्यस्य वा ज्ञानस्य चिदाश्रितत्वसम्भवात्, किञ्चिदवच्छिन्नतदाश्रितस्यापि तदाश्रितत्वानपायात्, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशाश्रितस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

विषयविषयकज्ञानात्यन्ताभाव रूप अज्ञातत्व की व्यावृत्ति के लिए ''स्वदेशगत'' विशेषण दिया गया है। यद्यपि अत्यन्ताभाव को नित्य मानने वालों के मत में ज्ञानात्यन्ताभाव नित्य होने के कारण ज्ञान से निवर्त्य नहीं होता है। अतः स्वनिवर्त्य विशेषण से ही उसकी व्यावृत्ति हो जायेगी। तथापि ''उत्पत्तिविनाशशालिनः समयविशेषवर्तिनोऽभावस्य मते=सामयिकात्यन्ताभाव के प्रतियोगिनाश्यत्व, के मत में विषयविषयकज्ञान के सामयिकात्यन्ताभाव रूप विषयगत अज्ञातत्व को लेकर होने वाले अर्थान्तरदोष की व्यावृत्ति के लिए ''स्वदेशगत'' विशेषण देना आवश्यक है। स्वदेशगत विशेषण देने पर उक्त विषयगत अज्ञातत्व प्रमादेशगत न होने से अर्थान्तरदोष नहीं होगा। [यद्यपि मूल में वस्त्वन्तर पद की व्याख्या नहीं की गयी है तथापि उसकी व्याख्या इस प्रकार से समझ लेनी चाहिए। अन्यद् वस्त्विति वस्त्वन्तरम्। वस्तुपद से प्रमानिवर्त्यजन्यभ्रम का ग्रहण किया गया है। अतः प्रमानिवर्त्यजन्यभ्रम से भिन्न अज्ञान ही वस्त्वन्तर है। वस्त्वन्तर पद न देने पर साध्य का आकार होगा— प्रमाप्रागभावव्यतिरिक्तप्रमाविषयावरणप्रमानिवर्त्यप्रमादेशगतवस्तुपूर्वकम्। ऐसा साध्य जन्य भ्रम में समन्वय हो जायेगा, क्योंकि जन्यभ्रम प्रमाप्रागभाव से व्यतिरिक्त है और प्रमा के विषय को आवृत्त भी करता है और प्रमा से निवर्त्य है तथा प्रमादेशगत है और प्रमापूर्वक भी है। अतः जन्यभ्रम को लेकर अर्थान्तरदोष होता है। इसको स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा है—''वस्त्वन्तरपदं प्रमामात्रस्य भ्रमपूर्वकत्वसिद्धिमादायार्थान्तरस्य वारणाय स्वनिवर्त्यजन्यभ्रमान्यार्थकम्'' अतः अर्थान्तरदोष के वारण के लिए वस्त्वन्तरपद दिया गया है। वस्त्वन्तर पद देने पर जन्यभ्रमज्ञानरूप वस्तु से भिन्न अज्ञानरूप वस्तु को लिया जायेगा। अतः अर्थान्तरदोष नहीं होगा। वेदान्तपरिभाषा की शिखामणि टीका की व्याख्या मणिप्रमा में वस्त्वन्तर के घटक वस्तु शब्द से आत्मा को लिया गया है किन्तु वह असङ्गत है, क्योंकि साध्य में स्वनिवर्त्य विशेषण पहले से ही विद्यमान है। अतः प्रमा से निवर्त्य आत्मा हो नहीं सकता है। अतः आत्मा को लेकर अर्थान्तरदोष के वारण के लिए वस्त्वन्तर पद नहीं दिया गया है अपितु जन्यभ्रम को लेकर आने वाले अर्थान्तरदोष के वारण के लिए दिया है]।।११।।

शङ्का— स्वदेशगत=प्रमाज्ञानदेशगत=प्रमाज्ञानाश्रयगतत्व अज्ञान में नहीं माना जा सकता है। अर्थात् जिस देश में प्रमाज्ञान रहता है, उसी देश में अज्ञान रहता है—ऐसा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रमाज्ञान अन्तःकरण की वृत्तिरूप अथवा अन्तःकरण की वृत्ति में प्रतिबिम्बितचैतन्यरूप माना जाता है। इस प्रकार का प्रमाज्ञान अज्ञान के आश्रयीभूत शुद्धचैतन्य देश में नहीं रहता है। अपितु अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य देश में रहता है। अतः प्रमाज्ञान और अज्ञान एक आश्रय के आश्रित नहीं है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण चित् में आश्रित होने से अन्तःकरण की वृत्ति या अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूप प्रमाज्ञान का चिदाश्रितत्व सम्भव है, क्योंकि किञ्चिदवच्छिन्नतदाश्रित का तदाश्रितत्व मानने में कोई दोष नहीं होता है। जैसे कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश में आश्रित शब्द का शुद्ध आकाश में आश्रितत्व माना जाता है। ठीक इसी प्रकार अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य में आश्रित प्रमाज्ञान का शुद्ध चैतन्य में आश्रितत्व माना ही जा सकता है। इस प्रकार

शब्दस्याकाशाश्रितत्ववत्।।१२।।

एवञ्च भावाभावसाधारणमावरणमिति मतेन साध्यमुपपादितम्। अभावो नावारक इति सिद्धान्ते तु साध्यद्वये तात्पर्यम्। स्वप्रागभावातिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमित्येकम्। स्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकमित्यपरमिति न किञ्चिदसमञ्जसम्।।१३।।

हेतौ च प्रकाश(क)त्वं प्रकाश(क)पदवाच्यत्वं, अप्रकाशविरोधित्वं वा ज्ञानालोकयोः साधारणम्। यद्यपि प्रकाश(क)पदवाच्यत्वं नामकरणवशात् कस्मिंश्चित् पुरुषेऽप्यस्ति, तथापि प्रकाश(क)शब्देन

सत्यानन्दप्रबोधिका

से अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य के आश्रित प्रमाज्ञान शुद्धचैतन्य के आश्रित हैं—यह सिद्ध हो गया और वही शुद्धचैतन्य अज्ञान का आश्रय है। अतः दोनों में समानदेशता मानी ही जा सकती है।।१२।।

पीछे खण्ड संख्या ७ में कहा गया था—''अस्ति, प्रकाशते'' इस व्यवहार का प्रतिबन्धक रूप आवरण भावाभाव साधारण मानकर श्रीविवरणाचार्य ने यह अनुमान किया है। उसी के अनुसार अर्थात् भावाभाव साधारण आवरण मानने वालों के मतानुसार ही यहां तक साध्य के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतस्तु श्रीविवरणाचार्य ने यह अभ्युपगमवादानुसार ही ज्ञानाभावगत आवरणत्व स्वीकार किया है। वास्तव में ज्ञानाभावगत आवरणत्व होता ही नहीं किन्तु भावरूप अज्ञानगत ही आवरणत्व होता है, क्योंकि अज्ञानत्व जाति की अपेक्षा ज्ञानाभावत्वरूप धर्मगत गुरुत्व है। अतः भावरूप अज्ञान के द्वारा ही ''अस्ति, प्रकाशते'' इस व्यवहार का प्रतिबन्धकरूप आवरण सिद्ध हो जाता है। इसलिए अभाव आवरण नहीं होता है—ऐसा स्वीकार करने वाले अद्वैत सिद्धान्त मतानुसार उक्त साध्य का तात्पर्य साध्यद्वय में है। प्रथम साध्य का आकार होगा—स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्। द्वितीय साध्य का आकार होगा—स्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्। इस प्रकार प्रमाज्ञानरूप पक्ष में इन दोनों में से किसी भी एक द्वारा भावरूप—अज्ञान की सिद्धि की जा सकती है। इस प्रकार कुछ भी अनुपपन्न नहीं है। [कहने का भाव यह है कि जब अभाव विषय का आवरण नहीं करता है तब स्वविषयावरण—इस विशेषण के द्वारा ही ज्ञान के प्रागभाव का निवारण हो जायेगा। अतः प्रागभाव के निवारण के लिए स्वविषयावरण से पृथक् स्वप्रागभावव्यतिरिक्त देने की आवश्यकता नहीं है। इसको द्वितीय साध्य के आकार से स्पष्ट किया गया है। यदि प्रागभाव का निवारण स्वप्रागभावव्यतिरिक्त विशेषण के द्वारा किया जाता है तब स्वविषयावरण विशेषण को देने की आवश्यकता नहीं हैं। इस पर प्रश्न होता है कि स्वविषयावरण को न देने पर खण्ड संख्या ८ में वृत्तिजनक अदृष्ट में जो अर्थान्तरदोष हो रहा था, उसका वारण कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि यह अनुमान उस मत से किया गया है जिस मत में प्रमाज्ञान का आवरक अज्ञान ही माना गया है न कि वृत्तिजनक अदृष्टादि। अतः प्रमा के विषय का आवरक उक्त अदृष्ट के न होने से अर्थान्तरदोष नहीं होगा। इसको प्रथम साध्य से स्पष्ट किया गया है। यहां तक अविद्यासाधक अनुमान के साध्यांश पर विचार किया गया है]।।१३।।

इस अविद्या साधक अनुमान में साध्यप्रतिपादक वाक्य के अर्थ का निरूपण करने के पश्चात् हेतु प्रतिपादक वाक्य के अर्थ पर विचार प्रारम्भ हो रहा है। इस अविद्यासाधक अनुमान का हेतु है—अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्=योऽर्थः प्रमोत्पत्तेः प्राक् अप्रकाशित आसीत् तदर्थप्रकाशकत्वम्। सर्वप्रथम हेतु के विशेष्यभाग की व्याख्या करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रकाशकत्व का अर्थ प्रकाशकपदवाच्यत्व अथवा अप्रकाशविरोधित्व है। इन दोनों का ही पक्ष (प्रमाज्ञान) और दृष्टान्त

शास्त्रे सर्वदेशकालयोर्वा व्यवह्रियमाणत्वं तद्विवक्षितम्। अथवास्तु साधारणम्। अप्रकाशितार्थगोचरेति विशेषणाद् व्यभिचारव्युदासः॥१४॥

अप्रकाशितत्वं च 'न प्रकाशत' इति व्यवहारगोचरत्वम्, तच्च स्वप्रकाशचैतन्येऽप्यस्तीत्युपपादितम्। एवं निरुक्ताप्रकाशविरोधित्वमपि ज्ञानालोकयोः प्रत्यक्षसिद्धम्। उक्तं च विवरणे— 'ज्ञानप्रकाश्यत्वादज्ञानविरोधित्वादन्यदेव आलोकप्रकाश्यत्वं तमोविरोधित्वं नामेति। अत उभयोरेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

(आलोक) में समन्वय हो जायेगा। [कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी के द्वारा सिद्धान्त मत में यह जो शङ्का की जाती है कि प्रकाशकत्व का अर्थ यदि प्रकाशपदवाच्यत्व करते हैं, तब पक्ष (प्रमाज्ञान) और दृष्टान्त (आलोक) में यद्यपि प्रकाशकपदवाच्यत्व है तथापि शब्दमात्रसाम्य के द्वारा अनुमान को सिद्ध करने पर ''पृथ्वी शृङ्गवती, गोशब्दवाच्यत्वात्, प्रसिद्धगोवृषभादिवत्।'' इस अनुमान के द्वारा पृथ्वी में शृङ्ग की सिद्धि भी मानने की आपत्ति होगी। इसका खण्डन आचार्यप्रवर इसी प्रकरण में आगे करेंगे कि अविद्यासाधक अनुमान में अनुकूल तर्क है और पृथ्वी के शृङ्गानुमाने में अनुकूल तर्क नहीं है, इस प्रकार से प्रकाशकत्व शब्द का प्रकाशपदवाच्यत्व अर्थ करने पर कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार प्रकाशकत्व शब्द का अप्रकाशविरोधित्व अर्थ भी करने पर कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रमा अप्रकाशितविषय की प्रकाशिका होने से विषयाप्रकाशविरोधिनी मानी जाती है। आलोक अन्धकारावृत वस्तु का प्रकाशक होने से वस्तु के अप्रकाश का विरोधी होता ही है। अतः पक्ष और दृष्टान्त दोनों में ही हेतु का समन्वय हो जायेगा। इस द्वितीय पक्ष में हेतु घटक अप्रकाशितार्थ को नहीं देना चाहिए,क्योंकि इसका कोई प्रयोजन नहीं है। इसको केवल प्रथम पक्ष में ही देना चाहिए, इसे आगे स्वयं ही अद्वैतसिद्धिकार मूल में स्पष्ट करेंगे। अतः प्रकाशकत्वशब्द का प्रदर्शित उक्त अर्थद्वय निर्दोष है।]

शङ्का— प्रकाशकत्व का अर्थ प्रकाशकपदवाच्यत्व करने पर व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि जब देवदत्त अपने पुत्र का नाम ''प्रकाशक'' रखता है तब देवदत्त के पुत्र में प्रकाशक पदवाच्यत्व रहेगा किन्तु उक्तवस्त्वन्तरपूर्वकत्वरूप साध्य नहीं रहेगा।

समाधान — इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि शास्त्रों में अथवा सर्वदेश सर्वकाल में अनादिकाल से ''प्रकाशक'' शब्द के द्वारा व्यवह्रियमाण जो (ज्ञान और आलोक) अर्थ है, वही यहां प्रकाशपदवाच्यत्व से विवक्षित है। देवदत्त का पुत्र सादि है। अतः वह शास्त्रों में या सर्वदेशकाल में प्रकाशक पद के द्वारा व्यवहृत नहीं माना जा सकता है। अथवा प्रकाशकपदवाच्यत्व प्रमाज्ञान, आलोक तथा देवदत्त के पुत्रादि सर्वसाधारण माना भी जाय तो भी उक्त व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि ''अप्रकाशितार्थगोचर'' इस विशेषण से ही उक्त व्यभिचारदोष का वारण हो जायेगा, क्योंकि देवदत्त का ''प्रकाशक'' नाम का पुत्र अप्रकाशितार्थविषयक प्रकाश नहीं है।॥१४॥

पीछे कहा गया कि ''अप्रकाशितार्थगोचर'' इस विशेषण से व्यभिचारदोष का वारण हो जायेगा। अप्रकाशितार्थगोचर के घटक अप्रकाशितत्व का क्या अर्थ है? इसका निरूपण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''न प्रकाशते'' इत्याकारक व्यवहारविषयत्व को ''अप्रकाशितत्व'' शब्द से कहा गया है। ऐसा ''अप्रकाशितत्व'' स्वप्रकाशचैतन्य में है— यह अज्ञानप्रत्यक्ष के निरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है। ''स्वप्रकाशचैतन्येऽपि'' यहां अपि शब्द से लौकिक आलोक का ग्रहण कर लेना चाहिए। [अर्थात् चैतन्य स्वप्रकाश होने पर भी अज्ञान के द्वारा आवृत होने से बद्ध दशा में ''चैतन्यं न प्रकाशते'' इस प्रकार के व्यवहार का विषय बनता है। अतः उसमें अप्रकाशितत्व चला

साक्षादप्रकाशविरोधित्वसम्भवान्नेन्द्रियसन्निकर्षादौ व्यभिचारः। एवं चाप्रकाशितार्थगोचरत्वे सति प्रकाशशब्दवाच्यत्वाद् अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्वादिति वा हेतुः पर्यवसितः।१५।।

विपर्ययविषयस्तु नाज्ञातः, विपर्ययान्यकालासत्त्वेन तस्यानिर्वचनीयस्य मानगोचरत्वाभावेन प्रकाशप्राक्कालसत्त्वघटिताप्रकाशितत्वासम्भवाद्, अत एव स नाप्रकाशविरोधी, स्वविषये अप्रकाशाभावाद्, अधिष्ठानाप्रकाशस्तु तस्य जनक एव। स्मरणे च व्यभिचाराभावः स्पष्टः। अनुकूलतर्कश्च 'त्वदुक्तमर्थं

सत्यानन्दप्रबोधिका

जायेगा। ब्रह्माकारवृत्ति के द्वारा अज्ञान के निवृत्त हो जाने पर स्वप्रकाश चैतन्य का स्वतः स्फुरण हो जाता है। अतः ब्रह्माकारवृत्ति रूप प्रमा में हेतु चला गया। अन्धकार से आवृत आलोक भी ''न प्रकाशते'' इस व्यवहार का विषय बनता है। अतः आलोक में भी अप्रकाशितत्व विद्यमान है। इस प्रकार से अप्रकाशितत्व पक्ष और दृष्टान्त दोनों में ही विद्यमान है।] इसप्रकार से प्रकाशकत्व के प्रकाशपदवाच्यत्वरूप अर्थ का निरूपण हो जाने पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इसी प्रकार प्रकाशकत्व का अप्रकाशविरोधित्व रूप अर्थ भी उचित ही है, क्योंकि अप्रकाशविरोधित्व प्रमाज्ञान और आलोक में प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अर्थात् प्रमाज्ञान अज्ञानरूप अप्रकाश का विरोधी है और आलोक अन्धकाररूप अप्रकाश का विरोधी है—यह सर्वानुभव सिद्ध है। इसको स्पष्ट करते हुए श्री विवरणाचार्य ने कहा है—ज्ञानप्रकाश्यत्व= ज्ञानप्रयुक्तनाशवत्त्व=ज्ञानप्रयुक्ताज्ञाननाश रूप अज्ञानविरोधित्व से भिन्न ही आलोकप्रकाश्यत्व= आलोकप्रयुक्तनाशवत्त्व= आलोकप्रयुक्ततमनाशरूप तमोविरोधित्व है। [अर्थात् प्रमाज्ञान में रहने वाला अज्ञानविरोधित्व धर्म से भिन्न आलोक में रहने वाला तमोविरोधित्व धर्म है। अतः पक्ष (प्रमाज्ञान) और दृष्टान्त (आलोक) में एक प्रकार से हेतु (अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्व) का समन्वय नहीं हो रहा है अपितु भिन्न—भिन्न प्रकार से हेतु का समन्वय पक्ष और दृष्टान्त में हो रहा है। अतः इस हेतु को सद्हेतु नहीं माना जा सकता है। इसका समाधान करते हुए श्री विवरणाचार्य ने कहा कि उक्त प्रकार से भिन्नता होने पर भी अप्रकाशविरोधित्वरूपप्रकाशत्व पक्ष और दृष्टान्त दोनों में ही विद्यमान है। अतः यह हेतु सद् हेतु है—यही विवरणवाक्य का भाव है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि अप्रकाशविरोधित्व को हेतु बनाने पर इन्द्रिय और इन्द्रिय सन्निकर्ष में व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा ज्ञान को उत्पन्न कर अप्रकाश का विरोधी होता है और इन्द्रिय सन्निकर्ष ज्ञान द्वारा अप्रकाश का विरोधी होता है किन्तु इन्द्रिय और इन्द्रियसन्निकर्ष में साध्य नहीं है। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] अतः = अप्रकाशविरोधि—त्वरूपज्ञानालोकयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, उभयोरेव=ज्ञानालोकयोरेव अर्थात् प्रमाज्ञान और आलोक दोनों में ही साक्षाद् अप्रकाशविरोधित्व सम्भव है, जबकि इन्द्रिय और इन्द्रियसन्निकर्ष साक्षाद् अप्रकाश के विरोधी नहीं है। इसलिए यहां ''अप्रकाशविरोधित्व''पद से साक्षाद् अप्रकाशविरोधित्व विवक्षित है। अतः इन्द्रिय और इन्द्रियसन्निकर्ष में व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्ष के द्वारा ज्ञान को उत्पन्न करके परम्परया अप्रकाश का विरोधी होता है और इन्द्रियसन्निकर्ष भी ज्ञान को उत्पन्न कर परम्परया अप्रकाश का विरोधी होता है। इस प्रकार से हेतु का आकार परिनिष्पन्न हुआ—''अप्रकाशितार्थविषयकत्वे सति प्रकाशशब्दवाच्यत्वात्'' अथवा ''अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्वात्''।१५।।

जो विशेषण व्यभिचारवारक होता है, वही सार्थक होता है। प्रकृत में भी विशेषण (अप्रकाशितार्थगोचरत्वे सति) व्यभिचारवारक है—इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भ्रम में व्यभिचारदोष के वारण के लिए उक्त विशेषण दिया गया है, क्योंकि उक्त विशेषण के न देने पर प्रकाशपदवाच्यत्व ही हेतु रह जाता है और वह भ्रमज्ञान में भी है,क्योंकि भ्रमज्ञान भी अपने विषय

न जानामि'इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यादिरूपः प्रागुक्त एव। एतेन गोशब्दवाच्यत्वेन पृथिव्या अपि शृङ्गित्वानुमानापातोऽपास्तः, तत्रानुकूलतर्काभावात्।।१६।।

अज्ञानस्य स्वरूपेणाज्ञानाविषयत्वेऽपि तद्भावत्वादिकमज्ञानविषयो भवत्येव, तस्याज्ञानग्राहकसाक्ष्यग्राह्यत्वात्। अन्यथा तत्र विवादो न स्यात्। एवं प्रमाया स्वविषयावरण–

सत्यानन्दप्रबोधिका

का प्रकाश करता ही है। इस प्रकार से भ्रमज्ञान में हेतु गया किन्तु भ्रमज्ञान में साध्य नहीं है, क्योंकि भ्रमज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश नहीं होता है। अतः व्यभिचारदोष होगा। उक्त विशेषण के देने पर व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि भ्रमज्ञान का विषय रजतादि अज्ञात कभी भी नहीं होते हैं, क्योंकि भ्रमकाल से भिन्न काल में नहीं रहते हैं। (क्योंकि भ्रमज्ञान और उसका रजतादि विषय एक ही अज्ञानरूप उपादान के कार्य होने के कारण एक साथ ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए भ्रमज्ञान के विषय रजतादि में ज्ञातैकसत्त्व माना जाता है।) भ्रम का विषय रजतादि मिथ्या है। अतः उसमें प्रमाविषयत्व नहीं होता है। इसलिए प्रकाश से पूर्वकाल में सत्त्व से घटित (व्याप्य) अप्रकाशितत्व भ्रम के विषय में नहीं माना जा सकता है। [अर्थात् यत्र यत्र अप्रकाशितत्वं तत्र तत्र प्रकाशप्राक्कालसत्त्वम्। भ्रम के विषय रजतादि में व्यापक (प्रकाशप्राक्कालसत्त्व) के न रहने से व्याप्य अप्रकाशितत्व भी नहीं रहता है। अतः भ्रम के विषय रजतादि में हेतु के न जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा।] अत एव=भ्रमज्ञान के विषय में अप्रकाशितत्व असम्भव होने से ही भ्रमज्ञान में अप्रकाशविरोधित्व भी नहीं है, क्योंकि भ्रमज्ञान के विषय में अप्रकाश का अभाव है। [अतः द्वितीय हेतु (अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्व) भ्रमज्ञान में न जाने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। अतः इस द्वितीय हेतु में व्यभिचारदोष वारण के लिए ''अप्रकाशितार्थगोचरत्वे सति'' इस विशेषण भाग को नहीं देना चाहिए। यहां पर प्रश्न होता है कि भ्रमज्ञान अपने विषय रजतादि के अप्रकाश का विरोधी न होने पर भी भ्रमज्ञान के विषय कोटि में प्रविष्ट अधिष्ठान के अप्रकाश का विरोधी (नाशक) तो हो ही सकता है। अतः पुनः भ्रमज्ञान में व्यभिचारदोष होगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] अधिष्ठान का अप्रकाश भ्रमज्ञान का जनक होता है। अतः भ्रमज्ञान के द्वारा अधिष्ठान के अप्रकाश का नाश नहीं होता है। इसलिए भ्रमज्ञान में व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। स्मृति में तो व्यभिचाराभाव स्पष्ट ही है, क्योंकि स्मृति गृहीत विषय का ग्राहक होती है, अगृहीत विषय का ग्राहक नहीं होती है। इसलिए स्मृति अप्रकाशितार्थविषयिणी नहीं मानी जाती है और अप्रकाशविरोधिनी भी नहीं मानी जाती है। इसलिए उक्त दोनों ही हेतु स्मृति में नहीं है। गृहीत का ग्राही होने से स्मृति अज्ञान का नाशक भी नहीं है। अतः स्मृति में साध्याभाव भी स्पष्ट है। सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित इस अनुमान में अनुकूलतर्क (यदि त्वदुक्तार्थगोचरं भावरूपाज्ञानं न स्यात्तर्हि त्वदुक्तार्थं न जानामिति साक्षिरूपा प्रतीतिर्न स्यात्) है। इस पर विशेष विचार ''अज्ञाने प्रत्यक्षप्रमाणविचारः'' के खण्ड संख्या ४० में किया जा चुका है। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुमान (पृथिवी शृङ्गवती गोशब्दवाच्यत्वात्, प्रसिद्धगोवृषभादिवत्) में अनुकूल तर्क नहीं है। अर्थात् ''शृङ्गादिरहितमपि यदि गोशब्दवाच्यं स्यात्तर्हि का हानिः स्यात्–इत्यत्र कस्याश्चित् हानेरभावात्।'' अतः पूर्वपक्षी का अनुमान अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।।१६।।

[पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त अविद्या साधक अनुमान से उत्पन्न होने वाली अविद्या अनुमिति भी प्रमाज्ञान है। यह अविद्याविषयक अनुमितिरूपप्रमाज्ञान उक्त अविद्यासाधक अनुमान के पक्ष (प्रमाज्ञान) में प्रविष्ट है अथवा नहीं? यदि प्रविष्ट है तो अंशतः बाधदोष होगा क्योंकि

भावपूर्वकत्वमपि न प्रमास्वरूपग्राहकसाक्षिग्राह्यम्। तथा च तद्ग्राहिकाया एतस्या अनुमितेः साध्यसाधनोभयाधिकरणत्वात् न कोऽपि दोषः।।१७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविद्याविषयकाविद्या मानी नहीं जाती है। अर्थात् अज्ञान के द्वारा अज्ञान आवृत्त नहीं माना जाता है, क्योंकि अज्ञान साक्षिभास्य होने के कारण कभी भी अज्ञात नहीं रहता है। अतः उक्त अज्ञानपूर्वकत्वरूप साध्य पक्ष में नहीं रहेगा। यदि अविद्या विषयक अनुमितिरूप प्रमाज्ञान को पक्ष से बहिर्भूत मानते हैं तो व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि अविद्या का अनुमान जब किया जा रहा है तब इस अनुमान से पहले अविद्याविषयक अनुमिति नहीं हुयी थी। अतः अविद्या प्रकाशित नहीं थी। अतः इस अविद्या अनुमिति रूप प्रमावृत्ति में अप्रकाशितार्थगोचरत्वे सति प्रकाशब्दवाच्यत्व अथवा अप्रकाशविरोधिप्रकाशत्व रूपहेतु चला जायेगा किन्तु साध्य नहीं जायेगा, क्योंकि अविद्याविषयकाविद्या मानी नहीं जाती है। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] यद्यपि स्वरूपेण अज्ञान अज्ञान का विषय नहीं होता है। अर्थात् स्वरूपेण अज्ञान अज्ञान के द्वारा आवृत्त नहीं होता है, क्योंकि अज्ञान साक्षिभाष्य होने के कारण कभी भी अज्ञात नहीं रहता है। किन्तु अज्ञाननिष्ठ भावत्व, ज्ञानविरोधित्व, अनादित्वादि धर्म अज्ञान के द्वारा आवृत्त होते ही हैं, क्योंकि अज्ञानगत भावत्वादि का अज्ञानग्राहक साक्षी के द्वारा ग्रहण नहीं होता है अपितु अनुमानादि के द्वारा ग्रहण होता है। अतः भावत्वादि की अनुमिति के पूर्व में भावत्वादि अप्रकाशित थे। इसलिए भावत्वादि से विशिष्ट अज्ञान भी अविद्याविषयक अनुमिति के पूर्व में अज्ञान के द्वारा आवृत्त था। अतः पूर्वोक्त प्रकार से अंशतः बाधदोष या व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। अन्यथा = अज्ञानगतभावत्वादि धर्मों का साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण होता है—ऐसा मानने पर अर्थात् अज्ञानगतभावत्वादि धर्मों का अज्ञान न मानने पर पूर्वपक्षी को अज्ञान की भावरूपता में विवाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि ज्ञात पदार्थों में विवाद नहीं होता है। [पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि अज्ञान साक्षिभास्य होने के कारण सर्वदा ज्ञात ही है। इसलिए अविद्याविषयकानुमितिरूप प्रमाज्ञान का विषय अज्ञान भी सर्वदा ज्ञात ही रहेगा। इसलिए अविद्याविषयकानुमितिरूपप्रमाज्ञान अप्रकाशित विषय का प्रकाशक नहीं है। इसलिए पक्ष में हेतु न जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। इसी प्रकार अज्ञान सर्वदा ज्ञात होने के कारण उक्त प्रमाज्ञान में स्वविषयावरणपूर्वकत्व नहीं रहेगा, क्योंकि उक्त प्रमाज्ञान का विषय = अज्ञान में आवरण होता ही नहीं है। अतः बाधदोष है। इसलिए साक्षिभास्य अज्ञानरूप ज्ञात पदार्थों के विषय में अनुमानप्रमाण का उपन्यास करना व्यर्थ है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] जैसे स्वरूपतः अज्ञान साक्षिग्राह्य होता है, वैसे ही स्वरूपतः प्रमा भी साक्षिग्राह्य होती है और प्रमा के घटक के रूप से स्वरूपतः अज्ञान भी साक्षी के द्वारा ग्राह्य होता है किन्तु अज्ञानगत भावत्व का ग्रहण साक्षी के द्वारा नहीं होता है। अतः प्रमा में स्वविषयावरणभावरूपाज्ञान पूर्वकत्व (स्व=प्रमाज्ञान, उसका विषय अज्ञान उसमें आवरण=भावत्वविशिष्ट अज्ञान का है। अतः उक्त अज्ञानपूर्वकत्व) का प्रमास्वरूप ग्राहक साक्षी के द्वारा ग्रहण नहीं होता है। अतः प्रमागत स्वविषयावरण भावरूप अज्ञानपूर्वकत्व का ग्रहण इसी अनुमितिरूपप्रमा के द्वारा होता है। अतः बाधदोष नहीं दिया जा सकता है और इस अनुमिति के द्वारा भावत्वविशिष्ट अज्ञान जो पहले अप्रकाशित था, उसका प्रकाशन हो रहा है। अतः पक्ष में हेतु के रहने से स्वरूपासिद्धिदोष भी नहीं होगा।।१७।।

दृष्टान्ते चान्धकाराव्यवहितोत्पत्तिकत्वं विशेषणम्। तेन न प्रथमपदवैयर्थ्यं न वा द्वितीयादिप्रभायां (साध्य)साधनवैकल्यम्। विस्तरेण चान्यत्र व्युत्पादितमिदमस्माभिः॥१८॥

ननु— अनादित्वे सति भावत्वमभावविलक्षणत्वं वा, न निवर्त्यनिष्ठम्, अनादिभावमात्रवृत्ति—

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविद्यानुमान के साधनांश का निरूपण करने के पश्चात् उदाहरण भाग का निरूपण किया जा रहा है। अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभा दृष्टान्त है। इसमें से प्रदीपप्रभा विशेष्य है और उत्पन्नान्त भाग विशेषण है। इसी उत्पन्नान्त भाग का मूल में अर्थ किया गया— अन्धकाराव्यवहितोत्पत्तिकत्व= स्वसमानाधिकरणतमःकालवृत्तित्व=प्रदीप जिस अधिकरण (गृहादि) में रहता है उसी अधिकरण में जो अन्धकार रहता है, उस अन्धकारकालीन प्रदीप प्रभा दृष्टान्त है। इसलिए प्रथम पद का वैयर्थ्य नहीं है और द्वितीयादि प्रभा में (साध्य का और) साधन का वैकल्प नहीं है। इस विषय पर विशेष विचार सिद्धान्त बिन्दु आदि ग्रन्थों में किया जा चुका है। [प्रथम पद वैयर्थ्य का प्रश्न पूर्वपक्षी इसलिए उठा रहा था कि प्रथम उत्पन्न प्रदीप के रहते यदि द्वितीय प्रदीप जलाया जाय तो वह द्वितीय उत्पन्न प्रदीपप्रभा अन्धकार में उत्पन्न नहीं माना जायेगा, क्योंकि प्रथम प्रदीपप्रभा के द्वारा ही अन्धकार हट गया था। अतः ''अन्धकारे उत्पन्नप्रदीपप्रभा'' इतना ही दृष्टान्त रहने पर भी द्वितीय उत्पन्न प्रदीपप्रभा को नहीं ले सकते हैं। यदि द्वितीय उत्पन्न प्रदीपप्रभा को दृष्टान्त के अन्तर्गत लेते हैं तो दृष्टान्त (द्वितीय उत्पन्न प्रदीपप्रभा) में साध्य और साधन दोनों का ही वैकल्य हो जायेगा। अतः द्वितीय उत्पन्न प्रदीपप्रभा को दृष्टान्त में प्रविष्ट होने से रोकना है। वह तो प्रथम पद न देने पर भी दृष्टान्त कोटि में प्रविष्ट नहीं हो रहा है। अतः प्रथम पद व्यर्थ है। इसके समाधान में कहा गया कि प्रदीप प्रभा की उत्पत्ति में प्राथम्य बोधन के लिए प्रथम पद नहीं दिया गया है। अपितु प्रदीप प्रभा में अन्धकाराव्यवहितोत्पत्तिकत्व बोधन के लिए प्रथम पद दिया है। अतः प्रथम पद व्यर्थ नहीं है। मूल में ''साध्यसाधनवैकल्यम्'' ऐसा पाठ छपा है जबकि लघुचन्द्रिकाकार ने लिखा है— वैकल्यमितिसाध्यवैकल्यं नेत्यपि बोध्यम्। इससे यह सूचित होता है कि मूल में साध्य शब्द नहीं होना चाहिए। पूर्वपक्षी के द्वारा कहा गया है कि दृष्टिसृष्टि पक्ष में दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों का ही वैकल्य हो जायेगा। किन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन उनकी अज्ञानता को ही प्रदर्शित करता है, क्योंकि यह अनुमान प्रतिकर्मव्यवस्था को मानकर किया गया है। प्रतिकर्मव्यवस्था दृष्टिसृष्टिपक्ष में मानी नहीं जाती है। कुछ लोगों ने इस अनुमान में अन्धकारनिवर्तकत्व उपाधि दी है। यह उपाधि दृष्टान्त में है। अतः साध्य की व्यापक है और पक्ष में नहीं है। अतः साधन की अव्यापक है किन्तु ऐसा कथन अनुचित है, क्योंकि सौषुप्तसुखाकाराविद्यावृत्यादि जो कि सौषुप्तसुखावरकस्वाप्नबुद्धि आदि का निवर्तक है। उसमें साध्य है किन्तु उपाधि नहीं है। अतः साध्य का व्यापक उपाधि नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि जब अनुकूल तर्क के द्वारा हेतु का व्यापकत्व साध्य में सिद्ध कर दिया गया तब हेतु का अव्यापक उपाधि साध्य का व्यापक नहीं हो सकती है]॥१८॥

शङ्का —सिद्धान्ती के द्वारा उक्त अविद्यासाधक अनुमान के सत्प्रतिपक्ष अनुमानों का उद्भावन पूर्वपक्षी के द्वारा किया जा रहा है। (१) प्रथम सत्प्रतिपक्ष अनुमान का आकार है— अनादित्वे सति भावत्वं न निवर्त्यनिष्ठम्, अनादिभावमात्रवृत्तिधर्मत्वात्, आत्मत्ववत्। [दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—अनादिभावमात्रवृत्तिधर्म= आत्मत्व। अतः अनादिभावमात्रवृत्तिधर्मत्व आत्मत्व में रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—आत्मत्व की निवृत्ति नहीं होती है। अतः आत्मत्व में निवर्त्यनिष्ठत्व का अभाव रहेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय= अनादिभावमात्रवृत्तिधर्म= अनादित्वविशिष्टभावत्व है।

धर्मत्वाद्, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद्वा, आत्मत्ववत्। निवर्त्यत्वं वा, नानादिभावनिष्ठम्, अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठं नेति वा, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। अनादित्वं वा, नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। प्रमाणज्ञानं वा (अनादि) अभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वाद्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः अनादिभावमात्रवृत्तिधर्मत्व अनादित्वविशिष्टभावत्व में रहेगा। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान हो जाने पर पक्ष पर साध्य की सिद्धि होने से पूर्वपक्षी को यह लाभ होगा कि यदि सिद्धान्ती अज्ञान को निवर्त्य मानते हैं तब उसमें अनादित्वविशिष्टभावत्व धर्म नहीं रहेगा और यदि अज्ञानगत अनादित्वविशिष्टभावत्व धर्म की सिद्धि के लिए अज्ञानगत निवर्त्यत्व नहीं मानते हैं तब अज्ञान के नित्य सिद्ध हो जाने से द्वैतापत्ति होगी।] (२) द्वितीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान का आकार है—अनादिसत्वे सति अभावविलक्षणत्वं न निवर्त्यनिष्ठम्, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वात्, आत्मत्ववत्। [दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्ति=आत्मत्व है क्योंकि अनाद्यभाव=प्रागभाव, उससे भिन्न आत्मा है। आत्मा मात्र में रहने वाला आत्मत्व धर्म है। अतः अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्व आत्मत्व में रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय प्रथम सत्प्रतिपक्ष अनुमान के अनुसार हो जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय—अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्ति=अनादित्वविशिष्ट अभावविलक्षणत्व। अतः अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्व अनादित्वविशिष्ट अभावविलक्षणत्व में रहेगा। इस प्रकार परामर्श का ज्ञान हो जाने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि होने से पूर्वपक्षी को यह लाभ होगा कि यदि सिद्धान्ती अज्ञानगत निवर्त्यत्व मानते हैं तब उसमें अनादित्वविशिष्ट अभावविलक्षणत्व धर्म नहीं रहेगा और यदि अज्ञानगत अनादित्वविशिष्ट अभावविलक्षणत्व धर्म की सिद्धि के लिए अज्ञानगत निवर्त्यत्व नहीं मानते हैं तब अज्ञान के नित्य सिद्ध हो जाने से द्वैतापत्ति होगी।] (३) तृतीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान का आकार है— निवर्त्यत्वं नानादिभावनिष्ठम्, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। [दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—निवर्त्यमात्रवृत्ति =प्रागभावत्व। अतः निवर्त्यमात्रवृत्तित्व प्रागभावत्व में रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—अनादिभाव पदार्थों में प्रागभावत्व नहीं रहता है। अतः अनादिभावनिष्ठत्व का अभाव प्रागभावत्व में रहेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय—निवर्त्यमात्रवृत्ति=निवर्त्यत्व। इसलिए निवर्त्यमात्रवृत्तित्व निवर्त्यत्व में रहेगा। इस प्रकार परामर्श का ज्ञान हो जाने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि होने से पूर्वपक्षी को यह लाभ होगा कि प्रमानिवर्त्यत्व धर्म भी अनादिभावरूप अज्ञान में नहीं रह सकता है। इसलिए प्रमानिवर्त्यत्वेन अनादिभावरूप अज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती है।] (४) चतुर्थ सत्प्रतिपक्ष अनुमान का आकार है—निवर्त्यत्वं न अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठम्, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। [दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—अनादि अभाव से भिन्न में प्रागभावत्व नहीं रहता है, अपितु अनादि अभाव में ही रहता है। अतः अनाद्यभावविलक्षणनिष्ठत्व का अभाव प्रागभावत्व में रहेगा। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु का समन्वय तृतीय सत्प्रतिपक्ष अनुमान के अनुसार हो जायेगा। इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान हो जाने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि होने से पूर्वपक्षी को यह लाभ होगा कि प्रमानिवर्त्यत्व धर्म भी अनाद्यभावविलक्षण अज्ञान में नहीं रह सकता है। इसलिए प्रमानिवर्त्यत्वेन अनाद्यभावविलक्षण अज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती है।] (५) पञ्चम सत्प्रतिपक्ष अनुमान का आकार है— अनादित्वं नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्। [दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—अनादिमात्रवृत्ति=प्रागभावत्व। अतः अनादिमात्रवृत्तित्व प्रागभावत्व में रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—प्रागभाव किसी का आवरण नहीं करता है। यह सिद्धान्ती को भी मान्य है। इसीलिए अविद्यासाधकानुमान के साध्य को

भ्रमवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षता, कृत्यभावमात्रेणाकृतस्य कृतिवत् पूर्वप्रकाशाभावमात्रेणाप्रकाशितस्य प्रकाशोपपत्तेरप्रयोजकत्वं चेति—चेत्।।१९।।

न, अनुकूलतर्काभावेनाप्रयोजकत्वात्, सिद्धान्तिहेतोश्चानुकूलतर्कसद्भावेन साध्यव्याप्यत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

साध्यद्वय में तात्पर्य माना गया है। अत: प्रागभावत्व आवरणनिष्ठ नहीं हो सकता है। पक्ष में हेतु का समन्वय—अनादिमात्रवृत्ति=अनादित्व है। अत: अनादिमात्रवृत्तित्व अनादित्व में रहेगा। इस प्रकार परामर्शज्ञान हो जाने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि होने पर पूर्वपक्षी को यह लाभ होगा कि अनादित्व धर्म आवरणनिष्ठ न सिद्ध होने पर आवरणरूप अज्ञान में भी अनादित्व धर्म नहीं सिद्ध हो पायेगा। अर्थात् अज्ञान अनादि पदार्थ नहीं सिद्ध हो पायेगा।] (६) षष्ठ सत्प्रतिपक्ष अनुमान का आकार है—प्रमाणज्ञानमभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वात्, भ्रमवत्। [दृष्टान्त और पक्ष में ज्ञानत्व हेतु है। दृष्टान्त में साध्य रहेगा, क्योंकि अभाव (प्रागभाव) से अन्य अनादि (ब्रह्मादि) का निवर्तक भ्रम ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान होने पर पक्ष पर साध्य की सिद्धि माननी पड़ेगी। इससे पूर्वपक्षी को यह लाभ होगा कि प्रमाज्ञान अनादि अभाव से अन्य अनादि अज्ञान का निवर्तक सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसप्रकार से सिद्धान्ती के द्वारा कथित अविद्यासाधक अनुमान के सत्प्रतिपक्ष अनुमानों का उद्भावन पूर्वपक्षी के द्वारा किया गया। अब अविद्यासाधक अनुमान में अप्रयोजकत्वदोष का उद्भावन पूर्वपक्षी के द्वारा किया जा रहा है— कृत्यभावमात्रेण= कृति के पूर्व कृति के प्रागभाव के रहने मात्र से, अकृतस्य =जो घट अब तक बनाया नहीं गया था, उसको बनाने के लिए, कृतिवत्= कृति की उपपत्ति हो जाती है न कि घट विषयक कृति की उपपत्ति के लिए घट विषयककृति से पूर्व भावरूप अनादि अकृति की कल्पना की जाती है। ठीक ऐसे ही प्रकृत में घट के प्रकाश से पूर्व घट के प्रकाश के प्रागभाव के रहने मात्र से ही, जो घट अब तक प्रकाशित नहीं है। उसके प्रकाश की उपपत्ति हो जायेगी, इसलिए अप्रकाशित घट के प्रकाश के लिए भावरूप अनादि अज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ है। अत: सिद्धान्ती के अनुमान में अप्रयोजकत्व दोष भी है।।१९।।

समाधान— पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का अनुचित है,क्योंकि अनुकूल तर्क का अभाव होने से पूर्वपक्षी के द्वारा किये ये सभी सत्प्रतिपक्ष अनुमानों के हेतुओं में अप्रयोजकत्व है और अनुकूलतर्क का सद्भाव होने से सिद्धान्ती के द्वारा किये गये अनुमान के हेतु में साध्यव्याप्यत्व निश्चित हो गया है। अत: सिद्धान्ती के अनुमान में प्रबलता और पूर्वपक्षी के अनुमानों में दुर्बलता है। अत: दुर्बल विरोधी अनुमानों के द्वारा प्रबल स्थापनानुमान में सत्प्रतिपक्षता का प्रदर्शन सम्भव ही नहीं है। अनुकूलतर्क का सद्भाव होने से हेतु में अप्रयोजकत्व दोष भी नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि अनुकूलतर्क के न होने पर ही हेतु में अप्रयोजकत्वदोष दिया जाता है। सिद्धान्ती के द्वारा अविद्या साधक अनुमान में अनुकूलतर्क खण्ड संख्या १६ में दिया जा चुका है। एक—एक सत्प्रतिपक्ष अनुमान का क्रमश: खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि (१) प्रथम अनुमान (अनादित्वे सति भावत्वं न निवर्त्यनिष्ठम्, अनादिभावमात्रवृत्तिधर्मत्वात्, आत्मत्ववत्) सिद्धान्ती कृत अविद्यासाधक अनुमान का प्रतिरोध नहीं कर सकता है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने उक्त अनुमान के द्वारा अनादिभावत्व निवर्त्य में नहीं रहता है— यही सिद्ध किया है किन्तु इससे अज्ञान में निवर्तता का अभाव सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अज्ञान में अनादिभावत्व माना नहीं जाता है। इसका निरूपण ''अविद्यालक्षणविचार'' के खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है। अत: अनादिभावत्व के निवर्त्य में वृत्ति न होने पर भी भाव से विलक्षण अविद्या में निवर्त्यत्व की वृत्ति मानी ही जा सकती है। अत: पूर्वपक्षी कृत प्रथम अनुमान

निश्चिते सत्प्रतिपक्षाप्रयोजकत्वादीनामनवकाशात्। अनादिभावत्वस्य निवर्त्यावृत्तित्वेऽप्यविद्याया भावविलक्षणाया निवर्त्यत्वोपपत्तेराद्यानुमानेनाविरोधश्च। द्वितीये त्वनाश्रितमात्रवृत्तित्वमुपाधिः। तृतीयचतुर्थयोः सकलनिवर्त्यावृत्तित्वमुपधिः। पञ्चमे सकलानाद्यवृत्तित्वमुपाधिः। षष्ठे प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

से प्रकृत अनुमान में कोई विरोध ही नहीं है। (२) द्वितीय अनुमान (अनादित्वे सति अभावविलक्षणत्वं न निवर्त्यनिष्ठम्, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वात्, आत्मत्ववत्) में अनाश्रितमात्रवृत्तित्व उपाधि है, क्योंकि आत्मा किसी आश्रित नहीं माना जाता है। अतः आत्मा अनाश्रित है। इसलिए अनाश्रितमात्रवृत्ति= आत्मत्व। अतः अनाश्रितमात्रवृत्तित्व आत्मत्व में रहेगा। इस प्रकार से दृष्टान्त में उपाधि का समन्वय हो जाने तथा दृष्टान्त में साध्य के रहने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में मिल गया। पक्ष में हेतु के रहने पर भी उपाधि नहीं है, क्योंकि अनादित्वविशिष्टाभावविलक्षणत्वरूपपक्ष=घटादि है। किन्तु घटादि कपालादि के आश्रित ही रहते हैं। अतः घटादि में आश्रितमात्रवृत्तित्व ही रहेगा न कि अनाश्रितमात्रवृत्तित्व। अतः साधन का अव्यापकत्व उपाधि में है। इस प्रकार से उपाधि का लक्षण (साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्) समन्वय हो जाने से हेतु सोपाधिक हो गया। सोपाधिक हेतु साध्य के साधन में समर्थ नहीं होता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कृत असमर्थ हेतु से युक्त अनुमान स्थापनानुमान का प्रतिरोध नहीं कर सकता है। (३) तृतीय अनुमान (निवर्त्यत्वं नानादिभावनिष्ठम्, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभाववत्) और (४) चतुर्थ अनुमान (निवर्त्यत्वं नानाद्यभावविलक्षणनिष्ठम्, निवर्त्यमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्) में ''सकलनिवर्त्याऽवृत्तित्व'' उपाधि है क्योंकि दृष्टान्त में साध्य का समन्वय पूर्वोक्त प्रकार से हो जायेगा और दृष्टान्त में उपाधि का समन्वय इस प्रकार से होगा—प्रागभावत्व प्रागभावमात्र में रहता है। अतः प्रागभावत्व सकल घटादि निवर्त्य पदार्थों में नहीं रहेगा। इसलिए सकलनिवर्त्याऽवृत्तित्व प्रागभावत्व में गया। इस प्रकार से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में चला गया। पक्ष में हेतु का समन्वय पूर्वोक्त प्रकार से हो जायेगा किन्तु पक्ष में उपाधि का समन्वय नहीं होगा,क्योंकि निवर्त्यत्व सकलनिवर्त्यवृत्ति है। अतः सकलनिवर्त्यवृत्तित्व ही निवर्त्यत्व में रहेगा न कि सकलनिवर्त्याऽवृत्तित्व। अतः साधन का अव्यापकत्व भी उपाधि में चला गया। इस प्रकार से तृतीय और चतुर्थ हेतु सोपाधिक हो जाने से अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकते हैं। (५) पञ्चम अनुमान (अनादित्वं नावरणनिष्ठम्, अनादिमात्रवृत्तित्वात्, प्रागभावत्ववत्) में सकलानाद्यवृत्तित्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है, क्योंकि प्रागभावत्व सकल अनादि पदार्थों में नहीं रहता है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में है। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि अनादित्व सकल अनादि में रहता है। अतः सकलानादिवृत्तित्व ही अनादित्व में रहेगा न कि सकलानाद्यवृत्तित्व। अतः साधन का अव्यापकत्व उपाधि में है। इस प्रकार से पञ्चम हेतु सोपाधिक हो जाने से साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। (६) षष्ठ अनुमान (प्रमाणज्ञानं अनाद्यभावान्यानाद्यनिवर्तकम्, ज्ञानत्वात्, भ्रमवत्) में साध्य है—अनाद्यभावान्यानादिनिवर्तकत्वाभाव। पूर्वपक्षी के मत में प्रमाज्ञान अनादिस्वप्रागभाव से अन्य किसी अनादि का निवर्तक माना नहीं जाता है। अतः अनाद्यभावान्यानादिनिवर्तकत्वरूप प्रतियोगी की प्रसिद्धि न होने से उसके अभाव की भी प्रसिद्धि अर्थात् साध्य की प्रसिद्धि नहीं होगी। अतः षष्ठ अनुमान साध्याप्रसिद्धि दोष से ग्रस्त है। [यदि पूर्वपक्षी साध्य की प्रसिद्धि के लिए अनादि अभाव से भिन्न अनादि निवर्तकत्व को मानता है तब तो पूर्वपक्षी ने अनादि अभाव से अन्य अनादि अज्ञान को स्वीकार कर लिया। ऐसा होने पर इस अनुमान से पूर्वपक्षी को कोई लाभ ही नहीं होगा, क्योंकि इस अनुमान से पूर्वपक्षी अनादि अज्ञान

साध्याप्रसिद्धिरिति च दूषणानि।।२०।।

तत्त्वप्रदीपिकोक्तं च— चैत्रप्रमा, चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वान्मैत्रप्रमावत्। विगीतो विभ्रमः, एतज्जनकाबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, सम्मतवदिति। अत्राद्ये सुखादिज्ञानेषु

सत्यानन्दप्रबोधिका

की सिद्धि को ही रोकना चाह रहा था। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि हम अप्रसिद्धप्रतियोगिकाभाव मानते हैं। अतः साध्याप्रसिद्धिदोष नहीं होगा। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि तुमने अप्रसिद्धप्रतियोगिकाभाव स्वीकार किया है। हमने तो स्वीकार किया नहीं है। अतः हमारे मत से साध्याप्रसिद्धि दोष रहेगा। अतः इस अनुमान के द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।]।।२०।।

श्रीविवरणाचार्य सम्मत अविद्या साधक अनुमान के निरूपण के पश्चात् श्रीचित्सुखाचार्य विरचित तत्त्वप्रदीपिका में कथित अविद्यासाधक अनुमान द्वय को अविद्या में प्रमाण रूप से प्रस्तुत करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि तत्त्वप्रदीपिका में उक्त अनुमानद्वय भी अविद्या में प्रमाण है। (१) चैत्रप्रमा चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्। [अर्थात् चैत्र की प्रमा चैत्रगतप्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त अनादि की निवर्तिका है, क्योंकि उसमें प्रमात्व है। जैसे मैत्र की प्रमा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा— मैत्रप्रमा चैत्रप्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त अनादि मैत्रप्रमा के प्रागभाव की निवर्तक है। इसलिए मैत्रप्रमा में चैत्रप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तकत्व रहेगा। मैत्रप्रमा में प्रमात्व के रहने से दृष्टान्त में हेतु का समन्वय भी हो जायेगा। इसी प्रकार चैत्र प्रमा में प्रमात्व के रहने से पक्ष में भी हेतु का भी समन्वय हो जायेगा। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता रूप परामर्श के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् चैत्रप्रमारूप पक्ष में भी चैत्रगतप्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त किसी अनादि पदार्थ की निवर्तकता स्वीकार करनी पड़ेगी। उसकी उपपत्ति के लिए सिद्धान्ती अभिमत अज्ञानरूप अनादि भाव पदार्थ को मानना ही पड़ेगा। इस प्रकार से इस प्रथम अनुमान के द्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप अनादि मिथ्यारूप अज्ञानसिद्ध होता है।] (२) विगीतो विभ्रमः एतज्जनकाबाध्या—तिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, सम्मतवत्। [अर्थात् विवादास्पद देवदत्तगतविभ्रम इस भ्रम के जनक अबाध्य (आत्मा) से अतिरिक्त पदार्थोपादानक है,क्योंकि उसमें विभ्रमत्व है, जैसे मैत्रभ्रम। मैत्रभ्रम में विभ्रमत्व के रहने से दृष्टान्त में हेतु का समन्वय हो जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा—पूर्वपक्षी देवदत्त के भ्रम और मैत्र के भ्रम का उपादानकारण एक ही आत्मा नहीं मानता है, किन्तु भिन्न—भिन्न अबाध्यरूप आत्मा मानता है। इसलिए देवदत्त के भ्रम का जनक जो अबाध्यरूप आत्मा है उससे भिन्न जो मैत्र की आत्मा है। वह मैत्रीय भ्रम का उपादानकारण है। अतः देवदत्तगत विभ्रम के जनक अबाध्य से अतिरिक्त पदार्थोपादानकत्व मैत्रीयभ्रम में चला गया। इस प्रकार से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो गया। देवदत्त के विभ्रम में विभ्रमत्व के रहने से पक्ष में हेतु का समन्वय हो गया। इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूपपरामर्श के बल पर पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् पक्ष में अबाध्यरूप देवदत्त की आत्मा से अतिरिक्त अज्ञानपदार्थ को मानना पड़ेगा, तब उसकी उपादेयता विभ्रम में सिद्ध हो पायेगी। इस प्रकार इस द्वितीय अनुमान के द्वारा भ्रमोपादानत्व रूप अज्ञान की सिद्धि होती है।] पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि इन दोनों अनुमानों में से प्रथम अनुमान में बाधदोष है, क्योंकि प्रथम अनुमान में साध्य का पर्यवसित अर्थ है—अज्ञाननिवर्तकत्व। वह तो सुखादिज्ञान जो कि साक्षिस्वरूप है, उसमें नहीं है, क्योंकि साक्षिभास्यपदार्थ ज्ञातैकसत्त्व वाला होता है।

न बाधः, अन्तःकरणवृत्तेरेव प्रमापदेनोक्तेः। चैत्रगतत्वं च नानादेर्विशेषणम्, मैत्रप्रमायाश्चैत्रनिष्ठानादिनिवर्तकत्वाभावेन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यापातात्, किन्तु प्रमातदभावयोरन्यतरस्य। प्रमायाश्चात्मगतत्वं प्राग्व्याख्यातम्। साध्ये तु प्रमापदमुपरञ्जकमेव। यदि त्वभावे प्रागिति विशेषणं नास्ति, 'तदा भावरूपाज्ञानस्यापि स्वाभावाभावत्वेन तदतिरिक्तानादिनिवर्तकत्वे बाधवारणाय॥२१॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

इसलिए उसका अज्ञान माना नहीं जाता है। इस पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि चैत्रप्रमा के घटक प्रमा शब्द से अन्तःकरण की वृत्ति को ही कहा गया है, साक्षिज्ञान को नहीं। अतः सुखादिज्ञान पक्ष कोटि में प्रविष्ट ही नहीं है। अतः सुखादिज्ञान को लेकर बाधदोष नहीं दिया जा सकता है। प्रथम अनुमान के साध्य में चैत्रगतत्व जो विशेषण है, वह प्रमा या प्रमाप्रागभाव का विशेषण है न कि अनादि का। अर्थात् चैत्रगत अनादिनिवर्तिका ऐसा अन्वय नहीं करना है, क्योंकि मैत्रप्रमा में चैत्रनिष्ठ अनादिनिवर्तकत्व का अभाव होने से दृष्टान्त में साध्यवैकल्य की आपत्ति आती है। इसलिए प्रमा या प्रमाप्रागभाव में से अन्यतर का विशेषण चैतगतत्व को माना जाता है। (प्रमा चैत्रगत=चैत्ररूप आत्मा में रहने वाला कैसे हो सकता है? वह तो अन्तःकरण में रहता है। इसके समाधानार्थ कह रहे हैं कि) प्रमा में आत्मगतत्व का प्रतिपादन इसी प्रकरण के खण्ड संख्या १२ में किया जा चुका है। अर्थात् ''अन्तःकरणस्य चिदाश्रितत्वेन तद्वृत्तेस्तत्प्रतिफलितचैतन्यस्य वा ज्ञानस्य चिदाश्रिततत्वसम्भवात्'' इत्यादि से इसी प्रकरण के खण्ड संख्या १२ में कहा जा चुका है। [''चैत्रप्रमा, प्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका—इस प्रकार से पक्ष के साथ साध्य का निर्देश करने पर भी पक्ष के घटक प्रमा पद के समभिव्याहार से ही प्रागभावातिरिक्तत्व अर्थ का बोध हो जायेगा। इसलिए साध्य में प्रमा पद का प्रयोग व्यर्थ है। अतः प्रमा पद अधिक होने से अधिक नामक निग्रह स्थान की आपत्ति होती है, क्योंकि न्यायसूत्रकार ने निग्रहस्थानों को बाइस भागों में विभक्त किया है। उसमें अधिक नामक निग्रह स्थान भी है। जैसे—''प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरम्, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरम्, निरर्थकम्, अविज्ञातार्थकम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालम्, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभा, विक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणम्, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि'' (न्या.सू. ५—२—१) इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] सर्वत्र विशेषण व्यावर्तक ही होता है—ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, ''प्रमेयो घटः'' इस स्थल पर प्रमेयत्व विशेषण व्यावर्तक न होता हुआ केवल उपरञ्जक है और सार्थक भी है ठीक इसी प्रकार साध्य में प्रमा पद उपरञ्जक (अव्यावर्तकत्वे सति विशेषणतया प्रतीयमानत्वम्) है। अर्थात् स्वरूपमात्र का बोधक अव्यावर्तक विशेषण हैं अतः व्यर्थविशेषण नहीं कहा जा सकता है। यदि अभाव का ''प्राग्'' विशेषण नहीं दिया जाता है, तब भावरूप अज्ञान भी स्वाभावाभाव रूप होने के कारण अभावात्मक है। अर्थात् अज्ञान के अभाव का अभाव अज्ञानरूप होता है। इस प्रकार अज्ञान में भी अभावत्व रहता ही है। इस प्रकार से भावरूप अज्ञान अभावरूप भी है जबकि प्रमाज्ञान दो का ही निवर्तक होता है। प्रथम—अपने प्रागभाव का और द्वितीय—अज्ञान का। प्रागभाव को अभावस्वरूप माना ही जाता है और पूर्वोक्त प्रकार से अज्ञान भी अभावरूप हो गया। जब साध्य का आकार होगा— अभावातिरिक्तानादिनिवर्तकत्व, तब साध्य घटक अभाव पद से प्रागभाव और अज्ञान दोनों का ही ग्रहण होगा। ऐसा होने पर प्रमाज्ञान अभाव (= प्रागभाव और

चैत्रासमवेतत्वं चैत्रान्यसमवेतत्वं च नोपाधिः, चैत्रसुखादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वात्। न च चैत्रप्रमा चैत्रगतस्याभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका न, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमादिवदिति सत्प्रतिपक्षः, प्रतियोगिप्रसिद्ध्यप्रसिद्धिभ्यां व्याहतेः। चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्ताभावनिवर्तकत्वं तु नोपाधिः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अज्ञान) से अतिरिक्त अनादि का निवर्तक न होने से बाधदोष होगा। इसलिए बाधदोष के वारण के लिए अभाव का प्राग् विशेषण दिया गया है।।२१ ।।

पूर्वपक्षी के द्वारा श्रीचित्सुखाचार्य कृत प्रथम अनुमान (चैत्रप्रमा चैत्रगतप्रमाप्रागभावा–तिरिक्तानादिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्) में चैत्रासमवेतत्व और चैत्रान्यसमवेतत्व उपाधि दी जाती है। दृष्टान्त में साध्य और उपाधि के रहने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में चला गया और पक्ष में हेतु के रहने और उपाधि के न रहने से साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में चला गया। इस प्रकार से प्रथम अनुमान सोपाधिक हो जाने से स्वसाध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है–यह पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त अनुमान में चैत्रासमवेतत्व और चैत्रान्यसमवेत्व उपाधि नहीं दी जा सकती है, क्योंकि मैत्रप्रमा में साध्य और उक्त दोनों उपाधियों के रहने पर भी चैत्रसुखादि में साध्य के रहने पर भी उक्त दोनों उपाधियां नहीं हैं, क्योंकि चैत्रसुखादि में चैत्रगतप्रमाप्रागभावातिरिक्त अनादि चैत्रसुखादिप्रागभाव का निवर्तकत्वरूप साध्य है किन्तु चैत्रसुखादि चैत्र में समवेत होने से चैत्रसुखादि में चैत्रासमवेतत्व और चैत्रान्यसमवेतत्व उपाधि नहीं है। अतः उक्त दोनों उपाधियां चैत्रीय सुखादि में व्यभिचरित होने के कारण साध्य की व्यापक नहीं है। अतः प्रथम अनुमान को सोपाधिक नहीं कहा जा सकता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी के द्वारा श्रीचित्सुखाचार्य कृत प्रथम अनुमान का सत्प्रतिपक्ष अनुमान इस प्रकार से किया जा रहा है–चैत्रप्रमा चैत्रगतस्याभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका न, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्। पूर्वपक्षी साध्यघटक चैत्रगत पद को अभाव और अनादि दोनों का ही विशेषण बनाया है। अतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा– चैत्र में रहने वाला जो दुःखादि का अभाव है, उससे अतिरिक्त चैत्र में रहने वाला जो अनादि चैत्रप्रमा का प्रागभाव उसका निवर्तक मैत्रप्रमा नहीं होती है। अतः दृष्टान्त में साध्य चला गया। प्रमात्व पक्ष और दृष्टान्त दोनों में विद्यमान होने से दृष्टान्त में हेतु और पक्ष में हेतु का समन्वय हो जायेगा। अतः इस अनुमान के द्वारा स्थापनानुमान का प्रतिरोध हो जायेगा।

समाधान– पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त सत्प्रतिपक्ष अनुमान में जो उक्त निवर्तकत्वाभाव साध्य है, उसका प्रतियोगी है– चैत्रगत अभावातिरिक्त अनादि पदार्थ निवर्तकत्व। यदि इस प्रतियोगी की कहीं प्रसिद्धि नहीं है तो इस प्रतियोगी से घटित साध्य की भी अप्रसिद्धि हो जाती है और अप्रसिद्ध साध्य की सिद्धि किसी भी अनुमान के द्वारा होती ही नहीं है। यदि उक्त प्रतियोगी की कहीं न कहीं प्रसिद्धि है तो उसकी प्रसिद्धि पक्ष में मानी जाय? अथवा पक्ष से भिन्न में? यदि पक्ष में प्रतियोगी की प्रसिद्धि है तब उसके अभाव का अनुमान उसी पक्ष में हो नहीं सकता है। पक्ष से भिन्न स्थल पर प्रतियोगी की प्रसिद्धि हो नहीं सकती है,क्योंकि चैत्रगत अनादि की निवर्तकता चैत्रीयप्रमा से अतिरिक्त मैत्रादि में रहने वाली प्रमा में हो नहीं सकती है। इस प्रकार साध्य घटक प्रतियोगी की प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के द्वारा सत्प्रतिपक्ष अनुमान व्याहत हो जाने से स्थापनानुमान का विरोधी नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी के द्वारा श्रीचित्सुखाचार्य कृत प्रथम अनुमान में ''चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्ताभावनिवर्तकत्व'' उपाधि दी जाती है। दृष्टान्त में साध्य है और दृष्टान्त

चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्तस्य स्वजन्यव्यवहारप्रागभावस्य निवर्तकतया पक्षे साधनव्यापकत्वात्। विपक्षबाधकसत्त्वाच्च नाभाससाम्यम्।।२२।।

अत एव द्वितीयानुमानमपि सम्यक्। न च—विगीतो विभ्रमः, एतज्ज्ञानजनक— बाध्यातिरिक्तो—पादानकः, विभ्रमत्वात्, सम्मतवदिति सत्प्रतिपक्ष इति—वाच्यम्, बाध्यस्य त्वन्मतेऽजनकत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

में उपाधि का समन्वय इस प्रकार से होगा— चैत्रगतप्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त मैत्रगत प्रमा प्रागभाव का निवर्तक मैत्रप्रमा है। अतः उक्त निवर्तकत्व मैत्रप्रमा में चला गया। इस प्रकार से साध्यव्यापकत्व उपाधि में चला गया। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती चैत्रगतप्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त भावरूप अज्ञान की निवर्तकता चैत्रप्रमा में मानते हैं, न कि अभावरूप अज्ञान की निवर्तकता। अतः साधनाव्यापकत्व भी उपाधि में गया। अतः प्रथम अनुमान सोपाधिक हो गया। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्ताभावनिवर्तकत्व उपाधि नहीं दी जा सकती है, क्योंकि चैत्रगतप्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त चैत्रप्रमाजन्य व्यवहार के प्रागभाव का निवर्तकत्व चैत्रप्रमा में होने से चैत्रगतप्रमाभावातिरिक्ताभावनिवर्तकत्व साधन का व्यापक हो जाता है। अतः उसको उपाधि नहीं बनाया जा सकता है। पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे अनुमानाभास अपने साध्य का साधक नहीं होता है ठीक उसी प्रकार श्रीचित्सुखाचार्य कृत प्रथम अनुमान अनुमानाभास के समान होने के कारण अपने साध्य की सिद्धि नही कर सकता है। अनुमानाभास का आकार इस प्रकार से है—चैत्रप्रमा स्वप्रागभावातिरिक्ताभावनिवर्तिका, प्रमात्वात्, मैत्रप्रमावत्, घटः चैत्रेच्छा वा चैत्रप्रमा वा स्वप्रागभावातिरिक्तानादिनिवर्तिका, घटत्वाद्, इच्छात्वाद्वा, अप्रमात्वाद्वा, घटान्तरवद्, मैत्रेच्छावद्वा, मैत्राप्रमावद्वा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि श्रीचित्सुखाचार्यकृत प्रमा पक्षक अनुमान में विपक्ष बाधक तर्कों का सद्भाव होने क कारण प्रमापक्षक अनुमान में अनुमानाभास के साम्य का प्रदर्शन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् ''न जानामि'' यह अनुभव ज्ञानाभावविषयक नहीं है—यह पहले कहा जा चुका है। इसलिए इस अनुभव की अन्यथानुपपत्ति से इसका विषय भावरूप अज्ञान सिद्ध होता है। इसी प्रकार शुक्ति में प्रतीयमान रजत के परिणामिकारण की अन्यथानुपपत्ति से अभावभिन्न अज्ञान की सिद्धि होती है—इत्यादि विपक्षबाधक अनेक तर्कों के विद्यमान होने से प्रकृत अनुमान को अनुमानाभास नहीं कहा जा सकता है, जबकि पूर्वपक्षीकृत पूर्वोक्त अनुमानों में विपक्षबाधक तर्क का अभाव है। अतः उक्त सभी अनुमान अपने साध्य के साधक न होने के कारण अनुमानाभास ही हैं।।२२।।

अतएव= जैसे प्रथम अनुमान में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है ठीक उसी प्रकार श्रीचित्सुखाचार्य कृत द्वितीय अनुमान (विगीतो विभ्रमः एतज्जनकाबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, सम्मतवत्) में भी किसी प्रकार की अनुपपत्ति न होने से निर्दुष्ट ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि विभ्रमपक्षक द्वितीय अनुमान का सत्प्रतिपक्ष अनुमान इस प्रकार से है—विगीतो विभ्रमः एतज्ज्ञानजनकबाध्यातिरिक्तोपादानकः, विभ्रमत्वात्, पुरुषान्तरीयविभ्रमवत्। अर्थात् चैत्रभ्रम एतद्भ्रमजनक बाध्य वस्तु से अतिरिक्त उपादानक है, क्योंकि उसमें विभ्रमत्व है, जैसे मैत्रभ्रम में। दृष्टान्त में विभ्रमत्व होने से हेतु है और दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा—एतज्ज्ञान=चैत्रभ्रम, उसका जनक बाध्य =चैत्र अज्ञान, उससे अतिरिक्त मैत्रगत अज्ञान है उपादान जिस भ्रम का, वह है मैत्रभ्रम। अतः उक्त उपादानकत्व मैत्रभ्रम में गया। पक्ष (चैत्रभ्रम) में विभ्रमत्व होने से पक्ष में हेतु रहेगा। इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूपपरामर्श के बल पर पक्ष में साध्य

साध्याप्रसिद्धेः, ब्रह्माविद्योभयोपादानकत्वेनाविरोधाच्च।।२३।।

नव्यास्तु विमता प्रमा, प्रमाभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका, कार्यत्वाद्, घटवद्। भ्रमानुत्तरप्रमा, स्वाभावातिरिक्तस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, भ्रमोत्तरप्रमावत्। ज्ञानत्वं, स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धि होने से पूर्वपक्षी को यह लाभ हुआ कि चैत्रभ्रम स्वजनक बाध्यभूत अज्ञान से भिन्न उपादान का कार्य है। अत: वह अज्ञान उपादानक नहीं हो सकता है। इसलिए श्रीचित्सुखाचार्य कथित अज्ञानोपादानकत्व साधक अनुमान प्रयोग व्याहत हो गया। यह पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान– पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी (माध्व) के मत में बाध्य पदार्थ सदैव असत् ही होता है। असत् में किसी कार्य की जनकता मानी नहीं जाती है। इसलिए सत्प्रतिपक्ष अनुमान के साध्य का घटक एजज्जनक बाध्य पदार्थ ही अप्रसिद्ध है। अत: एतज्जनकबाध्यातिरिक्तोपादानकत्वरूप साध्य भी अप्रसिद्ध है। अप्रसिद्धसाध्यक अनुमान प्रयोग अनुमानाभास होता है। अत: उसके द्वारा साध्य की सिध्यादि होती ही नहीं है। यदि साध्य की सिद्धि मान भी लिया जाय तो भी उक्त अनुमान में सिद्धसाधनदोष है, क्योंकि सिद्धान्तमत में ब्रह्म और अविद्या दोनों को ही विभ्रममात्र का उपादान माना जाता है। अर्थात् विभ्रममात्र का परिणामी उपादान अविद्या होती है और ब्रह्म विवर्तोपादान माना जाता है। अत: पूर्वपक्षी कृत अनुमान से विरोध नहीं है।।२३।।

नव्य वेदान्ताचार्यों के द्वारा प्रदर्शित अविद्या साधक अनुमानों का प्रयोग इस प्रकार से है। (१) विमता प्रमा प्रमाभावातिरिक्तस्यानादेर्निवर्तिका, कार्यत्वात्, घटवत्। (विमता प्रमा प्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त जो अनादि है, उस अनादि की निवर्तिका है, क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट) दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–प्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त घटप्रागभाव की निवर्तकता घट में है और पक्ष तथा दृष्टान्त में हेतु भी है। अत: अनित्य प्रमारूप पक्ष में प्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त अनादि निवर्तकत्व की उपपत्ति भावरूप अनादि अज्ञान को मानकर के ही होगी। (२) भ्रमानुत्तरप्रमा स्वाभावातिरिक्तस्वविरोधिनिवर्तिका, प्रमात्वात्, भ्रमोत्तरप्रमावत्। (भ्रम से अनुत्तर जो प्रमा है अर्थात् भ्रम के पूर्व में होने वाली प्रमा, स्वाभाव से अतिरिक्त जो स्वविरोधी है। उस स्वविरोधी की निवर्तिका है, क्योंकि उसमें प्रमात्व है, जैसे भ्रम से उत्तर में जायमान प्रमा।) प्रमात्व प्रमा में होने के कारण पक्ष और दृष्टान्त में हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा– ''इदं रजतम्'' इस भ्रम के उत्तर में होने वाली जो ''इयं शुक्तिः'' इत्याकारक जो प्रमा है। वह प्रमा स्वाभाव = ''इयं शुक्तिः'' इत्याकारक प्रमा का जो प्रागभाव है, उस प्रागभाव से अतिरिक्त जो उक्त प्रमा का विरोधी ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रम है। उस भ्रम की निवर्तिका उक्त प्रमा है। अत: उक्त निवर्तकत्व भ्रमोत्तर प्रमा में चला गया। इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि तभी हो सकती है, जब प्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त प्रमा विरोधी यत्किञ्चित् पदार्थ को माना जाय, जिसका निवर्तक प्रमा हो। इसके लिए यत् किञ्चित् पदार्थ से अविद्या का ही ग्रहण करना होगा। अन्यथा पक्ष पर साध्य की सिद्धि ही नहीं होगी। [पक्ष= भ्रमानुत्तरप्रमा के घटक अनुत्तर पद भ्रमोत्तर प्रमा की व्यावृत्ति के लिए कहा गया है। अनुत्तर पद नहीं देने पर भ्रमोत्तर प्रमा भी पक्ष में प्रविष्ट हो जायेगी और तब सिद्ध साधनदोष होगा, क्योंकि रजतभ्रम के पश्चात् होने वाला शुक्ति का प्रमाज्ञान स्वप्रागभाव से अतिरिक्त स्वविरोधी रजतभ्रम का निवर्तक सर्वमान्य है। अत: सिद्धसाधनदोष होगा। अनुत्तर पद देने पर भ्रम के उत्तर में होने वाली प्रमा का ग्रहण ही नहीं होगा। अत: सिद्धसाधनदोष भी नहीं होगा।] (३) ज्ञानत्वं स्वविषयावरणनिवर्तकनिष्ठम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशवृत्तित्वात्,

अप्रकाशितार्थप्रकाशवृत्तित्वाद्, आलोकत्ववत्। अनित्यज्ञानम्, अभावत्वानधिकरणस्वविरोधिसमाना— धिकरणम्, प्रयत्नान्यत्वे सति सविषयत्वे सत्यनित्यत्वाद्, अनित्येच्छावत्। सा हि तादृग्द्वेषसमानाधिकरणा। न चैतेषु अप्रयोजकत्वशङ्का, विपक्षबाधकतर्कस्योक्तत्वात्।।२४।।

एवमन्यदप्यूहनीयम्। ज्ञानविरोधित्वं, अनादिभावत्वसमानाधिकरणम्, सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

आलोकत्ववत्। (ज्ञानत्व स्वविषय का जो आवरण है उस आवरण का जो निवर्तक है, उसमें रहता है, क्योंकि अप्रकाशित जो अर्थ है उस अर्थ के प्रकाश में वृत्ति है। जैसे आलोकत्व।) अप्रकाशितार्थप्रकाशशब्द से प्माऽऽलोकान्यतर अर्थ विवक्षित है। पक्ष में हेतु का समन्वय— घट जो अप्रकाशित विषय है, उसका जो प्रकाश=घटज्ञान, उसमें वृत्ति=ज्ञानत्व। अत: उक्त वृत्तित्व ज्ञानत्व में गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—अन्धकार से आवृत जो घट है, उस घट का जो प्रकाश =आलोक, उसमें वृत्ति=आलोकत्व। अत: उक्त वृत्तित्व आलोकत्व में गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—स्व=आलोक, उसका विषय घट, उसका आवरक=अन्धकार, उसका निवर्तक= आलोक। तन्निष्ठ=आलोकत्व। अत: उक्तनिष्ठत्व आलोकत्व में गया। इस प्रकार से परामर्श की सिद्धि हो जाने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि इस प्रकार से होगी—स्व= ज्ञान, उसका विषय घट, उसका आवरक=अज्ञान, उसका निवर्तक=ज्ञान। तन्निष्ठ=ज्ञानत्व। अत: उक्तनिष्ठत्व ज्ञानत्व में गया। इस प्रकार इस अनुमान के द्वारा भी अज्ञान की सिद्धि होती है। (४) अनित्यज्ञानमभावत्वानधिकरणस्वविरोधिसमानाधिकरणम्, प्रयत्नान्यत्वे सति सविषयत्वे सत्यनित्यत्वात्, अनित्येच्छावत्। (अनित्यज्ञान अभावत्व के अनधिकरण स्वविरोधी के साथ समानाधिकरणक है, क्योंकि वह प्रयत्न से भिन्न होता हुआ और सविषयक होता हुआ अनित्य है जैसे अनित्येच्छा। पक्ष में हेतु का समन्वय—अनित्यज्ञान प्रयत्न से अन्य है और उसमें सविषयत्व तथा अनित्यत्व भी रहता है। अत: पक्ष में हेतु गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—अनित्येच्छा प्रयत्न से अन्य है और उसमें सविषयत्व तथा अनित्यत्व भी रहता है। अत: दृष्टान्त में हेतु गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—साध्य का अर्थ इस प्रकार से है—अभावत्वानधिकरणं च तत् स्वविरोधि, तस्य समानाधिकरणम्। अर्थात् स्वविरोधी पदार्थ को अभावत्व का अनधिकरण अर्थात् भाव पदार्थ होना चाहिए। ऐसे साध्य का समन्वय दृष्टान्त में इस प्रकार से होगा— अभावत्व का अनधिकरण=द्वेषादिभावपदार्थ। स्व = अनित्येच्छा उसका विरोधी =द्वेषादिभावपदार्थ। आत्मा रूप अधिकरण में द्वेष और अनित्येच्छा दोनों रहते हैं। अत: उन दोनों में समानाधिकरण है। इसलिए तादृग् द्वेष का समानाधिकरणत्व अनित्येच्छा में चला गया। इस प्रकार से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो गया। पूर्वोक्त प्रकार से परामर्श की सिद्ध हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि इस प्रकार से होगी। अभावत्व का अनधिकरण भावरूप अज्ञान। स्व=अनित्यज्ञान, उसका विरोधी अज्ञान है। आत्मा रूप अधिकरण में अज्ञान रहता है और अनित्य ज्ञान भी आत्मा में रहता है, क्योंकि पीछे खण्ड संख्या १२ में कहा जा चुका है कि अन्त:करण में रहने वाला ज्ञान भी आत्मा में रहता है। अत: अज्ञान और अनित्यज्ञान में समानाधिकरणत्व भी है। इस प्रकार से इस अनुमान से भावरूप अज्ञान की सिद्धि हो जाती है। मूलस्थ ''सा हि तादृग्द्वेषसमानाधिकरणा'' के घटक ''सा'' पद से अनित्येच्छा और ''तादृग्द्वेष'' शब्द से उक्त विरोधिद्वेष लेना है। पूर्वोक्त चारों अनुमानों में अप्रयोजकत्व की शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि विपक्ष बाधक तर्क खण्ड संख्या १६ में कहा जा चुका है। २४।।

श्रीविवरणाचार्य तथा श्रीचित्सुखाचार्य कृत अविद्यासाधक अनुमानों और नवीन वेदान्तीयों के द्वारा प्रदर्शित अविद्या साधक अनुमानों को निर्दुष्टतया प्रतिपादन कर के आचार्यप्रवर शिष्यवर्ग के

दृश्यत्ववत्। यद्वा अनाद्यभावविलक्षणत्वं ज्ञानविरोधिवृत्ति, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वाद्, अभिधेयत्ववदिति। एवमभावविलक्षणाज्ञानेऽनुमानान्यूहनीयानि।।२५।।

इत्यद्वैतसिद्धाववविद्यानुमानोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रति कह रहे हैं कि इसी प्रकार अविद्या साधक अन्य अनुमानों की भी रचना कर लेनी चाहिए। कैसे अविद्यासाधक अनुमानों की रचना की जाय? इसके समाधानार्थ आचार्यप्रवर स्वयम् अविद्यासाधक अनुमान की रचना कर रहे हैं—ज्ञानविरोधित्वमनादिभावत्वसमानाधिकरणम्, सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्वात्, दृश्यत्ववत्। (ज्ञानविरोधित्व अनादिभावत्व (अभावविलक्षणानादित्व) के साथ समानाधिकरण है, क्योंकि उसमें सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्व है, जैसे दृश्यत्व) पक्ष में हेतु का समन्वय—सकलज्ञानविरोधिवृत्ति= ज्ञानविरोधित्व। अत: सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्व ज्ञानविरोधित्व में गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—सकलज्ञानविरोधिवृत्ति=दृश्यत्व। अत: सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्व दृश्यत्व में रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—आकाशादि में अनादिभावत्व तथा दृश्यत्व पूर्वपक्षी भी मानता है। अत: अनादिभावत्व का समानाधिकरणत्व दृश्यत्व में चला गया। (सिद्धान्ती के अनुसार पांच अनादि पदार्थों में अनादिभावत्व के साथ दृश्यत्व के रहने से अनादिभावत्व का समानाधिकरणत्व दृश्यत्व में चला जायेगा।) इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि ज्ञान विरोधी अनादिभाव रूप अज्ञान को मानकर के ही होगी। [''सकलज्ञानविरोधिवृत्तित्वात्'' के घटक ज्ञानविरोधित्व का अर्थ यदि ज्ञाननाश्यत्व करते हैं तब तो दृष्टान्त में हेतु जायेगा ही नहीं, क्योंकि अज्ञान की सिद्धि के पूर्व सम्पूर्ण प्रपञ्च साक्षात् ज्ञान नाश्य है—ऐसा सिद्ध नहीं है। अर्थात् पहले अज्ञान सिद्ध हो और अज्ञान का कार्य प्रपञ्च है—यह सिद्ध हो, तब ज्ञान से अज्ञान का नाश होने पर अज्ञान का कार्य प्रपञ्च का नाश माना जा सकता है किन्तु अभी अज्ञान ही सिद्ध नहीं है। अत: ज्ञानविरोधित्व का अर्थ ज्ञानप्रयुक्त नाशप्रतियोगित्व करना चाहिए। ऐसा अर्थ करने से दृष्टान्त में हेतु चला जायेगा, क्योंकि सेतुदर्शनादि के द्वारा पाप का नाश पूर्वपक्षी भी मानता है।] अथवा अनाद्यभावविलक्षणत्वं ज्ञानविरोधिवृत्ति, अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्वात्, अभिधेयत्ववत्। (अनाद्यभावविलक्षणत्व ज्ञान के विरोधी में वृत्ति है, क्योंकि उसमें अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्व है, जैसे अभिधेयत्व।) पक्ष में हेतु का समन्वय—अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्ति=अनाद्यभावविलक्षणत्व। अत: अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्व अनाद्यभावविलक्षणत्व में गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्ति=अभिधेयत्व। अत: अनाद्यभावविलक्षणमात्रवृत्तित्व अभिधेयत्व में गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—पूर्वपक्षी के मतानुसार भी ज्ञानविरोधी पदार्थ ज्ञान के प्रागभाव में भी अभिधेयत्व रहता है। अत: ज्ञानविरोधिवृत्ति=अभिधेयत्व। इसलिए ज्ञानविरोधिवृत्तित्व अभिधेयत्व में रहेगा। इस प्रकार से व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूपरामर्श के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि अज्ञान सिद्धि के विना हो नहीं सकता है। अर्थात् ज्ञानविरोधि=अनाद्यभाव से विलक्षण भावरूप अज्ञान। अत: अज्ञान में अनाद्यभावविलक्षणत्व है। इसलिए ज्ञानविरोधिवृत्ति=अनाद्यभावविलक्षणत्व। अत: ज्ञानविरोधिवृत्तित्व अनाद्यभावविलक्षणत्व में गया। इस प्रकार से भावरूप अज्ञान की सिद्धि हो जायेगी। इसी प्रकार अभाव से विलक्षण जो अविद्या है। उस अविद्या साधक अन्य अनुमानों की रचना कर लेनी चाहिए।।२५।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामविद्यानुमानोपपत्तिः

५ —अज्ञाने श्रुतिप्रमाणविचारः

एवं श्रुतयश्च। तत्र छान्दोग्ये अष्टमाध्याये—''तद्यथापि हिरण्यं निधिनिहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन प्रत्यूढाः'' इति श्रुतिर्ब्रह्मज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनानृतं ब्रुवाणा तादृगज्ञाने प्रमाणम्। न च ऋतशब्दस्य 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र सत्कर्मणि प्रयोगदर्शनाद् 'ऋतं सत्यं तथा धर्मः' इति स्मृतेश्च ऋतशब्दस्य सत्कर्मपरत्वादनृतशब्दस्य दुष्कर्मपरत्वमिति वाच्यम्, उत्तरत्र 'य आत्मापहतपाप्मा' इत्यादिना आत्मनोऽपहतपाप्मत्वप्रतिपादनेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

जैसे भावरूप अज्ञान के साधक साक्षिप्रत्यक्ष और उक्त अनुमान हैं, ठीक उसी प्रकार भावरूप अज्ञान की साधक अनेक श्रुतियां भी हैं। उन श्रुतियों में छान्दोग्य उपनिषत् के अष्टम अध्याय में परिपठित पर यह श्रुति है—''तद्यथापि हिरण्यं निधिनिहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन प्रत्यूढ़ाः'' (छा.उ. ८—३—२)। इस सम्बन्ध में यह दृष्टान्त है कि जिस प्रकार निधि (खान) में निहित सुवर्ण को अक्षेत्रज्ञ (उस खान के विषय में न जानने वाला) उस खान के उपर उपर घूमते हुए भी प्राप्त नहीं कर पाता है, ठीक उसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा प्रतिदिन ब्रह्मलोक को जाते हुए भी अनृतरूप अज्ञान से अन्धीभूत होकर अर्थात् अस्फुरद् ब्रह्मस्वरूप वाली होकर ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर पाती है, अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान नहीं कर पाती है।) यह श्रुति भी ब्रह्मज्ञान प्रतिबन्धकत्वेन अर्थात् अस्फुरणव्याप्यत्वेन (यत्र यत्र अज्ञानं तत्र तत्र ब्रह्मज्ञानास्फुरणम्) अनृत पदार्थ को कहती हुयी पूर्वोक्त साक्षिप्रत्यक्ष और कथित अनुमानों के द्वारा जो प्रतिपादित अनादिभाव रूप अज्ञान है, उसी अनादिभाव रूप अज्ञान में प्रमाण है। अर्थात् '' अनृतेन प्रत्यूढ़ाः'' के घटक ''अनृतेन'' पद के द्वारा अनादिभावरूप मिथ्या अज्ञान कहा गया है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त श्रुति में अनृत शब्द के द्वारा मिथ्या अज्ञान नहीं कहा गया है, क्योंकि ''ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके'' (कठ.उ. १—३—१) इस श्रुति में ऋत शब्द का सत्कर्म के अर्थ में प्रयोग देखा गया है और ''ऋतं सत्यं तथा धर्म'' (महाभारत शान्तिपर्व) इस स्मृति में भी ऋत शब्द सत्कर्मपरक ही देखा गया है। अतः ऋत शब्द का जो अर्थ (सत्कर्म) है, उसका विपरीत अर्थ (पापकर्म) ही नञ् घटित अनृत शब्द के द्वारा लिया जायेगा न कि अनादि भावरूप मिथ्या अज्ञान। अतः ''अनृतेन प्रत्यूढ़ाः'' का अर्थ है—पापकर्मणा प्रतिबद्धाः।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''अनृतेन प्रत्यूढ़ाः'' (छा.उ.८—३—२) के अनन्तर पठित ''य आत्मापहतपाप्मा'' (छा.उ. ८—७—१) इस श्रुतिवाक्य के द्वारा आत्मा के अपहतपाप्मत्व (पापशून्यस्वाभावत्व) का प्रतिपादन है। (यदि आत्मा में कादाचित् पाप माना जाय तो आत्मा का पापशून्यस्वभावत्व अनुपपन्न हो जायेगा।) अतः पापकर्म के द्वारा प्रतिबद्ध होने के कारण सुषुप्ति में जीव को ब्रह्म का स्फुरण नहीं होता है—ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा के अपहतपाप्मत्व को बतलाने वाली श्रुति से विरोध है। सुषुप्ति में सभी कर्मों का नाश होने के कारण दुष्कर्म का भी अभाव होता है। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सुषुप्ति में पापकर्म कार्यरूपेण न रहने पर भी कारणरूपेण रहता है। इसके समाधान में कह रहे हैं कि) कारणात्मना कार्यों के अवस्थान के लिए सर्वजन्यदृश्य का परिणामी उपादानकारण के रूप से अज्ञान को मानना आवश्यक है। कर्म में आवरणत्व की अनुपपत्ति है। अर्थात् कर्म किसी का आवरक ही नहीं होता है। अतः सुषुप्ति में ब्रह्म का भी आवरक कर्म नहीं हो सकता है। फलतः ब्रह्मविषयकज्ञान के प्रतिबन्धक के रूप से ही ब्रह्म

दुष्कर्मप्रत्यूढत्वविरोधात्, सुषुप्तो कर्ममात्रनाशे दुष्कर्मणोऽप्यभावात्, कारणात्मनावस्थाने चाज्ञानस्यावश्यकत्वात्, कर्मण आवरणत्वानुपपत्तेश्च। ब्रह्मवेदनप्रतिबन्धकतया ह्यनादिब्रह्मावरकं ज्ञाननिवर्त्यं वाच्यम्, तथा च कर्मेव प्रधानमपि नानृतपदाभिधेयम्, तयोर्ज्ञानानिवर्त्यत्वात्, ज्ञाननिवर्त्यत्वे च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादिश्रुतिर्मानम्।।१ ।।

न च अत्र निवृत्तिस्तरणमात्रम्, 'मायामेतां तरन्ति ते' इति स्मृतेरिति वाच्यम्, ज्ञानहेतुकतरणस्य निवृत्त्यतिरिक्तस्यासम्भवेन उभयोर्नाशमात्रार्थत्वात्। न च 'तम आसीत्' इत्यस्य सत्त्वप्रतिपादकस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

की आवरकता तथा ज्ञाननिवर्त्यता अनादि अज्ञान में ही कहनी पड़ेगी। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''अनृतेन प्रत्यूढ़ाः'' इस श्रुति के अनृत पद के द्वारा परिणामी उपादान (प्रधान) कहा गया है। इसके समाधान में आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि) अनृत पदार्थ को ब्रह्मवेदन का प्रतिबन्धक माना गया है। अतः अनृत पदार्थ वही होगा जो अनादि ब्रह्म का आवरक हो तथा ब्रह्मज्ञान से निवर्त्य हो। प्रधान न तो ब्रह्म का आवरक है न ज्ञान से निवर्त्य है। अतः कर्म के समान प्रधान भी अनृत शब्द से नहीं लिया जा सकता है, क्योंकि कर्म और प्रधान दोनों ही ज्ञान के द्वारा साक्षात् निवर्त्य नहीं होते हैं। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''तद्यथापि हिरण्यं निधिनिहितमक्षेत्रज्ञाः..........'' इस श्रुति के द्वारा अनृत पदार्थ में ज्ञाननिवर्त्यत्व कहा नहीं गया है। अतः अनृत पदार्थ में ज्ञाननिवर्त्यत्व सिद्धान्ती कैसे कह रहे है? इसका उत्तर देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि) अज्ञान की ज्ञाननिवर्त्यता में ''भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'' (श्वेता. उ. १—१०) (पुनः अन्त में विश्वमाया= सर्वमाया=असत्त्वापादक और अभानापादक सर्व अज्ञान की निवृत्ति होती है।) यह श्रुति प्रमाण है। इस श्रुति में माया शब्द से अज्ञान कहा गया है। असत्त्वापादक और अभानापादक के भेद से अज्ञान दो प्रकार का होता है। उन दोनों प्रकारों को ग्रहण करने के लिए विश्वमाया शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् ज्ञान से सभी प्रकार के अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है।।१ ।।

शङ्का— ''भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'' (श्वेता० उ. १—१०) इस श्रुति को अज्ञानगत ज्ञाननिवर्त्यत्व में प्रमाण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस श्रुति के घटक निवृत्ति शब्द का अर्थ तरण (पारगमन) है न कि नाश, क्योंकि ''मायामेतां तरन्ति ते'' (गी.७—१४) इस स्मृतिवाक्य में ज्ञान के द्वारा माया का तरण ही कहा गया है न कि नाश। इसलिए नौका आदि के द्वारा नदी के तरण से जैसे नौका आदि से नदी का नाश हो गया—यह नहीं माना नहीं जाता है ठीक उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा माया के तरण से ज्ञान के द्वारा माया का नाश हो गया—यह नहीं माना जा सकता है। अतः यह श्रुति अज्ञानगत ज्ञाननिवर्त्यत्व में प्रमाण नहीं मानी जा सकती है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''सरितं तरति प्लवेन'' इत्यादि स्थल पर नौका आदि हेतुक जो नदी का तरण है, ऐसे स्थल पर यद्यपि नौका आदि के द्वारा नदी का नाश नहीं होता है तथापि ''तमस्तरति ज्योतिषा'' इत्यादि स्थल पर प्रकाश हेतुक जो तम का तरण है। ऐसे स्थल पर प्रकाश के द्वारा तम का नाश ही मानना आवश्यक होता है, ठीक इसी प्रकार शुक्तिज्ञान हेतुक रजत के तरण से तो रजत निवृत्ति से अतिरिक्त और कुछ होना सम्भव नहीं है। अतः श्रुति घटक ''निवृत्तिः'' और स्मृति घटक ''तरन्ति'' दोनों ही पदों का नाश मात्र अर्थ है। अतः उक्त श्रुति और स्मृति को अज्ञानगत ज्ञाननिवर्त्यत्व में प्रमाण माना ही जा सकता है।

शङ्का— आवरणात्मकतमरूपमायागत ज्ञाननिवर्त्यत्व होने से माया मिथ्या है—ऐसा जो सिद्धान्ती ने कहा था, वह उचित नहीं है, क्योंकि मायागत मिथ्यात्व मानने पर माया को सत् से भिन्न मानना

बाधकं विना पारमार्थिकसत्त्वपरत्वेन कथमावरणस्यानृतत्वमिति वाच्यम्, 'नासदासीन्नोसदासीत्' इत्यनेन पारमार्थिकत्वतुच्छत्वयोर्निषेधेन व्यावहारिकसत्त्वपरत्वात्। न च अनेन माया प्रतिपाद्यते। मायाशब्दार्थश्च नाज्ञानम्, मायिनो ब्रह्मणोऽज्ञानित्वे सर्वज्ञत्वनिरवद्यत्वादिश्रुतिविरोधादिति वाच्यम्, उपाधेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

पड़ेगा किन्तु वह सम्भव नहीं है, क्योंकि ''तम आसीत्'' (ऋक् १०–११–१२९–३) इस ऋचा के ''आसीत्'' पद के द्वारा आवरणात्मक तम में सत्त्व का प्रतिपादन किया गया है और बाधक न होने से तमगत सत्त्व को पारमार्थिक सत्त्वपरक माना ही जा सकता है। अतः परमार्थसत् आवरणात्मक तम को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार ''गौरनाद्यन्तवती नित्या सततविक्रियाः इस श्रुति के द्वारा मायागतनित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। नित्य वस्तु का बाध होता नहीं है जबकि मिथ्यावस्तु का बाध हो जाता है। माया जब नित्य है तब उसका बाध हो नहीं सकता है। अतः माया को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है।

समाधान– पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि '' तम आसीत्'' इस ऋचा के ''आसीत्'' पद के द्वारा मायागत व्यावहारिक सत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि ''नासदासीन्नो सदासीत्'' (ऋक्–१०–११–१८९–३) इस ऋचा के द्वारा मायागत पारमार्थिकत्व और तुच्छत्व दोनों का ही निषेध किया गया है। व्यावहारिकसत्त्व का बाध होता ही है। अतः मायागत मिथ्यात्व मानना उचित ही है। इसी प्रकार द्वितीय श्रुति के द्वारा जो मायागत अन्तराहित्य कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान के बिना माया का नाश नहीं होता है और नित्य पद के द्वारा दीर्घकाल स्थायित्व कहा गया है। अतः अज्ञानरूप माया का तत्त्वज्ञान से नाश अवश्य होने से मायागत मिथ्यात्व मानना उचित ही है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तम आसीत्'' के ''तम'' पद के द्वारा माया कहा गया है न कि अज्ञान। अतः माया शब्द का अर्थ अज्ञान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ''मायिनं तु महेश्वरम्'' (श्वेता–४–१०) इस श्रुति के द्वारा मायी को परमेश्वर कहा गया है। यदि माया का अर्थ अज्ञान करते हैं तब परमेश्वर को मायी =अज्ञानी कहना पड़ेगा किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञत्व निरवद्यत्वादि प्रतिपादक ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा। इसलिए माया और अज्ञान दोनों भिन्न–भिन्न हैं। अतः अज्ञानगत मिथ्यात्व के रहने पर भी मायागतपारमार्थिकसत्त्व माना ही जा सकता है।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जीव–ईश्वर के भेद का प्रयोजक उपाधि माया है। माया रूप उपाधि में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को जीव तथा बिम्ब को ईश्वर कहते हैं। उपाधि सदैव प्रतिबिम्बपक्षपाती मानी जाती है। अर्थात् उपाधि सदैव प्रतिबिम्ब के वास्तविक स्वरूप का आवरण करती है। बिम्ब के स्वरूप का आवरण नहीं करती है। अतः माया रूप उपाधि प्रयुक्त असर्वज्ञत्वादि धर्मों का आपादान जीव में ही होता है ईश्वर में नहीं। अतः माया को उपाधि मानने पर पूर्वपक्षी के द्वारा जो ईश्वर में असर्वज्ञत्वादि धर्मों का प्रतिपादन किया गया। वह युक्तियुक्त नहीं है। शुद्ध ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि धर्म रहता ही नहीं है अपितु मायोपाधिक ब्रह्म (ईश्वर) में ही रहता है। अतः पूर्वपक्षी को भी यह मानना ही पड़ेगा कि ईश्वर में जो सर्वज्ञतादि ऐश्वर्य प्रतीत होता है वे सब के सब अज्ञानरूप माया से ही प्रतीत होते हैं। अतः ''मायिनं तु महेश्वरम्'' इस श्रुति से परमेश्वर को जो मायी कहा गया और ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' इस श्रुति से मायी=परमेश्वर को जो सर्वज्ञादि कहा गया। वह सब उचित ही है। यहां सिद्धान्ती के कथन का तात्पर्य यह है कि माया और अज्ञान में भेद न

प्रतिबिम्बपक्षपातित्वेनेश्वरासार्वज्ञ्याद्यापादनायोगात्, सार्वज्ञ्याद्यैश्वर्यस्य मायानिबन्धनत्वाच्च।।२।।

न च 'मय ज्ञाने'इति धात्वार्थनुसारात् माया कथमज्ञानमिति वाच्यम्, 'एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेनकरोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति'इति श्रुत्या मायाविद्ययोरैक्यप्रतिपादनान्माया अज्ञानमेव, घट चेष्टायामिति धातुजस्यापि घटशब्दस्य चेष्टावाचकत्वाभाववदत्रापि ज्ञानवाचकत्वाभावात्। 'माया प्रज्ञा वयुनमिति' ज्ञानपर्याये

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने पर भी जीव और ईश्वर के साथ जो अज्ञान रूप माया का सम्बन्ध है, उसमें भेद है। अर्थात् जीव के साथ अज्ञानरूप माया का सामानाधिकरण्य सम्बन्ध है और ईश्वर के साथ अज्ञानरूप माया का आध्यासिक सम्बन्ध है। इन सम्बन्धों की विलक्षणता के कारण जीव में असर्वज्ञतादि और ईश्वर में सर्वज्ञतादि है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञानार्थक ''मय ज्ञाने'' (भ्वादिगण) धातु से निष्पन्न (मय+अण्+आप्) माया शब्द का अर्थ ज्ञान है। अतः ज्ञान का विरोधी अज्ञानरूप अर्थ माया शब्द का नहीं किया जा सकता है। अतः माया और अज्ञान दोनों भिन्न—भिन्न पदार्थ हैं।

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नही है, क्योंकि ''एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशौ आभासेन करोति माया अविद्या च स्वयमेव भवति'' (नृसिं०उ.ता.९—३) इस श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि ''इसी प्रकार से यह माया अपने से अभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च का निर्माण करके जीव तथा ईश्वर को भी आभास से करती है और माया तथा अविद्या स्वयं ही होती है।'' इस प्रकार से इस श्रुति के द्वारा माया और अविद्या में अभेद का प्रतिपादन किया गया है। अतः माया का अर्थ अज्ञान किया जा सकता है। [कहने का आशय यह है कि शुद्ध सत्त्व और मलिन सत्त्व रूप उपाधि के भेद से माया और अविद्या में भेद होने पर भी श्रुति में ''स्वयमेव'' इस अंश से दोनों का एक ही व्यक्तित्व कहा गया है। वास्तव में तो उपाधि के द्वारा भी अविद्या और माया में भेद नहीं माना जाता है, क्योंकि एक ही अज्ञान विक्षेपशक्ति वाला होकर माया शब्द वाच्य होता है और आवरणशक्ति वाला होकर अविद्या शब्द वाच्य होता है। जीव—ईश्वर में जो भेद है। वह तो एक ही अविद्या में बिम्बत्व (ईश्वर की उपाधि) और प्रतिबिम्बत्व (जीव की उपाधि) के कारण माना जाता है। दूसरी बात यह है कि पाणिनीय धातु पाठ में ''मय ज्ञाने'' ऐसा धातु पाठ ही नहीं है, क्योंकि ''अयपयमयचयतयणय गतौ'' ऐसा धातु पाठ मिलता है। अतः ''मय ज्ञाने'' धातु से माया शब्द बना है—ऐसा नहीं है अपितु ''मा माने'' (अदादिगण) या '' माङ् माने शब्दे च'' (जुहोत्यादिगण) धातु से ''माछाससिभ्यो यः'' (उणादि सूत्र—४—१०९) इस सूत्र से ''य'' प्रत्यय करने के पश्चात् ''टाप्'' प्रत्यय करके माया शब्द बना है। ऐसे माया शब्द का अर्थ ज्ञान नहीं होता है किन्तु ''विश्वं माति यस्याम्'' अथवा ''विश्वं मिमीते'' ऐसा अर्थ माया शब्द का किया जाता है। यदि कहा जाय कि मान शब्द का परिमाण और ज्ञान दोनों ही अर्थों में प्रयोग होता है। अतः मानार्थक ''मा'' धातु से निष्पन्न माया शब्द का अर्थ ज्ञान किया जा सकता है। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] जैसे ''घट चेष्टायाम्'' (भ्वादिगण) धातु से निष्पन्न घट शब्द का चेष्टारूप अर्थ विवक्षित नहीं होता है, क्योंकि वह तो केवल व्युत्पत्ति मात्र के प्रदर्शन के लिए होता है, उससे प्रवृत्तिनिमित्त का अवबोधन नहीं होता है। अन्यथा चेष्टार्थक घट धातु से निष्पन्न घट शब्द चेष्टा का ही बोधक होता कम्बुग्रीवादिमत् वस्तु का बोधक नहीं होता। ठीक इसी प्रकार माया शब्द का ज्ञानरूप अर्थ विवक्षित नहीं है अपितु माया शब्द से अज्ञानरूप अर्थ ही विवक्षित है। पूर्वपक्षी का

निघण्टुकारवचनं च ज्ञानाकारपरिणामित्वादज्ञानस्योपपन्नम्। वृत्तिज्ञानस्याज्ञानाभिन्नत्वाद् अज्ञानस्यैवा–निर्वचनीयविचित्रशक्तियोगान्न विचित्रशक्तिमति मायाशब्दप्रयोगानुपपत्तिः। क्वचिन्मणिमन्त्रादौ तत्प्रयोगस्तूपचारात्॥३॥

न च शुक्तिरूप्यादौ मायाशब्दाप्रयोगान्न मृषार्थोऽयमिति वाच्यम्, वज्रादौ पृथिवीत्वादि–व्यवहाराभावेऽपि पृथिवीत्ववद् व्यवहाराभावेऽपि मायात्वानपायाद्, ऐन्द्रजालिकादौ बहुशो

सत्यानन्दप्रबोधिका

कथन है कि ''माया प्रज्ञा वयुनमिति प्रज्ञानामानि'' (नि.३–९) इस प्रकार से निघण्टुकार ने माया को ज्ञान का पर्यायवाची कहा है। अतः माया का अर्थ अज्ञान करने पर निघण्टुकार के उक्त वचन से विरोध होगा। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अज्ञान (माया) जो है वह वृत्तिज्ञान का उपादान कारण होता है और कार्यकारण अभिन्न होते ही हैं। अतः ज्ञान (कार्य) और कारण (अज्ञान) के अभिन्न होने से ज्ञान के पर्यायवाची के रूप से माया शब्द का प्रयोग निघण्टुकार के द्वारा करना उचित ही है। अतः वृत्तिज्ञान से अज्ञान अभिन्न है। अज्ञान अनिर्वचनीयविचित्रोपादानकत्व की शक्ति वाला होता है। विचित्रशक्तिवाले में माया शब्द का प्रयोग होता ही है। अतः विचित्रशक्तिवाले अज्ञान में माया शब्द के प्रयोग की अनुपपत्ति नहीं है। कहीं–कहीं मणि मन्त्रादि में माया शब्द का प्रयोग गौणीवृत्ति से होता है। अर्थात् जैसे सिंहगत शूरत्वादि का योग माणवक में होने से माणवक के लिए गौणीवृत्ति से सिंह शब्द का प्रयोग होता है ठीक उसी प्रकार माया जैसे मिथ्याभूतपदार्थ की कारण होती है। उसी प्रकार मणि मन्त्रादि भी मिथ्याभूत पदार्थ का कारण होता है। अतः मिथ्याभूतपदार्थकारणत्व रूप मायागत गुण के मणिमन्त्रादि के साथ योग रहने के कारण मणिमन्त्रादि में माया शब्द का गौण प्रयोग हो ही सकता है॥३॥

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि माया शब्द मिथ्या वस्तु का बोधक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि मिथ्याभूत शुक्तिरजतादि में माया शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है,क्योंकि हीरकमणिमुक्तादि में पृथिवित्व के होने पर भी उनमें पृथिवित्व का व्यवहार नहीं होता है किन्तु उनमें पृथिवित्व का व्यवहार न होने पर भी उनमें पृथिवित्व रहता ही है। इसी प्रकार शुक्तिरजतादि में मायात्व के व्यवहार का अभाव होने पर भी मायात्व रहता ही है। [कहने का भाव यह है कि पृथिवित्व जाति के व्यञ्जक के अभाव दशा में हीरकमणिमुक्तादि में पृथिवित्व का व्यवहार नहीं होता है। गन्धवत्त्वादि पृथिवित्व के व्यञ्जक हैं। व्यञ्जक के रहने पर उनमें पृथिवित्व का व्यवहार भी कदाचित होता है, ठीक इसी प्रकार शुक्तिरजतादि में मायात्वव्यञ्जक के असत्त्व दशा में मायात्व का व्यवहार न होने पर भी मायात्वव्यञ्जक के सत्त्व दशा में मायात्व का व्यवहार भी होता है। मायात्व का व्यञ्जक ज्ञाननिवर्त्यत्वादि हैं।] जादूगर द्वारा विरचित विचित्र मिथ्या पदार्थों के लिए माया शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जाता है। [कहने का भाव यह है कि लोकानुभव के अनुसार सभी कर्म दुःख के हेतु हैं किन्तु प्रकृष्ट दुःख के जनक कर्म में ही दुःख (कष्ट) का व्यवहार होता है, ठीक वैसे ही सम्पूर्ण जगत् ही मायिक है, किन्तु सभी में मायात्व का व्यवहार नहीं होता है अपितु चमत्कार विशेष का आधान करने वाले ऐन्द्रजालिकादि में माया शब्द का प्रयोग होता है। सम्पूर्ण जगत् के ही मायिक होने के कारण ही साख्याचार्य ने कहा है–''यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्''। महाभारत में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–''माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां द्रष्टुमर्हसि'' (म.भा.मोक्ष. ३३९–४५) इस मोक्षधर्म वाक्य में भगवान श्रीकृष्ण के द्वारा दृश्य मात्र के

मायाशब्दप्रयोगदर्शनाच्च, मायाया अज्ञानान्यत्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वविरोधाच्च। नीहारतमःशब्दावप्यस्मिन्मते अज्ञानस्यावारकत्वाद्युज्यते, नान्यमते। अनृतनीहारादिशब्दानां दुष्कर्मपरत्वे श्रुत्यन्तरोक्तजीवेश–भेदकत्वोपादानत्वादिविरोधश्च। तस्मात्‘अनृतेन प्रत्यूढाः’, ‘नीहारेण प्रावृताः’, ‘तम आसीत्’, ‘मायां तु प्रकृतिं विद्याद्’, ‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्’, ‘अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः’, ‘भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः’ इत्याद्याः श्रुतयो वर्णिता अज्ञाने प्रमाणमिति स्थितम्।।४।।

इत्यद्वैतसिद्धावविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

लिए माया शब्द का प्रयोग किया गया है।] माया को अज्ञान से भिन्न मानने पर ज्ञान से माया की निवृत्ति नहीं हो पायेगी, तब ज्ञान से माया की निवृति को कहने वाली श्रुति (भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः) और स्मृति (मायामेतां तरन्ति ते) से विरोध होगा। ‘‘निहारेण प्रावृता’’ (ऋक्–०८–३–१७) और ‘‘सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति’’ इत्यादि में कथिन नीहार और तम शब्दों के द्वारा जो अज्ञान कहा गया और उक्त वाक्यों के द्वारा अज्ञानगत आवरकता कही गयी है। उसका सामञ्जस भावात्मक अज्ञानवाद में ही युक्तियुक्त हो सकता है, अन्य के मत में नहीं। (इसीलिए ‘‘नीहारेण प्रावृता’’ इस मन्त्र के माधवीय भाष्य में ‘‘नीहारेण नीहारसदृशेनाऽज्ञानेन’’ ऐसी व्याख्या की गयी है।) ‘‘अनृतेन प्रत्यूढ़ाः’’ (छा.उ.८–३–२) और ‘‘नीहारेण प्रावृताः’’ (ऋक्. ८–३–९७) इन वाक्यों में आये हुए ‘‘अनृत’’ ‘‘नीहार’’ आदि शब्दों को दुष्कर्म का बोधक मानने पर अन्य श्रुतियों के द्वारा जो अनृत में जीवेशभेदकत्व और उपादनकत्वादि का प्रतिपादन किया गया है। उससे विरोध होगा। [कहने का भाव यह है कि अनृतनीहारादि शब्दों को दुष्कर्म का प्रतिपादक मानने पर ‘‘अनीशया शोचति मुह्यमानः’’ (मु.उ. ३–२) इस श्रुति के द्वारा अज्ञानगत जो जीवेशभेदकत्व कहा गया है और ‘‘मायां तु प्रकृतिं विद्यात्’’ (श्वेता. उ. ४–१०) इस श्रुति के द्वारा अज्ञानगत जो प्रपञ्चोपादानत्व कहा गया है। इन सबसे विरोध होगा। दूसरी बात यह है कि यदि दुष्कर्म को अनृतरूप मान कर उसमें जीवेश का भेदकत्व माना जाय तो यह युक्ति युक्त नहीं होगा, क्योंकि दुष्कर्म सादि है और जीवेश भेद अनादि है। सादि अनादि का प्रयोजक हो नहीं सकता है। इसी प्रकार दुष्कर्म सभी पदार्थो (सादि और अनादि) का उपादान कारण भी नहीं हो सकता है।] इसलिए ‘‘अनृतेन प्रत्यूढ़ाः’’ (छा.उ. ७–३–२) ‘‘नीहारेण प्रावृताः’’ (ऋक्. ८–३–९७)’’ तम आसीत्’’ (ऋक्. १०–११–१२९–३)’’ ‘‘मायां तु प्रकृतिं विद्यात्’’ (श्वेता. उ. ४–१०) ‘‘ अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्’’ (श्वेता उ. ४–५)’’ ‘‘अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः’’ (कठ.उ. २–५) ‘‘ भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः’’ (श्वेता. उ. १–१०) इत्यादि वर्णित श्रुतियां अज्ञान में प्रमाण हैं—यह सुस्पष्ट है।।४।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामविद्याप्रतिपादकश्रुत्युपपत्तिः

६—अज्ञानेऽर्थापत्तिप्रमाणविचारः

जीवस्यानवच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशान्यथानुपपत्तिश्च तत्र मानम्। न च जीवस्य ब्रह्मभेदेनैव तादृगप्रकाशोपपत्तिः, जीवब्रह्मभेदस्याग्रे निरसिष्यमाणत्वात्। न चानवच्छिन्नानन्दस्यापि प्रकाशमान—प्रत्यङ्मात्रत्वेनाप्रकाशमानत्वानुपपत्तिः, शरीरप्रतियोगिकस्यात्मनि स्वरूपभेदस्यात्माकारेण प्रकाशमानत्वेऽपि भेदाकारेणाप्रकाशमानत्ववद्रूपान्तरेण ब्रह्मणः प्रकाशमानत्वेऽपि उक्ताकारेणाविद्या—

सत्यानन्दप्रबोधिका

पीछे साक्षिप्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुतिप्रमाण के द्वारा अनादिभावरूप अज्ञान का प्रतिपादन किया गया। अब अज्ञान में अर्थापत्तिप्रमाण को उद्धृत करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जीव में अनवच्छिन्नब्रह्मानन्द के अप्रकाश की अन्यथानुपपत्ति भी अज्ञान में प्रमाण है। [प्रथम अर्थापत्ति का आकार यह है—''ब्रह्माभिन्नजीवस्य अज्ञानवत्त्वं विना अनवच्छिन्नब्रह्मानन्दाप्रकाशोऽनुपपन्नम्।'' अर्थात् यदि ब्रह्म से अभिन्न जीव में अज्ञानरूप आवरण न होता तो अवश्य ही जीव को निरतिशयानन्द का भान होता। फलतः निरतिशयानन्द के अभाव की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अज्ञान की कल्पना की ही जा सकती है।]

शङ्का— यदि किसी अन्य प्रकार से उपपत्ति हो जाती है तब अर्थापत्तिप्रमाण का खण्डन हो जाता है—यह सर्वमान्य नियम है। इसलिए पूर्वपक्षी उक्त आनन्द के अप्रकाश की उपपत्ति अन्य प्रकार से (अर्थात् जीव ब्रह्म के भेद के द्वारा) करते हुए कह रहा है कि जीव का ब्रह्म से भेद होने के कारण ही जीव में अनवच्छिन्न ब्रह्मानन्द के अप्रकाश की उपपत्ति हो जायेगी। अतः उक्त अप्रकाश की उपपत्ति के लिए अज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ है।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्म के भेद का खण्डन द्वितीय परिच्छेद में किया जायेगा। अतः अज्ञान को सिद्ध करने वाली उक्त अर्थापत्तिप्रमाण का जीव और ब्रह्म के भेद को लेकर खण्डन नहीं किया जा सकता है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि सिद्धान्ती का कथन मान लिया जाय कि जीव ब्रह्म से अभिन्न है तब तो जीव का अपना प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप संसारावस्था में जैसे प्रकाशित है ठीक उसी प्रकार जीव से अभिन्न अनवच्छिन्नब्रह्मानन्द का भी प्रकाश संसारावस्था में जीव को होगा। अतः अनवच्छिन्नब्रह्मानन्द का अप्रकाश ही नहीं है। इसलिए अनवच्छिन्नब्रह्मानन्द के अप्रकाश की उपपत्ति के लिए अज्ञान की कल्पना करना व्यर्थ है।

समाधान — ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी भेद को अधिकरण स्वरूप मानता है। अतः पूर्वपक्षी के मत में शरीरप्रतियोगिकभेद जो आत्मा में रहता है। वह आत्मस्वरूप ही है किन्तु शरीरप्रतियोगिक भेद स्वरूप आत्मा का आत्मत्वेन भान होने पर भी (अर्थात् आत्मा का स्वरूपतः भान होने पर भी) भेदत्वेन भान नहीं होता है। अर्थात् मैं शरीर से भिन्न हूं— इस प्रकार से भान नहीं होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी शुद्ध चित् स्वरूपेण ब्रह्म प्रकाशमान होने पर भी अनवच्छिन्नानन्द रूप से अविद्यावरण वशतः अप्रकाशमान हो ही सकता है, क्योंकि अविद्या अपने आधारभूत चैतन्य के सत् और चित् रूप का आच्छादन न करके विशेषरूप (आनन्दरूप) को ही आवृत करती है। इसका प्रतिपादन परिच्छिन्नत्वहेतुविचार के खण्ड संख्या ६ में किया जा चुका है। इस प्रकार से सच्चित् और आनन्द का वस्तुतः अभेद होने पर भी अविद्या के कारण उनमें जो आरोपित भेद है, उस भेद के कारण एक भान और दूसरे का अभान उपपन्न हो जाता है। अतः उक्त अर्थापत्ति प्रमाण

वशादप्रकाशमानत्वोपपत्तेरुक्तत्वात्।।१ ।।

भ्रमस्य सोपादानत्वान्यथानुपपत्तिरपि अविद्यायां प्रमाणम्। न चान्तःकरणमुपादानम्, अन्तःकरणस्य ज्ञानजनने प्रमाणव्यापारसापेक्षत्वेन प्रमाणाविषये शुक्तिरूप्यादौ ज्ञानाजनकत्वात्, सादित्वेनानादिभ्रमपरम्परानुपादानत्वाच्च। न च ब्रह्मैवोपादानम्, तस्यापरिणामित्वात्। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

से अज्ञान की सिद्धि हो जायेगी।।१ ।।

अज्ञान में द्वितीय अर्थापत्ति का उपन्यास करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भ्रम के सोपादनत्व की अन्यथानुपपत्ति भी अज्ञान में प्रमाण है। [द्वितीय अर्थापत्ति का आकार यह है–भ्रमस्याज्ञानोपादानकत्वं विना सोपादानत्वमनुपपन्नम्।'' अर्थात् अज्ञान से भिन्न अन्य पदार्थ में भ्रमोपादानत्व असम्भव होने से भ्रमगत सोपादानत्व की अन्यथानुपपत्ति भी अज्ञान में प्रमाण है। कहने का भाव यह है कि सिद्धान्तमत में भ्रमात्मकाध्यास विषयज्ञानोभयरूप और भावकार्य माना जाता है। सादि अध्यास मात्र भावकार्य होता है और भावकार्य उपादान से जन्य होने के कारण सोपादानक होता है। भावकार्य रूप अध्यास को उपादानत्व की अपेक्षा होने पर अज्ञान से अन्य कोई उपादान कारण मिलता नहीं है। अज्ञान को न मानने पर अध्यासगत सोपादानत्व की अनुपपत्ति होगी। इस प्रकार से अध्यासगत सोपादानत्व की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अज्ञान की सिद्धि होती है। इसलिए यह द्वितीय अर्थापत्ति भी अज्ञान में प्रमाण मानी जाती है।]

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि शुक्तिरजतादि भ्रम के दो अंश होते हैं–ज्ञान और विषय। उनमें से ज्ञान अंश का उपादानकारण अन्तःकरण है। अतः भ्रम के ज्ञान अंश के उपादानकारण के लिए अज्ञान को मानने की आवश्यकता नहीं है। भ्रम के विषय अंश के उपादान कारण के लिए भी अज्ञान को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि असत्ख्याति मत में भ्रमज्ञान का विषय अलीक माना जाता है। अलीक शशविषाणादि पदार्थ के लिए उपादानकारण की आवश्यकता ही नहीं होती है। अतः सिद्धान्ती के द्वारा कथित अर्थापत्ति की अन्य प्रकार से उपपत्ति हो जाने से उक्त अर्थापत्ति के द्वारा अज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती है।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण ज्ञान के उत्पादन में प्रमाण व्यापार (इन्द्रियसन्निकर्षादि) की अपेक्षा करता है। जबकि भ्रमज्ञान के विषयीभूत शुक्तिरजतादि के ज्ञान के उत्पत्ति के समय भ्रमज्ञान के विषयीभूत शुक्तिरजतादि के साथ प्रमाणव्यापार (इन्द्रियसन्निकर्षादि) ही नहीं है, क्योंकि भ्रमस्थल पर ज्ञान और विषय एक साथ उत्पन्न होते हैं। अतः प्रमाण व्यापार से शून्य शुक्तिरजतादि के ज्ञान का जनक अन्तःकरण नहीं हो सकता है। इसलिए अज्ञान से अन्य कोई भी पदार्थ शुक्तिरजतादि का उपादानकारण नहीं हो सकता है। अतः उक्त अर्थापत्ति से अज्ञान की सिद्धि होती है। दूसरी बात यह है कि श्रुतियों में अन्तःकरण को जन्य कहा गया है। अतः अन्तःकरण सादि होने से प्रवाहरूप अनादिभ्रम परम्परा का उपादानकारण नहीं हो सकता है। [यद्यपि अन्तःकरण भी प्रवाहरूप से अनादि माना जाता है, तथापि वह कार्य है। इसलिए उसका उपादान कारण अकार्य अनादि मानना चाहिए। यदि अन्तःकरण का उपादानकारण सादि पदार्थ मानेंगे तब तो उस सादि पदार्थ का भी उपादानकारण मानना पड़ेगा। इसप्रकार से अनवस्था और गौरवदोष होगा।] इसलिए अनादि उपादानकारण अज्ञान को मानना ही युक्तियुक्त है और लाघव भी है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि भ्रम का विषय अत्यन्त असत् (अलीक) होने से उसको उपादानकारण की अपेक्षा नहीं होती है–ऐसा पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा ही अनुचित है, क्योंकि अत्यन्त असत् शशविषाणादि प्रत्यक्ष रूप

विवर्ताधिष्ठानत्वेन शुक्त्यादेरिवोपादानत्वम्, अविद्यामन्तरेणातात्त्विकान्यथाभावलक्षणस्य विवर्तस्यैवासम्भवात्, शुक्त्यादेरधिष्ठानावच्छेदकतया विवर्ताधिष्ठानत्वाभावात्। न च– उपादानापेक्षस्य विवर्तस्य तात्त्विकातिरिक्तोपादानकल्पनवदविद्यादेराश्रयसापेक्षस्य ब्रह्मातिरिक्तमतात्त्विकमधिकरणं कल्प्यं

सत्यानन्दप्रबोधिका

से भासित नहीं होते हैं, जबकि शुक्तिरजतादि प्रत्यक्षरूप से प्रतीत होते हैं। अत: भ्रम के विषय को अत्यन्त असत् नहीं माना जा सकता है। इसलिए भ्रम के विषय का प्रातिभासिक सत्त्व माना जाता है। अत: उसका उपादानकारण भी अज्ञान को मानना पड़ेगा। अन्यथा उसकी उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

शङ्का– यदि अन्त:करण सादि होने के कारण अनादिभ्रम परम्परा का उपादान कारण नहीं बन सकता है तो अनादिभ्रम परम्परा का उपादान कारण अनादि ब्रह्म को मान लेना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म जब सभी का उपादानकारण माना जाता है तब वह भ्रम का भी उपादान कारण हो जोयगा। भ्रम के उपादानकारण के लिए अविद्या मानना व्यर्थ है।

समाधान– ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अपरिणामी होने से परिणामी उपादान कारण नहीं हो सकता है।

शङ्का– शुक्तिरजतरूपविवर्त का शुक्ति अधिष्ठान होने के कारण शुक्तिरजतभ्रम का शुक्ति उपादानकारण (विवर्तोपादानकारण) मानी जाती है। ठीक इसी प्रकार प्रपञ्चरूपविवर्त का ब्रह्म अधिष्ठान होने के कारण प्रपञ्च का ब्रह्म उपादानकारण (विवर्तोपादानकारण) माना जा सकता है। अत: विवर्ताधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म जैसे प्रपञ्च का उपादानकारण है, वैसे ही भ्रम का भी उपादानकारण हो जायेगा। अत: भ्रम के लिए अज्ञान को उपादानकारण मानना व्यर्थ है।

समाधान– ऐसा कथन अनुचित है, क्योंकि अविद्या के विना अतात्त्विक अन्यथाभाव रूप विवर्त ही असम्भव है। [अर्थात् अतात्त्विकान्यथाभाव को विवर्त कहते हैं। अविद्या को स्वीकार न करने पर ब्रह्म का अतात्त्विकान्यकाभावरूप विवर्त ही सम्भव नहीं होगा, क्योंकि अविद्या के ही अधीन अतात्त्विकान्यथाभावमात्र होता है। अथवा ब्रह्मणोऽन्यथाभावो विवर्त:। ब्रह्म का अन्यथाभाव विवर्त है किन्तु ब्रह्म अन्यथा हो नहीं सकता है। अत: ब्रह्मगत अविद्या ही अन्यथा हो जाती है–यही मानना पड़ेगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि विवर्त का लक्षण यह है–यस्य कारणस्य विषमसत्ताकं यत् कार्यं तस्य तद् विवर्त:। इस प्रकार से विवर्त का लक्षण करने पर विना अविद्या के ही विवर्तरूप कार्य ब्रह्म से उत्पन्न हो जायेगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म को उक्त प्रकार से विवर्तकारण मानने पर भी प्रपञ्च का परिणामी कारण भी कोई मानना होगा, क्योंकि यह अनुमान है–आकाशादिसर्वकार्यं परिणाम:, कार्यत्वात्, मृदादिपरिणामघटादिवत्। अत: प्रपञ्च के परिणामीकारण के रूप से अविद्या की सिद्धि हो जायेगी।] पूर्वपक्षी ने जो कहा कि शुक्तिरजतरूपविवर्त का अधिष्ठान शुक्ति होती है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजत का अधिष्ठान शक्त्यवच्छिन्नचैतन्य होता है न कि शुक्ति। अत: शुक्ति विवर्ताधिष्ठान का अवच्छेदक होने से विवर्ताधिष्ठान नहीं हो सकती है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि उपादानकारण की अपेक्षा रखने वाला विवर्तकार्य का तात्त्विक ब्रह्म से अतिरिक्त मिथ्या अविद्या को जैसे उपादानकारण माना जाता है। ऐसे ही आश्रय की अपेक्षा रखने वाले अज्ञान का तात्त्विक ब्रह्म से अतिरिक्त किसी मिथ्या पदार्थ को अविद्या के आश्रय के रूप से सिद्धान्ती को कल्पना करनी चाहिए। किन्तु सिद्धान्ती ब्रह्मरूप आश्रय से भिन्न आश्रय की कल्पना के विना ही ब्रह्म में जैसे अविद्या की मुख्य आश्रयता मान लेते हैं, ठीक उसी प्रकार सिद्धान्ती

स्यादिति—वाच्यम्, ब्रह्मण एव विकारित्वे अनित्यत्वादिप्रसक्तिवद् ब्रह्मण एवाधिष्ठानत्वे बाधकाभावेन द्वितीयस्याधिकरणस्याकल्पनात्।।२।।

न च—असत्यस्य सत्यरूपान्तरापत्तिलक्षणपरिणाम्यनपेक्षत्वेन परिणामित्वेनापि नाविद्याकल्पनमिति—वाच्यम्, (परिणामस्य) परिणामिसत्तासमानसत्ताकत्वनियमेनासत्यत्वस्यैवाभावात्। न च—घटादौ स्वसमानसत्ताकोपादानकत्वदर्शनेन प्रपञ्चेऽपि तादृशोपादानकल्पने घटादेः स्वाधिकसत्ता—

सत्यानन्दप्रबोधिका

को अज्ञानरूप उपादानान्तर की कल्पना के विना ही ब्रह्म में प्रपञ्च विभ्रम की मुख्य उपादानता स्वीकार कर लेनी चाहिए।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे प्रपञ्चविभ्रम की ब्रह्म में परिणामी उपादानता मानने पर ब्रह्मगत अनित्यत्वादि की प्रसक्ति होती है। वैसे ही अविद्या की ब्रह्मनिष्ठ आश्रयता (अधिष्ठानत्व) मानने पर किसी भी प्रकार की अनिष्ट की प्रसक्ति नहीं होती है। अत: आश्रयान्तर की कल्पना नहीं की जाती है।।२।।

शङ्का—असत्य पदार्थ को सत्यरूपान्तरापत्तिलक्षण परिणामी की अपेक्षा न होने के कारण परिणामित्वेन भी अविद्या की कल्पना नहीं की जा सकती है। [कहने का भाव यह है कि असत्ख्याति वादी पूर्वपक्षी के मत में शुक्तिरजतादि पदार्थ शशविषाण के जैसे अलीक माने जाते हैं। अत: शुक्तिरजतादि को अपने परिणामी उपादानकारण की अपेक्षा ही नहीं होती है। जैसे शशविषाणादि को अपने परिणामी उपादान कारण की अपेक्षा ही नहीं होती है। इस पर प्रश्न होता है कि परिणामी उपादानकारण की कहां पर अपेक्षा होती है? इसके उत्तर में कहा गया कि दधि रूप सत्य कार्य के रूप को प्राप्त करने वाले सत्य दूध को सत्य दधि का परिणामी उपादानकारण माना जाता है, किन्तु प्रकृत में सम्भव नहीं है। अत: विभ्रम की तात्त्विक उपादानता की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती है।]

समाधान—पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''सत्यरूपान्तरापत्ति'' यह परिणाम का लक्षण नहीं है अपितु ''परिणामिसमानसत्ताकरूपान्तरापत्ति'' परिणाम का लक्षण है। ''आकाशादिसर्वकार्यं परिणाम:, कार्यत्वात्, मृदादिपरिणामघटादिवत्।'' इस अनुमान के अनुसार जब आकाशादि परिणाम हैं तब कोई न कोई आकाशादि कार्य का परिणामी कारण मानना ही पड़ेगा। परिणाम परिणामी कारण की सत्ता के समान सत्ता वाला होता है—ऐसा नियम है। परिणामी कारण के रूप से अविद्या को न मानने पर आकाशादि तथा शुक्तिरजतादि कार्य का परिणामी कारण ब्रह्म को मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर आकाशादि और शुक्तिरजतादि में असत्यत्व ही सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् सत्यत्व ही सिद्ध होगा। पूर्वपक्षी इष्टापत्ति नहीं दे सकता है, क्योंकि पूर्वपक्षी भी शुक्तिरजतादि में सत्यत्व नहीं मानता है। दूसरा दोष यह भी होगा कि ब्रह्म को परिणामी उपादानकारण मानने पर उसमें अनित्यत्वादि की आपत्ति होगी। परिणामी उपादानकारण के रूप से अविद्या को मानने पर उक्त दोष नहीं होगा। अत: भ्रम की उपादानता की अन्यथानुपपत्ति के द्वारा अविद्या की सिद्धि करना उचित ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि घटादि में स्वसमानसत्ताकोपादानकत्व माना जाता है, क्योंकि घटादि और घटादि के उपादानकारण मृत्तिकादि में समानसत्ता देखा गया है। आकाशादि प्रपञ्च में भी स्वसमानसत्ताकोपादानकत्व की कल्पना करने पर जैसे घटादि को स्व से अधिक सत्ताक उपादान की अपेक्षा नहीं होती है। [अर्थात् लोक में घटादि को स्वसमानसत्तावाली मृत्तिकादि की ही अपने

कोपादानानपेक्षत्ववद् वियदादेरपि ब्रह्मानुपादानकत्वं स्यादिति—वाच्यम्, 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः'इत्यनेन न्यायेन घटादेरपि मृदवस्थचैतन्योपादानकतया तादृशोपादानानपेक्षत्वासिद्धेः।।३।।

अत एव— रूप्येऽपि स्वसमानसत्ताकस्य निमित्तस्यापि कल्पनापत्तिरिति—निरस्तम्, निमित्तमात्रे वा इयं कल्पना? विशेषे वा? नाद्यः, अधिष्ठानरूपनिमित्तस्य सर्वत्राधिकसत्ताकत्वात्। द्वितीये तूत्तरोत्तरभ्रमे पूर्वपूर्वभ्रमस्य निमित्तत्वेनेष्टापत्तेः। न च त्रिगुणात्मकं प्रधानमुपादानमिति वाच्यम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपादानकारण के रूप से अपेक्षा करते हुए देखा गया है न कि घट से अधिक सत्ता वाले चैतन्य (पारमार्थिकसत्ता वाले ब्रह्म) को उपादानकारण के रूप से अपेक्षा करते हुए देखा गया है।] ठीक इसी प्रकार व्यावहारिकसत्ता वाले आकाशादि प्रपञ्च को भी स्व से अधिक सत्ता वाले अर्थात् पारमार्थिकसत्ता वाले ब्रह्म की स्वोपादानकत्वेन अपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

समाधान— उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः'' (ब्र.सू.२.३—१३) इस सूत्र में भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि परमेश्वर ही आकाशादि भावापन्न होकर तत्तद् विकारों की सृष्टि करता है, क्योंकि उसमें ''यः पृथिव्यां तिष्ठन्यः पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति'' (बृ.उ.३—७—३) (जो पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी के आभ्यन्तर है जिसे पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और भीतर रहकर पृथिवी का नियमन करता है।) तथा ''सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय'' (उसने कामना की बहुत होऊँ) ऐसा प्रस्तुत करके ''सच्चत्यच्चाभवत्। तदात्मानं स्वयमकुरुत'' (तै.२—६—१) (वह सत्—मूर्त त्यत्—अमूर्त हुआ। उसने स्वयं अपने को रचा।) इत्यादि ज्ञापक रूप लिङ्ग है। इस न्याय के द्वारा लौकिक घटादि कार्य भी मृत्तिकाद्यवच्छिन्न चैतन्य रूप उपादान के ही कार्य माने जाते हैं। अतः लौकिक घटादि कार्य का उपादान=मृत्तिकाद्यवच्छिन्नचैतन्य घटादि की सत्ता से अधिक सत्ता वाला होने से लौकिक घटादि कार्य में स्वाधिकसत्ताकोपादानकत्व की असिद्धि नहीं है।।३।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि घटादि कार्यों में स्वसमानसत्ताकनिमित्तकारणजन्यत्व है, क्योंकि घटादि कार्यों और कुलालादि निमित्तकारणों की एक ही व्यावहारिकसत्ता सिद्धान्ती मानते है। अतः शुक्तिरजतादि कार्यों में भी स्वसमानसत्ताकनिमित्तकारणजन्य सिद्धान्ती को मानना चाहिए। सिद्धान्ती इष्टापत्ति दे नहीं सकते हैं, क्योंकि शुक्तिरजतादि कार्यों में प्रातिभासिकनिमित्तकारणजन्यत्व की कल्पना करने पर अपसिद्धान्तापत्ति होगी, क्योंकि सिद्धान्ती शुक्तिरजतादि का निमित्तकारण व्यावहारिक सत्ता वाला चाकचिक्यादि दोष को मानते हैं।

समाधान —उक्त शङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि शुक्तिरजतादि कार्यों के सभी निमित्त कारणों में स्वसमानसत्ताकत्व होना चाहिए, ऐसा पूर्वपक्षी कहना चाहता है? अथवा अनेक निमित्तकारणों में से किसी एक निमित्त कारण में स्वसमानसत्ताकत्वं होना चाहिए? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि अधिष्ठानरूप निमित्तकारण सर्वत्र शुक्तिरजतादि रूप कार्यों की अपेक्षा से अधिक सत्तावाला होता है। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर सिद्धान्तमत में कोई आपत्ति नहीं आयेगी, क्योंकि उत्तरोत्तर भ्रम के प्रति पूर्व—पूर्वभ्रम को निमित्तकारण माना ही जाता है। पूर्व—उत्तर दोनों भ्रमों की समान ही सत्ता होती है। दूसरी बात यह भी है कि कुछ स्थलों पर भ्रम रूप कार्य का निमित्त प्रातिभासिक भी होता है। अतः भ्रम और निमित्त में समानसत्ताकत्व भी होता है।

शङ्का— ब्रह्म गत उपादानत्व माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म निर्विकार है। अतः ब्रह्मगत

तस्यासत्यत्वे अविद्यानतिरेकात्। सत्यत्वेऽपि सावयवम्? निरवयवं वा? आद्ये अनादित्वभङ्गः। द्वितीये परिणामित्वायोगो ब्रह्मवत्। न चाविद्यापक्षेऽपि समः पर्यनुयोगः, तस्याः काल्पनिकत्वेन पर्यनुयोगायोगात्। तस्मादर्थापत्तिरविद्यायां प्रमाणम्।।४।।

इत्यद्वैतसिद्धावविद्यायामर्थापत्त्युपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपादानत्व की उपपत्ति के लिए अविद्या की कल्पना करनी पड़ती है। ऐसा करने पर गौरवदोष होगा। अतः साख्य सम्मत एक त्रिगुणात्मक अनादि तथा नित्यरूप प्रधान तत्त्व को ही त्रिगुणात्मक प्रपञ्च का उपादानकारण मान लेना चाहिए।

समाधान – ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त प्रधानतत्त्व असत्य है? अथवा सत्य है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर उसे अविद्या से अतिरिक्त नहीं माना जा सकता है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर प्रश्न होता है कि उक्त प्रधानतत्त्व सावयव है? अथवा निरवयव? सावयव माानने पर उक्त प्रधानतत्त्व को अनादि नहीं माना जा सकता है? क्योंकि सावयव घटादि पदार्थ सादि होते हैं। यदि प्रधान को सादि मानेंगे तब वह अनादि भ्रम का उपादान कारण नहीं बन पायेगा। निरवयव मानने पर ब्रह्म के समान ही उसमें परिणामित्व नहीं माना जा सकता है। सांख्यसम्मत प्रधान के विषय में उक्त प्रकार से जैसे विकल्प उठाकर दोष दिया गया, ठीक उसी प्रकार से सिद्धान्ती सम्मत अविद्या के विषय में भी विकल्प उठाकर दोष नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती सम्मत अविद्या काल्पनिक है। अर्थात् युक्तिविरुद्धत्वव्याप्यमिथ्यात्वरूप है। अर्थात् ''यत्र यत्र मिथ्यात्वं तत्र तत्र युक्तिविरुद्धत्वम्।'' अतः काल्पनिक अविद्या का युक्तिविरुद्धत्व भूषण है न कि दूषण। अतः सिद्धान्ती के द्वारा कथित अर्थापत्ति को अविद्या में प्रमाण माना ही जा सकता है।।४।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामविद्यायामर्थापत्युपपत्तिः

७—अविद्याप्रतीतिविचार:

सा चाविद्या साक्षिवेद्या, न तु शुद्धचित्प्रकाश्या। साक्षी चाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बतचैतन्यम्। तेन— निर्दोषचित्प्रकाश्यत्वेनाज्ञानस्य पारमार्थिकत्वापत्ति:, मोक्षेऽपि तत्प्रकाशापत्ति:, न च तदानीमविद्याया निवृत्तत्वात् (तत्) प्रकाशाभाव:, प्रतीतिमात्रशरीरस्य प्रतीत्यनुवृत्तौ निवृत्ययोगादित्यादिदोषानवकाश:। अत एवोच्यते राहुवत् स्वावृतचैतन्यप्रकाश्याऽविद्येति।।१ ।।

न चैवं कदाचिदविद्याया अप्रतीत्यापत्ति:, इष्टापत्ते:, समाधौ तथाभ्युपगमात्। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

वह अविद्या स्वरूपत: साक्षिमात्र वेद्य है। अविद्या में साक्षिवेद्यत्व के रहने पर भी शुद्धचित् प्रकाश्यत्व नहीं माना जाता है। अर्थात् अविद्या शुद्धचैतन्य से प्रकाशित नहीं मानी जाती है, क्योंकि शुद्धचैतन्य से साक्षिचैतन्य भिन्न होता है, क्योंकि अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को साक्षिचैतन्य कहते हैं। [अर्थात् ''यदाकाराविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितं यच्चैतन्यं तत् तस्य साक्षीत्यर्थ:'' अर्थात् अविद्याकार अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को अविद्या का साक्षिचैतन्य मानते हैं। इसी प्रकार शुक्तिरजताकार अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को शुक्तिरजत का साक्षिचैतन्य कहते हैं। सुखाकार अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को सुख का साक्षिचैतन्य कहते हैं। तेन अनवकाश:—इति अन्वय:। तेन =अविद्याया शुद्धचित्प्रकाश्यत्वाभावेनेत्यर्थ:। अर्थात् पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि] अविद्या को शुद्धचैतन्य के द्वारा प्रकाशित मानने पर उसमें पारमार्थिकत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि शुद्धचैतन्य निर्दोष है और जो निर्दोषज्ञान से वेद्य होता है वह पारमार्थिक होता है—ऐसा नियम है। अविद्या में पारमार्थिकत्व होने पर मोक्ष दशा में भी अविद्या के भान की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि मोक्षकाल में अविद्या के निवृत्त हो जाने से मोक्षकाल में अविद्या के भान की आपत्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रतीतिमात्रशरीररूप अज्ञान की शुद्ध चैतन्यरूप प्रतीति की अनुवृत्ति होने पर निवृत्ति सम्भव नहीं हो सकती है। [पूर्वपक्षी के कथन का भाव यह है कि प्रातिभासिक पदार्थ की प्रतीति जब तक रहती है, तब तक प्रातिभासिक पदार्थ भी रहता है। अर्थात् प्रतीति के रहते प्रातिभासिक पदार्थ की निवृत्ति नहीं हो सकती है। प्रकृत में अज्ञान की प्रतीति=शुद्धचैतन्य। वह तो मोक्षकाल में भी रहता ही है। अत: मोक्षकाल में अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती है। अपितु मोक्षकाल में अविद्या का भान ही होना चाहिए।] इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उक्त दोषों को कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने शुद्धचैतन्य के द्वारा अविद्या को प्रकाशित मानकर दोष दिये हैं, जबकि अविद्या का प्रकाशन साक्षिचैतन्य के द्वारा होता है। अत: पूर्वपक्षी ने केवल अकाण्ड ताण्डव मात्र ही किया है। अत एव=अविद्या अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य से प्रकाशित होने से ही, अद्वैतवेदान्त के आचार्यों के द्वारा यह कहा जाता है कि राहु के समान अविद्या स्वावृत्तचैतन्य प्रकाश्य है। अर्थात् जैसे राहु से आवृत्त चन्द्रादि से राहु प्रकाश्य है, वैसे ही अविद्या से आवृत्त चैतन्य से अविद्या प्रकाश्य है।।१ ।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि एक ही अविद्यावृत्ति सदा नहीं रह सकती है क्योंकि जिस काल में अविद्यावृत्ति रहेगी उस काल में अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित साक्षिचैतन्य रहेगा। किन्तु जिस काल में अविद्यावृत्ति नहीं रहेगी, उस काल में उक्त साक्षिचैतन्य भी नहीं रहेगा। इस प्रकार से उक्त साक्षिचैतन्य को कादाचित्क मानना पड़ेगा। ऐसे कादाचित्क अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य के द्वारा अविद्या का भान मानने पर जिस समय अविद्यावृत्ति नहीं रहेगी, उस समय उक्त साक्षिचैतन्य भी नहीं रहेगा।

चाविद्यावृत्तेर्दोषजन्यत्वादत्र कथमविद्यावृत्तिः? अविद्याया एव दोषत्वात्। न च वृत्तेरपि वृत्त्यन्तरप्रतिबिम्बितचिद्भास्यत्वे अनवस्था, स्वस्या एव स्वभानोपाधित्वात्॥२॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः उस समय अविद्या का भान नहीं होना चाहिए।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इष्टापत्ति है, क्योंकि समाधि में अविद्या की अप्रतीति हम मानते हैं। [अर्थात् समाधि दशा में अविद्याकार अविद्यावृत्ति का उदय न होने से अविद्या की प्रतीति नहीं होती है। यदि समाधि में अविद्याकार अविद्यावृत्ति का उदय मानेंगे तब तो समाधि से व्युत्थान होने पर ''एतावन्तं कालं मूढ़ोऽहमासम्'' ऐसा परामर्श होना चाहिए। जैसे सुप्तोत्थित पुरुष को होता है, किन्तु ऐसा परामर्श होता नहीं है। अतः समाधि दशा में अविद्या की प्रतीति नहीं मानी जाती है।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जहां शुक्तिरजतादि का भ्रम होता है वहां शुक्तिरजताद्याकार अविद्यावृत्ति का उपादान कारण अविद्या होती है और निमित्त कारण चाकचिक्यादि दोष होता है किन्तु अविद्या विषयिका अविद्यावृत्ति जब बनती है तब उसका उपादानकारण अविद्या के रहने पर भी निमित्तकारण बनने के लिए अन्य कोई दोष ही नहीं है। अतः अविद्याविषयिका अविद्यावृत्ति ही नहीं उत्पन्न होगी और अविद्या विषयिका अविद्यावृत्ति के न रहने पर अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप साक्षी की सिद्धि नहीं हो सकती है। साक्षिचैतन्य के सिद्ध न होने पर शुद्धचैतन्य के द्वारा अविद्या का प्रकाश मानने पर पूर्वोक्त दोष आयेंगे।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में जैसे आत्मत्वेन आत्मा सुखादि का समवायिकारण माना जाता है और अदृष्टवत्त्वेन आत्मा सुखादि का निमित्तकारण माना जाता है और सिद्धान्त मत में एक ही ब्रह्म अधिष्ठानत्वेन प्रपञ्च का निमित्तकारण और अविद्यायुक्तत्वेन प्रपञ्च का उपादानकारण माना जाता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों के ही मतों में एक ही निमित्तकारणता और उपादानकारणता मानी जाती है। ठीक इसी प्रकार एक अविद्या में अविद्यावृत्ति की निमित्तकारणता और उपादानकारणता मानी जा सकती है। अर्थात् अविद्यात्वेन अविद्या अविद्याविषयिका अविद्यावृत्ति का उपादानकारण मानी जाती है और दोषत्वेन अविद्या अविद्याविषयिका अविद्यावृत्ति की निमित्तकारण मानी जाती है। इस प्रकार से अविद्याकार की अविद्यावृत्ति की सिद्धि होने से अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बितचैतन्यरूप साक्षी की भी सिद्धि हो जायेगी।

शङ्का— यदि अविद्याकार अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूपसाक्षी के द्वारा अविद्या का प्रकाश माना जाता है तब तो उक्त साक्षिचैतन्य के ही द्वारा अविद्याकार अविद्यावृत्ति का भी प्रकाश मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर अनवस्था दोष होगा क्योंकि प्रथम अविद्याकार अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यरूप साक्षी के घटक प्रथम अविद्या वृत्ति को प्रकाशित करने के लिए प्रथम अविद्यावृत्ति के आकार की द्वितीय अविद्यावृत्ति और उस अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बितचैतन्यरूपसाक्षी मानना होगा। इसी पर द्वितीय अविद्यावृत्ति के प्रकाशन के लिए द्वितीय अविद्यावृत्ति के आकार की तृतीय अविद्यावृत्ति और उसमें प्रतिबिम्बितचैतन्यरूपसाक्षी मानना होगा।

समाधान— ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि अविद्या और अविद्याकार वृत्ति के भान में स्वयं वह अविद्याकार अविद्यावृत्ति ही चैतन्य की उपाधि मानी जाती है न कि अविद्याकारवृत्ति के आकार की अन्य अविद्याकारवृत्ति मानी जाती है। अतः अनवस्थादोष नहीं होगा॥२॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मत में साक्षिभास्य शुक्तिरजतादि को जैसे

ननु प्रमाणागम्यायामविद्यायां प्रमाणोपन्यासवैयर्थ्यम्, न च प्रमाणैरसद्व्यावृत्तिमात्रं बोध्यत इति वाच्यम्, अज्ञानमगृह्णतां तत्रासद्व्यावृत्तिबोधेऽप्यसामर्थ्यादिति चेन्न, प्रमाणोपनीतासद्व्या– वृत्तिविशिष्टाज्ञानं हि साक्षिणा गृह्यते, तथा चासद्व्यावृत्त्युपनयने प्रमाणानां चरित्रार्थत्वात् न काप्यनुपपत्तिः।।३ ।।

इत्यद्वैतसिद्धावविद्याप्रतीत्युपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रमाणगम्य नहीं माना जाता है, ठीक उसी प्रकार सिद्धान्ती के मत में साक्षिभास्य अविद्या को भी प्रमाणगम्य नहीं माना जा सकता है, इसलिए जब अविद्या प्रमाणगम्य ही नहीं है तब अविद्या के विषय में सिद्धान्ती के द्वारा प्रमाण का उपन्यास करना व्यर्थ है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि यद्यपि अज्ञान साक्षिभास्य होने से प्रमाणवेद्य नहीं है तथापि प्रमाणों के द्वारा अज्ञाननिष्ठ असद्भिन्नत्वमात्र का बोधन होता है। अतः प्रमाणों का उपन्यास करना सार्थक है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रमाण अज्ञानरूपधर्मी का ग्रहण न करके अज्ञाननिष्ठ असद्भिन्नत्वरूप धर्म का ग्रहण नहीं कर सकता है। जैसे कि चक्षु के द्वारा घटरूपधर्मी का ग्रहण न होने पर घट गत रूपादि धर्म का ग्रहण नहीं होता है।

समाधान– इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अज्ञान के स्वरूप के ग्रहण में प्रमाण असमर्थ होने पर भी अज्ञान के स्वरूपगत अभावभिन्नत्वादि के बोध में भी प्रमाण असमर्थ है–ऐसी बात नहीं, क्योंकि चक्षुर्मात्र वेद्य रूप में गुणत्व का बोध अनुमानादि के द्वारा होता है। इसी प्रकार साक्षी के द्वारा अज्ञान का स्वरूप सिद्ध होने पर भी उस साक्षी सिद्ध अज्ञान में अभावभिन्नत्व–अनादित्व–ज्ञाननिवर्त्यत्वादि की सिद्धि साक्षी के द्वारा होती नहीं है। इसलिए साक्षी के द्वारा सिद्ध अज्ञान में अभावभिन्नत्व–अनादित्व–ज्ञाननिवर्त्यत्वादि की सिद्धि के लिए अनुमानादि प्रमाणों का उपन्यास किया गया है। अतः प्रमाणों से उपनीत (प्राप्ति) जो अज्ञानगत अभावभिन्नत्वादि है। उस अभावभिन्नत्वादि से विशिष्ट अज्ञान का प्रमाणों के द्वारा उपस्थापन हो जाने पर उस अभावाभिन्नत्वादि से विशिष्ट अज्ञान का भी ग्रहण साक्षी के ही द्वारा होता है। साक्षी के द्वारा गृहीत होता है। इस प्रकार प्रमाणों के उपन्यास से पहले अभावभिन्नत्वादि से विशिष्ट अज्ञान का अज्ञान था। प्रमाणों के उपन्यास होने पर अभावाभिन्नत्वादि से विशिष्ट अज्ञान के अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से प्रमाण चरितार्थ हो जाते हैं। अर्थात् प्रमाण का प्रमेय अभावाभिन्नत्वादि से विशिष्ट अज्ञान है न कि शुद्ध अज्ञान, क्योंकि शुद्ध अज्ञान तो साक्षिचैतन्य से सिद्ध है। अतः इसमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है।।३ ।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामविद्याप्रतीत्युपपत्तिः

८— अविद्यायाः चिन्मात्राश्रयत्वविचारः

अविद्याया आश्रयस्तु शुद्धं ब्रह्मैव। तदुक्तम्—

'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥'

दर्पणस्य मुखमात्रसम्बन्धेऽपि प्रतिमुखे मालिन्यवत् प्रतिबिम्बे जीवे संसारः, न बिम्बे ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। ननु कथं चैतन्यमज्ञानाश्रयः? तस्य प्रकाशस्वरूपत्वात्, तयोश्च तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावत्वादिति चेन्न, अज्ञानविरोधि ज्ञानं हि न चैतन्यमात्रम्, किन्तु वृत्तिप्रतिबिम्बितम्, तच्च, नाविद्याश्रयः, यच्चाविद्याश्रयः, तच्च नाज्ञानविरोधि। न च तर्हि शुद्धचितोऽज्ञानविरोधित्वाभावे

सत्यानन्दप्रबोधिका

अज्ञान साक्षिवेद्य होने पर भी अज्ञान का आश्रय तो शुद्ध ब्रह्म ही है। इसको स्पष्ट करते हुए संक्षेपशारीरककार ने कहा है—''जीवेशादिभेदशून्य शुद्धचैतन्य ही मूलाज्ञान का आश्रय और विषय होता है, क्योंकि जीवेशादि से पूर्वसिद्ध अज्ञान का पश्चात् सिद्ध जीव या ईश आश्रय तथा विषय नहीं हो सकते हैं।'' दर्पण का मुखमात्र के साथ सम्बन्ध होने पर भी जैसे प्रतिबिम्बितमुख में ही मलिनता होती है, बिम्बभूतग्रीवास्थ मुख में मलिनता नहीं होती है। ठीक इसी प्रकार (अविद्या या अन्तःकरण में) प्रतिबिम्बरूप से स्थित जीव में ही संसार होता है, बिम्बभूत ब्रह्म (ईश्वर) में नहीं, क्योंकि उपाधि का यह स्वभाव होता है कि वह अपने धर्मों का प्रतिबिम्ब में ही आरोप करती है। [कहने का भाव यह है कि दर्पण का जब तक मुखमात्र से सम्बन्ध नहीं होता है, तब तक वह मुख बिम्ब प्रतिबिम्ब की संज्ञा से रहित मुखमात्र होता है। किन्तु उसी मुख का जब दर्पण से सम्बन्ध होता है तब वही मुख बिम्ब और प्रतिबिम्ब के रूप से भिन्न—भिन्न हो जाता है और दर्पणगत मलिनतादि का आरोप प्रतिबिम्बमुख में ही होता है बिम्बमुख में नहीं। ठीक इसी प्रकार जब तक अविद्या का ब्रह्म से सम्बन्ध नहीं होता है तब तक वह शुद्ध ब्रह्म मात्र होता है किन्तु उसी शुद्ध ब्रह्म का जब अविद्या से सम्बन्ध होता है तब वही शुद्ध ब्रह्म ईश्वर और जीव के रूप से भिन्न—भिन्न हो जाता है और अविद्यागत दोषों का आरोप जीव में ही होता है ईश्वर में नहीं।] शुद्ध ब्रह्म को अविद्या का आश्रय मानने पर पूर्वपक्षी ने चार दोष दिये हैं। १— विरोध, २— धर्मिग्राहकप्रमाण से बाध, ३— श्रुतिविरोध, ४— भ्रान्तिसामानाधिकरण्यविरोध। इनका क्रमशः शङ्का के रूप से अनुवाद और समाधान के रूप से परिहार आगे किया जा रहा है।

शङ्का— सर्वप्रथम पूर्वपक्षी विरोधदोष का उद्भावन करते हुए कह रहा है कि शुद्ध चैतन्य अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य प्रकाशस्वरूप है और अज्ञान अप्रकाशस्वरूप है। इस प्रकार से शुद्ध चैतन्य और अज्ञान दोनों ही प्रकाश और अन्धकार के समान विरुद्ध स्वभाव वाले होते हैं। अतः इन दोनों में आधाराधेयभावसम्बन्ध नहीं हो सकता है।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि अज्ञान का विरोधी जो ज्ञान है। वह ज्ञान चैतन्यमात्र स्वरूप (शुद्धचैतन्य) नहीं है किन्तु वेदान्तविचारजन्य ब्रह्मात्मैक्यविषयकवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य है और वह अज्ञान का आश्रय नहीं है और जो शुद्ध चैतन्य अज्ञान का आश्रय है वह तो अज्ञान का विरोधी नहीं होता है। अतः शुद्ध चैतन्य को अज्ञान का आश्रय मानने पर तम और प्रकाश के समान विरोध नहीं दिखलाया जा सकता है। इसलिए शुद्ध चैतन्य और अज्ञान में आध्यासिक आधाराधेयभावसम्बन्ध हो ही सकता है।

घटादिवदप्रकाशत्वापत्तिः, वृत्त्यवच्छेदेन तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात्, स्वतस्तृणतूलादिभासकस्य सौरालोकस्य सूर्यकान्तावच्छेदेन स्वभास्यतृणतूलादिदाहकत्ववत् स्वतोऽविद्यातत्कार्यभासकस्य चैतन्यस्य वृत्त्यवच्छेदेन तद्दाहकत्वात्।।१ ।।

ननु— अहमज्ञ इति धर्मिग्राहकेण साक्षिणा अहङ्काराश्रितत्वेनाज्ञानस्य ग्रहणाद् बाधः, न च—स्थौल्याश्रयदेहैक्याध्यासादहं स्थूल इतिवदज्ञानाश्रयचिदैक्याध्यासाद् दग्धृत्वायसोरेकाग्निसम्बधात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती यदि शुद्धचैतन्य को अज्ञान का विरोधी नहीं मानते हैं तब तो जैसे घटादि अज्ञान के विरोधी नहीं होते हैं। इसलिए घटादि में अप्रकाशत्व (जड़त्व) माना जाता है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान का विरोधी शुद्धचैतन्य को न मानने पर शुद्धचैतन्य में भी अप्रकाशत्व मानना पड़ेगा।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे घटादि सर्वथा ही अज्ञान का अविरोधी होता है, किन्तु शुद्धचैतन्य सर्वथा ही अज्ञान का विरोधी नहीं होता है, क्योंकि शुद्धचैतन्य अखण्डाकार चित्तवृत्ति से अवच्छिन्न होकर अज्ञान का विरोधी होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश तूल (रुई) तृणादि का स्वतः दाहक न होकर प्रकाशक ही होता है, किन्तु वही सूर्य का प्रकाश सूर्यकान्तमणि से अवच्छिन्न होकर तृणतूलादि का दाहक हो जाता है, ठीक उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य अविद्या और अविद्याप्रयुक्त प्रपञ्च का स्वतः नाशक न होकर प्रकाशक ही होता है। किन्तु वही शुद्धचैतन्य अखण्डाकार चित्तवृत्ति से अवच्छिन्न होकर अविद्या और अविद्या प्रयुक्त प्रपञ्च का नाशक होता है।।१ ।।

शङ्का—अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य को मानने पर धर्मिग्राहक प्रमाण से विरोध का उद्भावन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''अहमज्ञः'' इस प्रकार से साक्षिप्रत्यक्ष स्थल पर अहम्=अहङ्कार=धर्मी है और उसमें अज्ञान धर्म के रूप से भासित होता है। अतः धर्मी =अहङ्कार, उसका ग्राहक जो साक्षी है। उसके द्वारा उस अहङ्काररूपधर्मी में अज्ञान आश्रित है— इस प्रकार से अज्ञान का ग्रहण होता है। अतः अज्ञान शुद्धचैतन्य के आश्रित है— इसका उक्त साक्षिज्ञान (अहमज्ञः) के द्वारा बाध हो जायेगा।

समाधान— उक्त शङ्का का समाधान देते हुए यदि सिद्धान्त मत से कहा जाता है कि ''अहं स्थूलः'' इस प्रकार से आत्मा में आश्रित के रूप से स्थौल्य का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को पूर्वपक्षी भी भ्रम मानता है। इस प्रकार का भ्रम इसलिए होता है कि स्थौल्य का वास्तविक आश्रय जो देह है, उसके साथ आत्मा का तादात्म्याध्यास है। इसलिए आत्मा आश्रितत्वेन स्थूलता का भ्रमज्ञान होता है। ठीक इसी प्रकार अज्ञान का आश्रय अहङ्कार नहीं है किन्तु शुद्धचैतन्य ही है। उस अज्ञानाश्रय शुद्धचैतन्य के साथ में अहङ्कार का तादात्म्याध्यास है। अतः शुद्धचैतन्य का धर्म जो अज्ञान है। वह अहङ्कार धर्मत्वेन भासित होता है। इसलिए अहङ्कार आश्रितत्वेन अज्ञान की ''अहमज्ञः'' इस प्रकार से जो प्रतीति होती है—वह भ्रममात्र है। अतः ''अहमज्ञः'' इस भ्रमात्मक प्रतीति के द्वारा अहङ्काराश्रितत्वेन अज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती है और शुद्धचैतन्य के आश्रित अज्ञान है—इसका बाध भी नहीं किया जा सकता है। अथवा—यद्यपि दग्धृत्व=दाहकत्व लौह पिण्ड में नहीं रहता है किन्तु अग्नि में रहता है तथापि ''अयो दहति'' इस प्रकार से भ्रम होता है। इसका कारण यह है कि दाहकत्व और लौह पिण्ड इन दोनों का ही एक ही अग्नि के साथ सम्बन्ध रहता है। उसमें दाहकत्व का अग्नि के साथ वास्तविक सम्बन्ध होता है और लौह पिण्ड का अग्नि के साथ आध्यासिक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार से दोनों का एक ही अग्नि के साथ सम्बन्ध हो जाने से

'अयो दहति' इतिवदज्ञानाहङ्कारयोरेकचिदैक्याध्यासाद्वा 'अहमज्ञः' इति धीर्भ्रान्तेति—वाच्यम्, चितोऽज्ञानाश्रयत्वासिद्ध्या अन्योन्याश्रयादिति चेन्न, अहङ्कारस्याविद्याधीनत्वेन तदनाश्रयतया चित एवाज्ञानाश्रयत्वे सिद्धे 'अहमज्ञः' इति प्रतीतेरैक्याध्यासनिबन्धनत्वेनाबाधकत्वात्।।२।।

न च—अविद्याश्रयत्वादेवाहङ्कारोऽकल्पितोऽस्तु, कल्पित एव वा तदाश्रयत्वमस्तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

''अयो दहति'' इस प्रकार का भ्रम हो जाता है। ठीक इसी प्रकार अज्ञान और अहङ्कार का एक चित् के साथ ऐक्याध्यास होने से ''अहमज्ञः'' इस प्रकार से भ्रमज्ञान होता है। [कहने का भाव यह है कि दृष्टान्त में अग्नि में लौह पिण्ड का तादात्म्याध्यास होने से जैसे अग्नि का धर्म दाहकत्व का लौह पिण्ड में और लौहपिण्ड का धर्म पिण्डत्व का अग्नि में भान होता है। ठीक वैसे ही चित् में अहङ्कार का तादात्म्याध्यास होने से अहङ्कार का धर्म कर्तृत्वादि का चित् में और चित् का धर्म अज्ञानाश्रयत्व, प्रेमास्पदत्व नित्यत्वादि का अहङ्कार में भान होता है। इसलिए ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति को भ्रमात्मक माना जाता है।] अतः इस भ्रमात्मक ज्ञान के द्वारा अहङ्काराश्रितत्वेन अज्ञान की सिद्धि नहीं की जा सकती है और शुद्धचैतन्य के आश्रित अज्ञान है—इस सिद्धान्त का बाध नहीं किया जा सकता है। जिस पक्ष में अज्ञान को अहङ्कारादि का उपादानकारण माना जाता है। उस पक्ष में प्रथम दृष्टान्त दिया गया है और जिस पक्ष में ब्रह्म को अहङ्कारादि का विवर्तोपादानकारण माना जाता है। उस पक्ष में द्वितीय दृष्टान्त दिया गया है।

शङ्का—पूर्वपक्षी उक्त समाधान का खण्डन करते हुए कह रहा है कि शुद्धचैतन्य का अज्ञानाश्रयत्व असिद्ध होने से अन्योन्याश्रयदोष है। अर्थात् शुद्धचैतन्य अज्ञान का आश्रय है—यह अभी तक शास्त्रार्थ के द्वारा सिद्ध नहीं हुआ है। इसलिए पूर्वोक्त प्रकार से धर्माध्यास के माध्यम से ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति को भ्रमात्मक सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अतः ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति में भ्रमत्व की सिद्धि होने पर शुद्धचैतन्य में अज्ञान के आश्रयता की सिद्धि होगी और शुद्धचैतन्य में अज्ञान के आश्रयता की सिद्धि हो जाने पर ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति में भ्रमत्व की सिद्धि होगी—इस प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष प्रशक्त होता है। फलतः ''अहमज्ञः'' यह प्रतीति प्रमात्मक ही है। इसलिए इस प्रतीति के द्वारा ''शुद्धचैतन्य के आश्रित अज्ञान रहता है।'' इसका बाध हो जायेगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अहङ्कार अविद्या के अधीन होने से अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है। [कहने का भाव यह है कि ''एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'' (मु.उ.२—१—३) ''मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'' (श्वे.उ.४—१०) एवमेवैषा माया स्वव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा'' (नृसिंह उ.ता.९) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अहङ्कार अविद्या का कार्य कहा गया है और कार्य कारण के आश्रित होने से अहङ्कार अविद्या के आश्रित है। अतः अविद्या का आश्रय नहीं बन सकता है। जब अहङ्कार अविद्या का आश्रय नहीं बन सकता है तब अविद्या के अन्य कार्य भी अज्ञान का आश्रय नहीं बन सकता है और अविद्या के स्थिति के अधीन स्थिति वाले जीवेश भी अविद्या के आश्रय नहीं बन सकते हैं।] अतः शुद्धचैतन्य में ही अज्ञान की आश्रयता सिद्ध होती है। अतः ''अहमज्ञः'' यह प्रतीति अहङ्कार के अज्ञानाश्रय शुद्धचैतन्य के साथ तादात्म्याध्यास के अधीन होने से इस प्रतीति को भ्रमात्मक ही मानना होगा। अतः ''अहमज्ञः'' यह भ्रमात्मक प्रतीति ''अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य है'' इसका बाधक नहीं हो सकती है।।२।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अहमज्ञः'' यह प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है। अतः इस प्रतीति गत प्रमात्व के लिए अज्ञान की आश्रयता अहङ्कार में माननी चाहिए और अहङ्कार को अकल्पित और

अविद्यायामनुपपत्तेरलङ्कारत्वादिति—वाच्यम्, अहमर्थस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वेन दृश्यत्वेनाकल्पिततत्वायोगात्, चिन्मात्राश्रितत्वं विना तद्गोचरचरमवृत्त्यनिवर्त्यत्वापातात्, स्वकल्पितस्य स्वाश्रितत्वेन स्वाश्रयत्वायोगात्। न चाविद्यायामनुपपत्तिरलङ्कारः, अनुपपत्तिमात्रं नालङ्कारः, किन्तु सत्त्वादिप्रापकयुक्तावनुपपत्तिः, अन्यथा वादिवचसोऽनवकाशापत्तेः।।३।।

ननु—''निरनिष्टो निरवद्यः'' ''शोकं मोहमत्येति'' ''नित्यमुक्तः'' इति श्रुतिविरोधात् न शुद्धचितोऽविद्याश्रयत्वम्, न हि मौढ्यं न दोषः, नापि बन्धकाज्ञानाश्रयो मुक्तः, न च तात्त्विकाविद्यादेरेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनादि भी मानना चाहिए, क्योंकि अनादि और अकल्पित में अनादि अज्ञान की आश्रयता मानने पर कोई अनुपपत्ति भी नहीं होगी। अर्थात् सिद्धान्ती ने जो दोष दिया था कि सादि अहङ्कार अनादि अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है—वह दोष भी नहीं होगा। [यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अहङ्कार को जन्य कहा गया है। अतः अहङ्कार को अनादि नहीं माना जा सकता है। ज्ञान से अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यों की निवृत्ति होने से अहङ्कार को अकल्पित भी नहीं माना जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि] अज्ञान का आश्रय कल्पित अहङ्कार को मान लेना चाहिए। सादि अहङ्कार के आश्रित अनादि अज्ञान कैसे रह सकता है—ऐसी शङ्का अज्ञान (माया) के विषय में नहीं की जा सकती है, क्योंकि माया की अनुपन्नता को दोष नहीं माना जाता है अपितु उसका भूषण ही माना जाता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अहमर्थ (अहङ्कार) में तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्व और दृश्यत्व है। अतः उसको कल्पित ही माना जायेगा न कि अकल्पित। अज्ञान को शुद्धचैतन्य के आश्रित माने बिना शुद्धचैतन्यमात्रविषयक अखण्डाकारवृत्ति के द्वारा अज्ञान के अनिवर्त्यत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि अभानापादक अज्ञान स्वाश्रयविषयक ज्ञान से ही निवर्त्य होता है। (जैसे स्व=अज्ञान, आश्रय=घटावच्छिन्नचैतन्य, उसका विषय= घट। उस घट के ज्ञान से ही उस घटविषयक अभानापादक अज्ञान की निवृत्ति होती है। ऐसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए।) अज्ञान से कल्पित अहङ्कार अज्ञान के ही आश्रित है। अतः अज्ञान का आश्रय अहङ्कार नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि अज्ञान में अनुपपत्ति अलङ्कार है—वह भी उचित नहीं है, क्योंकि सभी प्रकार की अनुपपत्तियों को अविद्या का अलङ्कार नहीं माना जाता है। अपितु अविद्या को सत् या असत् मानने में जो युक्तियों (अनुमानादि तत्सहकारी तर्कों) को दिया जाता है, उनमें परिहार अयोग्य अनुपपत्ति (प्रतिकूलतर्क) को ही अविद्या का अलङ्कार माना जाता है। अन्यथा= परिहार योग्य अनुपपत्ति को भी अविद्या का अलङ्कार मानने पर पूर्वपक्षी जिस दोष का उद्भावन करेगा, सिद्धान्ती उसे अविद्या का अलङ्कार कह देंगे। ऐसा होने पर पूर्वपक्षी को अविद्यावाद पर कुछ बोलने का अवसर ही नहीं प्राप्त होगा। अर्थात् ऐसी अवस्था में भी अविद्यावाद सुस्थिर ही रहेगा। सिद्धान्तमत में कोई हानि नहीं होगी। इस प्रकार से धर्मिग्राहकप्रमाणविरोध का परिहार हो गया।।३।।

शङ्का—अज्ञान का आश्रय ब्रह्म को मानने पर श्रुति विरोध का उद्भावन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''निरनिष्टो निरवद्यः'' इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म को अनिष्ट से रहित और दोष से रहित कहा गया है। ब्रह्म में अविद्या का सम्बन्ध मानने पर श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि अविद्या दोषरूप तथा अनिष्टरूप ही मानी जाती है। ऐसे अविद्या का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध होने पर ब्रह्म दोषादि से रहित सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार ''शोकं मोहमत्येति'' इस श्रुति के द्वारा शुद्धचैतन्यगत शोकमोहातीतत्व का प्रतिपादन किया गया है। अविद्या और मोहशब्द एकार्थक होने के कारण शुद्धचैतन्य में अविद्या

निषेधः, त्वन्मते तस्याप्रसक्तेः, जीवेऽपि तदभावेन जीवब्रह्मणोः सावद्यत्वनिरवद्यत्वव्यवस्थाश्रुतिविरोध इति चेन्न, अवद्यस्य चिति कार्यकारित्वाभावेन कार्यकरत्वाकार्यकारत्वाभ्यामेव सावद्यत्वनिरवद्य–त्वव्यवस्थोपपत्तेः, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्।।४।।

न च चिन्मात्रस्याविद्याश्रयत्वे प्रमाणाभावः, जीवाश्रितत्वे च प्रमाणमस्तीति वाच्यम्, ''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्''इति श्रुतेरेव प्रमाणत्वात्। न च 'ज्ञाज्ञावीशानीशौ'इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

(मोह) का सम्बन्ध मानने पर इस श्रुति से विरोध होगा। इसीप्रकार ''नित्यमुक्तः'' इस श्रुति के द्वारा ब्रह्म को नित्यमुक्त कहा गया है। अविद्या बन्धरूप अथवा बन्ध का कारण मानी जाती है। शुद्धचैतन्य में अविद्या अर्थात् बन्धन स्वीकार करने पर इस श्रुति से विरोध होगा। अतः अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि मूढ़ता कोई दोष नहीं है और अज्ञानरूप बन्धन से युक्त होना भी दोष नहीं है तो ऐसा नहीं कहा जा सकता है,क्योंकि जैसे मोहरूप और बन्धरूप अज्ञान को दोष माना जाता है। ठीक उसी प्रकार उक्त अज्ञान के कार्य मूढ़ता को दोष माना जाता है और अज्ञानरूप बन्धन से युक्त होने वाले को मुक्त नहीं माना जाता है। अर्थात् बद्ध ही माना जाता है। यदि कहा जाय कि उक्त श्रुति के द्वारा तात्त्विक अविद्या का शुद्धचैतन्य में निषेध किया गया है और सिद्धान्ती के द्वारा मिथ्या अविद्या शुद्धचैतन्य में मानी गयी है। अतः श्रुति से विरोध नहीं है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ऐसा सिद्धान्ती नहीं कह सकते है, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में तात्त्विक अविद्या की प्रसक्ति ही नहीं है। अतः तात्त्विक अविद्या का निषेध नहीं कर सकते हैं। अर्थात् अप्रसिद्धप्रतियोगिक निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि अप्रसिद्धप्रतियोगिक निषेध को मानकर शुद्धचैतन्य में तात्त्विक अविद्या का निषेध सिद्धान्ती करते हैं तब पूर्वपक्षी कह रहा है कि अप्रसिद्धप्रतियोगिकनिषेध मानकर जीव में भी तात्त्विक अविद्या का निषेध किया जा सकता है, ऐसा होने पर श्रुतियों के द्वारा जो जीव को सावद्य और ब्रह्म को निरवद्य कहा गया है। वह असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि सिद्धान्ती ने जीव में तात्त्विक अविद्या का निषेध मान लिया। ऐसा होने पर जीवगत निरवद्यत्व ही सिद्ध होगा न कि सावद्यत्व।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि पीछे कहा जा चुका है कि उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपाती होती है। अतः शुद्धचैतन्य की उपाधि अवद्य (अविद्यादि दोष) जीव भिन्न चित् में अहङ्कार और अहङ्कार के कार्य रागादि का जनक नहीं होता है। (अपितु प्रतिबिम्बभूत जीवगत ही अहङ्कार और अहङ्कार के कार्य रागादि का जनक होता है, क्योंकि अनादि अविद्या रूप उपाधि प्रतिबिम्बभूतजीवगत ही कार्य विशेष को उत्पन्न करती है।) इस प्रकार से जीव में अविद्यारूप दोष अपने कार्य को उत्पन्न करता है। अतः जीवगत सावद्यत्व माना जायेगा और शुद्धचैतन्य में अविद्यारूप दोष अपने कार्य को उत्पन्न नहीं करता है। अतः ब्रह्मगत निरवद्यत्व माना जायेगा। इस प्रकार से सावद्यत्व और निरवद्यत्व के व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी। अतः पूर्वपक्षी अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य को मानने पर उक्त श्रुतियों से विरोध नहीं दिखला सकता है। उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वाद् अवद्यस्य चिति कार्यकारित्वाभावेन..... इस प्रकार से अन्वय करना चाहिए।।४।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जबकि अज्ञान का आश्रय जीव है। इसमें प्रमाण है। जैसे—''अविद्यायामन्तरे वर्तमाना'' ''अनीशया शोचति मुह्यमानः'' ''अनृतेन ही प्रत्यूढ़ाः'' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण है और ''अहमज्ञः'' यह साक्षिप्रत्यक्ष भी प्रमाण है।

जीवाज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, तदाश्रयत्वाभावेऽपि तत्कार्ययोगितया अज्ञत्वव्यपदेशोपपत्तेः। न च ब्रह्मणोऽपि जीवाश्रिताज्ञानविषयत्वेन मायित्वोपपत्तिरिति—वाच्यम्, जीवत्वस्याश्रयतावच्छेदकत्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गात्।।५।।

ननु—शुक्त्याद्यज्ञानवत् ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूपमिदमप्यज्ञानं स्वकार्येण भ्रान्त्यादिना स्वनिवर्तकेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नहीं है,क्योंकि ''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्'' (श्वे.उ.४—१०) (माया को प्रकृति समझना चाहिए और मायी को महेश्वर समझना चाहिए।) यह श्रुति ही अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य है। इसमें प्रमाण है। [यद्यपि शुद्धचैतन्य ही अविद्या का आश्रय है। इसलिए शुद्धचैतन्य ही मायी है। तथापि महेश्वरत्वोपहितचैतन्य का शुद्धचैतन्य से तादात्म्य होने से श्रुति ने महेश्वरगत मायित्व का कथन किया है। यदि शङ्का की जाय कि शुद्धचैतन्य से महेश्वरोपहितचैतन्य का अभेद होने से महेश्वरोपहितचैतन्य को मायी कहते हैं तब तो शुद्धचैतन्य से जीवोपहितचैतन्य का अभेद होने से जीव को भी मायी कहना चाहिए। इसका समाधान यह है कि उक्त श्रुति के द्वारा महेश्वर को मायी कहा गया है। जबकि ''मायया सन्निरुद्धः'' ''मूढ़ः इव व्यवहरन् अस्ति मायया'' इन श्रुतियों के द्वारा जीव को माया निरुद्ध तथा मायामूढ़ कहा गया है। अर्थात् महेश्वर माया निरुद्ध नहीं है अपितु मायी (मायाधीश) है जबकि जीव माया निरुद्ध है। अविद्या जिसके प्रति अखण्डचित्प्रकाश को आवृत्त करती है उसी को माया निरुद्ध या मायामूढ़ कहा जाता है और जिसके प्रति अखण्डचित्प्रकाश को आवृत्त नहीं करती है, उसको मायी (मायाधीश) कहा जाता है। अतः महेश्वर मायी है और जीव मायानिरुद्ध है।]

शङ्का— अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य को मानने पर ''ज्ञाज्ञौ ईशानीशौ'' (श्वे.उ.१—९) इस श्रुति से विरोध होगा, क्योंकि इस श्रुति के द्वारा ''ज्ञ ईश्वर है और अज्ञ जीव है'' इस प्रकार से जीवगत ही अज्ञान की आश्रयता का प्रतिपादन किया गया है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जीव में अज्ञानाश्रयत्व का अभाव होने पर भी जीव में अज्ञान के कार्य अहङ्कार—रागादि का सम्बन्ध होने से अर्थात् अज्ञानजनित आवरण से आवृत होने से जीवगत अज्ञत्व के कथन की उपपत्ति हो जायेगी।

शङ्का— जैसे ब्रह्म के आश्रित अज्ञान के कार्य अहङ्कारादि का जीव के साथ सम्बन्ध होने से जीवगत अज्ञत्व का प्रतिपादन किया जाता है। ठीक उसी प्रकार जीव में ब्रह्मविषयक अज्ञान है। अतः जीवाश्रित अज्ञान के विषयता रूप सम्बन्ध ब्रह्म में होने से ब्रह्मगत मायित्व की उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि विषयतारूप सम्बन्ध से अज्ञान से युक्त ब्रह्म है। अतः ब्रह्म को अज्ञान का आश्रय न मानकर अज्ञान का विषय ही मानना चाहिए।

समाधान— ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि शुद्धचैतन्य को अज्ञान का आश्रय न मानकर जीव को अज्ञान का आश्रय मानने पर जीवत्व को अज्ञानाश्रयता का अवच्छेदक मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि जीव चैतन्य में अज्ञानाश्रयत्व सिद्ध होने पर जीवत्व की सिद्धि होती है और जीवत्व के सिद्ध होने पर अज्ञानाश्रयत्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार से श्रुतिविरोध का परिहार हो गया।।५।।

शङ्का—शुक्त्यादि के अज्ञान के समान ही ज्ञाता के विषय का अप्रकाशरूप जो प्रकृति अज्ञान है उसका अपने कार्य भ्रान्त्यादि के साथ, स्वनिवर्तक तत्त्वज्ञानादि के साथ, स्वसमान योगक्षेमवाले ज्ञानप्रागभाव के साथ सामानाधिकरण्य के लिए ज्ञाता रूप आत्मा में ही आश्रित अज्ञान मानना चाहिए

तत्त्वज्ञानादिना स्वसमानयोगक्षेमेण ज्ञानप्रागभावेन च सामानाधिकरण्याय ज्ञात्रात्मनिष्ठम्, न तु चैतन्यरूपज्ञानमात्राश्रितमिति चेन्न, चैतन्यस्यैव ज्ञातृत्वेन ज्ञातुरर्थाप्रकाशरूप(त्व)स्य सम्यक्ज्ञानाश्रयत्वस्य भ्रान्त्यादिसामानाधिकरण्यस्य चोपपत्तेः। न चैवं—ज्ञातृत्वे सत्यविद्याश्रयत्वम्, अविद्यायां ज्ञातृत्वमित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम्, अविद्याया ज्ञातृत्वानपेक्षत्वेनान्योन्याश्रयाभावात्। न हि

सत्यानन्दप्रबोधिका

न कि शुद्धचित् रूप ज्ञान में आश्रित। [पूर्वपक्षी के कहने का भाव यह है कि कार्य और कारण में सामानाधिकरण्य होता है। अतः जैसे शुक्त्यादि का अज्ञान ज्ञाता में रहता है, ठीक उसी प्रकार विषयाप्रकाश रूप अज्ञान भी ज्ञाता में मानना चाहिए। ऐसा मानने पर ज्ञाता में ही अज्ञान और अज्ञान का कार्य भ्रम दोनों के रहने से अज्ञान का स्वकार्य भ्रमादि के साथ सामानाधिकरण्य सिद्ध हो जायेगा। यदि अज्ञान शुद्धचैतन्य में मानेंगे तब अज्ञान शुद्धचैतन्य में रहेगा और अज्ञान का कार्य भ्रमादि ज्ञाता में रहेगा। तब अज्ञान और अज्ञान के कार्य में सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। अतः ज्ञाता में ही अज्ञान मानना चाहिए। इसी प्रकार निवर्त्यनिवर्तक में भी सामानाधिकरण्य माना जाता है। अतः अज्ञान का निवर्तक प्रमाज्ञान जब ज्ञाता में है तब ज्ञाता में ही अज्ञान मानना चाहिए। ऐसा होने पर निवर्त्य (अज्ञान) और निवर्तक (प्रमाज्ञान) में सामानाधिकरण्य सिद्ध हो जायेगा। शुद्धचैतन्य में अज्ञान मानने पर और ज्ञाता में प्रमाज्ञान (तत्त्वज्ञान) मानने पर निवर्त्यनिवर्तक में सामानाधिकरण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। द्वैतवादी जिसे ज्ञान का प्रागभाव कहता है सिद्धान्ती उसे भावरूप अज्ञान कहते हैं। ज्ञानप्रागभाव अपने प्रतियोगी=विरोधी=ज्ञान के उत्पन्न होते ही जैसे नष्ट हो जाता है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान अपने विरोधी ज्ञान के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। नाश्यनाशकभाव में सामानाधिकरण्य होता है। अतः ज्ञानप्रागभाव जब ज्ञाता में रहता है तब उसेक समान योगक्षेमवाला अज्ञान को भी ज्ञाता में ही मानना चाहिए। ज्ञाता में ही ज्ञान और अज्ञान दोनों के ही रहने से नाश्य (अज्ञान) और नाशक (ज्ञान) में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। यदि शुद्धचैतन्य में अज्ञान और ज्ञाता में ज्ञान मानेंगे तब दोनों में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।]

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान के आश्रय शुद्धचैतन्य से अभिन्न साक्षिचैतन्य ही ज्ञाता है। ज्ञाता में ही ज्ञान रहता है। इस प्रकार से शुद्धचैतन्य में ही ज्ञातृत्व होने से ज्ञाता के अर्थ के अप्रकाशरूप अज्ञान और (अज्ञान का निवर्तक) तत्त्वज्ञान में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि एक ही शुद्धचैतन्य में अज्ञानाश्रयत्व और तत्त्वज्ञानाश्रयत्व दोनों ही है। इसी प्रकार शुद्धचैतन्यगत अज्ञान का अपने कार्य भ्रान्त्यादि के साथ भी सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि अज्ञान भी शुद्धचैतन्य में है और भ्रान्त्यादि भी शुद्धचैतन्य में है, क्योंकि भ्रान्त्यादि ज्ञाता में रहते हैं और शुद्धचैतन्य ही पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञाता है। वस्तुतः शुद्धचैतन्य से अतिरिक्त समस्त अनात्मपदार्थ शुद्धचैतन्य में कल्पित है। अतः किसी भी अनात्मपदार्थ का किसी भी अनात्मपदार्थ के साथ सामानाधिकरण्य मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शुद्धचैतन्यगत ज्ञातृत्व सिद्ध होने पर शुद्धचैतन्य में अविद्याश्रयत्व सिद्ध होगा (क्योंकि शुद्धचैतन्य में ज्ञातृत्व मानने पर शुद्ध चैतन्य में तत्त्वज्ञान माना जायेगा। क्योंकि ज्ञाता में ही ज्ञान रहता है। ऐसा होने पर एक ही शुद्धचैतन्य में अज्ञान और तत्त्वज्ञान के सामानाधिकरण्य की उपपत्ति होने पर शुद्धचैतन्य में अविद्याश्रयत्व सिद्ध होगा।) और शुद्धचैतन्य में अविद्याश्रयत्व सिद्ध होने पर ज्ञातृत्व सिद्ध होगा। इस प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष होगा।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि हम प्रथम कोटि नहीं मानते हैं अर्थात् शुद्धचैतन्य में

सामानाधिकरण्यमस्तीत्येतावतैव तदपेक्षया अनया भवतिव्यम्। न च—शरीरेऽपि ज्ञातृत्वाध्याससम्भवेन तत्राप्यज्ञानाश्रयत्वापत्तिरिति—वाच्यम्, न हि ज्ञातृत्वाध्यासो अज्ञानाश्रयत्वे प्रयोजकः, येन तन्मात्रेण तदापद्येत, किन्तु प्रसक्तप्रकाशत्वं अज्ञानानाश्रितत्वं च।।६।।

न चैवं अविद्याश्रयस्य ज्ञातृत्वभोक्तृत्वादिमत्त्वे जीवाश्रिताज्ञानपक्षप्रवेश इति वाच्यम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविद्याश्रयत्व ज्ञातृत्व की सिद्धि के विना ही हम मानते हैं, क्योंकि ज्ञातृत्वविशिष्ट शुद्धचित् में अविद्याश्रयत्व नहीं मानते हैं, अपितु शुद्धचित् में मानते हैं। ऐसा कोई नियम नहीं है कि ज्ञातृत्व और अविद्याश्रयत्व में सामानाधिकरण्य होने मात्र से अविद्याश्रयत्व को ज्ञातृत्व की अपेक्षा हो जाती है। यदि जिन दो पदार्थों में सामानाधिकरण्य है उनमें परस्पर अपेक्षा मानी जाती है तब तो रूप और रस में भी सामानाधिकरण्य है। अतः इनमें भी परस्पर अपेक्षा की आपत्ति होगी। [कहने का भाव यह है कि जिन दो पदार्थों में सामानाधिकरण्य है उनमें यदि जन्यजनकभाव है तभी जन्य को जनक की अपेक्षा होती है। जैसे घट और घटप्रागभाव दोनों ही कपाल में रहते हैं। अतः दोनों में सामानाधिकरण्य है और घट तथा घटप्रागभाव में जन्यजनक भाव भी है। अतः घट को घटप्रागभाव की अपेक्षा होती है। प्रकृत में ज्ञातृत्व और अविद्याश्रयत्व में जन्यजनकभाव न रहने के कारण शुद्धचैतन्य में उन दोनों का सामानाधिकरण्य होने पर भी अविद्याश्रयत्व को ज्ञातृत्व की अपेक्षा नहीं होती है।]

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे ज्ञातृत्व का अध्यास शुद्धचैतन्य में होने से सिद्धान्ती ने शुद्धचैतन्य में अज्ञानाश्रयत्व माना है। ठीक उसी प्रकार ज्ञातृत्व का अध्यास शरीर में भी होता है। अतः सिद्धान्ती को शरीर में अज्ञानाश्रयत्व मान लेना चाहिए।

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञातृत्व का अध्यास अज्ञानाश्रयत्व में हेतु नहीं माना जाता है। अर्थात् ''यत्र यत्र ज्ञातृत्वाध्यासः तत्र तत्र अज्ञानाश्रयत्वम्।'' ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जाती है, क्योंकि अज्ञानोपहित ब्रह्म में व्यभिचारदोष है, क्योंकि अज्ञानोपहित ब्रह्म में ज्ञातृत्वाध्यास होने पर भी अज्ञानाश्रयत्व नहीं है, क्योंकि अज्ञानाश्रयत्व शुद्ध ब्रह्म में है। यदि ज्ञातृत्वाध्यास के द्वारा अज्ञानाश्रयत्व की उपपत्ति की जाती तब पूर्वपक्षी पूर्वोक्त प्रकार से शरीर में अज्ञानाश्रयत्व की आपत्ति दे सकता था किन्तु उक्त प्रकार से हम मानते नहीं हैं। अतः शरीर में अज्ञानाश्रयत्व की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। सिद्धान्तमत में अज्ञानाश्रयत्व का प्रयोजक है—''यत्र यत्र प्रशक्तप्रकाशत्वं अज्ञानानाश्रिततत्वं च तत्र तत्र अज्ञानाश्रयत्वम्।'' शुद्धचैतन्य में व्याप्य के होने से व्यापक भी माना गया है। शरीर में व्याप्य के न होने से व्यापक भी नहीं माना गया है। इस व्याप्ति में अज्ञानानाश्रितत्व पद इसलिए दिया गया है कि अनावृतचित् से तादात्म्य अहङ्कार में भी प्रशक्तप्रकाशत्व माना जाता है किन्तु उसमें अज्ञानाश्रयता नहीं मानी जाती है। अतः व्यभिचारदोष होता। अज्ञानानाश्रितत्व (जो अज्ञान में आश्रित नहीं है।) ऐसा कहने पर व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि अहङ्कार अज्ञान का कार्य होने से अज्ञान में ही आश्रित माना जाता है, क्योंकि कार्य कारण के आश्रित होता ही है।।६।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने उक्त प्रकार से सामानाधिकरण्य की उपपत्ति के लिए अविद्याश्रय को ज्ञातृत्वभोक्तृत्वादिमत्त्व मान रहे हैं। ऐसा होने पर ''जीव के आश्रित अज्ञान है।'' इस भामतीकार के मत में विवरणकार के मत का पर्यवसान हो जायेगा, क्योंकि ज्ञाताभोक्ता को ही जीव कहते हैं। [संक्षेपशारीरककार और विवरणकार ने अज्ञान को शुद्धचैतन्य के आश्रित माना है जबकि ब्रह्मसिद्धिकार और भामतीकार ने अज्ञान को जीव के आश्रित माना है। इस प्रकार से

अविद्यावच्छिन्नस्य हि ज्ञातृत्वम्, अविद्या च नाविद्यावच्छेदेन, सामानाधिकरण्यं चावच्छेद्यांशैक्यमादाय। यथोपाधिसम्बन्धो मुखमात्र एव, औपाधिकमालिन्यसम्बन्धस्तु उपाध्यवच्छिन्ने, बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यात्, तथा सामानाधिकरण्यमपि। यथा प्रतिबिम्बो न वस्त्वन्तरं तथा वक्ष्यते।।७।।

ननु— शुक्त्यज्ञानमपि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगतं वाच्यम्, तथा च 'अहं जानामीच्छामि'इतिवत् 'अहं न जानामि'इति ज्ञातृस्थत्वानुभवविरोध इति चेन्न, अज्ञानद्वैविध्यात्। एकं हि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितं

सत्यानन्दप्रबोधिका

विवरणप्रस्थान और भामतीप्रस्थान में अज्ञानाश्रयता के विषय में भिन्नता है।]

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्यावच्छिन्नचैतन्य (जीव) में ही ज्ञातृत्वादि माना गया है जबकि अविद्या अविद्यावच्छिन्नचैतन्य में नहीं मानी गयी है अपितु अविद्यानवच्छिन्नचैतन्य (शुद्धचैतन्य) में मानी गयी है। (भामतीकार के मत में जीवत्वावच्छिन्नचैतन्य में अविद्या मानी गयी है। अत: विवरणकार के मत का भामतीकार के मत में पर्यवसान की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।) अविद्या और अज्ञत्व के आश्रय में भेद मानने पर ''योऽज्ञः स ज्ञाता'' ऐसी जो सर्वजनप्रसिद्ध सामानाधिकरण्य की प्रतीति है वह बाधित हो जायेगी। ऐसी शङ्का का उत्तर देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अविद्यावच्छिन्नचैतन्य का अविद्यानवच्छिन्नचैतन्य से भेद होने पर भी अवच्छेद्य चैतन्य में ऐक्य माना जाता है। अत: अवच्छेद्यभूत शुद्धचैतन्य में ज्ञातृत्व और अज्ञान का सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाने से ''योऽज्ञः स ज्ञाता'' ऐसी सामानाधिकरण्य प्रतीति की उपपत्ति हो जायेगी। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे शुद्धमुख में दर्पणादि उपाधि का सम्बन्ध होने पर शुद्धमुख भी बिम्ब—प्रतिबिम्बरूप से भिन्न—भिन्न हो जाता है। बिम्बप्रतिबिम्ब में मिथ्याभेद की प्रतीति होने पर औपाधिक (मालिन्यादि) धर्मों का सम्बन्ध उपाध्यवच्छिन्न प्रतिबिम्ब के साथ ही होता है न कि बिम्ब मुख के साथ, क्योंकि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपाती मानी जाती है। किन्तु बिम्ब प्रतिबिम्ब में वस्तुत: ऐक्य होने के कारण ''बिम्बीभूतग्रीवास्थमुखं मलिनम्'' ऐसी सामानाधिकरण्य प्रतीति होती है। प्रतिबिम्ब छायादि के जैसे वस्त्वन्तर नहीं माना जाता है अपितु बिम्ब ही माना जाता है। इसका निरूपण इस ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में बिम्बप्रतिबिम्बन्याय से जीव ब्रह्म के ऐक्यसिद्धि प्रकरण में ''तथा जीवब्रह्मणोर्मुखप्रतिमुखवत् बिम्बप्रतिबिम्बरूपत्वादप्यभेदोऽवगन्तब्य:..... इत्यादि रूप से किया जायेगा।।७।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती शुक्ति में आरोपित प्रातिभासिक रजत के उपादानभूत शुक्त्यज्ञान को शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगत मानते हैं। ऐसा मानने पर दो दोष होंगे। प्रथम—अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य होता है—यह नियम भङ्ग हो जायेगा। द्वितीय—''अहं जानामि'', ''अहं इच्छामि'' इन स्थलों पर जैसे ज्ञान और इच्छा का भान जीवगतत्वेन होता है, ठीक वैसे ही ''अहं शुक्तिं न जानामि'' इस स्थल पर भी शुक्ति के अज्ञान का भान भी जीवगतत्वेन ही होता है न कि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगतत्वेन। अत: शुक्ति का अज्ञान शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यगतत्वेन मानने पर ''अहं शुक्तिं न जानामि'' इस अनुभव से विरोध होगा।

समाधान— [उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कोई भी अज्ञान अहमर्थावच्छिन्नचैतन्य (जीव) के आश्रित नहीं होता है—ऐसा सिद्धान्त मत में नहीं माना जाता है अपितु तूलाज्ञान दो प्रकार का स्वीकार किया जाता है। उसमें से एक असत्त्वापादक तूलाज्ञान प्रमातृचैतन्यनिष्ठ होता है और दूसरा अभानापादक तूलाज्ञान विषयावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ होात है। अवच्छिन्नचैतन्य के आश्रित तूलाज्ञान होता है और अनवच्छिन्नचैतन्य के आश्रित मूलाज्ञान होता है। अत: तूलाज्ञान के जीवगत और

तद्गतापरोक्षभ्रमजनकं तद्विषयापरोक्षप्रमानाश्यम्, अपरं च परोक्षभ्रमजनकं तद्विषयप्रमामात्रनाश्यं प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्याश्रितमित्युक्तं प्राक्। तत्र प्रमातृत्वप्रयोजकोपाध्यवच्छिन्नचैतन्य–गताज्ञानविषयकोऽयमनुभवः। तेन प्रमातृनिष्ठत्वविषयतास्य न विरुध्यते। अत एव विषयगताऽज्ञाने विद्यमानेऽपि प्रमातृगताज्ञाननाशेन न जानामीति व्यवहाराभावः॥८॥

ननु– उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वान्न ब्रह्मणः संसारित्वमित्युक्तं, तदयुक्तम्, बिम्बप्रतिबिम्ब–भावस्यैवासम्भवात्। तथा हि–अचाक्षुषस्य चैतन्यस्य गन्धरसादिवत् प्रतिबिम्बतानर्हत्वात्, प्रतिबिम्बत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

विषयगत होने पर भी मूलाज्ञान शुद्धचैतन्य के आश्रित माना ही जा सकता है। अतः अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य होता है–यह नियम भङ्ग नहीं होता है।] तूलाज्ञान को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि तूलाज्ञान दो प्रकार का माना जाता है। (१) शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य के आश्रित एक तूलाज्ञान (अभानापादकतूलाज्ञान) होता है और वही तूलाज्ञान शुक्तिगत रजतादि के अपरोक्षभ्रम का जनक होता है तथा शुक्तिविषयक अपरोक्ष प्रमा से उस अभानापादक तूलाज्ञान का नाश हो जाता है। (२) दूसरा असत्त्वापादकतूलाज्ञान परोक्षभ्रम का जनक होता है और शुक्तिविषयक परोक्ष–अपरोक्ष साधारणप्रमामात्र से उसका नाश हो जाता है और वह असत्त्वापादक तूलाज्ञान प्रमातृत्व का प्रयोजक अन्तःकरण रूप उपाधि से अवच्छिन्न चैतन्य (जीव) में आश्रित होता है– यह प्रतिकर्मव्यवस्था के निरूपण के अवसर पर कहा जा चुका है। उक्त दोनों तूलाज्ञानों में से प्रमातृचैतन्यगत असत्त्वापादकतूलाज्ञान ही ''अहं शुक्तिं न जानामि'' इस अनुभव का विषय होता है। अतः सिद्धान्तमत में भी ''अहं शुक्तिं न जानामि'' इस अनुभव के द्वारा प्रमातृचैतन्यगत असत्त्वापादकतूलाज्ञान ही माना जाता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा अनुभव विरोध नहीं दिखाया जा सकता है। अत एव=तूलाज्ञान के दो प्रकार होने से ही, विषयगत अभानापादक तूलाज्ञान के विद्यमान होने पर भी प्रमातृचैतन्यगत असत्त्वापादक तूलाज्ञान का परोक्षप्रमा के द्वारा नाश हो जाने से ''अहं न जानामि'' इत्याकारक व्यवहार नहीं होता है।।८।।

शङ्का– इसी प्रकरण के खण्ड संख्या १ में सिद्धान्ती ने कहा था–''प्रतिबिम्बे जीवे संसारः, न बिम्बे ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्।'' उपाधि प्रतिबिम्ब में ही कार्यविशेष को उत्पन्न करती है। इसलिए प्रतिबिम्बरूप में स्थित जीव में ही संसारित्व है बिम्बरूप से स्थित ब्रह्म में संसारित्व नहीं है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या उपाधि के द्वारा चैतन्य में बिम्बभाव और प्रतिबिम्बभाव ही सम्भव नहीं है। इसमें पूर्वपक्षी के द्वारा छः हेतु दिया जा रहा है। (१) प्रथम हेतु यह है कि जैसे अचाक्षुष गन्धादि गुणों का प्रतिबिम्ब नहीं होता है ठीक उसी प्रकार अचाक्षुष चैतन्य का भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है। (२) द्वितीय हेतु यह है कि प्रतिबिम्बमात्र सादि होता है। जीव को प्रतिबिम्बरूप मानने पर जीव को सादि मानना पड़ेगा जबकि जीव अनादि माना जाता है। (३) तृतीय हेतु यह है कि सूर्य के समान सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) वाले नदी जलरूप उपाधि में ही सूर्य का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। सूर्य के असमान सत्ता (प्रातिभासिक सत्ता) वाले रविकिरणकल्पित जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि बिम्ब के समान सत्ता वाली उपाधि में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, विषमसत्ता वाली उपाधि में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। प्रकृत में चैतन्य की पारमार्थिक सत्ता है और अविद्या की व्यावहारिक सत्ता है। अतः चैतन्य के समान सत्ता वाली अविद्या के न होने के कारण चैतन्य के प्रतिबिम्ब के लिए अविद्या उपाधि नहीं हो सकती है। (४) चतुर्थ हेतु यह है कि नदीजल दर्पणादि

जीवस्य सादित्वापाताच्च, सूर्यस्य सरिज्जल इव मरीचिकाजलेष्वप्रतिफलनेन चिदसमानसत्ताक–स्याज्ञानस्य चितं प्रत्युपाधित्वायोगाद्, अस्वच्छस्याज्ञानस्य प्रतिबिम्बनोपाधित्वायोगाच्च, अविद्यायाश्चिन्मात्राभिमुख्यासम्भवाच्च, अज्ञानस्याकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापाताच्चेति चेत्।।९।।

न, रूपवत एव प्रतिबिम्ब इत्यस्या व्याप्ते: रूपादौ व्यभिचाराद् यथा भङ्गः, एवमाकाशादौ व्यभिचाराच्चाक्षुषस्यैव प्रतिबिम्ब इत्यस्या अपि व्याप्तेर्भङ्गः। वस्तुतस्तु श्रुतिबलाच्चित: प्रतिबिम्बे सिद्धे तत्रैव व्यभिचारान्नेयं व्याप्ति:, तथा च रसादिव्यावृत्तं फलैकोन्नेयं प्रतिबिम्बप्रयोजकम्। नापि जीवस्य सादित्वापत्ति:, उपाधिबिम्बसम्बन्धानादित्वेनानादित्वोपपत्ते:। विस्तरस्तु सिद्धान्तविन्दौ। यत्तूक्तं

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वच्छ द्रव्यों में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, अस्वच्छ कोयलादि द्रव्यों में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। ठीक इसी प्रकार अस्वच्छ अविद्या में भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। (५) पञ्चम हेतु यह है कि मुखादि के सम्मुखस्थ दर्पणादि में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है जबकि अविद्या में चैतन्यमात्र का आभिमुख्य ही सम्भव नहीं है, क्योंकि ''पादस्य सर्वाणिभूतानि त्रिपादमृतं दिवि'' इस श्रुति के अनुसार चैतन्य के एकभागमात्र में अविद्या रहती है। अत: अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। (६) षष्ठ हेतु यह है कि जब तक नदी जल हिम वाष्पादि रूप से परिणत नहीं होता है तब तक उसमें तीरस्थ वृक्षों का प्रतिबिम्ब पड़ता है किन्तु जब नदी जल हिमादि रूप से परिणत हो जाता है तब उसमें तीरस्थ वृक्षों का प्रतिबिम्ब पड़ता नहीं है और पूर्व प्रतिबिम्ब का नाश भी हो जाता है। ठीक इसी प्रकार से अज्ञान जब आकाशादि रूप से परिणत हो गया। तब आकाशादि रूप से परिणत अज्ञान में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ नहीं सकता है और आकाशादि रूप में परिणत होने से पूर्व जो अज्ञान में चैतन्य का प्रतिबिम्ब था, उसका अज्ञान के आकाशादि रूप से परिणत होने पर नाश भी हो जायेगा।।९।।

सिद्धान्ती– चैतन्य का प्रतिबिम्ब अविद्या रूप उपाधि में नहीं पड़ सकता है। इसमें पूर्वपक्षी के द्वारा जो छ: हेतु दिये गये हैं। उनका क्रमश: खण्डन किया जा रहा है। (१) प्रथम हेतु का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस–जिस बिम्बभूत पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है उस उस बिम्बभूतपदार्थ में रूप रहना चाहिए। ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि रूप संयोगविभागपरिमाणादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है किन्तु रूपादि में रूप नहीं माना जाता है। इसी प्रकार जिस–जिस बिम्बभूतपदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उस उस बिम्बभूत पदार्थ को चाक्षुषज्ञान का विषय होना चाहिए–ऐसा नियम भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अचाक्षुष आकाशादि पदार्थों का जल में प्रतिबिम्ब देखा जाता है। वस्तुत: ''जीवेशौ आभासेन करोति'' (नृसिंह उ.ता.खण्ड ९) ''रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' (ऋक् सं. ४–१–३३) इत्यादि श्रुति प्रमाणों के बल से चित् का प्रतिबिम्ब जो सिद्ध है। उसमें ही उक्त द्विविध व्याप्ति व्यभिचरित होने के कारण भङ्ग हो जाती है। इसलिए गन्धरसादि से व्यावृत्त फलमात्र से उन्नेय ही प्रतिबिम्ब का प्रयोजक है। अर्थात् जहां प्रतिबिम्बरूपफल (कार्य) देखा जाता है, वहां उसके प्रयोजक की कल्पना की जाती है। गन्धरसादि में प्रतिबिम्बरूप फल (कार्य) नहीं देखा जाता है। अत: गन्धरसादि में प्रतिबिम्ब के प्रयोजक की भी कल्पना नहीं की जाती है। अर्थात् सिद्धान्ती के अनुसार व्याप्ति का आकार है–यत्र यत्र प्रतिबिम्बोपाधिता योग्यत्वं तत्र तत्र प्रतिबिम्बतत्त्वम्। (२) पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि जीव को प्रतिबम्ब रूप मानने पर जीव में सादित्व की आपत्ति होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उपाधिभूत अविद्या और

मरीचिकाजले सूर्यप्रतिबिम्बादर्शनाद् बिम्बसमानसत्ताकत्वं प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वे प्रयोजकमिति। तन्न, अध्यस्तस्य स्फटिकलौहित्यस्य दर्पणे प्रतिबिम्बदर्शनात्। तस्मान्मरीचिकाजलव्यावृत्तं स्वच्छत्वं फलैकोन्नेयं अननुगतमेव प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वे प्रयोजकम्, तच्च प्रकृतेऽप्यस्ति। अत एवाज्ञानस्यास्वच्छत्वान्न प्रतिबिम्बोपाधित्वमिति निरस्तम्। यच्चोक्तं चिन्मात्राभिमुख्याभावादिति, तत्किं सर्वात्मना चिदाभिमुख्याभावाद्वा? आभिमुख्यमात्राभावाद्वा? नाद्यः, चैतन्यवद्विभुत्वपक्षे सर्वात्मनापि सम्भवात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

बिम्बरूप चैतन्य का सम्बन्ध अनादि होने से प्रतिबिम्ब रूप जीव में अनादित्व सम्भव है। इस विषय का अनुभूति, श्रुति और युक्ति के द्वारा विस्तृत प्रतिपादन सिद्धान्तबिन्दु में किया गया है। (३) पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि सूर्यकिरणकल्पितजल में सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता है। अतः बिम्बसमानसत्ताकत्व ही प्रतिबिम्ब के ग्राहकत्व में प्रयोजक है। अर्थात् बिम्बसमानसत्ताक उपाधि में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है—ऐसा मानना चाहिये। पूर्वपक्षी का यह कथन भी अनुचित है, क्योंकि प्रातिभासिक स्फटिकगत लौहित्य का प्रतिबिम्ब व्यावहारिक दर्पण में देखा जाता है। इसलिए रविकिरणकल्पितजल से व्यावृत प्रतिबिम्बरूप फल (कार्य) को देखकर फलबल कल्पनीय अननुगत स्वच्छत्व ही प्रतिबिम्ब के ग्राहकत्व में प्रयोजक है। [यहां स्वच्छत्व का अर्थ है—प्रतिबिम्बोपाधिता योग्यत्व। यह मरूमरीचिका जल में नहीं है। किसमें स्वच्छता (प्रतिबिम्बोपाधिता योग्यत्व) है? यह फल (कार्य) को देखकर उन्नेय है। जैसे —नदीजलं स्वच्छम् (प्रतिबिम्बोपाधिता योग्यम्), प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वात्, दर्पणादिवत्। प्रतिबिम्ब का उद्ग्राही दर्पण, जल, कृपाण, अन्तःकरण अविद्यादि उपाधियां हैं। उन सबमें एक ही प्रकार की स्वच्छता नहीं रहती है। इसलिए स्वच्छता का विशेषण अननुगत कहा गया है।] ऐसी प्रतिबिम्ब की प्रयोजक स्वच्छत्वादि सामग्री प्रकृत अविद्या में भी है। अतः अविद्यारूप उपाधि में चैतन्य का प्रतिबिम्ब माना ही जा सकता है। (४) पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि अज्ञान स्वच्छ नहीं है। अतः अज्ञान में प्रतिबिम्बोपाधित्व नहीं माना जा सकता है—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है,क्योंकि अज्ञान में अननुगत प्रतिबिम्बयोग्यतारूप स्वच्छत्व है, क्योंकि ''जीवेशौ आभासेन करोति'' (नृसिंह उ.ता.९—३) इस श्रुति के द्वारा अज्ञान में चैतन्य का प्रतिबिम्ब कहा गया है। जिस उपाधि में प्रतिबिम्ब नहीं होता है उसमें स्वच्छता नहीं होती है और जिस उपाधि में प्रतिबिम्ब होता है, उसमें स्वच्छता भी माननी ही पड़ती है। श्रुति जब अज्ञान में चैतन्य के प्रतिबिम्ब को कह रही है तब अज्ञान में स्वच्छता भी माननी ही पड़ेगी। (५) पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि चैतन्यमात्र में अज्ञान का आभिमुख्य का अभाव होने से अज्ञान में चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। इस पर आचार्यप्रवर पूर्वपक्षी से पूछ रहे हैं कि चैतन्यमात्र में अज्ञान का आभिमुख्य का अभाव है। इससे पूर्वपक्षी क्या यह कहना चाह रहा है कि चित् जितने देश तक व्याप्त है, उतने पूरे देश तक चित् के सामने अज्ञान नहीं है। अपितु कुछ ही देश के सामने अज्ञान है। अतः अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। अथवा चित् के किसी भी देश के सामने अज्ञान नहीं है। अतः अज्ञान में चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि चैतन्य के समान ही अज्ञान विभु है—इस मत के अनुसार अज्ञान में सर्वात्मना चैतन्य का आभिमुख्यत्व सम्भव है। जिस मत में चैतन्य की अपेक्षा अज्ञान का न्यून परिणाम माना गया है। उस मत में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि न्यूनपरिमाण वाले जलादि में भी अधिक परिमाण वाले आकाशादि का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि चैतन्य व्यापक होने से सर्वत्र विद्यमान है और चैतन्य तथा अज्ञान के मध्य कोई व्यवधान नहीं है। अतः अज्ञान में चैतन्य

न्यूनपरिमाणत्वेऽपि न दोषः, न्यूनपरिमाणस्यापि अधिकपरिमाणाकाशादिप्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वदर्शनात्। न द्वितीयः चैतन्यस्य सर्वतोऽपि प्रसृतत्वेन व्यवधानाभावेन च आभिमुख्यस्य सद्भावात्। न चाकाशाद्यात्मना परिणामे प्रतिबिम्बापायापत्तिः, प्रतिबिम्बप्रयोजकरूपाविरोधिपरिणामस्य प्रतिबिम्बाविरोधित्वेन प्रतिबिम्बानपायात्।।१०।।

न च मुखप्रतिमुखानुगतमुखत्वातिरिक्तमुखमात्र(त्व)रूपव्यक्त्यन्तरस्येव जीवब्रह्मानुगतचित्त्वा–तिरिक्तचिन्मात्र(त्व)रूपस्याज्ञानाश्रयत्वयोग्यव्यक्त्यन्तरस्याभावान्मुखमात्रसम्बन्ध्यादर्शवच्चिन्मात्रसम्बन्ध्यज्ञानमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

का आभिमुख्यत्व माना ही जा सकता है। (६) पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि अज्ञान जब आकाशादि रूप से परिणत हो जाता है, तब उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है और पूर्व प्रतिबिम्ब का नाश भी हो जायेगा—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब का प्रयोजक जो रूप है। उस रूप का अविरोधी जो परिणाम है। वह परिणाम प्रतिबिम्ब का विरोधी न होने से प्रतिबिम्ब का नाश नहीं होगा और उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता ही रहेगा। जैसे स्फटिकशिला के दो परिणाम होते हैं। एक चूर्णरूपेण और दूसरा पात्रविशेषरूपेण। उसमें चूर्णरूपेण परिणाम में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। अतः चूर्णरूप परिणाम प्रतिबिम्ब का विरोधी माना जाता है किन्तु स्फटिकशिला का पात्रविशेषादिरूपेण परिणाम होता है। उस पात्रविशेषादि में प्रतिबिम्ब पड़ता ही रहता है। अतः प्रतिबिम्ब का नाश नहीं होता है। अतः पात्रविशेषादि रूप परिणाम को प्रतिबिम्ब का विरोधी नहीं माना जाता है। इसी प्रकार अविद्या का गगनादिरूपेण परिणाम भी चित्प्रतिबिम्ब का विरोधी नहीं होता है। अतः अविद्या का गगनादि रूप से परिणाम होने पर भी उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता ही रहेगा। उसका नाश नहीं होता है।।१०।।

शङ्का— [सिद्धान्ती ने पीछे कहा था कि जैसे दर्पण मुखमात्र का सम्बन्धी होता है ठीक उसी प्रकार अज्ञान भी चैतन्यमात्र का सम्बन्धी होता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जिस दृष्टान्त के बल पर दार्ष्टान्त में चैतन्यमात्र का सम्बन्धी अज्ञान सिद्ध किया है। वह दृष्टान्त ही असिद्ध है। अतः ऐसे दृष्टान्त के आधार पर चैतन्यमात्र का सम्बन्धी अज्ञान है—ऐसा सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि] जैसे बिम्बमुख और प्रतिबिम्बमुख में अनुगत मुखत्व धर्म से अतिरिक्त कोई मुखमात्रत्व धर्म ही प्रसिद्ध नहीं है। अतः मुखमात्रत्व धर्म का आश्रयीभूत मुखमात्र को दर्पण का सम्बन्धी नहीं कहा जा सकता है। (अर्थात् बिम्बमुख और प्रतिबिम्बमुख इन दोनों से अतिरिक्त केवल मुख नामक कोई वस्तु ही नहीं है। अतः केवल मुख का सम्बन्धी दर्पण होता है—यह कथन अनुचित है।) ठीक इसी प्रकार बिम्बरूप ब्रह्म और प्रतिबिम्बरूप जीव में अनुगत चित्त्व धर्म से अतिरिक्त कोई चिन्मात्रत्व धर्म ही प्रसिद्ध नहीं है। अतः चिन्मात्रत्व धर्म का आश्रयीभूत चिन्मात्र को अज्ञान का सम्बन्धी नहीं कहा जा सकता है। (अर्थात् जीव और ब्रह्म से अतिरिक्त चिन्मात्र नामक कोई वस्तु ही नहीं है। अतः अज्ञान को बिम्बसम्बन्धी या प्रतिबिम्बसम्बन्धी ही कहा जा सकता है न कि चिन्मात्रसम्बन्धी)।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि परामृष्टभेद=प्रतिबिम्बत्वोपहितमुखप्रतियोगिकभेद परामृष्ट (ज्ञात) है जिसमें ऐसा जो बिम्बत्वोपहित मुख। उस मुख को परामृष्टभेद शब्द से कहा जाता है। उससे भिन्न को अर्थात् जिस मुख को परामृष्टभेद शब्द से नहीं कहा जाता है। उस मुख को अपरामृष्टभेद शब्द से कहा गया है। ऐसे अपरामृष्टभेदमुखादि को "बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतं मुखमात्रम्" इस वाक्य में कथित मात्रशब्द से कहा गया है। अर्थात् मुखमात्र के घटक मात्र शब्द के

कथमिति वाच्यम्, अपरामृष्टभेदस्य मुखादेर्मात्रार्थत्वेनानुगतधर्म्यतिरेकसम्भवात्। ननु— उपाधिः प्रतिबिम्बपक्षपातीति सामान्यव्याप्तेरज्ञानं स्वाश्रय एव भ्रान्त्यादिहेतुरिति विशेषव्याप्त्या बाध इति—चेन्न, विशेषव्याप्तिग्राहकसहचारदर्शनस्य विवाद विषयातिरिक्तेऽसम्भवेन विशेषव्याप्त्यसम्भवात्। न च बन्धस्य चिन्मात्राश्रितमोक्षसामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, अवच्छेद्यांशमादाय सामानाधिकरण्यस्योक्तत्वात्।।११।।

ननु— उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वं तत्र स्वधर्मप्रतिभासकत्वं वा? स्वकार्यप्रतिभासकत्वं वा?

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वारा परामृष्टभेद वाले मुख की व्यावृत्ति करके मुखशब्द से अपरामृष्टभेद वाले मुख को कहा गया है। ऐसा जो मुखमात्र बिम्बत्वोपहितमुखरूप धर्मी और प्रतिबिम्बत्वोपहितमुखरूपधर्मी में अनुगत उपहित मुख से अतिरिक्त है। यही मुखमात्र दर्पण का सम्बन्धी है। [कहने का भाव यह है कि उपाधि के भेद से जैसे बिम्बत्वोपहितमुख और प्रतिबिम्बत्वोपहित मुख में भेद है, ठीक उसी प्रकार केवल मुख (मुखमात्र) और उपहितमुख में भी भेद होने से बिम्बमुख और प्रतिबिम्बमुख भी केवल मुख से भिन्न है—यह भी स्वीकार करना होगा। वह केवल मुख बिम्बत्वोपहितमुख और प्रतिबिम्बत्वोपहित मुख में भी अवश्य अनुगत होता है, क्योंकि उपहितमुख और केवलमुख में तादात्म्य का अनुभव होता है। अतः दर्पण को मुखमात्र का सम्बन्धी कहना उचित ही है। इसी प्रकार प्रकृत में भी बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न चैतन्यों से अतिरिक्त चैतन्यमात्र सिद्ध है। अतः चैतन्यमात्र का सम्बन्धी अज्ञान माना ही जा सकता है।

शङ्का— [पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अनादिभावो न निवर्तते'' इस सामान्यव्याप्ति का ''अज्ञानं ज्ञाननिवर्त्यम्'' इस विशेष व्याप्ति के द्वारा बाध सिद्धान्ती मानते हैं। ठीक इसी प्रकार] ''उपाधि प्रतिबिम्ब पक्षपाती है।'' इस सामान्यव्याप्ति (यत्र यत्र उपाधित्वं तत्र तत्र प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्) का ''अज्ञान स्वाश्रय में ही भ्रान्त्यादि कार्य का हेतु है। '' इस विशेष व्याप्ति (यत्र यत्र अज्ञानत्वं तत्र तत्र बिम्बपक्षपातित्वम्) के द्वारा बाध हो जायेगा। ऐसा होने पर विशेष व्याप्ति के अनुसार अज्ञान के आश्रयीभूत ब्रह्म में ही संसारित्व प्रसक्त होता है न कि जीव में।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि व्याप्ति का ग्राहक सहचार दर्शन होता है। सहचार दर्शन के निश्चय के लिए निर्विवादित दृष्टान्त स्थल चाहिए। प्रकृत में''अज्ञान स्वाश्रय में ही भ्रान्त्यादि रूप कार्य का जनक है'' इस विशेष व्याप्ति का ग्राहक निर्विवादित दृष्टान्त स्थल उपलब्ध नहीं है। अतः विशेष व्याप्ति का निश्चय ही नहीं हो पायेगा। अनिश्चित विशेष व्याप्ति के द्वारा निश्चित सामान्यव्याप्ति का बाध नहीं हो सकता है। अतः सामान्य व्याप्ति के बल पर जीव में ही संसारित्व प्रसक्त होता है न कि ब्रह्म में।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त सामान्य व्याप्ति के आधार पर संसाररूप बन्ध जीव में मानने पर और बन्धात्यन्ताभावरूप मोक्ष को शुद्धचैतन्य में मानने पर बन्ध और मोक्ष में वैयधिकरण्य की आपत्ति होगी। जबकि जो बद्ध होता है, वही मुक्त होता है—इस अनुभव के आधार पर बन्ध और मोक्ष में सामानाधिकरण्य माना जाता है।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्यावाच्छिन्नचैतन्य (जीव) है, उसमें से अवच्छेद्यभूत चैतन्य का शुद्धचैतन्य से तादात्म्य होता है। अतः बन्ध और मोक्ष में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। इसका प्रतिपादन इसी प्रकरण के खण्ड संख्या ७ में किया जा चुका है।।११।।

शङ्का— इसी प्रकरण के खण्ड संख्या १ में कहा गया था कि ''प्रतिबिम्बे जीवे संसारः न बिम्बे ब्रह्मणि, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्।'' अर्थात् उपाधि के प्रतिबिम्बपक्षपाती होने के कारण ब्रह्म में

स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वं वा? प्रतिबिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वं वा? नाद्यः, सुषुप्त्याद्यनुवृत्त-स्याविद्यारूपस्याविद्यावच्छिन्नत्वरूपस्य वा, तत्प्रतिबिम्बितत्वस्य वा, सुषुप्त्यादावननुवृत्तस्य कर्तृत्वप्रमातृत्वादिरूपस्य वा संसारस्याज्ञाननिष्ठत्वाभावात्। ज्ञानक्रियासंस्कारादीनां त्वन्मते अज्ञाननिष्ठत्वेऽपि नित्यातीन्द्रियाणां तेषामात्मनि कदाप्यप्रतीतेः। 'अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध

सत्यानन्दप्रबोधिका

संसारित्व की आपत्ति नहीं आती है किन्तु जीव में ही संसारित्व की प्रसक्ति होती है। इस पर पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछ रहा है कि उपाधिनिष्ठ जो प्रतिबिम्बपक्षपातित्व कहा गया है, वह उपाधिनिष्ठ प्रतिबिम्बपक्षपातित्व क्या है? (१) वह क्या प्रतिबिम्ब में स्वधर्मप्रतिभासकत्व रूप है? (स्व=उपाधि। उपाधि के धर्म का प्रतिभासकत्व है उपाधि में। अर्थात् उपाधि अपने धर्म को प्रतिबिम्ब में प्रतिभासित करती है बिम्ब में नहीं।) अथवा (२) स्वकार्य प्रतिभासकत्वरूप है? (स्व=उपाधि। उपाधि अपने कार्य को प्रतिबिम्ब में प्रतिभासित करती है, बिम्ब में नहीं।) अथवा (३) स्वकार्यनिष्ठ धर्म प्रतिभासकत्वरूप है? (स्व=उपाधि। उपाधि अपने कार्य में रहने वाले धर्म को प्रतिबिम्ब में प्रतिभासित करती है, बिम्ब में नहीं।) अथवा (४) प्रतिबिम्ब के प्रति स्वविषय का आच्छादकत्वरूप है? (बिम्ब के प्रति नहीं किन्तु प्रतिबिम्ब के प्रति उपाधि अपने विषय का आच्छादन करती है। अर्थात् उपाधि (अज्ञान) प्रतिबिम्ब (जीव) के प्रति अपने विषय ब्रह्म का आच्छादन करती है। जिससे प्रतिबिम्ब (जीव) को "मैं ब्रह्म हूं" ऐसा बोध नहीं हो पाता है।) इन चारों पक्षों का क्रमशः खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रथम (स्वधर्मप्रतिभासिकत्वम्) पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि [इस पक्ष को स्वीकार करने पर यह अर्थ होगा कि जीवगत चित्त्व धर्म से अतिरिक्त जो भी धर्म प्रतिभासित हो रहे हैं। वे सभी अविद्या के धर्म हैं और उन सभी आविद्यक धर्मों की जीव में प्रतिभासिका अविद्या रूप उपाधि है। किन्तु ऐसा मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि] जीव में कुछ ऐसे धर्म प्रतिभासित होते हैं, जिनका अविद्या में अभाव है। जैसे जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में प्रतीयमान जीवगत जो अविद्या है। वह अविद्या अविद्या में नहीं रहती है। इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में प्रतीयमान जब अविद्यावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहा जाता है। तब अविद्यावच्छिन्नत्व धर्म जीव में माना जाता है, किन्तु जीव में रहने वाला अविद्यावच्छिन्नत्वधर्म अविद्या में नहीं माना जाता है, क्योंकि अविद्या निष्ठ अवच्छेदकत्व से अवच्छिन्नताचैतन्य (जीव) में मानी जाती है न कि अविद्या में। इसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में प्रतीयमान जब अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्य को जीव कहा जाता है तब अविद्याप्रतिबिम्बितत्व धर्म को चैतन्य (जीव) में ही माना जाता है न कि अविद्या में, क्योंकि अविद्या अविद्या में प्रतिबिम्बित नहीं मानी जाती है। (इस प्रकार यह दिखाया गया कि जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में अनुगत जीव में जो धर्म प्रतिभासित होते हैं वे धर्म अविद्यानिष्ठ नहीं हैं। अब यह दिखाया जा रहा है कि कुछ धर्म कर्तृत्व, प्रमातृत्व आदि ऐसे हैं जो जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति आदि में अनुगत नहीं माने जाते हैं, क्योंकि उक्त धर्म जाग्रत् स्वप्न में रहने पर भी सुषुप्ति में नहीं रहते हैं। ऐसे जीव निष्ठ जो धर्म हैं, वे धर्म अविद्या में नहीं माने जा सकते हैं। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) सुषुप्त्यादि में अननुवृत्त जो कर्तृप्रमातृत्वादि संसार है। उसमें अज्ञाननिष्ठत्व नहीं है, अपितु जीवनिष्ठत्व ही माना जाता है। (अब तक यह दिखाया गया कि जीवनिष्ठ जो धर्म प्रतिभासित होते हैं, वे धर्म अज्ञाननिष्ठ नहीं हैं। आगे यह दिखाया जा रहा है कि अज्ञाननिष्ठ जो धर्म है। वे धर्म जीवनिष्ठ प्रतिभासित नहीं होते हैं। जैसे) ज्ञानक्रियासंस्काराणाम्-ज्ञानञ्च क्रिया च इति ज्ञानक्रिये तयोः संस्काराः तेषाम्।

उदाहृतः।' इति त्वन्मतेऽपि अविद्या बन्धिका बन्धो वा, न तु बद्धा, येन स्वनिष्ठबन्धरूपधर्मसंक्रामकत्वं स्यात्। न द्वितीयः, विच्छेदादेरुपाधिकार्यस्य बिम्बे महाकाशे च दर्शनात्, मुखस्य बिम्बत्वादेर्ब्रह्मस्थ–सार्वज्ञ्यादेश्चानौपाधिकत्वापाताच्च। नापि तृतीयचतुर्थौ, दर्पणघटादावदृष्टेः। एवं बुद्धिरूपोपाधिरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातीति चेत्।१२।।

न, अतिशयेन कार्यकरत्वमेव तत्पक्षपातित्वम्। तथा च विच्छेदादिरूपकार्यकरत्वसाम्येऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञानजन्य भावनात्मक संस्कार और यज्ञादि क्रिया जन्य धर्माधर्मात्मक संस्कार अविद्या में विद्यमान होने पर भी जीव में अविद्यारूप उपाधि के द्वारा कभी भी प्रतिभासित नहीं होते हैं, क्योंकि संस्कारों को अतीन्द्रिय माना जाता है। '' अविद्या का अस्तमय मोक्ष है और अविद्या बन्धरूप है।'' इस प्रकार मानने वाले सिद्धान्ती के मत में भी अविद्या बन्ध करने वाली होती है या बन्धरूप होती है—ऐसा ही माना गया है न कि बन्धवती। अर्थात् अविद्यारूपबन्धन से जीव बद्ध होता है न कि स्वयं अविद्या। अतः बन्धवान् का धर्म =बन्ध= बद्धत्व जीव में माना जाता है न कि अविद्या में। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि जब अविद्या में बद्धत्व धर्म ही नहीं है तब उस बद्धत्व धर्म को जीव में अविद्या प्रतिभासित नहीं कर सकती है। अतः जीवगत बद्धत्व धर्म जो प्रतिभासित हो रहा है, वह अविद्या का धर्म है, इसलिए जीव में प्रतिभासित हो रहा है—ऐसी बात नहीं है। इसलिए सिद्धान्ती का यह कथन खण्डित हो गया कि अविद्या अपने धर्मों का जीव में प्रतिभासित करती है। इसी प्रकार द्वितीय (स्वकार्यप्रतिभासकत्वम्) पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जलरूप उपाधि का कार्य विच्छेद=विभाग प्रतिबिम्बाकाश और महाकाश में देखा गया है। विभाग उभयनिष्ठ होने के कारण जैसे प्रतिबिम्बाकाश में रहता है ठीक वैसे ही महाकाश में भी रहता है। अतः उपाधि का कार्य केवल प्रतिबिम्ब में ही रहता है। इसलिए उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपाती होती है—यह नियम भङ्ग हो गया। दूसरी बात यह है कि यदि उपाधि को प्रतिबिम्बपक्षपाती मानेंगे तो प्रतिबिम्बगत धर्म ही औपाधिक माना जायेगा। बिम्ब गत धर्म औपाधिक न होकर स्वाभाविक (सत्य) हो जायेंगे। ऐसा होने पर मुखनिष्ठ बिम्बत्व और ब्रह्मनिष्ठ सर्वज्ञत्वादि धर्म औपाधिक न होकर स्वाभाविक (सत्य) हो जायेंगे, जो कि अद्वैतसिद्धान्त के विरुद्ध होगा। तृतीय (स्वकार्यनिष्ठधर्मप्रतिभासकत्वम्) तथा चतुर्थ (प्रतिबिम्बं प्रति स्वविषयाच्छादकत्वम्) पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पणादिरूप उपाधि का कार्य= बिम्ब और प्रतिबिम्ब का विभाग है। अतः उपाधि का कार्य निष्ठ धर्म=विभागत्व। उसका भान प्रतिबिम्ब में दर्पणादि रूप उपाधि के द्वारा होता है—ऐसा नहीं देखा गया है, क्योंकि दर्पणादिरूप उपाधि के द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब में विभाग का ही भान होता है न कि विभागत्व का, क्योंकि विभाग के द्वारा विभागत्व धर्म का भान होता है न कि दर्पणादि उपाधि के द्वारा। इसलिए तृतीय पक्ष असङ्गत है। इसी प्रकार चतुर्थ पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि दर्पणादि उपाधियों का कोई विषय ही प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि दर्पणादि निर्विषयक होते हैं। अतः दर्पणादि रूप उपाधि में प्रतिबिम्ब के प्रति स्वविषयाच्छादाकत्व नहीं माना जा सकता है। अर्थात् प्रतिबिम्ब के प्रति स्वविषयाच्छादकत्व रूप उपाधिगत प्रतिबिम्बपक्षपातित्व भी नहीं माना जा सकता है। एवम्= जैसे अविद्यारूप उपाधिगत प्रतिबिम्बपक्षपातित्व का निराकरण पूर्वोक्त प्रकार से किया गया, ठीक उसी प्रकार से ही, अन्तःकरण रूप उपाधिगत प्रतिबिम्बपक्षपातित्व का भी निराकरण हो जायेगा। अतः बुद्धि (अन्तःकरण) रूप उपाधि को भी प्रतिबिम्बपक्षपाति नहीं माना जा सकता है।।१२।।

समाधान— पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिबिम्ब में ही उपाधि का

स्थौल्याद्यवभासरूपकार्यकरत्वेन दर्पणादेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्ववत् कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंसाररूप–कार्यकरत्वेनाविद्यायामपि प्रतिबिम्बपक्षपातित्वोपपत्तेः। यत्तूक्तं मुखादिगतं बिम्बत्वं ब्रह्मगतं सार्वज्ञ्यादिकं चानौपाधिकं स्यादिति। तन्न; उपाधौ बिम्बकार्यकरत्वमेव नेति न ब्रूमः, किन्तु प्रतिबिम्बे अतिशयनेति। यदपि बुद्धिरूपोपाधेरपि न प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, तस्य प्रतिबिम्बापक्षपातिजपाकुसुमस्थानीयत्वेन तत्पक्षपात्यादर्शस्थानीयत्वाभावादिति। तन्न; स्वनिष्ठस्थौल्यावभासकत्वेनादर्शस्येवास्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतिशयरूप से कार्यकरत्व होने से ही उपाधि का प्रतिबिम्बपक्षपातित्व कहा गया है। (इसको स्पष्ट करते हुए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा है कि जैसे भगवान् शिव सभी के अभिमत पदार्थों के दाता होते हुए भी भक्तों के प्रति अतिशयेन दाता होने के कारण भगवान् शिव को भक्तपक्षपाती कहा जाता है ठीक वैसे उपाधि अपने बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों सम्बन्धियों में कार्य करने वाली होती हुयी भी अतिशयेन प्रतिबिम्ब के प्रति कार्य करने वाली होने के कारण प्रतिबिम्बपक्षपाती कही जाती है।) फलतः जैसे विभागादि रूप कार्यकरत्व का बिम्ब और प्रतिबिम्ब में साम्य होने पर भी स्थूलतादि के अवभासरूप कार्यकरत्व के प्रतिबिम्ब में ही होने से दर्पणादि उपाधियों को जैसे प्रतिबिम्बपक्षपाती कहा जाता है ठीक वैसे ही अविद्या रूप उपाधि अपने बिम्ब (ब्रह्म) और प्रतिबिम्ब (जीव) रूप दोनों सम्बन्धियों में विभागादिरूप कार्य को समान रूप से करती है, किन्तु कर्तृत्वभोक्तृत्वादि संसाररूप विशेष कार्य को जीवरूप प्रतिबिम्ब में ही उत्पन्न करती है। इसलिए अविद्यारूप उपाधि में भी प्रतिबिम्बपक्षपातित्व की उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि उपाधि को प्रतिबिम्बपक्षपाती मानने पर प्रतिबिम्बगत धर्मों को ही औपाधिक माना जायेगा। ऐसा होने पर बिम्बगत बिम्बत्वादि तथा ब्रह्मगत सर्वज्ञत्वादि धर्मों को औपाधिक न मानकर सत्य मानना होगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि उपाधि बिम्ब में कोई भी कार्य नहीं करती है—ऐसा हम नहीं कहते हैं किन्तु उपाधि बिम्ब—प्रतिबिम्ब में सामान्य रूप से विभागादिरूप कार्य को उत्पन्न करती हुयी भी प्रतिबिम्ब में अतिशयेन कार्य को उत्पन्न करती है। अतः उपाधि जब बिम्ब में भी सामान्यरूप से कार्य को उत्पन्न करती है तब बिम्बगत बिम्बत्व और ब्रह्मगत सर्वज्ञत्वादि को औपाधिक ही माना जायेगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि अन्तःकरणरूप उपाधि में प्रतिबिम्बपक्षपातित्व नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्तःकरणरूप उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपाती दर्पण रूप उपाधि स्थानीय नहीं मानी जाती है अपितु जो जपाकुसुमादि उपाधियां प्रतिबिम्बपक्षपाती नहीं मानी जाती है। उन जपाकुसुमादि रूप उपाधि स्थानीय अन्तःकरणरूप उपाधि को माना जाता है। [पूर्वपक्षी के कहने का भाव यह है कि सिद्धान्ती दर्पण रूप उपाधि के जैसे अन्तःकरण को उपाधि नहीं मानते हैं अपितु जपाकुसुमरूप उपाधि के जैसे अन्तःकरण को उपाधि मानते हैं। दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है। अतः दर्पण को प्रतिबिम्बपक्षपाती कहा भी जा सकता है किन्तु जपाकुसुम में स्फटिकलौहित्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है—ऐसा नहीं माना जाता है अपितु जपाकुसुम में स्फटिकलौहित्य का आभास माना जाता है। आभास और प्रतिबिम्ब में भिन्नता है, क्योंकि प्रतिबिम्ब अव्याप्यवृत्ति होता है और आभासव्याप्यवृत्ति होता है। अतः जैसे जपाकुसुम में प्रतिबिम्ब न पड़ने के कारण जपाकुसुम को प्रतिबिम्बपक्षपाती नहीं माना जाता है ठीक वैसे ही जपाकुसुम स्थानीय अन्तःकरण में भी चैतन्य का आभास पड़ सकता है न कि प्रतिबिम्ब। अतः अन्तःकरणरूप उपाधि में प्रतिबिम्ब का अभाव होने से अन्तःकरण रूप उपाधि को भी प्रतिबिम्बपक्षपाती नहीं कहा जा सकता है।] इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे दर्पण स्वनिष्ठ स्थूलतादि धर्मों को प्रतिबिम्ब में अवभासित करता है, इसलिए

स्वनिष्ठधर्मावभासकत्वेन तद्वत् पक्षपातित्वसम्भवात्। तस्मादविद्याकृतविच्छेदेन ब्रह्मण्येव नित्यमुक्तत्वसंसारित्वसर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिव्यवस्थोपपत्तिः।।१३।।

एतेन— असर्वज्ञत्वादिनानुभवसिद्धाज्जीवात् अन्यस्य चेतनस्याभावेन सार्वज्ञ्यादिश्रुतिनिर्विषया स्यात्, एकजीववादे संसार्यसंसारिव्यवस्थाऽयोगाद् 'द्वा सुपर्णा' 'य आत्मनि तिष्ठन्, इत्यादिश्रुतिभिः 'अन्यश्च परमो राजन् तथाऽन्यः पञ्चविंशकः।' 'तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप' इत्यादिस्मृतिभिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

दर्पणरूप उपाधि को प्रतिबिम्बपक्षपाती कहा जाता है। ठीक उसी प्रकार अन्तःकरण रूप उपाधि भी प्रतिबिम्बरूप जीव में स्वनिष्ठ कर्तृत्वादि धर्मों को अवभासित करती है। इसलिए अन्तःकरण रूप उपाधि को भी दर्पणरूप उपाधि के जैसे प्रतिबिम्बपक्षपाती कहा ही जा सकता है। [अन्तःकरण को जपाकुसुम स्थानीय नहीं माना जाता है, क्योंकि जपाकुसुम स्फटिकलौहित्य में स्वगतस्थूलतादि धर्मों का अवभासक नहीं माना जाता है। जबकि अन्तःकरण स्वगतकर्तृत्वादि धर्मों को प्रतिबिम्बरूप जीव में अवभासित करता है। अतः जपाकुसुमगत स्फटिकलौहित्य को प्रतिबिम्ब भी नहीं माना जाता है। अतः बिम्ब—प्रतिबिम्बवाद के निरूपण के अवसर पर अन्तःकरण को जपाकुसुम स्थानीय नहीं कहा जा सकता है।] इसलिए अविद्या रूप उपाधि के सम्बन्ध से एक ही शुद्धचैतन्य बिम्ब—प्रतिबिम्बरूप से दो भागों में विभक्त हो जाता है और बिम्बरूप ईश्वर में नित्यमुक्तत्व और सर्वज्ञत्व तथा प्रतिबिम्बरूप जीव में संसारित्व और अल्पज्ञत्वादि के व्यवस्था की उपपत्ति भी हो जाती है।।१३।।

पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सिद्धान्ती अविद्या के द्वारा ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त कर संसारीभाव को प्राप्त करता है—ऐसा मानते हैं तब तो अविद्या के द्वारा ब्रह्म सर्वात्मना जीवभाव को प्राप्त कर लेने पर जीव से अन्य ईश्वर माना नहीं जा सकता है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म अविद्या के द्वारा सर्वात्मना ईश्वर भाव को प्राप्त कर लेता है—ऐसा ही क्यों न माना जाय? इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि चार्वाकादि सभी दर्शनकारों के द्वारा जीव को मानना ही है और ''मैं असर्वज्ञ हूं'' इस अनुभव के बल पर भी असर्वज्ञ जीव को मानना ही है। अतः ब्रह्म अविद्या के द्वारा सर्वात्मना जीवभाव को ही प्राप्त करता है, ऐसा ही मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर जीव से अन्य ईश्वर की सिद्धि न होने पर ईश्वरगत सर्वज्ञत्वादि प्रतिपादक ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' इत्यादि श्रुतियों का विषय सिद्ध नहीं हो पायेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अविद्या के द्वारा ब्रह्म सर्वात्मना जीवभाव को प्राप्त कर लेता है—इसमें हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि हम एकजीववाद मानते ही हैं। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि एक जीववाद में संसारी और असंसारी की व्यवस्था नहीं बनती है। अपितु ''द्वा सुपर्णा'' (मु.उ.३—१—१), ''य आत्मनि तिष्ठन्'' (बृ.उ. ३—७—२२) इत्यादि श्रुतियों से, ''हे राजन्! परमात्मा अन्य है और पञ्चविंशतितत्त्ववाला जीव अन्य है।'' (म.भा.शान्तिपर्व), ''हे परन्तय! उन सभी व्यतीत जन्मों को मैं जानता हूं और तुम नहीं जानते हो।'' (गीता—४—५) इत्यादि स्मृतियों से, ''यह शारीर (जीवात्मा) भी अन्तर्यामी नहीं है, क्योंकि काण्व और माध्यान्दिन दोनों शाखाओं में अन्तर्यामी से भिन्न जीवात्मा का वर्णन किया गया है। (ब्र.सू. १—२—२०) और ''भेदव्यपदेशाच्च'' (ब्र.सू.१—१—१७) जीव आनन्दमय नहीं है, क्योंकि ''रसो वै सः। रसं ह्येव लब्ध्वानन्दी भवति'', (तै० २—७) इस श्रुति में जीव से भिन्न आनन्दमय कहा गया है। [''भेदव्यपदेशाच्च'' के स्थान पर न्यायामृत में ''भेदव्यपदेशाच्चान्यः'' (ब्र.सू. १—१—२१) ऐसा पाठ है। इसके अनुसार अर्थ यह होगा— अन्यः = नेत्र और आदित्य के भीतर श्रूयमाण अन्तर्यामी पुरुष आदित्यादि शरीराभिमानी जीवों से अन्य है क्योंकि, '' भेदव्यपदेशात्= ''य आदित्ये तिष्ठन्'' (बृ.उ. ३—७—९)

'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते' 'भेदव्यपदेशाच्च' इत्यादिसूत्रैः 'तस्माच्छारीरादन्य एवेश्वरः। आत्मानौ तावेतौ चेतनौ, एकः कर्ता भोक्ता अन्यस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः' इत्यादिभाष्यैः 'तत्त्वज्ञानसंसरणे चावदातत्वश्यामत्वादिवत् नेतरेतरत्रावतिष्ठेते' इत्यादिविवरणग्रन्थैश्च विरोध इति निरस्तम्।।१४।।

ननु चिन्मात्रस्याज्ञानं स्वाभाविकम्? औपाधिकं वा? नाद्यः; आत्मवदनिवृत्तिप्रसङ्गात्। नान्त्यः, स्वस्यैवोपाधित्वे आत्माश्रयाद्, एतदपेक्ष्यान्यापेक्षत्वे अन्योन्याश्रयात्, तदन्यान्यापेक्षत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस श्रुति में जीव नियम्य और परमेश्वर नियामक इस प्रकार से दोनों में भेद का कथन किया गया है।] इत्यादि सूत्रों से, और '' इस कारण से शारीर (जीवात्मा) से अन्य ही ईश्वर है। ये दोनों ही चेतन आत्मा हैं। इनमें से एक कर्ता भोक्ता है और दूसरा पापरहितत्वादि गुणों से युक्त है।'' (ब्र.सू. १—२—२०) इत्यादि भाष्यों से तथा ''जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद होने पर भी अवदातत्व (श्वेतत्व) बिम्ब में ही रहता है और श्यामत्व प्रतिबिम्ब में ही रहता है। इसके विपरीत बिम्ब में श्यामत्व और प्रतिबिम्ब में श्वेतत्व नहीं रहता है। ठीक इसी प्रकार बिम्बभूत ईश्वर में तत्त्वज्ञान (अनावरण) और प्रतिबिम्बभूत जीव में संसार (आवरण) ही रहता है। इसके विपरीत बिम्बभूत ईश्वर में आवरण और प्रतिबिम्बभूत जीव अनावरण नहीं रहता है।'' इत्यादि विवरण ग्रन्थ से एक जीववाद का विरोध है। अतः ईश्वर और नाना आत्मा मानना चाहिए। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का इसलिए खण्डित हो जाती है कि अविद्या के सम्बन्ध में एक ही शुद्धचैतन्य बिम्ब—प्रतिबिम्बरूप से दो भागों में विभक्त हो जाता है और उपाधि प्रतिबिम्बपक्षपाती होने के कारण जीव में आवरणादि और ईश्वर में अनावरणादि की उपपत्ति हो जाती है। अतः श्रुतिस्मृतिसूत्रभाष्यविवरणादि के साथ किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। एकजीववाद में भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इसका प्रतिपादन एकजीववाद के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है।।१४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे जपाकुसुमगत लौहित्य स्वाभाविक होता है, ठीक उसी प्रकार शुद्धचैतन्यनिष्ठ अज्ञान क्या स्वाभाविक है? अथवा जैसे स्फटिकगत लौहित्य औपाधिक होता है, ठीक उसी प्रकार शुद्धचैतन्यनिष्ठ अज्ञान क्या औपाधिक है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर स्वाभाविक आत्मा की जैसे निवृत्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार स्वाभाविक अज्ञान की भी निवृत्ति नहीं हो पायेगी। द्वितीय पक्ष को भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जैसे स्फटिकगत लौहित्य औपाधिक होने से वहां पर जपाकुसुम को उपाधि माना जाता है, ठीक इसी प्रकार शुद्धचैतन्यगत अज्ञान को औपाधिक मानने पर किसी न किसी को उपाधि मानना पड़ेगा। यदि अपनी स्थिति में अपने आप अज्ञान को ही उपाधि होने पर आत्माश्रयदोष होगा और उस प्रथम अज्ञान को अपेक्षित जो द्वितीय अज्ञान है, उस द्वितीय अज्ञान को प्रथम अज्ञान की अपेक्षा होने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा। यदि प्रथम अज्ञान को अपेक्षित जो द्वितीय अज्ञान है। उस द्वितीय अज्ञान को तृतीयादि अज्ञान की अपेक्षा होने पर अनवस्थादि दोष होंगे। [अर्थात् प्रथम अज्ञान द्वितीय अज्ञान से उपहित चैतन्य में रहेगा तब प्रश्न होगा कि प्रथम अज्ञान और द्वितीय अज्ञान अभिन्न है? या भिन्न है? अभिन्न मानने पर आत्माश्रयदोष होगा। भिन्न मानने पर प्रश्न होगा कि द्वितीय अज्ञान भी किसी न किसी अज्ञान से उपहित चैतन्य में रहेगा। यदि प्रथम अज्ञान से उपहित चैतन्य में रहेगा तब अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि प्रथम अज्ञान द्वितीय अज्ञान उपहितचैतन्य में बैठता है और द्वितीय अज्ञान प्रथम अज्ञान उपहित चैतन्य में बैठता है। यदि द्वितीय अज्ञान को तृतीय अज्ञान उपहित चैतन्य में बैठायेंगे तब

चानवस्थानादिति—चेन्न, स्वस्यैवाश्रयत्वोपाधित्वात्। न चात्माश्रयः, भेदस्य स्वभेदकत्ववदुपपत्तेः, स्वाभाविकस्यापि घटरूपस्य तत्प्रागभावस्य च निवृत्तिदर्शनात्।।१५।।

इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानस्यचिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनवस्थादि दोष होगा।]

समाधान —उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान उपहित चैतन्य में ही अज्ञान माना जाता है। ऐसा होने पर आत्माश्रयदोष नहीं होगा, क्योंकि जिस प्रकार भेद स्वभेदक होता है। अर्थात् जैसे भेद घट और पट को भिन्नत्वेन बोधन कराता हुआ अपने (भेद) से भी घट और पट को भिन्नत्वेन बोधन कराता है। अर्थात् पट भेद उपहित घट में भी भेद के रहने से आत्माश्रय दोष नहीं होता है, ठीक उसी प्रकार अज्ञान उपहित चैतन्य में अज्ञान के रहने से आत्माश्रयदोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि शुद्धचैतन्य में अविद्या को स्वाभाविक मानने पर आत्मा के जैसे उसकी निवृत्ति नहीं होगी—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक शब्द का अर्थ यदि आगन्तुक कारणाजन्य अथवा अनादि किया जाता है, तब भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि आगन्तुककारण से अजन्य होने के कारण जैसे घट में घटरूप को स्वाभाविक माना जाता है, फिर भी उसकी निवृत्ति होती है। इसी प्रकार अनादि होने के कारण कपाल में घटप्रागभाव को भी स्वाभाविक माना जाता है फिर भी उसकी निवृत्ति होती है। ठीक इसी प्रकार शुद्धचैतन्य में रहने वाली स्वाभाविक अविद्या की भी तत्त्वसाक्षात्कार से निवृत्ति हो ही सकती है। इसलिए अविद्या को स्वाभाविक मानने पर भी कोई दोष नहीं है। यदि पूर्वपक्षी स्वाभाविक शब्द का त्रिकालाबाध्यत्व करता है, तब इसका समाधान यह है कि सिद्धान्तमत में ब्रह्म को छोड़कर किसी में भी त्रिकालाबाध्यत्व नहीं माना जाता है। अतः शुद्धचैतन्य में अविद्या भी त्रिकालाबाध्यत्वेन नहीं मानी जाती है।।१५।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामज्ञानस्य चिन्मात्राश्रयत्वोपपत्तिः

९—अविद्यायाः सर्वज्ञाश्रयत्वविचारः

ननु शुद्धब्रह्मणः चिन्मात्रस्याज्ञानाश्रयत्वे सार्वज्ञ्यविरोधः। न च विशिष्ट एव सार्वज्ञ्यम्, 'तुरीयं सर्वदृक्सदा' इति शुद्धस्यैव सर्वज्ञत्वोक्तेरिति चेन्न, सर्वदृक्पदेन सर्वेषां दृग्भूतं चैतन्यमित्युच्यते, न तु सर्वज्ञं तुरीयम्, तस्माद्विशिष्ट एव सार्वज्ञ्यम्। तच्चाविद्यां विना न सम्भवतीत्यविद्यासिद्धिः। तथा हि सर्वज्ञो हि प्रमाणतः, स्वरूपज्ञप्त्या वा। तत्र प्रमाणस्य भ्रान्तेश्चाविद्यामूलत्वाद्, असङ्गस्वरूप—

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— चिन्मात्रस्वरूप शुद्ध ब्रह्म में अज्ञान की आश्रयता मानने पर ब्रह्म अज्ञ होगा, क्योंकि जिसमें अज्ञान रहता है, वह अज्ञ होता है। ब्रह्मगत अज्ञता होने पर ब्रह्मगत सर्वज्ञता नहीं सिद्ध हो पायेगी, क्योंकि सर्वज्ञता और अज्ञता परस्पर विरुद्ध धर्म होने के कारण जहां अज्ञता रहेगी, वहां पर सर्वज्ञता नहीं रहेगी। जबकि श्रुतियों में ब्रह्मगत सर्वज्ञता प्रतिपादित है। अतः ब्रह्म में अज्ञान की आश्रयता मानने पर सर्वज्ञता बोधक श्रुतियों से विरोध होगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि सर्वज्ञता विशिष्टचैतन्य में रहती है, शुद्ध चैतन्य में नहीं। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि शुद्ध चैतन्य ही सर्वज्ञ है—इसको अद्वैत सिद्धान्त के श्रीगौडपादाचार्य ने कहा है—

नाऽऽत्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा।।(मा.का.१—१२)

पूर्वपक्षी के अनुसार ''तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा'' का अर्थ है तुर्यम्=प्रपञ्चशून्य शुद्ध ब्रह्म, सदा=सभी कालों में, सर्वदृक्=सर्वज्ञ है। इसप्रकार से शुद्ध चैतन्य में ही सर्वज्ञता का प्रतिपादन किया गया है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त कारिका के घटक सर्वदृक् शब्द के द्वारा सर्वज्ञ नहीं कहा गया है अपितु सर्व का प्रकाशक शुद्धचैतन्य ही कहा गया है। (सर्वेषां दृग्भूतं चैतन्यम्। सर्वेषां दृक्=सर्व का प्रकाशक, भूतम्=अभिन्न, चैतन्यम्=शुद्धचैतन्य।) इसलिए माया विशिष्ट चैतन्य में ही सर्वज्ञता है। शुद्ध चैतन्य जो विशिष्ट चैतन्य बनता है और उस विशिष्ट चैतन्य में जो सर्वज्ञता रहती है, उस विशिष्ट चैतन्य और विशिष्ट चैतन्यनिष्ठ सर्वज्ञता के स्वरूप की निष्पत्ति अविद्या के विना हो नहीं सकती है। इसलिए अविद्या की सिद्धि होती है। [कहने का भाव यह है कि अविद्या के विना शुद्धचैतन्य असङ्ग होने के कारण विषयों से सम्बन्धित हो नहीं सकता है। जो विषयों से सम्बन्धित ही नहीं है, उसमें सर्वज्ञता भी नहीं रह सकती है। जब अविद्या को स्वीकार किया जाता है तब अविद्या विशिष्ट चैतन्य विषय से सम्बन्धित होता है। तब उसमें सर्वज्ञता आती है। इस प्रकार से अविद्या को स्वीकार करने पर ही अविद्याविशिष्ट चैतन्य और तद्गत सर्वज्ञता की निष्पत्ति होती है।] विशिष्टचैतन्यनिष्ठ सर्वज्ञता की निष्पत्ति दो प्रकार से होती है। (१) प्रमाण से =माया वृत्तिज्ञान से अर्थात् अविद्यावृत्ति के द्वारा ईश्वर में सर्वज्ञता आती है। अर्थात् सर्वदृश्याकारवृत्ति के रहने से सर्वज्ञता आती है। (२) स्वरूपभूत ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञता आती है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रपञ्च का प्रकाशक ज्ञान जो कि चैतन्यस्वरूप है। उसके रहने से सर्वज्ञता आती है। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अविद्या को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि भाविवस्तु विषयक मायावृत्ति ज्ञान और वर्तमान वस्तुविषयक मायावृत्ति ज्ञान तथा अतीत वस्तु विषयक मायावृत्ति ज्ञान अविद्या (माया) मूलक है, क्योंकि उक्त तीनों प्रकार की अविद्यावृत्ति अविद्या से रहित शुद्धचित् को तो हो नहीं सकती है, अपितु अज्ञान के आश्रयीभूत चैतन्य (विशिष्ट चैतन्य) को ही हो सकती है। इसलिए मूल में उक्त तीनों वृत्तियों को अविद्या मूलक कहा गया है। इस प्रकार से प्रथम पक्ष में अविद्या को

ज्ञप्तेश्चाविद्यां विना विषयासङ्गतेः। तदुक्तम्—

स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम्।
तच्चोभयं विनाऽविद्यासम्बन्धं नैव सिध्यति।।'इति।९।।

न च— स्वरूपज्ञप्तेः स्वतः कालाद्यसम्बन्धेऽसत्त्वापातेन स्वतःसम्बन्धाभावेऽसर्वगतत्वापातेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वीकार करना पड़ता है। [मूलस्थ प्रमाण शब्द का अर्थ है—ईश्वर को होने वाली भाविवस्तुविषयक मायावृत्तिज्ञान और भ्रान्ति शब्द का अर्थ है—ईश्वर को होने वाली वर्तमानवस्तुविषयकमायावृत्तिज्ञान तथा अतीतवस्तुविषयकमायावृत्तिज्ञान] द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर भी अविद्या को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि सर्वज्ञता=सर्व विषय के साथ सम्बन्ध। किन्तु स्वरूपभूत ज्ञान स्वाभाविक रूप से असङ्ग है। अतः उसके साथ विषय का सम्बन्ध हो नहीं सकता है। अपितु अविद्या के माध्यम से ही सम्बन्ध होगा। इस प्रकार से अज्ञानविशिष्टचैतन्य में ही सर्वज्ञता की सिद्धि हुई। अतः इस पक्ष में भी अविद्या को स्वीकार करना ही पड़ता है। इसको स्पष्ट करते हुए श्रीचित्सुखाचार्य ने अविद्याश्रयनिरूपण में उत्तर पक्ष को प्रतिपादन करते हुए कहा है—

स्वरूपतः प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्वं द्विधा स्थितम्।
तच्चोभयं विनाऽविद्यासम्बन्धं नैव सिध्यति।।

अर्थात् सर्वज्ञता दो प्रकार की होती है—एक स्वरूप से और दूसरा अविद्यावृत्तिरूप प्रमाण से। उक्त दोनों प्रकार की सर्वज्ञता शुद्धचैतन्य में अविद्या के सम्बन्ध के विना निष्पन्न नहीं हो सकती है।।९।।

शङ्का— [पीछे सिद्धान्ती ने कहा था कि स्वरूपभूतचैतन्य असङ्ग है। अतः उसका स्वतः विषयों से सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इसलिए स्वरूपभूतचैतन्य का विषयों के साथ सम्बन्ध के लिए अविद्या मानी जाती है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि] स्वरूपभूत चैतन्य (शुद्धचैतन्य) का अविद्या के विना स्वतः कालादि के साथ सम्बन्ध न मानने पर स्वरूपभूतचैतन्य में असत्त्व की आपत्ति होगी। (क्योंकि सत्त्व का लक्षण है—''कालसम्बन्धित्वम्''। अर्थात् जो काल से सम्बन्धी होता है, उसको सत् माना जाता है और जो काल से सम्बन्धी नहीं होता है, उसे असत् माना जाता है। अतः स्वरूपभूत चैतन्य का काल के साथ स्वतः सम्बन्ध न होने से स्वरूपभूतचैतन्य को असत् मानने की आपत्ति होगी।) इसी प्रकार स्वरूपभूतचैतन्य का अविद्या के विना स्वतः सर्वदेश के साथ सम्बन्ध न मानने पर स्वरूपभूतचैतन्य में अविभुत्व या असर्वगतत्व की आपत्ति होगी। इसलिए सिद्धान्ती जैसे स्वरूपभूत चैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध के लिए अविद्या को स्वीकार करते हैं, किन्तु स्वरूपभूतचैतन्य का अविद्या के साथ सम्बन्ध के लिए अनवस्था के भय से किसी अन्य को स्वीकार नहीं करते हैं, अपितु स्वरूपभूतचैतन्य का अविद्या के साथ स्वतः ही सम्बन्ध मानते हैं, ठीक उसी प्रकार स्वरूपभूतचैतन्य का स्वतः ही देशकालादि विषयों के साथ सम्बन्ध हो जायेगा। अतः स्वरूपभूतचैतन्य का विषयों के साथ सम्बन्ध के लिए अविद्या मानना व्यर्थ है। [जब स्वरूपभूतचैतन्य का स्वतः ही विषयों के साथ सम्बन्ध होगा तब स्वरूपभूतचैतन्य में ही सर्वज्ञता रहेगी न कि मायाविशिष्ट चैतन्य में। जब स्वरूपभूतचैतन्य में सर्वज्ञता रहेगी तब स्वरूपभूतचैतन्य में अविद्या नहीं रह सकती है, क्योंकि अविद्या जहां रहती है, वहां अज्ञता रहती हैं न कि सर्वज्ञता, क्योंकि सर्वज्ञता और अज्ञता परस्पर विरोधी धर्म हैं। इस पर शङ्का होती है कि शुद्धचैतन्य का विषयों के साथ स्वतः सम्बन्ध मानने पर शुद्धचैतन्य को असङ्ग कहने वाली श्रुतियों से विरोध होगा। इसका समाधान करते

चाविद्ययेव स्वत एवान्येन सम्बन्धो वक्तव्य इति—वाच्यम्, अविद्यासम्बन्धस्याप्याविद्यकत्वेनाविद्ययेवेति दृष्टान्तानुपपत्तेः। स्वतः परतो वा कालादिसम्बन्धेन चासद्वैलक्षण्यसर्वगतत्वयोरुपपत्तेर्न तयोरर्थे स्वतः कालसम्बन्धसर्वसम्बन्धापेक्षा। असङ्गत्वश्रुतिरपि स्वतः सङ्गाभावविषयत्वेनोपपद्यते। अत एव—

सत्यानन्दप्रबोधिका

हुए पूर्वपक्षी कहता है कि शुद्धचैतन्य जो श्रुतियों में असङ्ग कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि शुद्धचैतन्य का विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर भी शुद्धचैतन्य लिपायमान नहीं होता है। जैसे जीव का विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर जीव लिपायमान हो जाता है। अतः असङ्ग का अर्थ लेपाभाव है। इसलिए शुद्धचैतन्य को असङ्ग कहने वाली श्रुतियों से विरोध नहीं होगा।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त भूत अविद्या का शुद्धचैतन्य के साथ सम्बन्ध भी आविद्यक ही माना जाता है और वह आविद्यक सम्बन्ध अविद्या के द्वारा ही होता है। अतः अविद्या को दृष्टान्त बनाना असङ्गत है। [इस पर पूर्वपक्षी ने कहा था कि शुद्धचैतन्य और अविद्या के मध्य में सम्बन्ध मानने पर अनवस्थादि होगी। इसका समाधान यह है कि शुद्धचैतन्य और अविद्या का सम्बन्ध अनादि माना जाता है। अतः अनवस्थादि दोष नहीं होगा।] इस प्रकार से शुद्धचैतन्य और अविद्या के मध्य में काल्पनिक सम्बन्ध स्वीकार करने पर सिद्धान्तमत में कोई हानि नहीं है, किन्तु पूर्वपक्षी को इससे कोई लाभ नहीं है, क्योंकि शुद्धचैतन्य और अविद्या के मध्य में रहने वाले काल्पनिक सम्बन्ध को दृष्टान्त बनाकर पूर्वपक्षी शुद्धचैतन्य और विषय के मध्य में अकाल्पनिक सम्बन्ध की सिद्धि नहीं कर सकता है,क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। [पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि कालसम्बन्ध के विना चैतन्य में असत्त्वापत्ति और देशसम्बन्ध के विना चैतन्य में अविभुत्वापत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे काल और कालसम्बन्ध में स्वतः काल सम्बन्ध न होने पर भी काल और काल सम्बन्ध में सत्त्व माना जाता है, ठीक उसी प्रकार चैतन्य में स्वतः काल सम्बन्ध न होने पर भी सत्त्व माना ही जा सकता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि काल और काल सम्बन्ध में स्वतः काल सम्बन्ध न होने पर भी परतः काल सम्बन्ध होने से अर्थात् विषय में जो काल सम्बन्ध है, उसका निरूपक काल और कालसम्बन्ध होने से काल और काल सम्बन्ध में परतः काल सम्बन्ध माना जाता है। अर्थात् स्वतः या परतः किसी भी प्रकार से जो काल का सम्बन्धी होगा, उसमें सत्त्व माना जायेगा। ऐसा होने पर काल और काल सम्बन्ध में परतः काल सम्बन्धित्व रहने से सत्त्व की उपपत्ति हो जायेगी। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि सिद्धान्तमत में भी चैतन्य के साथ स्वतः कालसम्बन्ध न होने पर भी परतः अर्थात् अविद्या के द्वारा चैतन्य के साथ काल का सम्बन्ध माना ही जाता है। अतः चैतन्यगत सत्त्व की भी उपपत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार स्वतः या परतः जो देश का सम्बन्धी होगा, उसमें विभुत्व माना जायेगा। ऐसा होने पर चैतन्य के साथ देश का सम्बन्ध स्वतः न होने पर भी परतः अर्थात् अविद्या के द्वारा होने से चैतन्यगत विभुत्व की भी उपपत्ति हो जायेगी। अतः चैतन्यगत असद् वैलक्षण्य (सत्त्व) और सर्वगतत्व

'अज्ञताऽखिलसंवेत्तुर्घटते न कुतश्चन'इति निरस्तम्। तस्माच्चिन्मात्राश्रितैवाविद्या।।२।।
इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानवादे सर्वज्ञस्याविद्याश्रयत्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

(विभुत्व) की उपपत्ति के लिए चैतन्य में स्वतः कालसम्बन्ध और स्वतःदेशसम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती है। चैतन्य में परतः कालसम्बन्ध मानने पर भी चैतन्यगत असङ्गत्व अव्याहत रहता है, क्योंकि असङ्गता बोधक श्रुति का तात्पर्य स्वतः सम्बन्धाभाव के बोधन में ही होता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि असङ्गत्व का अर्थ है निर्लेपत्व। वह उचित नहीं है, क्योंकि असङ्गत्व का निर्लेपत्व अर्थ करने पर असङ्ग शब्द का स्वारसिकार्थ ही परित्यक्त हो जाता है। अत एव= पूर्वोक्त प्रकार से अज्ञान का आश्रय शुद्धचैतन्य को मानने पर किसी प्रकार का दोष न होने से और अविद्या के विना सर्वज्ञता असम्भव होने से ही, न्यायामृतकार ने आनन्दतीर्थ के वचन के माध्यम से यह जो कहा है कि अखिलार्थ के संवेदिता (सर्वज्ञ) में अज्ञता (अज्ञानाश्रयता) किसी भी प्रकार से संघटित नहीं हो सकती है। यह कथन भी खण्डित हो गया। अत एव निरस्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। इसप्रकार से शुद्धचैतन्य के ही आश्रित अविद्या है—यह सिद्ध हो गया।।२।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामज्ञानवादे सर्वज्ञस्याविद्याश्रयत्वोपपत्तिः

१०— अज्ञानस्य वाचस्पत्युक्तजीवाश्रितत्त्वविचारः

वाचस्पतिमिश्रैस्तु जीवाश्रितैवाऽविद्या निगद्यते।।१।।

ननु जीवाश्रिताऽविद्यातत्प्रतिम्बितचैतन्यं वा, तदवच्छिन्नचैतन्यं वा, तत्कल्पितभेदं वा जीवः, तथा चान्योन्याश्रय इति—चेन्न, किमयमन्योन्याश्रय उत्पत्तौ? ज्ञप्तौ? स्थितौ वा? नाद्यः, अनादित्वादुभयोः, न द्वितीयः, अज्ञानस्य चिद्भास्यत्वेऽपि चितेः स्वप्रकाशत्वेन तदभास्यत्वात्। न तृतीयः, स किं

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव के आश्रित अविद्या है—ऐसा आचार्यश्रीवाचस्पतिमिश्र कहते हैं। [श्रीविवरणकार (आचार्यश्रीप्रकाशात्मयति) ने ''ब्रह्म के आश्रित अविद्या है''—ऐसा कहा है किन्तु श्रीब्रह्मसिद्धिकार (आचार्यश्रीमण्डनमिश्र) ने ब्रह्मसिद्धि में जीव के आश्रित अविद्या है,'' ऐसा कहा है। भामतीकार ब्रह्मसिद्धिकार के सिद्धान्त के अनुयायी हैं। इसलिए आचार्यश्रीवाचस्पतिमिश्र ने ''तत्तु समन्वयात्'' (ब्र.सू. १—१—४) सूत्र की व्याख्या करते हुए भामती टीका में कहा है—''नाविद्या ब्रह्माश्रया, किन्तु जीवे, सा त्वनिर्वचनीयेत्युक्तं, तेन नित्यशुद्धमेव ब्रह्म।'' इसकी व्याख्या करते हुए वेदान्तकल्पतरुकार ने कहा—''ब्रह्मणि नाविद्या, किन्तु जीवे, सा चानिर्वाच्येत्युक्तमध्यासभाष्ये'' इसको स्पष्ट करते हुए कल्पतरुपरिमलकार ने कहा है—''अन्तःकरणाद्यवच्छिन्नप्रत्यगात्मा इदमनिदं रूपश्चेतनः कर्ता भोक्ता कार्यकारणाविद्याद्वयाधार इत्यध्यासभाष्यटीकायामुक्तमित्यर्थः।'' यद्यपि ''जीव के आश्रित अविद्या है'' इस मत का खण्डन करते श्री प्रकटार्थकार ने कहा— ''वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी सूत्रभाष्यार्थानभिज्ञः।'' और श्रीचित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका के चतुर्थ परिच्छेद में अविद्याश्रय के निरूपण के अवसर पर सिद्धान्त मत के प्रतिपादन के समय भामतीकार के मत का खण्डन करते हुए कहा— ''जीवाश्रयाविद्यापक्षोद्भावितास्तु दोषास्तदनङ्गीकारादेव परास्ताः।'' तथापि अद्वैतसिद्धिकार ने जैसे अन्य मत—मतान्तरो का समर्थन किया है। ठीक उसी प्रकार भामतीकार के मत (जीव के आश्रित अविद्या है—इस मत) का भी समर्थन ही किया है]।।१।।

शङ्का— भामतीकार के मतानुसार जीव आश्रित अविद्या है और सिद्धान्ती के मतानुसार जीव अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप या अविद्यावच्छिन्नचैतन्यरूप या अविद्या के द्वारा ईश्वर प्रतियोगिककल्पितभेदविशिष्टचैतन्यरूप ही माना जायेगा। ऐसा होने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि अविद्या को स्वाश्रय के लिए जीव की अपेक्षा है और जीव को अपने स्वरूप की सिद्धि के लिए अविद्या की अपेक्षा है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अन्योन्याश्रय क्या उत्पत्ति में है? अर्थात् अविद्या की उत्पत्ति जीव से होती है और जीव की उत्पत्ति अविद्या से होती है। इसलिए उत्पत्ति में अन्योन्याश्रयदोष है। अथवा उक्त अन्योन्याश्रय क्या ज्ञप्ति में है? अर्थात् जीव का ज्ञान अविद्या के ज्ञान के अधीन है और अविद्या का ज्ञान जीव के ज्ञान के अधीन है। इसलिए ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयदोष है। अथवा उक्त अन्योन्याश्रय क्या स्थिति में है? अर्थात् अविद्या की स्थिति जीव के अधीन है और जीव की स्थिति अविद्या के अधीन है। इसलिए स्थिति में अन्योन्याश्रयदोष है। प्रथम पक्ष को उचित नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जीव और अविद्या दोनों ही अनादि माने जाते हैं। अतः अनादि होने के कारण जब उनकी उत्पत्ति ही नहीं मानी जाती है, तब उनकी उत्पत्ति में अन्योन्याश्रयदोष नहीं दिया जा सकता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अज्ञान चिद्भास्य होने पर भी चित् स्वयम्प्रकाश होने के कारण अविद्या के द्वारा भास्य नहीं है। तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है,क्योंकि तृतीय कल्प में यह प्रश्न होता है कि स्थिति में उक्त अन्योन्यश्रय परस्पर आश्रित होने से है? अर्थात्

परस्पराश्रितत्वेन वा, परस्परसापेक्षस्थितिकत्वेन वा स्यात्, तन्न, उभयस्याप्यसिद्धेः, अज्ञानस्य चिदाश्रयत्वे चिदधीनस्थितिकत्वेऽपि चिति अविद्याश्रितत्वतदधीनस्थितिकत्वयोरभावात्।।२।।

न चैवमन्योऽन्याधीनताक्षतिः, समानकालीनयोरप्यवच्छेद्यावच्छेदकभावमात्रेण तदुपपत्तेः, घटतदवच्छिन्नाकाशयोरिव प्रमाणप्रमेययोरिव च तदुक्तम्—
'स्वेनैव कल्पिते देशे व्योम्नि यद्वद् घटादिकम्, तथा जीवाश्रयाविद्यां मन्यन्ते ज्ञानकोविदाः' इति।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव अज्ञान के आश्रित है और अज्ञान जीव के आश्रित है। इसलिए अन्योन्याश्रयदोष है। अथवा स्थिति में उक्त अन्योन्याश्रयदोष परस्परसापेक्षस्थितिकत्वेन है? अर्थात् जीव को अपनी स्थिति में अज्ञान की अपेक्षा होती है और अज्ञान को अपनी स्थिति में जीव की अपेक्षा होती है। इसलिए स्थिति में अन्योन्याश्रय है। दोनों ही पक्ष नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि उक्त दोनों ही प्रकारों की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि अज्ञान का चिदाश्रयत्व (जीवाश्रितत्व) और चिदधीनस्थितिकत्व (जीवनियमितस्थितिकत्व अर्थात् जीवान्यावृत्तित्व) होने पर भी चित् (जीव) में अविद्याश्रितत्व और अविद्याधीनस्थितिकत्व का अभाव है। अविद्याधीनस्थितिकत्व का अर्थ है— अविद्याऽन्यावृत्तित्व। अर्थात् जीव का शुद्धचिद्वृत्तित्व होने पर भी अविद्यावृत्तित्व नहीं है— यह भाव है।।२।।

शङ्का— जीव और अविद्या में किसी भी प्रकार से अन्योन्याश्रयता न मानने पर अद्वैतसिद्धान्त में जीव और अविद्या में जो अन्योन्याधीनता मानी गयी है। उसकी क्षति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जीव और अविद्या में अन्योन्याधीनता होने पर भी अन्योन्याश्रय नहीं है। अर्थात् अन्योन्याश्रय के विना भी अन्योन्याधीनता सम्भव है, क्योंकि जीव और अविद्या में अन्योन्याधीनता दो प्रकार से हो सकती है। प्रथम जीवनाश का व्यापक अविद्या नाश को मानने पर। द्वितीय— अविद्या जीव की उपाधि होने से। अद्वैतसिद्धिकार ने ''समानकालीनयोः'' इसके द्वारा प्रथम पक्ष सूचित किया है। अर्थात् प्रथम पक्ष मानने पर जीव और अविद्या में परस्पराधीनता है क्योंकि ''यदा अविद्या तदा जीवः'' और ''यदाजीवनाशः तदा अविद्यानाशः'' ऐसी अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति मानी जाती है। ऐसी व्याप्ति मानने पर अविद्या और जीव में परस्पराधीनता माननी पड़ती है किन्तु अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं दिया जाता है। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि परस्पराधीनता होने पर भी अन्योन्याश्रय दोष नहीं होता है। द्वितीय पक्ष को अद्वैतसिद्धिकार ने ''अवच्छेद्यावच्छेदकभाव'' शब्द के द्वारा सूचित किया है। अर्थात् अविद्या रूप उपाधि के द्वारा उपहित जीव में अविद्याश्रयत्व माना जाता है। ऐसा मानने पर अविद्या और जीव में अन्योन्यापेक्षता माननी पड़ती है किन्तु अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं माना जाता है। इस प्रकार से द्वितीय पक्ष के द्वारा भी यह सिद्ध हो गया कि जीव और अविद्या में अवच्छेद्यावच्छेदक भाव के द्वारा परस्पराधीनता होने पर भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं होता है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि समानकालीन जीव और अविद्या में अन्योन्याधीनता अवच्छेद्य—अवच्छेदकभावमात्र के द्वारा उत्पन्न हो जाती है। जैसे समानकालीन घट और घटावच्छिन्न आकाश में परस्पराधीनता की उत्पत्ति हो जाती है। अर्थात् घटावच्छिन्न जो आकाश है। वह घट के द्वारा कल्पित है और उस घट के द्वारा कल्पित घटावच्छिन्न आकाश में घट रहता है। इस प्रकार परस्पराधीनता की उपपत्ति हो जाती है किन्तु यहां पर अन्योन्याश्रयदोष नहीं माना जाता है। इसी प्रकार प्रमा और प्रमेय में परस्पराधीनता की उपपत्ति हो जाती है। अर्थात् प्रमा और प्रमेय एक दूसरे के अधीन होते हैं,क्योंकि घट की प्रमा, पट की प्रमा इत्यादि स्थलों पर घटादि विषयों से ही निरूपित प्रमा होती है। अतः प्रमा प्रमेय के अधीन मानी जाती है । इसी प्रकार प्रमेय का अर्थ होता है— प्रमा का विषय। इस प्रकार प्रमेय प्रमा के अधीन

एतेन यद्युत्पत्तिज्ञप्तिमात्रप्रतिबन्धकत्वेनान्योऽन्यापेक्षताया अदोषत्वम्, तदा चैत्रमैत्रादेरन्योन्यारोहणाद्यापत्तिरिति निरस्तम्, परस्परमाश्रयाश्रयिभावस्यानङ्गीकारात्।।३।।

न चेश्वरजीवयोरीश्वरजीवकल्पित्वे आत्माश्रयः, जीवेशकल्पित्वे चान्योन्याश्रयः, न च शुद्धाचित् कल्पिका, तस्या अज्ञानाभावादिति—वाच्यम्, जीवाश्रिताया अविद्याया एव जीवेशकल्पकत्वेनैतद्विकल्पानवकाशात्। तस्माज्जीवाश्रयत्वेऽप्यदोषः।।४।।

इत्यद्वैतसिद्धावज्ञानस्य जीवाश्रयत्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

माना जाता है। इस प्रकार प्रमा और प्रमेय में परस्पराधीनता होने पर भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं माना जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी जीव और अविद्या में अन्योन्याधीनता होने पर भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं माना जाता है। इसके विषय में कहा गया है—(आकाश वास्तविक दृष्टि से निरवच्छिन्न है। किन्तु) घटावच्छिन्न जो आकाश है, वह घट के द्वारा ही कल्पित है। उस घट के द्वारा कल्पित घटावच्छिन्न आकाश में जैसे घट रहता है, वैसे ही अविद्या के द्वारा कल्पित अविद्यावच्छिन्नचैतन्य (जीव) में अविद्या रहती है—ऐसा उत्कृष्ट ज्ञानी लोग मानते हैं। यदि कहा जाय कि जीवाश्रित अविद्या पक्ष में अन्योन्याश्रयदोष नहीं हो सकता है, क्योंकि उत्पत्ति और ज्ञप्ति मात्र का ही प्रतिबन्धक होने से अन्योन्याश्रयता को दोष माना जाता है। स्थिति में अन्योन्याश्रयता होने पर भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं माना जाता है। प्रकृत में जीव और अविद्या में उत्पत्ति और ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयता नहीं है, क्योंकि जीव और अविद्या अनादि है। इसलिए उत्पत्ति में अन्योन्याश्रयदोष नहीं है और चैतन्य स्वयंप्रकाश होने से वह अविद्या के द्वारा प्रकाशित नहीं होता है। अतः ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयदोष नहीं है। स्थिति में अन्योन्याधीन होने पर भी अन्योन्याश्रयदोष माना नहीं जाता है। अतः जीव और अविद्या की स्थिति में अन्योन्याधीनता होने पर भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्थिति—इन तीनों में ही अन्योन्याधीनता होने पर अन्योन्याश्रयदोष माना जाता है। यदि स्थिति में अन्योन्याधीनता होने पर भी अन्योन्याश्रयदोष नहीं मानेंगे तब तो चैत्र पर मैत्र का और मैत्र पर चैत्र का युगपद् आरोहणादि की आपत्ति होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि सिद्धान्तमत में जीव और अविद्या में परस्पर आश्रयाश्रयिभाव नहीं माना जाता है। अर्थात् जीव के आश्रित अविद्या के होने पर भी अविद्या के आश्रित जीव नहीं माना जाता है,क्योंकि चैतन्य किसी के आश्रित नहीं माना जाता है।।३।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि ईश्वर के द्वारा ईश्वरकल्पित मानने पर और जीव के द्वारा जीव कल्पित मानने पर आत्माश्रयदोष होगा, क्योंकि अपनी सिद्धि में अपनी ही अपेक्षा हो रही है। यदि ईश्वर के द्वारा जीव कल्पित है और जीव के द्वारा ईश्वर कल्पित है—ऐसा माना जाय तब तो अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि जीव की सिद्धि में ईश्वर की अपेक्षा और ईश्वर की सिद्धि में जीव की अपेक्षा हो रही है। जीव के आश्रित अज्ञान है। इस पक्ष में शुद्धचैतन्य ईश्वर और जीव का कल्पक हो नहीं सकता है, क्योंकि शुद्धचैतन्य के आश्रित अज्ञान नहीं माना जाता हैं अतः अज्ञान के अधीन रहने वाली कल्पना का भी अभाव हो जायेगा। कल्पना के न रहने पर शुद्धचैतन्य को कल्पक भी नहीं माना जा सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जीव के आश्रित अविद्या है—इस मत में जीवाश्रित अविद्या ही जीव और ईश्वर की कल्पक मानी जाती है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित विकल्पों को कोई अवकाश प्राप्त नहीं होता है। अतः आचार्य भामतीकार के मतानुसार अविद्या के जीवाश्रितत्व पक्ष में भी कोई दोष नहीं है।।४।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामज्ञानस्य जीवाश्रयत्वोपपत्तिः

११– अविद्याविषयविचारः

अविद्याया विषयोऽपि सुवचः। तथा हि– चिन्मात्रमेवाविद्याविषयः, तस्याकल्पित–त्वेनान्योऽन्याश्रयादिदोषाप्रसक्तेः, स्वप्रकाशत्वेन प्रसक्तप्रकाशे तस्मिन् आवरणकृत्यसम्भवाच्च, नान्यत्, तस्याज्ञानकल्पितत्वाद्, अप्रसक्तप्रकाशत्वेनावरणकृत्याभावाच्च।१ ।।

ननु– किमावरणकृत्यं (१) सिद्धप्रकाशलोपो वा? (२) असिद्धप्रकाशानुत्पत्तिर्वा? (३) सतः प्रकाशस्य विषयासम्बन्धो वा (४) प्राकट्याख्यकार्यप्रतिबन्धो वा? (५) नास्ति न प्रकाशत इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

[पीछे के कुछ प्रकरणों में अविद्या का आश्रय क्या है? इसका निरूपण किया गया। अब अविद्या किसको आवृत्त करती है? अर्थात् अविद्या का विषय क्या है? इसका निरूपण प्रारम्भ हो रहा है, क्योंकि निराश्रया निर्विषया अविद्या सर्वथा ही मानी नहीं जा सकती है। न्यायामृतकार ने कहा कि अविद्या के विषय का निरूपण दुर्वच है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर ने कहा कि] अविद्या के विषय का निरूपण सुवच है। ''विषयोऽपि'' के घटक ''अपि'' पद से यह कहा गया कि अविद्या के आश्रय का निरूपण जैसे सुवच है ठीक उसी प्रकार से अविद्या के विषय का निरूपण सुवच है। [श्रीविवरणकार के मत में अविद्या ब्रह्म में रहती है। इसलिए उनके मत में ब्रह्म को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध (मैं ब्रह्म हूं ऐसा बोध) नहीं रहता है और श्रीभामतीकार के मत में अविद्या जीव में रहती है। इसलिए उनके मत में जीव को अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म का बोध नहीं रहता है, अर्थात् '' मैं ब्रह्म हूं'' यह बोध जीव को नहीं रहता है। इस प्रकार से आश्रय को लेकर के श्रीविवरणकार और श्रीभामतीकार में मतभेद रहने पर भी अविद्या के विषय को लेकर मतभेद नहीं है। अर्थात् दोनों के ही मतों में अविद्या का विषय शुद्ध ब्रह्म ही माना गया है। इसको ''तथाहि'' से स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] जैसे कि शुद्धचैतन्य ही अविद्या का विषय है। शुद्ध चैतन्य अकल्पित होने के कारण अन्योन्याश्रयादिदोष की प्रसक्ति नहीं होगी। [यदि अज्ञान का विषय कल्पित मानेंगे तब अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि यह नियम है कि अज्ञान का जो विषय होता है, वह अज्ञान से आवृत्त होता है। अर्थात् उसका बोध नहीं रहता है किन्तु जब उसका बोध होता है तब अज्ञान का नाश हो जाता है। यदि अज्ञान का विषय कल्पित मानते हैं तब कल्पित के बोध से अज्ञान का नाश मानना होगा। जो कल्पित है, वह अज्ञान के द्वारा ही कल्पित है। अतः अज्ञान के नाश से कल्पित का भी नाश हो जायेगा। अर्थात् कल्पित के ज्ञान से अज्ञान का नाश और अज्ञान के नाश से कल्पित का नाश होगा। ऐसा होने पर स्पष्ट अन्योन्याश्रयदोष होगा।] शुद्धचैतन्य स्वप्रकाश होने के कारण, प्रसक्त है प्रकाश जिसमें एवम्भूत शुद्धचैतन्य में अज्ञान निमित्तक आवरण का कार्य भी उपपन्न हो जायेगा। शुद्धचैतन्य से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ अविद्या का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि अज्ञान के द्वारा प्रयुक्त किसी कल्पित पदार्थ को अज्ञान का विषय मानने पर पूर्वोक्त प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष होगा। दूसरी बात यह भी है कि शुद्धचैतन्य से भिन्न जड़ पदार्थ अप्रकाशात्मक हैं। अतः उसमें अज्ञान का आवरण रूप कार्य भी सम्भव नहीं हो सकता है।।१ ।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि अज्ञाननिमित्तक आवरण का कार्य क्या है? (१) क्या वह सिद्ध प्रकाश का लोप है? अथवा (२) असिद्धप्रकाश की अनुत्पत्ति है? अथवा (३) विद्यमान प्रकाश का विषय के साथ असम्बन्ध है? अथवा (४) प्राकट्याख्य कार्य का प्रतिबन्ध है? अथवा (५) ''नास्ति'', ''न प्रकाशते'' ऐसा व्यवहार है? अथवा (६) ''अस्ति'', ''प्रकाशते'' इस प्रकार के

व्यवहारो वा? (६) अस्ति प्रकाशत इति व्यवहाराभावो वा ? (७) नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्वं वा? (८) अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्वं वा ? नाद्यद्वितीयौ, स्वरूपप्रकाशस्य नित्यसिद्धत्वेन तल्लोपानुत्पत्त्योरसम्भवात्, तदन्यस्य च स्वप्रकाशे तस्मिन्ननपेक्षित्वात्। न तृतीयः, ज्ञानस्य विषयसम्बन्धैकस्वभावत्वात्, स्वयं ज्ञानरूपत्वेन त्वन्मते सम्बन्धानपेक्षणाच्च। नापि चतुर्थः, त्वन्मते चैतन्यातिरिक्तस्य तस्याभावात्। नापि पञ्चमः, सुषुप्तौ व्यवहाराभावेनानावरणापातात्। नापि षष्ठः, व्यवहारस्याभिज्ञात्वे स्वरूपाभिज्ञाया इदानीमपि सत्त्वाद्, वृत्तेश्च मोक्षेऽप्यसत्त्वात्। अभिलपनरूपत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यवहार का अभाव है? अथवा (७) ''नास्ति'', ''न प्रकाशते'' इस प्रकार के व्यवहार की योग्यता है? अथवा (८) ''अस्ति'', ''प्रकाशते'' इस प्रकार के व्यवहार की अयोग्यता है? इनमें से प्रथम पक्ष और द्वितीय पक्ष इसलिए नहीं हो सकता है, क्योंकि चिन्मात्र का स्वरूप प्रकाश नित्य सिद्ध होने के कारण उसका लोप और उसके उत्पत्ति का अभाव सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि जैसे पटादि पदार्थ को अपने प्रकाश के लिए अपने से भिन्न प्रदीपादि के प्रकाश की अपेक्षा होती है? वैसे ही चित् के प्रकाश के लिए यदि चित् के स्वरूपप्रकाश से भिन्न प्रकाश की अपेक्षा होती, तब तो प्रकाशान्तर के अभावकाल में चित् के प्रकाश का लोप अथवा अनुत्पत्ति सम्भव होती, किन्तु चित् के प्रकाश के लिए प्रकाशान्तर की अपेक्षा नहीं होती है। इसलिए चित् के प्रकाश का लोप अथवा अनुत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। (तदन्यस्य=स्वरूपप्रकाश से अतिरिक्त प्रकाश) तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव ही होता है कि वह विषय से सम्बन्धित रहता है। अतः ज्ञान का विषय के साथ असम्बन्ध नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्ती के द्वारा अङ्गीकृत शुद्धचैतन्य ज्ञान स्वरूप और असङ्ग है। असङ्ग होने के कारण शुद्धचैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध ही नहीं रहता है। अतः जब ज्ञानस्वरूप शुद्धचैतन्य में विषयसम्बन्धाभाव स्वाभाविक है तब उसमें अज्ञान के आवरण का कार्य नहीं माना जा सकता है। चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि भाट्ट के मत में ज्ञान जन्य ज्ञातता (प्राकट्य) नाम का धर्म विषयगत माना जाता है, किन्तु सिद्धान्ती के मत में अभिव्यक्त चैतन्य से अतिरिक्त विषयगत ज्ञातता नाम का कोई धर्म नहीं माना जाता है। पञ्चम पक्ष भी उचित नहीं है,क्योंकि सुषुप्ति में ''नास्ति'' ''न प्रकाशते'' इस प्रकार के व्यवहाररूप कार्य का अभाव होने से आवरण का अभाव मानना पड़ेगा। जो कि उचित नहीं है,क्योंकि '' न किञ्चिदवेदिषम्'' इस प्रकार के अनुभूति की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। षष्ठ पक्ष भी असङ्गत है, क्योंकि व्यवहार तीन प्रकार का होता है—अभिज्ञा, वृत्ति और अभिलपन। यदि ''अस्ति'', ''प्रकाशते'' इस व्यवहार को आत्मस्वरूप अभिज्ञारूपज्ञान मानेंगे तब तो आत्मस्वरूपभूत ज्ञान आवरणकाल में विद्यमान है। अतः अज्ञाननिमित्तक आवरण का कार्य उक्त अभिज्ञारूप व्यवहार का अभाव सिद्ध नहीं हो पायेगा। यदि ''अस्ति'', ''प्रकाशते'' इस व्यवहार को वृत्तिज्ञानात्मक मानेंगे तब तो मोक्ष दशा में भी ऐसे व्यवहार का अभाव रहता है। अतः मोक्ष दशा में भी अज्ञाननिमित्तक आवरण का कार्य विद्यमान रहता है—ऐसा मानना पड़ेगा। यदि ''अस्ति'', ''प्रकाशते'' इस व्यवहार को अभिलपन (शब्द प्रयोगात्मक) मानेंगे तब तो मोक्ष दशा में भी ऐसे व्यवहार का अभाव रहता है। अतः मोक्ष दशा में भी अज्ञाननिमित्तक आवरण का कार्य (अभिलपनरूप व्यवहाराभाव) मानने की आपत्ति होगी। सप्तम और अष्टम पक्ष भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ''नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्व'' और ''अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्व'' धर्म परमार्थतः निर्धर्मक ब्रह्म में रह नहीं सकते हैं। अतः उक्त योग्यत्व और अयोग्यत्व को आरोपित ही मानना होगा। आरोप अज्ञाननिमित्तक आवरण के विना

मोक्षेऽप्यावरणप्रसङ्गात्। नापि सप्तमाष्टमौ, तयोरप्यारोपितत्वेनावरणं विनायोगादिति—चेत्।।२।।

न, ''नास्ति'' ''न प्रकाशते'' इति व्यवहार एवाभिज्ञादिसाधारणः, ''अस्ति'' ''प्रकाशते'' इत्येतद्व्यवहाराभावो वा आवरणकृत्यम्, आवरणं च तद्योग्यता अज्ञानसम्बन्धरूपा सुषुप्त्यादिसाधारणी आब्रह्मज्ञानमवतिष्ठते। तेन सुषुप्तिकाले नानावरणम्, मोक्षकाले च नावरणम्। यदुक्तमस्याप्यारोपित्वेना—वरणसापेक्षत्वमिति, तन्न, अज्ञानसम्बन्धरूपस्यावरणस्यानादित्वेन चित्प्रकाश्यत्वेन च उत्पत्तौ ज्ञप्तौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो नहीं सकता है। अतः उक्त योग्यत्वादि रूप आवरणकृत्य के आरोप में अज्ञाननिमित्तक आवरण की अपेक्षा करने से आत्माश्रयादि दोष होंगे।।२।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पञ्चम और षष्ठ पक्ष को स्वीकार करने पर कोई भी दोष नहीं है,क्योंकि ''नास्ति'', ''न प्रकाशते'', इत्याकारक अभिज्ञा वृत्ति और अभिलपनरूप जो व्यवहार है। वही चैतन्यगत अविद्या सम्बन्धरूप आवरणकृत्य है। अथवा ''अस्ति'' ''प्रकाशते'' इत्याकारक जो अभिज्ञा वृत्ति और अभिलपनरूप जो व्यवहार है, वहीं चैतन्यगत अविद्यासम्बन्धरूप आवरणकृत्य है। अथवा ''अस्ति'' ''प्रकाशते'' इत्याकारक जो अभिज्ञा वृत्ति और अभिलपन रूप जो व्यवहार है। ऐसे व्यवहार के अभाव को चैतन्यगत अविद्या सम्बन्धरूप आवरणकृत्य माना जाता है। चैतन्य में अविद्या सम्बन्ध को आवरण कहते हैं। वह उक्त व्यवहारव्यवहाराभावयोग्यतारूप है। अर्थात् ''नास्ति'' ''न प्रकाशते'' ऐसे व्यवहार की योग्यता रूप और ''अस्ति'' ''प्रकाशते'' ऐसे व्यवहाराभाव की योग्यतारूप है। अर्थात् अविद्यासम्बन्ध=आवरण और आवरण=उक्त योग्यतारूप है। ऐसी योग्यता सुषुप्त्यादि साधारणी है और ब्रह्मज्ञान के अव्यवहित पूर्वकाल तक रहती है। अतः सुषुप्तिकाल में अविद्या सम्बन्ध के विद्यमान होने से आवरणाभाव नहीं माना जा सकता है और मोक्षकाल में अविद्या के सम्बन्ध का अभाव होने से मोक्ष काल में आवरण नहीं माना जा सकता है। [इस पर प्रश्न होता है कि यदि सुषुप्ति में आवरण विद्यमान है तब सुषुप्ति में आवरणकृत्य जो ''नास्ति'' ''न प्रकाशते'' इस प्रकार वृत्तिज्ञान रूप व्यवहार क्यों नहीं होता है? इसका समाधान यह है कि सुषुप्ति में ''नास्ति'' इत्यादि वृत्ति का अभाव विशिष्ट धी का कारण अहङ्कार के अभाव के कारण होता है कि न कि आवरण के अभाव के कारण होता है। इसी प्रकार मोक्ष में ''अस्ति'' इत्यादि वृत्ति का अभाव आत्मागत आवरण होने के कारण नहीं होता है किन्तु अहङ्कार के अभाव के कारण होता है। इसलिए ही जीवन्मुक्त को बाधित अहङ्कार की अनुवृत्ति होने से ''अस्ति'' इत्यादि वृत्ति होती है।] पीछे पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि उक्त योग्यत्व और अयोग्यत्व धर्म परमार्थतः निर्धर्मक ब्रह्म में नहीं रह सकता है। अतः उक्त योग्यत्वादि धर्म को आरोपित ही मानना होगा। आरोप अज्ञानावरण के विना हो नहीं सकता है। इसलिए उक्तयोग्यत्वादिरूप आवरणकृत्य के आरोप में आवरण की अपेक्षा होने से आत्माश्रयादि दोष होंगे। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अज्ञानसम्बन्धरूप आवरण अनादि होने से और चित्प्रकाश्य होने से उत्पत्ति, ज्ञप्ति और स्थिति में अपनी (आवरण की) अपेक्षा नहीं करता है। अतः आत्माश्रयादि दोष नहीं होगा। अर्थात् चैतन्य और अज्ञान का सम्बन्ध अनादि होने से उसकी उत्पत्ति नहीं होती है। अतः उत्पत्ति में आत्माश्रयादिदोष नहीं होगा। चित् और अज्ञान का सम्बन्ध चित् से प्रकाश्य होने पर भी चित् चिदज्ञानसम्बन्ध से प्रकाश्य नहीं है,क्योंकि चित् स्वयम्प्रकाश है। अतः ज्ञप्ति में भी आत्माश्रयादि दोष नहीं होगा। इसी प्रकार स्थिति में भी अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं होगा। क्योंकि चिदज्ञानसम्बन्ध चित् के आश्रित होने पर चित् चिदज्ञानसम्बन्ध के आश्रित नहीं होता है,क्योंकि वह तो स्वयं अपनी

स्थितौ वा स्वानपेक्षणात्।।३।।

ननु— अद्वितीयत्वादिविशिष्टे तथा व्यवहारेऽपि अवस्थात्रयेऽप्यसन्दिग्धाविपर्यस्तत्वेन प्रकाशमानात्मरूपे अध्यासाधिष्ठाने सुखादिज्ञानरूपे चिन्मात्रे तदभावेन तत्कल्प्ययोर्योग्य—त्वायोग्यत्वयोरभाव इति—चेन्न, शुद्धरूपायाश्चितः प्रकाशमानत्वेऽपि तस्या एव परिपूर्णाद्याकारेणा—प्रकाशमानत्वात्, तदर्थं तस्या एवावरणकल्पनात्, परिपूर्णाद्याकारस्य मोक्षदशानुवृत्तत्वेन शुद्धचिन्मात्रत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

महिमा में प्रतिष्ठित है।।३।।

शङ्का— [पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वितीयत्वादि धर्मों से युक्त विशिष्ट चैतन्य के आश्रित अज्ञान मानना चाहिए न कि शुद्धचैतन्य के। इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि] अद्वितीयत्वादि धर्मों से युक्त माया विशिष्टचैतन्य में, तथा व्यवहारेऽपि=''अद्वितीयं चैतन्यं नास्ति'', ''न प्रकाशते'' इत्यादि रूप व्यवहार के होने पर भी। [कहने का भाव यह है कि सन्दिग्ध या विपर्यस्त विषय स्थल पर ही अज्ञानावरण की कल्पना युक्तियुक्त मानी जाती है। अद्वितीयत्वादि धर्मों से युक्त माया विशिष्ट चैतन्य संसारदशा में भासित नहीं होता है, क्योंकि ''अद्वितीयं चैतन्यं नास्ति'', ''न प्रकाशते'' इत्यादि रूप व्यवहार सार्वजनिक अनुभव से सिद्ध है। अतः मायाविशिष्टचैतन्य (ईश्वर) के ही आश्रित अज्ञान मानना ही युक्तियुक्त है। यदि सिद्धान्ती ''अद्वितीयं चैतन्यं नास्ति'' इत्यादि रूप व्यवहार के बल पर सिद्ध अज्ञान का आश्रय मायाविशिष्टचैतन्य को न मानकर शुद्धचैतन्य को मानते हैं तब तो वह युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि] जाग्रदादिरूप अवस्थात्रय में भी असन्दिग्ध और भ्रमरहित होकर भासमान अध्यासाधिष्ठानरूप और सुखादि का साक्षीभूतशुद्धचैतन्यरूप आत्मा में ''नास्ति'', ''न प्रकाशते'' इत्याकारक व्यवहार का अभाव होता है। (क्योंकि यदि चिन्मात्र का प्रकाश नहीं होता तब तो भ्रमस्थल पर अधिष्ठान का ज्ञान आवश्यक होने के कारण वह अध्यास का अधिष्ठान भी नहीं होता और उसके द्वारा सुखादि का भी प्रकाश भी नहीं होता।) जब शुद्धचैतन्य सर्वदाभासमान है—यह सिद्ध हो गया तब ''अस्ति'', ''प्रकाशते'' इत्याकारक व्यवहार का जो अभाव उस अभाव के अभाव से ''नास्ति'', ''न प्रकाशते'' इस व्यवहार से कल्पनीय सर्वदा भासमान शुद्ध चैतन्य में अज्ञानावारणकृत्य नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्व नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार ''अस्ति'', ''प्रकाशते'' इस व्यवहार के अभाव से कल्पनीय सर्वदा भासमान शुद्धचैतन्य में अज्ञानावरणकृत्य अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्य भी नहीं माना जा सकता है।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि शुद्धचैतन्य सत् और चित् रूप से सर्वदा भासमान होने पर भी परिपूर्णानन्दाकार रूप से अप्रकाशमान है। अतः परिपूर्णानन्दाकार रूप से प्रकाशमानत्व के लिए ही शुद्धचैतन्यनिष्ठ अज्ञानावारण की कल्पना की जाती है। परिपूर्णानन्दरूप आकार तो मोक्षदशा में ही अनुवृत्त होने के कारण शुद्धचिन्मात्र है। अर्थात् जब अज्ञान निवृत्त होता है तब मोक्षदशा में परिपूर्णानन्दरूपभासित होता है। वह परिपूर्णानन्दरूप शुद्धचैतन्य से अभिन्न है। अतः शुद्धचैतन्य के आश्रित अज्ञान मानना उचित ही है।

शङ्का—निर्विभागचैतन्य अर्थात् पूर्णापूर्णभेदशून्य चैतन्य का सत्—चिद् रूप से प्रकाश होता है और परिपूर्णानन्दरूप से प्रकाश नहीं होता है—ऐसा नहीं माना जा सकता है,क्योंकि शुक्त्यादि सावयव पदार्थों का ही अंशतः प्रकाश और अंशतः अप्रकाश माना जाता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि एक ही निरंश सत्—चिद् आनन्दरूप ब्रह्म का परिपूर्णानन्दरूप से अज्ञान और सत्—चिद्रूप से ज्ञान सर्वानुभव सिद्ध है, ऐसा

न च निर्विभागचितः कथमेवं घटत इति वाच्यम्, आवरणमहिम्नैव परिपूर्णं ब्रह्म नास्ति न प्रकाशत इति व्यवहारः, अस्ति प्रकाशत इति व्यवहारप्रतिबन्धश्च, अध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानता चाविरुद्धेति।।४।।

अत एव—अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपस्वप्रकाशत्वविरुद्धे योग्यत्वायोग्यत्वे कथमिदानीमपि ब्रह्मणि स्याताम्? न च—अज्ञानादिमत्त्वेनापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वरूपेण च तदयोग्यत्वमित्यविरोध इति वाच्यम्, स्वरूपस्यास्वप्रकाशत्वापातादिति निरस्तम्, परिपूर्णाद्याकारेण

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो आवरण विषयक अनुभव है। उस अनुभव के बल पर ही परिपूर्णानन्दरूप ब्रह्म नहीं है और प्रकाशमान नहीं है। इस व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है और परिपूर्णानन्दरूप ब्रह्म है और प्रकाशित है। इस प्रकार के व्यवहार का प्रतिबन्ध (अभाव) हो जाता है तथा अध्यास के अधिष्ठानरूप से सत्त्वेन प्रकाशमानता को मानने पर भी कोई विरोध नहीं होता है, क्योंकि अज्ञान के द्वारा ब्रह्म का आनन्द स्वरूप आवृत्त होता है, सत्—चित् स्वरूप आवृत्त नहीं होता है। ''अध्यासाधिष्ठानत्वादिना'' के घटक ''आदिना'' के द्वारा ''सुखादिज्ञानरूपेण'' कहा गया है। अर्थात् निरंशब्रह्म में वास्तविकभेद न होने पर भी पूर्णानन्दरूप और सत्चिद् रूप में उक्त आवरणविषयक अनुभव के बल पर अविद्याकृत काल्पनिक अनादिभेद माना जाता है। अन्यथा आवरण और अनावरण की एकत्र उपपत्ति नहीं हो पायेगी। पूर्णानन्दरूप और सत्चिद् रूप में काल्पनिक भेद स्वीकार करने पर पूर्वपक्षी के द्वारा उद्भावित सभी विरोधों का परिहार हो जाता है।।४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सिद्धान्ती के मत में ब्रह्म को स्वयम्प्रकाश माना जाता है और स्वप्रकाशत्व का लक्षण सिद्धान्ती के द्वारा इस प्रकार से किया जाता है—अवेद्यत्वविशिष्ट अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व। सिद्धान्ती के मत में अज्ञानावरण काल में भी ब्रह्म स्वप्रकाश ही माना जाता है। ब्रह्म के स्वप्रकाश होने के कारण अज्ञानावरण काल में भी ब्रह्म में अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व रहेगा, क्योंकि जो स्वप्रकाश होगा उसमें अवेद्यत्व के साथ—साथ अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व भी रहेगा। जब ब्रह्म में अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व है, तब अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व के विरुद्ध नास्तीत्यादिव्यवहारयोग्यत्व और अस्तीत्यादिव्यवहारायोग्यत्व ये दोनों ही इस काल (अज्ञानावरण काल) में भी स्वप्रकाश ब्रह्म में नहीं रह सकते हैं। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अज्ञानादि विशिष्ट चैतन्य में अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व है और शुद्धचैतन्य में अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभाव है। अतः विरोध नहीं है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि शुद्धचैतन्य में अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व नहीं मानेंगे तब शुद्धचैतन्य में स्वप्रकाशत्व भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि स्वप्रकाशत्व के लक्षण का घटक अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व शुद्धचैतन्य में नहीं है।

समाधान— अत एव निरस्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। ''अत एव'' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि अज्ञानावरण काल में परिपूर्णानन्दरूपेण चित् का अपरोक्षव्यवहार नहीं होता है तथापि अज्ञानावरण काल में भी चिद् में परिपूर्णानन्दरूपेण अपरोक्षव्यवहार की योग्यता का अभाव नहीं होता है। इसको स्पष्ट करते हुए श्रीचित्सुखाचार्य ने तत्त्वप्रदीपिका के स्वप्रकाशत्व निरूपण के अवसर पर सिद्धान्त पक्ष के समर्थन के प्रसङ्ग में कहा है—''न च योग्यतालक्षणधर्माङ्गीकारेऽव्याप्तिर्मोक्षदशायां तदसम्भवादपसिद्धान्तापत्तिश्चेति शङ्कनीयम्, योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात्, गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणस्य द्रव्यत्ववत्, तेन नाव्याप्ति।।'' इस पर प्रश्न होता है कि यदि चिद् में परिपूर्णानन्दरूपेण अपरोक्षव्यवहार की योग्यता है तब उक्त

इदानीं व्यवहाराभावेऽपि अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानपायात्।।५।।

न चैवं सुखादेरज्ञानावच्छिन्नचित्प्रकाश्यत्वे 'सुखादिकं न प्रकाशते' इत्यनुभवापातेन सुखादिकं प्रकाशते इत्यनुभवार्थं चितोऽज्ञानानवच्छेदेन प्रकाशोऽङ्गीकरणीय इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः, अनुक्तोपालम्भनत्वात्। न ह्यज्ञानावच्छेदेनैव चित् प्रकाशत इति ब्रूमः। अत एव च नित्यातीन्द्रियेऽप्यज्ञानावच्छेदकतया अपरोक्षव्यवहारेण तत्रापि स्वप्रकाशापत्तिरिति निरस्तम्, अज्ञानानवच्छेदेन तादृशस्य व्यवहारस्योक्तेः।।६।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यवहार क्यों नहीं होता है। इसका उत्तर यह है कि जब अभानापादक अज्ञान को नष्ट करने वाली वृत्ति उत्पन्न होती है तब उक्त व्यवहार होता है। अतः चिद् में परिपूर्णानन्दरूपेण अरोक्षव्यवहार की योग्यता मानना उचित ही है।।५।।

शङ्का— पीछे सिद्धान्ती ने कहा कि संसारावस्था में चैतन्य अज्ञान से आवृत्त रहता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि चैतन्य संसारावस्था में अज्ञानावृत्त है तब संसारावस्था में अज्ञानावच्छिन्नचैतन्य के द्वारा सुखादि पदार्थों का भान मानना पड़ेगा। अज्ञानावच्छिन्नचैतन्य के द्वारा सुखादि का भान मानने पर ''सुखादि प्रकाशित नहीं है।'' ऐसे अनुभव की आपत्ति होगी, जबकि सुखादि का भान अनुभव सिद्ध है। अतः सुखादि के भान के अनुभव की उपपत्ति के लिए संसारावस्था में केवल अज्ञानावच्छिन्नचैतन्य का भान न मानकर सुखाद्यवच्छिन्न चैतन्य का भी भान मानना पड़ेगा। अतः जिस समय सुखाद्यवच्छेदेन चैतन्य का भान होगा, उस समय अज्ञानावच्छेदेन चैतन्य का भान नहीं होगा। ऐसा होने पर संसारावस्था में सर्वदा शुद्धचैतन्य के आश्रित अज्ञान रहता है—यह सिद्धान्त भङ्ग हो जायेगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सुखाद्यवच्छेदेन चैतन्य का भान सिद्धान्त मत में माना ही जाता है। सिद्धान्ती के मत में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि अज्ञानावच्छेदेन चैतन्य का भान होता है और सुखाद्यवच्छेदेन चैतन्य का भान नहीं होता है। अतः अनुक्तोपालम्भन के कारण पूर्वपक्षी निरनुयोज्यानुयोगरूप निग्रहस्थान से ग्रस्त है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''परमाणुरज्ञातं भाति'' ऐसा व्यवहार होता है। ऐसे स्थल पर जब परमाणुविषयक अज्ञान साक्षिचैतन्य के द्वारा भासित होता है तब अज्ञान का अवच्छेदक (विशेषण) परमाणु भी साक्षिचैतन्य के द्वारा भासित होता है। अतः नित्य अतीन्द्रिय परमाणु आदि में भी अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व है। परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण उसमें फल व्याप्यत्व का अभाव भी है, क्योंकि प्रमाणवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्तचैतन्य ही फल है और अभिव्यक्तचैतन्यरूप फल के द्वारा अप्रकाश्यत्व ही फलाव्याप्यत्व है। अतः परमाणु में फलाव्याप्यत्वरूप अवेद्यत्व भी है। इस प्रकार से नित्यातीन्द्रिय परमाणु में अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूप स्वप्रकाशत्व का लक्षण समन्वय हो जाने से अतिव्याप्ति हो गयी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि स्वप्रकाशत्व लक्षण घटक अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व अज्ञानानवच्छेदेन विवक्षित है। अर्थात् जो साक्षिभास्य अज्ञान है। उसका विशेषण परमाणु भी साक्षिभास्य होने के कारण परमाणु में अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व है किन्तु जो अज्ञान का विशेषण न होकर अपरोक्षव्यवहार के योग्य हो। उसको स्वप्रकाशलक्षण घटक अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व शब्द से कहा गया है। अतः साक्षिभास्य अज्ञान का विशेषण होकर अपरोक्षव्यवहारयोग्य परमाण्वादि में स्वप्रकाश लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।।६।।

ननु प्रदीपावारकघटादिवच्चैतन्यावारकाविद्याचैतन्यस्यान्यसम्बन्धं प्रतिबध्नातु अन्यं प्रति चैतन्यमाच्छादयतु, न तु चैतन्यं प्रत्येव चैतन्ये उक्तयोग्यत्वरूपप्रकाशविरोधिनी सा, न हि दीपो घटावृतोऽपि स्वयं न प्रकाशते, तमःसम्बन्धापातात्। न च कल्पितभेदं जीवचैतन्यं प्रति शुद्धचैतन्यमाच्छादयतीति वाच्यम्, आवरणं विना भेदकल्पनस्यैवायोगात्। यो मोक्षे भावी चिन्मात्रस्यैव चिन्मात्रं प्रति प्रकाशः, तदभावस्यैवेदानीमज्ञानेन साधनीयत्वाच्चेति चेत्।।७।।

न, कल्पितभेदं जीवं प्रति शुद्धचैतन्यस्यावृतत्वात्। न च भेदकल्पनस्यावरणोत्तर–

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे प्रदीप को यदि घट से आवृत्त कर दिया जाय तो वह घट रूप आवरण पटादि के प्रति प्रदीप के प्रकाश के सम्बन्ध का विरोधी होगा, किन्तु प्रदीप के प्रति प्रदीप के प्रकाश के सम्बन्ध का विरोधी नहीं होता है। अर्थात् प्रदीप के ढकने से पटादि में ''न प्रकाशते'' इत्यादि व्यवहार होता है, किन्तु ''प्रदीपो न प्रकाशते'' ऐसा व्यवहार नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार चैतन्य में यदि अविद्यारूप आवरण माना भी जाय तो वह अविद्यारूप आवरण चैतन्य से अन्य घटादि दृश्य के साथ चैतन्य के सम्बन्ध का प्रतिबन्धक हो सकता है और अन्य के प्रति चैतन्य का आच्छादक हो सकता है। अर्थात् चैतन्य में अविद्यारूप आवरण मानने पर चैतन्येतर दृश्य वस्तु में ''न प्रकाशते'' इत्यादि व्यवहार हो सकता है किन्तु चैतन्य में ''न प्रकाशते'' ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता है, क्योंकि चैतन्य के प्रति चैतन्य में अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वरूपप्रकाश की विरोधी अविद्या नहीं हो सकती है। जैसे घट से आवृत्त हुआ भी प्रदीप स्वयं नहीं प्रकाशित होता है—ऐसा नहीं माना जाता है, क्योंकि किसी भी अवस्था में यदि प्रदीप स्वयं को प्रकाशित नहीं करता है तब तो प्रदीप के साथ अन्धकार का सम्बन्ध मानना पड़ेगा जो कि असम्भव है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि घटादिवत् कल्पित है, शुद्धचैतन्य का भेद जिस जीव चैतन्य में, उस जीव चैतन्य के प्रति अविद्या शुद्धचैतन्य को आच्छादित करती है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि शुद्धचैतन्यगत आव्रियमाणत्व के सिद्ध होने पर आवरण की सिद्धि होगी और आवरण की सिद्धि होने पर कल्पितभेद वाले जीव चैतन्य के प्रति शुद्धचैतन्यगत आव्रियमाणत्व सिद्ध होगा। दूसरी बात यह है कि जीवचैतन्य के प्रति शुद्धचैतन्य को अविद्या आवृत्त कर देती है—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्ष में जीव के प्रति शुद्धचैतन्य का प्रकाश तो रहता नहीं है, क्योंकि जीव और शुद्धचैतन्य में कल्पितभेद मोक्ष में रहता नहीं है। अर्थात् यदि मोक्ष में जीव के प्रति शुद्धचैतन्य का प्रकाश रहता तब संसारावस्था में अविद्या के द्वारा उसका अभाव सिद्ध होता, तब सिद्धान्ती का उक्त कथन (अविद्या जीव चैतन्य के प्रति शुद्धचैतन्य को आवृत्त कर देती है—ऐसा कथन) ठीक होता किन्तु वैसा है नहीं। अतः सिद्धान्ती का उक्त कथन ठीक नहीं है। वस्तुतः मोक्ष में होने वाला जो चिन्मात्र का ही चिन्मात्र के प्रति प्रकाश रहता है। उसके अभाव को ही संसारावस्था में अविद्या के द्वारा सिद्ध करना है। किन्तु वह हो नहीं सकता है, क्योंकि इसको प्रदीप के दृष्टान्त से पीछे स्पष्ट कर दिया गया है कि चैतन्येतर वस्तु में ''न प्रकाशते'' यह व्यवहार हो सकता है किन्तु चैतन्य में ''न प्रकाशते'' यह व्यवहार नहीं हो सकता है।।७।।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कल्पितभेद वाले जीवचैतन्य के प्रति शुद्धचैतन्य अज्ञान के द्वारा आवृत्त है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि चैतन्यगत भेद की कल्पना अविद्यावरण के उत्तरकालीन होने से यह कथन (कल्पितभेदवाले जीव के प्रति शुद्धचैतन्य अज्ञान के द्वारा आवृत्त है—ऐसा जो सिद्धान्ती का कथन) अयुक्त है, क्योंकि अन्योन्याश्रयदोष होता है। इसका खण्डन करते

कालीनत्वादिदमयुक्तमिति वाच्यम्, भेदावरणयोरुभयोरप्यनादित्वेन परस्परानन्तर्याभावात्। यच्चोक्तं यो मोक्षे भावी चैतन्यस्य चैतन्यं प्रति प्रकाश तदभाव इदानीमज्ञानसाध्य इति तन्न, मोक्षे जन्यस्य चैतन्यप्रकाशस्याभावात्, कल्पितभेदापगमे शुद्धचैतन्यं प्रत्येव प्रकाशस्य जीवं प्रत्यपि सम्भवात्।।८।।

यच्चोक्तं प्रकाशस्वरूपे चैतन्ये कथमज्ञानम्? न ह्यालोके तमः—इति। तन्न, अज्ञानतमसोर्विरोधितायामनुभवसिद्धविशेषात्। तथा हि 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'इति प्रकाशमाने वस्तुनि अज्ञानस्यानुभवात् स्वरूपचैतन्यं साक्षी वा नाज्ञानविरोधि, तमसस्तु आलोके सत्यननुभवाद्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भेद और आवरण दोनों ही अनादि होने से परस्पर में पौर्वापर्य का अभाव है। अर्थात् यदि भेद और आवरण में पौर्वापर्य होता तब पूर्वोक्त प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष होता किन्तु भेद और आवरण में पौर्वापर्य नहीं है। अतः अन्योन्याश्रयदोष भी नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि मोक्षावस्था में होने वाला शुद्धचैतन्य के प्रति शुद्धचैतन्य का जो प्रकाश है, उसका ही अभाव संसारावस्था में अज्ञान के द्वारा सिद्ध करना है। वह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि मोक्ष में कोई जन्य चैतन्यप्रकाश तो रहता नहीं है, केवल कल्पित भेद की निवृत्ति हो जाने पर शुद्धचैतन्य के प्रति जो शुद्धचैतन्य का प्रकाश है, वह जीवचैतन्य के प्रति भी हो सकता है, क्योंकि अविद्या की निवृत्ति हो जाने पर जीव चैतन्य ही शुद्धचैतन्य हो जाता है। [कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी ने कहा था कि मोक्षावस्था में जीवचैतन्य के प्रति शुद्धचैतन्य का प्रकाश नहीं रहता है, अपितु शुद्धचैतन्य का ही शुद्धचैतन्य के प्रति प्रकाश रहता है। इसका खण्डन करते हुए कहा गया कि मोक्षावस्था में अविद्या के निवृत्त हो जाने से जीवचैतन्य और शुद्धचैतन्य अभिन्न हो गये। अतः शुद्धचैतन्य के प्रति जो शुद्धचैतन्य का प्रकाश है। वह शुद्धचैतन्य से अभिन्न जीवचैतन्य के प्रति भी शुद्धचैतन्य का प्रकाश माना ही जायेगा। इसी प्रकार शुद्धचैतन्य से अभिन्न जीवचैतन्य के होने के कारण संसारावस्था में जीवचैतन्य के प्रति शुद्धचैतन्य का अप्रकाश जो है, वह शुद्धचैतन्य के प्रति शुद्धचैतन्य का अप्रकाश भी कहा ही जा सकता है। यह अप्रकाश अविद्या प्रयुक्त ही है। अज्ञान का आश्रय और विषय ब्रह्म है। यह पीछे कहा गया था। अज्ञान का विषय ब्रह्म है। इसलिए ब्रह्म में अज्ञाननिमित्तावरणकृत्य है। इसका निरूपण यहां तक किया गया। आगे अज्ञान का आश्रय ब्रह्म है—इस पर पूर्वपक्षी की शङ्काओं का खण्डन किया जायेगा]।।८।।

न्यायामृतकार का यह जो कथन है कि प्रकाशस्वरूपचैतन्य में अज्ञान नहीं रह सकता है। जैसे प्रकाशस्वरूप आलोक में अन्धकार नहीं रहता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अज्ञान और अन्धकार यद्यपि दोनों ही प्रकाश के विरोधी हैं, तथापि दोनों की प्रकाश विरोधिता में भेद है—यह अनुभव के द्वारा सिद्ध है। इसको ''तथाहि'' से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''त्वदुक्तामर्थं न जानामि'' इस प्रकार प्रकाशमान वस्तु में अज्ञान का अनुभव होने से स्वरूपचैतन्य या साक्षी अज्ञान का विरोधी नहीं होता है। [कहने का भाव यह है कि ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इसका दो भाग करके अर्थ किया जाता है। प्रथम—तुमने जो अर्थ (वाक्यार्थ) कहा है। द्वितीय—उस अर्थ (वाक्यार्थ) को मैं नहीं जानता हूं। (अर्थात् उस अर्थ का अज्ञान मुझमें है।) प्रथम भाग के द्वारा त्वदुक्तार्थ का अनुवाद किया गया है। विना ज्ञान के अनुवाद हो नहीं सकता है। अतः जिस त्वदुक्तार्थ का ज्ञान है। उसी त्वदुक्तार्थ का अज्ञान है। अर्थात् प्रकाशमान वस्तु में ही अज्ञान है—यह इस अनुभव के द्वारा सिद्ध है। अतः साक्षिज्ञान के द्वारा अज्ञातत्त्वेन प्रकाशित वस्तु (त्वदुक्तार्थ) में अज्ञान रहता है और इस अज्ञान का नाश प्रमाणवृत्ति अथवा प्रमाणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य के द्वारा होता

आलोकमात्रं तद्विरोधि। वस्तुतस्तु— अवतमसे विषयप्रकाशकालोकसहभावदर्शनेन तमस्यपि नालोकमात्रं विरोधि।।९।।

न च 'त्वदुक्तार्थो न प्रकाशत' इत्यनुभवादस्तु तत्र भासमाने अज्ञानम्, सुखादिस्फुरणे भासमाने न प्रकाशत इत्यननुभवात् कथं तत्राज्ञानमिति वाच्यम्, सुखादिस्फुरणं न प्रकाशत इत्यनुभवाभावेऽपि अनवच्छिन्नाकारेण न प्रकाशत इत्यनुभवाद्, आवरकाज्ञानस्य तत्राप्यावश्यकत्वात्। यदपि 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'इत्यत्र भासमाने नाज्ञानम्, किन्तु गुहास्थं तमश्छन्नमितिवत् त्वदुक्तं न

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अतः शुद्धचैतन्य अथवा साक्षिचैतन्य के द्वारा अज्ञान का नाश नहीं होता है। इसलिए शुद्धचैतन्य या साक्षिचैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं है— यह सिद्ध हो गया है।] आलोक के रहने पर तम की प्रतीति नहीं होती है। अतः आलोकमात्र तम का विरोधी माना जाता है। वस्तुतः मन्द अन्धकार में विषयप्रकाशक आलोक का सहभाव देखा जाता है। अतः आलोकमात्र अन्धकार का विरोधी नहीं होता है अपितु विशेष प्रकाश (प्रखर प्रकाश) ही अन्धकार का विरोधी होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी चैतन्यमात्र अज्ञान का विरोधी नहीं होता है अपितु विशेषचैतन्य अज्ञान का विरोधी होता है।।९।।

शङ्का— ''तुम्हारे द्वारा कहा गया अर्थ प्रकाशित नहीं होता है।'' इस अनुभव के बल पर भासमान वस्तु में अज्ञान माना भी जा सकता है किन्तु सर्वत्र भासमान वस्तु में अज्ञानावरण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सुखादि के स्फुरण काल में ''सुखं न स्फुरति'' इस प्रकार का अनुभव नहीं होता है। अतः सुखादिज्ञानरूपचिन्मात्र में अज्ञान की सत्ता सिद्ध नहीं होती है। अतः प्रकाशस्वरूपचैतन्य में अज्ञान की सत्ता नहीं मानी जा सकती है।

समाधान— ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''सुखादिस्फुरण प्रकाशित नहीं होता है।'' ऐसा अनुभव न होने पर भी ''अनवच्छिन्न (परिपूर्ण) सुख प्रकाशित नहीं होता है।'' अतः ऐसा अनुभव होता है। अतः इस अनुभव की उपपत्ति के लिए सुखादिज्ञानरूपचिन्मात्र में भी आवरणकर्ता अज्ञान मानना आवश्यक है।

शङ्का— [पूर्वपक्षी का कथन है कि भासमान में अज्ञान नहीं माना जा सकता है,क्योंकि सर्वानुभव विरुद्ध है, क्योंकि जो भासित होता है, वह अज्ञान से आवृत्त नहीं होता है और जो अज्ञान से आवृत्त होता है, वह भासित नहीं होता है। इस पर प्रश्न होता है कि ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इसका किस प्रकार से अर्थ किया जाय? इसका उत्तर पूर्वपक्षी इस प्रकार से देता है कि उक्त स्थल पर सामान्यरूप से भासमान में सामान्यविषयकाज्ञान का अनुभव नहीं होता है, अपितु सामान्यरूप से भासमान में विशेषविषयकाज्ञान का अनुभव होता है। प्रकार भेद से ज्ञान और अज्ञान को मानने में विरोध भी नहीं होता है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि] ''तुम्हारे द्वारा कहे गये अर्थ को मैं नहीं जानता हूं।'' यहां पर सामान्यरूप से भासमान वस्तु में सामान्यविषयकाज्ञान सिद्ध नहीं होता है किन्तु ''गुहास्थित वस्तु अन्धकार से आच्छादित है।'' यहां पर वस्तुत्वरूपसामान्यधर्मावच्छेदेन वस्तु भासमान होती है और घटत्वादि विशेषधर्मावच्छेदेन वस्तु के अज्ञान का अनुभव होता है। ठीक इसी प्रकार ''तुम्हारे द्वारा कहे गये अर्थ को मैं नहीं जानता हूं।'' इस प्रकृत स्थल पर भी त्वदुक्तार्थत्वरूपसामान्यधर्मावच्छेदेन अनावृत (ज्ञात) वस्तु का घटत्वादिविशेषधर्मावच्छेदेन वस्तु के अज्ञान का अनुभव होता है। जैसे परचित्तस्थ जो अज्ञानावच्छेदेकीभूत वस्तु है, उसका विशेष रूप से अनुवाद नहीं होता है। अपितु सामान्यरूप से ही अनुवाद होता है। [अर्थात् दूसरे के मन में कोई

जानामीत्यनावृतसामान्यावच्छेदेनैव विशेषाज्ञानमनुभूयते, न हि परचित्तस्थमज्ञानं प्रातिस्विकरूपेणानूद्यते, एवं च तद्विशेषसंशयं प्रति तत्सामान्यनिश्चय एव तद्विशेषावच्छिन्नाज्ञानज्ञानं प्रति तत्सामान्यज्ञानमेव हेतुः, तथा दर्शनात्, न हि विशेषे ज्ञाते तदज्ञानधीर्दृष्टा, अवच्छेदकज्ञानस्य ह्यवच्छिन्नज्ञानहेतुतापि दर्शनादेव कल्प्या, न चातिप्रसङ्गः, सामान्यविशेषभावस्यैव नियामकत्वाद्—इति'।१०।।

तन्न, अज्ञानं हि विशेषावच्छिन्नतया भासते? सामान्यावच्छिन्नतया वा? आद्ये विशेषे भासमानत्वमागतमेव। न हि विशेषमभासयन्विशेषाज्ञानमित्यवभासयति, तथा च सामान्यनिश्चयजनितोऽपि संशयो विशेषमवगाहते यथा, तथा सामान्यज्ञानजनितोऽप्यज्ञानप्रत्ययो विशेषं विषयीकरिष्यतीति

सत्यानन्दप्रबोधिका

न कोई इच्छा हो रही है। इतना सामान्यरूप से ज्ञात है— इस प्रकार से अनुवाद करके भोजन करने की इच्छा हो रही है अथवा पान करने की इच्छा हो रही है। इस प्रकार विशेष रूप से किस प्रकार की इच्छा हो रही है—ऐसा मैं नहीं जानता हूं—ऐसा ही वक्ता कहता है। अर्थात् सामान्यरूप से ज्ञान है— इस प्रकार से ही अनुवाद होता है, विशेष रूप से अनुवाद नहीं होता है। इसी प्रकार वस्तुगत स्थाणुत्व, पुरुषत्वादि विशेषरूपेण संशय के प्रति जैसे वस्तुगत ऊर्ध्वत्वादि सामान्य का निश्चय हेतु होता है, ठीक उसी प्रकार वस्तु विशेष से अवच्छिन्न अज्ञान (घटत्वाद्यवच्छिन्न वस्तुविषयक अज्ञान] के ज्ञान के प्रति वस्तुगत त्वदुक्तादि सामान्यरूप से ज्ञान ही हेतु होता है, क्योंकि ऐसा ही कार्यकारणभाव देखने में आता है, क्योंकि विशेष का ज्ञान होने पर तत्सामान्यविषयक अज्ञान का ज्ञान देखने में नहीं आता है। इसी प्रकार दण्डादि रूप अवच्छेदक (विशेषण) के ज्ञान में अवच्छिन्नज्ञान (दण्डविशिष्ट पुरुष का ज्ञान) की हेतुता की कल्पना भी देखने में आने के कारण ही अर्थात् अनुभव के बल पर ही की जाती है। यदि कहा जाय कि पूर्वपक्षी के मतानुसार सामान्य के ज्ञान को विशेष के अज्ञान के ज्ञान के प्रति हेतु मानने पर घट का सामान्यज्ञान पट के विशेष अज्ञान के ज्ञान के प्रति हेतु होने की आपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जिस वस्तु का जो सामान्य धर्म होता है, वही सामान्य धर्म उसी वस्तु के विशेषाकार अज्ञान के ज्ञान के प्रति हेतु होता है— इस प्रकार से निरूप्य—निरूपकभावापन्न सामान्यविशेषाभाव को ही नियामक माना जाता है। अतः किसी प्रकार का अतिप्रसङ्ग नहीं होगा।१०।।

समाधान— पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस स्थल पर साक्षिचैतन्य के द्वारा जो अज्ञान का ज्ञान होता है, उस ज्ञान की विषयता घटत्वादि विशेषधर्मावच्छिन्न है? (अर्थात् अज्ञान विशेषावच्छिन्न होकर भासित होता है?) अथवा त्वदुक्तत्वादि सामान्यधर्मावच्छिन्न है? (अर्थात् अज्ञान सामान्यावच्छिन्न होकर भासित होता है?) प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर विशेष (घटत्वादि) धर्मावच्छिन्न वस्तु का ज्ञान मानना ही होगा, क्योंकि विशेष के अज्ञान का ज्ञान विशेष को प्रकाशित न करता हुआ विशेष के अज्ञान को प्रकाशित नहीं कर सकता है। (जैसे दण्डावच्छिन्न पुरुष का ज्ञान दण्ड को प्रकाशित न करता हुआ दण्डावच्छिन्न पुरूष को प्रकाशित नहीं करता है।) फलतः जैसे सामान्य (ऊर्ध्वत्वादि) के निश्चय से जनित (स्थाणुर्वा? पुरूषो वा? इस प्रकार का) संशय स्थाणुत्वादि विशेष धर्मों को विषय करता है, ठीक उसी प्रकार सामान्य (त्वदुक्तत्वादि) के निश्चय से जनित विशेष के अज्ञान का ज्ञान भी विशेष (घटत्वादि) को विषय करेगा। ऐसा होने पर विशेष का अज्ञान भी है और विशेष का ज्ञान भी है—यह स्वीकार करना पड़ेगा। अतः यह सिद्ध हो गया कि भासमान वस्तु का अज्ञान होता है। द्वितीय पक्ष (सामान्यावच्छिन्नतया अज्ञान का भान होता है।) के द्वारा भी पूर्वपक्षी के इष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि सामान्यज्ञान के द्वारा

कुतो भासमाने नाज्ञानमिति। न द्वितीयः, सामान्यज्ञानेन तदवच्छिन्नतयैव गृहीतस्याज्ञानस्य विशेषसम्बन्धित्वे मानाभावेन भासमाने सामान्य एवाज्ञानमवगतम्। वस्तुनः प्रतीतिप्रमाणकत्वात् तथा च परचित्तस्थं यथा अनुद्यते, तथा ज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति सिद्धम्।।११।।

ननु यथा द्वेषस्येष्टत्वेऽपि द्विष्टस्य नेष्टत्वम्, ईश्वरस्य भ्रान्तिज्ञत्वेऽपि न भ्रमविषयज्ञत्वम्, अस्मदादीनामीश्वरसार्वज्ञ्यज्ञानेऽपि न सर्वज्ञत्वम्, एवमज्ञातज्ञानाभावेऽपि अज्ञानज्ञानमिति चेन्न, दृष्टान्तासम्प्रतिपत्तेः। तथा हि—इच्छा तावज्ज्ञानसमानविषया, ज्ञानं चावच्छेदकतया द्विष्टमपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

सामान्यावच्छिन्न होकर अज्ञान गृहीत हो सकता है किन्तु वह अज्ञान सामान्यधर्मावच्छिन्न ही माना जायेगा न कि विशेषधर्मावच्छिन्न, क्योंकि उस अज्ञान को विशेषधर्मावच्छिन्न मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वस्तु के स्वरूप की सिद्धि में उसकी प्रतीति ही प्रमाण होती है। अतः सामान्यावच्छिन्न अज्ञान की प्रतीति के द्वारा सामान्य ही भासता है न कि विशेष। अतः सामान्य के ज्ञान से सामान्य का अज्ञान ही गृहीत होता है। इस प्रकार सामान्य का ज्ञान और सामान्य का ही अज्ञान का सहभाव सिद्ध हो जाने से भासमान सामान्य का ही अज्ञान होता है—यह सिद्ध हो गया। जैसे परचित्तस्थ वस्तु की प्रतीति का जिस रूप (सामान्य या विशेष रूप) से अनुवाद होता है ठीक उसी रूप से ही ज्ञान और अज्ञान के व्यावर्त्तक (विशेषण) विषयों का ज्ञान और अज्ञान के ग्राहक साक्षी के द्वारा ग्रहण होता है और अनुवाद होता है। अर्थात् ज्ञानावच्छेदक विषय का ज्ञातत्वेन और अज्ञानावच्छेदक विषय का अज्ञातत्वेन साक्षी के द्वारा ग्रहण और अनुवाद होता है। इस प्रकार साक्षी के द्वारा वस्तु के अज्ञान का ग्रहण होने से भासमान में ही अज्ञान साक्षिसिद्ध है।।११।।

शङ्का— जैसे शत्रुविषयक द्वेष इष्ट होता है किन्तु उस द्वेष का विषय जो शत्रु है। वह इष्ट नहीं होता है। देवदत्त को भ्रान्ति है—ऐसा ज्ञान ईश्वर को होने पर भी ईश्वर भ्रमविषयज्ञ नहीं माना जाता है। (अर्थात् ईश्वर को यह ज्ञान रहता है कि देवदत्त को शुक्ति में रजत का भ्रम हुआ किन्तु उस ज्ञान का विषय जो भ्रम अर्थात् शुक्ति ही रहत है—ऐसा ईश्वर को भ्रम ज्ञान नहीं होता है।) ईश्वर में सर्वज्ञता है—ऐसा हम लोगों (जीवों) को ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान का विषय सर्वज्ञता जीव में नहीं रहती है। ठीक इसी प्रकार अज्ञान के अवच्छेदक जो अज्ञात पदार्थ है। उसके ज्ञान के विना भी अज्ञान का ज्ञान रह ही सकता है। अतः त्वदुक्त विषयकाज्ञान का साक्षिज्ञान होने पर अज्ञान के विषयीभूत त्वदुक्त का भी साक्षिज्ञान होगा। ऐसा नहीं माना जा सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो दृष्टान्त त्रय दिया है, उसमें हमारी सम्मति नहीं है। प्रथम दृष्टान्त में सम्मति क्यों नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि इच्छा जो होती है, वह ज्ञान समान विषया होती है। अर्थात् इच्छा के जनकीभूत ज्ञान का जो विषय होता है, वही विषय इच्छा का होता है। अतः जब ज्ञान का विषय द्विष्ट (शत्रु) का द्वेष है। तब द्वेष का अवच्छेदक (विशेषण) विधया द्विष्ट भी ज्ञान का विषय होगा। जब द्विष्ट ज्ञान का विषय हो गया तब इच्छा का भी अवच्छेदक विधया द्विष्ट अवश्य विषय होगा, क्योंकि इच्छा इष्टता (द्वेष) के अवच्छेदक (विशेषण=द्विष्ट) को विषय न करती हुई उत्पन्न ही नहीं होती है। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि इच्छा का विषय द्वेष होने पर भी शत्रु इच्छा का विषय नहीं होता है। उसका खण्डन हो गया। [इस पर प्रश्न होता है कि शत्रु यदि इच्छा का विषय है तब शत्रु में इष्टता का व्यवहार (शत्रु इष्ट है—ऐसा व्यवहार) क्यों नहीं होता है? इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि] यद्यपि इच्छा के विषय द्वेष और शत्रु दोनों ही होते हैं तथापि द्वेष में इष्टता का व्यवहार होता

विषयीकरोतीति इच्छाया अप्यवच्छेदकतया तद्विषयत्वात्। न हीच्छा इष्टतावच्छेदकाविषया भवति। एतावानेव विशेषः किञ्चित् साध्यतया विषयीकरोति, किञ्चिदवच्छेदकतया। ईश्वरोऽपि भ्रमविषयमगृहीत्वा भ्रमं न गृह्णाति भ्रमो हि भ्रमत्वेन ग्राह्यः, भ्रमत्वं च रजताभाववति रजतख्यातित्वं वा, असत्ख्यातित्वं वा, अनिर्वचनीयख्यातित्वं वा। तस्मिन् गृह्यमाणे सर्वथा विषयग्रहः। इयांस्तु विशेषः। यद् भ्रान्तः स्वातन्त्र्येण गृह्णाति, ईश्वरस्तु तज्ज्ञानावच्छेदकतयेति, ईश्वरसार्वज्ञ्यज्ञानमस्माकं तु सर्वज्ञपदेन। तत्र सर्वपदप्रतिपाद्यं जानन्नेवास्मदादिस्तत्र ज्ञानसम्बन्धं गृह्णातीति ईदृशं सार्वज्ञ्यमिष्टमेव।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है और शत्रु में नहीं, क्योंकि दोनों भिन्न–भिन्न प्रकार से इच्छा के विषय बनते हैं। जैसे द्वेष कृति साध्यतया इच्छा का विषय बनता है। अर्थात् हम अपने प्रयत्न से द्वेष कर सकते हैं और जो कृति साध्यतया इच्छा का विषय होगा, उसमें इष्टता का व्यवहार होगा। अतः द्वेष में इष्टता का व्यवहार होता है। शत्रु जो इच्छा का विषय अवच्छेदक के रूप से है न कि कृतिसाध्य के रूप से। अतः शत्रु में इष्टता का व्यवहार नहीं होता है, क्योंकि यह नियम है कि जो अवच्छेदकतया इच्छा का विषय बनता है, उसमें इष्टता का व्यवहार नहीं होता है। इस प्रकार प्रथम दृष्टान्त असङ्गत सिद्ध हो जाने के पश्चात् द्वितीय दृष्टान्त भी असङ्गत है–इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ईश्वर भी जीवगत भ्रम के विषयीभूत रज्जुसर्पादि का ग्रहण न कर निर्विषयक भ्रमज्ञान का ग्रहण नहीं कर सकता है, क्योंकि जिसको भ्रम के विषय का ज्ञान नहीं है। उसको भ्रम का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः जब ईश्वर को जीवगत भ्रम का ज्ञान है तब ईश्वर को उसके विषय का भी ज्ञान अवश्य ही होगा। ईश्वर को जो जीवीय भ्रम का ज्ञान है। वह भ्रमत्वेन होता है। अर्थात् जीवीय ज्ञान (शुक्ति में रजत का ज्ञान) में भ्रमत्व है–ऐसा ज्ञान ईश्वर को होता है। भ्रमत्व का तार्किक सम्मत अर्थ है–रजताभाववान् में रजत की प्रतीति। माध्व सम्मत भ्रमत्व का अर्थ–रजताभाववान् में असत् रजत की प्रतीति और अद्वैतवेदान्ती सम्मत भ्रमत्व का अर्थ–रजताभाववान् में अनिर्वचनीय रजत की प्रतीति। ईश्वर के द्वारा जीवगत भ्रम का भ्रमत्वेन ग्रहण करने पर भ्रम के विषय का भी अवश्य ग्रहण होगा, क्योंकि भ्रमत्व का ज्ञान हो जाने पर भ्रमत्व के लक्षण में प्रविष्ट विषयों का भी ज्ञान अवश्य होगा, क्योंकि ज्ञानगत भ्रमत्व है या प्रमात्व है। यह ज्ञान के विषय पर ही निर्भर करता है। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि ईश्वर को जीवगत भ्रम का ज्ञान होने पर भी भ्रमज्ञान के विषय का ज्ञान नहीं होता है, उसका खण्डन हो गया। इस पर प्रश्न होता है कि यदि ईश्वर को भ्रम के विषय का ज्ञान है, तब ईश्वर को भ्रान्त मानना पड़ेगा? इसका समाधान यह है कि यद्यपि जीव और ईश्वर दोनों को ही भ्रम के विषय का ज्ञान है, तथापि जीव और ईश्वर में अन्तर यह है कि जीव शुक्ति में भ्रम के विषय रजत को सीधे–सीधे अर्थात् स्वतन्त्र रूप से ग्रहण करता है। इसलिए जीव को भ्रान्त कहा जाता है, किन्तु ईश्वर शुक्ति में भ्रम के विषय रजत को सीधे–सीधे ग्रहण नहीं करता है अपितु भ्रमज्ञानावच्छेदकतया ग्रहण करता है। अर्थात् ईश्वर सीधे–सीधे शुक्ति को रजत नहीं समझता है अपितु जीवनिष्ठ रजतभ्रम का ज्ञान ईश्वर को रहने से भ्रमीय अवच्छेदकतया विषय (रजत) का भान ईश्वर को होता है। इसलिए ईश्वर में भ्रान्तत्व की आपत्ति नहीं होगी। तृतीय दृष्टान्त भी असङ्गत है, क्योंकि ''ईश्वर में सर्वज्ञता है।'' ऐसा ज्ञान जीवों को ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्'' इत्यादि श्रुतिस्थ सर्वज्ञ पद के व्युत्पत्ति के द्वारा ही होता है, क्योंकि ''सर्वं जानातीति सर्वज्ञः'' इस प्रकार के सङ्गति ग्रहण से सम्पन्न जीव सर्वपदाभिधेय वस्तु को जानता हुआ सर्वार्थ के साथ ज्ञान के सम्बन्ध को ग्रहण करता है। इसलिए सर्वपदवाच्यत्वेनरूपेण सर्वविषय का परोक्षज्ञान जीव को होता है। इसलिए ऐसा

विशेषस्त्वीश्वरस्य न कुत्राप्यज्ञानम्, अस्मादृशां तु विशेषेष्वज्ञानमिति कृत्वा, एवं च ज्ञात एव विशेषे अज्ञानज्ञानमिति।।१२।।

न च घटादेरज्ञानावच्छेकतया भानेऽपि घटाद्यज्ञाननिवृत्तिं विना तदवच्छिन्नसंयोगादिज्ञानादर्शनेन प्रकृतेऽपि विषयावच्छिन्नाज्ञानज्ञानार्थं तदवच्छेदकविषयाज्ञाननिवृत्तेरपि वक्तव्यत्वेनाज्ञानाविरोधि–ज्ञानवदज्ञानाविरोधिनी अज्ञाननिवृत्तिरपि स्वीकार्या स्यादिति वाच्यम्, संयोगादिसत्त्वस्यावच्छेदक–घटादिसत्त्वसापेक्षत्वेऽपि यथा अभावे न स्वाधिकरणीयप्रतियोगिरूपावच्छेदकसत्त्वापेक्षा, विरोधात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीवगतसार्वज्ञ्य ईष्ट ही है। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि जीव ईश्वरगत सर्वज्ञता का ज्ञाता होने पर भी सर्वज्ञ नहीं होता है। उसका खण्डन हो गया। जीवगत सर्वज्ञता से भिन्न प्रकार की ईश्वरगत सर्वज्ञता होती है, क्योंकि ईश्वर को किसी भी विषय में अज्ञान रहता ही नहीं है, जबकि जीवों को तो विशेषविषयक अज्ञान रहता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित तीनों दृष्टान्तों का खण्डन हो जाने से यह सिद्ध हो गया कि जहां अज्ञान का ज्ञान है वहां अज्ञान के विषय का भी ज्ञान रहता है। अर्थात् विशेष ज्ञात होने पर ही विशेषाज्ञान साक्षी के द्वारा ग्रहण होता है—यह सिद्ध हो गया।।१२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''घटं न जानामि'' इस साक्षिज्ञान के द्वारा घटावच्छिन्न अज्ञान का ज्ञान होता है और साथ–साथ अज्ञान का अवच्छेदक जो घट है, उसका भी ज्ञान होता है। किन्तु अज्ञात घट के उस साक्षिज्ञान के द्वारा घट के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है—ऐसा सिद्धान्ती मानते हैं, किन्तु अन्य स्थलों पर हम देखते हैं कि जिस पुरुष को ''घटं न जानामि'' इस प्रकार से अज्ञातत्त्वेन घट का ज्ञान रहता है और घट के अज्ञान का भी ज्ञान रहता है। उस पुरुष को घटावच्छिन्नसंयोगादि का ज्ञान नहीं होता है—यह सर्वमान्य अनुभव है। अतः इस अनुभव के आधार पर अवच्छेदक (घटादि) का ज्ञान होने मात्र से अवच्छिन्न (संयोगादि) का ज्ञान होगा—यह नियम नहीं रहा अपितु यह नियम बना कि अवच्छिन्न (संयोगादि) के ज्ञान के लिए उससे पूर्व अवच्छेदक (घट) का ज्ञान रहना ही चाहिए और उसके साथ–साथ अवच्छेदक के अज्ञान की निवृत्ति भी होनी चाहिए। अतः इस नियम के अनुसार विषय (घटादि) से अवच्छिन्न अज्ञान के ज्ञान के लिए अज्ञान का अवच्छेदक जो विषय (घटादि) है। उसके अज्ञान की निवृत्ति भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार ''घटं न जानामि'' इस साक्षिज्ञान के द्वारा घट का ज्ञान और घट के अज्ञान का ज्ञान और घट के अज्ञान की निवृत्ति भी सिद्धान्ती को मानने की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जिस काल में जिस विषय का अज्ञान है, उसी काल में उसी विषय के अज्ञान की निवृत्ति नहीं रह सकती है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी उपहास करते हुए कह रहा है कि जैसे सिद्धान्ती ज्ञान और अज्ञान के प्रसिद्ध विरोध की उपेक्षा करते हुए अवच्छेदक (घट) का साक्षिज्ञान और अवच्छेदक (घट) का अज्ञान इन दोनों को एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं मानते हैं। उसी प्रकार अज्ञान और अज्ञान की निवृत्ति इन दोनों के एक साथ रहने में विरोध नहीं मानना चाहिए।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भूतल में घटावच्छिन्नसंयोग के रहने के लिए उसी भूतल में अवच्छेदक घट के सत्त्व की अपेक्षा होती है किन्तु भूतल में घटावच्छिन्नाभाव (घटप्रतियोगिकाभाव) के रहने के लिए उसी भूतल अधिकरण में अवच्छेदक (प्रतियोगी) घट के रहने की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि एक ही अधिकरण में एक ही काल में घट का रहना और घट का न रहना मानने पर विरोध होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी अज्ञानविषयक

तथा अज्ञानज्ञानस्यापि न स्वविषयाज्ञाननिवृत्त्यपेक्षा, विरोधात्। न चैवं तद्विषय(क)ज्ञानापेक्षापि मास्तु, विरोधस्य समानत्वाद्, अविरोधकल्पनाबीजस्य ज्ञान इवाज्ञाननिवृत्तावपि समानत्वात्, तथा च विषये अज्ञात एवाज्ञानं ज्ञायते, विषयविशेषावच्छिन्नबुद्धिस्तु तमसीव विशेषज्ञानानन्तरं 'एतावत्कालममुमर्थं नाज्ञासिषमित्येवंरूपा जायत इति वाच्यम्।।१३।।

हन्तैवमभावस्वभावविरोधिप्रतियोगिज्ञाननिरपेक्षज्ञानविषयत्वमभाववैलक्षण्यसाधकमज्ञाने उपपादितमायुष्मता। किञ्च यद्यज्ञानं स्वकाले विषयावच्छिन्नतया न भासयेत्, तदा तु 'त्वदुक्तमर्थं न

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान को अपने विषयीभूत अज्ञान की निवृत्ति की अपेक्षा नहीं होती है,क्योंकि अज्ञान और अज्ञाननिवृत्ति में विरोध होता है। अर्थात् घट अज्ञान के अवच्छेदकीभूत विषय (घट) के अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर घट का अज्ञान रहेगा ही नहीं। जब कि विद्यमान अज्ञान का ही साक्षी के द्वारा ग्रहण होता है न कि अविद्यमान अज्ञान का। अत: घट के अज्ञान के ज्ञान के समय घट के अज्ञान की निवृत्ति नहीं मानी जा सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि विरोध होने के कारण घटावच्छिन्न अज्ञान के ज्ञान में अवच्छेदकीभूत घट के अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित नहीं मानी जाती है तब तो घटावच्छिन्न अज्ञान के ज्ञान को अज्ञानविषयविषयक ज्ञान (अज्ञान का अवच्छेदकीभूत जो घट है। उस घट विषयक ज्ञान) की भी अपेक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जैसे अज्ञान और अज्ञाननिवृत्ति में विरोध माना जाता है, ठीक उसी प्रकार घट के अज्ञान का अपने विषय (घट) के ज्ञान के साथ भी विरोध माना जाता है। अत: अज्ञात विषय का ही अज्ञान प्रतीत होता है। अर्थात् घट का ज्ञान न रहने पर ही घट के अज्ञान की प्रतीति हो सकती है। अत: अज्ञान के ज्ञानकालीन जो विषय है, उसका ज्ञान तो अज्ञान के ज्ञानकाल में हो नहीं सकता है, किन्तु अज्ञानकालीन विषय के अज्ञान का ज्ञान नष्ट होने पर अज्ञानकालीन विषय का ज्ञान इस प्रकार से होगा—इतने काल तक अमुक विषय मुझे अज्ञात था। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे अन्धकारकालीन जो घट है, उसका ज्ञान अन्धकार के काल में नहीं रहता है और अन्धकार के नष्ट होने पर (अर्थात् प्रकाश होने पर) घट का प्रत्यक्ष होता है और उसके साथ—साथ यह ज्ञान भी होता है कि इतने काल तक घटविषय का ज्ञान नहीं था। इसी प्रकार अज्ञान के ज्ञानकाल में विषय का ज्ञान नहीं रहता है, अपितु अज्ञान के नष्ट होने पर अज्ञानकालीन घट का ज्ञान होता है। अत: सिद्धान्ती ने जो कहा था कि अज्ञान के ज्ञानकाल में ही अज्ञान के अवच्छेदक विषय का ज्ञान रहता है। उसका खण्डन हो गया।।१३।।

समाधान— पूर्वपक्षी का उपहास करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि आयुष्मान्! तुमने महान कौशल का प्रदर्शन किया है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से तुमने हमारे पक्ष की सिद्धि के लिए ही अज्ञान में अभाव विलक्षणत्व के साधक अभाव स्वभाव विरोधी प्रतियोगिज्ञान निरपेक्ष ज्ञान की विषयता का ही प्रतिपादन किया है। [अर्थात् अभाव के ज्ञान का स्वभाव= प्रतियोगिज्ञान की सापेक्षता। अत: अभाव के ज्ञान के स्वभाव का विरोधी=प्रतियोगिज्ञान की निरपेक्षता। पूर्वपक्षी ने जब कहा कि अज्ञान का ज्ञान अज्ञान के अवच्छेदक (प्रतियोगी) ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि अज्ञान ज्ञानाभाव से विलक्षण है, क्योंकि ज्ञानाभाव का ज्ञान प्रतियोगिज्ञान सापेक्ष होता है जबकि पूर्वपक्षी ने स्वयं ही सिद्ध कर दिया कि अज्ञान का ज्ञान प्रतियोगिता निरपेक्ष होता है। अत: अज्ञान में अभाव स्वभाव के विरोधी स्वभाव का प्रतिपादन कर पूर्वपक्षी अपसिद्धान्त रूप निग्रह स्थान से निग्रहीत हो गया। वस्तुत: सिद्धान्ती के कथन का भाव यह है कि ''घटं न जानामि'' इस प्रत्यक्ष के

जानामि'इति विषयावच्छिन्नाज्ञानस्य वर्तमानार्थप्रत्ययो विरुद्ध्येत। तस्मात् विषयाज्ञानसाधकत्वात् साक्षिरूपविषयप्रकाशोऽपि नाज्ञानविरोधी, किन्तु प्रमाणवृत्ति:। एकविषयत्वेऽपि प्रमाणवृत्तितदतिरिक्त—वृत्त्योरज्ञानविरोधित्वाविरोधित्वे घटविषयकयो: सौरालोकज्ञानयो: सौरचाक्षुषप्रकाशयोर्वा तमोविरोधित्वाविरोधित्ववदुपपद्येते।१४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रति घटज्ञान को कारण सिद्धान्तमत में नहीं माना जाता है, क्योंकि अज्ञान को अभावरूप नहीं माना जाता है। यदि अज्ञान अभावरूप होता तो प्रतियोगिज्ञान (घटज्ञान) की अपेक्षा होती किन्तु अज्ञान सिद्धान्तमत में भावरूप माना जाता है। अत: प्रतियोगिविधया घटज्ञान की अपेक्षा घटाज्ञान के ज्ञान को नहीं होती है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि विशिष्ट ज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान कारण होता है। अत: घटविशिष्ट अज्ञान के ज्ञान के प्रति विशेषणीभूत घट का ज्ञान कारण होने से घटज्ञान की अपेक्षा होगी। किन्तु ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती के द्वारा पीछे विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषण ज्ञानकारण होता है—इसका खण्डन किया जा चुका है। अत: अज्ञान के ज्ञान के प्रति घट का ज्ञान कारण नहीं बन सकता है। किन्तु घटादि का ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान में दोष रहने के कारण उस ज्ञान में प्रमात्व का ग्रहण नहीं होता है। अत: उस ज्ञान के विषय में ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस प्रकार से साक्षिप्रत्यक्ष होता है। साक्षिप्रत्यक्ष प्रमा न मानने के कारण घट का ज्ञान और घट का अज्ञान साथ—साथ रह सकता है। अर्थात् घट के साक्षिज्ञान से घट का अज्ञान निवृत्त नहीं होगा, किन्तु पूर्वपक्षी के मत में ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस प्रत्यक्ष का विषय ज्ञानाभाव होने के कारण उस ज्ञान को प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा माननी पड़ेगी। यदि पूर्वपक्षी अभाव प्रत्यक्ष में प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा नहीं मानता है, तब तो अभाव प्रत्यक्ष में ''न'' यह आकार नहीं होगा। अत: अभाव ज्ञान में प्रतियोगिज्ञान की अपेक्षा होने से प्रकृत में प्रतियोगिज्ञान के साथ प्रतियोगिज्ञान के अभाव का विरोध होने से ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस प्रत्यक्ष का विषय ज्ञानाभाव नहीं हो सकता है किन्तु भावरूप अज्ञान ही उक्त प्रत्यक्ष का विषय है—यह पीछे कहा जा चुका है। अत: पूर्वपक्षी का कथन पूर्वपक्षी के मत की ही हानि करता है।] दूसरी बात यह है कि यदि अज्ञान अपनी वर्तमान अवस्था में स्वविषयावच्छिन्न होकर भासित नहीं होगा तब तो ''त्वदुक्तमर्थं न जानामि'' इस प्रकार विषयविशिष्ट अज्ञाननिष्ठवर्तमानार्थक (''न जानामि'' इस प्रकार) प्रत्यय विरुद्ध हो जायेगा। अर्थात् वर्तमान है अर्थ (विषय) जिस प्रत्यय का =लट् लकार—जानामि। वह प्रत्यय यह सूचित करता है कि विषयावच्छिन्न अज्ञान का ज्ञान अज्ञानकाल में ही रहता है। इसलिए विषयविशिष्ट अज्ञान का साधक होने के कारण साक्षिरूपविषयप्रकाश (अज्ञान के अवच्छेदक विषय का ज्ञान) अज्ञान का विरोधी नहीं होता है। अपितु अन्त:करण की प्रमात्मिका वृत्तिरूप ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी होता है। जैसे घटविषयक सूर्य का आलोक अन्धकार का विरोधी होता है जबकि उसी घटविषयकज्ञान अन्धकार का विरोधी नहीं होता है। अर्थात् आलोक और ज्ञान का विषय एक होने पर भी एक अन्धकार का विरोधी है और एक अन्धकार का विरोधी नहीं है। इसी प्रकार घटविषयक सूर्य का प्रकाश अन्धकार विरोधी है। जबकि घटविषयक चाक्षुषप्रकाश अन्धकार का विरोधी नहीं है। ठीक इसी प्रकार एक विषयकत्व होने पर भी प्रमाणवृत्ति और उससे अतिरिक्तवृत्ति (अविद्यावृत्ति) दोनों में अज्ञानविरोधित्व और अविरोधित्व होता है। अर्थात् घटविषयक वृत्तिरूप ज्ञान और घटविषयक साक्षिरूपज्ञान का एक ही घट विषय होने पर भी घटविषयकवृत्तिरूपज्ञान घट के अज्ञान का विरोधी होता है, जबकि घटविषयक साक्षिरूप ज्ञान घट के अज्ञान का विरोधी नहीं होता है।।१४।।

न च वृत्तिश्चैतन्यस्य विषयोपरागार्थेति मते अस्या अज्ञाननिवर्तकत्वाभावादिदमयुक्तमिति वाच्यम्, अज्ञाननिवर्तकत्वेन निवृत्तिप्रयोजकत्वस्यैव उक्तत्वात्। तच्च सम्बन्धसम्पादनद्वाराऽस्मिन्पक्षेऽपि अस्त्येव। न च– अज्ञानस्य स्वविरोधिज्ञानाभावव्यापकत्वेन मोक्षेऽप्यज्ञानापात इति–वाच्यम्; मोक्षदशायामज्ञाननिवृत्तिश्रवणेन स्वविरोधिज्ञानप्रागभावमात्रव्यापकत्वात्। न च कथं प्रमाणवृत्ति–मात्रविरोधित्वे अज्ञानस्य ज्ञानमात्रविरोधित्वेनैव न जानामीत्याकारेण प्रत्ययः? इति वाच्यम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– प्रतिकर्मव्यवस्था प्रकरण में प्रमावृत्ति का तीन फल कहा गया है–आवरण भङ्ग करने के लिए, चैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध के लिए और जीवचैतन्य तथा ब्रह्मचैतन्य के अभेद की अभिव्यक्ति के लिए। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस मत में प्रमावृत्ति चैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध के लिए मानी जाती है, उस मत में प्रमावृत्ति अज्ञान का निवर्तक नहीं मानी जाती है। अतः ''सभी प्रमावृत्ति अज्ञान विरोधिनी होती है।'' ऐसा सिद्धान्ती का कथन अयुक्त है।

समाधान–उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त पक्ष से जो कहा गया है कि प्रमावृत्ति अज्ञाननिवर्तिका होती है। उसका अर्थ ''वृत्तिश्चैतन्यस्य विषयोपरागार्था'' इस पक्ष में इस प्रकार से होगा–वृत्ति अज्ञाननिवृत्ति प्रयोजिका। अर्थात् वृत्ति के द्वारा साक्षात् अज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी चैतन्य और विषय के सम्बन्ध के सम्पादन के माध्यम से अज्ञान की निवृत्ति होगी, क्योंकि चैतन्य का विषय के साथ सामान्य सम्बन्ध होने पर भी जो विशेष सम्बन्ध नही है, उसका कारण अज्ञानावारण है। जब वृत्ति के द्वारा अज्ञानावारण की निवृत्ति हो जाती है, तब चैतन्य का विषय के साथ विशेष सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार इस मत में भी वृत्ति से अज्ञान की निवृत्ति होती ही है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार प्रमावृत्ति ही अज्ञान की निवर्तिका है। अतः जब प्रमावृत्ति नहीं रहेगी तब अज्ञान रहेगा। अर्थात् ''यदा प्रमावृत्तेरभावस्तदा अज्ञानम्''। इस प्रकार अज्ञान में स्वविरोधी प्रमावृत्ति के अभाव की व्यापकता सिद्ध हो जाने से मोक्ष में जब व्याप्य (प्रमावृत्ति का अभाव) है, तब उसके व्यापक अज्ञान को भी अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि व्याप्य के रहने पर व्यापक अवश्य रहता है।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी के उक्त व्याप्ति के अनुसार अनुमान का आकार होगा–मुक्तात्मा अज्ञानवान्, प्रमावृत्त्यभाववत्त्वात्, यथा बद्धात्मा। इस अनुमान का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान में बाधदोष है, क्योंकि ''भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'' (श्वे.उ. १/१०) इस श्रुति के द्वारा मोक्ष दशा में अज्ञाननिवृत्ति का प्रतिपादन किया गया है। पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान में ''ज्ञानप्रागभाववत्त्व'' उपाधि भी है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य और उपाधि दोनों हैं किन्तु पक्ष में हेतु के रहने पर भी उपाधि नहीं है, क्योंकि वस्तु के ध्वंसाधिकरण में वस्तु का प्रागभाव नैयायिक भी नहीं मानते हैं। अतः मुक्तात्मा में जब चरमवृत्तिरूप ज्ञान का ध्वंस है तब उसमें वृत्तिरूप ज्ञान का प्रागभाव नहीं रहेगा। अतः उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान होगा–मुक्तात्मा अज्ञानाभाववान्, ज्ञानप्रागभावाभाववत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा बद्धात्मा। अर्थात् ज्ञानप्रागभाव का व्यापक अज्ञान होगा। इसी को स्पष्ट करते हुए मूल में कहा गया कि अज्ञान स्वविरोधिज्ञानप्रागभाव मात्र का व्यापक है। ऐसी व्याप्ति के अनुसार मोक्ष में ज्ञानप्रागभाव भी नहीं है और अज्ञान भी नहीं है। अतः कोई दोष नहीं होगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि अज्ञान को प्रमावृत्तिमात्र का विरोधी माना जाता है, तब तो ''न प्रमिणोमि'' ऐसा ही अज्ञान के प्रत्यय का आकार होना चाहिए। जबकि ''न जानामि'' ऐसा

घटादिमात्रविरोधिनो घटाभावादेः भावसामान्यविरोधित्वेनाभावत्वेन प्रतीतिवत् ज्ञानविशेषविरोधि-नोऽप्यज्ञानस्य ज्ञानसामान्यविरोधित्वेन प्रतीतिसम्भवात्। न ह्यभावपदादिनाभावप्रतीतौ घटाभावो न भासते।।१५।।

अथ सा विरोधिता तत्र विशेषमात्रपर्यवसन्ना, समं प्रकृतेऽपि, अन्यत्राभिनिवेशात्। न च 'न जानामि'इति ज्ञप्तिविरोधित्वस्यैवानुभवात् कथं वृत्तिविरोधित्वम्? त्वन्मते चैतन्यस्यैव ज्ञप्तित्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही अज्ञान के प्रत्यय का आकार होता है। ''न जानामि'' इसके द्वारा यह अर्थ बोधित होता है कि अज्ञान सभी प्रकार के ज्ञान का विरोधी है न कि प्रमाज्ञानमात्र का विरोधी है, क्योंकि ''जानामि'' इस प्रतीति में जिस ज्ञान सामान्य का भान होता है, उसी का विरोधी अज्ञान पदार्थ ''न जानामि'' इस प्रतीति का विषय माना जाता है। अतः अज्ञान प्रमावृत्तिमात्र का विरोधी है—ऐसा सिद्धान्ती का कथन असङ्गत है।

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार घटादि मात्र का विरोधी घटाभावादि है। उन घटाभावादि की भावसामान्यविरोधितावच्छेदक अभावत्व है। तादृश अभावत्वेन घटाभावादि की प्रतीति होती है। [अर्थात् यद्यपि घटाभाव जो कि घट (एक भावविशेष) मात्र का विरोधी है न कि घट पट इत्यादि भावसामान्य का विरोधी है। तथापि भावसामान्य का विरोधी जो अभाव पदार्थ है, उससे भी घटाभाव (जो कि भावविशेष का विरोधी है) की प्रतीति होती है। जैसे किसी से पूछा गया कि ''घटोऽस्ति न वा?'' इसके उत्तर में वक्ता ने कहा ''नास्ति''। यहां ''नास्ति'' का अर्थ केवल अभाव है जो कि भावसामान्य का विरोधी है किन्तु श्रोता ''नास्ति'' सुनकर ''घटो नास्ति'' अर्थात् घटाभाव को अवगत कर लेता है। इस प्रकार अभाव शब्द के द्वारा भी घटाभाव की प्रतीति हो जाती है। अर्थात् भावसामान्यविरोधी (अभाव) पद के द्वारा भावविशेष विरोधी (घटाभाव) की प्रतीति होती है।] ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी ज्ञानविशेष (प्रमाज्ञान) का विरोधी जो अज्ञान है। उसकी भी ज्ञानसामान्य विरोधित्वेन ''न जानामि'' इस रूप से प्रतीति होना सम्भव है। अभावपदादि अर्थात् नास्ति— इत्यादि पद से अभाव की प्रतीति होने पर घटाभाव की प्रतीति नहीं होती है—ऐसी बात नहीं, क्योंकि ''नास्ति'' से जो अभावसामान्य की प्रतीति होती है, उसमें अभावविशेष (घटाभाव) भी आ ही जाता है।।१५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जहां अभावपद भावमात्र विरोधी का प्रतिपादक होने पर भी भावविशेषघटमात्र विरोधी का प्रतिपादक होता है। वहां इसका कारण यह है कि सामान्यतः विरोधिता विशेषविरोधिता में पर्यवसायी मानी जाती है। जैसे ''न हिंस्यात् सर्वाभूतानि'' इस प्रकार के सामान्य हिंसा निषेध का पर्यवसान यागीय हिंसा के इतर विशेष हिंसा निषेध में माना जाता है। इसलिए भावसामान्य विरोधी अभाव पद के द्वारा भी भावविशेष विरोधी घटाभाव की प्रतीति होती है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रकृत में भी सामान्यतः विरोधिता विशेषविरोधिता में पर्यवसायी है—ऐसा मानकर ''न जानामि'' इस प्रकार से ज्ञान सामान्य विरोधित्व प्रतिपादन का पर्यवसान ''न प्रमिणोमि'' इस प्रकार से प्रमावृत्तिरूप ज्ञानविशेषविरोधित्व में हो जायेगा। जैसे हरिभक्त बलि अथवा शिवभक्त बाण में प्रयुक्त असुर पद सामान्यतः सुरविरोधी का प्रतिपादक होने पर भी सुरविशेष विरोधी अर्थ के प्रतिपादन में पर्यवसित माना जाता है। दृष्टान्त स्थल पर ही सामान्यविरोधिता विशेषविरोधिता में पर्यवसायी होगी, दार्ष्टान्त स्थल पर नहीं—इस प्रकार का अभिनिवेश (दुराग्रह) करना सर्वथा ही अनुचित है।

चैतन्याज्ञानयोरविरोधे ज्ञानत्वाज्ञानत्वायोगादिति वाच्यम्, मन्मते वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यं जानामीति व्यवहारविषयः। तथा च न जानामीत्यनेन वृत्तिचितोरुभयोरप्यज्ञानविरोधित्वं विषयीक्रियते। एवं च न चैतन्येऽज्ञानविरोधित्वम्, नापि वृत्तौ, वृत्त्युपारूढचित एवार्थप्रकाश(क)त्वेन तथात्वात्।।१६।।

ननु—वृत्तेरप्यर्थप्रकाश(क)त्वं विना जातिविशेषेणैवाज्ञानतत्कार्यनिवर्तकत्वे इच्छादिनिवर्त्यद्वेषादिवत् सत्त्वापत्त्या शुक्त्यादिज्ञानवदर्थप्रकाश(क)त्वेन तन्निवर्तकत्वे वक्तव्ये चैतन्यस्यापि तत्सत्त्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पीछे खण्ड संख्या १४ में सिद्धान्ती ने कहा था कि "तस्मात् विषयाज्ञानसाधकत्वात् साक्षिरूपविषयप्रकाशोऽपि नाज्ञानविरोधी, किन्तु प्रमाणवृत्तिः।" इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्तमत में चैतन्य को ही मुख्य ज्ञान माना जाता है। "न जानामि" इस अनुभव में ज्ञा धातु का मुख्य ज्ञान रूप जो अर्थ है। उस मुख्य ज्ञान विरोधित्वेन ही अज्ञान भासमान होता है। अतः प्रमावृत्तिरूप गौणज्ञानविरोधित्वेन अज्ञान उक्त अनुभव में भासमान होता है—ऐसा नहीं माना जा सकता है। अज्ञान के विरोधी में ज्ञानत्व और ज्ञान के विरोधी में अज्ञानत्व माना जाता है। चैतन्यरूप मुख्य ज्ञान अज्ञान का विरोधी न होने से चैतन्यरूप मुख्यज्ञान में ज्ञानत्व नहीं माना जा सकता है और अज्ञान चैतन्यरूपमुख्यज्ञान का विरोधी न होने से अज्ञान में अज्ञानत्व नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तमत में "जानामि" इत्याकारक व्यवहार का विषय वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य माना जाता है। अतः "न जानामि" इस अनुभव के द्वारा वृत्ति और चैतन्य दोनों में ही अज्ञानविरोधिता गृहीत होती है। दोनों में मिलकर अज्ञान का विरोधित्व होने के कारण ही केवल चैतन्य अथवा केवल वृत्ति में अज्ञानविरोधित्व नहीं माना जाता है, अपितु वृत्ति में आरूढ़ चैतन्य ही विषयप्रकाशक होने के कारण विषयावरक अज्ञान का विरोधी माना जाता है। अतः वृत्ति में आरूढ़ चैतन्यरूप ज्ञान में ज्ञानत्व माना जा सकता है और वृत्ति में आरूढ़ चैतन्यरूप ज्ञान का विरोधी अज्ञान होने के कारण अज्ञान में अज्ञानत्व भी माना जा सकता है।।१६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अज्ञान और अज्ञान के कार्य का निवर्तक वृत्ति को यदि सिद्धान्ती मानते हैं तब वृत्तिनिष्ठ निवर्तकतावच्छेदक क्या वृत्तित्व को लेंगे? अथवा विषयप्रकाशत्व को? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर यह दोष होगा कि जब इच्छारूप वृत्ति से द्वेष और द्वेष का कार्य निवर्त्य होता है तब इच्छारूप वृत्ति में भी निवर्तकतावच्छेदक वृत्तित्व रहता है किन्तु ईच्छारूपवृत्ति से निवर्त्य द्वेष और द्वेष का कार्य सत्य माना जाता है न कि मिथ्या। ठीक इसी प्रकार वृत्ति के द्वारा निवर्त्य अज्ञान और अज्ञान का कार्य भी सत्य होना चाहिए, क्योंकि यहां पर भी निवर्तकतावच्छेदक वृत्तित्व ही है। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार करते हैं तब इच्छारूपवृत्ति का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि इच्छारूपवृत्ति में अर्थ प्रकाशकत्व नहीं माना जाता है और प्रमाज्ञानरूप वृत्ति में अर्थ प्रकाशकत्व माना जाता है। इसी विशेषता के आधार पर प्रमाज्ञानरूपवृत्ति के द्वारा अज्ञान और अज्ञान के कार्य की निवृत्ति मानी जाती है और प्रमाज्ञानरूपवृत्ति के द्वारा निवर्तनीय अज्ञान और अज्ञान के कार्य में सत्यत्व नहीं माना जाता है। जैसे शुक्तिज्ञान के द्वारा निवर्तनीय शुक्ति का अज्ञान और शुक्त्यज्ञान का कार्य रजतादि में सत्यत्व नहीं माना जाता है। अपितु शुक्त्यज्ञानादि में मिथ्यात्व ही माना जाता है। ऐसा होने पर "यत्र यत्र अर्थप्रकाशकत्वं तत्र तत्र अज्ञाननिवर्तकत्वम्— यह व्याप्ति पर्यवसित होती है किन्तु ऐसी व्याप्ति को स्वीकार करने पर यह दोष होगा कि चैतन्य में भी अर्थप्रकाशकत्व सिद्धान्ती मानते हैं। अतः चैतन्य में अज्ञाननिवर्तकत्व भी मानना पड़ेगा। (जबकि सिद्धान्ती चैतन्य को अज्ञान का साधक मानते हैं न कि निवर्तक।) दूसरी बात यह भी है कि "स्फुरणसत्त्वे अज्ञाननिवर्तकत्वसत्त्वम्।

तन्निवर्तकत्वावश्यम्भावेन तन्निवृत्त्यापातः, नित्यातीन्द्रिये परोक्षवृत्तौ सत्यामप्यज्ञानानिवृत्त्या सुखादावापरोक्षवृत्त्यभावेऽपि स्फुरणमात्रेणाज्ञानादर्शनेन चान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञान–विरोधित्वाद्–इति चेत्।१७॥

न, प्रमाणवृत्त्युपारूढप्रकाशत्वेन निवर्तकत्वं ब्रूमः, न तु जाति विशेषेण, प्रकाशत्वमात्रेण वा। अतो नेच्छादिनिवर्त्यद्वेषादिवदेतन्निवर्त्यानां सत्त्वापत्तिः, न वा चैतन्यमात्रस्य निवर्तकत्वापत्तिः। अत एव शाब्दादिवृत्तौ सत्यामपि अज्ञानानिवृत्त्या सुखादौ प्रमाणवृत्त्यभावे स्फुरणमात्रेणा–ज्ञानादर्शनेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुरणस्यैवाज्ञानादौ विरोधित्वमिति निरस्तम्, परोक्षवृत्तेर्विषय–

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्फुरणाभावसत्त्वे अज्ञाननिवर्तकत्वाभावसत्त्वम्'' इस अन्वयव्यतिरेक के द्वारा स्फुरणमात्र में ही अज्ञाननिवर्तकता सिद्ध होती है। व्यतिरेक को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि नित्यातीन्द्रिय में स्फुरणाभाव है, क्योंकि परोक्षवृत्ति के द्वारा विषय का अपरोक्ष नहीं होता है। (यहां स्फुरण शब्द से असत्त्वापादक तथा अभानापादक दोनों प्रकार के अज्ञान की निवृत्ति द्वारा विषय का पूर्णतया प्रकाश कहा जा रहा है।) अतः परोक्षवृत्ति होने पर भी पूर्णतया अज्ञान की निवृत्ति का अभाव है। इस प्रकार व्यतिरेक दृष्टान्त सिद्ध हो गया। अन्वय के लिए दृष्टान्त–सुखादि में अपरोक्षवृत्ति नहीं मानते हैं, क्योंकि साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा सुख का स्फुरण मानते हैं। अतः स्फुरण रहने पर सुखादि का अज्ञान नहीं रहता है। इस प्रकार अन्वय दृष्टान्त सिद्ध हो गया। अतः अज्ञान की निवृत्ति का कारण होने से स्फुरण ही अज्ञान का विरोधी सिद्ध होता है न कि प्रमावृत्ति रूप ज्ञान।१७॥

समाधान– [पूर्वपक्षी का उक्त कथन असङ्गत है, क्योंकि पीछे जो कहा गया था कि प्रमावृत्ति के द्वारा अज्ञान और अज्ञान के कार्य की निवृत्ति होती है। वहां प्रमावृत्ति का अर्थ है–प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य। अर्थात् केवल वृत्ति अथवा केवल चैतन्य में प्रमात्व नहीं माना जाता है अपितु प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य में प्रमात्व माना जाता है। इसलिए प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य रूप प्रमाज्ञान से निवर्त्य अज्ञान और अज्ञान के कार्य को मिथ्या माना जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य को ही अज्ञान और अज्ञान के कार्य की निवृत्ति का प्रयोजक माना जाता है। वृत्तित्वेन वृत्ति अथवा विषयप्रकाशत्वेन वृत्ति को अज्ञान और अज्ञान के कार्य का निवर्तक नहीं माना जाता है। इसलिए इच्छादि से निवर्त्य द्वेषादि के जैसे प्रमाणजन्यान्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य से निवर्त्य अज्ञानादि में सत्यत्व की आपत्ति नहीं होगी और चैतन्यमात्र में अज्ञानादि के निवर्तकत्व की आपत्ति नहीं होगी। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि नित्यातीन्द्रिय धर्माधर्मादि विषयक शब्दादि जन्य परोक्षवृत्तियों के होने पर भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है और सुखादि में प्रमावृत्ति का अभाव होने पर भी सुखादि के साक्षिरूप स्फुरणमात्र में सुखादि विषयक अज्ञान की निवर्तकता देखी जाती है। अतः इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर स्फुरण (चैतन्य) में ही अज्ञानविरोधित्व सिद्ध होता है–ऐसा पूर्वपक्षी का कथन इसलिए निरस्त हो जाता है क्योंकि उक्त अन्वयव्यतिरेक अन्यथासिद्ध है। जैसे परोक्षवृत्ति अन्तःकरण के अन्दर बनती है, विषय देश तक जाकर विषयाकार बनती नहीं है। अतः विषयदेश में रहने वाले अभानापादक अज्ञान की निवृत्ति परोक्षवृत्ति के द्वारा होना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार व्यतिरेकदृष्टान्त अन्यथासिद्ध हो गया। आगे अन्वयदृष्टान्त में अन्यथासिद्धि दिखाते हुए कह रहे हैं कि सुखादि का अज्ञान होता ही नहीं है, क्योंकि सुखादि ज्ञातैकसत्त्ववाला होता है। अतः सुखादि के अज्ञान की निवृत्ति विना ही सुखादि के अज्ञान का अभाव होता है। अतः सुखादि के साक्षिज्ञान

पर्यन्तत्वाभावेन न विषयगताज्ञाननिवर्तकत्वम्, सुखादौ च ज्ञातैकसत्त्वादज्ञाननिवृत्तिं विनैवाज्ञानादर्शनम्। अतोऽन्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्ध्या स्फुरणमात्रं नाज्ञानविरोधि। न चात्मनोऽज्ञानाश्रयविषयत्वे स्वसत्तायामप्रकाशविधुरत्वेन स्वप्रकाशत्वसाधनायोगः, परिपूर्णत्वादिना अप्रकाशविधुरत्वा-भावेऽप्यध्यासाधिष्ठानत्वादिना प्रकाशमानतयाऽप्रकाशविधुरत्वसम्भवात्।।१८।।

न च वृत्तिचितोर्वैषम्योक्तिरयुक्ता, वृत्तिवत्साक्षिणोऽपि समानविषयतया अज्ञानविरोधित्वानुभवाद्, अन्यथा साक्षिवेद्ये चैत्रेच्छासुखादौ मैत्रस्येव चैत्रस्याप्यज्ञानं स्यात्, नो चेन्मैत्रस्याप्यज्ञानं न स्यादिति वाच्यम्, साक्षिणी यदज्ञानविरोधित्वमनुभूयते तन्नाज्ञाननिवर्तकनिबन्धनम्, किन्तु स्वविषय इच्छादौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

के द्वारा सुखादि के अज्ञान की निवृत्ति होती है। ऐसा कथन पूर्वपक्षी की मन्दबुद्धि को ही दर्शाता है। इसलिए पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अन्वयव्यतिरेक के अन्यथासिद्ध हो जाने के कारण स्फुरणमात्र में अज्ञानविरोधित्व सिद्ध नहीं होता है।

शङ्का— आत्मा को यदि अज्ञान का आश्रय और विषय मानेंगे तब तो जब तक अज्ञान रहेगा, तब तक आत्मा अप्रकाशमान रहेगा। ऐसा होने पर आत्मा स्वयम्प्रकाश सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि आत्मा में स्वयम्प्रकाशत्व की सिद्धि के लिए सिद्धान्ती के द्वारा हेतु दिया जाता है कि जब तक आत्मा की सत्ता बनी रहती है तब तक आत्मा प्रकाश के अभाव वाला नहीं होता है। किन्तु यह हेतु पक्ष में नहीं रहेगा, क्योंकि अज्ञान का आश्रय और विषय होने के कारण अज्ञान काल में आत्मा प्रकाशमान नहीं रहेगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा अज्ञान का आश्रय और विषय होने के कारण आत्मा का परिपूर्णत्वादि रूप से प्रकाश न होने पर भी अर्थात् परिपूर्णत्वादि रूप से अप्रकाश होने पर भी अहङ्काराद्यध्यासाधिष्ठानत्वादि रूप से आत्मा का प्रकाश अज्ञान काल में भी रहता है, क्योंकि भ्रमकाल (अज्ञानकाल) में भी अधिष्ठान का प्रकाश रहता ही है। अतः आत्मा में अप्रकाशविधुरत्व सर्वदा होने से पक्ष में अप्रकाशविधुरत्वरूप हेतु के रहने से आत्मा में स्वयम्प्रकाशत्व की सिद्धि हो जायेगी।।१८।।

शङ्का — पीछे इसी प्रकरण के खण्ड संख्या १४ में सिद्धान्ती ने कहा था कि घटविषयक सूर्य का आलोक अन्धकार का विरोधी होता है जबकि उसी घट विषयक ज्ञान अन्धकार का विरोधी नहीं होता है, ठीक इसी प्रकार घटविषयक प्रमावृत्तिरूपज्ञान घट के अज्ञान का विरोधी होता है और उसी घटविषयक साक्षिरूपज्ञान घट के अज्ञान का विरोधी नहीं होता है—इस प्रकार से प्रमावृत्तिरूपज्ञान और साक्षिचैतन्यरूपज्ञान में जो वैषम्य कहा गया था, वह उचित नहीं है, क्योंकि प्रमावृत्ति के जैसे साक्षिचैतन्य का भी समानविषयत्वेन अज्ञान विरोधित्व का अनुभव होता है। [अर्थात् जैसे घटाकार प्रमावृत्ति के द्वारा घट के अज्ञान का नाश होता है, क्योंकि घटाकारवृत्ति और घट के अज्ञान का विषय समानरूप से एक ही घट है। ठीक इसी प्रकार सुख के साक्षिज्ञान के द्वारा सुख के अज्ञान की निवृत्ति होती है, क्योंकि सुख के साक्षिज्ञान और सुख के अज्ञान का विषय समानरूप से एक ही सुख है।] अन्यथा=साक्षिचैतन्य को स्वविषय में अज्ञान का विरोधित्व न मानने पर, साक्षिवेद्य चैत्रेच्छासुखादि का जैसे मैत्र को अज्ञान रहता है, ठीक वैसे ही चैत्र को भी अज्ञान रहना चाहिए। साक्षिवेद्य सुखादि ज्ञातैकसत्त्ववाला होने से यदि सुखादि का अज्ञान नहीं माना जाता है तब तो जैसे चैत्रगत सुखादि का चैत्र को अज्ञान नहीं रहता है, ठीक उसी प्रकार चैत्रगत सुखादि का मैत्र को भी अज्ञान नहीं रहना चाहिए।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि साक्षी में जो अज्ञानविरोधित्व का अनुभव होता

यावत्सत्त्वं प्रकाशादज्ञानाप्रसक्तिनिबन्धनम्। वृत्तेश्च स्वविषये प्रसक्ताज्ञाननिवृत्तिनिबन्धनमेवेत्युभयो–वैषम्योक्तिर्युक्तैव। अज्ञानाप्रसक्तेरेव चैत्रेच्छादौ चैत्रस्य नाज्ञानव्यवहारः, मैत्रस्य तु प्रमात्रज्ञानादेव तद्व्यवहारः। न च तर्ह्यात्मन्यपि तत एव तदप्रसक्तिरिति वाच्यम्, दत्तोत्तरत्वात्। किञ्च साक्षिवेद्यत्वं तदप्रसक्तौ तन्त्रम्, आत्मा तु न तद्वेद्यः, चिद्रूपत्वाद् (स्व)प्रकाश एवेति।।१९।।

न च तर्हि सुतरामज्ञानानुपपत्तिः तेजसीव तमसः, अन्यथा घटादिरालोकमिवात्मापि स्वव्यवहारे ज्ञानान्तरमपेक्षेतेति वाच्यम्, अज्ञानावृतत्वाद् घटवदज्ञाननिवर्तकान्तरापेक्षा चेत्तर्हीष्टापत्तिः, वृत्तेरेवापेक्षणात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, वह अज्ञाननिवर्तकत्व निमित्तक नहीं है। [अर्थात् साक्षी अज्ञान का निवर्तक है। इसलिए साक्षी में अज्ञानविरोधित्व का भान होता है—ऐसी बात नहीं है।] किन्तु साक्षिभास्य जो इच्छासुखादि है। उनका जब तक सत्त्व रहता है तब तक उनका प्रकाश रहने के कारण उनका अज्ञान रहता ही नहीं है। इस कारण से साक्षी में अज्ञान विरोधित्व का अनुभव होता है। जबकि प्रमावृत्ति निष्ठ जो अज्ञानविरोधित्व है। वह तो स्वविषय में प्रसक्त अज्ञान निवृत्तिनिमित्तक अज्ञानविरोधित्व का अनुभव होने के कारण है। अतः साक्षिचैतन्य और प्रमावृत्ति के वैषम्य की उक्ति युक्त ही है। सुखादि ज्ञातैकसत्त्व वाले होने के कारण चैत्र के स्वगत सुखादि में अज्ञान की प्रसक्ति ही न होने के कारण चैत्र के इच्छा—सुखादि में चैत्र का अज्ञानव्यवहार नहीं होता है और मैत्र को प्रमातृगत (स्वगत) चैत्रीयसुखादिविषयक असत्त्वापादक अज्ञान के रहने के कारण चैत्रीय इच्छा—सुखादि विषयक अज्ञान का व्यवहार होता है।

शङ्का— साक्षिवेद्य सुखादि का जब तक सत्त्व रहता है तब तक उसका प्रकाश होने से यदि साक्षिवेद्य सुखादिविषयक अज्ञान नहीं माना जाता है तब तो आत्मा का भी सदा प्रकाश होने से आत्मा विषयक अज्ञान नहीं होना चाहिए और आत्माविषयक अज्ञान की निवृत्ति के लिए श्रवणादि का विधान भी नहीं होना चाहिए।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इसका निवारण पहले किया जा चुका है कि अहङ्काराद्यध्यासाधिष्ठानत्वेन सर्वदा प्रकाशमान होने पर भी आत्मा का परिपूर्णत्वादि रूप से अज्ञान रहता है। अतः उसकी निवृत्ति के लिए श्रवणादि का विधान सार्थक है। दूसरी बात यह भी है कि ''यद्—यत् साक्षिवेद्यं तज्ज्ञातैकसत् यथा सुखादिकम्।'' इस प्रकार सुखादि में अज्ञान की अप्रसक्ति का प्रयोजक साक्षिवेद्यत्व कहा गया है। किन्तु ऐसा प्रयोजक मानने में आत्मा में अज्ञान की प्रसक्ति नहीं होगी, क्योंकि आत्मा साक्षिरूप (चिद्रूप) होने के कारण उसमें साक्षिवेद्यत्व नहीं है। अतः आत्मा चिद्रूपत्वेन स्वयम्प्रकाश होने पर भी आत्मा का परिपूर्णत्वादि रूप से अज्ञानावृत होना उचित ही है।।१९।।

शङ्का— आत्मा चिद्रूपत्वेन प्रकाशस्वरूप होने पर सुतराम् आत्मा में अज्ञान की अनुपपत्ति होगी। जैसे प्रकाशस्वरूप तेज में अन्धकार की अनुपत्ति होती है। अन्यथा=चिद्रूपत्वेन प्रकाशस्वरूप आत्मा और अज्ञान में विरोध न मानने पर, घटादि अज्ञान के अविरोधी है। ऐसे अज्ञान के अविरोधी घटादि को अपने व्यवहार के लिए अपने (घटादि) से भिन्न आलोक की अपेक्षा होती है। ठीक ऐसे ही आत्मा को भी अपने व्यवहार के लिए आत्मा से अन्य ज्ञान की अपेक्षा होगी। ऐसा मानने पर आत्मा में वेद्यत्व की आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यदि पूर्वपक्षी के उक्त कथन का तात्पर्य इस अनुमान में है—आत्मा स्वाज्ञाननिवर्तकान्तरसापेक्षः, अज्ञानावृतत्त्वात्, घटवत्। अर्थात् जैसे अज्ञान से आवृत्त होने से घट अपने से भिन्न अपने अज्ञान के निवर्तक की अपेक्षा करता

प्रकाशान्तरापेक्षायां जड़त्वस्योपाधित्वात्, प्रकाशत्वेऽप्यज्ञानाविरोधित्वस्योपपादितत्वात्। अत एव सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया च साक्षिचैतन्यस्य विषयः, ज्ञानाज्ञानयोः स्वविषयावच्छिन्नयोरेव भानात्। एतेन—अन्धकारावृतवत् ज्ञानाभावावच्छेदकविषयवच्चाज्ञानावृतस्याप्यप्रकाशेन साक्षिवेद्यत्वायोग इति निरस्तम्; विषयावच्छेदेनानुभवविरोधात्॥२०॥

ननु—वृत्तेरज्ञानविरोधित्वेऽप्यात्मविषया वृत्तिरिदानीमप्यस्त्येवेति कथं तत्राज्ञानम्? किञ्च त्वन्मते

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। वैसे ही अज्ञान से आवृत्त होने से आत्मा भी अपने से भिन्न अपने अज्ञान के निवर्तक की अपेक्षा करता है— ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहना चाह रहा है तब तो उसमें हमारी इष्टापत्ति है, क्योंकि आत्मा भी अपने अज्ञान की निवृत्ति के लिए अपने से भिन्न वृत्तिरूप निवर्तक की अपेक्षा करता है। यदि पूर्वपक्षी के उक्त कथन के तात्पर्य के अनुसार यह अनुमान माना जाय— आत्मा स्वान्यप्रकाशसापेक्षः, अज्ञानावृतत्त्वात्, घटवत्। अर्थात् जैसे अज्ञान से आवृत्त होने से घट अपने से भिन्न अपने अज्ञान के निवर्तक के रूप से प्रकाश की अपेक्षा करता है। वैसे ही अज्ञान से आवृत्त होने से आत्मा अपने से भिन्न अपने अज्ञान के निवर्तक के रूप से प्रकाश की अपेक्षा करता है—ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहता है तो वह ठीक नहीं है, क्योंकि इस अनुमान में जड़त्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य और उपाधि के होने से उपाधि में साध्यव्यापकत्व है और पक्ष में हेतु के रहने और उपाधि के न रहने से साधनाव्यापकत्व है। [यहां जड़त्व का अर्थ आत्मभिन्नत्व नहीं करना चाहिए। अन्यथा यह उपाधि पक्षेतरत्व के तुल्य हो जायेगी। अपितु जड़त्व का अर्थ मिथ्यात्व अथवा परिच्छिन्नत्व करना चाहिए। ऐसा अर्थ करने पर यह उपाधि पक्षेतरत्व के तुल्य नहीं होगी।] पूर्वपक्षी ने कहा था कि तम का विरोधी तेज के होने के कारण तेज पर तम का आवरण नहीं होता है वैसे ही प्रकाशस्वरूप आत्मा पर अज्ञान का आवरण नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रकाश (ज्ञान) और अज्ञान में विरोध होता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि आत्मा प्रकाशस्वरूप होने पर भी अज्ञान का विरोधी नहीं होता है—इसका निरूपण खण्ड संख्या ९ में किया जा चुका है। अत एव= आत्मप्रकाश और अज्ञान का विरोध न होने से ही श्रीविवरणाचार्य का यह कथन उचित ही है—"सर्वं वस्तु ज्ञाततया अज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव।" अर्थात् स्वविषय से अवच्छिन्न होकर के ही ज्ञान और अज्ञान का भान होने से ही सर्व वस्तु ज्ञाततया अथवा अज्ञाततया साक्षिचैतन्य के विषय होते हैं। अर्थात् विषयसहित ज्ञान और विषय सहित अज्ञान दोनों ही साक्षिभास्य होते हैं। विषय रहित ज्ञान और विषय रहित अज्ञान साक्षिभास्य नहीं होते हैं। अतः ज्ञान के विषय का ज्ञातत्वेन और अज्ञान के विषय का अज्ञातत्त्वेन साक्षिभास्य मानना सर्वथा उचित ही है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जिस प्रकार अन्धकार से आवृत्त पदार्थ अप्रकाश होने से वेद्य नहीं होता है और "घटज्ञानं नास्ति" इस स्थल पर ज्ञानाभाव का अवच्छेदक घटरूप विषय अप्रकाश होने से वेद्य नहीं होता है, ठीक वैसे ही अज्ञानावृत पदार्थ का भी अप्रकाश होने से अज्ञानावृत्त पदार्थ साक्षिवेद्य नहीं हो सकता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन इसलिए निरस्त हो गया कि विषय रहित अज्ञान साक्षी का विषय होता है—ऐसा अनुभूत नहीं होता है। अपितु "त्वदुक्तमर्थं न जानामि" इस प्रकार से त्वदुक्तरूप विषय से अवच्छिन्न होकर ही अज्ञान साक्षिवेद्य अनुभूत होता है। अतः विषयरहित अज्ञान को साक्षिवेद्य मानने पर उक्त अनुभव से विरोध होगा। पूर्वपक्षी ने जो दृष्टान्त दिया—अन्धकारावृतवत्.........इत्यादि। उसका खण्डन पीछे खण्ड संख्या ९ में किया जा चुका है॥२०॥

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रमावृत्ति का अज्ञानविरोधित्व स्वीकार कर लेने पर भी

घटाद्यपरोक्षवृत्तेरपि घटाद्यवच्छिन्नचिद्विषयत्वेन सुतरां चित्यज्ञानासम्भवः। न च विशिष्टचैतन्यरूप–जीवविषया वा घटावच्छिन्नचैतन्यविषया वा वृत्तिरज्ञानविषयीभूतकेवलचिदविषयत्वादज्ञानविरोधिनी न स्यादिति वाच्यम्, 'दण्डी चैत्रः' इति वृत्त्या चैत्राज्ञानानभिभवापातात्। घटाकाशज्ञाने महाकाशाज्ञानस्य महत्त्वाज्ञाने पर्यवसानम्। अत एवाकाशो ज्ञात इति प्रतीतिः। न च श्रवणादिजन्यैव वृत्तिरज्ञानविरोधिनी,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

आत्मविषयक अहमाकार प्रमावृत्ति इस समय (संसार दशा में) भी विद्यमान है, क्योंकि सामान्यरूप से सभी को ''मैं हूं'' इस प्रकार की वृत्ति होती ही है। अतः संसारावस्था में भी आत्मा में अज्ञान नहीं रह सकता है। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्ती के मत में घटादि विषयक अपरोक्षवृत्ति का भी घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यविषयत्व होने से चैतन्य (आत्मा) में अज्ञान नहीं रह सकता है, क्योंकि संसारावस्था में जीव को कोई न कोई विषयक वृत्ति बनती ही रहती है, क्योंकि सिद्धान्ती जाग्रत् और स्वप्न में जैसे वृत्ति मानते हैं, वैसे ही सुषुप्ति में भी सुखाकार, अज्ञानाकारादि वृत्ति मानते हैं। अतः आत्मा में अज्ञान को रहने का अवसर ही नहीं मिलेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि विशिष्ट चैतन्यरूप जीव को विषय करने वाली अहमाकार प्रमावृत्ति अथवा घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यविषयिणीवृत्ति अज्ञान की विषयीभूत केवल चित् (शुद्धचैतन्य) को विषय न करने वाली होने के कारण अज्ञान की विरोधिनी नहीं है। अर्थात् प्रमावृत्ति और अज्ञान का विषय समान होने पर प्रमावृत्ति के द्वारा विषय के अज्ञान का नाश होता है। यहां पर उक्त प्रमावृत्ति और अज्ञान का विषय भिन्न–भिन्न है। अतः उक्त प्रमावृत्ति के द्वारा अज्ञान का नाश न होने से संसारावस्था में अज्ञान बना रहेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती का उक्त कथन ठीक नहीं है,क्योंकि ''दण्डी चैत्रः'' इस विशिष्टविषयकवृत्ति से चैत्र के अज्ञान के अनभिभव की आपत्ति होगी। [अर्थात् पूर्वपक्षी के कथन का तात्पर्य है कि विशिष्टविषयिणी वृत्ति के द्वारा भी शुद्धविषयक अज्ञान का नाश हो सकता है। जैसे पहले चैत्र को न देखने के कारण शुद्ध चैत्र का अज्ञान था। किन्तु दण्ड लिए हुए चैत्र को देखने पर उस दण्डविशिष्ट चैत्र के ज्ञान से शुद्धचैत्रविषयक अज्ञान नष्ट होते हुए देखा गया है। किन्तु सिद्धान्ती के कथनानुसार दण्ड विशिष्ट चैत्र के ज्ञान से शुद्धचैत्र के अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि सिद्धान्ती विशिष्टविषयिणी वृत्ति के द्वारा शुद्धविषयक अज्ञान की निवृत्ति नहीं मान रहे हैं। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि घटविशिष्ट आकाश का ज्ञान हो जाने के पश्चात् भी शुद्ध आकाश विषयक अज्ञान रहता है, वैसे ही विशिष्ट आत्मा का ज्ञान होने पर भी शुद्ध आत्मा विषयक अज्ञान बना रहेगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि] घटविशिष्ट आकाश के ज्ञान के द्वारा शुद्धाकाश का अज्ञान नष्ट हो जाता है किन्तु घटविशिष्ट आकाश के ज्ञान के पश्चात् भी ''महाकाशं न जानामि'' इस प्रकार से जो शुद्धाकाश के अज्ञान का अनुभव होता है। उस अज्ञान का विषय शुद्धाकाश नहीं होता है किन्तु शुद्धाकाश निष्ठ महत् परिमाण होता है। अत एव=घटविशिष्ट आकाश के ज्ञान के द्वारा शुद्धाकाश का अज्ञान नष्ट हो जाने के कारण ही, घटविशिष्ट आकाश के ज्ञान के अनन्तर ''आकाशो ज्ञातः'' इत्याकारिका प्रतीति होती है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रमामात्रवृत्ति अज्ञान की विरोधी नहीं है किन्तु वेदान्तवाक्य के श्रवणमननादि से जन्य ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक प्रमावृत्ति ही आत्मविषयक अज्ञान की विरोधिनी होती है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त जो विशिष्टचैतन्य विषयक वृत्ति और घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यविषयकवृत्ति है। वह वेदान्तवाक्य के श्रवणादि से जन्य न होने के कारण शुद्ध आत्मविषयक अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती का ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत

भ्रमकालीनापरोक्षज्ञानानधिकविषयज्ञानेन कारणान्तरजन्येनापि अज्ञाननिवृत्तावतिप्रसङ्गाद्, अनधिकविषयत्वे श्रवणादिवैयर्थ्यात्, सत्यत्वापाताच्चेति चेत्।।२१।।

न, यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति मते अज्ञानविशेषः एकाज्ञानपक्षे अवस्थाविशेषः शक्तिविशेषो वा अविद्यागतो विशिष्टगोचरवृत्त्या निवर्तत एव। प्रपञ्चनिदानभूतं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्याखण्डार्थगोचरवृत्तिनिवर्त्यमज्ञानं परमवशिष्यते, भेदभ्रमस्यानुभूयमानत्वात्। यथा अयमितिज्ञानात्तत्राज्ञाने निवृत्तेऽपि सोऽयमित्यभेदगोचरवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमवशिष्यते। तथा च

सत्यानन्दप्रबोधिका

भ्रम के अनन्तर बाधकालीन उत्पन्न इन्द्रिय जन्य शुक्तिविषयक अपरोक्षज्ञान। उस अपरोक्षज्ञान के विषय से अधिक विषय नहीं है जिसका ऐसा जो कारणान्तर से जन्यज्ञान (इन्द्रिय से भिन्न वाक्य से जन्यज्ञान) से ही रजतभ्रम के उपादानभूत अज्ञान की निवृत्ति मानने पर अति प्रसङ्ग होगा। [कहने का भाव यह है कि ''इदं रजतम्'' इस भ्रम का बाध दो प्रकार से होता है। प्रथम—पुरुष स्वयं जाकर इन्द्रिय से देख लेता है कि यह शुक्ति है। द्वितीय—आप्त पुरुष के वाक्य के श्रवणादि से जन्य शुक्ति के ज्ञान से। यदि सिद्धान्ती वाक्य के श्रवणादि से जन्य ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति मानेंगे तब तो आप्त पुरुष के वाक्य के श्रवणादि से जन्य शुक्ति के ज्ञान से ही शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति होगी। इन्द्रियादि से जन्य शुक्ति के ज्ञान से शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पायेगी—यह अतिप्रसङ्ग होगा।] दूसरी बात यह है कि संसार काल में भी ''सन् घटः'' इत्यादि स्थलों पर सन्मात्र ब्रह्मविषयिणी प्रमावृत्ति मानी जाती है और वेदान्त वाक्य के श्रवणादि से जन्यप्रमावृत्ति भी सन्मात्रब्रह्मविषयिणी मानी जाती है। यदि संसारकालीन इन्द्रियजन्य साक्षात्कार की अपेक्षा से वेदान्तवाक्य के श्रवणादि से जन्य साक्षात्कार अधिकविषयक नहीं है। अर्थात् दोनों ही साक्षात्कार सन्मात्र ब्रह्मविषयक हैं। तब आत्मसाक्षात्कारार्थ वेदान्त वाक्यों का श्रवणादि व्यर्थ है, क्योंकि वेदान्तवाक्यों के श्रवणादि से पहले ही सन्मात्रब्रह्मविषयक साक्षात्कार इन्द्रियों से ही उत्पन्न हो चुका है। यदि सिद्धान्ती अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान अथवा घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यविषयक अपरोक्ष ज्ञान से अज्ञान और अज्ञान के कार्य की निवृत्ति मानते हैं तब तो अज्ञान और अज्ञान के कार्य प्रपञ्च में सत्यत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से निवृत्त होने वाले पदार्थ को ही मिथ्या माना जाता है। जबकि सिद्धान्ती अधिष्ठान के ज्ञान से अज्ञान और अज्ञान के कार्य प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं मान रहे हैं। अपितु विशिष्ट चैतन्यादि विषयक ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति मान रहे हैं। विशिष्टचैतन्यादि मिथ्या होने से तद्विषयकज्ञान को अधिष्ठानविषयक ज्ञान नहीं माना जाता है, क्योंकि अधिष्ठान सत्य होता है। अतः अधिष्ठान के ज्ञान को सत्यविषयक माना जाता है।।२१।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जितने ज्ञान हैं, उतने अज्ञान हैं—ऐसा मानने वालों के मतानुसार उन अनेक अज्ञानों में से विशेष अज्ञान (एक अज्ञान) विशिष्ट गोचरवृत्ति (अन्तःकरण विशिष्ट आत्मविषयिणी वृत्ति अथवा घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यविषयिणीवृत्ति) से निवृत्त हो जाता है। एक अज्ञान मानने वालों के मतानुसार एक अज्ञान की जो अवस्थाविशेष अथवा शक्तिविशेष की निवृत्ति विशिष्टगोचरवृत्ति से होती ही है, किन्तु ''तत्त्वमसि'' इत्यादि महावाक्यों से जन्य अखण्डार्थ विषयकवृत्ति से निवर्त्य जो प्रपञ्च का उपादानभूत अज्ञान है। वह अज्ञान अन्तःकरणविशिष्टचैतन्यविषयिणी वृत्ति से निवृत्त होने वाले अज्ञान के पश्चात् भी विद्यमान रहता है। [अतः अन्तःकरणविशिष्टचैतन्यविषयिणी वृत्ति से निवृत्त होने वाले अज्ञान से भिन्न अज्ञान शेष रहता है। उसका नाश जिस अखण्डाकारवृत्ति से होता है। वह वृत्ति श्रवणादि से जन्य होती है।

विषयकृतविशेषाभावेऽपि कारणविशेषजन्यत्वेन विशेषेण निवर्तकत्वे श्रवणवैयर्थ्यं सत्यतापत्तिश्च निरस्ता, अन्यथा सोऽयमित्यत्राप्यगतेः। किञ्च जीवविषया वृत्तिरविद्यावृत्तिः, न तु प्रमाणवृत्तिः, तस्या एवाज्ञानविरोधित्वात्। तदुक्तं विवरणे 'जीवाकाराहंवृत्तिपरिणतान्तःकरणेन जीवोऽभिव्यज्यते' इति। अस्यार्थः जीवाकाराहन्त्वप्रकारिकाविद्यावृत्तिः, तया परिणतान्तःकरणेनान्तःकरण—

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः श्रवणादि सार्थक है। इस पर प्रश्न होता है कि अन्तःकरणविशिष्टचैतन्यविषयिणी वृत्ति के पश्चात् भी प्रपञ्च का उपादानकारणीभूत अज्ञान शेष रहता है—इसमें प्रमाण क्या है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि इसमें अनुभव ही प्रमाण है, क्योंकि उक्तविशिष्टविषयिणी वृत्ति के पश्चात् भी जीव ब्रह्म के भेद का भ्रम अनुभूत होता है। यदि मूलाज्ञान नष्ट हो जाता तब तो जीव ब्रह्म के भेद का भ्रम नहीं रहता। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे ''अयं यज्ञदत्तः'' इस ज्ञान से सम्मुख स्थित व्यक्ति का अज्ञान निवृत्ति हो जाने पर भी ''सोऽयम्'' इत्याकारिका अभेदविषयकवृत्ति से निवर्तनीय अज्ञान निवृत्त न होकर अवशिष्ट रहता है। [क्योंकि ''अयं यज्ञदत्तः'' इस प्रकार के ज्ञान के पश्चात् भी ''सोऽयं न वा?'' इस प्रकार भेदभ्रम बना रहता है। इसलिए इस भेदभ्रम के उपादानभूत अज्ञान को शेष मानना आवश्यक होता है।] फलतः विषयकृत विशेष का अभाव होने पर भी कारणविशेषजन्यरूप जो विशेष है, उस विशेष से निवर्तकत्व होने के कारण पूर्वपक्षी के द्वारा दी गयी श्रवणव्यर्थता और प्रपञ्चसत्यत्वापत्ति निरस्त हो गयी। [कहने का भाव यह है कि दृष्टान्त में ''अयं यज्ञदत्तः'' यह ज्ञान यज्ञदत्त विषयक है और ''सोऽयम्'' यह ज्ञान भी यज्ञदत्तविषयक है। इस प्रकार समानविषयक उक्त दोनों ज्ञानों के द्वारा निवर्तनीय अज्ञानों में भेद इसलिए माना जाता है कि उक्त दोनों ज्ञानों के उत्पत्ति की सामग्री भिन्न—भिन्न है। अतः उक्त दोनों ज्ञानों के द्वारा निवर्तनीय अज्ञान भी भिन्न—भिन्न माने जाते हैं। इसी प्रकार दार्ष्टान्त स्थल पर भी इन्द्रिय से जन्य अहमाकारवृत्ति का विषय आत्मा है और वेदान्तवाक्य के श्रवणादि से जन्य अखण्डाकारवृत्ति का भी विषय आत्मा है। इस प्रकार समानविषयक उक्त दोनों ज्ञानों के द्वारा निवर्तनीय अज्ञानों में भेद इसलिए माना जाता है कि उक्त दोनों ज्ञानों की उत्पत्ति की सामग्री भिन्न—भिन्न है। अतः उक्त दोनों ज्ञानों के द्वारा निवर्तनीय अज्ञान भी भिन्न—भिन्न माने जाते हैं। इस प्रकार से वेदान्तवाक्यों का श्रवणादि भी सार्थक सिद्ध हो गया, क्योंकि वेदान्तवाक्यों के श्रवणादि से उत्पन्न अखण्डाकार चित्तवृत्ति के द्वारा ही मूलाज्ञान की निवृत्ति होती है। ब्रह्म के ज्ञान से अज्ञान और अज्ञान का कार्य प्रपञ्च के निवृत्त होने से अज्ञानादि में मिथ्यात्व ही सिद्ध होगा, न कि सत्यत्व] अन्यथा=विशेषकारणसामग्री जनित कार्य में शक्ति विशेष न मानने पर, ''सोऽयम्'' इस स्थल पर भी केवल ''अयं यज्ञदत्तः'' इस प्रकार के यज्ञदत्तविषयक ज्ञान से भी यज्ञदत्तगत भेद भ्रम की निवृत्ति मानने की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह भी है कि ''अहम्'' इस प्रकार की जीवविषयक जो वृत्ति होती है। उसको अप्रमावृत्ति माना जाता है, न कि अन्तःकरण की प्रमावृत्ति। अप्रमावृत्ति (अहमाकार वृत्ति) अज्ञान की निवर्तिका नहीं मानी जाती है, क्योंकि अन्तःकरण की प्रमावृत्ति को ही अज्ञान का विरोधी माना जाता है। इसको विवरण में इस प्रकार से कहा गया है—''जीवकाराहंवृत्तिपरिणतान्तःकरणेन जीवोऽभिव्यज्यते।'' (जीवाकार अहं वृत्ति के द्वारा परिणत अन्तःकरण से जीव अभिव्यक्त होता है।) इसका अर्थ ग्रन्थकार इस प्रकार से कर रहे हैं—जीवकाराऽहंत्वप्रकारिका अविद्यावृत्ति होती है। उस अविद्यावृत्ति से परिणत अन्तःकरण से अर्थात् अन्तःकरण के परिणामभूत ज्ञानरूपवृत्ति के साथ सम्बन्ध से जीव अभिव्यकत होता है। कहने का भाव यह है कि सुषुप्ति काल में सूक्ष्मरूप से परिणत मन से संसृष्ट होकर के

परिणामभूतज्ञानरूपवृत्तिसंसर्गेण जीवोऽभिव्यज्यत इति।।२२।।

न च 'घटोऽयम्'इति ज्ञानेन चरमवृत्तिनिवर्त्याज्ञानमपि निवर्ततामिति वाच्यम्, तदवच्छिन्नाज्ञातत्व–प्रयोजकाज्ञानविशेषादेरेव तदवच्छिन्नज्ञाननिवर्त्यत्वस्य फलबलेन स्वीकारात्। अवतमस इव विषयप्रकाशकालोकस्य सर्वतमोऽनिवर्तकत्वेऽपि किञ्चित्तमोनिवर्तकत्वम्। तस्मात्सिद्धमाश्रयत्व–विषयत्वभागिनी शुद्धचिदिति। एतेन देहादिभेदो वा अभोक्तृत्वाद्यभेदो वा ब्रह्माभेदो वा अद्वितीयमात्राभेदो

सत्यानन्दप्रबोधिका

जीव की अभिव्यक्ति नहीं होती है। इसलिए अन्त:करण परिणामभूत ज्ञानरूपवृत्ति कहा गया। अन्त:करण परिणामभूतज्ञानरूपवृत्ति से घटाद्याकारवृत्तिरूप ज्ञान लेना है। इसलिए अहन्त्वप्रकारिका जीवाकाराविद्यावृत्ति और घटाद्याकार से परिणत अन्त:करण का वृत्तिरूप ज्ञान के अभेद होने से ''अहं घटं जानामि'' इत्यादि रूप से जीव अभिव्यक्त होता है।।२२।।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या १४ में कहा था कि अन्त:करण की प्रमावृत्तिरूप ज्ञान ही अज्ञान का विरोधी होता है। ऐसा मानने पर ''घटोऽयम्'' इत्याकारिका जो घटविषयक वृत्तिरूप ज्ञान है। वह भी अन्त:करण की प्रमावृत्ति रूप ज्ञान ही है। अत: उसके द्वारा भी चरमचैतन्य विषयिणी वृत्ति के द्वारा निवर्तनीय मूलाज्ञान की निवृत्ति हो जानी चाहिए। अत: मूलाज्ञान की निवृत्ति के लिए चरमवृत्ति मानना व्यर्थ है।

समाधान– ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''घटोऽज्ञात:'' इस प्रकार के घटावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ जो अज्ञातत्व है, वह है प्रयोज्य और उसका प्रयोजक अज्ञानविशेषादि (तूलाज्ञानादि) है। उसका ही ''घटोऽयम्'' इत्याकारिका घटविषयक प्रमावृत्ति रूप ज्ञान से निवृत्ति होती है न कि मूलाज्ञान की। यह फल बल से स्वीकार किया जाता है। अर्थात् घटाकारप्रमावृत्ति के उदय होने पर तूलाज्ञान की निवृत्ति होती है। अत: घटाकारप्रमावृत्ति तूलाज्ञान की ही निवर्तक मानी जायेगी, मूलाज्ञान की नहीं। इस प्रकार फल या कार्य को देखकर ही कारणविशेष की कल्पना की जाती हैं जैसे मन्द अन्धकार वाले प्रदेश में स्थित घट के प्रकाशक दीपक का प्रकाश गाढ़ागाढ़ सभी प्रकार के अन्धकार का निवर्तक नहीं होता है, क्योंकि गाढ़ अन्धकार वहां होता ही नहीं है, किन्तु कुछ अन्धकार (मन्द अन्धकार) का निवर्तक होता ही है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी घटाकार प्रमावृत्ति तूलाज्ञान–मूलाज्ञान सभी प्रकार के अज्ञान का निवर्तक नहीं होती है, क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित मूलाज्ञान होता ही नहीं, क्योंकि शुद्धचैतन्य के आश्रित मूलाज्ञान होता है, किन्तु विषयावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित कुछ अज्ञान (तूलाज्ञान) की निवर्तक होती ही है। इसलिए यह सिद्ध हो गया कि मूलाज्ञान का आश्रय और विषय शुद्धचैतन्य ही है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि मूलाज्ञान का विषय क्या है? (१) मूलाज्ञान का विषय देहादिभेद को मानते हो क्या? (अर्थात् मैं देहादि से भिन्न हूं। इसका जो अज्ञान है, वही मूलाज्ञान है।) अथवा (२) मूलाज्ञान का विषय अभोक्तृत्वाद्यभेद है। अर्थात् भोक्तृत्वादि के अभाव से विशिष्ट चिद् के भेद का अभाव। अर्थात् मैं अभोक्ता हूं–इसका जो अज्ञान है। वही मूलाज्ञान हैं अथवा (३) मूलाज्ञान का विषय है–ब्रह्माभेद। अर्थात् मैं ब्रह्म से अभिन्न हूं–इसका जो अज्ञान है, वही मूलाज्ञान है। अथवा (४) मूलाज्ञान का विषय है–अद्वितीयमात्र का अभेद। अर्थात् अद्वितीयमात्र से मैं अभिन्न हूं–इसका जो अज्ञान है। वही मूलाज्ञान है। अथवा (५) मूलाज्ञान का विषय है–देहादिभेदविशिष्ट आत्मा। अर्थात् देहादिभेदविशिष्ट आत्मा का जो अज्ञान है। वही मूलाज्ञान है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि मूलाज्ञान का विषय उक्त पांचों नहीं हो सकते हैं, क्योंकि अभाव को

वा तद्विशिष्टात्मा वा न तद्विषयः, तेषामात्ममात्रत्वे उक्तदोषाद्, भिन्नत्वे अद्वैतक्षतेः, आविद्यकत्वे अन्योन्याश्रयादिति अनुक्तोपालम्भनम्—अपास्तम्। ब्रह्माभेदादेरात्ममात्रतापक्षे तस्याज्ञानविषयत्वमेव, दोषस्य परिहृतत्वात्।।२३।।

यत्तु प्रसङ्गादुक्तम्—द्वितीयाभावोपलक्षितात्मनोऽज्ञानविषयत्वे तादृशस्यैव चरमवृत्तिविषयत्वं वाच्यम्, तथा च वेदान्तानामप्युपलक्षणरूपप्रकारयुक्तोक्तात्मपरत्वे अखण्डार्थताहानिः, अकाके काकवदित्यस्येवास्याप्यप्रामाण्यापत्तिः, उपलक्षणस्य मिथ्यात्वाद्—इति। तत्राखण्डार्थवादे वक्ष्यामः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अधिकरण स्वरूप मानने पर उक्त पांचों को आत्मस्वरूप मानना पड़ेगा, ऐसा होने पर आत्मा के ज्ञान से मूलाज्ञान नष्ट होगा। घटावच्छिन्नचैतन्य भी आत्मा ही है। अतः घटावच्छिन्नचैतन्य विषयिणी प्रमावृत्तिरूप ज्ञान से मूलाज्ञान का नाश हो जाना चाहिए। यदि अभाव को अधिकरण स्वरूप नहीं मानते हैं तब देहादिभेद को आत्मा से भिन्न और सत्य मानना पड़ेगा, क्योंकि मूलाज्ञान के नाशक देहादिभेद ज्ञान को प्रमासिद्ध करने के लिए देहादिभेदगत सत्यत्व मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर अद्वैत की हानि होगी। यदि देहादिभेद को आत्मा से भिन्न सत्य न मानकर आविद्यक मानते हैं तब अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि देहादि भेद के सिद्ध होने पर देहादिभेदविषयक अज्ञान की सिद्धि होगी। देहादि भेदविषयक अज्ञान की सिद्धि होने पर अज्ञान से जन्य देहादिभेद की सिद्धि होगी।

समाधान— इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अद्वैतमत में मूलाज्ञान का विषय शुद्धचैतन्य माना जाता है। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित पांचों पदार्थों को मूलाज्ञान का विषय माना ही नहीं जाता है। अतः पूर्वपक्षी का कथन अनुक्तोपालम्भनमात्र होने से पूर्वपक्षी निरनुयोज्यानुयोगरूप निग्रह स्थान से ग्रस्त हो गया। दूसरी बात यह है कि यदि उक्त ब्रह्माभेदादि को आत्मस्वरूप माना जाता है तब भी दोष नहीं है, क्योंकि अज्ञान का विषय आत्मा माना ही जाता है। घटावच्छिन्नचैतन्यविषयिणी प्रमावृत्तिरूपज्ञान से मूलाज्ञान का नाश नहीं होता है—इसको इसी खण्ड २३ के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। (यदि उक्त भेदादि को आत्मस्वरूप न मानकर आविद्यक माना जाता है, तब भी अन्योन्याश्रयादि दोष नहीं होगा, क्योंकि उक्त भेदादि अनादि होने के कारण तथा अविद्यानाश से नाश्य होने के कारण उनमें आविद्यकत्व का व्यवहारमात्र होने से अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा। अर्थात् उक्त अन्योन्याश्रय की द्वितीय कोटि में अज्ञान से जन्य उक्त भेदादि को कहा गया था। किन्तु उक्तभेदादि को अनादि मानने से उक्त भेदादि को जन्य नहीं कहा जा सकता है। इसप्रकार से सिद्धान्ती के द्वारा खण्डन कर दिये जाने से उक्त अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा।)।।२३।।

पूर्वपक्षी ने प्रसङ्गतः यह जो कह दिया कि यदि सिद्धान्ती द्वितीयाभाव से उपलक्षित आत्मा को अज्ञान का विषय मानते हैं तब ज्ञान और अज्ञान दोनों के विषय को समान बनाने के लिए द्वितीयाभावोपलिक्षत आत्मा को ही अखण्डाकारचित्तवृत्ति का विषय भी कहना पड़ेगा। उपलक्षण भी विशेषण के जैसे प्रकार होता है। अतः प्रकार से युक्त आत्मा का बोधन वेदान्त के द्वारा होता है—ऐसा मानने पर वेदान्तवाक्यों के अखण्डार्थबोधकता की हानि होगी और जैसे काकशून्य प्रदेश में ''काकवानयम्'' ऐसा कथन अप्रामाणिक होता है, ठीक वैसे ही निष्प्रकारक आत्मा को सप्रकारक कहने वाला वेदान्तवाक्य भी अप्रमाणिक सिद्ध हो जायेंगे। अथवा उपलक्षण जगदन्तःपाती होने के कारण सिद्धान्ती के मतानुसार मिथ्या है। अतः उस मिथ्या अर्थ को बोधन कराने वाला होने से वेदान्त वाक्य भी अप्रमाणिक हो जायेंगे। पूर्वपक्षी की इस शङ्का का समाधान अखण्डार्थवाद में किया जायेगा।

न च न्यूनाप्यङ्गुलिरधिकमाच्छादयति, अविषयसम्बन्धित्वाद्, इयं हि विषयसम्बन्धिनी कथमधिकमाच्छादयेदिति–वाच्यम्, दत्तोत्तरत्वात्। तस्मादविद्यास्वरूपत आश्रयतो विषयतश्च सुनिरूपा।।२४।।

।। इत्यद्वैतसिद्धाववविद्याया विषयोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का–न्यून होने पर भी अङ्गुली अपने से अधिक परिमाण वाली वस्तु का आच्छादन करती है, क्योंकि विषय के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता है। किन्तु यह अविद्या विषय के साथ सम्बन्ध वाली है। अतः यह अविद्या अपने से अधिक व्यापक आत्मा का आच्छादन नहीं कर सकती है। [कहने का भाव यह है कि आवरण जब ज्ञान के करण (चक्षुरादि) गत होता है तब आवरण अपने से अधिक परिमाण वाली वस्तु का आच्छादन करता है। जैसे नेत्र पर रखी हुयी छोटी अङ्गुली भी अधिक परिमाण वाले पर्वत को भी आवृत्त कर देती है। किन्तु आवरण जब विषयगत होता है तब जितने भाग में आवरण रहता है। उतने ही भाग को आवरण आवृत्त करता हैं जैसे शरीर के जितने भाग पर वस्त्ररूप आवरण रहता है। शरीर के उतने ही भाग को आवृत्त करता है। ऐसा नहीं होता है कि सिर पर टोपी लगा लिया तो पूरा शरीर ही ढक गया। प्रकृत में अविद्या भी ब्रह्मरूप विषयगत आवरण है किन्तु अविद्या की अपेक्षा ब्रह्म महान है, क्योंकि श्रुति कह रही है कि ''त्रिपादस्यामृतम्'' (छा.उ. ३–१२–६)। अर्थात् अविद्या ब्रह्म के चतुर्थ भाग पर ही है, शेष तीन भाग पर नहीं है। इसलिए अविद्या ब्रह्म के चतुर्थ भाग का ही आच्छान कर सकती है न कि ब्रह्म के सम्पूर्ण भाग का आच्छादन कर सकती है।]

समाधान– इस शङ्का का समाधान पीछे ''अविद्यायाः चिन्मात्राश्रयत्वविचारः'' के खण्ड संख्या १० में किया जा चुका है। [अर्थात् जैसे आत्मा विभु है, वैसे ही अविद्या भी विभु है–इस पक्ष में अविद्या में न्यूनत्व न होने से अविद्या सम्पूर्ण आत्मा को आवृत्त करेगी ही। जिस पक्ष में अविद्या को आत्मा से अविभु माना जाता है। उस पक्ष में भी ''मैं अपने स्वरूप को नहीं जानता हूं'' इत्याकारक अनुभव के बल से अविद्या का आच्छादकत्व अनुपपन्न नहीं होता है, क्योंकि वस्त्रादि के जैसे अविद्या का आच्छादकत्व नहीं माना जाता है। जिससे अविद्या का न्यूनत्व आच्छादकत्व का विरोधी माना जाय किन्तु ''नास्ति'' ''न भासते'' इत्यादि व्यवहारहेतुत्व ही अविद्या का आच्छादकत्व हैं ''ब्रह्म नास्ति'' ''ब्रह्म न भाति'' इस प्रकार का व्यवहार अनुभव सिद्ध है। अतः अविद्या में ब्रह्म की आच्छादकता मानी ही जा सकती है। अतः अविद्या को विभु माना जाय अथवा अविभु माना जाय। दोनों ही पक्षों में कोई दोष नहीं है। इसका प्रतिपादन पीछे किया जा चुका है–यह भाव है। ''पादस्य सर्वाणि भूतानि त्रिपादमृतं देवि'' इस श्रुति के अनुसार अविद्या को एक भाग में मानने पर भी अविद्या जितने भाग में स्थित है। उतना भाग आवृत्त होने से तदन्तर्गत ब्रह्माण्ड में स्थित जीव समुदाय को अविद्या से आवृत्त चैतन्य का अज्ञान हो सकता है।] इस प्रकार अविद्या के स्वरूप, आश्रय और विषय का निर्दोष प्रतिपादन हो जाने से अविद्या सुनिरूपित सिद्ध हो जाती है।।२४।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामविद्याया विषयोपपत्तिः

१२—अहमर्थस्यानात्मत्वविचारः

ततश्चाहङ्कारादिसृष्टिः। ननु— अहमर्थ आत्मैव, तस्य कथमविद्यातः सृष्टिः? न च सुषुप्तौ स्वयम्प्रकाशमानस्यात्मनः सम्भवेऽप्यनेवंविधस्याहमर्थस्याभावः, यदि च सुषुप्तावहमर्थः प्रकाशेत, तर्हि स्मर्येत ह्यस्तन इवाहङ्कारः, अनुभूते स्मरणनियमाभावेऽपि स्मर्यमाणात्ममात्रत्वादिति वाच्यम्, हेतोरसिद्धेः, तर्के इष्टापत्तेः। न ह्यद्यापि स्वप्रकाशात्मान्यत्वमहमर्थे सिद्धमस्ति। आत्मान्यत्वेना—

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यक्ष—अनुमान—श्रुति तथा अर्थापत्ति—आदि प्रमाणों के द्वारा जिस अनादि भावरूप अज्ञान का सुगमतापूर्वक प्रतिपादन किया गया। उसी अज्ञान से अनात्मा जो अहङ्कारादि है। उनकी सृष्टि (उत्पत्ति) होती है। [इसके आगे के ग्रन्थ में पूर्वपक्षी के द्वारा 'अहम्' का अर्थ आत्मा किया जायेगा और सिद्धान्ती के द्वारा 'अहम्' का अर्थ चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहङ्कार किया जायेगा। इस आशय से आगे शङ्का और समाधान ग्रन्थ है।]

शङ्का —पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अहम्'' पदार्थ आत्मा है। आत्मा को उभयवादी नित्य मानते हैं। अतः अविद्या से आत्मा की सृष्टि सिद्धान्ती कैसे कह रहे हैं अर्थात् अविद्या से आत्मा की सृष्टि मानना असङ्गत है। [सिद्धान्ती अहमर्थगत आत्मभिन्नत्व सिद्ध करने के लिए यह अनुमान करते हैं—''अहङ्कारोऽनात्मा, सुषुप्तौ आत्मप्रकाशेऽप्यप्रकाशात्, घटवत्।'' अथवा अहमर्थगत आत्मभिन्नत्व सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत करते हैं—''यदि अहमर्थ आत्मा स्यात्तदा सुषुप्तौ आत्मवदनुभूयेत प्रबोधे स्मर्येत च।'' इस अनुमान अथवा तर्क के अनुसार यह कहते हैं कि] सुषुप्ति में स्वयम्प्रकाशरूप आत्मा के विद्यमान होने पर भी अस्वयम्प्रकाशरूप अहमर्थ = अहङ्कार का भान नहीं होता है। (यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सुषुप्ति में अहङ्कार का भान होता है, तब सिद्धान्ती कह रहे हैं कि) सुषुप्ति में यदि अहङ्कार का भान होता तो सुषुप्ति के पश्चात् जाग्रत् अवस्था में उसका स्मरण होता। जैसे अतीत दिवस में अनुभूत अहङ्कार का वर्तमान दिवस में स्मरण होता है। यद्यपि जिस—जिस वस्तु की अनुभूति होती है। उस उस वस्तु की स्मृति होती है—ऐसा नियम नहीं माना जाता है। तथापि पूर्वपक्षी के मतानुसार अहङ्कार और आत्मा अभिन्न है। अतः जब आत्मा का स्मरण हो रहा है तब आत्मा से अभिन्न अहङ्कार का भी स्मरण होना चाहिए, किन्तु अहङ्कार का स्मरण नहीं होता है। इसलिए सुषुप्ति में अहमर्थ= अहङ्कार का भान नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार से जब यह सिद्ध कर दिया गया कि अहङ्कार के न रहने पर भी आत्मा रहता है। तब आत्मा से भिन्न ही अहङ्कार होता है। यह सिद्ध ही हो गया— ऐसे अहङ्कारादि की सृष्टि अविद्या से होती है— ऐसा मानना उचित ही है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती के द्वारा कथित अनुमान के हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि अहङ्कार को आत्मस्वरूप मानने वाले द्वैतवादी के मत में आत्मा का प्रकाश ही अहङ्कार का प्रकाश है और आत्मा का स्मरण ही अहङ्कार का स्मरण माना जाता है। अतः सुषुप्ति में जब आत्मा का प्रकाश है तब आत्मा से अभिन्न अहङ्कार का भी प्रकाश रहेगा और जब जाग्रत् अवस्था में आत्मा का स्मरण होता है तब आत्मा से अभिन्न अहङ्कार का भी स्मरण होगा। अतः उक्त अनुमान का हेतु असिद्ध है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि हमारे उक्त कथन का तात्पर्य उक्त तर्क—(यदि अहमर्थ आत्मा स्यात्तदा सुषुप्तौ आत्मवदनुभूयेत प्रबोधे स्मर्येत च) में है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि इस प्रकार के तर्क में हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि हमारे मत में सुषुप्ति में आत्मरूप अहमर्थ का प्रकाश भी होता है और सुषुप्ति के पश्चात् आत्मरूप अहमर्थ का स्मरण भी होता है।

प्रकाशत्वसाधने तेन च तदन्यत्वसाधने अन्योन्याश्रयः। न चाहमर्थस्यापरामर्शः, सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति तस्यैव परामर्शादिति चेत्।।१ ।।

न, अहङ्कारस्तावदिच्छादिविशिष्ट(तया) एव गृह्यत इत्यावयोः समम्। सुषुप्तौ च नेच्छादय इति कथं तदाऽहमर्थानुभवः? न च—इच्छादिगुणविशिष्ट एवाहमर्थो गृह्यत इत्यत्र न नः संप्रतिपत्तिरिति वाच्यम्, गुणिग्रहणस्य गुणग्रहणव्याप्तत्वाद्, अन्यथा रूपादिहीनोऽपि घटः प्रथेत। न च रूपादिरहितानां तेषामसत्त्वं तत्र बीजमिति वाच्यम्, पूर्वरूपनाशाग्रिमरूपानुत्पत्तिक्षणाद्यक्षणादौ तद्विनापि सत्त्वात्। एवं

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस तर्क से पूर्वपक्षी को हानि तब होती यदि आत्मा और अहमर्थ भिन्न—भिन्न सिद्ध हो गये होते और सुषुप्ति में केवल आत्मा का ही प्रकाश होता किन्तु अभी तक स्वप्रकाश आत्मा से भिन्न अहमर्थ सिद्ध नहीं हुआ है। यदि सिद्धान्ती आत्मभिन्नत्व हेतु के द्वारा अहमर्थ में अस्वप्रकाशत्व सिद्ध करते हैं। (अर्थात्— अहमर्थः न स्वप्रकाशः, आत्मभिन्नत्वात्, घटवत्—ऐसा अनुमान करते हैं और अस्वप्रकाशत्व हेतु के द्वारा अहमर्थ में आत्मभिन्नत्व सिद्ध करते हैं। (अर्थात्— अहमर्थः आत्मभिन्नः, अस्वप्रकाशत्वात्, घटवत् ऐसा अनुमान करते हैं।) तब अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि आत्मभिन्नत्व से अस्वप्रकाशत्व और अस्वप्रकाशत्व से आत्मभिन्नत्व की सिद्धि हो रही है। सिद्धान्ती ने यह जो कहा था कि सुषुप्ति के पश्चात् अहमर्थ का स्मरण नहीं होता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सुषुप्ति के पश्चात् जाग्रद् अवस्था में ''मैं सुखपूर्वक सोया, कुछ भी नहीं जाना।'' इस प्रकार से आत्मरूप अहमर्थ का ही स्मरण होता है।।१ ।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों के ही मतों में यह मान्य है कि ''अहमिच्छामि'' इत्यादि प्रकार से अहङ्कार इच्छादि से विशिष्ट ही गृहीत होता है। (''विशिष्टतयैव'' के घटक ''एव'' पद के द्वारा यह कहा गया कि केवल अहङ्कार गृहीत नहीं होता है।) सुषुप्ति में इच्छादि गुणों का अनुभव नहीं होता है। अतः सुषुप्ति में इच्छा विशिष्ट अहङ्कार का सद्भाव नहीं माना जा सकता है। जब सुषुप्ति में अहङ्कार का सद्भाव ही नहीं है तब सुषुप्ति में साक्षी के द्वारा अहङ्कार का प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि इच्छादि गुणों से विशिष्ट ही अहङ्कार का ग्रहण होता है— इसमें हमारी सम्मति नहीं है। (''गुणविशिष्ट एव'' के घटक ''एव'' पद के द्वारा यह कहा गया कि इच्छादि गुणों से रहित भी अहङ्कार की प्रतीति होती है।) इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''यत्र—यत्र गुणविशिष्टग्रहणं तत्र—तत्र गुणग्रहणम्''। इस प्रकार की व्याप्ति होने के कारण गुणविशिष्टग्रहण को व्याप्य और गुणग्रहण को व्यापक माना जाता है। अतः जब व्याप्य है तब व्यापक अवश्य रहेगा। अन्यथा = गुण ग्रहण के विना ही गुणी का ग्रहण मानने पर, रूपादि गुणों से रहित घट के प्रत्यक्ष और स्मरण की भी आपत्ति होगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि दृष्टान्त में रूपादि गुणों से रहित घट की सत्ता होती ही नहीं है। इसी कारण से रूपादि गुणों के ग्रहण के विना घटादि गुणी का ग्रहण नहीं होता है। जबकि दार्ष्टान्त में इच्छादि से रहित अहङ्कार की सत्ता होती है। अतः इच्छादि के ग्रहण के विना भी अहङ्कार का ग्रहण हो जायेगा।

समाधान— पूर्वपक्षी ने जो यह कहा कि रूपादि गुणों से रहित घट की सत्ता होती नहीं है। उसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वरूप (श्यामरूप) के नाश तथा भाविरूप (रक्तरूप) की अनुत्पत्ति क्षण में और घटादि की उत्पत्ति के आद्यक्षण में रूपादि गुणों के विना भी

च गुणाग्रहणे कथं गुणिग्रहणम्? तथा च निर्गुण एवात्मा गृह्यत इति स्वीकर्तव्यम्। अनुभवाभावे च न तस्य जागरे परामर्शः। तथा चाज्ञानाश्रयत्वेन सुषुप्तावनुभयमानादात्मनोऽहङ्कारो भिन्नः। एवमेवात्मान्यत्वे सिद्धे अस्वप्रकाशत्वसाधने नान्योन्याश्रयः।।२।।

न च तर्हि 'अहमस्वाप्सम्' इत्यहमर्थस्य' परामर्शानुप्रवेशानुपपत्तिः, तदंशे परामर्शत्वासिद्धेः। एवं सत्यपि यथाऽज्ञानांशे तस्य परामर्शत्वं, तथोपपादितमधस्तात्। यद्यप्यहमस्वाप्समित्यादिज्ञानान्नान्य आत्मपरामर्शः, तथाप्यहमर्थस्य सुषुप्तिकालाननुभूतत्वेन तत्काले अज्ञानाश्रयत्वेन चानुभूतात्मन्येव

सत्यानन्दप्रबोधिका

घट की सत्ता होती है। इस प्रकार से जब सिद्ध कर दिया गया कि गुणग्रहण से व्याप्त गुणीग्रहण है। तब गुणग्रहण के विना गुणीग्रहण नहीं हो सकता है। सुषुप्ति में इच्छादि गुणों का ग्रहण नहीं होता है। इसलिए सुषुप्ति में इच्छादि से विशिष्ट अहङ्कार का भी ग्रहण नहीं होगा। फलतः सुषुप्ति में निर्गुण आत्मा का ही ग्रहण होता है—यही मानना पड़ेगा, न कि सगुण अहङ्कार का। सुषुप्ति में अहङ्कार का अनुभव न होने पर अहङ्कार का जाग्रद् दशा में स्मरण भी नहीं होगा। इसलिए सुषुप्ति में अज्ञानाश्रयत्वेन अनुभूयमान जो आत्मा है। वह अहङ्कार से भिन्न ही है। तथा च= सुषुप्ति में अहङ्कार का अनुभव न होने के कारण ही अहङ्कार में आत्मभिन्नत्व सिद्ध हुआ (न कि अस्वप्रकाशत्व के कारण अहङ्कार में आत्मभिन्नत्व सिद्ध हुआ।) और अहङ्कारगत आत्मभिन्नत्व के द्वारा अहङ्कार में अस्वप्रकाशत्व की सिद्धि हुयी। अतः उक्त अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा, क्योंकि अस्वप्रकाशत्व हेतु के द्वारा अहङ्कारगत आत्मभिन्नत्व की सिद्धि नहीं की गयी है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि तर्हि=यदि सुषुप्ति में न अहङ्कार ही रहता है और न अहङ्कार का अनुभव ही होता है तब तो, जागने पर ''मैं सोया'' इस प्रकार से अहङ्कार के स्मरण की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''अहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान के ''अहम्'' अंश में स्मृतित्व नहीं माना जाता है। अपितु ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस अज्ञान अंश में स्मृतित्व माना जाता है। ''अहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान के ''अहम्'' अंश में स्मृतित्व न होने पर भी ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस अज्ञान अंश में स्मृतित्व है—इसका प्रतिपादन ''अज्ञाने प्रत्यक्षप्रमाणविचारः'' के खण्ड संख्या ४४ में किया जा चुका है [और सुषुप्ति में अहङ्कार के न रहने पर भी जागने पर ''अहमस्वाप्सम्'' इस प्रकार के अनुभव की उपपत्ति खण्ड संख्या ५२ में की जा चुकी है। इस पर प्रश्न होता है कि ''अहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्'' इस ज्ञान में दो ही भाग हैं—एक अहम अंश और दूसरा अज्ञान अंश। यदि सिद्धान्ती अहमर्थ को आत्मा न मानकर आत्मा से भिन्न मान रहे हैं। तब तो ''अहमस्वाप्सम्....'' इसको आत्मा अंश में स्मृति का बोधक नहीं मान सकते हैं, क्योंकि ''अहमस्वाप्सम्'' इस स्थल पर ''अहम्'' से भिन्न अन्य कोई शब्द आत्मा का बोधक नहीं है। अतः सुषुप्ति के पश्चात् जो आत्मा की स्मृति होती है। उसका आकार ''अहमस्वाप्सम्....'' से भिन्न मानना पड़ेगा। इस शङ्का का समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] यद्यपि ''अहमस्वाप्सम्.....'' इत्यादि ज्ञान से भिन्न अन्य ज्ञान के द्वारा आत्मा की स्मृति नहीं होती है, तथापि अहमर्थ सुषुप्तिकाल में अनुभूत न होने के कारण सुषुप्तिकाल में अज्ञानाश्रयत्वेन अनुभूत जो आत्मा है। उस आत्मा में ही स्मृतित्व का पर्यवसान होता है। अत एव = ''अहमस्वाप्सम्'' इस ज्ञान के आत्मविषयकस्मृति में पर्यवसान हो जाने से ही, पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''अहमस्वाप्सम्'' को यदि आत्मा की स्मृति रूप मानना है तब उस स्मृतिज्ञान का आकार ''अहमस्वाप्सम्'' ऐसा नहीं

परामर्शत्वपर्यवसानम्। अत एव चिदस्वपीत् स्वयमस्वपीदिति परामर्शाकारतापत्तिर्निरस्ता, तत्काला– नुभूतान्तःकरणसंसर्गेण अहमित्याकारोपपत्तेः। यत्तूक्तं विवरणे–'अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि प्रत्यभिज्ञानं ब्रूमः, न निष्कलङ्कचैतन्ये, तस्य मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वाद्' इति। तदत्र न विरोधाय, मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वादिति हेतूक्त्या न निष्कलङ्क इति उपाधिमात्रविरहिणि

सत्यानन्दप्रबोधिका

होना चाहिए, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में अहमर्थ आत्मा से भिन्न है। अतः ''अहमस्वाप्सम्'' के घटक ''अहम्'' के स्थान पर आत्मा रूप अर्थ का बोधक शब्द (चिद् अथवा स्वयम्) होना चाहिए था। अर्थात् ''चिदस्वपीत्'' या ''स्वयमस्वपीत्'' इस प्रकार से स्मृति होनी चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि जाग्रत् काल में यद्यपि केवल आत्मा का ही स्मरण होता है, न कि अहमर्थ का तथापि जाग्रत् काल में जिस अन्तःकरण का अनुभव होता है। उस अन्तःकरण का आत्मा के साथ संसर्ग (तादात्म्याध्यास) रहने के कारण स्मृति का आकार ''अहम्'' इस प्रकार बन जाता है। अतः ''अहमस्वाप्सम्'' ऐसी स्मृति को आत्मविषयक मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अर्थात् एक ही वृत्ति के अहङ्कार अंश में प्रत्यक्षत्व और साक्षी अंश में स्मृतित्व माना जाता है। [इस पर पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो शङ्का की जाती है कि यदि ''अहम्'' का अर्थ आत्मा किया जाता है तब ''सोऽहम्'' ऐसी प्रत्यभिज्ञा नहीं हो पायेगी क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश और चिद्रूप होने के कारण ज्ञाननाशरूपसंस्कार ही सम्भव नही है। इसी प्रकार] श्रीविवरणकार ने भी कहा है कि ''सोऽहम्'' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञारूपप्रत्यक्ष का विषय अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा ही होता है, न कि शुद्ध आत्मा, क्योंकि मोक्षावस्था में अवस्थित शुद्ध आत्मा प्रत्यक्ष का विषय न होकर केवल शास्त्रों के द्वारा ही गम्य है। श्री विवरणकार के इस कथन से स्पष्ट है कि सुषुप्तिकाल में अवस्थित आत्मा भी अन्तःकरण से विशिष्ट होता है। जब सुषुप्ति में अन्तःकरण रहेगा तब सुषुप्ति में अहङ्कार भी मानना पड़ेगा। इसलिए आत्मा से अहङ्कार का पूर्वोक्त प्रकार से व्यभिचार प्रदर्शन करने पर इस श्रीविवरणकार के कथन से विरोध होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि श्रीविवरणकार के उक्त कथन का आत्मा से अहङ्कार का व्यभिचार प्रदर्शन करने पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ''मोक्षावस्थायिनः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात्'' इस हेतु वाक्य के द्वारा निष्कलङ्क आत्मा अर्थात् उपाधिरहित आत्मा के प्रत्यभिज्ञा का निषेध किया गया है, क्योंकि ''अन्तःकरणविशिष्ट एवात्मनि'' के घटक अन्तःकरण पद उपाधिमात्र का बोधक है। अन्तःकरण पद उपाधिमात्र का बोधक होने से अन्तःकरण पद के द्वारा अज्ञानरूप उपाधि का भी ग्रहण हो जाता है। अतः सुषुप्ति में भी अज्ञानविशिष्ट आत्मा ही गृहीत होता है। [कहने का भाव यह है कि मोक्षावस्था में अवस्थित निष्कलङ्क आत्मा का अर्थ अन्तःकरण से रहित और शेष सभी उपाधियों से युक्त ऐसा अर्थ किया नहीं जा सकता है, अपितु सभी प्रकार की उपाधियों से रहित आत्मा यही अर्थ किया जाता है। अतः सभी उपाधियों से रहित आत्मा के प्रत्यभिज्ञा का निषेध किये जाने से यह अर्थ निकलता है कि श्री विवरणकार के मतानुसार जिस आत्मा की प्रत्यभिज्ञा होती है। वह आत्मा किसी न किसी उपाधि से विशिष्ट है। अतः उक्त विवरण वाक्य में अन्तःकरण पद उपाधिमात्र का बोधक है। ऐसा होने पर सिद्धान्ती के मत में किसी प्रकार की हानि नहीं होगी, क्योंकि सिद्धान्त मत में सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की अज्ञानरूप उपाधि मानी जाती है और जाग्रत् काल में अज्ञानविशिष्ट आत्मा की प्रत्यभिज्ञा भी मानी जाती है। अतः सुषुप्ति में अन्तःकरण के न रहने से अहङ्कार भी नहीं माना जा सकता है। सुषुप्ति में जिस अविद्यावृत्तिरूप उपाधि से विशिष्ट आत्मा गृहीत है। उस अविद्यावृत्ति का नाश हो

प्रत्यभिज्ञाननिषेधेन चान्तःकरणपदस्य उपाधिमात्रपरत्वात्, तथा च सुषुप्तावप्यज्ञानोपहित एवात्मा गृह्यते। किञ्चान्तःकरण(ा)विशिष्टे प्रत्यभिज्ञाननिषेधो नाभिज्ञानिषधोऽपीति न विरोधः, सुषुप्तावभिज्ञाया एवोक्तत्वात्।।३।।

न च यद्यहमर्थो न परामृश्येत, तर्हि 'एतावन्तं कालं सुप्तोऽहमन्यो वा?' इति संशयः स्यात्, न त्वहमेवेति निश्चय इति वाच्यम्, सुषुप्तिकालानुभूतात्मैक्याध्यासादिति गृहाण। यथा पूर्वदिनानुभूतदेवदत्तादभिन्नतयानुभूते चैत्रे सोऽयं न वेति न संशयः, किन्तु स एवेति निश्चयः। किञ्च <u>निश्चये सति संशयाभावनियमः, न तु निश्चयाभावे संशयनियमः। तदुक्तम्—'आरोपे सति</u>

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाने से संस्कार की भी उपपत्ति हो जायेगी। अतः ''सोऽहम्'' ऐसी प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति हो जायेगी।] पहले जो ''अयं घटः'' ऐसा ज्ञान होता है। उसको अभिज्ञा कहते हैं और इसके पश्चात् जो ''सोऽयं घटः'' ऐसा ज्ञान होता है। उसको प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। सिद्धान्ती का कथन है कि निष्कलङ्क शब्द के द्वारा श्रीविवरणकार ने अन्तःकरण अविशिष्ट आत्मा के प्रत्यभिज्ञा का निषेध किया है किन्तु अभिज्ञा का निषेध नहीं किया है। हम सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण अविशिष्ट आत्मा (अविद्योपहितात्मा) की अभिज्ञा (साक्षिरूप प्रथम ज्ञान) मानते हैं, न कि प्रत्यभिज्ञा। अतः विवरणवाक्य से कोई विरोध नहीं है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि सुषुप्ति अवस्था में अहङ्कार का अनुभव नहीं माना जाता है, तब जाग्रत् काल में '' अहमस्वाप्सम्'' इस प्रकार का स्मरण भी नहीं माना जा सकता है। (क्योंकि जिसका पहले अनुभव नहीं होता है उसका स्मरण भी नहीं होता है।) तब ''इतने काल तक मैं सोया या अन्य सोया?'' इत्याकार संशय होना चाहिए, न कि ''मैं ही सोया'' ऐसा निश्चय होना चाहिए। जबकि सभी लोगों को ''अहमेव सुप्तः'' ऐसा निश्चय ही होता है। अतः आत्मा से अहङ्कार का व्यभिचार प्रदर्शन करने पर अनुभव विरोध होगा। यही पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिकाल में अनुभूत आत्मा के साथ प्रबोधकाल में उत्पद्यमान अहङ्कार के साथ ऐक्याध्यास होने से ''अहमेव सुप्तः'' ऐसा ही निश्चय होता है। '' एतावन्तं कालं सुप्तोऽहमन्यो वा?'' ऐसा संशय नहीं होता है। जैसे पूर्व दिवस में देवदत्त को देखा था, किन्तु विद्यमान चैत्र में देवदत्त का ऐक्याध्यास हो जाने के कारण ''सोऽयं न वा?'' इस प्रकार का संशय नहीं होता है, अपितु ''स एवायम्'' ऐसा ही निश्चय होता है। दूसरी बात यह भी है कि निश्चय के होने पर संशयाभाव रहता है—ऐसा ही नियम माना जाता है और निश्चय का अभाव होने से संशय होता है—ऐसा नियम नहीं माना जाता है। जैसे कि कहा गया है—आरोप होने पर निमित्त का अनुसरण किया जाता है, किन्तु निमित्त है। इसलिए आरोप होना ही चाहिए—ऐसा नियम नहीं माना जाता है। [कहने का भाव यह है कि ''यत्र यत्र आरोपः तत्र तत्र निमित्तम्'' ऐसी व्याप्ति में आरोप व्याप्य होता है और निमित्त व्यापक होता है। व्याप्य के द्वारा व्यापक की सिद्धि होती है किन्तु व्यापक के द्वारा व्याप्य की सिद्धि नहीं मानी जाती है। अन्यथा वह्नि के द्वारा धूम की भी सिद्धि होने की आपत्ति आयेगी। अतः शुक्ति में रजत का आरोप होने पर उसके निमित्त चाकचिक्यादि पर विचार किया जाता है। शुक्ति और शुक्तिगत चाकचिक्यादि रूप निमित्त के रहने पर शुक्तिगत रजत आरोप होगा ही—ऐसा नहीं माना जाता है, क्योंकि जिस निर्लोभी व्यक्ति को शुक्ति और शुक्तिगत चाकचिक्यादि का अपरोक्ष हो रहा है। उसको शुक्ति में रजत भ्रम नहीं होता है। प्रकृत में ''अहमेव सुप्तः'' ऐसा निश्चयरूप आरोप हो जाने पर उसके निमित्त संशयाभाव पर

निमित्तानुसरणम्, न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः' इति।।४।।

न च—एतावन्तं कालमहं स्वप्नं पश्यन्नासं जाग्रदासमित्यत्रेवाहमस्वाप्समित्यत्रापि अहमंशे परामर्शत्वानुभवात् कथं तत्रापरामर्शत्वमिति वाच्यम्, परामृश्यमानात्मैक्यारोपात्तद्भानांशे परामर्शत्वाभिमानात्। न चापरामर्शे परामर्शत्वारोपो न दृष्ट इति वाच्यम्, तद्भिन्ने तत्त्वेनानुभूयमाने परामर्शत्वारोपदर्शनात्। अत एव—अहमर्थस्यात्मान्यत्वे 'यः पूर्वं दुःखी, सोऽधुना सुखी जातः' इतिवद् 'यः पूर्वं मदन्यः सुषुप्तः सोऽधुना अहं जातः' इति धीः स्यादिति निरस्तम्, यथा दुःखित्वेन प्राग् ज्ञानं तथा मदन्यत्वेन प्राग् ज्ञानाभावात्। सुषुप्तावहमर्थाप्रकाशवत् तदन्यत्वस्याप्यप्रकाश एव।

सत्यानन्दप्रबोधिका

विचार किया जाता है किन्तु निश्चयाभाव जो कि संशय का निमित्त है, उसके रहने पर भी आरोप = संशय होगा—ऐसा नहीं माना जा सकता है। अतः सुषुप्तिकाल में अहङ्कार का अनुभव न होने के कारण सुषुप्तिकाल में ''अहङ्कार था'' ऐसा निश्चय का अभाव रूप संशय का निमित्त रहने पर भी जागने के बाद संशय होगा—ऐसा नहीं माना जा सकता है।] ।।४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी अनुभव विरोध को दिखलाते हुए कह रहा है कि इतने काल तक मैं स्वप्न को देखता हुआ स्थित था। इतने काल तक मैं जाग्रत् हुआ स्थित था। इन दोनों स्थलों में सिद्धान्ती भी अहमंश में स्मृतित्व का अनुभव मानते हैं। ठीक ऐसे ही मैं इतने काल तक सोया था—इस स्थल पर भी अहमंश में स्मृतित्व का ही अनुभव मानना चाहिए न कि अहमंश में स्मृतित्व से भिन्न अनुभवत्व मानना चाहिए।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि स्मर्यमाण आत्मा के साथ अनुभूयमान अहङ्कार का अभेदाध्यास हो जाने के कारण जाग्रत् कालीन अहङ्कार के अनुभव में अहङ्कार के स्मृतित्व का भ्रम हो जाने से अनुभूयमान अहङ्कार की स्मृति जैसी प्रतीति होती है। वस्तुतः अहङ्कार अनुभूयमान ही होता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि स्मृति भिन्न अनुभव ज्ञान में स्मृतित्व का भ्रम नहीं देखा गया है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि स्मर्यमाण से भिन्न अनुभूयमान पदार्थ का जब स्मर्यमाणाभिन्नत्वेन अनुभव में भान होता है। तब उस अनुभव में स्मृतित्व के आरोप का अनुभव होता है। [जैसे देवदत्त को पूर्व दिवस में देखा था। दूसरे दिवस जब चैत्र को देखता है और उसमें देवदत्त का भ्रम करता है। इस स्थल पर स्मर्यमाण देवदत्त से भिन्न अनुभूयमान चैत्र का स्मर्यमाण देवदत्त से अभेदेन अनुभूयमान जो (चैत्र का) अनुभव है। उस अनुभव में स्मृतित्व का आरोप होता है कि मैंने इसको कल देखा था।] अत एव = अहङ्कार के सुषुप्ति में अज्ञात होने से ही पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो आक्षेप किया जाता है कि अहङ्कार को आत्मा से भिन्न मानने पर ''जो पूर्व में दुःखी था वह वर्तमान काल में सुखी हो गया है।'' इस प्रतीति के जैसे ही ''जो पूर्व में (सुषुप्ति में) मुझसे भिन्न (अहङ्कार से भिन्न आत्मा) सोया था, वह इस काल (जाग्रत् काल) में मुझसे (अहङ्कार से) अभिन्न हो गया है।'' इत्याकारिका बुद्धि होने की आपत्ति होगी—ऐसा आक्षेप निरस्त हो गया, क्योंकि जैसे पूर्व में दुःखित्वेन आत्मा का ज्ञान दृष्टान्त में हुआ है ठीक वैसे ही दार्ष्टान्त में अहङ्कार भिन्नत्वेन आत्मा का ज्ञान सुषुप्ति में नहीं हुआ था। यही दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे सुषुप्ति में अहङ्कार का प्रकाश नहीं होता है ठीक वैसे ही सुषुप्ति में आत्मगत अहङ्कार भिन्नत्व का भी प्रकाश नहीं होता है। अर्थात् सुषुप्तिकालीन आत्मा में अहङ्कार भिन्नत्व तो था किन्तु उसका अनुभव सुषुप्ति में नहीं होता है। [इस पर प्रश्न होता है कि सुषुप्ति काल में अहङ्कार नहीं था और जागने पर अहङ्कार उत्पन्न होता है, तो जागने पर

एवं च प्रागसत्त्वाग्रहणात् पूर्वकालगृहीतेनाभिन्नतया गृह्यमाणत्वाच्च नाहङ्कारे जन्मप्रत्यय:। विवेकिनां चैतादृग्बुद्धाविष्टापत्ते:।।५।।

न च सिद्धे अहमर्थस्यात्मान्यत्वे परामृश्यमानात्मैक्यारोप:, सिद्धे च तस्मिन् सुप्तावप्रकाशेनाहमर्थस्यात्मान्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम्, आत्मान्यत्वसिद्धे: प्रागेवाहमर्था–परामर्शस्य साधनाद्, अहमस्वाप्समित्यस्यैवात्मपरामर्शत्वाङ्गीकारेण न दृष्टहानादृष्टकल्पनापत्ति:। अत एव च सुषुप्तावहमर्थप्रकाशे ह्यस्तन इव स्मर्येतेत्यत्र नेष्टापत्त्यवकाश:। किञ्च 'एतावन्तं

सत्यानन्दप्रबोधिका

अहङ्कार की उत्पत्ति का अनुभव क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] पूर्व (सुषुप्ति) में अहङ्कार का सत्त्व नहीं है—ऐसा अनुभव न होने से अर्थात् अहङ्कार के उत्पत्ति का ग्रहण न होने से और सुषुप्तिकाल में गृहीत आत्मा के साथ अभिन्नतया गृह्यमाण होने से अहङ्कार के उत्पत्ति का ज्ञान अविवेकी पुरुषों को नहीं होता है। [यदि पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि अहङ्कार से भिन्नत्वेन आत्मा को न जानने वाले अविवेकियों को अहङ्कार के उत्पत्ति की प्रतीति न होने पर भी अहङ्कार को आत्मा से भिन्नत्वेन जानने वाले विवेकियों को अहङ्कार के उत्पत्ति की प्रतीति होनी चाहिए। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] वेदान्तविचार से सम्पन्न विवेकी पुरुषों को ''य: पूर्वं मदन्य: सुषुप्त: सोऽधुना अहं जात:'' इत्याकारिका प्रतीति को मानने में हमें इष्टापत्ति है।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार अन्योन्याश्रयदोष होगा, क्योंकि अहङ्कार में आत्मभिन्नत्व सिद्ध हो जाने पर परामृश्यमान (स्मर्यमाण) आत्मा के साथ अहङ्कार का अभेदाध्यास होगा और उक्त अभेदाध्यास के सिद्ध हो जाने पर सुषुप्ति में प्रकाश न होने के कारण अहङ्कार में आत्मभिन्नत्व सिद्ध होगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये उक्त अन्योन्याश्रयदोष की प्रथम कोटि हमें मान्य नहीं है, क्योंकि अहङ्कारनिष्ठ आत्मभिन्नत्व की सिद्धि के पूर्व ही अहङ्कार में अस्मर्यमाणत्व सिद्ध हो जाता है। अर्थात् अहङ्कारनिष्ठ आत्मभिन्नत्व की सिद्धि के पूर्व ही अहङ्कार का परामर्श नहीं होता है। अपितु अनुभव उत्पन्न होता है— इसका प्रतिपादन खण्ड संख्या ३ में किया जा चुका है। अत: उक्त अन्योन्याश्रयदोष की प्रथम कोटि खण्डित हो जाने से उक्त अन्योन्याश्रयदोष का खण्डन हो गया। [पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अहमस्वाप्सम्'' इस प्रकार से आत्मा का परामर्श होता है— ऐसा सिद्धान्ती नहीं मान सकते हैं, क्योंकि सिद्धान्तमत में आत्मा अहमर्थ से भिन्न है। इस प्रकार से दृष्ट हानि होगी और जब ''अहमस्वाप्सम्'' इस प्रकार से आत्मा का परामर्श नहीं मान सकते हैं, तब ''चिदस्वपीत्, स्वयमस्वपीत्'' इस प्रकार से आत्मा का परामर्श होता है—ऐसी अदृष्ट कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार से सिद्धान्तमत में दृष्ट हानि और अदृष्ट कल्पना की आपत्ति होगी। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] सिद्धान्त मत में ''अहमस्वाप्सम्'' इसको ही आत्मा का परामर्श मानते हैं। इससे अतिरिक्त ''चिदस्वपीत्'' इत्यादि प्रकार से आत्मा का स्मरण होता है— ऐसा नहीं माना जाता है। अत: दृष्टहानि और अदृष्ट की कल्पना की आपत्ति नहीं होगी। अत एव= ''अहमस्वाप्सम्'' इस प्रकार से आत्मपरामर्शत्व सम्भव होने से और अहङ्कार परामर्शत्व सम्भव न होने से ही, पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सुषुप्ति में अहङ्कार का प्रकाश मानने पर ह्यस्तन अहङ्कार के जैसे सुषुप्ति के अनन्तर अहङ्कार की स्मृति होनी चाहिए। इसमें हमारी इष्टापत्ति है—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध

कालमहमित्यभिमन्यमान आसम्'इति परामर्शः स्यात्। न च—अहमर्थप्रकाशे तदभिमानापादनं कर्णस्पर्शे कटिचालनमिति वाच्यम्, तवैव हि तत्। अहमर्थमात्रसापेक्षतया तदभिमानप्रकाशयोरुभयोः समव्याप्ततया परस्परप्रकाशेन परस्परपरामर्शापादनस्याव्यधिकरणत्वात्। न च तवापि 'आत्मेत्यभिमन्यमान आसम्'इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

कर दिया गया कि सुषुप्ति में अहङ्कार का प्रकाश होता नहीं है और सुषुप्ति के अनन्तर जाग्रत् काल में अहङ्कार का अनुभव उत्पन्न होता है। दूसरी बात यह है कि यदि सुषुप्ति में अहङ्कार का भान होता तो ''इतने काल तक ''अहम्'' इत्याकारक अभिमान वाला था'' इत्याकारक परामर्श होना चाहिए, किन्तु ऐसा परामर्श नही होता है अपितु परामर्श का भ्रम होता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे घट के अनुभव के पश्चात् घट की स्मृति होती है। ऐसा होने पर समानाधिकरण होता है किन्तु सिद्धान्ती के मतानुसार जाग्रत् कालीन अहङ्कार का अनुभव होता है और अहङ्कार से तादात्म्याध्यास होकर आत्मा की स्मृति हो रही है। अतः व्यधिकरणता दोष आ रहा है। यदि अहङ्कार के अनुभव के पश्चात् अहङ्कार की स्मृति होती तो व्यधिकरणदोष नहीं आता। इसलिए सिद्धान्ती के मत में ''कर्णस्पर्शे कटिचालनम्'' (कर्ण का स्पर्श हो और कटि प्रदेश का चालन हो) ऐसा व्यधिकरण को सूचित करने वाला न्याय चरितार्थ हो रहा है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''कर्णस्पर्शे कटिचालनम्'' यह न्याय पूर्वपक्षी के मत में ही चरितार्थ हो रहा है, क्योंकि आत्मा और अहङ्कार दोनों विरुद्ध पदार्थ हैं। इसलिए समव्याप्त नहीं है। अर्थात् यदि आत्मा का प्रकाश के साथ—साथ अहङ्कार का प्रकाश हो जाता और अहङ्कार के प्रकाश के साथ—साथ आत्मा का प्रकाश हो जाता, तब तो आत्मा और अहङ्कार को समव्याप्त माना जाता, किन्तु दोनों पदार्थ विरुद्ध हैं। अर्थात् आत्मा चैतन्य है और अहङ्कार जड़ है और सुषुप्ति में आत्मा का प्रकाश होता है तथा अहङ्कार का प्रकाश नहीं होता है। इसका प्रतिपादन पीछे किया जा चुका है। अतः दोनों का साथ—साथ प्रकाश होना सम्भव ही नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के मत में व्यधिकरण होगा, क्योंकि पूर्वपक्षी को सुषुप्तिकालीन आत्मा के प्रकाश (अनुभव) के बल पर जाग्रत्कालीन अहङ्कार की स्मृति माननी पड़ेगी। सिद्धान्तमत में व्यधिकरणदोष क्यों नहीं होगा? इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अहमर्थमात्र सापेक्ष अहमर्थाभिमान (आत्मा में अहङ्कार का अभेदाध्यास) और अहमर्थ प्रकाश (अहङ्कार का अनुभव) है। अतः दोनों समव्याप्त है। अतः प्रथम के प्रकाश के साथ द्वितीय का प्रकाश होता है। इसलिए प्रथम का प्रकाश (अनुभव) होने पर प्रथम से समव्याप्त द्वितीय की स्मृति मानने पर व्यधिकरणदोष नहीं होगा।

शङ्का – सिद्धान्ती के द्वारा खण्ड संख्या ६ में कहा गया था कि ''अहमित्यभिमन्यमान आसम्'' इस प्रकार से स्मृति होती है। अर्थात् सुषुप्ति में आत्मा था और जाग्रत् काल में आत्मा के साथ जाग्रत् कालीन उत्पन्न अहङ्कार का अभेदाध्यास हो जाने से ऐसा भ्रम होता है कि सुषुप्ति में अहमाकार वृत्ति थी और उसी की जाग्रत् काल में स्मृति हो रही है। सिद्धान्ती के इस कथन के विपरीत पूर्वपक्षी कह रहा है कि सुषुप्ति में अहमर्थ था, आत्मा नहीं था, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में अहमर्थ से भिन्न आत्मा ही नहीं है। यदि सिद्धान्ती अहमर्थ से अतिरिक्त आत्मा मानते हैं तब तो जाग्रत् काल में अहङ्कार में जाग्रत् कालीन उत्पन्न आत्मा का अभेदाध्यास होने से ऐसा भ्रम होना चाहिए कि सुषुप्तिकाल में आत्माकारवृत्ति थी और उसी की जाग्रत् काल में स्मृति हो रही है— ऐसी आपत्ति होगी।

परामर्शापत्तिः, अहङ्कारस्य तत्र तन्त्रतया तदभावे तत्रापादयितुमशक्यत्वात्।।६।।

यत्तु सुषुप्तावहमर्थो भासत एव। 'न किञ्चिदहमवेदिषम्'इति अज्ञानपरामर्शस्यात्माद्य—ज्ञानादन्यदिवाहमर्थाज्ञानादन्यदेवाज्ञानं विषयः, अन्यथा विरोधाद्—इति। तदज्ञानविजृम्भितम्, न हि साक्षिवेदनमज्ञानविरोधि। सुषुप्तौ च यथाहमर्थानवभासः तथोक्तम्। न विजानात्ययमहमस्मीति सुषुप्तिविषया श्रुतिरपि तदानींतनाहमर्थाज्ञाने प्रमाणम्। न चेयं श्रुतिर्नात्मानं न परांश्चेति

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि जब अहङ्कार में आत्मा का अध्यास मानेंगे तब उस अध्यास के प्रति अधिष्ठानरूप अहङ्कार को प्रयोजक मानना पड़ेगा, क्योंकि अध्यास के लिए तत्पूर्व में अधिष्ठान का रहना आवश्यक होता है। सुषुप्ति में अहङ्कार रहता ही नही है—यह पीछे स्पष्ट कर दिया गया है। अतः अधिष्ठानरूप अहङ्कार का अभाव होने से अहङ्कार में आत्मा का अध्यास नहीं हो सकता है। अपितु आत्मा में ही अहङ्कार का अध्यास हो सकता है, क्योंकि सुषुप्ति में आत्मारूप अधिष्ठान अनुभूयमान है और जाग्रत्काल में उत्पन्न अहङ्कार का उसके साथ अभेदाध्यास हो जाता है।।६।।

शङ्का —पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सुषुप्ति में अहङ्कार भासता ही है, क्योंकि ''मैंने कुछ भी नहीं जाना'' इत्याकारक जो अज्ञान की स्मृति होती है। उस अज्ञान विषयक स्मृति का विषय जैसे सिद्धान्ती के मत में चिन्मात्रांश विषयक अज्ञान नहीं माना जाता है, अपितु चिन्मात्रांश विषयक अज्ञान से भिन्न पूर्णानन्दांश विषयक अज्ञान माना जाता है। अर्थात् सुषुप्तिकाल में पूर्णानन्दांश विषयक अज्ञान का अनुभव था और जाग्रत्काल में उसी का स्मरण होता है—ऐसा ही सिद्धान्ती मानते हैं। ठीक इसी प्रकार द्वैतवादी के मत में भी सुषुप्तिकाल में अहङ्कार भासता है। अतः अहङ्कार के अस्तित्व अंश विषयक अज्ञान नहीं होता है अपितु अहङ्कारगत कतृत्वादि अंशविषयक अज्ञान होता है। अर्थात् सुषुप्तिकाल में अहङ्कारगतकर्तृत्वादि विषयक अज्ञान का अनुभव था और जाग्रत्काल में उसी का स्मरण होता है। अन्यथा—यदि सिद्धान्ती चिन्मात्रविषयक अज्ञान को ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस परामर्श का विषय मानते हैं तब तो विरोध होगा, क्योंकि जब चिन्मात्रांश का प्रकाश सुषुप्ति में होता है तब उस चिन्मात्रांश के प्रकाश के साथ चिन्मात्रांश विषयक अज्ञान का रहना विरुद्ध है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन पूर्वपक्षी की अज्ञानता को ही दर्शाता है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने अद्वैतमत के रहस्य को न समझकर के ही उक्त प्रकार से शङ्का की है। सिद्धान्तमतानुसार सुषुप्तिकाल में जो चिन्मात्र का ज्ञान रहता है, वह साक्षिज्ञान माना जाता है और साक्षिज्ञान का अज्ञान के साथ विरोध नहीं होता है। अतः चिन्मात्रांश का अज्ञान रह ही सकता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने जिस दृष्टान्त के सहारे सुषुप्ति में अहङ्कार को सिद्ध किया था। उस दृष्टान्त का खण्डन कर दिया गया। अब दार्ष्टान्त अर्थात् सुषुप्तिकाल में अहङ्कार भासता है— इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सुषुप्तिकाल में अहङ्कार नहीं भासता है—इसका निरूपण खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है। ''नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि'' (छा. ८—११—१) इस श्रुति को अर्थतः ग्रहण करते हुए कह रहे हैं कि ''न विजानात्ययमहमस्मि'' (यह मैं हूं— इस प्रकार से सुषुप्ति में नहीं जानता है।) यह श्रुति भी सुषुप्तिकाल में अहमर्थ= आत्मा में ही अज्ञान को प्रमाणित कर रही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त छान्दोग्य श्रुति केवल अहमर्थ (आत्मा) के अज्ञान का बोधन न कराकर के परान्यत्वेन अहमर्थ के विशेष अज्ञान का बोधन कराती है। जैसे—

सुषुप्तावात्माज्ञानश्रुतिवद्विशेषाज्ञानपरा, 'अहरहर्ब्रह्म गच्छन्ति सति सम्पद्य न विदुः'इत्यात्मवेदनबोधक–श्रुतिविरोधेन विशेषाज्ञानपरत्वं युक्तम्। न च प्रकृते तथा, विरोधाभावात्।।७।।

यत्तु अहमर्थस्तावत् स्मर्ता। स चाविद्यावच्छिन्नचैतन्यं वा? अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं वा? आद्ये योऽहमकार्षं सोऽहं सौषुप्तिकाज्ञानादि स्मरामीत्यनुभवविरोधः। अन्त्ये त्वहमर्थस्यैव तदनुभवितृत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

''नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुरीयः सर्वदृक् सदा।। (मां.का. १–१२)

यह माण्डूक्यकारिका रूप श्रुति में परान्यत्वेन आत्मा के अज्ञान (अर्थात् आत्मा अन्य से भिन्न है– इस प्रकार से विशेष अज्ञान) का प्रतिपादन किया गया है। अतः उक्त छान्दोग्य श्रुति को अहमर्थ के सामान्य अज्ञान में प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

समाधान –पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य का प्रतिपादन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि माण्डूक्यकारिका रूप श्रुति में ''प्राज्ञः नात्मानं संवेत्ति'' इस प्रकार से प्राज्ञ (साक्षी) में अज्ञान कहा गया है–ऐसा प्राथमिक बोध होता है, किन्तु '' सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः'' (छा. उ. ८–३–२) इस आत्मवेदन की बोधिका श्रुति का अर्थतः ग्रहण करते हुए मूल में कहा गया कि ''अहरहर्ब्रह्म गच्छन्ति सति सम्पद्य न विदुः।'' अर्थात् इस श्रुति प्रमाण के द्वारा प्रकाशमान शुद्धात्मा में अज्ञान सिद्ध होने पर भी प्रकाशमान साक्षी में अज्ञान है–इसमें कोई प्रमाण नहीं है। जबकि माण्डूक्यकारिका रूप श्रुति साक्षी में अज्ञान का बोधन करा रही है। अतः माडूक्यकारिका रूप श्रुति और उक्त छान्दोग्य श्रुति से विरोध न हो। इसके लिए माडूक्यकारिका रूप श्रुति के अर्थ का परिवर्तन करके कहा गया कि वह कारिका साक्षी में अज्ञान का बोधन नहीं कराती है। अपितु परान्यत्वेन साक्षी में अज्ञान का बोधन कराती है। अर्थात् साक्षी अपने को जानता तो है किन्तु साक्षी दूसरे से भिन्न है– यह बोध उसको नहीं रहता है। इस प्रकार से उक्त कारिका का अर्थ करने पर उक्त छान्दोग्यश्रुति से विरोध नहीं होता है। अतः दृष्टान्त (माडूक्यकारिका) में परान्यत्वेन आत्मा के अज्ञान का प्रतिपादन करना उचित ही है, किन्तु दार्ष्टान्त स्थल पर ''न विजानात्ययमहमस्मि'' यह श्रुति अहमर्थ विषयक अज्ञान का बोधन कराती है–ऐसा मानने में किसी भी प्रमाणान्तर से विरोध नहीं होता है। अतः इस श्रुति को अहमर्थविषयक सामान्य अज्ञान की ही प्रतिपादिका मानना उचित है, न कि परान्यत्वेन अहमर्थविषयक अज्ञान की।।७।।

शङ्का –पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सौषुप्तिक अज्ञानादि का स्मर्ता निर्विवादरूप से अहमर्थ ही है। उस अहमर्थ को सिद्धान्ती क्या अविद्यावच्छिन्न चैतन्य (साक्षिचैतन्य) मानते हैं? अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (जीवचैतन्य) मानते हैं? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अनुभव विरोध होगा, क्योंकि ''जो मैंने सुषुप्ति में अज्ञानादि का अनुभव किया था वही मैं जाग्रत्काल में सौषुप्तिक अज्ञानादि का स्मरण कर रहा हूं।'' इस प्रकार के अनुभव से यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में अज्ञानादि का अनुभवकर्त्ता और जाग्रत्कालीन सौषुप्तिक अज्ञानादि का स्मरणकर्ता एक ही होता है और वह अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य ही होता है न कि अविद्यावच्छिन्नचैतन्य। अतः प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् सौषुप्तिक अज्ञानादि का स्मरणकर्ता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को मानने पर अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही सौषुप्तिक अज्ञानादि का अनुभविता भी मानना पड़ेगा। इसमें दो हेतु दे रहे हैं। प्रथम हेतु यह है कि स्मृति के प्रति संस्कार कारण होता है और संस्कार के प्रति अनुभव कारण होता है। इस प्रकार का कार्यकारणभाव जो है,

वाच्यम्। स्मृतिसंस्कारानुभवानामेकाश्रयाणामेव कार्यकारणभावाद्, योऽहमन्वभूवं सोऽहं स्मरामि'इति प्रत्यभिज्ञानाच्च इति। तन्न, दत्तोत्तरत्त्वात्। उक्तं ह्यविद्यावच्छिन्नचैतन्यमनुभवितृ, तदेव चान्तकरणावच्छेदेनानुभूयमानं स्मर्त्रीति न तयोर्वैरूप्यम्। न च– अविद्यावच्छिन्नचितोऽपि नैक्यमस्ति, अन्तःकरणरूपोपाधिभेदेन भेदादिति वाच्यम्, अविद्यावच्छिन्न एवान्तःकरणावच्छेदात्।।८।।

न च तथाप्यविद्यान्तःकरणरूपोपाधिभेदेन मठाकाशतदन्तःस्थघटाकाशयोरिव उपहितभेदः स्यादिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

वह एक ही आश्रय में रहता है न कि भिन्न–भिन्न में। अतः स्मृति जब अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य में हो रही है, तब उसी अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य में अनुभव और अनुभव जन्य संस्कार भी रहेंगे। अतः सुषुप्ति में सौषुप्तिक अज्ञानादि का अनुभविता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को मानना आवश्यक है। द्वितीय हेतु यह है कि ''जो मैं अनुभव किया था, वही मैं स्मरण कर रहा हूं''। इस प्रत्यभिज्ञारूप अनुभव से स्मर्ता और अनुभवकर्ता में एकता सिद्ध होती है। अतः जब अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य को स्मर्ता माना गया तब उसी अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को अनुभविता भी मानना पड़ेगा। अतः सौषुप्तिक अज्ञान के स्मर्ता अहमर्थ को ही सौषुप्तिक अज्ञानादि का अनुभविता मानना आवश्यक है।

समाधान– आचार्यप्रवर प्रथम पक्ष को स्वीकार करते हुए कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन अनुचित है, क्योंकि इसका समाधान हम पीछे दे आये हैं। उक्त समाधान को ही स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सौषुप्तिक अज्ञान का अनुभवकर्ता अविद्यावच्छिन्नचैतन्य (साक्षिचैतन्य) है और वही चैतन्य अन्तःकरणावच्छिन्न होकर स्मरणकर्ता भी है। अर्थात् जाग्रत्काल में अन्तःकरण का उससे तादात्म्य हो जाता है और तब उसमें ''अहम्'' आकार की उपपत्ति हो जाती है। इसका निरूपण खण्ड संख्या ३ में किया जा चुका है। अतः अनुभविता और स्मर्ता में वैरूप्य नहीं है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि स्मर्ता जो अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य और अनुभविता जो अविद्यावच्छिन्नचैतन्य है। उन दोनों में एकरूपता सम्भव नहीं है, क्योंकि अनुभव के समय चैतन्य की उपाधि अविद्या है और स्मरण के समय चैतन्य की उपाधि अन्तःकरण है। अतः उपाधि के भेद से उपहित में भी भेद आवश्यक है। [दूसरी बात यह भी है कि जिस पक्ष में अज्ञान एक ही माना जाता है, उस पक्ष में अविद्यावच्छिन्नचैतन्यरूप साक्षी जो सौषुप्तिक अज्ञान का अनुभविता है। वह भी एक ही माना जायेगा किन्तु अन्तःकरणरूप उपाधि भिन्न–भिन्न होने के कारण सौषुप्तिक अज्ञान का स्मर्ता भिन्न–भिन्न होगा। अविद्यावच्छिन्नचैतन्य रूप अनुभविता और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य रूप स्मर्ता में अभेद मानने पर एक ही अविद्यावच्छिन्नचैतन्य के द्वारा अनुभूत अज्ञान का सभी अन्तःकरणावच्छिन्न जीवों को स्मरण होने की आपत्ति होगी।]

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सौषुप्तिक अज्ञानादि का अनुभव करने वाला जो अविद्यावच्छिन्न चैतन्य है। वहीं जाग्रत्काल में स्मरण करते समय अन्तःकरण से अवच्छिन्न हो जाता है। अतः अनुभविता और स्मर्ता में एकरूपता ही है। [पूर्वपक्षी ने यह जो दोष दिया था कि अविद्यावच्छिन्नचैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में अभेद मानने पर एक ही अविद्यावच्छिन्नचैतन्य के द्वारा अनुभूत अज्ञान का सभी अन्तःकरणावच्छिन्न जीवों को स्मरण होने की आपत्ति होगी–ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि अविद्यावच्छिन्नचैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में अभेद होने पर भी अन्तःकरणरूप अवच्छेदक भिन्न–भिन्न होने से चैतन्य में भेद हो जाने से एक के द्वारा अनुभूत अज्ञान का स्मरण सबको नहीं होता है]।।८।।

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि मठ में घट रखने से पहले जो मठाकाश था और जब मठ

वाच्यम्, दृष्टान्तासम्प्रतिपत्तेः। तयोरेवोपाध्योः परस्परमुपहितभेदकत्वम्, यौ परस्परानुपहितमुपधत्तः। अन्यथा कम्ब्ववच्छिन्नग्रीवावच्छिन्नाकाशादन्य एव घटाकाशः स्यात्। न चैवं सुषुप्तावहमर्थाभावे अहं निर्दुःखः स्यामितीच्छया सुषुप्त्यर्थं प्रवृत्त्ययोगः,'कृशोऽहं स्थूलो भवामि'इतिवत् प्रवृत्त्युपपत्तेः। न च तत्र कार्श्यादिनिष्कृष्टस्य शरीरस्यैव स्थौल्याधिकरणतया विवेकिनामुद्देश्यत्वमिति वाच्यम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

में घट रखा जाता है तब तो घटाकाश होता है। उन दोनों (मठाकाश और घटाकाश) में भेद होता है, क्योंकि मठ शुद्ध आकाश को उपहित कर रहा है और मठ अन्तःपाती घट मठावच्छिन्न आकाश को उपाहित कर रहा है। इसी प्रकार प्रकृत में भी अविद्या शुद्ध चैतन्य को उपहित कर रही है और अविद्या अन्तःपाती अन्तःकरण अविद्यावच्छिन्न चैतन्य को उपहित कर रहा है। अतः दोनों में भेद है। अतः सिद्धान्ती के मत में अनुभविता और स्मर्ता में वैरूप्य की आपत्ति आयेगी।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि यदि घट मठ से बाहर रहता तब तो घटाकाश और मठाकाश में भेद मानते, किन्तु जब घट मठ के अन्दर ही है, तब घटाकाश और मठाकाश में भेद हम नहीं मानते हैं। इसलिए दृष्टान्त में हमारी सम्मति नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि वहीं दो उपाधि अपने–अपने उपहितों में भेद को उत्पन्न कर सकती है, जो दो उपाधि परस्पर अनुपहित का उपधान करती हैं। [अर्थात् घट और मठ ये दोनों उपाधि अपने–अपने से उपहित घटाकाश और मठाकाश में भेद को तभी उत्पन्न कर पायेगी जब पहले से जो आकाश मठ से उपहित था। उसी आकाश को ही घट उपहित न करे। अथवा पहले से जो आकाश घट से उपहित था उसी आकाश को मठ उपहित न करे। दृष्टान्त में जो आकाश पहले मठ से उपहित था। उसी आकाश को ही घट ने उपहित किया। इसलिए ऐसे स्थल पर घटाकाश और मठाकाश में भेद नहीं माना जायेगा।] अन्यथा–मठस्थ घट से उपहित आकाश को मठाकाश से भिन्न मानने पर घटावच्छिन्न आकाश में घटस्थ ग्रीवावच्छिन्न आकाश और उदरावच्छिन्न आकाश का भिन्नत्व मानना पड़ेगा, जो कि अनुभव विरुद्ध है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती सुषुप्तिकाल में जब अहमर्थ नहीं मान रहे हैं, तब सिद्धान्ती के मतानुसार ''मैं दुःखरहित हो जाऊं।'' इस इच्छा से सुषुप्ति के लिए प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''मैं इस समय दुबला हूं''–ऐसी बुद्धि वाले व्यक्ति की ''मैं स्थूल हो जाऊं'' इस इच्छा से खाने पीने में जैसे प्रवृत्ति होती है, वैसे ही प्रकृत में भी प्रवृत्ति हो जायेगी। अर्थात् जब स्थूल होगा तब दुर्बल रहेगा नहीं किन्तु फिर भी खाने–पीने में प्रवृत्त जैसे होता है, ठीक उसी प्रकार जब निर्दुःखता के लिए सुषुप्ति में प्रविष्ट होगा, तब अहमर्थ रहेगा नहीं, किन्तु फिर भी अहमर्थ उद्देश्यक इच्छा से सुषुप्ति के लिए प्रवृत्त होगा।

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि ''मैं दुर्बल हूं, स्थूल होऊं।'' यहां पर जो शरीर पहले कृशत्व से उपहित था। वही शरीर कृशत्व से रहित होकर स्थूलत्व का अधिकरण बन जाता है। अर्थात् शरीर में कोई भिन्नता नहीं रहती है। केवल कृशता प्राप्त शरीर को स्थूलता का आधार बनाया जाता है। इसलिए विवेकियों की स्थूलता के लिए खाने–पीने में प्रवृत्ति होती है, जबकि प्रकृत में जो जाग्रत्काल में दुःख से युक्त अहमर्थ है। वह सुषुप्ति में रहेगा नहीं। यदि सुषुप्ति में अहमर्थ रहता तब उसमें निर्दुःखता के लिए प्रवृत्ति होती । किन्तु ऐसा सिद्धान्ती मान नहीं रहे हैं। अतः अहमर्थ उद्देश्यक इच्छा से निर्दुःखता के लिए प्रवृत्ति होगी ही नहीं।

प्रकृतेऽप्यन्तःकरणादिनिष्कृष्टस्यैव तदुद्देशविषयत्वात्।।९।।

ननु 'योऽहं सुप्तः सोहं जागर्मि' 'योऽहं पूर्वेद्युरकार्षं सोऽहमद्य करोमि'इति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः अहमर्थस्य भेदात्। कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च, कर्तुर्भोक्तुश्चाहमर्थस्य भिन्नत्वाद्, अभिन्ने चैतन्ये कर्तृत्वाद्यभावात् तदारोपस्याप्यभावाद्, देहादावतिप्रसङ्गाच्चेति चेन्न, सुषुप्तौ कारणात्मना स्थितस्यैव उत्पत्त्यङ्गीकारेण सर्वोपपत्तेः। न च 'अथ हैतत्पुरूषः स्वपिति'इत्यारभ्य 'गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जाग्रत्काल में जो अन्तःकरण से उपहित चैतन्य है। वही चैतन्य सुषुप्ति में अन्तःकरण से रहित हो जायेगा। दोनों चैतन्यों में भेद नहीं है। अतः जो चैतन्य (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य) जाग्रत्काल में दुःख से युक्त है। वहीं चैतन्य (अन्तःकरण से रहित चैतन्य) सुषुप्ति काल में दुःख से रहित होता है। अतः अहमर्थ उद्देश्यक इच्छा से निर्दुःखता के लिए विवेकियों की प्रवृत्ति अवश्य ही होगी।।९।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि सिद्धान्ती जाग्रत्कालीन अहमर्थ को सुषुप्तिकाल में नहीं मानते हैं, तब ''जो मैं सोया था, वहीं मैं जागता हूं।'' ''जो मैं पूर्व दिवस में कार्य किया था, वही मैं वर्तमान दिवस में कार्य कर रहा हूं।'' ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है। वह भङ्ग हो जायेगी, क्योंकि सिद्धान्ती पूर्व और उत्तरभावी अहमर्थों में भेद मान रहे हैं। अहमर्थ में भेद मानने से दूसरा दोष यह होगा कि पूर्व दिवस में जो अहमर्थ कर्ता है, उससे भिन्न उत्तर दिवस में अहमर्थ भोक्ता है। अतः जिस अहमर्थ ने कार्य किया, उसको फल नहीं मिला और जिस अहमर्थ ने कार्य नहीं किया, उसको फल मिला। इस प्रकार से कृतनाश और अकृतप्राप्ति की आपत्ति होगी। यद्यपि पूर्वदिवस वाला चैतन्य और वर्तमान दिवस वाला चैतन्य में अभेद है किन्तु वही चैतन्य पूर्व दिवस में कार्य किया था और वही चैतन्य वर्तमान दिवस में फल भोग रहा है–ऐसा मानकर कृतनाश और अकृतप्राप्ति की आपत्ति का निवारण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उक्त अभिन्न चैतन्य में सिद्धान्ती वस्तुतः कर्तृत्व–भोक्तृत्वादि मानते ही नहीं है,क्योंकि सिद्धान्त मत में कर्तृत्वादि अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य में माना जाता है। यदि सिद्धान्ती उक्त अभिन्न चैतन्य में कर्तृत्वादि का आरोप मानकर कृतहानादि दोषों का निवारण करते हैं, तब पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे कर्तृत्वादि का आरोप उक्त अभिन्न चैतन्य में हो सकता है, ठीक उसी प्रकार कर्तृत्वादि का आरोप शरीरादि में भी हो सकता है। पूर्वपक्षी के कथन का भाव यह है कि शरीरादि में कर्तृत्वादि का भान भ्रमात्मक होता है– यह वादी–प्रतिवादी दोनों मानते हैं जबकि उक्त चैतन्य में कर्तृत्वादि का भ्रमात्मक भान सिद्धान्ती ही मान रहे हैं। अतः उक्त अभिन्न चैतन्य और शरीरादि दोनों में कर्तृत्वादि का आरोप मानने पर गौरव होगा। अतः लाघव की दृष्टि से शरीरादि में कर्तृत्वादि का आरोप मानना उचित है। किन्तु शरीरादि में कर्तृत्वादि का आरोप मानने पर कृत हानादिदोष रूप अतिप्रसङ्ग बना ही रहेगा।

समाधान – उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में अन्तःकरण अपने कारण अज्ञान में लय होकर कारणात्मना विद्यमान रहता है और उसी की उत्पत्ति प्रबोधावस्था में मानी जाती है। अतः जो कर्ता है, वही भोक्ता है– इत्यादि की उपपत्ति हो जाने से कृतहानादि दोष नहीं होगा।

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अथ हैतत्पुरुषः स्वपिति'' (बृ.उ.२–१–१७) यहां से आरम्भ कर ''गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः'' (बृ.उ.२–१–१७) इत्यादि श्रुति में सुषुप्ति काल में मन आदि का ही उपरम कहा गया है, न कि अहङ्कार का सुषुप्तिकाल में उपरम (विलयन) कहा गया है। अतः सुषुप्तिकाल में अहङ्कार का अज्ञान में लय नहीं माना जा सकता है। अहङ्कार के अज्ञान

मनः' इत्यादिश्रुतौ मनआदीनामेवोपरमोक्तेर्नाहङ्कारोपरम इति वाच्यम्, मनस उपरमे तेनैवाहङ्कारोपरमस्यापि प्राप्तेः। अहङ्कारो हि 'अहमनुभवामि'इत्यात्मानुबन्ध्यनुभवस्याहं कर्तेत्यचिदनुबन्धिकर्तृत्वादेश्चाश्रयः चिदचित्संवलनात्मकत्वादध्यस्तः, तस्य चाचितोऽन्तःकरणस्योपरमे उपरतिः। 'अथातोऽहङ्कारादेशः अथात आत्मादेशः' इति श्रुतिरपि पृथगुपदेशेन पार्थक्ये प्रमाणम्।।१०।।

ननु— आत्मनस्त्वन्मते 'स एवाधस्तात्'इत्युपदिष्टेन भूम्नेवाहङ्कारेणाप्यैक्येऽपि पृथगुपदेशो युक्तः। न च भूमात्मनोर्भिन्नत्वेन प्रत्यक्षसिद्धयोः पृथगुपदेश ऐक्यार्थः, द्वयोः सार्वात्म्यायोगाद्, अहङ्कारस्य तु आत्मैकत्वेन प्रत्यक्षसिद्धस्य पृथगुपदेशो भेदार्थ इति वाच्यम्, अहमर्थादन्यस्यात्मनो भूमाख्यब्रह्मभिन्नत्वेन प्रत्यक्षासिद्धत्वात्तयोरप्युपदेशो भेदार्थः, अहमर्थस्य तु ब्रह्मभिन्नत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

में लय न मानने पर पूर्व अहङ्कार और उत्तर अहङ्कार में भेद होने पर पूर्वोक्त प्रकार से कृतहानादि दोषों की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मन (अन्तःकरण) के अपने कारणीभूत अज्ञान में लय होने से ही अहङ्कार का भी लय हो जाता है, क्योंकि ''अहमनुभवामि'' इस प्रकार का आत्मविषयक जो अनुभव है उसका और ''अहङ्कर्ता'' इस प्रकार अनुभूत अचिद्= अन्तःकरण का परिणाम जो कर्तृत्वादि है उसका आश्रय अहङ्कार माना जाता है। इस प्रकार आत्मविषयक अनुभव का आश्रय होने से अहङ्कार में चिद् अंश आ गया और अन्तःकरण के परिणाम कर्तृत्वादि का आश्रय होने से अहङ्कार में अचिद् अंश आ गया। इस प्रकार चिदचिद दोनों अंशों का संवलन (मिश्रण) रूप अहङ्कार होता है और वह घटादि के जैसे ही चैतन्य में अध्यस्त माना जाता है और उस अहङ्कार का जड़ अन्तःकरण के लय होने पर उपरति मानी जाती है, क्योंकि ''सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति'' (कैवल्योपनिषद्— १—१३) इस श्रुति में कहा गया है कि सुषुप्तिकाल में सर्ववृत्तियों की उपरति होती है। दूसरी बात यह भी है कि ''अथातोऽहङ्कारादेशः'' (छा.उ. —७—२५—१) इस श्रुति से अहङ्कार का उपदेश किया गया और ''अथात आत्मादेशः'' (छा.उ. ७—२५—२) इस श्रुति से आत्मा का उपदेश किया गया। इस प्रकार पृथक—पृथक् उपदेश के माध्यम से यह श्रुति भी प्रमाणित करती है कि आत्मा और अहङ्कार भिन्न—भिन्न हैं।।१०।।

शङ्का —पूर्वपक्षी का कथन है कि ''स एवाधस्तात्'' (छा.उ.७—२५—१) इस श्रुति से भूमा का उपदेश किया गया है और ''अथात आत्मादेशः'' (छा.उ. ७—२५—२) इस श्रुति से आत्मा का उपदेश किया है। इस प्रकार आत्मा और भूमा का पृथक—पृथक् उपदेश होने पर भी सिद्धान्ती भूमा और आत्मा में अभिन्नता मानते हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मा और अहङ्कार में अभिन्नता होने पर भी आत्मा और अहङ्कार का पृथक—पृथक् उपदेश उचित माना ही जा सकता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि भूमा और आत्मा परस्पर भिन्न हैं— यह अज्ञानियों के प्रत्यक्षभ्रम से सिद्ध है। अतः उनका पहले सर्वात्मत्वेन पृथक्—पृथक् उपदेश इसलिए किया गया कि लोकसिद्ध भेद भ्रम का अनुवाद कर अभेद सिद्ध किया जा सके, क्योंकि दो पदार्थों (आत्मा और भूमा) का सार्वात्म्य नहीं माना जा सकता है। अर्थात् आत्मा भी सर्वरूप हो और भूमा भी सर्वरूप हो—ऐसा नहीं माना जा सकता है। इसलिए सर्वात्मत्वेन भूमा और आत्मा का पृथक—पृथक उपदेश कर श्रुति अपना तात्पर्य भूमा और आत्मा की एकता में सूचित करती है। किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा और अहङ्कार में जो अभिन्नता सिद्ध है, उसकी निवृत्ति और आत्मा—अहङ्कार के वास्तविक भेद की सिद्धि के लिए उक्त श्रुति के द्वारा आत्मा और अहङ्कार का पृथक्—पृथक् उपदेश किया गया है। सिद्धान्ती के इस कथन का

प्रत्यक्षसिद्धत्वात् तयोरुपदेश ऐक्यार्थ एव किं न स्यात्—इति चेन्न, अहङ्काराद् भिन्नात्मनो भूमरूपब्रह्मभिन्नत्वस्य प्रत्यक्षासिद्धत्वेऽपि तदभिन्नत्वस्यापि तदसिद्धतया उभयोः सार्वात्म्यो–पदेशानुपपत्तिसहकारेणास्याः श्रुतेस्तयोरभेदपरत्वमुचितम्, प्रकृते चाभेदपरत्वे विरोधः, जडाजड–योरैक्यायोगात्।।११।।

न च त्वन्मते भूमाहङ्कारात्मनां बिम्बप्रतिबिम्बमुखस्थानीयाविद्योपाधिकब्रह्मजीवचिन्मात्रत्व–सम्भवेनाहङ्कारस्य जीवात् पार्थक्यासिद्धिरिति—वाच्यम्, 'यत्र नान्यत् पश्यति' 'स एवाधस्तात्'इत्यादिना

सत्यानन्दप्रबोधिका

खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती के कथन के विपरीत ही क्यों न मान लिया जाय, क्योंकि अहमर्थ से भिन्न जो आत्मा उससे भूमारूप ब्रह्म का भेद प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है, इसलिए आत्मा और भूमारूप ब्रह्म का भेद प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है। इसलिए आत्मा और भूमारूप ब्रह्म में वास्तविक भेद सिद्ध करने के लिए दोनों का पृथक्—पृथक् उपदेश श्रुति में किया गया है और अहङ्कार तथा ब्रह्म का भेद प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अतः अहङ्कार और ब्रह्म में वास्तविक अभेद सिद्ध करने के लिए अहङ्कार और ब्रह्म का पृथक्—पृथक् उपदेश किया गया है।

समाधान– उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि अहङ्कार से भिन्न जो आत्मा है, तादृश आत्मनिष्ठ भूमारूप ब्रह्मभिन्नत्व प्रत्यक्ष से जैसे सिद्ध नहीं है, वैसे ही आत्मा और भूमा में अभेद भी प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है। इसलिए आत्मा और भूमा में यदि अभेद नहीं है तब आत्मा और भूमा का जो सर्वात्म रूप से श्रुतियों में उपदेश किया गया है। वह अनुपपन्न हो जायेगा—इस प्रकार की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति की सहायता से ''स एवाधस्तात्'' (छा.उ. ७—२५—१) और ''अथात आत्मादेशः'' (छा.उ. ७—२५—२) इन श्रुतियों में आत्मा और भूमा का पृथक्—पृथक् उपदेश होने पर भी उक्त श्रुतियों का आत्मा और भूमा की एकता में ही तात्पर्य मानना उचित है। प्रकृत में जो अहङ्कार और आत्मा का पृथक्—पृथक् उपदेश ''अथातोऽहङ्कारादेशः'' (छा.उ. ७—२५—१) और ''अथात आत्मादेशः'' (छा.उ. ७—२५—२) इन श्रुतियों में किया गया है। उसका तात्पर्य अहङ्कार और आत्मा में अभेद मानने पर विरोध होगा, क्योंकि अहङ्कार रूप जड़वस्तु और आत्मारूप चैतन्य वस्तु में अभेद मानना सम्भव नहीं है।।११।।

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मत में श्रुति में कथित जो भूमा, अहङ्कार और आत्मा है। उसका निरूपण इस प्रकार से किया जाता है कि बिम्बस्थानीय भूमा= अविद्योपाधिक ब्रह्म, प्रतिबिम्बस्थानीय अहङ्कार= अविद्योपाधिक जीव और मुखस्थानीय चिन्मात्रोभयानुस्यूत आत्मा है। फलतः श्रुति में कथित अहङ्कार से अविद्योपाधिक प्रतिबिम्बभूत जीव का प्रतिपादन मानने पर ही सिद्धान्ती के सिद्धान्त की व्यवस्था उपपन्न होती है। अतः शुद्ध आत्मा से अहङ्कार का भेद होने पर भी जीव से अहङ्कार के पार्थक्य की असिद्धि है। इसलिए सुषुप्ति में जीव से अभिन्न अहङ्कार को माना ही जा सकता है। अतः सिद्धान्ती ने पीछे खण्ड संख्या २ में जो कहा था कि सुषुप्ति में अहङ्कार नहीं रहता है, उसका खण्डन हो गया।

समाधान– उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त स्थल पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव की कल्पना ही सम्भव नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि 'यत्र नान्यत् पश्यति'' (छा.उ. ७—२४—१) ''स एवाधस्तात्'' (छा.उ. ७—२५—१) इत्यादि ग्रन्थ में कहा गया कि जिस भूमा (ब्रह्म) में स्थित होकर जीवात्मा अपने से अन्य दृश्य को देखता नहीं है। अर्थात् जिस ब्रह्म में द्रष्टा दर्शन और दृश्य रूप त्रिपुटी का अभाव है। वही भूमा नीचे है, उपर

भूमस्वरूपोक्त्यनन्तरं यत्रेत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात्स इति पारोक्ष्यनिर्देशाच्च द्रष्टुर्जीवादन्यत्वप्रसक्तौ तद्वारणार्थं 'अथातोऽहङ्कारादेशः' इत्यहङ्कारेण भूम्नि निर्दिष्टे अहङ्कारस्य देहादिसंघाते अविवेकिप्रयोगदर्शनात् तदभेदप्रसक्तौ निष्कृष्टाहङ्कारकेवलात्मस्वरूपमादाय 'अथात आत्मादेशः' इति द्रष्टृभेद उच्यत इत्येतादृशार्थपरत्वेन बिम्बप्रतिबिम्बकल्पनाया अत्रासम्भवात्। सम्भवे वा अविद्योपाधिकजीवस्याहङ्कारत्वोक्तिः स्थूलारुन्धतीन्यायेन।।१२।।

अत एव 'स एवेदं सर्वम्' 'अहमेवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' इत्याद्युपसंहाराणां 'स

सत्यानन्दप्रबोधिका

आदि है। अर्थात् वही भूमा सर्वरूप है। इस प्रकार भूमा के स्वरूप का प्रतिपादन करने पर श्रुति घटक ''यत्र'' पद के द्वारा यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म अधिकरण है और ''पश्यति'' क्रिया का कर्ता जीव अधिकर्तव्य (आधेय) है। इस प्रकार ब्रह्म और जीव में आधार–आधेयभाव के द्वारा भेद के प्रसक्ति की शङ्का हुयी। श्रुति घटक ''सः'' पद के द्वारा ब्रह्म का परोक्षरूप से निर्देश किये जाने से ब्रह्म में पारोक्ष्य और जीव में स्वभावतः आपरोक्ष्य होने से ब्रह्म और जीव में पारोक्ष्यापरोक्ष्य के द्वारा भेद के प्रसक्ति की शङ्का हुयी। उस भेद के प्रसक्ति की शङ्का के निवारण के लिए ''अथातोऽहङ्कारादेशः'' (छा. ७–२५–१) इस प्रकार से अहङ्कार के रूप में भूमा का निर्देश किया गया। अविवेकियों के द्वारा देहादि के संघात में अहङ्कार का प्रयोग देखने से देहादि संघात के साथ भूमा के अभेद की प्रसक्ति की शङ्का हुयी। उस शङ्का के निवारण के लिए ''अथात आत्मादेशः'' (छा.उ. ७–२५–२) इस प्रकार से अहङ्कार रहित विशुद्ध आत्मस्वरूप का प्रतिपादन करके पूर्ववाक्य में कथित भूमा तत्त्व को अहङ्कार से भिन्न विशुद्ध चैतन्यरूप सिद्ध किया गया है–इस प्रकार के अर्थबोधन में ही उक्त छान्दोग्य श्रुतियों का तात्पर्य है। अतः यहां पर बिम्बप्रतिबिम्बभाव की कल्पना करना असम्भव है। यदि पूर्वपक्षी के कथनानुसार बिम्बप्रतिबिम्बभाव की कल्पना करके ''अथातोऽहङ्कारादेशः'' (छा.उ. ७–२५–१) इस वाक्य से अविद्याप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव का कथन किया गया है–ऐसा मान भी लिया जाय तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि ''भूमानं भगवो विजिज्ञास इति'' (छा.उ. ७–२३–१) (हे भगवन्! आप के द्वारा भूमा तत्त्व को ही विशेष रूप से जानना चाहता हूं।) इस प्रश्न के उत्तर में अत्यन्त सूक्ष्म आत्मतत्त्व का उपदेश न कर ''अथातोऽहङ्कारादेशः'' इस वाक्य के द्वारा गौणरूप से अहङ्कार स्वरूप जीव का कथन किया गया है। जैसे ''अरुन्धती नामक तारा कौन है?'' इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में सर्वप्रथम अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अरुन्धती को न दिखलाकर अरुन्धती के समीपस्थ वसिष्ठ नामक तारा को दिखलाकर कहा जाता है कि ''यही अरुन्धती है।'' जब दर्शक की दृष्टि गौण अरुन्धती (वसिष्ठ) तारा तक पहुंच जाती है तब दर्शक से कहा जाता है कि वह स्थूल तारा अरुन्धती नहीं है, किन्तु उसके समीप में स्थित अत्यन्त सूक्ष्म तारा अरुन्धती है। इसी प्रकार ''अथातोऽहङ्कारादेशः'' इस उपदेश के द्वारा जब जिज्ञासु की अन्तर्दृष्टि गौण आत्मतत्त्व= अहङ्कारस्वरूपजीव तक पहुंच जाती है, तब वास्तविक आत्मतत्त्व का उपदेश किया जाता है–''अथात आत्मादेशः''। अर्थात् अहङ्कारस्वरूप जीव (अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्य) भूमा तत्त्व नहीं है अपितु उससे भिन्न विशुद्धचैतन्यघन तत्त्व ही भूमा है। इस प्रकार से भी अहङ्कार पद से लक्षित अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्य का शुद्धचैतन्य से भेद है–इस अर्थ में पर्यवसान होता है।।१२।।

अत एव निरस्तम्– ऐसा अन्वय करना चाहिए। अत एव= ''स एवाधस्तात्'' (छा.उ. ७–२५–१) इत्यादिवाक्य भूमात्मैक्य बोधक होने से ही। पूर्वपक्षी का कथन है कि ''स एवेदं सर्वम्''= वही यह सर्व है। (छा.उ. ७–२५–१) ''अहमेवेदं सर्वम्''= मैं ही यह सर्व हूं। (छा.उ.

एवाधस्तादहमेवाधस्तादात्मैवाधस्ताद्'इत्युपक्रमै: 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व:' इत्यादिस्मृतिभिश्च सर्वगतत्वपरत्वेन न सार्वात्म्यपरत्वम्, येनाहंपदस्य निष्कृष्टाहङ्कारचैतन्यपरत्वं स्यात्। सर्वगतत्वं चानेकेष्वपि सम्भवत्येव। भूमात्मोपदेशाभ्यामेव ब्रह्मात्मैक्यसिद्ध्या मध्ये अहङ्कारोपदेशवैयर्थ्यं चेति निरस्तम्।।१३।।

'स भगव: कस्मिन् प्रतिष्ठित:' इति प्रश्नानन्तरं किं क्वचिदधिष्ठानत्वमात्रं पृष्टं? परमार्थत: क्वचिदधिष्ठितत्वं वा? आद्ये स्वे महिम्नीत्युक्त्वा द्वितीये भूमातिरिक्तमेव नास्तीत्येतदर्थपर–'अन्यो

सत्यानन्दप्रबोधिका

७–२५–१) ''आत्मैवेदं सर्वम्''=आत्मा ही यह सर्व है। (छा.उ. ७–२५–२) इत्यादि रूप उपसंहार वाक्यों को ''स एवाधस्तात्'' (छा.उ. ७–२५–१) ''अहमेवाधस्तात्'' (छा.उ. ७–२५–१) ''आत्मैवाधस्तात्'' (छा.उ. ७–२५–२) इत्यादि उपक्रमस्थ श्रौतवाक्यों और ''सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्व:'' (गी. ११–४०) इत्यादि स्मार्तवाक्यों के अनुसार सर्वगतत्व बोधक (सर्वत्र है–इस अर्थ का बोधक) माना जाता है, सार्वात्म्य बोधक (सब कुछ है–इस अर्थ का बोधक) नहीं माना जाता है, क्योंकि उपक्रम के समान ही उपसंहार वाक्यों का अर्थ होता है। अत: ''अहम्'' पद का अर्थ अहङ्कार से रहित विशुद्ध चैतन्यपरक नहीं माना जा सकता है। [अर्थात् यदि ''अहम्'' पद सार्वात्म्यपरक होता तो ''अहम्'' पद का अर्थ जैसे अहङ्कार किया जाता है, ठीक वैसे ही अहङ्कार से रहित शुद्धचैतन्य परक भी किया जा सकता था, किन्तु ''अहम्'' पद सार्वात्म्यपरक नहीं है। इसलिए ''अहम्'' पद का अर्थ अहङ्कार से रहित शुद्ध चैतन्यपरक नहीं हो सकता है। इस पर प्रश्न होता है कि सर्वात्मक पदार्थ जैसे अनेक नहीं होता है ठीक वैसे ही सर्वगत पदार्थ भी अनेक नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि] सर्वगतत्व धर्म वाच्यत्व ज्ञेयत्वादि के जैसे अनेक पदार्थों में रह सकता है। अत: सर्वगत पदार्थ अनेक हो सकते हैं। दूसरी बात यह है कि ''अथातोऽहङ्कारादेश:'' इस प्रकार अहङ्कार के रूप में भूमा का निर्देश मानने पर यह वाक्य व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि ''स एवाधस्तात्'', ''अथातोऽहङ्कारादेश:'', ''अथात आत्मादेश:'' इन तीनों वाक्यों में से प्रथम वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट भूमोपदेश और तृतीय वाक्य के द्वारा निर्दिष्ट आत्मोपदेश से ही ब्रह्म और आत्मा के एकता की सिद्धि हो जायेगी। अत: मध्यवाक्य के द्वारा निर्दिष्ट अहङ्कारोपदेशगत व्यर्थता की आपत्ति होगी–ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया।।१३।।

''अत एव निरस्तम्'' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''स भगव: कस्मिन् प्रतिष्ठित:''= भगवन् वह किसमें प्रतिष्ठित है? (छा.उ. ७–२४–१) इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्यसनत्कुमार जी ने शिष्य नारद जी से कहा कि क्या व्यावहारिक दृष्टि से भूमा के प्रतिष्ठा का आधार पूछ रहे हो?अथवा क्या पारमार्थिक दृष्टि से भूमा के प्रतिष्ठा का आधार पूछ रहे हो? प्रथम पक्ष के समाधान में कहा कि ''स्वे महिम्नि'' (छा.७–२४–१)। अर्थात् जैसे राजा अपने धन धान्य और ऐश्वर्य में प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही भूमा अपनी प्रपञ्च रूप महिमा में प्रतिष्ठित है। द्वितीय पक्ष के समाधान में कहाकि ''न महिम्न्यपि'' (छा.उ. ७–२४–१) अर्थात् परमार्थत: भूमा अपनी प्रपञ्च रूप महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है,क्योंकि भूमा से अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है। अर्थात् सर्वरूपों में भूमा ही है। कहने का भाव यह है कि यदि भूमा से अतिरिक्त कोई पदार्थ होता तब आधार–आधेय भाव से भूमा उसमें रहता, किन्तु भूमा से अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है, क्योंकि भूमा ही सर्वरूपों में विद्यमान है। अत: भूमा किसी में भी प्रतिष्ठित नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा गया कि ''नाहमेवं ब्रवीमि, ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्

ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः' इति पूर्ववाक्यानुसारेण 'स एवाधस्तात्'इत्यादेरपि सार्वात्म्यपरत्वे निश्चिते एकत्रैव वाक्ये उपक्रमादिकल्पनेनार्थान्तराकल्पनात्, कल्प्यमानस्य च प्रकृतार्थानुपपादकत्वात्, सर्वं सर्वगता जातिरिति पक्षे व्यापकजातेरिव भूम्नोऽपि अन्याधिष्ठितत्वसम्भवात्, 'सर्वं समाप्नोषी'त्यादिस्मृतेः सार्वात्म्यपरत्वस्य उपपादितत्वात्। नापि मध्ये अहङ्कारोपदेशवैयर्थ्यम्, ब्रह्मण आपरोक्ष्याय अहङ्कारैक्योक्तेः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतिष्ठित इति''। (छा.उ. ७–२४–२) इस प्रकार जब पूर्व वाक्य में अर्थात् छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के २४ खण्ड तक भूमा के सर्वात्मता का प्रतिपादन कर दिया गया है, तब उसके अनन्तर भावी ''स एवाधस्तात्'' (छा.उ. ७–२५–१) इत्यादि वाक्यों का भी सार्वात्म्यपरत्व ही निश्चित होता है। पूर्वपक्षी ने छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय के खण्ड २५ के प्रथम मन्त्र (स एवाधस्तात्, स उपरिष्टात्, स पुरस्तात्, स दक्षिणतः, स एवेदं सर्वम्) रूप एक ही वाक्य के ''स एवाधस्तात्'' को उपक्रम और ''स एवेदं सर्वम्'' को उपसंहार मानकर के पूर्ववाक्य (छा. ७–२४–१) के द्वारा प्रतिपादित अर्थ (सार्वात्म्य) से भिन्न अर्थ (सर्वगतत्व) किया था। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि एक ही वाक्य में उपक्रम और उपसंहारादि की कल्पना करके पूर्ववाक्य से विरुद्ध अर्थ की कल्पना करना अनुचित होता है, और ''स एवाधस्तात्'' इस वाक्य के द्वारा सार्वात्म्य को नहीं कहा गया है किन्तु सर्वगतत्व को कहा गया है—ऐसी कल्पना करना भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रकृत में पूर्ववाक्य से जिस अर्थ का प्रतिपादन हो रहा है। उसी के अनुकूल अर्थ का ही प्रतिपादन आगे के वाक्यों के द्वारा किया जाता है। [दूसरी बात यह है कि यदि ''स एवाधस्तात्'' इत्यादि वाक्यों को सर्वगतत्व का बोधक माना जाय तब सर्वगत पदार्थ (वाच्यत्व, श्रेयत्व इत्यादि) अनेक होते हैं अतः पूर्वपक्षी के अनुसार प्रकृत अर्थ होगा— ब्रह्मगत सद्वितीयत्व। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त वाक्यों का सर्वगतत्वरूप अर्थ करने पर भी ब्रह्मगत सद्वितीयत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि ''स एव अहमेव आत्मैव'' इन तीनों एवकारों के द्वारा अधरादियों में भूमादि के अन्ययोगव्यवच्छेद बोधन के द्वारा भूमादिरूपैक्य में ही पर्यवसान होता है—ऐसा अर्थ भी यहां समझना चाहिए। यदि कहा जाय कि ''अन्यो ह्यस्मिन् प्रतिष्ठितः'' यह वाक्य भूमागत प्रतिष्ठितत्व निषेध में हेतुभूत द्वैताभाव का बोधक नहीं है, अपितु ''भूमा नान्यप्रतिष्ठितः, अनादिषु साक्षादसम्बन्धात्, कार्येषु तादात्म्यात्। यो हि यस्मादत्यन्तभिन्नः स तत्र प्रतिष्ठितः इति उच्यते। यथा राजा गजादौ। इस अर्थ का बोधक उक्त वाक्य है। इस शङ्का के समाधानार्थ सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] ''जाति सर्वगत है'' ऐसा मानने वालों के मत में व्यापक जाति के जैसे भूमा का भी अन्य अधिष्ठितत्व सम्भव हो जायेगा। [जाति मानने वालों के दो मत हैं—प्रथम—जाति सर्वगत नहीं होती है। अर्थात् घटत्व जाति समवायेन केवल घट में ही रहती है पटादि में नहीं। द्वितीय—जाति सर्वगत होती है। अर्थात् घटत्व जाति समवायेन घट में रहती है और स्वरूप सम्बन्ध से पटादि में भी रहती है। इस द्वितीय मत में घटत्वादि को घटादि में समवाय और अन्यत्र स्वरूप सम्बन्ध से जैसे माना जाता है, वैसे ही सिद्धान्ती के मत में भी भूमा कार्यप्रपञ्च में तादात्म्य सम्बन्ध से और अनादि पदार्थों में स्वज्ञानविषयत्वादि सम्बन्ध से सम्बद्ध हो जायेगा। अतः व्यापक भूमा का सर्वप्रतिष्ठितत्व मानना विरुद्ध नहीं है। इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका में देखें।] '' सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'' (गी० ११–४०) इस स्मृति वाक्य का अर्थ पूर्वपक्षी ने जो ब्रह्मगत सर्वगतत्व किया था। वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त वाक्य के सार्वात्म्यपरत्व का प्रतिपादन गीता की टीका गूढ़ार्थ दीपिका [सर्वं समस्तं जगत् समाप्नोषि सम्यगेकेन सद्रूपेणाप्नोषि सर्वात्मना व्याप्नोषि ततस्तस्मात्सर्वोऽसि त्वदतिरिक्तं किमपि नास्ति।

न च त्वन्मते प्रत्यगर्थरूपस्यात्मन एवापरोक्षैकरसत्वेन तदैक्योक्त्यैवापरोक्ष्यसिद्ध्या अहङ्कारे अविद्यमानसार्वात्म्योक्त्ययोग इति वाच्यम्, आत्मसम्बन्धेनैवाहङ्कारोऽप्यपरोक्ष इत्यात्मैक्यादेवापरोक्ष्यं यद्यपि सिद्धं, तथाप्यहङ्कारे आपरोक्ष्यस्य सुप्रसिद्धत्वादहङ्कारोक्तिर्नायुक्ता।१४।।

यत्तु—'भूमा नारायणाख्यः स्यात् स एवाहङ्कृतिः स्मृतः। जीवस्थस्त्वनिरुद्धो यः सोऽहङ्कार इतीरितः।। अणुरूपोऽपि भगवान् वासुदेवः परो विभुः। आत्मेत्युक्तः स च व्यापी'इत्यादिस्मृत्या श्रुतेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

(सम्पूर्ण जगत् आप में कल्पित तादात्म्य से सम्बद्ध है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को सर्वात्मा एक आप सद् रूप से व्याप्त किये हुए हैं। इसलिए आप सब हैं। आप से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।) गी०गूढ़ार्थदीपिका—११—४०] में किया जा चुका है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ''स एवाधस्तात्'' और ''अथात आत्मादेशः'' इन दोनों वाक्यों के द्वारा ही भूमा और आत्मा में एकता की सिद्धि हो जायेगी। मध्य में अहङ्कार उपदेशक '' अथातोऽहङ्कारादेशः'' वाक्य व्यर्थ हो जायेगा—ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''स एवाधस्तात्'' और ''अथात आत्मादेशः'' इस वाक्य के देने पर यद्यपि भूमा और आत्मा में एकता सिद्ध हो जाती, किन्तु ''सः' पद के द्वारा ब्रह्म परोक्ष है—ऐसा भ्रम रह जाता। उस भ्रम के निवारण के लिए मध्य में अहङ्कार का उपदेश किया गया, क्योंकि अहङ्कार में आपरोक्ष्य लोक प्रसिद्ध है। अतः अहङ्कार उपदेशक वाक्य सार्थक है।

शङ्का— पूर्वपक्षी पुनः अहङ्कार उपदेशक वाक्यगत व्यर्थता की सिद्धि करने के लिए कह रहा है कि सिद्धान्ती के मत में प्रत्यगर्थ रूप जो आत्मा है— वह साक्षात् अपरोक्ष रूप माना जाता है। अतः आपरोक्ष्यैकरस आत्मा की जब भूमा से एकता का प्रतिपादन हो जायेगा, तब भूमा में स्वतः ही अपरोक्षरूपता का लाभ हो जायेगा। अतः भूमागत आपरोक्ष्य के लिए अहङ्कार में जो सार्वात्म्य विद्यमान नहीं है, उसका अहङ्कार में प्रतिपादन करना उचित नहीं है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यद्यपि अहङ्कार में अपरोक्षत्व वस्तुतः नहीं है, क्योंकि अपरोक्षस्वरूप आत्मा में तादात्म्येन अहङ्कार अध्यस्त होने के कारण अहङ्कार में अपरोक्षता आती है और अपरोक्षस्वरूप आत्मा के साथ भूमा की एकता सिद्ध हो जाने से ही भूमा का आपरोक्ष्य सिद्ध हो जाता है, तथापि अहङ्कार में अपरोक्षता अत्यन्त प्रसिद्ध है। (अर्थात् आत्मा अपरोक्षस्वरूप है—यह ज्ञान केवल विद्वानों को ही रहता है, किन्तु अहङ्कार अपरोक्षस्वरूप है—यह ज्ञान सर्वसाधारण को रहता है।) इसलिए श्रुति आत्मा के साथ भूमा की एकता का बोधन कराकर सन्तुष्ट नही हुयी। अतः सर्वसाधारण को ब्रह्म के अपरोक्षत्व का बोधन आत्मा और भूमा की एकता के माध्यम से नहीं होगा। अतः श्रुति के द्वारा अहङ्कार में सर्वात्मत्व प्रतिपादन के द्वारा भूमा से एकरूपता का प्रतिपादन कर भूमा में अपरोक्षता सिद्ध की जाती है। अतः श्रुति के द्वारा अहङ्कार में सर्वात्मता का प्रतिपादन उचित ही है।।१४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''भूमा नारायणः........ स च व्यापी।'' (भूमा नारायण है और उसी को अहंकृति भी कहते हैं। अविद्या में प्रतिबिम्ब रूप जो जीव है। उस जीव में स्थित जो अनिरुद्ध है वही अहङ्कार है— ऐसा कहा गया है। अणुरूप अर्थात् दहराकाशादि से परिच्छिन्न जो सर्वभूत है। उसमें रहने वाले परं विभु वासुदेव हैं, वही आत्मा है और व्यापी हैं।) इत्यादि स्मृति वाक्यों के अनुसार ''स एवाधस्तात्'' इस श्रुति का अर्थ सार्वात्म्य नहीं है किन्तु सर्वगतत्व है, क्योंकि ''विभुः'' पद के द्वारा वासुदेव को सर्वगत (व्यापक) कहा गया है।

सिद्धान्ती— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने स्मृतिवाक्य

सार्वात्म्यं नार्थः, किन्तु सर्वगतत्वमिति। तन्न, श्रुतिविरोधेन स्मृतेरेव सार्वात्म्यपरत्वम्, न तु स्मृत्या श्रुतेरन्यथानयनम्। न च मोक्षधर्मे—

'अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः। योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्।।' 'सोऽहङ्कार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः।' इत्यनेन 'सैव हि सत्यादयः' इति सूत्रेण चाहङ्कारस्यात्मत्वम्, अन्यथा व्याप्त्युक्तिरयुक्ता स्यादिति वाच्यम्, 'अहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यञ्च'इति श्रुतेः 'महाभूतान्यहङ्कारः' इति स्मृतेः अहङ्कारस्य व्यापकत्वासम्भवाद् 'अहं मनुरभवम्'इत्यादाविवाहम्पदस्य निष्कृष्टाहङ्कारचैतन्यपरत्वात्।।१५।।

ननु—अनयोः श्रुतिस्मृत्योर्महत्तत्त्वकार्यं मनआदीनां कारणं वैकारिकादिभेदेन त्रिविधमहङ्कारा—

सत्यानन्दप्रबोधिका

के अनुसार श्रुतिवाक्य का अर्थ किया है, जो कि पूर्वमीमांसादर्शन के ''विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्'' (जै.सू. १—३—३) इस सूत्र से विरुद्ध है। अतः भूमात्मैक्य श्रुति से विरोध होने के कारण उक्त स्मृतिवाक्य का सर्वगतत्व अर्थ न लेकर सार्वात्म्यपरक अर्थ ही लेना चाहिए। अतः स्मृति के अनुसार श्रुति का अन्यथा नयन नहीं हो सकता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी अहङ्कार में आत्मत्व सिद्ध करने के लिए कह रहा है कि महाभारत के मोक्षधर्म में कहा है कि ''अनिरुद्धो हि..... सर्वतेजोमयो हि सः। '' (लोक में अनिरुद्ध (सर्वत्रानिरुद्धगतिक) परात्पर महानात्मा है, जो कि व्यक्तत्व को प्राप्त हुआ और जिसने पितामह (ब्रह्मा) को उत्पन्न किया। उसे ही अहङ्कार कहा जाता है और वह सर्व तेजोमय है।) इस प्रकार इस स्मृतिवाक्य के द्वारा अहङ्कार को महानात्मा कहा गया है और '' सर्वे हि सत्यादयः'' (ब्र.सू. ३—३—३८) इस सूत्र के द्वारा एक सत्यविद्या का प्रतिपादन करते हुए कहा गया—''स यो हैतत् (५—४—१) से प्रारम्भ होकर ''तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एतस्मिन्मण्डले यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः..... तस्योपनिषदहमिति'' (बृ.उ.५—५—४) इस श्रुति में दक्षिण अक्षिगतपुरुष के अहं नामत्व के कथन से अहङ्कार में आत्मत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार इस सूत्र के द्वारा अहङ्कार में आत्मत्व कहा गया है। अन्यथा= यदि अहङ्कार आत्मा से भिन्न होता तब महदादि पदों के द्वारा अहङ्कार में अपरिच्छिन्नत्वादि की उक्ति असङ्गत हो जायेगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे ''स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।। (प्रश्नोपनिषद्—४—७) ''मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोध्यत्वं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च'' (प्रश्नोपनिषद्—४—८) इस श्रुति के द्वारा परमात्मा में अहङ्कार अध्यस्त है—यह कहा गया है। अतः अहङ्कार व्यापक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार ''महाभूतान्यहङ्कार...... एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्'' (गीता अध्याय १३ श्लोक ५—६) इस स्मृति वाक्य में अहङ्कारादि को क्षेत्रज्ञ (आत्मा) से भिन्न क्षेत्र कहा गया है। इसलिए अहङ्कार व्यापक आत्मस्वरूप नहीं माना जा सकता है। इसलिए जैसे ''अहं मनुरभवम्'' (बृ.उ. १—४—९) इत्यादि श्रुतियों के घटक ''अहम्'' पद के द्वारा लक्षणावृत्ति से अहङ्काररहित शुद्ध आत्मा का बोध होता है, ठीक उसी प्रकार '' अनिरुद्धोहि लोकेषु....'' इत्यादि स्मृति के घटक अहङ्कार शब्द के द्वारा लक्षणावृत्ति से शुद्धात्मा कहा गया है न कि अहङ्कार। ऐसे ही ''स यो हैतत् (बृ.उ. ५—५—४) इत्यादि श्रुति के घटक ''अहम्'' पद के द्वारा लक्षणावृत्ति से शुद्धात्मा कहा गया न कि परिच्छिन्न अहङ्कार।।१५।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यञ्च'' (प्रश्नोपनिषद्— ४—८) इस श्रुति और ''महाभूतान्यहङ्कारः'' (गी० १३—५) इस स्मृति वाक्यों में महतत्व का कार्य और

दिपदवाच्यं विषयः, न त्वहमर्थः, तथा च स्मृतिः—

महत्तत्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात्। क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत॥

इत्यादेरविरुद्धार्थमादायोपपत्तेः। विरुद्धार्थत्वकल्पनायां 'बुद्धिरव्यक्तमेव च'इत्यत्र क्षेत्रे प्रयुक्तबुद्धिशब्देन संविद उक्तौ संविदोऽपि क्षेत्रत्वापत्तिः। न च बुद्धिशब्दस्य नानार्थत्वम्, न त्वहङ्कारस्यात्मातिरिक्तार्थकत्वमिति वाच्यम्, 'दम्भाहङ्कारसंयुक्ता' इत्यादौ देहे अहंबुद्धौ गर्वे च प्रयोगेण 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कार'इत्यभिधानेन चाहमर्थवाचित्वनियमाभावात्, तथा चात्मवाच्य—हंशब्दोऽस्मश्छब्दसिद्धः, अहङ्कारशब्दोऽनात्मवाची। तत्पर्यायस्त्वहंशब्दो मान्ताव्ययमिति चेत्॥१६॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

मन—इन्द्रिय तथा भूतों का कारण और वैकारिकादि अर्थात् सात्त्विक, राजस और तामस भेद से त्रिविध अहङ्कार ही अहङ्कार और अहम् पद के वाच्य का विषय है। उक्त श्रुति स्मृति के घटक अहम् और अहङ्कार शब्द का विषय अहङ्कार रहित शुद्ध आत्मा नहीं है। इस अर्थ में स्मृति भी प्रमाण है—

महत्तत्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात्। क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः सम्पद्यत॥

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यतो भवः। मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि॥

[भगवान् के सङ्कल्प शक्ति से प्रेरित विकुर्वाण महतत्त्व से क्रियाशक्ति युक्त अहङ्कार सात्त्विक राजस और तामस भेद से तीन प्रकार का उत्पन्न होता है और ऐसे अहङ्कार से मन—इन्द्रिय और महानभूतों की उत्पत्ति होती है।] इस प्रकार से ''महत्तत्वात्....'' इस स्मृति से अविरुद्ध अर्थ को ही ''अहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यञ्च'' (प्रश्नो. ४—८) यह श्रुति और ''महाभूतान्यहङ्कारः'' (गी० १३—५) यह स्मृति कह रही है। अर्थात् उक्त श्रुति और स्मृति के द्वारा अनात्मवाची अहङ्कार कहा गया है। जैसे ''महत्तत्वात्....'' इस स्मृति के द्वारा अनात्मवाची अहङ्कार कहा गया है। यदि ''महत्तत्त्वात्...'' इस स्मृति के द्वारा कथित अनात्मवाची अहङ्कार से विरुद्ध आत्मवाची अहङ्कार की कल्पना उक्त श्रुति और स्मृति के द्वारा करते हैं, तो ''महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च'' (गी० १३—५) में अहङ्कार सहचरित क्षेत्र में प्रयुक्त बुद्धि शब्द के द्वारा भी आत्मा का कथन मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर क्षेत्रज्ञ रूप आत्मा के क्षेत्र कोटि में प्रविष्ट हो जाने की आपत्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ज्ञान (बुद्धि) शब्द नानार्थक है, क्योंकि ज्ञान (बुद्धि) शब्द के द्वारा वृत्तिरूप ज्ञान और चैतन्यरूपज्ञान भिन्न—भिन्न अर्थ का बोध होता है, जबकि अहङ्कार शब्द एकार्थक है, क्योंकि अहङ्कार शब्द के द्वारा आत्मा से भिन्न किसी भी अर्थ का बोध नहीं होता है। अतः ''महाभूतान्यहङ्कारः'' (गी०१३—५) के द्वारा क्षेत्र कोटि में गिनाये जाने पर भी अहङ्कार शब्द लक्षणावृत्ति से आत्मा का ही बोधक होगा और बुद्धि शब्द नानार्थक होने से ''महाभूतान्यहङ्कारः'' (गी०१३—५) के द्वारा क्षेत्र कोटि में प्रविष्ट बुद्धि शब्द अनात्मवाची (वृत्तिरूपज्ञान का बोधक) होगा और ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' में बुद्धि (ज्ञान) शब्द आत्मवाची होगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अहङ्कार शब्द आत्मा का ही बोधक होता है, आत्मा से भिन्न अर्थ का बोधक नहीं होता है—ऐसा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अहङ्कार शब्द आत्मा से भिन्न अर्थ का भी बोधक होता है। जैसे ''दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः'' (गी०१७—५) इस स्थल पर अहङ्कार शब्द देह में होने वाली अहम्बुद्धि का वाचक है और ''गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः'' (अमरकोष का० १—नाट्यवर्ग—श्लो०२२) इस स्थल पर अहङ्कार शब्द गर्वरूप अर्थ का वाचक है। फलितार्थ यह हुआ कि दकारान्त जो अस्मद् शब्द को ''त्वाहौ सौ'' (अ.सू. ७—२—९४) इस सूत्र से अह का आदेश होकर निष्पन्न अहम् शब्द आत्मवाची है और अहङ्कार शब्द अनात्मवाची है और अनात्मवाची अहङ्कार शब्द का पर्यायवाची अहम् शब्द मकारान्त अव्यय है।।१६॥

न, मान्तदान्तत्वभेदेनार्थभेदकल्पनमयुक्तम्। सर्वेषामेव तेषां 'अहम्'इति प्रतीयमानाहङ्कार–विषयत्वमेव, पर्यायतयैव प्रयोगदर्शनात्। अहङ्कारातिरिक्तात्मनि प्रयोगस्तु लक्षणया, मान्तदान्तत्वेना–निर्धारिताहंशब्दस्याहङ्कारे प्रयोगदर्शनस्य नियामकत्वात्। यथा–

'अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः। योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्।।' इति। 'सोऽहङ्कार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः।' इत्यत्र लक्षणयाऽहङ्कारशब्दः आत्मनीति। यत्तु अहमर्थे आत्मानात्मधर्मदर्शनमसिद्धम्, कर्तृत्वादेरात्मधर्मत्वादिति। तत्र कर्तृत्वादेरनात्मधर्मत्वं यथा तथा वक्ष्यामः।।१७।।

ननु–अनात्मधर्मत्वेऽपि कर्तृत्वादेस्तदाश्रयस्याभानेऽपि कर्तृत्वादिकमात्मनि भासताम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि एक ही ''अहम्'' पद में मान्त और दान्त के भेद से अर्थ भेद की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि उदाहृत सभी ''अहम्'' और ''अहङ्कार'' पद समान रूप से चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहमर्थ (अहङ्कार) के ही वाचक माने जाते हैं। अतः उक्त श्रुति स्मृति में जो अहङ्कार शब्द आया है। उसका चिदचिद्ग्रन्थि रूप ही अर्थ है और '' दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः'' इत्यादि में जो अहङ्कार शब्द आया है। वह अहङ्कार गत जो धनित्वाभिजातत्वादि का अभिमान है। उस अभिमान में चिदचिद्रूप अहङ्कार के अभेद की विवक्षा करके अहङ्कार पद का प्रयोग हुआ है और वह भी चिद्चिद् ग्रन्थिरूप अर्थ का ही वाचक है। इस प्रकार लौकिक और वैदिक प्रयोगों में जहां भी अहङ्कार या अहम् शब्द आया है, वह एक ही प्रकारेण चिदचिद्ग्रन्थिरूप अर्थ का ही बोधन कराता है। अर्थात् जैसे अहङ्कार शब्द से चिदचिद्ग्रन्थिरूप अर्थ का बोध होता है, वैसे ही अहम् शब्द से भी चिदचिद्ग्रन्थिरूप अर्थ का बोध होता है। अहङ्कार से अतिरिक्त शुद्धात्मा में अहम् शब्द का प्रयोग लक्षणावृत्ति से होता है। फलितार्थ यह हुआ कि चिदचिद्ग्रन्थि यह अहम् शब्द का वाच्यार्थ है और शुद्धात्मा अहम् शब्द का लक्ष्यार्थ है। मान्तत्वेन या दान्तत्वेन अनिर्धारित जो अहम् शब्द है। उस अहम् शब्द का अहङ्कार में प्रयोग देखा जाता है– यही अहम् पद की शुद्धात्मा में लक्षणा का नियामक (प्रयोजक) है। अर्थात् ऐसा भी अहङ्कार अर्थ में अहम् पद का प्रयोग देखा गया है। जो मान्त है या दान्त है–ऐसा निर्धारण करना जिसका सम्भव नहीं है। इस प्रकार से निर्धारण करना सम्भव न होना ही अहम् पद की शुद्धात्मा में लक्षणा का प्रयोजक है। अर्थात् पूर्वपक्षी के कथनानुसार यदि मान्त और दान्त का भेद स्पष्ट होता तब तो दान्तत्वेन आत्मा का और मान्तत्वेन अहङ्कार का बोधक अहम् शब्द होता किन्तु मान्त और दान्त का भेद स्पष्ट नहीं है। किन्तु ऐसे स्थल पर भी अहम् शब्द से अहङ्कार का बोध होता है। इस पर प्रश्न होगा कि ऐसे स्थल पर शुद्धात्मा का बोध कैसे होगा? इसके उत्तर में कहा कि ऐसा स्थल ही अहम् पद की शुद्धात्मा में लक्षणा का प्रयोजक है। अर्थात् ऐसे स्थल पर अहम् शब्द वाच्यार्थत्वेन चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहङ्कार का बोधक होगा और लाक्षणिकत्वेन शुद्धात्मा का बोधक होगा। जैसे ''अनिरुद्धो हि... सर्वतेजोमयो हि सः।'' इत्यादि स्थलों पर लक्षणा से अहङ्कार शब्द का प्रयोग शुद्धात्मा में हुआ है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि अहमर्थ में आत्मा और अनात्मा दोनों के धर्मों का दर्शन नहीं होता है अपितु कर्तृत्वादि आत्मा के धर्मों का ही दर्शन होता है। अतः अहङ्कार को आत्मस्वरूप ही मानना चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि कर्तृत्वादि धर्म अनात्मा में ही रहते हैं, आत्मा में नहीं–इसका निरूपण अग्रिम प्रकरण में किया जायेगा।।१७।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अहङ्कर्ता'' इस प्रतीति में कर्तृत्वादि अन्तःकरण रूप

'गौरोऽहम्'इत्यत्र शरीरगतगौरत्वमिवेति चेन्न, दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः, तत्रापि देहत्वेनाभानेऽपि गौरत्वमनुष्यत्वादिना तत्प्रतीतेः। अनुमानं च—अहमर्थः, अनात्मा, अहंप्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवत्। न चाहमर्थान्तर्गताधिष्ठानभूतचितोऽपि तत्प्रत्ययविषयत्वात् तत्र व्यभिचारः, येन रूपेणाहम्प्रत्ययविषयता, तेन रूपेण तस्याप्यनात्मत्वात् स्वरूपेणाहम्प्रत्ययविषयत्वाभावान्न व्यभिचारः। अहमर्थः, आत्मान्यः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अनात्मा के धर्म हैं—यह स्वीकार कर लेने पर भी कर्तृत्वादि का जो आश्रय अन्तःकरण है। उस अन्तःकरण रूप आश्रय के भान के विना ही आत्मस्वरूप अहङ्कार में (न कि चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहङ्कार में) उन कर्तृत्वादि अनात्मधर्मों का आरोप होता है—ऐसा ही ''अहङ्कर्ता'' इस प्रतीति में मान लिया जाय। जैसे ''गौरोऽहम्'' इस प्रतीति में गौरत्व देहरूप अनात्मधर्म होने पर भी गौरत्व का जो आश्रय शरीर है। उस शरीर रूप आश्रय का भान ''गौरोऽहम्'' इस प्रतीति में न होने पर भी आत्मस्वरूप अहङ्कार में गौरत्व का आरोप होता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित दृष्टान्त उभयवादी सम्मत नहीं है, क्योंकि उक्त दृष्टान्त में हमारी सम्मति नहीं है, क्योंकि ''गौरोऽहम्'' इस प्रतीति में गौरत्व के आशयीभूत शरीर का शरीरत्वेन भान न होने पर भी गौरत्वेन शरीर का भान होता है। [कहने का भाव यह है कि देह में देहत्व—मनुष्यत्व—गौरत्वादि अनेक धर्म रहते हैं। उसमें से ''गौरोऽहं मनुष्यः'' इस प्रतीति में देहत्वेन देह का भान न होने पर भी गौरत्वेन या मनुष्यत्वेन देह का भान होता है। आत्मा में देहरूप धर्मी का तादात्म्याध्यास हो जाने पर आत्मा में गौरत्वादि धर्मों का अध्यास होता है। अर्थात् पहले आत्मा और शरीर रूप दोनों धर्मियों में तादात्म्याध्यास होता है। इसके पश्चात् शरीर के धर्म गौरत्वादि धर्मों का आत्मा में धर्माध्यास होता है। इसी प्रकार ''अहङ्कर्ता:'' इस स्थल पर भी कर्तृत्व धर्म के आश्रय अन्तःकरण का आत्मा में तादात्म्याध्यास होता है। इसके पश्चात् अन्तःकरण के कर्तृत्वादि धर्मों का आत्मा में धर्माध्यास होता है। कर्तृत्वादि के आश्रय अन्तःकरण का ''अहङ्कर्ता'' इस प्रतीति में भान न होने पर अर्थात् केवल आत्मा का भान मानने पर अन्तःकरण और आत्मा में धर्म्यध्यास नहीं होगा। धर्म्यध्यास न होने पर धर्माध्यास (अन्तःकरण के धर्म गौरत्वादि का आत्मा में अध्यास) भी नहीं हो पायेगा। अध्यास के न होने पर कर्तृत्वादि को आत्मा का वास्तविक धर्म मानने की आपत्ति होगी।] अहमर्थगत अनात्मत्व को सिद्ध करने वाले अनुमान भी हैं। जैसे प्रथम अनुमान का आकार इस प्रकार से है—अहमर्थोऽनात्मा, अहम्प्रत्ययविषयत्वात्, शरीरवत्। [इस अनुमान में पक्ष—अहमर्थ है। साध्य—अनात्मत्व है। हेतु—अहम्प्रत्ययविषयत्व है। दृष्टान्त—''अहं मनुष्यः'' इस प्रतीति में अहम् प्रत्यय का विषयीभूत शरीर है। दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय— ''अहं मनुष्यः'' इस स्थल पर अहम्प्रत्ययविषयत्व शरीर में है, क्योंकि शरीरादि में ''अहं गच्छामि'' इत्यादि स्थलों पर अहम् व्यवहार सर्वसम्मत है और शरीर में साध्य—अनात्मत्व भी है। पक्ष में हेतु का समन्वय—पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों ही मतों में अहमर्थ में अहम्प्रत्ययविषयत्व माना ही जाता है। अतः पक्ष में हेतु भी है। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान होने के कारण पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाने से अहम्प्रत्यय के विषयीभूत अहमर्थ में अनात्मत्व ही मानना पड़ेगा।] पूर्वपक्षी का कथन है कि चिदचिद्ग्रन्थी रूप जो अहमर्थ है। उसके अन्तर्गत अधिष्ठानभूत जो चित् है। उसमें भी अहम्प्रत्ययविषयत्व है किन्तु उसमें साध्य अनात्मत्व नहीं है। अतः व्यभिचारदोष है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अहमाकारवृत्तिविशिष्टचैतन्य में अहम्प्रतीति की विषयता विशिष्टत्व रूप से रहती है और विशिष्टत्वरूप

अहंशब्दाभिधेयत्वात्, अहङ्कारशब्दाभिधेयवत्। न चात्रासिद्धिः, पर्यायताया दर्शितत्वात्।।१८।।

न च त्वयाप्यात्मनो गौरोऽहमित्यनात्मारोपाधिष्ठानत्वं मा न भूवं भूयासमित्यादिना परमप्रेमास्पदत्वं, अहमर्थस्य स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारेणात्मनः स्वप्रकाशत्वं चोक्तम्, तत्सर्वमहमर्थस्यानात्मत्वे न युक्तं स्यादिति वाच्यम्, इदम इवाधिष्ठानावच्छेदकत्वेनाधिष्ठानत्वोक्तेः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

से, उक्त चैतन्य में अनात्मत्व भी माना जाता है। स्वरूपेण अर्थात् निष्प्रकाररूपेण चैतन्य (शुद्ध चैतन्य) में अहम्प्रत्यय की विषयता मानी नहीं जाती है। अतः व्यभिचारदोष नहीं है। अहमर्थगत अनात्मत्व को सिद्ध करने वाले द्वितीय अनुमान का आकार इस प्रकार से है—अहमर्थः आत्मान्यः, अहं शब्दाभिधेयत्वात्, अहङ्कारशब्दाभिधेयवत्। [इस अनुमान में पक्ष—अहमर्थ है। साध्य—आत्मभिन्नत्व है। हेतु—मकारान्त अहम् शब्द का अभिधेयत्व (वाच्यत्व) है। दृष्टान्त—दकारान्त अस्मद् शब्द से निष्पन्न अहङ्कार शब्द अभिधेय है। दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय—पूर्वपक्षी मकारान्त अहम् शब्द की वाच्यता अनात्मवाची अहङ्कार में मानता है और उसमें साध्य आत्मान्यत्व भी मानता है। पक्ष में हेतु का समन्वय—अहम् शब्द का अभिधेयत्व (वाच्यत्व) अहमर्थ में है। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान होने के कारण पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाने से अहमर्थ में आत्मभिन्नत्व की सिद्धि हो जाती है।] पूर्वपक्षी ने खण्ड संख्या १६ में दकारान्त अस्मद् शब्द से निष्पन्न अहम् शब्द का वाची अहमर्थ को आत्मा का बोधक माना था और मकारान्त अहम् शब्द का वाची अहमर्थ को अहङ्कार का बोधक माना था। अतः पूर्वपक्षी के मतानुसार पक्ष में हेतु न जाने से स्वरूपासिद्धिदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अहम् और अहङ्कार पदों की पर्यायता (एकार्थता) खण्ड संख्या १७ में दिखलायी जा चुकी है। अतः पक्ष में अहम् शब्द अधियेत्व के रहने से स्वरूपासिद्धिदोष नहीं होगा।।१८।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''गौरोऽहम्'' इस प्रतीति में गौरत्वादि अनात्मा के अध्यास का अधिष्ठान अहमर्थ रूप आत्मा होता है— ऐसा सिद्धान्ती मानते हैं। इसी प्रकार पञ्चदशीकार ने कहा है—

इयमात्मा परानन्दः परप्रेमास्पदं यतः। मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते।।

[यह नित्य स्वयम्प्रकाश रूप ज्ञान आत्म स्वरूप ही है। यह आत्मा निरतिशय सुखस्वरूप है, क्योंकि स्वाभाविक तथा निरतिशय प्रेम का विषय है। इसी कारण से आत्मा में मेरा अभाव कभी भी मत होवे किन्तु मैं सर्वदा बना रहूं— इस प्रकार का प्रेम देखने में आता है। (पञ्चदशी १—८)] इस प्रकार से अहमर्थ रूप आत्मा में ही परमप्रेमास्पदत्व कहा गया है। इसी प्रकार अहमर्थ की जब तक सत्ता रहती है तब तक अहमर्थ की सत्ता में प्रकाश का व्यभिचार नहीं होता है— इस कारण से आत्मा में स्वप्रकाशत्व सिद्धान्ती मानते हैं। ये सभी सिद्धान्ती के कथन असङ्गत हो जायेंगे, यदि सिद्धान्ती अहमर्थ को आत्मा नहीं मानते हैं। अतः सिद्धान्ती को भी अहमर्थ (अहङ्कार) को आत्मा मानना चाहिए। यही पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अवच्छेद्य वस्तु के धर्मों का गौण रूप से अवच्छेदक में भी व्यवहार होते हुए देखा जाता है। जैसे ''इदं रजतम्'' इस भ्रम स्थल पर वस्तुतः इदमवच्छिन्नचैतन्य ही रजत का अधिष्ठान होता है। किन्तु इदम् अधिष्ठान का अवच्छेदक होने के कारण इदम् में भी गौण रूप से अधिष्ठानत्व का व्यवहार होता है। ठीक इसी प्रकार ''गौरोऽहम्'' इस स्थल पर वस्तुतः अहमर्थावच्छिन्नचैतन्य ही गौरत्वादि का अधिष्ठान होता है, किन्तु अहमर्थ

परमप्रेमास्पदत्वमहमर्थे आत्मैक्यारोपात्। न चैवमन्योन्याश्रयः, सुषुप्तिकालीनप्रकाशाप्रकाशाभ्यां वैधर्म्येण भेदसाधनात्। न चाहमर्थप्रेम्णोऽन्यस्य प्रेम्णोऽननुभवः, परामर्शसिद्धसुषुप्तिकालीनतादृशप्रेमानुभवस्य सत्त्वात्। न च अहिते हितबुद्ध्या प्रेमोत्पत्तिदर्शनेऽपि अप्रेमास्पदे प्रेमास्पदतारोपो न दृष्ट इति वाच्यम्, अहमर्थे आत्मैक्यारोपनिबन्धनं प्रेमास्पदत्वम्, न तु स्वाभाविकमिति ब्रूमः, न तु प्रेमास्पदत्वारोपम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अधिष्ठान का अवच्छेदक होने के कारण अहमर्थ में भी गौणरूप से अधिष्ठानत्व का व्यवहार होता है। इस पर प्रश्न होता है कि अनवच्छिन्नचित् (शुद्धचैतन्य) ही अनात्म पदार्थों का अधिष्ठान होता है, क्योंकि मिथ्यापदार्थ का मिथ्या पदार्थ अधिष्ठान नहीं होता है। अवच्छिन्नचित् मिथ्या माना जाता है। अतः वह अधिष्ठान नहीं हो सकता है। इसका समाधान यह है कि अहमर्थ से रहित शुद्ध चैतन्य रूप अधिष्ठान में ही गौरत्वादि का आरोप होता है किन्तु गौरत्वादि के आरोप से पूर्व अहमर्थ के रहने के कारण अहमर्थ शुद्ध चैतन्य रूप अधिष्ठान का उपरञ्जक होता है। अतः अहमर्थ में भी गौण रूप से अधिष्ठानता का व्यवहार हो जाता है। गौण व्यवहार मात्र से जैसे माणवक को वास्तविक सिंह नहीं माना जाता है, ठीक उसी प्रकार अहङ्कार में गौणरूप से अधिष्ठानता का व्यवहार होने पर भी अहङ्कार को अधिष्ठान नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार से ''गौरोऽहम'' इस स्थल पर प्रदर्शित दोष का निराकरण हो गया। अहमर्थ में जो पञ्चदशीकार के द्वारा परम प्रेमाऽऽस्पदत्व की प्रतीति कही गयी है– वह भी परमप्रेमाऽऽपदीभूत आत्मा के साथ अहमर्थ के तादात्म्याध्यास के कारण है, वास्तविक नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी के द्वारा इस प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष दिया जाता है– परमप्रेमाऽऽस्पद आत्मा में अहमर्थ के तादात्म्याध्यास के सिद्ध हो जाने पर अहमर्थ और आत्मा में भेद की सिद्धि होगी और अहमर्थ तथा आत्मा में भेद की सिद्धि होने पर परमप्रेमाऽऽस्पद आत्मा में अहमर्थ के तादात्म्याध्यास की सिद्धि होगी। सिद्धान्ती का कथन है कि अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि हम नहीं मानते हैं, क्योंकि हम आत्मा में अहमर्थ में तादात्म्याध्यास के द्वारा आत्मा और अहमर्थ में भेद की सिद्धि नहीं करते हैं। अपितु सुषुप्ति कालीन आत्मा का प्रकाश और अहमर्थ (अहङ्कार) का जो अप्रकाश है। एतदुभयकृत जो वैधर्म्य है। उस वैधर्म्य के द्वारा ही आत्मा और अहङ्कार में भेद सिद्ध किया जाता है। अर्थात् ''अहमर्थः आत्मभिन्नः सुषुप्तावप्रकाशमानत्वात् देहादिवत्''। पूर्वपक्षी का कथन है अहमर्थ विषयक जो प्रेम है। उस प्रेम से भिन्न आत्मादि विषयक प्रेम का अनुभव होता नहीं है। अतः अहमर्थ ही प्रेमाऽऽस्पद आत्मा है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सुषुप्ति में परमप्रेमानुभव सबको होता है। वह सुषुप्ति के अनन्तर जाग्रत्कालीन ''सुखमहमस्वाप्सम्'' इस प्रकार से सुषुप्तिकालीन स्मृति के द्वारा सिद्ध है। ऐसे प्रेमानुभव को अहमर्थविषयक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सुषुप्तिकाल में अहमर्थ (अहङ्कार) रहता ही नहीं है। अतः अहमर्थ से भिन्न आत्मा विषयक प्रेम की प्रसिद्धि होने से आत्मा विषयक प्रेम को ही परमप्रेमाऽऽस्पद मानना उचित ही है। पूर्वपक्षी का कथन है कि अहित में हित बुद्धि से प्रेम की उत्पत्ति देखने पर भी अप्रेमास्पद में प्रेमाऽऽस्पदत्व का आरोप नहीं देखा जाता है। अतः अप्रेमास्पद अहमर्थ में प्रेमास्पदत्व का आरोप नहीं माना जा सकता है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि हम अप्रेमाऽऽस्पद अहमर्थ में प्रेमाऽऽस्पदत्व का आरोप नहीं मानते हैं, किन्तु अहमर्थ में जो प्रेमाऽऽस्पदत्व का अनुभव होता है, वह तो आत्मा में अहमर्थ के तादात्म्याध्यास के कारण होता है। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि अहमर्थ में प्रेमाऽऽस्पदत्व का भान स्वाभाविक नहीं है और अहमर्थ में प्रेमाऽऽस्पदत्व का आरोप भी नहीं होता है। इस प्रकार अहमर्थ और आत्मा का भेद निश्चित हो जाने पर भी अहमर्थ के प्रकाश

अहमर्थात्मनोर्भेदेऽपि अहमर्थस्य प्रकाशाव्यभिचारः स्वप्रकाशात्मसम्बन्धं विना न घटत इति सोऽपि तत्र प्रमाणमिति नायुक्तिलेशोऽपि।।१९।।

न च 'समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्।।' इति वाचस्पत्युक्तेरन्तःकरणगताप्रेमास्पदत्वस्यैवात्मनि प्रतीत्यापत्तिरिति वाच्यम्, किमधिष्ठानगत–धर्मस्यारोप्येऽभानमापाद्यते? आरोप्यगतधर्मस्याधिष्ठाने भानं वा? नाद्यः, यद्धर्मवत्तया ज्ञायमाने

सत्यानन्दप्रबोधिका

का अव्यभिचार जो ''मा न भूवं हि भूयासम्....' इस प्रकार से पञ्चदशीकार ने कहा है। उससे यह सिद्ध हो रहा है कि स्वयम्प्रकाश आत्मा के साथ अहमर्थ का तादात्म्याध्यास है, क्योंकि उसके विना अहमर्थ में प्रकाश का अव्यभिचार सम्भव नहीं हो पायेगा। अतः प्रकाश का अव्यभिचार भी अहमर्थ और आत्मा के भेद में प्रमाण है। अतः सिद्धान्ती की प्रक्रिया में किसी भी प्रकार की अयुक्तता नहीं दिखायी जा सकती है।।१९।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्'' (वे०द०१—२—१) की भामती टीका में आचार्यप्रवर श्रीवाचस्पतिमिश्र ने कहा है—

समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत्।।

[रज्जुरूप विषय (अधिष्ठान) में जहां सर्प का समापरोप होता है। वहां सर्परूप समारोपित पदार्थ के भीषणत्वादि रूपों (धर्मो) को लेकर विषय (अधिष्ठान=रज्जु) रूपवान् अर्थात् भीषणत्वदि धर्मों से युक्त अर्थात् भीषण हो जाता है, किन्तु इसके विपरीत विषय (अधिष्ठान) के रूप (धर्म=उपादेयत्वादि) से समारोपित पदार्थ सर्प रूपवान्=धर्मवान्=उपादेय नहीं होता है।] भामतीकार के इस कथन से यह सिद्ध होता है कि भ्रम स्थल पर अधिष्ठान में आरोप्य पदार्थ के सभी धर्म प्रतीत होते हैं। अतः आत्मा रूप अधिष्ठान में अध्यस्त अन्तःकरण के धर्म अप्रेमाऽऽस्पदत्व की प्रतीति की आपत्ति आत्मा रूप अधिष्ठान में होगी। अतः सिद्धान्ती ने जो कहा था कि आत्मा और अन्तःकरण में तादात्म्याध्यास है। इसलिए आत्मस्थप्रेमाऽऽस्पदत्व धर्म की प्रतीति अन्तःकरण में होती है—वह असङ्गत है। यही पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी भामतीकार के उक्त कथन से क्या अधिष्ठानगत धर्मों का आरोप्य में अभान का आपादन करना चाह रहा है? अथवा समारोपित पदार्थगत धर्मों का अधिष्ठान में भान का आपादान करना चाह रहा है? प्रथम पक्ष उचित नहीं है,क्योंकि अधिष्ठान का वह धर्म आरोप्य पदार्थ में नहीं भासता है। जिस धर्म वाले के रूप से अधिष्ठान के ज्ञान से आरोप्य पदार्थ की निवृत्ति हो जाती है। अधिष्ठानगत उस धर्म का आरोप्य पदार्थ में भान नहीं होता है। किन्तु अधिष्ठानगत अन्य धर्मों का भान आरोप्यपदार्थ में नहीं होता है—ऐसा कोई नियम नहीं है। जैसे शुक्तिनिष्ठ चाकचिक्य समारोप्य रजत में भासता ही है। प्रकृत में प्रेमाऽऽस्पदत्व ऐसा धर्म नहीं है कि यद् धर्मवत्तया आत्मा के ज्ञान से अध्यस्त अन्तःकरण की निवृत्ति होती है। इसलिए अन्तःकरण में प्रेमाऽऽस्पदत्व के अभान का आपादन नहीं किया जा सकता है। द्वितीय पक्ष भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानगत धर्म की प्रतीति के द्वारा आरोप्यगत जिस धर्म की प्रतीति प्रतिबद्ध हो जाती है। आरोप्यगत उस धर्म की प्रतीति अधिष्ठान में नहीं होती है। अर्थात् आरोप्यगत उन्हीं धर्मों की प्रतीति अधिष्ठान में होती है जिसकी प्रतीति अधिष्ठानगत धर्मों की प्रतीति के द्वारा प्रतिबद्ध न होती हो। इस नियम को स्वीकार करने पर प्रकृत में किसी भी प्रकार का विरोध उपस्थित नहीं होता है, क्योंकि अध्यस्त रूप अन्तःकरणगत अप्रेमाऽऽस्पदत्व धर्म की प्रतीति

अधिष्ठाने आरोप्यनिवृत्तिस्तस्यैवारोप्येऽभाननियमेन प्रकृते तदभावात्। न द्वितीयः, अधिष्ठानगतधर्म– प्रतीत्यविरोधिनः आरोप्यगतस्याधिष्ठाने भानेऽपि प्रकृते अविरोधात्। आत्मैक्याध्यासकाल एव प्रेमास्पदत्वसंभवेनारोप्येऽपि अप्रेमास्पदत्वाप्रतीतेः कुतो विषये तत्प्रतीतिः? यथा इदमिति रजताध्यासकाल एव रजते अनिदन्त्वाप्रतीतिः। यत्तु कैश्चित् परिह्रियते सुखानुभवरूपस्यात्मनो अहमर्थाद् भेदेनैव सुखमनुभवामीत्यादौ प्रतीतिः इति, तन्न, वैषयिकसुखानुभवस्यात्मान्यत्वात्।।२०।।

न च मोक्षेऽहमर्थाभावेनात्मनाशो मोक्ष इति बाह्यमतापत्तिः प्रेमास्पदस्याहमर्थस्य त्वन्मतेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

आत्मरूप अधिष्ठानगत प्रेमाऽऽस्पदत्व धर्म की प्रतीति के द्वारा अन्तःकरणगत अप्रेमाऽऽस्पदत्व की प्रतीति प्रतिबद्ध हो जाती है। अतः अन्तकरणगत अप्रेमाऽऽस्पदत्व धर्म की प्रतीति आत्मा में नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह है कि प्रेमाऽऽस्पदत्वेन भासमान जो आत्मा है। उस आत्मा के साथ अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास के समय ही अन्तःकरण में प्रेमाऽऽस्पदत्व की प्रतीति सम्भव हो जाने पर आरोप्य (अन्तःकरण) में भी अप्रेमाऽऽस्पदत्व की प्रतीति ही नहीं होती है। अतः उक्त काल में जब अन्तःकरण में ही अप्रेमाऽऽस्पदत्व की प्रतीति नहीं होती है तब उक्त काल में विषय (अधिष्ठान=आत्मा) में अप्रेमाऽऽस्पदत्व की प्रतीति कैसे हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है। जैसे शुक्ति के साथ रजत का तादात्म्याध्यास हो जाने से रजत में इदन्त्व की प्रतीति सम्भव हो जाने से रजत में अनिदन्तत्व की प्रतीति ही नहीं होती है। अतः शुक्ति के साथ रजत के तादात्म्याध्यास काल में अनिदन्तत्व का भान शुक्ति में नहीं होता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सिद्धान्ती के मत में जब आत्मा के साथ अहमर्थ (अहङ्कार) का अभेदेन अध्यास है, तब उस अभेदेन अध्यास काल में भेदेन प्रतीति (अहमर्थ का आत्मा से भेदेन प्रतीति) नहीं होनी चाहिए। जबकि बद्धावस्था में भी ''अहं सुखमनुभवामि'' यहां भेदेन प्रतीति हो रही है, क्योंकि इस प्रतीति का अर्थ है कि मैं सुखानुभव का कर्ता हूं। अर्थात् सुखानुभवरूप आत्मा से मैं भिन्न हूं। अतः अहमर्थ से अत्यन्तभिन्न प्रतीयमान आत्मा का तादात्म्याध्यास अहमर्थ में नहीं माना जा सकता है। इसलिए अहङ्कारगत प्रेमाऽऽस्पदत्व मानना उचित नहीं है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सुखस्वरूप शुद्धात्मा होने पर भी ''अहं सुखमनुभवामि'' इस अनुभव का विषयीभूत जो सुख है। वह शुद्धात्मा नहीं है किन्तु विषयसम्बन्धजन्यसुखरूपवृत्यवच्छिन्नात्मा है। इसलिए ''अहं सुखमनुभवामि'' इस प्रतीति काल में शुद्धात्मा से अहमर्थ के भेद की प्रतीति नहीं होती है, अपितु विषयसम्बन्धजन्यसुखरूपवृत्यवच्छिन्नात्मा का ही भेद अहमर्थ में भासता है। अतः आत्मा के साथ अहमर्थ के तादात्म्याध्यास के कारण अहमर्थ में प्रेमाऽऽस्पदत्व मानने पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।।२०।।

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती मोक्ष में अहमर्थ का अभाव मानते हैं। किन्तु अहमर्थ ही आत्मा है। अतः आत्मा का नाश ही मोक्ष है–ऐसा मानने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी, क्योंकि शून्यवादी जैसे प्रेमाऽऽस्पद आत्मा का नाश मानता है, ठीक वैसे ही सिद्धान्ती भी प्रेमाऽऽस्पद अहमर्थ का नाश मान रहे हैं। (यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रेमाऽऽस्पद अहमर्थ से भिन्न जो आत्मा है, उसका नाश हम मोक्ष में नहीं मानते हैं। अतः शून्यवादापत्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) प्रेमाऽऽस्पद आत्मा से भिन्न जो शून्यतत्त्व है, उसका शून्यवादी के मत में भी नाश नहीं माना जाता है। अतः सिद्धान्ती के बाह्यमत में प्रवेश की आपत्ति बनी ही रहेगी।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तमत में मुख्य प्रेमाऽऽस्पदता शुद्धात्मा में

नाशात्, तदन्यस्य शून्यस्य तन्मतेऽप्यनाशादिति वाच्यम्; औपाधिकप्रेमास्पदनाशेन बाह्यमतप्रवेशापत्तौ शरीरनाशेऽपि तदापत्तेः। एतावताहमर्थस्य मुक्त्यनन्वयेऽपि 'माममृतं कृधि' 'ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्'इति श्रुतिरपि चैतन्यगतमेवामृतत्वं विषयीकरोति, 'अहं पुष्टः स्याम्'इतीच्छेव स्वसमयविद्यमानशरीरवृत्तिपुष्टिम्। न च 'शरीरं पुष्टं स्याद्'इति शरीरमात्रे पुष्टीच्छावद् 'आत्म मात्रं मुक्तं स्याद्'इतीच्छाया अदर्शनेन मुक्तेरनिष्टत्वापत्तिरिति वाच्यम्; इच्छासमये अन्तःकरणाध्याससम्भवेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानी जाती है और गौण प्रेमाऽऽस्पदता अहङ्कार और शरीरादि में मानी जाती है। मोक्षावस्था में गौण प्रेमाऽऽस्पदता का आश्रयीभूत अहङ्कारादि का नाश होने पर भी मुख्य प्रेमाऽऽस्पदता का आश्रयीभूत शुद्धात्मा का नाश हम नहीं मानते हैं। जबकि शून्यवाद में मोक्षावस्था में आत्मा का भी नाश माना जाता है। अतः सिद्धान्तमत में शून्यवाद की आपत्ति देना असङ्गत है। औपाधिक प्रेमाऽऽस्पद (अहङ्कार) के नाश से शून्यवाद में प्रवेश की आपत्ति सिद्धान्ती के मत में होगी—यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहता है तब तो पूर्वपक्षी के मत में भी शून्यवाद की आपत्ति होगी, क्योंकि पूर्वपक्षी भी औपाधिक प्रेमाऽऽस्पद (शरीर) का नाश मोक्षावस्था में मानता है। इस प्रकार गौण प्रेमाऽऽस्पद अहमर्थ (अहङ्कार) का मुक्ति में अन्वय न होने पर भी "यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुदः आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि (ना०उ०) तथा "ज्योतिरहं विरजा विपात्मा भूयासम्" (म.ना.उ.२०—२५) (ज्योतिस्वरूप निर्मल पाप रहित मैं होऊं) इत्यादि श्रुतियों में आये हुए "माम्" और "अहम्" पदों का अर्थ अहमर्थ नहीं है, किन्तु लक्षणावृत्ति से शुद्धात्मा है। इस प्रकार इन श्रुतियों के द्वारा शुद्धात्मा को ही मोक्षान्वयी कहा गया है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे "अहं पुष्टः स्याम्" यहां पुष्टिविषयिणी इच्छा है। इस इच्छा का विषय पुष्टि है। वह पुष्टि वर्तमान की है? या भविष्य की? इस पर कह रहे हैं कि स्व= इच्छा, उसका समय = वर्तमानकाल, उस वर्तमानकाल में विद्यमान जो शरीर है। उस शरीर में रहने वाली जो भाविपुष्टि है। उसको उक्त इच्छा विषय करती है। ठीक इसी प्रकार उक्त श्रुतियों में जो अमृतत्वनिर्मलत्वादि होने की इच्छा है। वह भी स्व=इच्छा, उसका समय= वर्तमान काल=बद्धकाल। उस बद्धकाल में विद्यमान जो आत्मा। उस आत्मा में रहने वाला जो भाविविरजत्वादि है। उसको उक्त इच्छा विषय करती है। अतः मुक्ति अवस्था में अहङ्कार का अभाव होने पर भी "अहं मुक्तं स्याम्" ऐसी इच्छा की उपपत्ति हो जायेगी और शून्यवाद की आपत्ति भी नहीं होगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि "मम शरीरं पुष्टं स्यात्" इत्यादि स्थलों पर अहमर्थ से असम्बद्ध शरीर में पुष्टि की इच्छा नहीं होती है किन्तु अहमर्थ से सम्बद्ध शरीर में पुष्टि की इच्छा होती है। ठीक इसी प्रकार अहमर्थ से असम्बद्ध जो आत्मा, तन्निष्ठ मुक्ति की इच्छा कोई नहीं करता है अपितु अहमर्थ से सम्बद्ध जो आत्मा, तन्निष्ठ मुक्ति की "अहं मुक्तः स्याम्" इस प्रकार से इच्छा करते हैं। अतः सिद्धान्ती जब मोक्षकाल में अहमर्थ का नाश मान रहे हैं तब यह अनिष्ट की आपत्ति होगी कि अहमर्थ से असम्बद्ध आत्मा के मुक्ति की इच्छा ही नहीं होगी। जैसे मैं से असम्बद्ध शरीर के पुष्टि की इच्छा कोई नहीं करता है। अर्थात् मैं नहीं रहूं और शरीर पुष्ट हो जाय—ऐसी कोई इच्छा नहीं करता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इच्छा का समय बद्धकाल होता है। अतः बद्धकालीन इच्छा के समय अन्तःकरण और आत्मा का तादात्म्याध्यास होने के कारण अहमर्थ से असम्बद्ध शुद्धात्मा के मुक्ति की इच्छा यद्यपि नहीं होती है किन्तु अहमर्थ से

यद्यपि नात्ममात्रगतमुक्तीच्छा, तथापि विशिष्टगतमुक्तीच्छाया एव विवक्षितविवेकेन विशेष्यमात्रगत— मुक्तिविषयत्वपर्यवसानात् तस्यामिष्टत्वोपपत्तेः। न चाहमर्थस्यान्तःकरणग्रन्थित्वे 'मम मनः'इति धीर्न स्यात्; चिदचिद्ग्रन्थिरहङ्कारः; 'अचिन्मात्रमन्तःकरणम्'इति भेदेन षष्ठ्युपपत्तेः। न चैवं 'मनः स्फुरति मनोऽस्ति'इत्यादिज्ञानादहमिति ज्ञानस्य वैषम्यानुभवो न स्यात्, चिदचित्संवलनविषय— त्वाविशेषादिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशिष्ट आत्मा के मुक्ति की ही इच्छा होती है, तथापि विशिष्टगत जो मुक्ति की इच्छा, उसका पर्यवसान शुद्धात्मा की मुक्ति की इच्छा में होता है, क्योंकि विवक्षित विवेक से अर्थात् गुरु उपदेशादि से मिथ्या अहमर्थ से आत्मा का पार्थक्य हो जाने से विशेष्यमात्रगत अर्थात् अहमर्थरूप विशेषण से रहित शुद्धात्मा गत मुक्ति में ही ''अहं मुक्तः स्याम्'' इस इच्छा का पर्यवसान होता है। अर्थात् जब गुरु आदि के द्वारा शिष्य यह समझ जायेगा कि अहमर्थ आत्मा का स्वरूप नहीं है, किन्तु अहमर्थ एक मिथ्या पदार्थ है। तब अहमर्थ के मोक्षकाल में न रहने पर भी केवल आत्मा के मुक्ति की इच्छा मुमुक्षु को ही सकती है। इस प्रकार उक्त इच्छा की पर्यवसित विषयता को लेकर शुद्धात्मगत मुक्ति में इष्टत्व की उपपत्ति हो जाती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के अनुसार अहमर्थ आत्मा और अन्तःकरण की ग्रन्थिरूप है। अतः अन्तःकरण अहमर्थ के अन्तर्गत है। इसलिए अन्तःकरण को अहमर्थ से भिन्न सिद्धान्ती नहीं मान सकते हैं किन्तु ''मम मनः'' ऐसी बुद्धि होती है। जिसके द्वारा अहमर्थ और अन्तःकरण में भेद सिद्ध होता है, क्योंकि ''मम'' में जो षष्ठी है। उसके द्वारा भेद का बोधन हो रहा है। इसलिए ''मम मनः'' इस अनुभव के आधार पर अहमर्थ और अन्तःकरण को भिन्न ही मानना चाहिए। अन्यथा ''मम मनः'' ऐसे बुद्धि की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि चित् तथा अचित् इन दोनों की ग्रन्थि का नाम है अहङ्कार। केवल अन्तःकरण अचिन्मात्र है। इसलिए चित्तादात्म्यापत्तिविशिष्ट अहङ्कार से केवल अन्तःकरण का भेद माना जाता है। इस प्रकार विशिष्ट—शुद्ध का भेद लेकर ''अहं दण्डी ममायं दण्डः'' के समान ''मम मनः'' ऐसी बुद्धि की उपपत्ति चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहङ्कार को मानने पर भी हो जायेगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सिद्धान्ती अहमर्थ का स्वरूप चिदचिद्ग्रन्थि रूप स्वीकार करते हैं, तब ''मनः स्फुरति'', ''मनोऽस्ति'' इत्यादि प्रतीतियों से ''अहमस्मि'' इत्यादि प्रतीतियों में जो वैषम्य का अनुभव होता है। वह सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि उक्त तीनों प्रतीतियों का विषय समान रूप से चिदचिद्ग्रन्थिरूप ही है। जैसे ''मनः स्फुरति'' यहां पर भी स्फुरणरूपचित् के साथ मन रूप अचिद् का संवलन रूप विषय अर्थात् चिदचिद्ग्रन्थिरूपविषय सिद्ध हो जायेगा। इसी प्रकार ''मनोऽस्ति'' यहां पर सद्रूपचिद् के साथ मनरूप अचिद् का संवलनरूप विषय (चिदचिद्ग्रन्थिरूपविषय) सिद्ध हो जायेगा और अहमर्थ को सिद्धान्ती चिदचिद्ग्रन्थिरूप मानते ही हैं।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि संवलन=ग्रन्थि शब्द का अर्थ सम्बन्धमात्र विवक्षित नहीं है किन्तु चित् के साथ अचित् का तादात्म्येन भान होना है। ''अहमस्मि'' इत्याकारक प्रतीति स्थल पर चिदचित् का तादात्म्येन भान होता है, किन्तु ''मनः स्फुरति'' और ''मनोऽस्ति'' इत्याकारक प्रतीतियों के स्थल पर मन के साथ स्फुरण (चित्) और सत्ता (चित्) का आश्रयत्वरूप सम्बन्ध भासता है न कि तादात्म्यसम्बन्ध। अथवा स्फुरणत्व का अर्थ है अनावृत्तचित्त्व। ''मनः स्फुरति'' इत्यादि स्थलों पर स्फुरणत्वावच्छिन्नतादात्म्य के अवच्छेदक के रूप से मन का उल्लेख

वाच्यम्, संवलनं हि न सम्बन्धमात्रम्, किन्तु तादात्म्येन प्रतिभासः। स च तत्र नास्तीति विशेषात्॥२१॥

ननु— सर्वापि भ्रान्तिर्द्व्यंशविषया, अन्यथा निरधिष्ठानकभ्रमापत्तेः, न च 'अहम्'इति बुद्धेः द्व्यंशत्वमनुभूयते। कल्प्यते चेत्, आत्मेति बुद्धेरपि द्व्यंशत्वं कल्प्यतामिति चेन्न, किमिदं द्व्यंशविषयत्वम्? अधिष्ठानारोप्यविषयत्वं चेत्तर्हीष्टापत्तिः, अहमर्थमिथ्यात्वस्यैव द्वितीयांशविषयत्वे प्रमाणत्वात्। आत्मेत्यतत्र तु द्व्यंशविषयत्वे नैवं प्रमाणमस्ति, येन तथा कल्प्येत। न च द्व्यंशविषयत्वं भिन्नभिन्नप्रकारावच्छिन्नाधिष्ठा—

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है और ''अहम्'' इस स्थल पर अविद्योपहितचित्त्वावच्छिन्न तादात्म्य का उल्लेख होता है। इस प्रकार विषय भेद के कारण उक्त प्रतीतियों में जो वैषम्य का अनुभव होता है। उसकी उपपत्ति हो जायेगी॥२१॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सभी भ्रान्तिज्ञान द्वयंश (अधिष्ठान और आरोप्यरूप दो अंश) विषयक माने जाते हैं। यदि भ्रान्तिज्ञान का विषय केवल आरोप्यपदार्थ ही माना जाय तब तो निरधिष्ठानक भ्रम की आपत्ति होगी। अतः ''अहम्'' इस प्रतीति को भ्रान्तिरूप मानने पर ''इदं रजतम्'' के जैसे इस प्रतीति में भी दो अंशों का भान क्यों नहीं माना जाता है? यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''अहम्'' यह भ्रान्ति भी द्वयंशविषयक होती है—एक चिदंश (अधिष्ठान अंश) और दूसरा—अचिदंश (आरोप्य अंश) इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ऐसा मानने में कोई भी अनुभवादि प्रमाण नहीं है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''अहम्'' इत्याकारक भ्रान्ति स्थल पर द्वयंशविषयक अनुभव न होने पर भी दो अंशों की कल्पना की जाती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अहम्'' इस प्रतीति में दो अंशों का अनुभव न होने पर भी यदि सिद्धान्ती दो अंशों की कल्पना करते हैं तब तो ''आत्मा'' इत्याकारक जो बुद्धि होती है। यहां पर भी दो अंशों का अनुभव न होने पर भी इस बुद्धि को भी दो अंश विषयक मानने की भी आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी भ्रमज्ञानगत द्व्यंशविषयकत्व है—इससे यदि यह कहना चाह रहा है कि भ्रमज्ञान की विषयता अधिष्ठान और आरोप्य दोनों में रहती है, तब तो हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि ''अहम्'' इत्याकारिका बुद्धि की विषयता अधिष्ठान और आरोप्य दोनों में हम मानते ही हैं। [अहमर्थ में केवल एक ही अंश (आत्मा) है—ऐसा पूर्वपक्षी मानता है और सिद्धान्ती उस आत्मारूप अधिष्ठान अंश से अतिरिक्त आरोप्य अंश भी मानते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि ''अहम्'' इत्याकारिका बुद्धि की विषयता आत्मा से अतिरिक्त आरोप्य में भी है—इसमें प्रमाण क्या है? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] अहमर्थ के मिथ्यात्व को ही द्वितीयांशविषयत्व में प्रमाणत्व के रूप से माना जाता है। यहां पर अनुमानप्रमाण का आकार इस प्रकार का है—''अहम्'' इत्याकारिका धीः, अधिष्ठानारोप्यैतदुभयविषया, मिथ्यार्थविषयत्वात्, भ्रमस्थलीयेदं रजतमिति धीवत्। इस अनुमान के द्वारा अहमर्थगत द्व्यंशविषयत्व सिद्ध होता है, जबकि ''आत्मा'' इत्याकारिका बुद्धि के द्व्यंशविषयकत्व में कोई प्रमाण नहीं है। अतः उसमें अधिष्ठान और आरोप्य रूप दो अंशों के विषयकत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यत् प्रकारावच्छिन्नत्वेन अधिष्ठान भ्रान्ति का विषय है, तद्भिन्नप्रकारावच्छिन्नत्वेन आरोप्य को भ्रान्ति का विषय माना जाता है। इस प्रकार विभिन्नप्रकारावच्छिन्नाधिष्ठानारोप्योभयविषयक भ्रमज्ञान होता है। [अर्थात् अधिष्ठाननिष्ठ विषयतावच्छेदकीभूत प्रकार से आरोप्यनिष्ठविषयतावच्छेदकीभूत प्रकार भिन्न होता है। उन भिन्न प्रकारों से युक्त जो दो विषय (अधिष्ठान और आरोप्य) होते हैं। वे ही भ्रमज्ञान के विषय होते हैं।

नारोप्यविषयत्वम्, रजतत्वसंसर्गारोपौ निबन्धनेदंरजतमिति प्रतीतौ व्यभिचारात्। न हि रजतत्वेऽपि तत्र कश्चन प्रकारो भासते, रजतादेस्तत्र प्रकारत्वकल्पने मानाभावात्, तत्कल्पनां विनैवोपपत्तेः, तथा कल्पनायामतिप्रसङ्गादप्रयोजकत्वाच्च। यद्वा— अत्रापि 'अहं स्फुरामि' 'अहमस्मि'इति द्व्यंशता भात्येव 'रूप्यं स्फुरति' 'रूप्यमस्ति'इत्यत्रेव। इयांस्तु विशेष—यत्तत्र इदंत्वावच्छिन्नस्फुरणमधिष्ठानमिति इदं

सत्यानन्दप्रबोधिका

जैसे —''इदं रजतम्'' इस स्थल पर ''इदम्'' (अधिष्ठान) निष्ठविषयता का अवच्छेदकीभूत प्रकार इदन्त्व है और रजत (आरोप्य) निष्ठ विषयता का अवच्छेदीभूत प्रकार रजतत्व है। इस प्रकार इन दोनों भिन्न—भिन्न प्रकार वाले दो विषय (अधिष्ठान और आरोप्य) ''इदं रजतम्'' इस भ्रमज्ञान के होते हैं। अतः पूर्वपक्षी के अनुसार सिद्धान्ती के उक्त अनुमान का आकार इस प्रकार का होगा—''अहम्'' इति ज्ञानं विभिन्नप्रकारावच्छिन्नाधिष्ठानारोप्योभयविषयकम्, भ्रमत्वाद्, ''इदं रजतम्'' इत्याकारिका भ्रमात्मिकाप्रतीतिवत्। ऐसा होने पर सिद्धान्ती को यह हानि होगी कि सिद्धान्ती ''अहम्'' इत्याकारिका भ्रान्ति के जो दो विषय चिद् और अचिद् मानते हैं उसमें से अचिद् अंशनिष्ठविषयता का अवच्छेदकीभूत प्रकार अन्तःकरणत्व—जड़त्वादि मिल जायेगा किन्तु चिद् (आत्मा) अंशनिष्ठविषयता का अवच्छेदकीभूत प्रकार कोई मिलेगा नहीं, क्योंकि सिद्धान्ती आत्मा को निर्धर्मक मानते हैं। अतः भिन्नभिन्नप्रकारावच्छिन्नविषयता न होने के कारण ''अहम्'' इत्याकारिका बुद्धिगत द्व्यंशविषयकत्व नहीं माना जा सकता है। अतः सिद्धान्ती के अनुमान में बाधदोष होगा। यही पूर्वपक्षी का आशय है।]

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि ''इदं रजतम्'' यह भ्रान्ति दो प्रकार की होती है। प्रथम—इदम् में रजत के तादात्म्य के आरोप्य से घटित। द्वितीय—इदम् में रजतत्व के संसर्ग (समवाय) के आरोप से घटित। इस संसर्गभ्रम में सिद्धान्ती व्यभिचार दे रहे हैं। अर्थात् पूर्वपक्षी के द्वारा कथित हेतु के रहने पर भी साध्य नहीं है। जैसे जब इदम् में रजतत्व का संसर्गभ्रम होता है तब ऐसे स्थल पर इदम् (अधिष्ठान) में इदन्त्व प्रकार मिल जायेगा किन्तु रजतत्व (आरोप्य) में रजतत्वत्व प्रकार होता नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि इदम् में रजतत्व के संसर्गभ्रम में हेतु (भ्रमत्व) के रहने पर भी साध्य (विभिन्नप्रकारावच्छिन्नाधिष्ठानारोप्योभयविषयकत्व) नहीं है। अतः भ्रमत्व हेतु व्यभिचारदोष से ग्रस्त हो जाने के कारण अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि रजतत्व जैसे रजत में आधारत्व सम्बन्ध से प्रकार है, वैसे ही रजतत्व में रजत आधेयता सम्बन्ध से प्रकार हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि रजतत्व में रजतादि के प्रकारत्व की कल्पना में प्रमाणाभाव है, क्योंकि उक्त रजतत्वसंसर्गारोप स्थल पर रजतत्व में रजतादि प्रकार की कल्पना किये विना ही इदम् में रजतत्व के संसर्ग का आरोप्य हो जाने से ''इदं रजतम्'' इस भ्रान्ति की उपपत्ति हो जाती है तथा कल्पनायाम्=वृत्तिता के अनियामक आधेयतादि सम्बन्ध को प्रकारतावच्छेदक सम्बन्ध मानने पर, अतिप्रसङ्ग होगा— जैसे गगन में शब्द आधारता सम्बन्ध से रहता है, वैसे ही गगन की आधेयता सम्बन्ध से शब्द में वृत्तित्व सिद्ध हो जाने से गगन को अवृत्ति पदार्थ नहीं माना जा सकेगा। दूसरी बात यह भी है कि रजतत्व में आधेयता सम्बन्ध से रजत के प्रकार होने में कोई नियामक भी नहीं है। पहले पूर्वपक्षी ने कहा था कि ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रान्ति स्थल पर द्व्यंश प्रत्यक्ष से सिद्ध है किन्तु ''अहम्'' इस प्रतीति को भ्रान्ति मानने पर द्व्यंश प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है। सिद्धान्ती के द्वारा ''अहम्'' इस प्रतीति में द्व्यंश प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं किया गया अपितु अनुमान से किया गया। इस अरुचि के कारण ''अथवा'' से पुनः समाधान दिया जा रहा है कि ''अहम्'' इत्याकारिका बुद्धि में द्व्यंश सिद्ध करने के लिए अनुमानरूप

रूप्यमिति धीः, इह तु स्फुरणमात्रमधिष्ठानमिति स्फुरामीत्येव बुद्धिः। न च भ्रमस्याप्यध्यस्तत्वेनाधिष्ठानत्वायोगः, भ्रान्तोऽसि, स्फुरणं चैतन्यं ब्रूमः न त्वविद्यावृत्त्यादिकम्। एवं च न प्रत्यक्षमहमर्थस्यात्मत्वे प्रमाणम्।।२२।।

नाप्यनुमानम्। तथाहि—अहमर्थो, मोक्षान्वयी, तत्साधनकृत्याश्रयत्वात्, सम्मतवद् इत्यत्र विशेषव्याप्तौ दृष्टान्ताभावः। न हि कृत्याश्रये मोक्षान्वयित्वं क्वचित् सम्प्रतिपन्नमस्ति। सामान्यव्याप्तेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु उक्त बुद्धि में द्व्यंश प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''अहम्'' इस प्रत्यय में भी ''अहं स्फुरामि'', ''अहमस्मि'' इस प्रकार से अहमर्थ और स्फुरण रूप दो अंशों का भान प्रत्यक्ष सिद्ध है। जैसे ''रूप्यं स्फुरति'', ''रूप्यमस्ति'' इत्यादि प्रतीतियों में रूप्य तथा स्फुरण या सत्ता रूप दो अंशों का भान प्रत्यक्ष सिद्ध है। ''रूप्यं स्फुरति'' और ''अहं स्फुरामि'' इनमें इतना अन्तर है कि ''रूप्यं स्फुरति'' इस स्थल पर जो रजत का स्फुरण होता है, वह इदन्तया स्फुरण होता है। इसलिए यहां इदन्तावच्छिन्न स्फुरण को अधिष्ठान माना जाता है, न कि स्फुरणमात्र को। इसीलिए ''इदं रूप्यं स्फुरति'' इत्याकारिका बुद्धि होती है। ''अहं स्फुरामि'' इस स्थल पर ''अहम्'' का जो स्फुरण होता है। वह इदन्तया नहीं होता है अपितु स्फुरणमात्र होता है। इसलिए यहां स्फुरणमात्र को अधिष्ठान माना जाता है। इसलिए ''अहं स्फुरामि'' ऐसी ही बुद्धि होती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि स्फुरणरूप भ्रम मिथ्या होने के कारण अधिष्ठान नहीं बन सकता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने हमारे कथन को ठीक से समझा ही नहीं, क्योंकि यहां पर स्फुरण शब्द से चैतन्य को कहा जा रहा है न कि अविद्यावृत्यादि को। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि अहमर्थ के आत्मत्व में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है।।२२।।

अनुमान प्रमाण के द्वारा भी अहमर्थ के आत्मरूपता की सिद्धि नहीं की जा सकती है। अहमर्थ की आत्मरूपता के सिद्धि में पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित अनुमानों का क्रमशः खण्डन इस प्रकार से किया जा रहा है। (१) ''अहमर्थो मोक्षान्वयी, मोक्षसाधनकृत्याश्रयत्वात्, सम्मतवत्।'' (अहमर्थ मोक्षान्वयी है,क्योंकि उसमें मोक्ष के साधनीभूत कृति का आश्रयत्व है, उभयवादी सम्मतवत्। पूर्वपक्षी के अनुसार पक्ष में हेतु का समन्वय इस प्रकार से होगा—सिद्धान्ती के मतानुसार मोक्ष का साधन श्रवणादि है। उसके लिए जो प्रयत्न होता है, उसका आश्रय अहमर्थ को सिद्धान्ती मानते ही हैं। अतः पक्ष में हेतु के रहने से सिद्धान्ती स्वरूपासिद्धि दोष नहीं दे सकते हैं। पूर्वपक्षी के अनुसार मोक्ष के साधन के लिए जो प्रयत्न है। वह आत्मा का विशेष गुण होने से अहमर्थ रूप आत्मा में रहेगा। अतः पक्ष में हेतु का समन्वय हो जायेगा। ''सम्मतवत्'' से पूर्वपक्षी का तात्पर्य यह है कि देवदत्त स्वर्गादिफल के साधन का अनुष्ठान करने के लिए प्रयत्न करता है तो उसी देवदत्त को फल प्राप्त होता है और उसी देवदत्त में उक्त प्रयत्न भी रहता है। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय पूर्वपक्षी के द्वारा किया जाता है।) इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस अनुमान की विशेषव्याप्ति और सामान्यव्याप्ति दोनों ही अनुपपन्न है। जैसे इस अनुमान की विशेष व्याप्ति का आकार होगा—यद्यन्मोक्षसाधनकृत्याश्रयः तत्तन्मोक्षान्वयी। (जो मोक्षरूप विशेषफल के साधन के सम्पादन के लिए किये जाने वाले प्रयत्न का आश्रय है, वह उस मोक्षरूप विशेष फल से सम्बन्धी है। अर्थात् वह मोक्षकाल में भी रहता है।) किन्तु इस विशेषव्याप्ति के लिए उभयवादी सम्मत दृष्टान्त का अभाव है, क्योंकि सिद्धान्तमत में मोक्षरूपविशेष फल के साधनीभूत श्रवणादि

स्वर्गसाधनकृत्याश्रये ऋत्विजि स्वर्गानन्वयेन व्यभिचारात्। अहमर्थ अनर्थनिवृत्त्याश्रयः, अनर्थाश्रयत्वात् सम्मतवदित्यत्र शरीरे व्यभिचारः। न च तत्रानर्थाश्रयत्वमसिद्धम्, 'अहमज्ञः' इति प्रतीत्या अहमीव 'स्थूलोऽहमज्ञः' इति प्रतीत्या शरीरेऽपि तत्सत्त्वाद्, अन्यथा असिद्धिप्रसङ्गात्। अनात्मत्वं नाहमर्थवृत्ति,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

के लिए जो प्रयत्न होता है। उसका आश्रय जो शरीरादि है। उनको मोक्षकाल में माना नहीं जाता है। इसी प्रकार इस अनुमान की सामान्यव्याप्ति का आकार होगा— यद्यत्फलसाधनकृत्याश्रयः तत्तत्फलाश्रयः। (इस सामान्य व्याप्ति में मोक्षरूप विशेष फल का उल्लेख न करके कोई भी फल लेना है और जो फल के साधन के कृति का आश्रय है, वह फल का भी आश्रय होता है।) किन्तु इस सामान्यव्याप्ति में व्यभिचारदोष है, क्योंकि स्वर्गादि फलों के साधनीभूत यागादि के प्रयत्न की आश्रयता ऋत्विक् में है, किन्तु ऋत्विक् में स्वर्गादि फल की आश्रयता नहीं है, क्योंकि स्वर्गादि फल की आश्रयता यजमान में रहती है। इस प्रकार से विशेषव्याप्ति और सामान्यव्याप्ति दोनों का ही खण्डन हो जाने से पूर्वपक्षी के द्वारा कथित प्रथम अनुमान का खण्डन हो गया। (२) पूर्वपक्षी के द्वारा अहमर्थ की आत्मरूपता में कथित द्वितीय अनुमान का आकार है—अहमर्थ अनर्थनिवृत्याश्रयः, अनर्थाश्रयत्वात्, सम्मतवत्। (अहमर्थ में अनर्थनिवृत्ति का आश्रयत्व है, क्योंकि उसमें अनर्थ का आश्रयत्व है, उभयवादी सम्मतवत्। पक्ष में हेतु का समन्वय पूर्वपक्षी इस प्रकार से करता है—अज्ञान के सम्बन्ध का नाम अनर्थ है। ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति से अहमर्थ में अज्ञान का सम्बन्ध सिद्ध होने से अहमर्थ में अनर्थाश्रयत्व सिद्ध हो जाने से पक्ष में हेतु चला जायेगा। दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय पूर्वपक्षी इस प्रकार से करता है—जिस देवदत्त को ज्वरादि होता है। उसी देवदत्त को ज्वरादि रूप अनर्थ की निवृत्ति भी होती है। अतः देवदत्त में हेतु और साध्य दोनों रहेंगे।) इस अनुमान का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यह अनुमान शरीर में व्यभिचरित है, क्योंकि शरीर में हेतु के रहने पर भी साध्य नहीं है, क्योंकि अनर्थनिवृत्ति का आश्रय शरीर नहीं होता है, अपितु आत्मा होता है। शरीर में अनार्थश्रयरूपहेतु नहीं रहता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''अहमज्ञः'' इस प्रतीति के आधार पर जैसे अहमर्थ में अनर्थाश्रयत्व माना जाता है, ठीक वैसे ही ''स्थूलोऽहमज्ञः'' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर शरीर में भी अनर्थाश्रयत्व माना जाता है। अन्यथा— ''स्थूलोऽहमज्ञः'' इस प्रकार की प्रतीति रूप प्रमाण के रहते हुए भी यदि अज्ञानरूप अनर्थ का आश्रयत्व शरीर में नहीं मानेंगे तब तो, ''अहमज्ञः'' इस प्रकार की प्रतीति रूप प्रमाण के रहते हुए भी अज्ञान रूप अनर्थ का आश्रयत्व अहमर्थरूप पक्ष में नहीं रहने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा कथित द्वितीय अनुमान का भी खण्डन हो गया। (३) पूर्वपक्षी के द्वारा अहमर्थ की आत्मरूपता में कथित तृतीय अनुमान का आकार है—अनात्मत्वं नाहमर्थवृत्ति, अनात्ममात्रवृत्तित्वात्, घटत्ववत्। (अनात्मत्व की अहमर्थ में वृत्तिता नहीं है, क्योंकि उसमें अनात्ममात्रवृत्तित्व है, जैसे घटत्व में। पक्ष में हेतु का समन्वय—अनात्ममात्रवृत्ति है अनात्मत्व। अतः अनात्ममात्रवृत्तित्व अनात्मत्व में रहेगा। दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय—घटरूप अनात्ममात्रवृत्ति है घटत्व। अतः घटत्व में अनात्ममात्रवृत्तित्व रूप हेतु रहेगा। घटत्व घट में रहेगा न कि अहमर्थ में। अतः घटत्वरूप दृष्टान्त में अहमर्थवृत्तित्वाभाव रहेगा।) इस अनुमान का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यह अनुमान व्याप्यत्वासिद्धि दोष से ग्रस्त है, क्योंकि इस अनुमान में कृत्याश्रयावृत्तित्व उपाधि है। उपाधि का समन्वय—दृष्टान्त में साध्य है किन्तु उपाधि नहीं है,क्योंकि कृति (प्रयत्न) का आश्रयीभूत (पूर्वपक्षी के अनुसार) आत्मा और (सिद्धान्ती के अनुसार) शरीरादि में

अनात्ममात्रवृत्तित्वाद्, घटत्ववदित्यत्र कृत्याश्रयावृत्तित्वमुपाधिः।।२३।।

नापि 'कस्मिन्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि' 'स प्राणमसृजत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता' इत्यादौ जगत्कारणे सति प्राणमनःसृष्टेः पूर्वमहंत्वोक्तेः, 'तदात्मानमेवावेद् अहं ब्रह्मास्मि'इत्यवधारणेन शुद्धात्मनोऽहन्त्वोक्तेः, अनवद्यस्य ब्रह्मणोऽहमुल्लेखोक्तेः, 'अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः। स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः।।' इत्यादौ मोक्षान्वयोक्तेश्चैताः श्रुतयः प्रमाणम्, विशिष्टवाचकस्यैवाहम्पदस्य लक्षणया निष्कृष्टाहङ्कारचैतन्ये

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटत्व की अवृत्तिता है। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि कृति (प्रयत्न) का आश्रयीभूत (पूर्वपक्षी के अनुसार) आत्मा और (सिद्धान्ती के अनुसार) शरीरादि में कृत्याश्रयवृत्तित्व रहेगा न कि कृत्याश्रयावृत्तित्व। अतः साधन का अव्यापकत्व भी उपाधि में गया। इस प्रकार उपाधि का समन्वय हो जाने से पूर्वपक्षी द्वारा कथित अनुमान का खण्डन हो गया।।२३।।

शङ्का– अहमर्थ की आत्मरूपता में श्रुति प्रमाण देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''कस्मिन्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि'' (प्रश्नो. ६–३), ''स प्राणमसृजत'' (प्रश्नो. ६–४) इस श्रुति के घटक ''सः'' पद से आत्मा कहा गया है और उसी आत्मा में जगत् कारणता कही गयी है और उसी सत् रूप आत्मा में ''अहम्'' पद का प्रयोग किया गया है और उसी सत् रूप अहम् ने प्राण और मन की सृष्टि किया। कार्य और कारण भिन्न होते हैं। अतः मन और अहमर्थ भिन्न हैं और अहमर्थ सत् रूप आत्मा ही है। इसी प्रकार ''सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'' (छा.उ.६–२–१) इस श्रुति के द्वारा सत् में जगत् कारणता कही गयी है और ''सेयं देवतैक्षत'' (छा.उ. ६–३–२) इस श्रुति के घटक ''सा'' पद से उसी सत् कारण का ग्रहण किया गया है और उसी सत् कारण में अहम् शब्द का प्रयोग किया गया है– ''हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति'' (छा.उ. ६–३–२) अर्थात् मैं इन तीनों भूतों (पृथ्वी जल तेज) में जीवरूप से अनुप्रवेश करके नाम रूप की सृष्टि करूं। नाम रूप आदि जगत् अन्तःपाती ही मन और प्राण है। उस मन प्राणादि की सृष्टि से पहले ही सत् रूप आत्मा के लिए अहम् शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः अहम् शब्द से मन को नहीं ले सकते हैं किन्तु आत्मा ही लेना पड़ेगा। इसी प्रकार ''ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि'' (बृ.उ. १–४–१०) इस श्रुति में अवधारणार्थक एव पद के द्वारा तद्= शुद्धात्मा, आत्मानम्= अपने को अर्थात् अहम् को ही–इस प्रकार से शुद्धात्मा में अहन्त्व का उल्लेख किया गया है न कि मन में। इसी प्रकार ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस वाक्य के द्वारा निरूपाधिक ब्रह्म में अहम् शब्द का प्रयोग किया गया है न कि मन आदि में।

''अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः।
स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः।।

(अहम् इस प्रकार से जो जानने योग्य है। वह जीव कहा गया है। वह दुःखी तथा सुखी है और बन्धमोक्ष का पात्र (आश्रय) है।) इस प्रकार इस श्रुति के द्वारा अहमर्थ में ही मोक्षाश्रयता का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए उक्त सभी श्रुतियां अहमर्थ की आत्मरूपता को प्रमाणित करती है।

समाधान– (अहमर्थस्यात्मत्वे) एताः श्रुतयः नापि प्रमाणम्– ऐसा अन्वय करना चाहिए। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त श्रुतियां अहमर्थ की आत्मरूपता में

प्रयोगात्। लक्षणाबीजभूताऽनुपपत्तिरुक्ता। एतेन 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इत्यादिस्मृतयोऽपि व्याख्याताः। अत एव 'तद्योऽहं सोऽसौ'इत्यादावपि लक्षणाऽऽश्रयणीया, विशिष्टवाचकत्वेन क्लृप्तस्य विशेष्ये लक्षणाया आवश्यकत्वात्।।२४।।

इत्यद्वैतसिद्धावहमर्थस्यानात्मत्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रमाण नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुतिवाक्यों में चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहङ्कार का ही वाचक ''अहम्'' पद है और उसका ही लक्षणा से अहङ्कार रहित शुद्धचैतन्य में प्रयोग किया गया है। लक्षणा में बीजभूत सुषुप्त्यभानान्यथानुपत्ति कही जा चुकी है। एतेन—वाच्यार्थ का अन्वय सम्भव न होने से लक्षणा की आवश्यकता से, मामेव = मुझ चिन्मात्र को ही, प्रपद्यन्ते= तत्त्वमस्यादि श्रुतियों से साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार से इस स्मृतिवाक्य (मामेव ये प्रपद्यन्ते– गी. ७–१४) में भी वाच्यार्थ के अन्वय की अनुपत्ति होने के कारण ''माम्'' पद की लक्षणावृत्ति के द्वारा शुद्धचैतन्य अर्थ किया जाता है। अत एव ''तद्योऽहं सोऽसौ'' इत्यादि श्रुतियों में भी ''अहम्'' पद का अर्थ शुद्धचैतन्य करने के लिए लक्षणा का आश्रय किया गया है। '' अत एव'' का अर्थ स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं कि अन्त:करणविशिष्टचैतन्य वाचक ''अहम्'' पद का अर्थ जब विशेष्य= शुद्धचैतन्य लेना हो तब लक्षणा की आवश्यकता होती ही है।।२४।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामहर्थस्यानात्मत्वोपपत्तिः

१३– कर्तृत्वाध्यासविचारः

ननु कर्तृत्वं यद्यनात्मधर्मः स्यात्, कथमात्मनि भासेत? न च जपाकुसुमस्थं लौहित्यं स्फटिक इवान्तःकरणगतं कर्तृत्वमात्मन्यध्यस्यते, न तु तात्त्विकम्, निर्विकारत्वश्रुतिविरोधात्, सुषुप्तौ बुद्ध्यभावेऽकर्तृत्वदर्शनाच्चेति वाच्यम्, एवं हि 'रक्तं कुसुमम्'इतिवत् कदाचिद् मनः कर्त्रिति प्रत्यक्षप्रमा'लोहितः स्फटिकः' इतिवत् चैतन्यं कर्त्रिति भ्रमश्च स्यादिति चेन्न, कर्तृत्वविशिष्टान्तःकरणस्य चैतन्यात्मनाध्यासेन न तथा प्रतीतिः, कुसुमस्य तु स्फटिकात्मना नाध्यास इति वैषम्यात्।१ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि कर्तृत्व यदि अनात्मा का धर्म है, तब उसका भान आत्मा में नहीं हो सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जपाकुसुम में रहने वाला लौहित्य स्फटिक में जैसे अध्यस्त होकर प्रतीत होता है, ठीक वैसे ही अन्तःकरण में रहने वाला कर्तृत्व आत्मा में अध्यस्त होकर प्रतीत होता है। कर्तृत्व आत्मा का वास्तविक धर्म नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व को आत्मा का वास्तविक धर्म मानने पर आत्मगत निर्विकारत्व बोधक श्रुतियों से विरोध होगा। दूसरा हेतु यह है कि जाग्रत् काल में अन्तःकरण के रहने पर आत्मा में कर्तृत्व का भान होता है और सुषुप्तिकाल में अन्तःकरण के न रहने पर आत्मा में कर्तृत्व का भान नहीं होता है–इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर कर्तृत्व अन्तःकरण का ही वास्तविक धर्म सिद्ध होता है न कि आत्मा का। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणगत कर्तृत्व वास्तविक है और आत्मगत कर्तृत्व अध्यस्त है–ऐसा मानने पर देवदत्त को जब जपाकुसुम के समीप स्थित स्फटिक में जपाकुसुम के धर्म लौहित्य की भ्रमात्मिका प्रतीति होती है, उसी समय कभी–कभी जपाकुसुमगत रक्तरूप की भी प्रतीति (रक्तं जपाकुसुमम्–ऐसी प्रतीति) होती है। इस प्रत्यक्षात्मक प्रतीति को प्रमा माना जाता है। ठीक ऐसे ही अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व की जब आत्मा में प्रतीति होती है, उसी समय कदाचित् अन्तःकरणगत कर्तृत्व की भी प्रमात्मिका प्रतीति (मनः कर्तृ–ऐसी प्रमात्मिका प्रतीति) भी होनी चाहिए। इसी प्रकार जैसे ''लोहितः स्फटिकः'' इत्याकारक भ्रम होता है, ठीक वैसे ही कदाचित् ''चैतन्यं कर्तृ'' इत्याकारक भ्रम भी होना चाहिए, किन्तु ऐसी भ्रमात्मक प्रतीति होती नहीं है। इसलिए कर्तृत्व को आत्मा का वास्तविक धर्म मानना ही उचित है।

समाधान–पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। जैसे दार्ष्टान्त में कर्तृत्वरूप धर्म का धर्मी जो अन्तःकरण है, उसका आत्मा रूप धर्मी के साथ अभेदाध्यास होता है और इसके पश्चात् कर्तृत्वरूप धर्म का आत्मारूपधर्मी में अध्यास होता है। जैसे ''इदं रजतम्'' इस स्थल पर इदम् में जहां रजतत्व का अध्यास होता है, वहां पहले इदम् रूप धर्मी में रजतरूप धर्मी का अभेदाध्यास होता है। इसके पश्चात् रजतत्वरूप धर्म का इदम् रूप धर्मी में अध्यास होता है। ऐसे अध्यासों को धर्मी अध्यासपूर्वक धर्माध्यास कहा जाता है। किन्तु दृष्टान्त में रक्त रूप धर्म का धर्मी जो जपाकुसुम है, उसका स्फटिक रूप धर्मी के साथ अभेदाध्यास नहीं होता है, क्योंकि जपा पुष्प और स्फटिक भिन्न–भिन्न रूप से दिखाई दे रहे हैं, किन्तु जपाकुसुम के धर्म लौहित्य का ही स्फटिकरूप धर्मी में अध्यास होता है। इसी विषमता के कारण ''रक्तं कुसुमम्'' के जैसे ''मनः कर्तृ'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। जीवन्मुक्ति अवस्था में अन्तःकरण का आत्मा के साथ अभेदाध्यास न रहने पर ''मनः कर्तृ'' ऐसी प्रतीति सिद्धान्ती भी मानते ही हैं, किन्तु बद्धावस्था में अन्तःकरण का आत्मा के साथ अभेदाध्यास होने के कारण ''मनः कर्तृः'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। यही सिद्धान्ती के कथन का भाव है।१ ।।

न च—अधिष्ठानात्मनाऽनध्यस्तजपाकुसुमस्थानीयमुपाधिं विना भीषणत्वादियुक्तसर्पस्य रज्ज्वात्मनेव कर्तृत्वादियुक्तबुद्धेश्चिदात्मनाध्यासे रज्जौ भीषणत्वान्तरस्येवात्मनि कर्तृत्वान्तरस्यानध्यासेन सोपाधिकत्वं न स्यादिति वाच्यम्, आत्मनि कर्तृत्वान्तरस्यैवाध्यासात्। न च तर्हि कर्तृत्वद्वयस्य विविच्य प्रतीतिः स्याद्, आत्मान्तःकरणयोरैक्याध्यासात्। रज्जुसर्पादौ अध्यस्यमानक्रूरत्वादि—

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का – [पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती दो प्रकार का अध्यास मानते हैं। (१) सोपाधिक—जहां एक धर्मी में दूसरे धर्मी के धर्म का अध्यास होता है, वहां दूसरा धर्मी (जिसके धर्म का अध्यास हो रहा है वह धर्मी) समीप में रहता है, तब उस दूसरे धर्मी को उपाधि कहा जाता है। इस प्रकार से होने वाले अध्यास को सोपाधिक अध्यास कहते हैं। जैसे स्फटिक में जपाकुसुमस्थ लौहित्य का अध्यास। यहां पर जपाकुसुम उपाधि है। (२) निरुपाधिक—जहां अधिष्ठान के समीप अध्यस्त पदार्थ नहीं है किन्तु उसका अध्यास हो रहा है। उसे निरुपाधिक अध्यास कहते हैं। जैसे—इदं रजतम्। सिद्धान्ती ने पीछे कहा था कि स्फटिक में लौहित्य का सोपाधिक अध्यास जैसे होता है, वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व का सोपाधिक अध्यास है, किन्तु अन्तःकरण जपाकुसुम स्थानीय उपाधि नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण का आत्मा के साथ तादात्म्याध्यास है, जबकि जपाकुसुम का स्फटिक के साथ तादात्म्याध्यास नहीं है।] इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि अधिष्ठान के साथ तादात्म्याध्यास जिस जपाकुसुम का नहीं है—ऐसे जपाकुसुमरूप उपाधि के जैसे अन्तःकरण को उपाधि न मानने पर, भीषणत्वादि से युक्त सर्प का जैसे रज्वात्मना अध्यास होता है, वैसे ही कर्तृत्वादि से युक्त अन्तःकरण का चिदात्मना अध्यास होता है—ऐसा मानने पर ''अयं सर्पः'' इत्यादि निरुपाधिक अध्यास स्थल पर जैसे रज्जु में भीषणत्वादि युक्त सर्प का तादात्म्याध्यास हो जाने पर सर्पगत भीषणत्व की अपेक्षा से अन्य भीषणत्व की रज्जु में उत्पत्ति नहीं मानी जाती है, अपितु प्रातिभासिक सर्पगतभीषणत्व की ही प्रतीति रज्जु में होती है, ठीक वैसे ही प्रकृत में भी कर्तृत्वादि युक्त अन्तःकरण का आत्मा में तादात्म्याध्यास मानने पर अन्तःकरणगत कर्तृत्व की अपेक्षा से अन्य कर्तृत्व की उत्पत्ति आत्मा में माननी नहीं पड़ेगी। यदि सिद्धान्ती ऐसा मानते हैं, तब ''अयं सर्पः'' के जैसे आत्मा में कर्तृत्व के अध्यास को निरुपाधिक मानना पड़ेगा न कि सोपाधिक, क्योंकि सोपाधिक भ्रम स्थल पर उपाधिगत (जपाकुसुमगत) सत्य धर्म (लौहित्य) से भिन्न मिथ्या धर्म (मिथ्या लौहित्य) की अन्यत्र (स्फटिक में) प्रतीति होती है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अन्तःकरणगत (सत्य) कर्तृत्व से भिन्न (मिथ्या) कर्तृत्व का अध्यास आत्मा में माना जाता है। तर्हि= अन्तःकरणगत कर्तृत्व से भिन्न कर्तृत्व का अध्यास आत्मा में मानने पर, अन्तःकरण में रहने वाला कर्तृत्व और आत्मा में रहने वाला कर्तृत्व दोनों की पृथक्—पृथक् रूप से प्रतीति अर्थात् ''मनः कर्तृ'' और ''चैतन्यं कर्तृ'' इस प्रकार से प्रतीति होनी चाहिए। ऐसी शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि आत्मा और अन्तःकरण का तादात्याध्यास हो जाने के कारण दोनों कर्तृत्व धर्मों की पृथक्—पृथक् प्रतीति नहीं होती है। [इस पर प्रश्न होता है कि जैसे अन्तःकरण का आत्मा के साथ तादात्म्याध्यास होने पर भी अन्तःकरण को उपाधि मानकर ''अहं कर्ता'' इस अध्यास को सोपाधिक माना जा रहा है, ठीक वैसे ही सर्प का रज्जु के साथ तादात्म्याध्यास होने पर सर्प को उपाधि मानकर ''अयं सर्पः'' इस अध्यास को भी सोपाधिक क्यों नहीं माना जा रहा है? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] रज्जुसर्पादि में अध्यस्यमान भीषणत्वादि विशिष्ट प्रातिभासिक सर्प की अपेक्षा से अधिक सत्ता वाला व्यावहारिक

विशिष्टसर्पापेक्षया अधिकसत्ताकस्य सर्पान्तरस्य सम्भवेन नायमुपाधिः। अतो निरुपाधिकत्वम्। अत्रत्वध्यस्यमानान्तःकरणापेक्षया कर्तृत्वादिधर्मविशिष्टमन्यदधिकसत्ताकं नास्त्येवेति अन्तःकरणमत्रोपा– धिरिति न सोपाधिकत्वानुपपत्तिः। न च–एवमपि मनो न स्फुरणम्, किन्तु स्फुरतीति तयोर्भेदधीदशायां प्रत्येकं 'रक्तं कुसुमम्' 'स्फटिको रक्तः' इतिवत् 'मनः कर्तृ' 'चैतन्यं कर्तृ'इति प्रतीत्यापत्तिरिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्प सम्भव होने के कारण प्रातिभासिक सर्प को उपाधि नहीं माना जाता है। इसलिए ''अयं सर्पः'' को सोपाधिक भ्रम न मानकर निरुपाधिक भ्रम माना जाता है। ''अहं कर्ता'' इस अध्यास स्थल पर अध्यस्यमान अन्तःकरण की अपेक्षा से कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट अधिक सत्ताक भिन्न अन्तःकरण नहीं है। इसलिए अन्तःकरण को ''अहं कर्ता'' इस भ्रम स्थल पर उपाधि माना जाता है। अतः ''अहं कर्ता'' इस भ्रम स्थल पर सोपाधिकत्व की अनुपपत्ति नहीं है।

शङ्का – एवमपि= आत्मा में होने वाले कर्तृत्वाध्यास को उपाधि (अन्तःकरण) निमित्तक मानने पर भी, जैसे स्फटिक में जपाकुसुम के लौहित्य का जहां अध्यास होता है, वहां पर स्फटिक में जपाकुसुम के तादात्म्याध्यास की प्रतीति न होकर भेद की ही प्रतीति होती है, ठीक वैसे ही अन्तःकरणगतकर्तृत्व का जब आत्मा में अध्यास होता है, तब आत्मा में अन्तःकरण के तादात्म्याध्यास की प्रतीति न होकर भेद की ही प्रतीति होती है। जैसे ''मनो न स्फुरणम्'' किन्तु ''मनः स्फुरति''। अर्थात् मन स्फुरण (चैतन्य) रूप नहीं है किन्तु स्फुरण का कर्ता है। इसलिए जपाकुसुम और स्फटिक में भेद की प्रतीति होने के कारण जैसे ''जपाकुसुमं रक्तम्'' और ''स्फटिको रक्तः'' इस प्रकार दोनों में लालिमा की प्रतीति होती है, ठीक वैसे ही अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व का अध्यास आत्मा में होने पर भी अन्तःकरण और आत्मा में भेद की प्रतीति होने के कारण ''मनः कर्तृ'' ''चैतन्यं कर्तृ'' इस प्रकार मन और आत्मा दोनों में ही कर्तृत्वविषयिणी प्रतीति की आपत्ति होगी।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि केवल भेदज्ञान होने मात्र से ही दो प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए– ऐसा कोई नियम नहीं है किन्तु जहां तादात्म्याध्यास का विरोधी भेदज्ञान होता है। वहां पर दो प्रकार की प्रतीति का प्रयोजक उक्त भेदज्ञान को माना जाता है। दृष्टान्त में तादात्म्याध्यास का विरोधी भेदज्ञान (जपाकुसुम में स्फटिक के भेद का ज्ञान) होने के कारण ''जपाकुसुमं रक्तम्'' और ''स्फटिको रक्तः'' इस प्रकार से दो प्रकार की प्रतीति होती है किन्तु ''मनः स्फुरति'' इस स्थल पर यद्यपि मन और स्फुरण में भेद ज्ञान हो रहा है किन्तु वह भेदज्ञान तादात्म्याध्यास का विरोधी नहीं है, क्योंकि उक्त प्रकार के भेद ज्ञानकाल में भी ''अहं कर्ता'' इस प्रकार से अन्तःकरण और आत्मा का तादात्म्याध्यास देखा जाता है। अतः ''मनः कर्तृ'' ''चैतन्यं कर्तृ'' इस प्रकार से मन और आत्मा दोनों में ही कर्तृत्वविषयिणी प्रतीति नहीं होती है।।२।।

शङ्का – पहले पूर्वपक्षी कह रहा था कि भेदज्ञान काल में ''मनः कर्तृ'' और ''चैतन्यं कर्तृ'' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। अब पूर्वपक्षी कह रहा है कि अभेदाध्यास काल में भी उक्त प्रकार की प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि अभेदाध्यास काल में भी दो प्रकार की प्रतीति होने में दृष्टान्त मिलता है। जैसे ''अयं भीषणः'' और ''सर्पो भीषणः'' यहां पर भीषणत्व धर्म की प्रतीति पुरोवर्ति रज्जु और सर्प दोनों में हो रही है। इसी प्रकार ''अहं गौरः'' ''शरीरं गौरम्''। यहां पर गौरत्व की प्रतीति अहमर्थ और शरीर दोनों में ही हो रही है। अतः अन्तःकरण का आत्मा में तादात्म्याध्यास मानने पर भी ''मनः कर्तृ'' और ''चैतन्यं कर्तृ'' इस प्रकार पृथक्–पृथक् प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु ऐसी प्रतीति होती नहीं है। अतः मन के कर्तृत्व को आत्मा का धर्म नहीं माना जा सकता है, अपितु आत्मा

वाच्यम्, तादात्म्यारोपविरोधिभेदग्रहस्यैव तत्प्रयोजकत्वात्, प्रकृते च तदभावात्। यत्त्वभेदग्रहदशायामपि 'अयं भीषणः सर्पो भीषणः, अहं गौरः शरीरं गौरम्' इतिवत् 'मनः कर्तृ' 'चैतन्यं कर्तृ' इति प्रतीतिः स्यादिति, तन्न, तादात्म्यग्रहस्यैव प्रतिबन्धकस्य सत्त्वेन दृष्टान्तस्यैवासम्प्रतिपत्तेः। यदपि सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वेनाधिष्ठानसमसत्ताकत्वमुपाधेः तद्धर्मस्य वा, अध्यस्यमानापेक्षयाधिकसत्ताकत्वं वा तयोरिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

का ही वास्तविक धर्म कर्तृत्व है। यही पूर्वपक्षी का भाव है। यहां पर पूर्वपक्षी के द्वारा ''चैतन्यं कर्तृ'' के लिए ''अयं भीषणः'' तथा ''अहं गौरः'' यह दृष्टान्त दिया गया और ''मनः कर्तृ'' के लिए ''सर्पो भीषणः'' तथा ''शरीरं गौरम्'' यह दृष्टान्त दिया गया है।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भेदग्रह में तादात्म्यग्रह (अभेदग्रह) प्रतिबन्धक होता है। अतः तादात्म्याध्यासकाल में अभेदग्रहरूप प्रतिबन्धक के रहने के कारण भेदग्रह हो ही नहीं सकता है। इसलिए तादात्म्यग्रह काल में अयम् (पुरोवर्ति रज्जु) और सर्प का तथा अहम् और शरीर का भेदग्रह ही नहीं हो सकता है। अतः भीषणत्व धर्म की पुरोवर्ति रज्जु और सर्प में तथा गौरत्व धर्म की अहमर्थ और शरीर में पृथक्—पृथक् प्रतीति नहीं हो सकती है। इस प्रकार पूर्वपक्षी का दृष्टान्त खण्डित हो गया। अतः इस दृष्टान्त का आश्रय करके पूर्वपक्षी सिद्धान्तमत का खण्डन नहीं कर सकता है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस अध्यास में उपाधि और उपाधि के धर्म अधिष्ठान के समान सत्ता वाले होते हैं, वहां पर सिद्धान्ती सोपाधिकत्व मानते हैं। [जैसे जहां अध्यस्यमान पदार्थ इन्द्रियसन्निकृष्ट देश में है। अर्थात् देवदत्त जपाकुसुम और स्फटिक दोनों को ही देख रहा है। ऐसे स्थल पर स्फटिक में जो लौहित्य की प्रतीति हो रही है। वहां सिद्धान्ती भी अन्यथाख्याति मानते हैं। अर्थात् जपाकुसुमगत सत्य लौहित्य का ही अध्यास स्फटिक में होता है। यहां उपाधि (जपाकुसुम) और उपाधि का धर्म (रक्तरूप) ये दोनों ही अधिष्ठान (स्फटिक) के समान सत्ता वाले होते हैं।] अथवा जिस अध्यास में उपाधि और उपाधि के धर्म अध्यस्यमान पदार्थ की अपेक्षा अधिक सत्ता वाले होते है। वहां पर सिद्धान्ती सोपाधिकत्व मानते हैं। [जैसे जहां अध्यस्यमान पदार्थ इन्द्रिय सन्निकृष्ट नहीं है। अर्थात् देवदत्त लौहित्ययुक्त जपाकुसुम को देख नहीं रहा है अपितु लौहित्य युक्त स्फटिक को देख रहा है। वहां पर सिद्धान्ती अनिर्वचनीय ख्याति मानते हैं। ऐसे स्थल पर जपाकुसुमगत सत्य रक्तरूप से अतिरिक्त मिथ्या रक्तरूप (अध्यस्यमान पदार्थ) स्फटिक में भ्रमकाल में उत्पन्न होता है। अतः यहां उपाधि (जपाकुसुम) और उपाधि का धर्म (सत्यरक्त रूप) ये दोनों ही अध्यस्यमान मिथ्या रक्तरूप से अधिक सत्ता वाले हैं।] इस पक्षद्वय का ही सोपाधिकत्व में तन्त्रत्वेन उद्‌भावन सिद्धान्ती के द्वारा किया जाता है। किन्तु ''अहं कर्ता'' इस प्रकृत स्थल पर उक्त दोनों ही पक्ष सम्भव नहीं हैं। जैसे अन्तःकरण और अन्तःकरणगतकर्तृत्व को आत्मा के समानसत्ता वाला न मानने के कारण प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है। अतः प्रथम पक्ष को मानकर सोपाधिकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। द्वितीय पक्ष को भी सिद्धान्ती नहीं मान सकते हैं, क्योंकि आत्मा में रहने वाले अध्यस्यमान कर्तृत्व की अपेक्षा से अन्तःकरण और अन्तःकरणगतकर्तृत्व को अधिक सत्ता वाला मानने पर अन्तःकरण और अन्तःकरणगतकर्तृत्व को पारमार्थिक मानने का प्रसङ्ग आयेगा। जिसे सिद्धान्ती मान नहीं सकते हैं।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन अनुक्तोपालम्भन मात्र है, क्योंकि हम उक्त दोनों ही प्रकारों को सोपाधिकता का प्रयोजक नहीं मानते

पक्षद्वयमुद्भाव्य प्रकृते तद्द्वयं न सम्भवतीति दूषणाभिधानम्, तदनुक्तोपालम्भनम्, यदन्वयव्यतिरेकानुविधायितया यत्प्रतीयते तदपेक्षया अधिकसत्ताकतद्धर्माश्रयान्तराभावस्यैव सोपाधिकत्वे तन्त्रत्वात्। न चैवं क्षीरसम्पृक्तनीरैक्याध्यासनिबन्धनक्षीरधर्मप्रतीतिः सोपाधिकी स्यात्, तस्याः सोपाधिकत्वे इष्टापत्तेः।।३।।

ननु बुद्धिगतं कर्तृत्वं किमहमर्थे, अहमर्थगतं वात्मानि अध्यस्यते। आद्ये आरोपितस्याप्यनर्थस्यात्मन्यभावे तस्य बन्धमोक्षानधिकरणत्वापत्तिः, द्वितीये अनध्यासेनैव 'अहं कर्ता' इति प्रतीत्त्युपपत्तौ किमध्यासेनेति चेन्न, अहङ्कारस्तु चिदचिद्ग्रन्थिरूपतया द्व्यंशः। तत्राचिदंशे बुद्धौ कर्तृत्वसत्त्वेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं, अपितु अन्तःकरणरूप उपाधि के रहने पर आत्मा में कर्तृत्व की प्रतीति होती है। इसलिए आत्मा में कर्तृत्व की प्रतीति अन्तःकरण रूप उपाधि के अन्वय का अनुविधान करने वाली है। इसी प्रकार सुषुप्ति में अन्तःकरण रूप उपाधि के न रहने पर आत्मा में कर्तृत्व की प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार आत्मा में कर्तृत्व के प्रतीति का अभाव अन्तःकरणरूप उपाधि के अभाव को अनुविधान करने वाला होता है। अर्थात् जिस उपाधि (अन्तःकरण) रूप धर्मी के सन्निधि में जो धर्म (कर्तृत्व) आत्मा में प्रतीत होता है। उस अन्तःकरण में रहने वाले कर्तृत्व का अन्तःकरण की अपेक्षा से अधिकसत्तावाला कोई दूसरा अर्थात् अन्तःकरण से भिन्न आश्रय नहीं है। इसलिए अन्तःकरण को उपाधि माना जाता है और ''अहं कर्ता'' इस अध्यास को सोपाधिक माना जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण के स्थान पर जपाकुसुम और अन्तःकरण के धर्म कर्तृत्व के स्थान पर जपाकुसुमगत लौहित्य तथा आत्मा के स्थान पर स्फटिक को रखकर जपाकुसुम को उपाधि सिद्ध करके स्फटिकगत लौहित्य को सोपाधिक अध्यास सिद्ध कर लेना चाहिए। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि दुग्ध मिश्रित जल में जो दुग्ध का धर्म (श्वेतरूपादि) का अध्यास होता है। वह कर्तृत्वाध्यास के समान ही अधिष्ठान (जल) के साथ उपाधि (दुग्ध) के तादात्म्याध्यास के कारण ही है। ऐसे स्थल पर सोपाधिक अध्यास का उक्त प्रयोजक है। जैसे अध्यस्यमान जो धर्म श्वेतरूपादि, उसका आश्रय उपाधिरूप दुग्ध से अतिरिक्त और उससे अधिकसत्तावाला कोई पदार्थ नहीं है। इसलिए इस स्थल पर भी दुग्ध को उपाधि और सोपाधिक अध्यास मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती ने कहा कि ऐसे स्थल पर हम दुग्ध को उपाधि तथा सोपाधिक अध्यास मानते ही हैं।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती बुद्धिगत कर्तृत्व का अध्यास अहङ्कार में मानते हैं? अथवा अहङ्कारगत कर्तृत्व का अध्यास आत्मा में मानते हैं? प्रथम पक्ष उचित नहीं है,क्योंकि बुद्धिगत कर्तृत्व का अध्यास अहङ्कार में मानने पर आरोपित अनर्थ (कर्तृत्व) अहङ्कार में रहेगा, आत्मा में तो रहेगा नहीं। अतः आत्मा में बन्धमोक्ष के अनधिकरणत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि जिसमें आरोपित अनर्थ (कर्तृत्व) रहता है, उसी का बन्ध और आरोपित कर्तृत्व के भ्रम की निवृत्ति हो जाने पर उसी का ही मोक्ष माना जाता है। आत्मा में आरोपित कर्तृत्व का न तो भ्रम हो रहा है और न तो उस भ्रम की निवृत्ति हो रही है। अतः आत्मा बन्ध और मोक्ष का आश्रय सिद्ध नहीं हो पायेगा। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अहङ्कारगत कर्तृत्व का अध्यास आत्मा में मानते हैं तब तो अहङ्कार में कर्तृत्व का अध्यास नहीं माना गया। ऐसा होने पर अहङ्कार में कर्तृत्व वास्तविक है और उसी कर्तृत्व की प्रतीति ''अहं कर्ता'' के द्वारा हो रही है—ऐसा मानना चाहिए, न कि ''अहं कर्ता'' इस प्रतीति को भ्रममूलक मानना चाहिए।

समाधान—उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि बुद्धिगत कर्तृत्व का अहङ्कार में अध्यास हम नहीं

तद्विशिष्टाया बुद्धेश्चित्यैक्याध्यासं विना 'अहं कर्ता'इति प्रतीतेरयोगेनाध्यासस्यावश्यकत्वात्। एतेन—आरोपितकर्तृत्वस्याप्यभावे आत्मनो बन्धमोक्षानधिकरणत्वं स्यादिति निरस्तम्।।४।।

न च 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वाद्'इत्यधिकरणे त्वयाऽपि साङ्ख्यरीत्या बुद्धेः कर्तृत्वे प्राप्ते, जीवस्यैवेति सिद्धान्तितत्वेन विरोधः? न चाविवेकनिबन्धनं जीवनिष्ठत्वम्, अविवेकस्य साङ्ख्यमतेऽपि सत्त्वादिति वाच्यम्, बुद्धेरेव कर्तृत्वम्, भोक्तृत्वं चैतन्यस्येति पूर्वपक्षं कृत्वा कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यनियमेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानते हैं। अतः प्रथम पक्ष के दोष खण्डित हो गये। द्वितीय पक्ष मानने पर भी दोष नहीं है, क्योंकि अहङ्कार के दो अंशों (चिदचिद्ग्रन्थिरूप दो अंशों) में से जो अचिद् अंश अन्तःकरण है। उसमें कर्तृत्व मानते हैं और उस कर्तृत्व से विशिष्ट अन्तःकरण का चिद् के साथ तादात्म्याध्यास मानते हैं। ऐसा मानने से ही ''अहं कर्ता'' ऐसे प्रतीति की उपपत्ति हो जाती है। अतः ''अहं कर्ता'' इस प्रतीति के लिए अध्यास मानना आवश्यक है। [इस पर प्रश्न होता है कि जब अन्तःकरणगत कर्तृत्व का अध्यास आत्मा में हो रहा है तब आत्मा कर्ता ऐसा भान होना चाहिए न कि ''अहं कर्ता''। इसका समाधान यह है कि आत्मा के स्थान पर जो अहम् का उल्लेख होता है, उसका कारण यह है कि अन्तःकरणगत कर्तृत्व का अध्यास जो आत्मा में होता है वह धर्माध्यास है। उस धर्माध्यास से पहले अन्तःकरणरूप धर्मी और आत्मारूप धर्मी का तादात्म्याध्यास होने के कारण आत्मा के स्थान पर चिदचिद्ग्रन्थिरूप अहम् का भान होता है।] पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि आरोपित कर्तृत्व आत्मा में न मानने पर आत्मा में बन्धमोक्षानाधिकरणत्व की आपत्ति होगी। इसका भी खण्डन हो गया, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से हम आत्मा में आरोपित कर्तृत्व मानते ही हैं।।४।।

शङ्का—सिद्धान्ती के द्वारा बुद्धिनिष्ठ कर्तृत्व स्वीकार करने पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'' (कर्ता=जीव ही कर्ता है, बुद्धि नहीं, शास्त्रार्थवत्त्वात्= क्योंकि ऐसा मानने पर ही विधि आदि शास्त्र में सार्थकता आती है—ब्र.सू.२—३—३३) इस अधिकरण में सिद्धान्ती के द्वारा भी सांख्य मतानुसार प्राप्त बुद्धिगत कर्तृत्व का निरास कर जीवगत कर्तृत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। यदि सिद्धान्ती बुद्धिनिष्ठ कर्तृत्व मानते हैं तब तो उक्त अधिकरण में प्रतिपादित जीवनिष्ठ कर्तृत्व से विरोध होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि कर्तृत्व तो बुद्धि में ही है किन्तु बुद्धि और आत्मा का भेद ज्ञान न होने से आत्मा (जीव) में कर्तृत्व भासता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सांख्य मत में भी बुद्धि और आत्मा का भेदग्रह न होने के कारण ही आत्मा में कर्तृत्व माना जाता है, वास्तविक नहीं, क्योंकि सांख्यमत में बुद्धिकर्ता और आत्मा भोक्ता माना जाता है। इसलिए सिद्धान्ती के द्वारा सांख्य मत का निरास करना उचित नहीं होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धि में ही कर्तृत्व है और चैतन्य में भोक्तृत्व है। (अर्थात् भोक्तृत्व=सुखदुःखानुभवत्व। ऐसा अनुभव तो जड़ को हो नहीं सकता है। इसीलिए चैतन्य को ही भोक्ता मानना चाहिए। जबकि कर्तृत्व (क्रिया) जड़ में हो सकती है, इसलिए जड़ (बुद्धि) में कर्तृत्व मानना चाहिए न कि भोक्तृत्व। यही सांख्यवादी का अभिप्राय है।) इस प्रकार के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करके सिद्धान्ती के द्वारा यह कहा गया कि ''अहं करोमि'', ''अहं भुञ्जे'' इस प्रकार लोक में देखा गया है कि जो कर्ता होता है, वही भोक्ता है। इस प्रकार कर्तृत्व और भोक्तृत्व में सामानाधिकरण्य का नियम होने से आत्मा में भोक्तृत्व के समान आत्मा में कर्तृत्व भी सांख्यवादी को मानना चाहिए। ऐसा सिद्धान्ती ने सांख्यवादी के प्रति कहा है, किन्तु सिद्धान्ती ने यह नहीं कहा है कि अद्वैतमत में बुद्धिगत अकर्तृत्व और आत्मगत स्वाभाविक कर्तृत्व माना जाता है,क्योंकि ''कर्ता

भोक्तृत्ववत् कर्तृत्वमप्यङ्गीकर्तव्यमित्युक्तम्, न तु बुद्धेः अकर्तृत्वं आत्मनो वा स्वाभाविकं कर्तृत्वमिति। 'यथा च तक्षोभयथा' इत्युत्तराधिकरणे पूर्वाधिकरणोक्तस्यात्मकर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वपूर्वपक्षे औपाधिकत्वस्य स्थापितत्वात्। अतो न तदधिकरणविरोधः। यदपि बुद्धेः कर्तृत्वे करणत्वं कथमिति? तदप्ययुक्तम्, अन्यत्र कर्त्र्या एव बुद्धेरुपलब्धिं प्रति करणत्वोपपत्तेः।।५।।

न च कर्तृत्वाद्यनर्थरूपबन्धस्य बुद्धिगतत्वेन मोक्षस्यापि तदन्वयापत्तिः, अनर्थतन्निवृत्त्योरैकाधि–

सत्यानन्दप्रबोधिका

शास्त्रार्थवत्त्वात्'' (ब्र.सू.२–३–३३) इसके उत्तर अधिकरण ''यथा च तक्षोभयथा'' (च=परन्तु, यथा= जैसे लोक में, तक्षः=बढ़ई, उभयथा=वसुला आदि करणों की अपेक्षा कर्ता होकर दुःखी होता है और उनकी अपेक्षा न करके स्वरूप से अकर्ता एवं सुखी होता है, ठीक वैसे ही आत्मा भी बुद्धि आदि करणों की अपेक्षा कर्ता, संसारी है और उनकी अपेक्षा न करके स्वरूप से अकर्ता और परमानन्दस्वरूप है। ब्र.सू.२–३–४०) में पूर्वाधिकरण (ब्र.सू.२–३–३३) में कथित आत्मगत कर्तृत्व के स्वाभाविकत्व को पूर्वपक्ष में रखकर आत्मगत औपाधिक कर्तृत्व को सिद्धान्त मत में स्वीकार किया गया है। जैसे भगवान् भाष्यकार कहते हैं–''यत्तूक्तं शास्त्रार्थवत्त्वादिभिर्हेतुभिः स्वाभाविकमात्मनः कर्तृत्वमिति, तन्न, विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति, न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। न च स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति, ब्रह्मात्मत्वोपदेशादित्यवोचाम, तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते।'' (यह जो कहा गया है कि शास्त्रार्थवत्त्वादि हेतुओं से आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व है, वह उचित नहीं है, क्योंकि विधि शास्त्र तो यथाप्राप्त (लोक प्रसिद्ध) कर्तृत्व को लेकर कर्तव्यविशेष का उपदेश करता है, आत्मा में कर्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करता है और इस आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व है भी नहीं, क्योंकि उसमें ब्रह्मात्मत्व का उपदेश है–ऐसा हम कह चुके हैं। इसलिए अविद्याकृत कर्तृत्व को लेकर शास्त्र प्रवृत्त होता है।) अतः बुद्धिगतवास्तविक कर्तृत्व और आत्मगत औपाधिककर्तृत्व मानने पर ''कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'' (ब्र.सू.२–३–३३) इस अधिकरण से किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सिद्धान्ती बुद्धि को अन्तःकरण अन्तःपाती मानते हैं, अंतः बुद्धि करण है। इसलिए बुद्धि को कर्ता नहीं माना जा सकता है। यदि बुद्धि को कर्ता मानेंगे तब उसको करण नहीं मान सकते है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस क्रिया के प्रति जो कर्ता है, उसी क्रिया के प्रति उसको करण नहीं माना जा सकता है–ऐसा नियम स्वीकार करने पर भी जिस क्रिया के प्रति जो कर्ता है। उससे भिन्न क्रिया के प्रति वह करण हो सकता है। जैसे ''विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च'' (तै.उ. २–५) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार लौकिकालौकिक क्रियामात्र का कर्ता बुद्धि के होने पर भी उपलब्धि अर्थात् वृत्ति प्रतिबिम्बितचित् अथवा वृत्त्यवच्छिन्न भग्नावरण चित् के प्रति वृत्तिद्वारक हेतुत्व की उपपत्ति होने से बुद्धि में करणत्व माना ही जा सकता है।।५।।

शङ्का– सिद्धान्ती यदि कर्तृत्वादि अनर्थरूप बन्ध को बुद्धिगतत्वेन स्वीकार करते हैं, तब अनर्थरूपबन्ध की निवृत्ति रूप मोक्ष का आश्रयत्व भी बुद्धि में ही मानना पड़ेगा, क्योंकि अनर्थ और अनर्थ निवृत्तिरूप मोक्ष में सामानाधिकरण्य का नियम माना जाता है।[जबकि सिद्धान्ती कर्तृत्वादि अनर्थरूप बन्ध की आश्रयता बुद्धि में मान रहे हैं और अनर्थरूपबन्ध की निवृत्तिरूप मोक्ष की आश्रयता आत्मा में मान रहे हैं। ऐसा मानने पर बन्ध और बन्धनिवृत्ति में वैयधिकरण्य की आपत्ति आ रही है।]

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कर्तृत्वादि को बुद्धि में रहने मात्र से अनर्थ नहीं

करण्यनियमादिति वाच्यम्, कर्तृत्वादेश्चेतनगततयैवानर्थतया बुद्धेरनर्थानाश्रयत्वात्। न च चैतन्यगतस्यानर्थत्वे चैतन्यस्याप्यनर्थकोटौ निवेशापत्तिः, आत्मसम्बन्धित्वेनैवानर्थस्य हेयत्वेनात्मनोऽपि हेयत्वं सर्वमतेऽपि स्यात्। आरोपितत्वपुरस्कारेणानर्थत्वाभावात् नान्योन्याश्रयः। न च शुद्धात्मनः

सत्यानन्दप्रबोधिका

कहा जाता है किन्तु जब बुद्धिगत कर्तृत्वादि का आत्मा में आरोप होता है, तब आत्मनिष्ठ आरोपित कर्तृत्वादि को ही अनर्थ कहा जाता है। [सिद्धान्ती के कथन का भाव यह है कि ब्रह्मज्ञान से जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब जीवन्मुक्त महापुरुषों को बुद्धिगत कर्तृत्वादि और आत्मगत निर्विकारत्वादि का ज्ञान रहता है। वह बुद्धिगत कर्तृत्वादि का ज्ञान अनर्थ का कारण नहीं होता है किन्तु ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति से पहले जो आत्मनिष्ठ आरोपित कर्तृत्वादि का ज्ञान होता है, वही अनर्थ का कारण बनता है।] इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि अनर्थ की आश्रयता बुद्धि में नहीं होती है किन्तु आत्मा में होती है और उसी आत्मा में मोक्ष की भी आश्रयता रहती है। अतः बन्ध और मोक्ष के सामानाधिकरण्य के नियम की उपपत्ति हो गयी।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि सिद्धान्ती आत्मनिष्ठ कर्तृत्वादि को अनर्थ मानते हैं तब तो अनर्थ ही हेय होता है। अतः अनर्थ सम्बन्धित्वेन हेय कोटि में आत्मा के भी प्रवेश की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कर्तृत्वादि अनर्थरूप हेय आत्मसम्बन्धी होने के कारण यदि सिद्धान्ती के मत में आत्मा के हेय कोटि में प्रवेशापत्ति दी जाती है तब तो सर्वमतों में ही आत्मा के हेय कोटि में प्रवेश की आपत्ति होगी, क्योंकि सभी मतों में आत्मसम्बन्धी अनर्थ को ही हेय माना जाता है। अर्थात् किसी भी मत में यह नहीं माना जाता कि आत्मा से सम्बन्धित अनर्थ रहे और आत्मा से भिन्न अनात्मा सम्बन्धी अनर्थ हेय हो। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि बुद्धिनिष्ठ कर्तृत्व अध्यस्त न होने के कारण बुद्धिगत कर्तृत्व में अनर्थता नहीं मानी जाती है किन्तु आत्मनिष्ठ कर्तृत्व अध्यस्त होने के कारण उस आत्मनिष्ठ कर्तृत्व में अनर्थता मानी जाती है। आत्मनिष्ठ कर्तृत्व में अनर्थता होने के कारण आत्मनिष्ठकर्तृत्व को अध्यस्त माना जाता है— इस प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि हमें मान्य नहीं है, क्योंकि आत्मनिष्ठ कर्तृत्व में अनर्थत्व की सिद्धि के लिए अध्यास की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्तपदार्थ स्वतः ही अनर्थरूप होते हैं। [सिद्धान्ती के कथन का भाव यह है कि पूर्वपक्षी ने पीछे यह तर्क दिया था कि ''बुद्धिर्यदि बन्धस्याश्रयः स्यात्, तदा मोक्षाश्रयस्यापि स्यात्।'' इस तर्क विपर्यय अनुमान का आकार होगा—'' बुद्धिः न बन्धाश्रयः, मोक्षानन्वयित्वात्।'' इसमें सिद्धान्ती ने ''कर्तृत्वादेश्चेतनगततयैवानर्थतया......'' इस वाक्य के द्वारा इष्टापत्ति दिया था, किन्तु सिद्धान्ती ने यह नहीं कहा था कि आत्मनिष्ठकर्तृत्व आरोपित होने के कारण अनर्थ (बन्ध) कहा जाता है। अतः अन्योन्याश्रय की प्रथम कोटि खण्डित हो जाने से अन्योन्याश्रयदोष का खण्डन हो गया।]

शङ्का— सिद्धान्ती ने शुद्धात्मा को ही बद्ध और मुक्त मानकर के बन्ध और मोक्ष में सामानाधिकरण्य दिखाया। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मतानुसार बन्ध और मोक्ष में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि शुद्धात्मा बन्ध निवृत्तिरूप मोक्ष का आश्रय होने पर भी बन्ध का आश्रय नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा में बन्ध की कभी प्रतीति नहीं होती है, अपितु भ्रमकाल में ''अहं भोक्ता'' इस प्रकार से कर्तृत्व—भोक्तृत्वादि रूप अनर्थरूपबन्ध का आश्रय

कदापि नानर्थाश्रयत्वेन प्रतीतिः, भ्रमकाले अहं भोक्ता प्रमाकाले बुद्धिर्भोक्त्रीति प्रतीतेरिति वाच्यम्, शुद्धस्य भोक्तृत्वाद्यनर्थानाश्रयत्वेऽपि उपहितस्य शुद्धात्स्वाभाविकभेदाभावेन बन्धमोक्षसामानाधि–करण्योपपत्तेः। एतेन बुद्धिः श्रवणादिकर्त्रीति तस्या एव फलं मोक्षोऽपि स्यादिति वाच्यम्; 'शास्त्रफलं

सत्यानन्दप्रबोधिका

अहङ्कार होता है और प्रमाकाल में ''बुद्धिः भोक्त्री'' इस प्रकार से कर्तृत्व–भोक्तृत्वादि रूप अनर्थरूप बन्ध का आश्रय बुद्धि होती है।

समाधान– उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि शुद्धात्मा यद्यपि भोक्तृत्वादिरूप अनर्थ का आश्रय नहीं है, तथापि अनर्थ के आश्रयीभूत उपहितचैतन्य के साथ शुद्धात्मा का स्वाभाविक (तादात्म्यविरोधी) भेद न होने के कारण बन्ध और मोक्ष में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। [कहने का भाव यह है कि भेद दो प्रकार का होता है। प्रथम–तादात्म्य (अभेद) का विरोधी। द्वितीय– तादात्म्य सहिष्णु। उपहित चैतन्य का शुद्धचैतन्य में जो भेद है, वह तादात्म्यसहिष्णु है। अर्थात् उपहित चैतन्य का शुद्धचैतन्य से भेद रहने के साथ–साथ तादात्म्य (अभेद) भी है। अतः उपहितचैतन्य और शुद्धचैतन्य में तादात्म्य भी रहने के कारण जो उपहित चैतन्य में अनर्थाश्रयत्व है। उसको शुद्धचैतन्य में भी कहा ही जा सकता है। अतः शुद्धात्मा में बन्ध और मोक्ष के सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी।]

शङ्का – पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मतानुसार बन्ध और मोक्ष की आश्रयता शुद्धात्मा में न रहकर बुद्धि में ही रहेगी, क्योंकि सिद्धान्ती जब मोक्ष के साधनीभूत श्रवण मनन निदिध्यासन का कर्तृत्व बुद्धि में स्वीकार कर रहे हैं, तब श्रवणादि के फलभूत मोक्ष का आश्रयत्व भी बुद्धि में स्वीकार करना चाहिए न कि शुद्धात्मा में, क्योंकि '' शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तत्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात्'' (जै.सू.३–७–१८) [शास्त्रफलम्= शास्त्रविहित अङ्गसहित यागदि कर्मों का स्वर्गादि फल, प्रयोक्तरि=अनुष्ठानकर्ता को मिलता है, तत्लक्षणत्वात्=क्योंकि ''यजेत'' इत्यादि क्रियाओं के द्वारा यजमान ही लक्षित होता है, तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात्=अतः यागादि कर्मों का अनुष्ठान स्वयं यजमान को ही करना चाहिए।] इस सूत्र में शास्त्र प्रतिपादित अङ्गसहित कर्मों का फल कर्ता को ही कहा गया है। यदि कर्ता को कर्म का फल प्राप्त होता है– ऐसा नहीं मानेंगे तब कर्म कोई करेगा और फल किसी को प्राप्त होगा–ऐसा अतिप्रसङ्ग की आपत्ति होगी।

समाधान– एतेन निरस्तम्–ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन का अर्थ है–उपहितचिन्निष्ठकर्तृत्वादेः शुद्धाभिन्ननिष्ठत्वेन। अर्थात् मोक्ष के साधनीभूत श्रवणादि का कर्तृत्व उपहितचैतन्य में माना जाता है। उपहित चैतन्य का शुद्धचैतन्य से तादात्म्यविरोधी भेद नहीं माना जाता है। अर्थात् उपहित चैतन्य और शुद्धचैतन्य में अभेद भी माना जाता है। अतः उपहित चैतन्य से अभिन्न शुद्धचैतन्य में श्रवणादि का कर्तृत्व भी उपपन्न हो जायेगा और शुद्धचैतन्य में मोक्षाश्रयत्व माना ही जाता है। अतः बन्ध और मोक्ष का सामानाधिकरण मानने में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी के कथनानुसार यह अनुमान होगा–''बुद्धिः फलाश्रया, फलसाधनकर्तृत्वात्, स्वर्गफलसाधनानुष्ठातृवत्।'' किन्तु इस अनुमान का हेतु जातेष्टि और पितृश्राद्धादि कर्मों में व्यभिचरित है, क्योंकि पुत्रगत पवित्रतादि फल का साधन जो जातेष्टि है। उसका कर्ता पिता है। अतः फलसाधनकर्तृत्वरूप हेतु पिता में गया किन्तु पिता में साध्य नहीं है, क्योंकि पवित्रादि रूप फल की आश्रयता पुत्र में रहती है। इसी प्रकार स्वर्गादि फल का साधन जो पितृश्राद्धादि कर्म है। उनका कर्ता पुत्र है। अतः फलसाधनकर्तृत्वरूप हेतु पुत्र में रहता है किन्तु पुत्र में साध्य नहीं है, क्योंकि

प्रयोक्तरि' इति न्यायाद्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति निरस्तम्, जातेष्टिपितृयज्ञयोर्व्यभिचारात्।।६।।

न च पूतपुत्रकत्वं स्वर्गभागिपितृकत्वं वा कर्तृगतमेव फलम्, तस्य फलत्वेनाश्रवणात्। न च तादृक्पुत्रकत्वं फलेन सम्बन्धः, न तु फलमिति—वाच्यम्, एवं हि संयुक्तसमवायादिना पित्रन्यस्यापि तत्फलं स्यात्, अशास्त्रीयत्वाविशेषात्। न च पित्रर्थपुत्रगतं पूतत्वादिकं तदनुष्ठातुः पितुरेव फलम्, तेन तदुद्देशात्, न चेहात्मा अन्तःकरणार्थः, येनात्मगतो मोक्षः तस्योद्देश्यः स्यादिति वाच्यम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वर्गादिरूप फल की आश्रयता पितृगणों में मानी जाती है।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पिता के द्वारा सम्पादित जातेष्टि कर्म का फल पूतपुत्रकत्व है। वह कर्मकर्ता पिता में है, क्योंकि पूतपुत्रक=पवित्रपुत्रवालापिता। अतः पूतपुत्रकत्व पिता में रहेगा। इसी प्रकार पुत्र के द्वारा सम्पादित पितृश्राद्धादि कर्म का फल स्वर्गभागिपितृकत्व है। वह कर्मकर्ता पुत्र में है, क्योंकि स्वर्गभागिपितृक=स्वर्गभागिपितावाला पुत्र। अतः स्वर्गभागिपितृकत्व पुत्र में रहेगा। इसलिए पूर्वोक्त व्यभिचारदोष नहीं होगा।

समाधान—पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जातेष्टि कर्म का फल पूतपुत्रकत्व और पितृश्राद्धादि कर्म का फल स्वर्गभागिपितृकत्व शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित नहीं है। किन्तु शास्त्र के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जात कर्म के अनुष्ठान से पुत्र में पावनत्वादि तथा पितृश्राद्धादि कर्म से पितृगण तृप्त और स्वर्गगामी होते हैं। इसके अनुसार पूर्वोक्त प्रकार से व्यभिचारदोष होगा ही।

शङ्का— अब पूर्वपक्षी कह रहा है कि पूतपुत्रकत्व को हम भी जातेष्टि कर्म का फल नहीं कह रहे हैं अपितु पूतत्व को ही फल कह रहे हैं किन्तु वह पूतत्वरूपफल पुत्र में साक्षात् सम्बन्ध से रहता है और पिता में परम्परा सम्बन्ध (पूतपुत्रकत्व अर्थात् स्वाश्रयजनकत्व। स्व= पूतत्व, उसका आश्रय= पुत्र, उसका जनक पिता। अतः स्वाश्रयजनकत्व पिता में। इस प्रकार के परम्परासम्बन्ध) से रहता है। [इसीप्रकार पितृश्राद्ध कर्म का फल स्वर्गभागित्व साक्षात् सम्बन्ध से पिता में रहता है और पुत्र में परम्परा सम्बन्ध (स्वर्गभागिपितृकत्व अर्थात् स्वप्राप्त्याश्रयजन्यत्व। स्व=स्वर्ग, उसके प्राप्ति का आश्रय=पिता, उससे जन्य पुत्र है। अतः स्वप्राप्त्याश्रयजन्यत्व पुत्र में। इस प्रकार के परम्परासम्बन्ध) से रहता है। अर्थात् भविष्य में पुत्र को भी स्वर्ग की प्राप्ति होगी।] अतः पूर्वोक्त प्रकार से व्यभिचारदोष नहीं होगा।

समाधान— पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि यदि फल को परम्परा सम्बन्ध से साक्षात् फल आश्रय से भिन्न में रहने के कारण साक्षात् फलाश्रय से भिन्न व्यक्ति को भी फलभोक्ता माना जाय तब तो जैसे जातेष्टि कर्म का परम्परा सम्बन्ध से फल का आश्रय पिता हो रहा है ठीक वैसे ही परम्परा सम्बन्ध= स्वाश्रयसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से पिता से भिन्न कपाल भी फल का आश्रय हो जायेगा। जैसे स्व=पूतत्व, उसका आश्रय=पुत्र, तत्संयुक्त=घट, तत्समवाय=कपाल में। अतः स्वाश्रयसंयुक्तसमवायसम्बन्ध से फल कपाल में रहता है। उसको फलभोक्ता मानना जैसे अशास्त्रीय है, ठीक वैसे ही स्वाश्रयजनकत्वसम्बन्ध से फल पिता में रहता है। उसको फलभोक्ता मानना अशास्त्रीय है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पिता के लिए जो पुत्र है अर्थात् सुखादियोगित्वेन पिता के इच्छा का विषय जो पुत्र है। उस पुत्र में होने वाला जो पुतत्वादिरूप फल है। उस फल की निष्पत्तिरूपफल जातेष्टि कर्म का अनुष्ठान करने वाले पिता को ही मिलता है,क्योंकि पुत्र को पवित्रता मिल जाय— इसी कामना से पिता जात कर्म करता है। [कहने का भाव यह है कि पुत्र के पवित्र हो जाने से पिता को सुख होता है। अतः पुत्र पवित्र हो जाय। इस उद्देश्य से पिता जात कर्म करता

आत्मा यद्यपि नान्तःकरणार्थः, अहमर्थगततया तथापि फलस्योद्देश्यत्वानुभवाद् अहमर्थस्य चात्मानात्मरूपत्वेनात्मन्यपि फले उद्देश्यगतत्वानपायात्। यद्वा—आरोपितानारोपितसाधारणं कर्तृत्वमेव फलभाक्त्वे प्रयोजकम्, तच्चात्मन्यस्त्येव। न च शरीरेऽप्यारोपितकर्तृत्वेन फलभाक्त्वापत्तिः, फलपर्यन्तमसत्त्वेन फलभाक्त्वासम्भवात्। न हि कर्तुः फलभाक्त्वनियमं ब्रूमः, किन्तु फलभाजः कर्तृत्वनियमम्, अजनितफलकर्मकर्तरि व्यभिचारात्, अप्रयोजकत्वाच्च।।७।।

ननु मनसः कर्तृत्वं न घटते, कृतिकर्मत्वस्य करणत्वस्य च तद्विरोधिनः श्रुत्यादिसिद्धत्वाद्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। पुत्रगत पवित्रता के हो जाने पर पिता के द्वारा जातकर्म का उद्देश्य पूरा हो जाता है। इस प्रकार पुत्रगतपवित्रता रूप उद्देश्य की सिद्धि रूप फल पिता को मिलता है।] परन्तु प्रकृत में असङ्ग शुद्ध आत्मा अन्तःकरण के लिए नहीं है, जिससे कि आत्मगत मोक्ष अन्तःकरण का उद्देश्य हो। अर्थात् जैसे पुत्र को पवित्रता रूप फल मिल जाय— इस उद्देश्य से पिता जात कर्म करता है क्योंकि पुत्र पिता के लिए है। वैसे ही आत्मा को मोक्ष मिल जाय— इस उद्देश्य से अन्तःकरण श्रवणादि का अनुष्ठान नहीं करता है। क्योंकि असङ्ग शुद्ध आत्मा अन्तःकरण के लिए नहीं है। अतः अन्तःकरण द्वारा सम्पादित श्रवणादि का फल (मोक्ष) आत्मा को नहीं मिल सकता है।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि यद्यपि असङ्ग शुद्धात्मा अन्तःकरण के लिए नहीं है, तथापि ''अहं मुक्तः स्याम्'' इस प्रकार अहमर्थगत के रूप से मोक्ष में उद्देश्यता अनुभूत होती है। अहमर्थ चिदचिद्ग्रन्थिरूप होता है। अतः चैतन्यगत (आत्मगत) मोक्ष भी उद्देश्य बन जाता है। [''आत्मा यद्यपि नान्तःकरणार्थः'' के घटक ''यद्यपि'' पद के द्वारा आचार्यप्रवर ने यह सूचित किया है कि शुद्धात्मा शुद्धान्तःकरणार्थ नहीं होता है। अर्थात् जिस अन्तःकरण को ब्रह्मज्ञान हो गया है। उस अन्तःकरण में यह इच्छा नहीं होती है कि असङ्ग शुद्धात्मा के लिए श्रवणादि करूँ, किन्तु आत्मा में अध्यस्यमान अन्तःकरण में यह तो इच्छा होती ही है कि आत्मा की मुक्ति के लिए श्रवणादि करूं। अतः ''स्फुरणं निर्दुःखं भवतु'' ऐसी इच्छा का अनुभव होने से पुत्रादि के जैसे आत्मा को भी अन्तःकरणार्थ माना ही जा सकता है।] अथवा किसी में सत्य कर्तृत्व हो या आरोपित कर्तृत्व हो, वही कर्तृत्व प्रयोजक बनता है फलभागित्व का—ऐसा हम मानते हैं। आत्मा में सत्य कर्तृत्व के न रहने पर भी आरोपितकर्तृत्व रहता ही है। अतः आत्मा में मोक्षाश्रयता मानना उचित ही है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि आरोपित श्रवणादि कर्तृत्व शरीर में भी रहता है। अतः शरीर में भी फलभागित्व की आपत्ति होगी। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि शरीर में फलभागित्व अर्थात् मोक्षाश्रयता मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि मोक्ष पर्यन्त शरीर नहीं रहता है। जो कर्ता होता है वह फलभागी होता है— ऐसा नियम हम नहीं मानते हैं किन्तु जो फलभागी होता है वही कर्ता होता है— ऐसा नियम हम मानते हैं। आत्मा फलभागी है और वह मिथ्या कर्ता भी है। अतः कोई दोष नहीं है। जो कर्ता होता है वह फलभागी होता है—ऐसा नियम इसलिए नहीं माना जाता है कि किसी प्रतिबन्धक के कारण जिस कर्ता में कर्म का फल उत्पन्न नहीं होता है। उस कर्ता में उक्त नियम व्यभिचरित हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि जो कर्ता होता है वही फलभागी होता है—ऐसा नियम के मानने में कोई अनुकूल तर्क भी नहीं है। अर्थात् यदि कोई यह कह दे कि कर्ता है किन्तु फलभागी नहीं है—ऐसे प्रतिकूलतर्क का विघटक कोई अनुकूल नहीं है।।७।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि मन (अन्तःकरण) गत कर्तृत्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि कर्तृत्व का विरोधी कृति कर्मत्व और कृतिकरणत्व अन्तःकरण में रहता है। इसका प्रतिपादन

बुद्ध्यभावेऽपि कर्तृत्वस्य श्रूयमाणत्वाच्च। तथाहि 'तन्मनोऽकुरुत'इत्यादौ मनसः कृतिकर्मत्वम् 'शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा'इत्यादिश्रुतौ शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारम्भते नरः' इत्यादिस्मृतौ च करणत्वम्, मन उदक्रामन्मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्तेवा'इत्यादिश्रुतौ मनउत्क्रमणेऽप्यात्मनः कर्तृत्वम्, तथा परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः' इत्यादौ स्वरूपाविर्भावरूपपरममुक्तावपि कर्तृत्वं 'कर्ता विज्ञानात्मा' 'यो वेदेदं जिघ्राणीति 'स आत्मा' आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः' इत्यादिश्रुतितश्च कर्तृत्वम्, तथा च बुद्धिर्न कर्त्रीति चेन्न 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिश्रुत्या मनसः कर्तृत्वेन स्वकृतिकर्मत्वविरोधेऽपि तत्रेश्वरकृतिकर्मत्वस्य उपलब्धिं प्रति करणत्वस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

श्रुति—स्मृति में किया गया है और बुद्धि (अन्तःकरण) का अभाव होने पर भी कर्तृत्व का श्रूयमाणत्व है। जैसे ''तन्मनोऽकुरुत'' (बृ.उ.१—२—१) (उस ब्रह्म ने मन को बनाया।) इस श्रुति के द्वारा मन में कृति कर्मत्व कहा गया है और '' शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा'' (बृ.उ.६—१—८) (श्रोत्र से सुनते हुए मन के द्वारा कार्य और अकार्यादि के विषय में विचार करते हुए) इस श्रुति के द्वारा मन में करणत्व कहा गया है। इसी प्रकार ''शरीर वाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः'' (गी. १८—१५) (मनुष्य शरीर के द्वारा वाणी के द्वारा मन के द्वारा जिस कर्म का आरम्भ करता है।) इस स्मृतिवाक्य के द्वारा भी मन में करणत्व का प्रतिपादन किया गया है। अन्तःकरण के न रहने पर भी आत्मा में कर्तृत्व रहता है। इसमें प्रमाण देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''मन उदक्रामत् मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्ते'' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा मन का उत्क्रमण होने पर भी आत्मा में कर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार ''परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः'' (छा. ८—१२—३) (परमज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह उत्तम पुरुष है। उस समय वह हंसता क्रीड़ा करता रमण करता है।) इस श्रुति के द्वारा स्वरूप आविर्भाव रूप मुक्ति में भी आत्मगत कर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार ''कर्ता विज्ञानात्मा'' (प्रश्नो. ४—९) और ''वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा'' (छा.उ. ८—१२—४) एवं ''आनन्दभुक् तथा प्राज्ञः'' (मा.का. १—३) के द्वारा स्पष्टरूप से आत्मा में कर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है। फलतः पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति के द्वारा यह सिद्ध हो गया कि अन्तःकरणगत कर्तृत्व नहीं है अपितु आत्मगत ही है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है क्योंकि ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' (तै.उ.२—५—१) (बुद्धि यज्ञ को करती है।) यहां पर बुद्धि को कर्ता कहा गया है। [इस पर पूर्वपक्षी ने कहा था कि ''तन्मनोऽकुरुत'' (बृ.उ.१—२—१) इस श्रुति के द्वारा जब मन को कृति का कर्म बतलाया गया था तब जो मन कर्म है वही मन कर्ता नहीं हो सकता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] जिस क्रिया का जो कर्म या करण है। उसी क्रिया का वही कर्ता विरोध होने के कारण नहीं हो सकता है— यह नियम रहने पर भी अन्य क्रिया के प्रति पूर्वक्रिया का कर्म या करण को कर्ता माना जा सकता है। इसको प्रकृत में समन्वय करते हुए कह रहे हैं कि ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' इस श्रुति के द्वारा मन को कर्ता रहने के पश्चात् यदि ''तन्मनोऽकुरुत'' इस श्रुति के द्वारा कर्ता रूप से कथित मन को ही कर्ता मानकर ''मन ही मन को बनाने का प्रयत्न करता है।'' ऐसा कहते तब तो विरोध होता, क्योंकि जो कर्ता है वही कर्म नहीं हो सकता है। किन्तु ''तन्मनोऽकुरुत'' इस श्रुति में ''ईश्वर ने मन को उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न किया— इस प्रकार से मनोगत ईश्वरीय कृति—कर्मता कही गयी है। अतः विरोध नहीं है और मन ''तनुते'' क्रिया का कर्ता है और ''अकुरुत'' क्रिया का कर्म है। इसलिए भी विरोध

चाविरोधाद्, ईश्वरे अविद्यावृत्तिरूपज्ञानेच्छावत् तद्रूपकृतिसम्भवात्।।८।।

न च विज्ञानपदं ब्रह्मपरम्, 'विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद, तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते।' इत्यादिवाक्यशेषादिति वाच्यम्, वाक्यशेषोक्तमुमुक्षुज्ञेयशुद्धब्रह्मणो यज्ञकर्तृत्वासम्भवेन कर्तृत्वेन प्रतिपाद्यमाने विज्ञाने ततोऽर्थान्तरत्वनिश्चयाद्, 'अन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते'

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं है। इसी प्रकार ''श्रृण्वन्त: श्रोत्रेण विद्वांसो मनसा'' में ''विद्वांस:'' का अर्थ उपलब्धी करता हुआ है। अत: उपलब्धी क्रिया का जो मन करण है। उसी मन को ''तनुते'' क्रिया का कर्ता मानने में भी कोई विरोध नहीं है। ईश्वर में भी कृति रहती है– इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ईश्वर में जैसे अविद्या (माया) की वृत्तिरूप ज्ञान और इच्छा मानना सम्भव है ठीक वैसे ही अविद्या की वृत्तिरूप कृति भी मानना सम्भव है। उस कृति की कर्मता आकाशादि जगत् के जैसे मन में भी रहती है।।८।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' (तै.उ.२–५–१) इस श्रुतिवाक्य का घटक विज्ञान पद ब्रह्म का बोधक है न कि मन का, क्योंकि ''विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद, तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति, शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते'' (तै.उ.५–२–१) [विज्ञान ब्रह्म है–इस प्रकार से यदि जानता है और उससे प्रमाद भी नहीं करता है। अर्थात् बाह्य अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि का होना रूप प्रमाद भी नहीं करता है, तब शरीराभिमान के कारण होने वाले सम्पूर्ण पापों को त्यागकर वह समस्त भोगों को विज्ञानमय स्वरूप से ही पूर्णतया उपभोग करता है।] इत्यादि वाक्य जो कि ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' का शेष है। अर्थात् उत्तरवाक्य है। इस वाक्य में विज्ञान पद ब्रह्म का बोधक है।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद.....'' इस वाक्य शेष में स्थित विज्ञानपद का अर्थ मुमुक्षु द्वारा ज्ञेय शुद्ध ब्रह्म किया जाता है। ऐसा ही अर्थ ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' इस वाक्य के घटक विज्ञान पद का नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में यज्ञकर्तृत्व सम्भव नहीं है। अत: वाक्यशेष में स्थित जो शुद्धब्रह्म बोधक विज्ञान पद है। उसके अर्थ से भिन्न मनरूप अर्थ ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' के विज्ञान पद का है। ऐसा मानना उचित ही है। दूसरी बात यह भी है कि ''सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति, येऽन्नं ब्रह्मोपासते'' (तै.उ. २–२–८) [जो अन्न ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न को प्राप्त करते हैं।] इस वाक्य में स्थित अन्न शब्द का अर्थ ब्रह्म नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ''ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात् पुरुष:। (तै.उ.२–१–१३) इस वाक्य में स्थित अन्न शब्द का ब्रह्म अर्थ करना सम्भव नहीं है, क्योंकि ओषधी से ब्रह्म उत्पन्न होता है–ऐसा अन्वय करना सम्भव ही नहीं है। अत: अन्न में ब्रह्मरूपता की भावना का प्रतिपादन यहां माना जाता है। प्रकृत में भी ''विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद...'' इत्यादि वाक्य शेष के घटक विज्ञानशब्द का अर्थ ब्रह्म नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ''विज्ञानं यज्ञं तनुते'' के घटक विज्ञान शब्द का ब्रह्म अर्थ करना सम्भव नहीं है, क्योंकि ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै.उ.२–१–१) इत्यादि के द्वारा शुद्ध ब्रह्म का निरूपण चल रहा है और शुद्ध ब्रह्म में यज्ञकर्तृत्व सम्भव नहीं है। अत: ''विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद....'' यहां पर भी विज्ञान की ब्रह्मरूप से उपासना का ही प्रतिपादन किया गया है। [अत: वाक्य शेष घटक विज्ञान शब्द का अर्थ अन्त:करण ही है और ''तन्मनोऽकुरुत'' इस श्रुति के द्वारा ''ईश्वर ने अन्त:करण को उत्पन्न करने के लिए प्रयत्न किया।'' ऐसा कहा गया है।] इसी प्रकार ''तत्रैवं सति कर्तारम्'' (गी.१८–१६) [पूर्वोक्त प्रकार से अधिष्ठानादि पांच ही सम्पूर्ण कर्मों के उत्पादक हैं–ऐसा होने पर भी जो पुरुष असंस्कृत बुद्धि होने के कारण कर्मों के होने में केवल शुद्धस्वरूप आत्मा को कर्ता मानता है वह

इत्येतद्वाक्यसमानयोगक्षेमत्वाच्च। 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति'इत्यादि स्मृतेः 'प्रकृतेः क्रियमाणानि'इत्यादिस्मृतेश्च। न चात्मनि स्वातन्त्र्येण कर्तृत्वनिषेध–बोधकत्वमनयोः, सामान्यतो निषेधे बाधकाभावात्। अत एव 'ध्यायतीव लेलायतीव'इत्यादाविवशब्दः। न चेवशब्दः परतन्त्रप्रभौ प्रभुरिवेतिवज् जीवकर्तृत्वे परतन्त्रतामात्रपरः, तद्वदत्र बाधकाभावात्। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ को नहीं जानता है।] इत्यादि स्मृति वाक्य के द्वारा कहा गया कि जो आत्मा को कर्ता समझता है। वह दुर्मति है। अर्थात् आत्मा कर्ता नहीं है–यही वास्तविकता है। और ''प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। (गी. ३–२७) [सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृति के सत् रज तम गुणों द्वारा किये जाते हैं–ऐसा होने पर भी जिसका अन्तःकरण अहङ्कार से मोहित हो रहा है–ऐसा अज्ञानी मैं कर्ता हूं–ऐसा मानता है।] इत्यादि स्मृति के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि प्रकृति ही कर्ता है, आत्मा कर्ता नहीं है। अतः आत्मा में कर्तृत्व नहीं माना जा सकता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त दोनों गीता वाक्यों के द्वारा स्वातन्त्रेणा अर्थात् ईश्वर निरपेक्षत्वेन कर्तृत्व का जीवात्मा में निषेध कर ईश्वर परन्तन्त्रत्वेन कर्तृत्व जीवात्मा में कहा गया है। अतः जीवात्मा में कर्तृत्व मानना उचित ही है न कि अन्तःकरण में।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी सामान्यरूप से आत्मा में कर्तृत्व का निषेध न मानकर विशेषरूप से (ईश्वर निरपेक्षत्वरूप से) आत्मा में कर्तृत्व का निषेध उक्त गीता वाक्यों के द्वारा कहा गया है–ऐसा जो मान रहा है वह उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा में किसी भी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है– इस प्रकार से सामान्यतः आत्मगत कर्तृत्व निषेधकता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है।[अर्थात् उक्त गीता वाक्य द्वय के पूर्व में स्थित ''पञ्चैते तस्य हेतवः'' (गी.१८–१५) इस वाक्य के द्वारा आत्मा से भिन्न पांच सामान्य में ही क्रिया के प्रति हेतुता कही गयी है। इसके पश्चात् उक्त पांच से भिन्न आत्मा में कर्तृत्व नहीं है–इसको स्पष्ट करते हुए पुनः कहा गया कि आत्मा कर्तृत्व से शून्य है,उस आत्मा में जो कर्तृत्व मानता है। वह दुर्मति है–इस प्रकार से स्फुट रूप से जब आत्मा में कर्तृत्व का निषेध कर दिया गया तब आत्मा में ईश्वर पारतन्त्रेण कर्तृत्व मानना अनुचित है।] अत एव= आत्मा में वास्तविक कर्तृत्व न होने के कारण ही ''ध्यायतीव लेलायतीव'' (बृ.उ.४–३–७) इत्यादि श्रुति वाक्यों में इव शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् ''इवोपमायामल्पत्वे'' इत्यादि कोष वाक्य के अनुसार यहां इव शब्द अल्पसत्ताक अर्थात् आरोपित कर्तृत्व को ही आत्मा में ध्वनित करता है।

शङ्का– पूर्वपक्षी कहा कथन है कि ''प्रभुरिव'' के घटक इव शब्द जैसे परतन्त्रता मात्र का बोधक होता है, वैसे ही प्रकृत में इव शब्द भी जीव के कर्तृत्व में परतन्त्रतामात्र का बोधक है। [पूर्वपक्षी के कथन का भाव यह है कि जैसे वास्तविक प्रभुत्व राजा में रहता है, और राजा पारतन्त्रप्रभुत्व मन्त्री में रहता है। उस मन्त्री को ''प्रभुरिव'' कहा जाता है। वैसे ही वास्तविक कर्तृत्व ईश्वर में है और ईश्वर पारतन्त्र कर्तृत्व जीव में है। इसको ज्ञापित करने के लिए उक्त श्रुति में इव शब्द का प्रयोग किया गया है।]

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे उक्त गीता वाक्यों के द्वारा आत्मगत सामान्यकर्तृत्वाभावपरता मानने में कोई बाधक नहीं है, ठीक वैसे ही उक्त श्रुतिघटक इव शब्द के द्वारा भी आत्मगत अल्पसत्ताक आरोपित कर्तृत्व मानने में कोई बाधक नहीं है। अर्थात् श्रुतिघटक इव

बुद्ध्यभावेऽपि आत्मनः कर्तृत्वश्रवणाद् बुद्धेः कर्तृत्वासम्भव इति वाच्यम्; बुद्धेः कर्तृत्वे जनकत्वमात्रे वा सर्वथा तस्या जीवनिष्ठत्वेनाभिमतायां कृतावपेक्षणीयत्वेन तदभावे कर्तृत्वबोधकस्य तवापि मते उपचरितार्थत्वात्, निर्धर्मकत्वनिर्विकारत्वनिष्क्रियत्वादिबोधकश्रुतिविरोधाच्च।।९।।

न च निर्धर्मकत्वरूपधर्मभावाभावाभ्यां व्याघाताज् ज्ञानत्वसाक्षित्वादिवत् सत्यस्यासत्यस्य वा ज्ञातृत्वादेरप्यात्मन्येव सम्भावाच्च निर्धर्मकत्वश्रुतिर्न श्रूयमाणार्थपरेति वाच्यम्, निर्धर्मकत्वस्य धर्माभावरूपस्य ब्रह्मस्वरूपानतिरेकेण धर्मत्वाभावेन व्याहत्यभावात्। यत्त्वसत्यस्य सत्यस्य वा

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्द के द्वारा भी वस्तुतः आत्मगत सामान्यकर्तृत्वाभाव ही कहा गया है और ऐसा मानने में कोई बाधक भी नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अन्तःकरण का अभाव हो जाने पर भी ''मन उदक्रामत् मीलित इवाश्नन् पिबन्नास्ते'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा आत्मा में कर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है। अतः अन्तःकरण में कर्तृत्व मानना सम्भव नहीं है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धि में कर्तृत्व सिद्धान्तमतानुसार माना जाता है और आत्मा के साथ बुद्धि का तादात्म्याध्यास होने के कारण आत्मगत आरोपित कर्तृत्व माना जाता है। इस प्रकार सिद्धान्ती के मत में भी आत्मगतकृति के लिए बुद्धि की अपेक्षा है और माध्वमत में बुद्धि में आत्मगत कृति (कर्तृत्व) का जनकत्व माना जाता है। अतः माध्वमत में भी आत्मगत कृति के लिए बुद्धि की अपेक्षा होती है। इस प्रकार दोनों ही मतों में जीवगत आरोपित अथवा सत्य कृति में बुद्धि की अपेक्षा होती है। इसलिए बुद्धि के अभाव में आत्मगत कर्तृत्व प्रतिपादक श्रुतियों को ''स आत्मनो वपामुदखिदत्'' के समान गौणार्थक मानना पूर्वपक्षी के लिए भी आवश्यक है। सिद्धान्तमत में ऐसी श्रुतियों को तो गौणार्थक माना ही जाता है। दूसरी बात यह भी है कि आत्मा में अनारोपित कर्तृत्व मानने पर आत्मा में निर्धर्मकत्व निर्विकारत्व निष्क्रियत्वादि की बोधक श्रुतियों से विरोध भी होगा।।९।।

शङ्का— खण्ड संख्या ९ में सिद्धान्ती ने कहा कि आत्मा में अनारोपित कर्तृत्व मानने पर आत्मगत निर्धर्मकत्व—निर्विकारत्व—निष्क्रियत्वादि की बोधक श्रुतियों से विरोध होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्वादि मानने में आत्मगत निर्धर्मकत्वादि के बोधक वाक्य बाधक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि निर्धर्मकत्व भी एक प्रकार का धर्म है। अतः आत्मा में यदि निर्धर्मकत्व नामक धर्म रहता है तब आत्मा को निर्धर्मक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि व्याघातदोष होगा। यदि आत्मा में निर्धर्मकत्व नामक धर्म नहीं रहता है तब भी आत्मा को निर्धर्मक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जिसमें घटत्व नहीं रहता है, वह जैसे घट नहीं माना जाता है, ठीक वैसे ही जिसमें निर्धर्मकत्व नहीं है, वह भी निर्धर्मक नहीं माना जा सकता है। फलतः उभयतः व्याघात होने से जैसे ज्ञानत्व और साक्षित्व को सिद्धान्ती चाहे असत्य ही माने किन्तु आत्मा में ही मानते हैं। ठीक उसी प्रकार ज्ञातृत्व—कर्तृत्व—भोक्तृत्वादि चाहे सत्य हो या असत्य, उनको आत्मा में ही मानना चाहिए न कि अन्तःकरण में। ''साक्षी चेता केवलो निगुर्णश्च'' (श्वे.उ.६—११) इत्यादि निर्धर्मकत्व बोधक श्रुतियां श्रूयमाण अर्थ बोधक नहीं मानी जा सकती है। अर्थात् निर्धर्मकत्व बोधक श्रुतियों को मुख्यार्थक न मानकर गौणार्थक ही मानना चाहिए।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है,क्योंकि सिद्धान्तमत में निर्धर्मकत्व का अर्थ धर्माभाव होता है। अर्थात् श्रुति ने जो आत्मा को निर्धर्मक बतलाया है। उसका तात्पर्य यह है कि

ज्ञातृत्वस्यात्मन्यपि सम्भव इत्युक्तम्। तदिष्टमेव, न ह्यारोपितमपि कर्तृत्वमात्मनि प्रतिषेधामः। न च निर्विकारत्वं द्रव्यान्तररूपतया परिणामाभावपरम्, न तु विशेषाकाराभावपरम्, तच्चात्मनः कर्तृत्वादिसत्त्वेऽप्यविरुद्धमिति वाच्यम्, द्रव्यान्तररूपतया परिणामनिषेधकमपीदं वाक्यं निर्धर्मकश्रुत्यनुसारेण विशेषाकारमात्रस्यैव निषेधपरम्, सामान्यनिषधेनैव विशेषनिषेधप्राप्तेः॥१०॥

नापि निष्क्रियत्वे क्रिया परिस्पन्दो? वा धात्वर्थो वा? आद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये आत्मन्यपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

आत्मा में कोई भी धर्म नहीं रहता हैं। इस पर पुनः प्रश्न होता है कि निर्धर्मक= धर्माभाववान् होने पर तो आत्मा में पुनः धर्माभाववत्त्वरूप धर्म मानने पर पुनः व्याघातदोष होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती ने कहा कि हम अभाव को अधिकरणस्वरूप मानते हैं। अब वह धर्माभाव ब्रह्मस्वरूप ही है। अतः व्याघातदोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि सत्य या असत्य ज्ञातृत्वादि आत्मा में ही सम्भव है। इस पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि सिद्धान्तमत में आत्मगत आरोपित कर्तृत्व का निषेध नहीं किया जाता है। अपितु आत्मगत अनारोपित कर्तृत्व का निषेध किया जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रुतिगत निर्विकार शब्द द्रव्यान्तर रूप से परिणामाभाव का बोधक है, विशेषाकार रूप से परिणामाभाव का बोधक नहीं है। अतः आत्मा में कर्तृत्वादि विशेष का अभाव नहीं माना जा सकता है अपितु आत्मा में कर्तृत्वादि विशेष को माना ही जा सकता है। [सिद्धान्ती का कथन था कि निर्विकार श्रुति के द्वारा आत्मा में कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अनेक विशेष आकारों का निषेध किया है। अर्थात् द्रव्यान्तर रूप से परिणामाभाव हो अथवा कर्तृत्वादि रूप विशेष से परिणामाभाव हो—सभी का अभाव अर्थात् सामान्याभाव आत्मा में है। ऐसा होने पर यह सिद्ध हो जाता है कि निर्विकार श्रुति के द्वारा द्रव्यान्तर रूप से परिणामाभाव के साथ—साथ कर्तृत्वादि रूप विशेषाकार रूप से भी परिणामाभाव आत्मा में सिद्ध हो जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि निर्विकारक श्रुति के द्वारा यह कहा गया कि आत्मा द्रव्यान्तर रूप से परिणत नहीं होता है। अर्थात् द्रव्यान्तररूपेण परिणामाभाव यह विशेषाभाव है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा का द्रव्यान्तर रूप से परिणाम न होने पर भी कर्तृत्वादि रूप से परिणाम हो ही सकता है।]

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है,क्योंकि द्रव्यान्तर रूप से परिणाम का निषेधक निर्विकार बोधक जो श्रुतिवाक्य "निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदाकुतः" (अध्यात्मो.२२) है। वह वाक्य भी निर्धर्मक श्रुति के अनुसार विशेषाकार मात्र के ही निषेध का बोधन करता है। [अर्थात् यदि निर्विकारक श्रुति का केवल द्रव्यान्तररूप से परिणामाभाव अर्थ लेकर आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म मानेंगे तब निर्धर्मकश्रुति से विरोध होगा। अतः निर्धर्मक श्रुति के साथ निर्विकारक श्रुति का विरोध न हो। इसके लिए निर्विकारक श्रुति का अर्थ करना होगा कि आत्मा का किसी भी रूप से परिणाम नहीं होता है। अर्थात् आत्मा में सामान्य परिणामाभाव है। आत्मा में सामान्यपरिणामाभाव के सिद्ध हो जाने पर विशेष परिणाम का अभाव भी सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार आत्मा में कर्तृत्वादि विशेष परिणामाभावों की सिद्धि हो जाने से आत्मा में कर्तृत्वादि नहीं माना जा सकता है]॥१०॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्त मत में आत्मा निष्क्रिय है—ऐसा माना जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि निष्क्रिय का घटक क्रिया पद का क्या अर्थ है? क्या परिस्पन्दन रूप क्रिया है? अथवा धात्वर्थरूप क्रिया। प्रथम पक्ष में हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि आत्मा में परिस्पन्दनरूप क्रिया का अभाव रूप निष्क्रियत्व मानने पर भी आत्मा में कर्तृत्वादि की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि जहां

अस्त्यादिधात्वर्थरूपसत्तादेः सत्त्वेनासिद्धिरिति वाच्यम्, ब्रह्मण एव सद्रूपत्वेन तत्र सत्तादेरप्यभावात्, क्रियापदस्य कृतिपरत्वाच्च। अत एव मनसोऽभावे सुषुप्तौ कर्तृत्वाद्यदर्शनम्। न च तदापि श्वासादिकर्तृत्वं दृश्यत एव, सुषुप्तौ 'भूर्भूरित्येव प्रश्वसिति' इति श्रुतेरिति वाच्यम्, 'न तु तद् द्वितीयमस्ति' इत्यादिश्रुत्या तं प्रति श्वासस्यैवाभावेन तत्कर्तृत्वस्य सुतरामसम्भवात्। यद्वा क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राणात्मकस्यान्तः- करणस्य तदापि सत्त्वेन तदुपाधिककर्तृत्वस्य तदापि सत्त्वात्। तथा च श्रुतिरन्यपरा।

सत्यानन्दप्रबोधिका

परिस्पन्दनत्व है, वहां कर्तृत्वादि है—ऐसा नहीं माना जाता है, क्योंकि विभु ब्रह्म में परिस्पन्दनत्व के न रहने पर भी जगत्कर्तृत्वादि माना जाता है। द्वितीय पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा में अस्त्यादि धात्वर्थ रूप सत्ता का सत्त्व माना जाता है। अतः आत्मा में निष्क्रियत्व नहीं रह सकता है। [यहां पर पूर्वपक्षी के कथन का भाव यह है कि सिद्धान्ती द्वितीय पक्ष को स्वीकार कर नहीं सकते हैं। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि आत्मा में परिस्पन्दन के न होने पर भी कर्तृत्व माना जा सकता है। जैसे विभु ईश्वर में परिस्पन्दन के न होने पर भी जगत्कर्तृत्व माना जाता है। अतः आत्मा में कर्तृत्व का बाधक निष्क्रियत्व बोधकश्रुति नहीं हो सकती है।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्म सत्स्वरूप ही होता है, न कि सत्तावान्। अतः ब्रह्म में अत्स्त्यादि धात्वर्थ रूप सत्ता का अभाव माना जाता है। दूसरी बात यह है कि निष्क्रिय के घटक क्रिया पद का अर्थ कृति (प्रयत्न) विवक्षित है। प्रयत्न मन का ही व्यापार है। अतः आत्मा में निष्क्रियत्व माना ही जा सकता है। अत एव= मन में कृति होने से ही, सुषुप्ति में मन का अभाव होने पर कर्तृत्वादि का दर्शन नहीं होता है। इसलिए मन में ही कर्तृत्व माना जा सकता है न कि आत्मा में।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सुषुप्ति में भी श्वासादि के प्रति कर्तृत्व आत्मा में देखा जाता है और सुषुप्ति में श्वासादि के प्रति आत्मगत कर्तृत्व में श्रुति प्रमाण भी है। जैसे ''देवा परमात्मानं भूरित्युपासाञ्चक्रुः, तस्माद्धैवैतर्हि सुप्तः पुरुषो भूर्भूरित्येव प्रश्वसिति'' इस श्रुति के द्वारा सुषुप्ति में श्वासादि के प्रति कर्तृत्व आत्मा में कहा गया है।

समाधान— पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''न तु तद् द्वितीयमस्ति'' (बृ.उ. ४—३—२३) इस श्रुति के द्वारा सोते हुए पुरुष के प्रति अर्थात् सुषुप्त आत्मा के प्रति श्वासादि द्वैत प्रपञ्च का अभाव कहा गया है। जब सुप्त के प्रति श्वास ही नहीं है, तब श्वासकर्तृत्व का अभाव सुप्त में सुगमतापूर्वक स्पष्ट हो जाता है। दृष्टिसृष्टि में द्वैतप्रपञ्च का अभाव होने पर भी सृष्टिदृष्टि पक्ष में द्वैतप्रपञ्च रहता है। अतः सुषुप्ति में श्वासादि के प्रति कर्तृत्व आत्मा में मानने की आपत्ति होगी। इस अरुचि से कह रहे हैं कि अथवा अन्तःकरण की दो शक्ति है—ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति। ज्ञानशक्ति प्रधान अन्तःकरण को बुद्धि कहते हैं और क्रियाशक्ति प्रधान अन्तःकरण को प्राण कहते हैं। प्राणात्मक अन्तःकरण सुषुप्तिकाल में रहता है। अतः प्राणात्मक अन्तःकरणोपाधिक कर्तृत्व आत्मा में उपपन्न हो जायेगा। अर्थात् प्राणात्मक अन्तःकरण में श्वासादि के प्रति कर्तृत्व है। उस प्राणात्मक अन्तःकरण का आत्मा के साथ तादात्म्याध्यास होने से आत्मा में कर्तृत्व भासता है। वस्तुतः श्वासादि के प्रति आत्मा में स्वाभाविक कर्तृत्व नहीं है। अतः सुषुप्ति में श्वासादि के प्रति आत्मा में कर्तृत्व बतलाने वाली श्रुति को अन्य परक मानना पड़ेगा। इसलिए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा कि ''देवा परमात्मानम्...'' इत्यादि श्रुति का उपासना की प्रशंसा में तात्पर्य है न कि सुषुप्ति में श्वासादि के प्रति आत्मा में कर्तृत्व का प्रतिपादन करने में है। सुषुप्त पुरुष को श्वास लेते हुए जो

दर्शनं च द्रष्ट्रविद्याकल्पितश्वासादिविषयम्। इदं च दृष्टि सृष्टिवाद एव समर्थितम्। 'कामः सङ्कल्पः', इत्यारभ्य 'ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' इत्यन्ता श्रुतिरपि मनसः कर्तृत्वपरा, न तु मनसो निमित्तत्वपरा। न च 'मनसा वा अग्रे सङ्कल्पयति' इत्यादिश्रुत्या 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण' इत्यादिश्रुत्या च मनसः करणत्वमिति वाच्यम्, मनोव्यतिरिक्तस्य सङ्कल्पानाश्रयत्वेन 'मनसा वा' इति श्रुतेरुपचरितार्थत्वात्।।११।।

नापि (१) आत्मा, मोक्षसाधनविषयकृतिमान्, तत्फलान्वयित्वात्, सम्मतवत्, (२) अज्ञानं, ज्ञानसमानाधिकरणम्, ज्ञाननिवर्त्यत्वात्, ज्ञानप्रागभाववत्, (३) दुखादिभोगः, मोक्षसमानाधिकरणः, बन्धत्वात्, सम्मतवदित्याद्यनुमानैरात्मनः कर्तृत्वसिद्धिरिति—वाच्यम्, आद्यानुमाने आरोपितानारोपित—

सत्यानन्दप्रबोधिका

दूसरा पुरुष देखता है। वह देखने वाला द्वितीय पुरुष रूप द्रष्टा की अविद्या के द्वारा कल्पित जो श्वासादि हैं। वही श्वासादि द्वितीय पुरुष के दर्शन की विषय बनती है। सुषुप्तपुरुष के प्रति श्वासादि सम्पूर्णद्वैतप्रपञ्च का अभाव ही रहता है। इसका समर्थन दृष्टिसृष्टिवाद में किया जा चुका है। '' कामः संकल्पोविचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव'' (बृ.उ.१—५—३) यह जो श्रुति है। इस श्रुति के द्वारा भी अन्तःकरणगतकर्तृत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। कर्तृत्व में मन निमित्तकारण है अर्थात् क्रिया के प्रति मन निमित्तमात्र है मुख्यकर्ता आत्मा है— इसका प्रतिपादन नहीं किया गया है।

शङ्का— मन में निमित्तकारणता ही मानना चाहिए, क्योंकि ''मनसा वा अग्रे संकल्पयति'' (गर्भो. ९) इत्यादि श्रुति से और ''आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः'' (क.उ. ३—४) इत्यादि श्रुति से मन में करणता सिद्ध होती है न कि कर्तृत्व।

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नहीं है,क्योंकि संकल्पादि का आश्रय मन से अन्य कोई हो नहीं सकता है। अतः कार्य और कर्तृत्व में सामानाधिकरण्य की उपपत्ति के लिए मन में ही कर्तृत्व मानना पड़ेगा। इसलिए उक्त श्रुतियों को गोणार्थक मानना चाहिए। अर्थात् मन पद यहां पर मनोगत संकल्पादि की जो सामग्री है, उसका बोधक है। अतः मन मनोगत संकल्पादि की सामग्री से संकल्पादि को उत्पन्न करता है। इसलिए मन में संकल्पादि के प्रति कर्तृत्व ही मानना उचित है न कि करणत्व।।११।।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा आत्मगत कर्तृत्व की सिद्धि के लिए अनुमान किया जा रहा है। (१) आत्मा, मोक्ष के साधन (श्रवणादि) विषयक कृति (कर्तृत्व) वाला है, क्योंकि साधनजन्यफलान्वयी है। जो साधनजन्यफलान्वयी होता है वह फलजनक साधन विषयककृतिवाला होता है। जैसे कृषि फलभोक्ता कृषक। (२) अज्ञान, ज्ञान का सामानाधिकरण होता है (अर्थात् अज्ञान ज्ञानाधिकरण निरूपितवृत्तित्वविशिष्ट होता है।) क्योंकि अज्ञान ज्ञान से निवर्त्य होता है, जैसे ज्ञान का प्रागभाव। (३) दुःखादि का भोग, मोक्ष के सामानाधिकरण होता है, क्योंकि वह बन्ध है। जो बन्ध होता है, वह मोक्ष के समानाधिकरण होता है। जैसे कारागार से मुक्त देवदत्त। ऐसे अनुमानों के द्वारा आत्मा में कर्तृत्व की सिद्धि होती है, क्योंकि प्रथम अनुमान से आत्मा में बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष के साधनविषयक कर्तृत्व सिद्ध होता है। द्वितीय अनुमान से ज्ञान के अधिकरण आत्मा में अज्ञान रहेगा। जहां ज्ञान रहेगा वहीं पर ज्ञानजन्य कर्तृत्व रहेगा। जैसे देवदत्त को घट का ज्ञान रहने पर देवदत्त में घट का कर्तृत्व उपपन्न हो पाता है। अतः आत्मा में ही कर्तृत्व सिद्ध होता है। तृतीय अनुमान से जो दुःखादि का भोग मोक्ष समानाधिकरण होता है। दुःखादि की निवृत्ति रूप मोक्ष जब आत्मा में है तब

साधारणकृतिमत्त्वं वा साध्यं? अनारोपितकृतिमत्त्वं वा? आद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये जातेष्टिपितृयज्ञ– जन्यफलान्वयिनि व्यभिचारः। द्वितीयानुमानेऽपि आरोपितानारोपितसाधारणज्ञानाधिकरणवृत्तित्वं वा? अनारोपितज्ञानाधिकरणवृत्तित्वं वा? अत्राप्याद्ये इष्टापत्तिः, द्वितीये अनादिभावभिन्नत्वस्योपाधित्वम्। तृतीयानुमाने आरोपितानारोपितसाधारणसम्बन्धेन मोक्षसामानाधिकरण्ये इष्टापत्तिः, अनारोपितसम्बन्धेन सामानाधिकरण्ये साध्याप्रसिद्धिः। तस्मात् सिद्धं मनसः कर्तृत्वमात्मन्यारोप्यत इति।।१२।।

इत्यद्वैतसिद्धौ कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

दुःखादि का भोग भी आत्मा में रहेगा। जब दुःखादि का भोक्ता आत्मा होगा तब दुःखादि के भोग का कर्तृत्व भी आत्मा में रहेगा।

समाधान– पूर्वपक्षी के अनुमानों का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम अनुमान में आरोपित–अनारोपित उभय साधारण कृतिमत्त्व साध्य है? अथवा अनारोपित कृतिमत्त्व? प्रथम पक्ष में हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि आत्मा में आरोपित कर्तृत्व हम मानते हैं। द्वितीय पक्ष में व्यभिचारदोष है, क्योंकि "यो यत्फलवान्, सः तत्साधनकृतिमान्" इस व्याप्ति का पिता के द्वारा सम्पादित जो जातेष्टि है, उस जातेष्टि जन्य फलाश्रयीभूत पुत्र में और पुत्र के द्वारा सम्पादित जो पितृ यज्ञ है, उस पितृयज्ञजन्यफलाश्रयीभूत पिता में व्याप्य के रहने पर भी व्यापक नहीं रहता है। इसको खण्ड संख्या ६ में स्पष्ट किया जा चुका है। द्वितीय अनुमान में भी आरोपित– अनारोपित उभय साधारणकर्तृत्वगत ज्ञानसमानाधिकरणता विवक्षित है? अथवा अनारोपित कर्तृत्वगत ज्ञानसमानाधिकरणता? प्रथम पक्ष में इष्टापत्ति है। द्वितीय पक्ष में अनादिभाव भिन्नत्व उपाधि है, क्योंकि दृष्टान्त में साध्य है और अनादिभाव से भिन्न ज्ञान का प्रागभाव है। अतः अनादिभावभिन्नत्व दृष्टान्त में गया। अतः साध्य का व्यापकत्व उपाधि में मिल गया। पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं , क्योंकि सिद्धान्तमत में अज्ञान के अनादि होने पर भी अज्ञान को भावपदार्थ माना जाता है। अतः अनादि भावभिन्नत्व अज्ञान में नहीं रहेगा। इस प्रकार उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी मिल गया। अतः सोपाधिक हेतु होने के कारण साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। तृतीय अनुमान में आरोपित–अनारोपित उभय साधारण सम्बन्ध से बन्ध में मोक्ष समानाधिकरणता विवक्षित होने पर इष्टापत्ति है और अनारोपित (आत्मरूपधर्मी के समान सत्ता वाले) सम्बन्ध से बन्ध में मोक्ष समानाधिकरणता मानने पर साध्य की अप्रसिद्धि होगी, क्योंकि आत्मा की सत्ता के समान दूसरे की सत्ता सिद्धान्त मत में मानी नहीं जाती है। अतः आत्मा की पारमार्थिक सत्ता के समान पारमार्थिक सत्ता वाले सम्बन्ध की प्रसिद्धि न होने के कारण उस सम्बन्ध से मोक्ष समानाधिकरणता कहीं पर प्रसिद्ध नहीं हो सकती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि आत्मा में वास्तविक कर्तृत्व नहीं है किन्तु मनोगत कर्तृत्व का ही आरोप आत्मा में होता है।।१२।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां कर्तृत्वाध्यासोपपत्तिः

१४— देहात्मैक्याध्यासविचारः

ननु—अहमर्थस्यानात्मत्वे 'ब्राह्मणोऽहं काणः' इत्यादिप्रत्यक्षं देहेन्द्रियादौ आत्मैक्याध्यासे प्रमाणं न स्याद्, ऐक्यबुद्धावात्मनोऽविषयत्वादिति चेन्न, अहमित्यस्य द्व्यंशत्वेन चिदंशे कर्तृत्वादिविशिष्टान्तःकरणैक्याध्यासवद् ब्राह्मणत्वकाणत्वादिविशिष्टदेहेन्द्रियाद्यैक्याध्या-सेनात्मैक्यविषयत्वसम्भवात्। तथा चात्मनि देहेन्द्रियाद्यैक्याध्यासो युज्यत एव। न च—एवं देहात्मैक्यस्य प्रत्यक्षत्वे तद्विरोध्यनुमानागमयोरप्रामाण्यप्रसङ्गः, वह्निशैत्यानुमानवत्, श्रूयमाणार्थे 'यजमानः प्रस्तरः'

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— अहमर्थ का अनात्मत्व होने पर ''अहं ब्राह्मणः'', ''अहं काणः'' इत्यादि प्रत्यक्ष को आत्मा में देह और इन्द्रिय के तादात्म्याध्यास में प्रमाण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त ऐक्यबुद्धि की विषयता आत्मा में नहीं है। [अर्थात् पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्राह्मणत्व जाति विशिष्टदेह का जो आत्मा में तादात्म्याध्यास है, उसमें ''अहं ब्राह्मणः'' इस प्रत्यक्ष को सिद्धान्ती प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार आत्मा में जो इन्द्रिय का तादात्म्याध्यास है उसमें ''अहं काणः'' इस प्रत्यक्ष को सिद्धान्ती प्रमाण के रूप में देते हैं। वह अहमर्थ को आत्मरूप न मानकर अनात्मरूप (अहङ्कार) मानने पर सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि ''ब्राह्मणोऽहं काणः'' इस ऐक्याध्यास बुद्धि में आत्मा पदार्थ का वाचक कोई शब्द नहीं है। अतः ''ब्राह्मणोऽहं काणः'' इस बुद्धि का विषय देहादि के होने पर भी आत्मा नहीं होगा। इसलिए उक्त बुद्धि को आत्मा में देहादि के तादात्म्याध्यास में प्रमाण नहीं माना जा सकता है अपितु अहङ्कार में देहादि के तादात्म्याध्यास में प्रमाण माना जा सकता है।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अहमर्थ चिदचिद्ग्रन्थिरूप दो अंशों वाला है। उसमें से चिदंश (अज्ञानोपहितचिद् अंश) में कर्तृत्वादिविशिष्ट अन्तःकरण का जैसे तादात्म्याध्यास माना जाता है। वैसे ही ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट देह का और काणत्वविशिष्ट इन्द्रिय का भी चिदंश में तादात्म्याध्यास होने से ''ब्राह्मणोऽहं काणः'' इस प्रतीति का विषय चिदंश और देहादि हो ही जाते हैं। इस पर प्रश्न होता है कि उक्त प्रत्यक्ष को उक्त रीति से अज्ञानोपहितात्मा में देहादि के तादात्म्याध्यास में प्रमाण मानने पर भी उक्त प्रत्यक्ष को शुद्धात्मा में देहादि के तादात्म्याध्यास में प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि उपहित में अनुस्यूत के रूप से शुद्ध का भान होने क कारण उपहितनिष्ठ जो शुद्ध का तादात्म्य है। उसका देहादि में भी आरोप होता है। अतः ''ब्राह्मणोऽहं काणः'' इस प्रत्यक्ष को शुद्ध आत्मा में देह और इन्द्रियादि के तादात्म्याध्यास में प्रमाण मानना उचित ही है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''ब्राह्मणोऽहम्'' यह प्रत्यक्ष देह और आत्मा के अभेद को प्रमाणित करता है—ऐसा सिद्धान्ती के द्वारा मानने पर देह और आत्मा के अभेद के विरुद्ध देह और आत्मा में भेद को बोधित करने वाले अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण में बाधितार्थविषयकत्व होने के कारण अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। जैसे वह्निनिष्ठ उष्णता जब प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, तब उस वह्निनिष्ठ उष्णता का विरोधी वह्निनिष्ठ शैत्य का अनुमान वह्निनिष्ठ उष्णता ग्राही प्रत्यक्ष के द्वारा बाधित होने के कारण अप्रामाणिक हो जाता है। इसी प्रकार यजमान और प्रस्तर में भेद जब प्रत्यक्ष से सिद्ध है। तब उसका विरोधी यजमान और प्रस्तर में अभेद को बोधित करने वाला ''यजमानः प्रस्तरः'' इस आगम में बाधितार्थविषयकत्व होने के कारण अप्रामाण्य माना जाता है। इस प्रकार देह

इत्यागमवच्च, तथा च न देहात्मनोर्भेदसिद्धिः स्यादिति वाच्यम्, चन्द्रपरिमाणप्रत्यक्षविरोध्य–नुमानागमादिदृष्टान्तेन प्रत्यक्षविरोधिनः परीक्षितागमानुमानादेः प्रामाण्यस्य व्यवस्थापितत्वेन तथापि तयोर्भेदसिद्धिसम्भवात्। न च परस्परभिन्नत्वेन निश्चितानां देहेन्द्रियादीनां युगपदेकात्मैक्याध्यासायोगः, न हि भिन्नत्वेन निश्चितयो रजतरङ्गयोरेकदैकशुक्तिकायामैक्याध्यास इति वाच्यम्, 'देहादिन्द्रियमन्यत्', 'इन्द्रियाद्देहोऽन्यः' इति भेदबुद्धया 'देहोऽहमिन्द्रियम्'इत्यैक्याध्यासासम्भवेऽपि ब्राह्मणादन्यः काणः काणादन्यः ब्राह्मण इति भेदबुद्ध्यभावेन ब्राह्मणोऽहं काण इत्येकदा ऐक्याध्याससम्भवात्, समानप्रकारकभेदधिय एव विरोधित्वात्।१ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

और आत्मा के अभेद का बोधक प्रत्यक्ष से बाधित होने के कारण देह और आत्मा के भेद के बोधक अनुमान और आगम के अप्रामाणिक होने जाने से देह और आत्मा में भेद की सिद्धि नहीं हो पायेगी।

समाधान–पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि चन्द्र के प्रादेशिक परिमाणावगाही प्रत्यक्ष से विरोधी अनुमान और आगमादि के दृष्टान्त से प्रत्यक्ष के विरोधी परीक्षित प्रामाण्यक अनुमान और आगम में प्रामाण्य ''प्रत्यक्षस्य लिङ्गबाध्यत्वविचारः'' और ''प्रत्यक्षस्य शब्दबाध्यत्वविचारः'' में व्यवस्थापित किया जा चुका है। इसी प्रकार देह और आत्मा के अभेद को विषय करने वाले प्रत्यक्ष के विरोधी परीक्षित प्रामाण्यक देह और आत्मा के भेद अवगाही अनुमान और आगम में प्रामाण्य भी माना जायेगा। अतः उनके द्वारा देह और आत्मा में भेद की सिद्धि हो जायेगी।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि परस्पर भिन्नत्वेन निश्चित देहेन्द्रियादि का एककालावच्छेदेन एक ही आत्मा में अभेदाध्यास नहीं हो सकता है। [अर्थात् जिस काल में देहत्वेन देह से इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय का भेद ज्ञान है। उसी काल में देहत्वेन देह से इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय का अभेद (देहोऽहमिन्द्रियम्) ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि उक्त देह और इन्द्रिय का भेदज्ञान वहां प्रतिबन्धक के रूप से विद्यमान है। इसी प्रकार जिस काल में इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय से देहत्वेन देह का भेदज्ञान है। उसी काल में इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय से देहत्वेन देह का अभेद (इन्द्रियमहं देहः) ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि उक्त इन्द्रिय और देह का भेदज्ञान वहां प्रतिबन्धक के रूप से विद्यमान है।] जैसे भिन्नत्वेन निश्चित रजत और रङ्गादि का एक कालावच्छेदेन एक ही शुक्ति में अभेदाध्यास नहीं होता है।

समाधान–पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि देह से इन्द्रिय भिन्न है और इन्द्रिय से देह भिन्न है–इत्याकारक भेदबुद्धि के रहने के कारण ''देहोऽहमिन्द्रियम्'' या ''इन्द्रियमहं देहः'' इत्याकारक देहेन्द्रियादि का आत्मा में अभेदाध्यास सम्भव न होने पर भी ब्राह्मण से भिन्न काणा है या काणे से भिन्न ब्राह्मण है–इत्याकारक भेदबुद्धि के न होने के कारण ''ब्राह्मणोऽहं काणः'' इस प्रकार से देहेन्द्रियादि का आत्मा में अभेदाध्यास एक काल में सम्भव है, क्योंकि समानप्रकारक भेद निश्चय ही समानप्रकारक अभेद निश्चय का विरोधी होता है। अर्थात् ''येन रूपेण ययोस्तादात्म्यग्रहः तेनैवरूपेण तयोर्भेदग्रहः तत्र प्रतिबन्धकः।'' ऐसा नियम होने के कारण ''देहोऽहमिन्द्रियम्'' ऐसे अभेदाध्यास के प्रति देहत्वेन देह का इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय का भेदज्ञानप्रतिबन्धक होता है। इसी प्रकार ''ब्राह्मणोऽहंकाणः'' ऐसे अभेदाध्यास के प्रति ब्राह्मणत्वेन देह का काणत्वेन इन्द्रिय का भेदज्ञान प्रतिबन्धक होगा न कि देहत्वेन देह का इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय का भेदज्ञान प्रतिबन्धक होगा। अतः देहत्वेन देह का इन्द्रियत्वेन इन्द्रिय से भेदज्ञान रहने पर भी ''ब्राह्मणोऽहं काणः'' इस प्रकार से अभेदाध्यास हो ही सकता है।१ ।।

ननु भेदमात्रस्याप्यध्यस्तत्ववादिनस्तव देहात्मनोर्भेदस्याप्यध्यस्तत्वेन जीवब्रह्मणोरिव तदभेदस्तात्त्विकः स्यात्, मिथ्यात्वं हि अधिष्ठानज्ञानाबाध्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्। तद्बाध्यात्यान्ताभावप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेऽपि असम्भवात्। अभेदश्च भेदात्यन्ताभाव इति कथं भेदमिथ्यात्वे अभेदः सत्यो न स्यात्? न च देहस्याप्यध्यस्तत्वेन तेन सहात्मनो न भेदो नाप्यभेद इति वाच्यम्, अध्यस्तादपि रूप्याच्छुक्तेः स्वज्ञानाबाध्यभेददर्शनादिति चेन्न, भेदस्य मिथ्यात्वेऽपि अभेदो न तात्त्विकः, भावाभावयोरुभयोरपि मिथ्यात्वस्य प्रागेवोपपादितत्वात्। इयांस्तु विशेषः यदत्राभेदो

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मत में भेदमात्र को अध्यस्त माना जाता है। अतः सिद्धान्त मत में देह और आत्मा का भी भेद अध्यस्त होने के कारण मिथ्या होगा और देह तथा आत्मा का अभेद सत्य होगा। जैसे जीव और ब्रह्म का भेद अध्यस्त होने के कारण मिथ्या होता है और जीव तथा ब्रह्म का अभेद सत्य होता है। मिथ्यात्व का लक्षण है—अधिष्ठानज्ञान से अबाध्य जो अत्यन्ताभाव, तादृश अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वा [जैसे शुक्तिरूप अधिष्ठान के ज्ञान से रजत का बाध होता है, रजत के अत्यन्ताभाव का बाध नहीं होता है। ऐसा जो अधिष्ठानज्ञान से अबाध्य रजतात्यन्ताभाव है, उसकी प्रतियोगिता रजत में है। अतः रजत में मिथ्यात्व है।] मिथ्यात्व लक्षणघटक अत्यन्ताभाव में अधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्वरूप विशेषण देना परम आवश्यक है, क्योंकि [अधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्वरूप विशेषण न देने पर सत्य शुक्तित्व में मिथ्यात्व का लक्षण चला जायेगा। जैसे पूरोवर्ति वस्तु (शुक्ति) में जहां रजतत्व के संसर्ग का भ्रम होता है, वहां शुक्तित्व के अत्यन्ताभाव का भी भ्रम होता है। ऐसे शुक्तित्व के अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता सत्यशुक्तित्व में होने से सत्यशुक्तित्व में मिथ्यात्व के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। जब अधिष्ठानज्ञानाबाध्यत्वरूप विशेषण देंगे तब]बाधकाल में जब पूरोवर्ति वस्तु में शुक्तित्व का ज्ञान (अधिष्ठान का ज्ञान) होता है, तब उस ज्ञान के द्वारा भ्रमविषयीभूत शुक्तित्व के अत्यन्ताभाव का बाध ही होता है, अबाध्य नहीं। अतः अधिष्ठानज्ञान से बाध्य जो शुक्तित्व का अत्यन्ताभाव है। उसकी प्रतियोगिता शुक्तित्व में रहने पर भी शुक्तित्व में मिथ्यात्व का लक्षण सम्भव नहीं है। अर्थात् अधिष्ठानाबाध्य शुक्तित्वात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता शुक्तित्व में न रहने के कारण सत्यशुक्तित्व में मिथ्यात्व के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। भेद के अत्यन्ताभाव को अभेद कहते हैं। अतः देह और आत्मा का भेद मिथ्या होने पर देह और आत्मा का अभेद सत्य ही होगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि आत्मा में देह अध्यस्त होने के कारण देह के साथ आत्मा का न भेद है और न अभेद है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि शुक्ति में अध्यस्त रजत का शुक्तिज्ञान से अबाध्य जो मिथ्या रजत से सत्य शुक्ति का भेद—''इयं शुक्तिः रजतं न'' इस प्रकार से देखा जाता है। अतः आत्मा में देह के अध्यस्त होने पर भी आत्मा में देह का भेदादि माना ही जा सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि आत्मा में देह का भेद मिथ्या होने पर भी आत्मा में देह का अभेद सत्य सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि भाव (भेद) और अभाव (अभेद=भेदात्यन्ताभाव) दोनों ही मिथ्या होते हैं। इसका प्रतिपादन ''द्वितीयमिथ्यात्वविचारः'' और ''मिथ्यात्वमिथ्यात्वविचारः'' के अवसर पर किया जा चुका है। भेद और अभेद (भेदात्यन्ताभाव) दोनों के मिथ्यात्व होने पर भी उनमें इतना विशेष (अन्तर) है कि देह और आत्मा का अभेद व्यवहारकालीन परीक्षित प्रामाण्यक अनुमानादि से बाधित हो जाता है किन्तु देह और आत्मा का भेद व्यवहारकालीन परीक्षित प्रामाण्यक अनुमानादि से बाधित नहीं होता है किन्तु वेदान्तविचारजन्य

व्यवहारकालीनेन परीक्षितप्रमाणभावेनानुमानादिना बाध्यते, भेदस्तु देहात्मनोर्न तेन, किन्तु चरमवृत्त्येति।।२।।

न च—एवं गेहीतिवद् 'देहीति प्रतीतिः'न स्यात्, किन्तु देहोऽहमिति वाच्यम्, देहत्वेन भेदग्रहाद् ब्राह्मणत्वादिना भेदाग्रहाच्च ब्राह्मणोऽहं देह्यहमित्युभयप्रतीत्युपपत्तेः। देवदत्ताद् यज्ञदत्तोऽन्य इति भेदबुद्धावपि तत्त्वेनोपस्थिताद् देवदत्ताद्यज्ञदत्ते 'सोऽयम्'इत्यभेदभ्रमदर्शनात्। ननु ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमिति कथमध्यासरूपम्? मनुष्यत्वब्राह्मणत्वादेः शरीरविशिष्टात्मवृत्तित्वेन प्रमात्वस्यैव सम्भवात्। तदुक्तम्—

'ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिस्तु प्रमैव नः। देहभेदयुतो यस्माद् ब्राह्मणादिपदोदितः।।'

इति चेन्न, मनुष्यत्वादेर्देहविशिष्टात्मवृत्तित्वे चक्षुरादिगम्यत्वं न स्याद्, देह विशिष्टात्मनश्च—

सत्यानन्दप्रबोधिका

अखण्डाकार चरमवृत्ति के द्वारा ही बाधित होता है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि देहादि के साथ आत्मा का अभेदाध्यास मानने पर जैसे ''अहं गेही'' यह प्रतीति गेह और आत्मा में अभेदाध्यास के न होने के कारण भेद घटित होती है, ठीक ऐसे ही ''अहं देही'' इस प्रकार की भेदघटित प्रतीति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यहां देह और आत्मा में अभेदाध्यास है। अतः '' अहं देही'' ऐसी भेद घटित प्रतीति न होकर ''देहोऽहम्'' ऐसी अभेदाध्यास घटित ही प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि सिद्धान्ती देह और आत्मा में अभेदाध्यास मान रहे हैं।

समाधान— पूर्वपक्षी की शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि खण्ड संख्या १ में स्पष्ट किया जा चुका है जिस रूप में जिन पदार्थों का भेदग्रह होता है, उसी रूप से उन पदार्थों का अभेदग्रह नहीं होता है। प्रकृत में देहत्वेन देह के साथ आत्मा का भेदग्रह रहने पर भी ब्राह्मत्वादि रूप से देह के साथ आत्मा का भेद ग्रह न रहने के कारण ''ब्राह्मणोऽहम्'' यहां पर ब्राह्मण रूप शरीर के साथ आत्मा के अभेद की प्रतीति और ''अहं देही'' यहां पर देहत्वेन देह का आत्मा के साथ भेद की प्रतीति होती है। इस प्रकार से उभयविध प्रतीति की उपपत्ति हो जाती है। देवदत्त से यज्ञदत्त भिन्न है—इत्याकारक भेद प्रतीति के रहने पर भी जहां यज्ञदत्तत्वेन उपस्थित देवदत्त से यज्ञदत्त का भेदग्रह नहीं हो रहा है। अर्थात् जहां पर देवदत्त में यज्ञदत्त का अध्यास हो रहा है। वहां पर प्रयागस्थ यज्ञदत्त को देखने के पश्चात् हरिद्वारस्थ देवदत्त को देख कर ''सोऽयं यज्ञदत्तः'' इत्याकारक अभेद भ्रम होता है। अर्थात् भेदबुद्धि के होने पर भी अध्यास के कारण अभेदभ्रम हो सकता है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि मैं ब्राह्मण हूं, मैं मनुष्य हूं— इत्यादि प्रतीतियों को अध्यासात्मक न मानकर प्रमात्मक ही मानना चाहिए, क्योंकि मनुष्यत्व और ब्राह्मणत्वादि धर्म शरीरविशिष्ट आत्मा में ही रहते हैं। अतः उक्त प्रतीतियों में प्रमात्व मानना ही उचित है। इसके विषय में माध्वमतावलम्बीयों ने कहा है कि मैं ब्राह्मण हूं, मैं मनुष्य हूं— इत्याकारक प्रतीतियां हमारे माध्वमत में प्रमा ही मानी जाती हैं, क्योंकि देह विशेष से विशिष्ट आत्मा ही ब्राह्मणादि पदों के द्वारा कथित हैं।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्यत्वादि को देह विशिष्ट आत्मा का धर्म मानने पर मनुष्यत्वादि का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा, क्योंकि मनुष्यत्वादि धर्म का आश्रयीभूत धर्मी देहविशिष्ट आत्मा चक्षु से गम्य नहीं होता है। जैसे परमाण्वादि अचाक्षुष धर्मी के संयोगादि धर्मो का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता है। अर्थात् जहां आश्रय चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है। वहां आश्रयगत धर्म भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है।

क्षुरगम्यत्वात्। न च –एकदेशस्य चक्षुर्गम्यत्वाद् विशिष्टगतजातिः चक्षुषा गृह्यत इति वाच्यम्, व्यासज्यवृत्तेरुभययोग्यतायामेव योग्यत्वनियमात्। अन्यथा ऐन्द्रियकानैन्द्रियकवृत्तिसंयोगद्वित्वादेः प्रत्यक्षता स्यात्। व्यासज्यवृत्तित्वस्य जातावदृष्टचरत्वात् पृथिवीत्वादिना सङ्करापत्तेः, तव मते आत्मनोऽणुत्वेन तद्वृत्तित्वेऽतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्।।३।।

न चैवं 'देहो ब्राह्मणो मनुष्यः' इत्यादिप्रतीत्यापत्तिः, अहंत्व सामानाधिकरण्यभ्रमजनकदोषस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त विशिष्ट नहीं होता है। अतः विशिष्ट का एक भाग (विशेषण) देह का चक्षु से प्रत्यक्ष होता है। अतः विशेषण से अभिन्न विशिष्ट का भी चक्षु से प्रत्यक्ष हो जायेगा। इस प्रकार देहविशेषविशिष्ट आत्मा का चक्षु से प्रत्यक्ष हो जाने पर देहविशेषविशिष्ट आत्मा में रहने वाली ब्राह्मणत्वादि जाति का भी चक्षु से प्रत्यक्ष हो जायेगा, क्योंकि जिस वस्तु का जिस इन्द्रिय से ग्रहण होता है। उस वस्तु में रहने वाली जाति का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण होता है–ऐसा नियम माना जाता है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि व्यासज्यवृत्ति धर्म के आश्रयीभूत दोनों पदार्थों में चाक्षुषप्रत्यक्ष की योग्यता होने पर ही व्यासज्यवृत्ति धर्म में भी चाक्षुषप्रत्यक्ष की योग्यता मानी जाती है। [कहने का भाव यह है कि दो में पर्याप्ति सम्बन्ध से रहने वाले धर्म को व्यासज्यवृत्ति धर्म माना जाता है। अतः देहविशिष्ट आत्मा में मनुष्यत्व जाति मानने पर उसको व्यासज्यवृत्ति धर्म ही मानना पड़ेगा। व्यासज्यवृत्ति यावदाश्रयों में चाक्षुषप्रत्यक्ष की योग्यता होने पर ही व्यासज्यवृत्ति धर्म में भी चाक्षुषप्रत्यक्ष की योग्यता मानी जाती है। प्रकृत में देह और आत्मा में से देह का ही चाक्षुषप्रत्यक्ष हो सकता है, आत्मा का नहीं। अतः देह और आत्मा में रहने वाले व्यासज्यवृत्ति धर्म मनुष्यत्वादि का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।] अन्यथा=व्यासज्यवृत्तियावदाश्रयों में चाक्षुषप्रत्यक्ष की योग्यता न होने पर भी अर्थात् एक आश्रय में चाक्षुषप्रत्यक्ष की योग्यता होने पर भी व्यासज्यवृत्ति धर्म में चाक्षुषप्रत्यक्ष की योग्यता मानने पर, इन्द्रियजन्यज्ञानविषयीभूत घट और इन्द्रियजन्यज्ञान अविषयीभूत नभ। एवम्भूत घट और नभ में रहने वाला व्यासज्यवृत्तिधर्म संयोग और द्वित्वादि का चाक्षुषप्रत्यक्ष होना चाहिए, क्योंकि घट और नभ इन दोनों में से एक (घट) का चाक्षुषप्रत्यक्ष हो रहा है किन्तु उक्त संयोग और द्वित्वादि का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि मनुष्यत्वादि जातियों में व्यासज्यवृत्तित्व अनुभूत न होने से मनुष्यत्वादि जाति को प्रत्येक व्यक्ति में पर्याप्त माना जाता है। इसलिए देहविशिष्ट आत्मा में मनुष्यत्व जाति मानने पर देह में जैसे मनुष्यत्व जाति रहेगी, वैसे ही आत्मा में भी मनुष्यत्व जाति रहेगी। ऐसा होने पर पृथिवित्वादि से मनुष्यत्वादि के साङ्कर्य की आपत्ति होगी। जैसे मनुष्यत्व को छोड़कर पृथिवित्व घट में है और पृथिवित्व को छोड़कर मनुष्यत्व आत्मा में है और दोनों का समावेश मनुष्य शरीर में है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि विशेषण और विशेष्य से अतिरिक्त विशिष्ट को मानेंगे। ऐसा होने पर केवल आत्मा चक्षुगम्य न होने पर भी देहविशिष्ट आत्मा चक्षुगम्य हो जायेगा। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के मत में आत्मा का अणु परिमाण माना जाता है। अतः अणु परिमाण वाले आत्मा में रहने वाली मनुष्यत्वादि जाति को अतीन्द्रिय मानना पड़ेगा। अर्थात् अणु परिमाण वाले आत्मा में रहने वाली मनुष्यत्वादि जाति का प्रत्यक्ष पूर्वपक्षी के मतानुसार भी नहीं हो पायेगा। इसलिए मनुष्यत्व–ब्राह्मणत्वादि जातियों को आत्मवृत्ति न मानकर देहवृत्ति ही मानना युक्ति युक्त है।।३।।

शङ्का– एवम्=देहमात्र में ही ब्राह्मणत्व मनुष्यत्वादि धर्म रहते हैं– ऐसा मानने पर देह ब्राह्मण

तादृक्प्रतीतिप्रतिबन्धकत्वाद् उक्तबाधकैर्देहवृत्तित्वे अनन्यगतिकत्वेन तथा कल्पनात्, 'कृशोऽहं स्थूलोऽहम्'इत्यादौ कार्श्यादिविशिष्टैक्याध्यासस्यावश्यकत्वाच्च। न च—अयमौपचारिकप्रयोगः पुत्रे कृशे अहं कृश इतिवत्, तदुक्तं—

'कृशोऽहं कृष्ण इत्यादौ कार्श्यादिर्देहसंस्थितः। पुत्रादिस्थितकार्श्यादिवदात्मन्युपचर्यते॥'

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, देह मनुष्य है— इत्याकारक प्रतीति की आपत्ति होगी और मैं ब्राह्मण हूं, मैं मनुष्य हूं—इत्याकारक प्रतीति की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि शरीरमात्रवृत्ति मनुष्यत्वादि का जो ''अहं मनुष्यः'' इस प्रकार अहन्त्वसामानाधिकरण्येन भ्रम होता है। अर्थात् जिसमें अहन्त्व है। उसी में ब्राह्मणत्व मनुष्यत्वादि है, ऐसा ''अहं ब्राह्मणः'', ''अहं मनुष्यः'' इत्याकारक भ्रम होता है। उस भ्रम के जनक जो वासनादि दोष है, उन दोषों को ही ''देहो ब्राह्मणः,'' ''देहो मनुष्यः'' इत्याकारक प्रतीतियों की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक माना जाता है। इस पर प्रश्न होता है कि उक्त वासनादि दोषों को ''देहो मनुष्यः'' इत्यादि प्रतीति की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक के रूप से जो सिद्धान्ती कल्पना कर रहे हैं, इसमें प्रमाण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मनुष्यत्व ब्राह्मणत्वादि को देहविशिष्ट आत्मनिष्ठ मानने पर मनुष्यत्वादि के चक्षुरादि अगम्यत्व, पृथिवित्वादि के साथ साङ्कर्यापत्ति रूप बाधकों से ब्राह्मणत्वादि को आत्मा में न मानकर देहमात्र में ही मानना निश्चित होने पर भी ''देहो मनुष्यः'', ''देहो ब्राह्मणः'' ऐसी प्रतीति जब नहीं होती है तब उसके प्रति उक्त भ्रमजनक वासनादि दोषों को प्रतिबन्धक के रूप से कल्पना किये विना और कोई गति न होने के कारण ''देहो मनुष्यः'' इत्यादि प्रतीति न होने के प्रति उक्त भ्रमजनक वासनादि दोषों में प्रतिबन्धकत्व की कल्पना की जाती है। दूसरी बात यह भी है कि कृशतादि विशिष्ट देह का आत्मा के साथ अभेदाध्यास पूर्वपक्षी भी मानता ही है, क्योंकि कृशतादि धर्म जो कि शरीर का है, उसको आत्मा में पूर्वपक्षी भी नहीं मानता है। अतः ''कृशोऽहम्'' इत्यादि प्रतीति के लिए जैसे कृशतादि विशिष्ट देह का आत्मा में अभेदाध्यास मानना आवश्यक है। वैसे ही ''ब्राह्मणोऽहम्'' इत्यादि प्रतीति के लिए भी ब्राह्मणत्वादि विशिष्ट देह का आत्मा में अभेदाध्यास मानना आवश्यक है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि ''कृशोऽहम्'' इत्यादि प्रयोग को औपचारिक (गौण) प्रयोग माना जाता है। जैसे पुत्र के कृश होने पर पिता ''मैं कृश हूं।'' ऐसा गौण प्रयोग करता है। जैसा कि कहा गया है कि मैं कृश हूं, मैं कृष्ण हूं—इत्यादि स्थलों में देह में स्थित कृशतादि का गौण रूप से आत्मा में व्यवहार होता है। जैसे पुत्र में स्थित कृशतादि का गौणरूप से पिता अपने में व्यवहार करता है। [जहां गौण प्रयोग होता है, वहां भेदज्ञान रहता है। जैसे ''सिहो माणवकः'' इस स्थल पर सिंह और माणवक में भेदज्ञान रहने पर भी माणवक को गौणरूप से सिंह कहा जाता है। अतः जहां गौण प्रयोग होगा, वहां भेदज्ञान रहेगा। भेदज्ञान रहने पर अभेदाध्यास नहीं माना जा सकता है। इसी आशय से पूर्वपक्षी ने कहा कि ''कृशत्वादि'' आत्मा का धर्म नहीं है किन्तु देह का धर्म है— इस प्रकार कृशत्वादि और आत्मा में भेदज्ञान रहने पर भी गौणरूप से ''कृशोऽहम्'' ऐसा प्रयोग किया जाता है। अतः ''कृशोऽहम्'' इस प्रतीति के लिए कृशतादि विशिष्ट देह का आत्मा में अभेदाध्यास मानना उचित नहीं है। इसलिए ''कृशोऽहम्'' इस प्रतीति को दृष्टान्त बनाकर ''ब्राह्मणोऽहम्'' इस प्रतीति के लिए ब्राह्मणत्वादि विशिष्ट देह का आत्मा में अभेदाध्यास मानना चाहिए—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है।]

इति वाच्यम्, एवं सति देहादिभिन्नात्मास्तित्वप्रतिपादिकाया 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इति श्रुतेरनुवादकतापत्तेः, मम देह इत्यनौपचारिकः अहं गौर इत्याद्यौपचारिक इत्यत्र विनिगमकाभावाच्च।।४।।

ननु—इदं विनिगमकम्, जातमात्रस्य पश्वादेः प्रवृत्त्यादिहेतोरिष्टसाधनताद्यनुमितेर्हेतुर्यत्स्तन्यपानम्, तदिष्टसाधनम्, यथा पूर्वदेहीयं स्तन्यपानमित्यादिव्याप्तिस्मृतिस्तावन्न देहान्तरास्मृतौ युक्ता, न च 'मम प्राक् देहान्तरमभूत्,'इति स्मरतस्तस्यैक्यधीः सम्भवति, किंत्वनेकमण्यनुस्यूतसूत्रमिवानेक—देहेष्वनुस्यूतमात्मानं पश्यतः स्वतो भेदधीरत्रेति चेन्न; पूर्वदेहस्मृतिं विनापि अनुमितिहेतुव्याप्तिस्मृतेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान— पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है,क्योंकि एवं सति=कृशोऽहम्'' इत्यादि प्रयोग को औपचारिक मानने पर, जिसका जिसमें गौणप्रयोग होता है, उसका उससे भेदज्ञान रहता है— ऐसा नियम होने के कारण पूर्वपक्षी को ''कृशोऽहम्'' इस गौण प्रयोग से पहले देह और आत्मा का भेदज्ञान प्रत्यक्ष से गृहीत मानना पड़ेगा, तब तो देह और आत्मा का भेद जो प्रत्यक्ष से गृहीत है, उसी का प्रतिपादन करने वाली अर्थात् देहादि से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करने वाली ''अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'' (क.उ.६—१३) इत्यादि श्रुतियों में अनुवादकत्व के मानने की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह भी है कि पूर्वपक्षी के अनुसार ''मम देहः'' यह प्रयोग गौणार्थक नहीं है और ''अहं गौरः'' यह प्रयोग गौणार्थक है। किन्तु इसके विपरीत जब यह कहा जाय कि ''अहं गौरः'' यह प्रयोग औपचारिक है और ''मम देहः'' यह प्रयोग गौणार्थक है— ऐसा क्यों न मान लिया जाय? इसके समाधान के लिए कोई एकतरपक्षपातिनी युक्ति भी नहीं है।।४।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि किसके मुख्यार्थक माना जाय और किसको गौणार्थक माना जाय? इसमें एकतरपक्षपातिनी युक्ति यह है कि सद्योजात पश्वादि की स्तन्य पान में प्रवृत्यादि की हेतुभूत जो इष्टसाधनता की अनुमिति (एतद् देही स्तन्यपानमिष्टसाधनम्, स्तन्यपानत्वात्, पूर्वदेहीस्तन्यपानवत्। इस अनुमान से होने वाली इष्ट साधनता की अनुमिति) है। उस अनुमिति का हेतु – जो स्तन्यपानत्व है उसमें इष्ट का साधनत्व है। जैसे पूर्व देह में होने वाला स्तन्यपान—इत्यादिरूप व्याप्तिस्मृति। ऐसी व्याप्ति की स्मृति पूर्व जन्म के देह का स्मरण न होने पर हो नहीं सकती है। मेरा प्रथम देहान्तर था। अर्थात् इस देह से भिन्न मेरा देह था—इस प्रकार से स्मरण करने वाले सद्योजात पश्वादि को स्वकीयदेहादि के साथ ऐक्यधी नहीं हो सकती है किन्तु अनेक मणिओं में अनुस्यूत सूत्र के जैसे विभिन्न देहों में अनुस्यूत आत्मा को देखने वाले सद्योजात पश्वादि को देह से आत्मा का भेद है—ऐसी भेद बुद्धि स्तन्यपानस्थल पर होती है। ऐसी बुद्धि का यौवनादि अवस्था में भी बाध नहीं होता है। इसलिए देहात्मभेदविषयक ''मम देहः'' ऐसे प्रयोग को अनौपचारिक प्रयोग माना जाता है और देह से आत्मा का भेदज्ञान होने पर भी ''अहं गौरः'' इत्यादि जो प्रयोग होता है। उसको गौणार्थक (औपचारिक) माना जाता है। इस प्रकार से पूर्वपक्षी के द्वारा किसको मुख्यार्थक और किसको गौणार्थक माना जाय—इसमें एकतरपक्षपातिनी युक्ति दी गयी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''जातमात्रस्य... इत्यादिव्याप्तिस्मृतिः'' तक तो ठीक कहा किन्तु देहान्तर की स्मृति न होने पर व्याप्ति की स्मृति नहीं होगी— ऐसा पूर्वपक्षी का कथन असङ्गत है, क्योंकि पूर्वजन्म के देह के स्मरण के विना भी अनुमिति की हेतुभूत व्याप्ति की स्मृति हो जायेगी, क्योंकि व्याप्ति के अनुभवकाल में जैसे दृष्टान्त के ज्ञान की अपेक्षा होती है, वैसे ही व्याप्ति के स्मरण काल में दृष्टान्त के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। [कहने का भाव यह है कि व्याप्ति का प्रत्यक्ष जब महानसादि में किया जाता है तब महानसादि

सम्भवात्। न हि व्याप्त्यनुभव इव व्याप्तिस्मणसमयेऽपि दृष्टान्तज्ञानापेक्षा, येन तदर्थं तद्देहस्मृतिरपेक्ष्येत। न च तथापि 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं स्थाविरे प्रणतर्निंनुभवामि, योऽहं स्वप्ने व्याघ्रदेहः, सोऽहमिदानीं मनुष्यदेहः' इति देहभेदधीपूर्वकं स्वस्यैक्यमनुसन्दधानः कथं ततो भेदं न जानीयादिति वाच्यम्; विरुद्धधर्मरूपलिङ्गधीजन्यभेदधीसम्भवेऽपि अपरोक्षाभेदभ्रमे अविरोधात्।।५।।

न च प्रत्यक्षे धर्मिणि भेदकसाक्षात्कारो भेदसाक्षात्कारव्याप्तः, इह च व्यावृत्तत्वेन बुद्धिस्थदेहादितो

सत्यानन्दप्रबोधिका

के ज्ञान की आवश्यकता होती है किन्तु अनुमानकाल में केवल व्याप्ति के स्मरण की आवश्यकता होती है न कि व्याप्ति के स्मरणकाल में महानसादि के ज्ञान की आवश्यकता होती है। अर्थात् व्याप्ति के स्मरण के साथ–साथ महानसादि का भी स्मरण होना चाहिए– ऐसी आवश्यकता नहीं होती है।] अतः व्याप्तिस्मरण के लिए पूर्वजन्म के देह का स्मरण आवश्यक नहीं है। अर्थात् सद्योजात पश्वादि को पूर्वजन्म के देह का स्मरण न होने पर भी व्याप्ति की स्मृति होने से अनुमिति हो जायेगी। इससे सिद्धान्ती को यह लाभ हुआ कि देह और आत्मा का भेद ज्ञान सम्भव न होने से ''अहं गौरः'' इस प्रतीति को गौणार्थक न मानकर अध्यासार्थक ही माना जायेगा और पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित एकतरपक्षपातिनी युक्ति का भी खण्डन हो गया।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्त प्रकार से देह और आत्मा का भेद निश्चित न होने पर भी ''जो मैं बाल्यकाल में माता–पिता का अनुभव किया था, वहीं मैं वृद्धावस्था में पौत्रादि का अनुभव करता हूं।'' और ''जो मैं स्वप्न में व्याघ्रदेह वाला था, वहीं मैं जाग्रत् काल में मनुष्यदेह वाला हूं।'' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञाओं के आधार पर देहों में भेद के निश्चयपूर्वक आत्मा की एकता का अनुसन्धान करता हुआ पुरुष देह से आत्मा का भेद अवश्य जानेगा। देह से आत्मा का भेदज्ञान रहने पर ''अहं गौरः'' इस प्रतीति को तादात्म्याध्यासार्थक न मानकर गौणार्थक ही मानना चाहिए।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विभिन्नदेहानुवृत्तत्व रूप साधन के द्वारा देह से आत्मा के भेद का परोक्ष ज्ञान सम्भव होने पर भी अपरोक्ष अभेद भ्रम मानने में कोई विरोध नहीं है। अर्थात् आत्मा पूर्वदेहाननुवृत्तोत्तरदेहभिन्नः, विभिन्नदेहानुवृत्तत्वात्, अनेकमण्यनुस्यूतसूत्रमिव। इस अनुमान के द्वारा देह और पूर्व तथा उत्तर देह में अनुस्यूत आत्मा के भेद का परोक्ष ज्ञान होता है किन्तु इस परोक्षज्ञान के द्वारा ''अहं गौरः'' इस अपरोक्ष अभेद भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि परोक्षभेदज्ञान परोक्ष अभेदभ्रम का ही विरोधी होती है, अपरोक्ष अभेदभ्रम का विरोधी नहीं होता है।।५।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''यत्र यत्र प्रत्यक्षे धर्मिणी भेदकसाक्षात्कारः तत्र तत्र भेदसाक्षात्कारः।'' ऐसी व्याप्ति मानी जाती है। प्रकृत में व्यावृतत्त्वेन बुद्धि में स्थित जो देहादि अर्थात् बालकाल का देह और वृद्धावस्था का देह एक दूसरे से अनुवृत्त नहीं हैं–ऐसा बुद्धिस्थ देहादियों से आत्मा के भेद को सिद्ध करने वाला धर्म विभिन्नदेहानुवृत्तत्व का आत्मा में प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध है। अर्थात् ''आत्मा देहाद्भिन्नः, विभिन्नदेहानुवृत्तत्वात्।'' इस अनुमान का प्रत्यक्ष धर्मी= पक्ष= आत्मा है। उसमें हेतु =विभिन्नदेहानुवृत्तत्वरूप धर्म रहता है। यह प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष से सिद्ध है। अर्थात् पक्ष (आत्मा) में हेतु (विभिन्नदेहानुवृत्तत्व धर्म) रहता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि भेदक धर्म= विभिन्नदेहानुवृत्तत्व का जब प्रत्यक्ष धर्मी आत्मा में प्रत्यक्ष हो रहा है तब पक्ष (आत्मा) में उस भेदक के प्रत्यक्ष से होने वाला जो आत्मा में देह के भेद का ज्ञान होगा, वह ज्ञान प्रत्यक्षात्मक ही होगा न कि परोक्षात्मक। इस प्रकार भेदक साक्षात्कार होने से भेद साक्षात्कार होगा जो कि अभेदभ्रमप्रत्यक्ष

भेदकस्यानुवृत्तत्वस्यात्मनि प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षसिद्धत्वाद् व्यावर्तकसाक्षात्कारस्यैवैक्यापरोक्षभ्रमविरोधित्वाद् निरुपाधिकत्वेन विशेषदर्शनाप्रतिबध्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् कथमैक्यभ्रम इति वाच्यम्, भेदकसाक्षात्कारस्य भेदसाक्षात्कारेण व्याप्तेरैक्यारोपेण सह विरोधस्य चासिद्धेः। नीला बलाकेत्यत्र नीलाद् भेदकस्य बलाकात्वस्य ग्रहेऽपि नीलभेदसाक्षात्काराभावस्य तदभेदसाक्षात्कारस्य च दर्शनात्। न च तत्र दोषप्राबल्यात् तथा, प्रकृतेऽपि दोषप्राबल्यन्नेति केन तुभ्यमभ्यधायि?॥६॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

का बाधक होगा। [यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि सोपाधिक भ्रमस्थल पर विशेष (भेद) दर्शन भ्रम का प्रतिबन्धक नहीं होता है। अर्थात् भेद का प्रत्यक्ष रहते हुए भी अभेदभ्रम हो सकता है। जैसे जपाकुसुम और स्फटिक में भेद का प्रत्यक्ष होते हुए भी ''लोहितः स्फटिकः'' ऐसा सोपाधिक भ्रम होता रहता है। ऐसे ही ''अहं गौरः'' इत्यादि सोपाधिक भ्रम स्थल है। अतः यहां देह से आत्मा के भेद का साक्षात्कार होने पर भी ''अहं गौरः'' इत्यादि अभेदभ्रम होता रहेगा इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि] ''अहं गौरः'' इत्यादि निरुपाधिक भ्रम है। अतः विशेष (भेद) दर्शन उसका प्रतिबन्धक नहीं होगा– ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् विशेष दर्शन के विद्यमान रहने पर अभेदभ्रम नहीं हो सकता है।

समाधान– पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भेदकसाक्षात्कारनिष्ठ भेद साक्षात्कारनिरूपितव्याप्ति की असिद्धि है और भेदकसाक्षात्कार का अभेदभ्रम के साथ विरोध भी असिद्ध है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''नीला बलाका'' यहां पर नील से भेदक बलाकात्वरूपधर्म का साक्षात्कार होने पर भी नीलभेद के साक्षात्कार का अभाव देखा जाता है और नील–अभेद का साक्षात्कार देखा जाता है। [कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी ने कहा था कि –''यत्र यत्र प्रत्यक्षे धर्मिणी भेदकसाक्षात्कारः तत्र तत्र भेदसाक्षात्कारः।'' इस नियम में व्यभिचारदोष दिया गया कि नीला बलाका इस भ्रम स्थल पर वस्तुतः बलाका नील नहीं है। अर्थात् बलाका में नील का भेद है किन्तु देखने वाले को नील से अभिन्न बलाका का बोध हो रहा है। अर्थात् नील से भिन्न बलाका में नील से अभिन्नत्व का भ्रम हो रहा है। यहां पर नील से बलाका को भिन्नत्वेन बोधन कराने वाला भेदक धर्म बलाकात्व है। उसका प्रत्यक्ष ग्रह होने पर भी अर्थात् व्याप्य=भेदक साक्षात्कार ''नील बलाका'' इस भ्रमस्थल विद्यमान है। किन्तु व्यापक = भेद साक्षात्कार नहीं है,क्योंकि नील से अभिन्न बलाका का ज्ञान हो रहा है। इस प्रकार से पूर्वपक्षी द्वारा कथित व्याप्ति का खण्डन हो गया। इसी प्रकार पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि भेदकसाक्षात्कार के होने पर अभेदभ्रम नहीं होता है, क्योंकि भेदकसाक्षात्कार अभेदभ्रम का विरोधी होता है। इसका भी खण्डन हो गया, क्योंकि ''नीला बलाका'' इस स्थल पर भेदक धर्म बलाकात्व का प्रत्यक्षग्रह होने पर भी अभेदभ्रम हो रहा है। अतः भेदकसाक्षात्कार को अभेदभ्रम का विरोधी नहीं माना जा सकता है।] यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''नीला बलाका'' इस भ्रम स्थल पर रात्रिकाल रूप दोष भेदधी का प्रतिबन्धक होने के कारण भेदसाक्षात्काराभाव और अभेदसाक्षात्कार की प्रतीति होती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''अहं गौरः'' इत्यादि स्थल पर भी वासनादि दोष के प्राबल्य से भेद साक्षात्काराभाव और अभेद साक्षात्कार की प्रतीति नहीं होती है–ऐसा किसने तुमको कहा है? [सिद्धान्ती के कथन का भाव यह है कि ''शङ्खो न पीतः'' ऐसी अनुमिति होने पर भी पीत्तादि दोष पीतत्वाभावप्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक होने के कारण ''शङ्खो पीतः'' ऐसा प्रत्यक्षभ्रम देखा जाता है। फलतः भेद की परोक्ष धी होने पर भी वासनादि दोष के कारण अभेदप्रत्यक्ष हो सकता है।]॥६॥

एवं 'ब्राह्मणो यजेत' इत्यादिश्रुतिरपि ब्राह्मणत्वाश्रयशरीरस्य जडत्वेनानियोज्यतया तदैक्याध्यासापन्नमात्मानं नियुञ्जाना तत्र प्रमाणम्। न च ब्राह्मणत्वाश्रयदेहेन सम्बन्धान्तरमादायैव नियोज्यत्वोपपत्तिः, तस्यानतिप्रसक्तस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथा हि न तावत्संयोगः, आत्मनो विभुत्वेन सर्वदेहसाधारण्यात्। नापि स्वस्वामिभावः सम्बन्धः, पश्वादिसाधारणत्वात्। नापि साक्षात् स्वस्वामिभावः सम्बन्धः, पश्वादिव्यावृत्तस्य देहादिगतस्वस्वामिभावे साक्षात्त्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्। नापीच्छानुविधायित्वम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

खण्ड संख्या १ से लेकर खण्ड संख्या ६ तक देहात्मैक्य में प्रत्यक्ष प्रमाण दिया गया। अब सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे ''ब्राह्मणोऽहम्'' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणों से देहात्मैक्याध्यास सिद्ध है। वैसे ही ''ब्राह्मणो यजेत'' इत्यादि श्रुति प्रमाणों से भी देहात्मैक्याध्यास सिद्ध है, क्योंकि ''ब्राह्मणो यजेत'' इत्यादि श्रुति भी ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूतशरीर को यागानुष्ठान में प्रवृत्त नहीं करती है, क्योंकि वह जड़ है। अतः ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूत शरीर के साथ अभेदाध्यासापन्न आत्मा को नियुक्त करती हुयी आत्मा में शरीर के अभेदाध्यास को प्रमाणित करती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''ब्राह्मणो यजेत'' इत्यादि स्थल पर ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूत शरीर के साथ आत्मा का आध्यासिक सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध को लेकर आत्मा में नियोज्यत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् सिद्धान्ती का कथन था कि ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूत देह के साथ आध्यासिक सम्बन्ध रखने वाला आत्मा नियोज्य है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूत देह के साथ सत्य सम्बन्ध रखने वाला आत्मा नियोज्य है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूत देह के साथ आत्मा के आध्यासिक सम्बन्ध से अन्य अन्यूनानतिप्रसक्त सत्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है। जैसे कि ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूत देह के साथ आत्मा का संयोग सम्बन्ध मानकर केवल ब्राह्मण में नियोज्यत्व की उपपत्ति नहीं की जा सकती है, क्योंकि आत्मा विभु होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रियादि सभी शरीरों से संयुक्त है। अतः ब्राह्मण, क्षत्रियादि सभी में नियोज्यत्व की आपत्ति होगी। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व के आश्रयीभूत देह के साथ आत्मा का स्व—स्वामिभाव सम्बन्ध मानकर केवल ब्राह्मण में नियोज्यत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि पशु—पक्षी—मनुष्यादि सभी के शरीरों के साथ आत्मा का स्व—स्वामिभाव सम्बन्ध हो सकता है। अतः सभी में ही नियोज्यत्व की आपत्ति होगी। यदि कहा जाय कि आत्मा के साथ शरीर का साक्षात् स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है और आत्मा के साथ धन—धान्य—पश्वादि का शरीर के माध्यम से सम्बन्ध (परम्परया स्वस्वामिभाव सम्बन्ध) है। अतः साक्षात् स्वस्वामिभावसम्बन्ध की विवक्षा करने पर धन—धान्य—पश्वादि में नियोज्यत्व को अतिप्रसक्ति नहीं होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन असङ्गत है,क्योंकि पश्वादि से व्यावृत्त देहादिगत साक्षात् स्व—स्वामिभावसम्बन्ध का निरूपण करना असम्भव है, क्योंकि विभु आत्मा का मनुष्य पशु—पक्षी आदि सभी शरीरों के साथ जब साक्षात् स्वस्वामिभावसम्बन्ध है तब पक्षी पश्वादि से व्यावृत्त केवल ब्राह्मण शरीर के साथ ही आत्मा का स्व—स्वामिभावसम्बन्ध है। अतः आत्मा के साथ स्व—स्वामिभावसम्बन्ध से सम्बद्ध ब्राह्मण शरीर में ही नियोज्यत्व की उपपत्ति होती है— ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। यदि कहा जाय कि ''ब्राह्मणों के लिए विहित वेद विहित जो याग वह याग मैं करूँ'' ऐसी आत्मा में होने वाली इच्छा, उस इच्छा का अनुविधान (अनुसरण) जो ब्राह्मण शरीर करता है, वह ब्राह्मण शरीर नियोज्य है। अर्थात् आत्मा में होने वाली इच्छा का अनुसरण ब्राह्मण शरीर करता है। इसलिए ब्राह्मण शरीर का आत्मा के साथ इच्छानुविधायित्व रूप वास्तविक सम्बन्ध

आमवातजडीकृते तदभावात्। नापि तदिन्द्रियाश्रयत्वम्, तद्धि तत्सम्बद्धेन्द्रियाश्रयत्वं वा? तज्ज्ञानजनकेन्द्रियाश्रयत्वं वा? नाद्यः, अतिप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, ज्ञानपदेन स्वरूपचैतन्योक्तावसम्भवः, अन्तःकरणवृत्त्युक्तौ तेनापि संबन्धार्थमध्यासस्यावश्यकत्वात्। तद्वरं देहस्यैवाध्यासिकः सम्बन्ध इत्युच्यताम्। अतएव साक्षात् तत् प्रयत्नजन्यक्रियाश्रयत्वं वा, तद्भोगायतनत्वं वा, तत्कर्मार्जिततत्वं वा सम्बन्ध इति निरस्तम्, तत्कर्मार्जिततत्वस्य पुत्रादिसाधारणत्वाच्च। न च तत्रादृष्टेन स्वत्वमेवोत्पाद्यते,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। इसलिए केवल ब्राह्मण में ही नियोज्यत्व माना जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आमवात से जड़ीकृत ब्राह्मण शरीर का आत्मा के साथ इच्छानुविधायित्व सम्बन्ध का अभाव होने से आमवात से जड़ीकृत ब्राह्मण में भी नियोज्यत्व की उपपत्ति न होने से अव्याप्ति होगी। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ब्राह्मणत्वाश्रयीभूतदेह और आत्मा में आत्मेन्द्रियाश्रयत्वरूप वास्तविक सम्बन्ध है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आत्मेन्द्रियाश्रयत्व का अर्थ क्या आत्मसम्बन्धी इन्द्रिय आश्रयता है? अथवा आत्मनिष्ठ ज्ञानजनक इन्द्रिय की आश्रयता? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि आत्मा से सम्बन्ध पश्वादि सभी के सभी इन्द्रियों से है। अतः आत्मेन्द्रियाश्रयत्व सभी पश्वादि के शरीरों में रहेगा। इसलिए सभी पश्वादि में नियोज्यत्व की आपत्ति होगी। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ज्ञान पद से स्वरूपभूत चैतन्य लेने पर असम्भव दोष होगा, क्योंकि स्वरूपभूत चैतन्य नित्य है। अतः इन्द्रियों में तज्जनकत्व मानना असम्भव है। यदि ज्ञानपद से अन्तःकरण की वृत्ति लेते हैं, तब तो उस अन्तःकरण की वृत्तिरूप ज्ञान के साथ आत्मा का आध्यासिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अध्यास मानना आवश्यक होगा। इसकी अपेक्षा से यही कहना ठीक है कि ब्राह्मणत्वाश्रयीभूत देह के साथ आत्मा का आध्यासिक सम्बन्ध है। वही ब्राह्मणत्वाश्रयीभूत देहाभेदाध्यासापन्न आत्मा ही नियोज्य है। अतएव= आध्यासिक सम्बन्ध आवश्यक होने से ही, पूर्वपक्षी के द्वारा कहे जाने वाला सम्बन्ध भी निरस्त हो गया। पूर्वपक्षी सम्बन्ध का निरूपण इस प्रकार से करता है। जैसे (१) ब्राह्मणत्वाश्रयीभूतदेह के साथ आत्मा का आत्मनिष्ठ प्रयत्नजन्यक्रिया की साक्षाद् आश्रयतारूप सम्बन्ध है। (साक्षाद् पद न देने पर आत्मनिष्ठप्रयत्नजन्यक्रिया की परम्परया आश्रयता घटादि में भी होती है। साक्षाद् पद देने पर आत्मनिष्ठ प्रयत्न से जन्यक्रिया की साक्षात् आश्रयता शरीर में ही रहेगी) अथवा (२) ब्राह्मणत्वश्रयीभूतदेह के साथ आत्मा का आत्मनिष्ठभोगायतनत्व रूप सम्बन्ध है। अथवा (३) ब्राह्मणत्वाश्रयीभूतदेह के साथ आत्मा का आत्मनिष्ठकर्मार्जिततत्व रूप सम्बन्ध है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आत्मा का प्रयत्न के साथ, भोग के साथ और कर्म के साथ आध्यासिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जब अध्यास मानना आवश्यक है, तब तो उससे यही ठीक है कि उक्त शरीर के साथ आत्मा का आध्यासिक सम्बन्ध ही मान लिया जाय। तृतीय पक्ष में यह भी दोष है कि पिता के स्वकर्मों के स्वशरीर अर्जित होता है किन्तु पिता के स्वकर्मों से अर्थात् पिता के पुत्रकामेष्टि आदि कर्मों से पुत्र का शरीर भी अर्जित होता है। अतः पिता के आत्मा में रहने वाले कर्म के द्वारा अर्जित पुत्र का शरीर भी है। इसलिए जो सम्बन्ध पिता के शरीर में ही साथ होना चाहिए था। वह सम्बन्ध पुत्र के शरीर के साथ हो रहा है। अतः अतिप्रसङ्ग होगा।

शङ्का – पूर्वपक्षी उक्त अतिप्रसङ्ग का वारण करते हुए कह रहा है कि पुत्रकामेष्टि स्थल पर पिता के द्वारा सम्पादित पुत्रकामेष्टि कर्म से जन्य अदृष्ट के द्वारा पुत्र का शरीर उत्पन्न नहीं होता है अपितु पुत्र के शरीर में पिता रूप स्वामी का स्वत्व ही उत्पन्न होता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से

न तु पुत्रादिरिति—वाच्यम्, ग्रामादिवत् पुत्रस्य सिद्धत्वाभावेन स्वत्वोत्पादनार्थमपि तदुत्पादनस्या—वश्यकत्वात्। अन्यथा स्वदेहसुखादिष्वप्यस्यादृष्टेन स्वत्वमेवोत्पाद्यते, न तु स्वदेहादिरित्यपि स्यात्। तथा च पूर्वानुत्पन्नमदृष्टेन स्वत्वसहितमेवोत्पाद्यते, पूर्वोत्पन्ने तु स्वत्वमात्रमिति विभागः।।७।।

एतेन श्रुतिस्थं ब्राह्मणपदं किं लक्षणया देहविशेषैक्याध्यासवत्परम्? देहविशेषसम्बन्धपरं वा? सम्बन्धस्तु अन्यस्याभावादैक्याध्यास एव। यद्वा देहविशेषपरम्? आत्मा तदैक्याध्यासात्प्रवर्तत इति। नाद्यः विधौ लक्षणाया अयोगात्, पुत्रमित्रादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति अध्यासस्वीकारेण ब्राह्मणमित्रस्य शूद्रस्याधिकारप्रसङ्गात्, शूद्रमित्रस्य ब्राह्मणस्यानधिकारप्रसङ्गाच्च।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतिप्रसङ्ग नहीं होगा।

समाधान—पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त अतिप्रसङ्ग वारणार्थ दिया गया समाधान उचित नहीं है, क्योंकि ग्रामकामादि इष्टि के द्वारा पहले से सिद्ध ग्रामादि में स्वत्वामात्र की उत्पत्ति मानी जा सकती है, किन्तु नि:सन्तान व्यक्ति जब पुत्रोत्पत्ति के लिए पुत्रकामेष्टि कर्म करता है। ऐसे स्थल पर उक्त कर्म से पूर्व पुत्र का शरीर ही सिद्ध नहीं है। अत: पुत्रगत स्वत्वोत्पत्ति के लिए भी पुत्र के शरीर का पहले उक्त कर्म के द्वारा उत्पन्न होना आवश्यक है। (अत: उक्त अतिप्रसङ्ग का वारण नहीं हुआ।) अन्यथा—यदि उक्त कर्म के द्वारा पुत्रशरीर के न रहने पर भी उसमें स्वत्वमात्र की उत्पत्ति मानी जाय तो, पिता के द्वारा सम्पादित शुभकर्म जन्य अदृष्टों के द्वारा पिता के शरीर और सुखादि की उत्पत्ति न होकर तद्‌गत स्वत्व की ही उत्पत्ति मानने की आपत्ति होगी। ऐसा होने पर आत्मनिष्ठकर्मार्जितत्व शरीर में न रहने पर असम्भव दोष होगा। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पूर्व में उत्पन्न ग्रामादि जो पदार्थ है उसमें ग्रामकामादि इष्टि के द्वारा स्वत्वमात्र उत्पन्न होता है और पूर्व में अनुत्पन्न जो पुत्रादि पदार्थ हैं ऐसे स्थल पर पिता के द्वारा सम्पादित पुत्रकामेष्टि आदि कर्म से पुत्र का शरीर और तद्‌गतस्वत्व दोनों ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था ही उचित है। अत: आत्मनिष्ठकर्मार्जितत्व रूप सम्बन्ध पुत्र के शरीर में रहने से अतिप्रसङ्ग पूर्ववत् बना ही रहा।।७।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि ''ब्राह्मणो यजेत'' इस श्रुति में स्थित ब्राह्मण पद का अर्थ क्या लक्षण के द्वारा ब्राह्मणशरीरविशेष के साथ अभेदाध्यास वाला आत्मा है—ऐसा विवक्षित है? या ब्राह्मणशरीरविशेष के साथ सामान्यसम्बन्ध वाला आत्मा है? ब्राह्मणदेहविशेष के साथ आत्मा का संयोगादि सम्बन्ध हो नहीं सकता है। अत: अन्ततोगत्वा उस सामान्यसम्बन्ध का भी पर्यवसान ऐक्याध्यास रूप विशेष सम्बन्ध में ही कहना होगा। अथवा ब्राह्मण पद केवल ब्राह्मणशरीर विशेष का बोधक है। अर्थात् ब्राह्मण शरीर याग करे। आत्मा का ब्राह्मण देहविशेष के साथ तादात्म्याध्यास है। अत: आत्मा भी याग करने में प्रवृत्त हो जाता है। प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि ''ब्राह्मणो यजेत'' यह विधिवाक्य है। विधिवाक्य में लक्षणा मानी नहीं जाती है,क्योंकि ''न विधौ पर: शब्दार्थ'' ऐसा शाबर वचन है। दूसरी बात यह भी है कि सिद्धान्ती जैसे ब्राह्मणशरीर का आत्मा के साथ तादात्म्याध्यास मानकर ब्राह्मण पद का अर्थ ब्राह्मणशरीरविशेष के साथ अभेदाध्यास वाला आत्मा कर रहे हैं। उसी प्रकार जिस ब्राह्मण के मित्र—पुत्रादियों के सुखी होने पर सुखी और दु:खी होने पर दु:खी होता है—ऐसा ब्राह्मण का अनन्यस्नेही जो शूद्र है। उस शूद्र के साथ भी ब्राह्मणशरीर का तादात्म्याध्यास हो सकता है। ऐसा होने पर ''ब्राह्मणो यजेत'' इस श्रुति का अर्थ होगा ''ब्राह्मणशरीरतादात्म्याध्यासवान् शूद्रो यजेत''। इस प्रकार शूद्र को भी श्रौतकर्म में अधिकार प्राप्त हो जायेगा, जबकि अपशूद्राधिकरण में शूद्र को श्रोत्र कर्म का निषेध कहा गया है। इसी प्रकार शूद्र

न द्वितीयः, तदिन्द्रियाश्रयत्वादेः सम्बन्धान्तरस्यैव सम्भवात्। न तृतीयः, तस्य जडत्वेन नियोज्यत्वासम्भवादिति निरस्तम्।।८।।

चरमपक्षे दूषणमनुक्तोपालम्भनम्, प्रथमद्वितीयपक्षयोरेव क्षोदसहत्वेनाङ्गीकारविषयत्वाद्, विधौ लक्षणायाः 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'इत्यादौ दर्शनात् स्वीयत्वाद्यप्रतिसन्धाननिबन्धनस्य पुत्रमित्रादिव्यावृत्तस्यैव सर्वानुभवसाक्षिकस्याध्यासस्य प्रयोजकतया नोक्तस्थले अतिप्रसङ्गाप्रसङ्गौ। कादाचित्कस्य तादृशाध्यासस्यैव ब्राह्मणपदप्रयोगनिमित्तत्वेन ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यादेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

शरीर के साथ तादात्म्य समझने वाला शूद्र मित्र ब्राह्मण ''ब्राह्मणो यजेत'' के घटक ब्राह्मण पद से गृहीत नहीं हो पायेगा। क्योंकि वह शूद्र शरीर में तादात्म्याध्यास वाला है न कि ब्राह्मणशरीर तादात्म्याध्यास वाला है। अतः शूद्रमित्रब्राह्मण भी श्रौत्र कर्म करने से वञ्चित हो जायेगा। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणदेहविशेष का आत्मा के साथ आध्यासिकसम्बन्ध से भिन्न तदीयेन्द्रियाश्रयत्वादि सम्बन्ध सम्भव है। (इस पर विचार खण्ड संख्या ७ में किया गया है।) तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणशरीर जड़ होने के कारण नियोज्य नहीं हो सकता है।।८।।

समाधान—एतेन निरस्तम्—ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा चरम पक्ष (तृतीय पक्ष) में जो दूषण दिया गया है, वह अनुक्तोपालम्भन मात्र है, क्योंकि ब्राह्मण शब्द का अर्थ ब्राह्मणशरीर है—ऐसा हमने कहा ही नहीं है। प्रथम और द्वितीय पक्ष में विचार सहत्व है। अतः उनको स्वीकार किया जा रहा है। जैसे पूर्वपक्षी ने कहा था कि विधि में लक्षणा नहीं होती है, वह उचित नहीं है,क्योंकि ''गोभिः श्रीणीत मत्सरम्'' इत्यादि विधि वाक्यों में लक्षणा की गयी है। [कहने का भाव यह है कि गो पद के उत्तर में स्थित मयट् प्रत्यय का लोप हो गया है। अतः गोभिः का अर्थ है—गोमय। यद्यपि ''गोश्च पुरीषे'' (अ.सू. ४—३—१३५) इस सूत्र से मयट् प्रत्यय पुरीष (गोबर) अर्थ में किया जाता है तथापि यहां गोमय का अर्थ गाय का गोबर न लेकर लक्षणा के द्वारा गाय का विकार दुग्ध किया जाता है। अतः उक्त विधिवाक्य का अर्थ होता है कि गाय के दुग्ध में सोमरस पकायें। इस प्रकार विधिवाक्यों में भी लक्षणा की गयी है। आदि पद से ''उच्चैर्ऋचा क्रियते' इत्यादि का ग्रहण कर लेना चाहिए। यहां पर ऋगादि पदों में लक्षणा करके ऋग्वेदादि अर्थ किया जाता है।] इस प्रकार जब विधिवाक्यों में लक्षणा की जा सकती है तब ''ब्राह्मणो यजेत'' इस विधिवाक्य के घटक ब्राह्मण पद में भी लक्षणा करके ब्राह्मणशरीरविशेष के साथ अभेदाध्यास वाला आत्मा—ऐसा अर्थ किया ही जा सकता है। स्वीयत्वादि (आत्मीयत्वादि) के अप्रतिसन्धान के अधीन जो पुत्रमित्रादि से व्यावृत्त सर्वानुभवसाक्षिक अध्यास है। उस अध्यास को ही उक्त श्रुति विषयत्वेन नियोज्य का प्रयोजक मानते हैं। अतः ब्राह्मणमित्र शूद्र के अधिकार का और शूद्रमित्र ब्राह्मण के अनधिकार का प्रसङ्ग नहीं होगा। [कहने का भाव यह है कि ''ब्राह्मणो यजेत'' का अर्थ करेंगे— ब्राह्मणशरीरगतस्वीयत्वाप्रतिसन्धाननिबन्ध—नैक्याध्यासवान् यजेत। अर्थात् ब्राह्मणशरीरगत स्वीयत्व के भान के विना जिस आत्मा का ब्राह्मणशरीर के साथ तादात्म्याध्यास है। वह याग करे। ऐसा अर्थ करने पर जब अपने शरीर के साथ आत्मा का ऐक्याध्यास होता है तब यह मेरा शरीर है—इस प्रकार स्वीयत्व का प्रतिसन्धान नहीं होता है किन्तु जहां मित्रादि के शरीर में तादात्म्याध्यास होता है वहां पर यह मेरा शरीर है— इस प्रकार से स्वीयत्व का प्रतिसन्धान होता है। अतः स्वीयत्व के अप्रतिसन्धान कहने से मित्रादि की व्यावृत्ति हो जायेगी। अतः पूर्वोक्त प्रकार से अतिप्रसङ्गादि की आपत्ति नहीं होगी। इस पर प्रश्न होता है कि ब्राह्मणशरीरगतस्वीयत्वाप्रतिसन्धाननिबन्धन

सुषुप्तविषयत्वादिकमपि सङ्गच्छते। तथा जीवन्मुक्तविषयत्वमपि, तस्यावरणशक्तिनिबन्धनाध्यासाभावेऽपि विक्षेपशक्तिनिबन्धनाध्याससम्भवात्। न चैवं कदाचिदध्यासस्य प्रयोजकत्वे महापातकेन नष्टब्राह्मण्यस्याप्यधिकारप्रसङ्गः, तत्र महापातकस्यैवानधिकारप्रयोजकत्वम्, न तु ब्राह्मण्याभावस्य, 'पतितो ब्राह्मणः' इति व्यवहारेण तदभावस्यैवाभावात्। तथा चोक्तं भाष्ये—'सर्वाणि विधिनिषेध—शास्त्राण्यध्यासमूलानि'इति।।९।।

प्रमातृत्वाद्यन्यथानुपपत्तिरप्यध्यासे मानम्। कदाचिदध्यासस्यैव प्रयोजकत्वेन सुषुप्तौ तदभावेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्वदा तादात्म्याध्यास वाला जो है, उसको ब्राह्मण पद से कहा जायेगा? अथवा कादाचित्क तादात्म्याध्यास वाला जो है। उसको ब्राह्मण पद से कहा जायेगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि हम प्रथम पक्ष नहीं मानते हैं, क्योंकि सुषुप्ति और जीवन्मुक्ति अवस्था में वैसा अभिमान सम्भव न होने के कारण सुषुप्त और जीवन्मुक्त ब्राह्मण को ब्राह्मण शब्द से कहा नहीं जा सकेगा तब तो सुषुप्त और जीवन्मुक्त ब्राह्मण के प्रति ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' यह निषेध चरित्रार्थ नहीं हो पायेगा। इसलिए] द्वितीय पक्ष (कादाचित्क तादात्म्याध्यास पक्ष) को स्वीकार करते हैं। अर्थात् किसी भी काल में होने वाला जो तादात्म्याध्यास है, उस अध्यास को ही ब्राह्मण पद प्रयोग के निमित्त मानते हैं। अतः सुषुप्ति में वैसा अध्यास न होने पर भी जाग्रत् काल में वैसा अध्यास होन के कारण सुषुप्त ब्राह्मण के भी प्रति ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' यह निषेध चरित्रार्थ हो जायेगा। इसी प्रकार जीवन्मुक्त ब्राह्मण के विषय में भी ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' यह निषेध चरित्रार्थ होगा, क्योंकि जीवन्मुक्त ब्राह्मण को आवरण शक्ति निबन्धन ''पूर्णानन्दो नास्ति, न भाति'' इत्याकारक अध्यास न होने पर भी विक्षेप शक्ति निबन्धन (प्रारब्धकर्माधीनब्राह्मण्यादिनिबन्धन) ऐक्याध्यास तो होता ही है।

शङ्का— किसी काल में होने वाले उक्त प्रकार के ऐक्याध्यास को ही ब्राह्मण पद प्रयोग में निमित्त मानने पर जिस ब्राह्मण का ब्राह्मणत्व महापातक के द्वारा नष्ट हो गया है, उसको भी ब्राह्मण माना जायेगा, क्योंकि महापातक काल के पूर्व तक वह ब्राह्मण भी उक्त प्रकार के ऐक्याध्यासवाला था।

समाधान—ऐसा कहना उचित नहीं है,क्योंकि जिस स्थल पर महापातकी ब्राह्मण को श्रौतकर्म में अनधिकार कहा गया है, वहां उस अनधिकार के प्रति हेतु महापातक को माना जाता है न कि ब्राह्मणत्वाभाव का, क्योंकि महापातक से युक्त ब्राह्मण में ब्राह्मणत्वाभाव नहीं रहता है, अपितु ब्राह्मणत्वाभाव का अभाव (ब्राह्मणत्व) ही रहता है। यदि महापातकी ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व नहीं होता तब ''पतितो ब्राह्मणः'' ऐसा व्यवहार नहीं होता, किन्तु उक्त प्रकार का व्यवहार होता है। अतः महापातकी ब्राह्मण में भी ब्राह्मणत्व माना ही जायेगा। फलतः महापातकी ब्राह्मण के श्रौतकर्म में अनधिकार के प्रति प्रयोजक महापातक ही हैं तथा च= ''ब्राह्मणो यजेत'' इत्यादि श्रुतियों में कथित ब्राह्मण पद से ''ब्राह्मणशरीरगतकादाचित्कैक्याध्यासवान्'' ऐसा अर्थ विवक्षित होने के कारण ही भगवान् भाष्यकार ने अध्यास भाष्य में कहा है—''ब्राह्मणो यजेत'' इत्यादिनी शास्त्राण्यात्मनि वर्णाश्रमवयोऽवस्थादिविशेषाध्यासमाश्रित्य प्रवर्तन्ते''। इसी को संक्षेप में कहा कि ''सर्वविधिनिषेधशास्त्र अध्यास मूलक हैं।''।।९।।

देहात्मैक्याध्यासं में प्रमातृत्व—ज्ञातृत्वादि की अन्यथानुपपत्ति भी प्रमाण है। अर्थात् ''देहात्मैक्याध्यासं विना आत्मनः प्रमातृत्वमनुपपन्नम्'' यह अर्थापत्तिप्रमाण भी देह और आत्मा के ऐक्याध्यास को प्रमाणित करता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ब्राह्मणशरीरगतस्वीयत्वाप्रतिसन्धाननिबन्धनकादाचित्क

ज्ञातृत्वस्य घटादिप्रमाकाले तदभावेऽपि प्रमातृत्वस्य दर्शनात् कथमैक्याध्यास: तत्र प्रयोजक इति निरस्तम्। तदुक्तं भाष्ये 'प्रमातृत्वादिकमध्यासमूलम्'इति। अतएव चार्वाकादीनामनभिसंहित—प्रबलागमानुमानादीनां देह एवात्मेति प्रवाद:। अन्यथा प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिनस्तस्य तादृशव्यवहारानुपपत्ते:। न च चार्वाकादेरनुमानाभासाज्जाते देहात्मैक्यभ्रमे प्रत्यक्षत्वाभिमान इति वाच्यम्; प्रत्यक्षेण भेदे गृहीते अनुमानाभासादिनाऽभेदस्य बोधयितुमशक्यत्वात्। तथा च प्रत्यक्ष एवायमैक्यभ्रम:। अत एवाङ्गुल्या देहं प्रदर्श्य वदत्ययमहमिति। अतएव देहात्मैक्यनिषेधक श्रुतिरप्युपपद्यते, अन्यथा तस्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

तादात्म्याध्यास को ही उक्त श्रुति विषयत्वेन नियोज्यत्व (कर्तृत्वादि) का प्रयोजक मानने पर सुषुप्ति में अध्यास न होने पर भी अज्ञानादि का ज्ञातृत्व आत्मा में देखा जाता है और जाग्रत्कालीन घटादिप्रमाकाल में अज्ञान का अध्यास का अभाव होने पर भी "मैं घट का प्रमाता हूं।" इस प्रकार से आत्मा में प्रमातृत्व देखा जाता है। अत: देहात्मैक्याध्यास को ज्ञातृत्व—प्रमातृत्वादि में प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह कथन इसलिए निरस्त हो जाता है कि ज्ञातृत्व—प्रमातृत्वादि का भान ही सिद्ध कर रहा है कि उक्त स्थलों पर अध्यास का अभाव नहीं होता है। इसलिए भगवान् भाष्यकार ने कहा है—"आत्मानात्मनोरितरेताध्यासं पुरस्कृत्य सर्वाणि प्रमाणानि प्रवर्तन्ते देहेन्द्रियादावहंममाभिमानहीनस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्यनुपपत्ते:।" इत्यादि भाष्यार्थ को संक्षेप में कहा गया कि प्रमातृत्वादि अध्यासमूलक हैं। इसलिए सुषुप्ति में देहाध्यास न होने पर भी अज्ञानाध्यास होने के कारण अज्ञानादि का अनुभवकर्तृत्व सिद्ध हो जायेगा और घट प्रमाकाल में घट का अज्ञानाध्यास न होने पर भी देहेन्द्रियादि का अध्यास रहता है। अत: प्रमातृत्व की भी उपपत्ति हो जायेगी। अत एव= देह का आत्मा में ऐक्याध्यास होने के कारण ही प्रत्यक्ष से प्रबल अनुमानागमादि हैं— इसको अस्वीकार कर दिया गया है जिनके द्वारा, ऐसे जो चार्वाकादि हैं। उन चार्वाकादिकों का देह ही आत्मा है—ऐसा प्रवाद है। अन्यथा— आत्मा में देहादि का अध्यास यदि नहीं होता किन्तु देह और आत्मा के भेद का प्रत्यक्ष ही होता तब तो प्रत्यक्ष प्रामाण्यवादी चार्वाकादि के द्वारा देह ही आत्मा है— ऐसा व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि जब प्रत्यक्ष से ही आत्मा से भिन्न देह दिखलायी पड़ रहा है तब देह को आत्मा कहा ही नहीं जा सकता है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि चार्वाकादि को अनुमानाभास (जीवितदेह: आत्मा, चेतनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घट:) से उत्पन्न जो देहात्मैक्यभ्रम है। उस भ्रम में चार्वाकादि प्रत्यक्षता का अभिमान करके "देह ही आत्मा है"—ऐसा कहते हैं। अर्थात् प्रत्यक्ष से देहात्मैक्यभ्रम नहीं होता है,क्योंकि प्रत्यक्ष से तो देह आत्मा का भेद ही सिद्ध हो रहा है।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रत्यक्ष प्रमााण से देह और आत्मा के परस्पर भेद के गृहीत होने पर अनुमानाभास से देह और आत्मा का अभेद बोधित नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा प्रमाणाभास सदैव दुर्बल और बाधित ही होता है। इसलिए देहात्मैक्यभ्रम को प्रत्यक्षात्मक ही मानना पड़ेगा। अत एव= चार्वाकादि को होने वाला देहात्मैक्यभ्रम प्रत्यक्षात्मक होने के कारण ही, अङ्गुली से देह की ओर सङ्केत कर कहता है कि यह मैं हूं। अत एव= श्रुति से इतर प्रत्यक्ष से देहात्मैक्य सुप्रसिद्ध होने से ही देहात्मैक्य का निषेध करने वालो श्रुतियों का प्रामाण्य भी उपपन्न हो जाता है, क्योंकि प्राप्त होने पर ही निषेध करना सार्थक माना जाता है। अन्यथा = श्रुति से इतर प्रत्यक्ष से देहात्मैक्य के प्राप्त न होने पर, देहात्मैक्यनिषेधकश्रुतियों में अप्रशक्तनिषेधकता की आपत्ति होने से अप्रामाण्य के प्रसङ्ग की आपत्ति होती।

अप्रसक्तप्रतिषेधकतापत्तेः। न च कुसमयप्राप्तनिषेधिका सा, प्रत्यक्षविरुद्धकुसमयस्याप्यनवकाशात्। तस्मादाभीरसाधारणात् 'अहं गौरः' इत्यादिप्रत्ययादात्मन्यन्तःकरणैक्याध्यासाद्देहतद्धर्माध्यासोऽपीति सिद्धम्।।१०।।

इत्यद्वैतसिद्धौ देहात्मैक्याध्यासोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि देहात्मैक्याध्यास प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं है किन्तु कुसमय= देहात्मैक्य को बोधन करने वाला जो उक्त अनुमानाभासादि कुत्सित शास्त्र हैं। उनसे देहात्मैक्य सिद्ध है। उस देहात्मैक्य की निषेधिका श्रुति है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण से जब देह और आत्मा का भेद सिद्ध है तब उसके विरुद्ध अनुमानाभास से देह और आत्मा में अभेद सिद्ध होने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि प्रमाण की अपेक्षा प्रमाणाभास दुर्बल होता है। इसलिए शास्त्रज्ञानवान् से लेकर गोपाल तक जो ''अहं गौरः'' इत्याकारक प्रत्यय है। इस प्रत्यय के आधार पर आत्मा में अन्तःकरण के ऐक्याध्यास के द्वारा देह और देहगत मनुष्यत्व—ब्राह्मणत्व—गौरत्वादि धर्मों का भी अध्यास आत्मा में सिद्ध हो जाता है।।१०।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां देहात्मैक्याध्यासोपपत्तिः

१५– अनिर्वाच्यत्वलक्षणविचार:

ननु– एवमविद्यायां तन्निबन्धनाध्यासे च सिद्धेऽपि न तस्यामनिर्वचनीयत्वसिद्धि:, लक्षणप्रमाणयोरभावात्। तथाहि किमिदमनिर्वाच्यत्वम्? (१) न तावन्निरुक्तिविरह:, (२) तन्निमित्तज्ञानविरहो वा, (३) तन्निमित्तार्थविरहो वा, (४) तन्निमित्तसामान्यविरहो वा। आद्ये अनिर्वाच्य इत्यनेनैव निरुक्त्या 'इदं रूप्यम्' इति निरुक्त्या च व्याघात:। द्वितीये निरुक्तिरूपफलसत्त्वेन तन्निमित्तविरहस्य वक्तुमशक्यत्वम्। अत एव न तृतीय:, अर्थस्य निरुक्तावनिमित्तत्वाच्च। फलसत्त्वादेव न चतुर्थ:। नापि (५) सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वम्, सदसद्रूपत्वेऽप्युपपत्ते:। अत एव (६) न

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्व प्रकरणों में सिद्धान्ती के द्वारा दिये गये प्रमाणों के द्वारा अविद्या और अविद्या प्रयुक्त अध्यास के सिद्ध हो जाने पर भी स्व(अविद्या) प्रयुक्त अध्यास सहित अविद्या में अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि अनिर्वचनीयता के लक्षण और प्रमाण का अभाव है। अनिर्वचनीयता के लक्षण का अभाव है—इसका निरूपण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अनिर्वचनीयता का लक्षण क्या है? (१) निरुक्ति का अभाव है? या, (२) निरुक्ति का निमित्तभूत जो ज्ञान है, उस ज्ञान का अभाव है? (अर्थात् निरुक्ति के निमित्त वस्तु, वस्तु का ज्ञान और वस्तुगत धर्मादि होते हैं। उनमें से निरुक्ति का निमित्तभूत जो ज्ञान है। उस ज्ञान के अभाव को अनिर्वचनीयत्व कहते हो?) या (३) निरुक्ति के निमित्तभूत जो वस्तु है। उस वस्तु के अभाव को अनिर्वचनीयत्व कहते हैं? या (४) निरुक्ति के निमित्तभूत जो वस्तुगत सामान्यधर्म हैं। उनके अभाव को अनिर्वचनीयत्व कहते हो? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ''अनिर्वाच्य है'' इस वाक्य से ही निरुक्ति (कथन) होने से और ''यह रजत है'' इत्यादि शब्दों के द्वारा निरुक्ति होने से निरुक्ति के अभाव को अनिर्वचनीयत्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि व्याघातदोष होगा। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि जब निरुक्तिरूप फल (कार्य) विद्यमान है तब उसके निमित्त का अभाव नहीं कहा जा सकता है। जैसे घटादि कार्य के विद्यमान होने पर घटादि का निमित्त ही नहीं था—ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं कहता है। अत एव =निरुक्ति रूप फल (कार्य) का सत्त्व होने पर निरुक्ति के निमित्त का अभाव कहना अशक्य होने से ही, तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है। तृतीय पक्ष में यह भी दोष है कि निरुक्ति का निमित्त अर्थ (विषय) होता ही नहीं है, अपितु निरुक्ति का निमित्त ज्ञान ही होता है। अत: निरुक्ति का निमित्त अर्थ होता है और उसके अभाव को अनिर्वचनीयत्व कहते हैं—ऐसा कहना असङ्गत है। निरुक्तिरूप फल का सत्त्व रहने पर निरुक्ति का निमित्त सामान्यधर्म अवश्य रहेगा, क्योंकि जिसका वाचक कोई शब्द है— उसका प्रवृत्ति निमित्त (शक्यतावच्छेदक) कोई सामान्यधर्म अवश्य होता है। अत: निरुक्ति रूप फल जब है, तब उसके निमित्त सामान्यधर्म का अभाव कहना असङ्गत है। (५) सद्विलक्षणत्वसमानाधिकरणासद्विलक्षणत्व को भी अनिर्वचनीयत्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सद्रूपत्व और असद्रूपत्व परस्पर विरह रूप होने के कारण सद्विलक्षणत्व कहने पर असत्त्व की प्रसक्ति होती है और असद्विलक्षणत्व कहने पर सत्त्व की प्रसक्ति होती है। फलत: प्रपञ्चादि में सद्रूपता और असद्रूपता सिद्ध होगी। अर्थात् प्रपञ्चादि सदसद् उभयरूप है—इसको यदि सिद्धान्ती अनिर्वचनीयत्व कहते हैं तब सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि प्रपञ्चादि में सत्त्व और रज्जुसर्पादि में असत्त्व हम मानते ही हैं। (६) अत एव= उक्त प्रकार से सिद्धसाधनदोष के होने के कारण ही सत्त्वाभावविशिष्ट असत्त्वाभाव को भी अनिर्वचनीयत्व नहीं

सत्त्वराहित्ये सत्यसत्त्वविरहः, तथा च लक्षणासम्भव इति चेत्।।१।।

न' (१) सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्, (२) सत्त्वासत्त्वाभ्यां विचारासहत्वे सति सदसत्त्वेन विचारासहत्वं वा, (३) प्रतिपन्नोपाधौ बाध्यत्वं वा इत्यादिलक्षणे निरवद्यत्वसम्भवात्। न च आद्ये सतोऽपि सदन्तरविलक्षणत्वात् सिद्धसाधनमिति वाच्यम्, सत्त्वावच्छिन्नभेदस्य सन्नेति प्रतीतिप्रयोजकस्य सद्वैलक्षण्यपदार्थत्वात्। नहि सति सदन्तरभेदेऽपि सन्नेति प्रतीतिः, अतो न सिद्धसाधनम्। एवं च सत्त्वरहितत्वे सति असत्त्वरहितत्वे सति सदसत्त्वरहितत्वमपि साधु।।२।।

स्यादेतत्— सत्त्वं तावत् (१) सत्ताजातिर्वा? (२) अर्थक्रियाकारित्वं वा? (३) अबाध्यत्वं वा? (४) प्रामाणिकत्वं वा? (५) अशून्यत्वं वा? (६) ब्रह्मत्वं वा? (७) पराङ्गीकृतं वा? नाद्यद्वितीयौ,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

कहा जा सकता है। फलत: अनिर्वचनीयत्व का लक्षण असम्भव है।।१।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि (१) जो सद्विलक्षण हो असद्विलक्षण हो और सदसदुभय से विलक्षण हो। उसको अनिर्वचनीय कहते हैं। अथवा (२) जिसका सत्त्वरूप से असत्त्वरूप से तथा सदसदुभयरूप से निरूपण नहीं हो सकता है। उसको अनिर्वचनीय कहते हैं। अथवा (३) जिसमें अपने प्रतीयमान अधिकरणनिष्ठ वर्तमान अभाव का प्रतियोगित्व होता है। उसको अनिर्वचनीय कहते हैं। मूलस्थ इत्यादि शब्द से ज्ञाननिवर्त्यत्वादि अनिर्वचनीय के लक्षणों का संग्रह कर लेना चाहिए। इस प्रकार से अनिर्वचनीयत्व का दोषरहित लक्षण सम्भव है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित उक्त तीन लक्षणों में से प्रथम लक्षण को हेतु बनाकर जब लक्ष्यार्थ की सिद्धि के लिए अनुमान किया जायेगा— विमतमनिर्वाच्यम्, सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वात्। तब हम इस अनुमान में सिद्धसाधनदोष देंगे, क्योंकि पटरूप सद् वस्तु घटरूपसद्वस्तु से विलक्षण है और शशशृङ्गादि असत् से विलक्षण है और घटरूप सद् वस्तु तथा शशशृङ्गादि असत् से भी विलक्षण भी पटरूप सद्वस्तु है। इस प्रकार से उक्त अनिर्वचनीयत्व पटादि सत्यप्रपञ्च में हम भी मानते हैं, अत: सिद्धसाधनदोष होगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम लक्षण घटक सद्विलक्षणत्व शब्द से ''सन्न'' इस प्रतीति का प्रयोजक ''सत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेद'' अर्थ विवक्षित है। अत: सत्घट में सत् पट का भेद रहने पर भी वह पटत्वावच्छिन्न सद् भेद होगा न कि सत्त्वावच्छिन्नसद् भेद होगा। अत: सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। प्रथम लक्षण घटक सद्विलक्षणत्व का उक्त प्रकार से अर्थ करने पर ''सत्त्वरहितत्वे सत्यसत्त्वरहितत्त्वे सति सदसद्रहितत्त्वमनिर्वचनीयत्वम्'' इस प्रकार का अनिर्वचनीयत्व का लक्षण भी निर्दोष है।।२।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा प्रपञ्चगत जिस सत्त्व का अभाव कहा जा रहा है। वह सत्त्व क्या (१) नैयायिकसम्मत सत्ता जाति है? या (२) बौद्धसम्मत अर्थक्रियाकारित्व है? या (३) अबाध्यत्व है? या (४) प्रामाणिकत्व है? या (५) अशून्यत्व है? या (६) ब्रह्मत्व है? या (७) माध्वसम्मत असत्त्वाभावरूप सत्त्व है? सत्ताजाति प्रथम पक्ष और अर्थक्रियाकारित्वरूप द्वितीय पक्ष को मानने पर शुद्ध ब्रह्म में नैयायिक सम्मत जाति और बौद्धसम्मत अर्थक्रियाकारित्व न रहने से शुद्ध ब्रह्म में सद्वैलक्षण्य की आपत्ति होगी और प्रपञ्च में सत्ताजाति तथा अर्थक्रियाकारित्व के रहने से प्रपञ्च में सद्वैलक्षण्य सिद्ध न होकर सद्वैलक्षण्याभाव सिद्ध होने लगेगा। अबाध्यत्वरूप तृतीय पक्ष

शुद्धात्मनि सद्वैलक्षण्यस्य प्रपञ्चे सद्वैलक्षण्याभावस्य चापातात्। न तृतीयः, त्वन्मते तुच्छस्याप्य– बाध्यत्वेन तत्र सद्वैलक्षण्यस्यानिर्वाच्य(त्व)स्य बाध्यत्वेनासद्वैलक्षण्यस्य चायोगात्। न चतुर्थः, प्रमा ह्यन्तःकरणवृत्तिः, तद्विषयत्वस्य प्रपञ्चेऽपि सत्त्वेन सद्वैलक्षण्यस्य तत्रासत्त्वप्रसङ्गात्। न पञ्चमः, तस्य प्रपञ्चेऽपि विद्यमानत्वेन सद्वैलक्षण्याभावप्रसङ्गात्, न षष्ठः, तद्वैलक्षण्यस्य जगति सत्त्वेनेष्टापत्तेः, न सप्तमः, पराभ्युपगतसत्त्वस्यासत्त्वविरहरूपत्वेन उभयवैलक्षण्योक्त्ययोगात्। अतएव–एतेषां विरहस्यासत्त्वरूपत्वं निरस्तम्। अथासत्त्वं निरुपाख्यत्वम्? निःस्वरूपत्वं वा? नाद्यः, असदादिपदेनैव ख्यायमानत्वात्, न द्वितीयः, स्वरूपेण निषेधपक्षे शुक्तिरूप्यादेरपि निःस्वरूपत्वेनासद्वैलक्षण्यानुपपत्तेरिति चेन्न, पराभिमतसत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते, न तु पारिभाषिके, अतो न तादृक्सदसद्वैलक्षण्योक्ताविष्टापत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

भी उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तमत में तुच्छ पदार्थ भी अबाध्य होते हैं। अतः असत् पदार्थ में सद् वैलक्षण्य की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार शुक्तिरजतादिरूप अनिर्वचनीय पदार्थ बाधित होने से असत् ही हो जायेंगे। अतः शुक्तिरजतादि में असद्वैलक्षण्य की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। प्रामाणिकत्वरूप चतुर्थ पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणकी एक प्रकार की वृत्ति का नाम प्रमा है। उस वृत्ति की विषयता को ही प्रामाणिकता कहा जाता है। अतः घटाद्याकार अन्तःकरण की प्रमात्मिका विषयता रूप प्रामाणिकता ही घटादि प्रपञ्च में रहेगी। इसलिए प्रपञ्च सत् हो जायेगा। अतः सिद्धान्ती के मतानुसार प्रपञ्चगत सद्वैलक्षण्य की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। अशून्यत्वरूप पञ्चम पक्ष भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि अशून्यत्व प्रपञ्च में भी विद्यमान है। अतः प्रपञ्च में सद्वैलक्षण्याभाव की आपत्ति होगी। ब्रह्मत्वरूप षष्ठ पक्ष में इष्टापत्ति है, क्योंकि माध्वमत में भी ब्रह्मत्व का वैलक्षण्य प्रपञ्च में माना ही जाता है। सप्तम पक्ष भी माना नहीं जा सकता है, क्योंकि माध्व मत में असत्त्वाभावरूप सत्त्व प्रपञ्च में माना जाता है। अतः प्रपञ्च में सदसदुभयवैलक्षण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। अर्थात् प्रपञ्च में असद् वैलक्षण्य के रहने पर भी सद्वैलक्षण्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। अत एव = उक्त विधसत्त्व के खण्डन हो जाने से और उनके द्वारा सिद्धान्ती अभिमत अनिर्वचनीयत्व के अनुकूलता की उपपत्ति न होने से ही उक्त विध सत्त्व के अभावरूप असत्त्व पक्षों का भी निरास हो जाता है। जैसे असत्त्व क्या (१) निरूपाख्यत्व है? अथवा (२) निःस्वरूपत्व है? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि जिसका असत् पद के द्वारा कथन किया जा रहा है, वह निरूपाख्य (अवाच्य) माना नहीं जा सकता है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्ति में रजत का निषेध स्वरूपेण अथवा पारमार्थिकत्वेन होता है। प्रथम पक्ष के अनुसार शुक्तिरजत में स्वरूपेण निषेध प्रतियोगित्व रहने के कारण शुक्तिरजत में असत्त्व ही मानना पड़ेगा न कि असद्वैलक्षण्य। अतः शुक्तिरजत में असद्वैलक्षण्य की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यद्यपि सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरह रूप नहीं होते हैं–इसका निरूपण प्रथम मिथ्यात्व विचार के खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है और इस प्रकरण के खण्ड संख्या ६ में भी कहा जायेगा कि ''वस्तुतस्तु सत्त्वासत्त्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वम्'' तथापि ''सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्'' और ''सत्त्वरहितत्त्वे सत्यसत्त्वरहितत्त्वे सति सदसत्त्वरहितत्त्वम्'' इत्यादि अनिर्वचनीयता के लक्षण के घटक सत्त्व और असत्त्व पद का अर्थ परस्परविरहरूप जो पूर्वपक्षी मानता है, वही विवक्षित है। पारिभाषिक सत्त्वासत्त्व का अर्थ विवक्षित नहीं है। [अर्थात् हमारी परिभाषा के अनुसार जो सत्त्व का अर्थ अबाध्यत्व और असत्त्व का अर्थ सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्व है। उसको अभी नहीं ले रहे हैं।] अतः

नापि तयोः परस्परविरुद्धत्वेन एकनिषेधस्यापरविधिपर्यवसन्नतया एकत्रोभयवैलक्षण्यं व्याहतमति वाच्यम्, निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वाङ्गीकारात् न व्याहतिः। न ह्यतात्त्विकरजतेन शुक्तेर्विरोधः। न च तर्हि सदादिवैलक्षण्योक्तिः कथम्? तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपतामात्रप्रकटनाय। नहि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किञ्चिदपि रूपं वास्तवं सम्भवति।।३।।

ननु— सत्त्वादिराहित्यस्यातात्त्विकत्वेऽपि सत्त्वादेर्दुर्निरूपत्वमात्रेणानिर्वाच्यत्वे पञ्चमप्रकाराविद्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

पराभिमत सत्त्व और असत्त्व से विशिष्ट जो सत् और असत् है। तादृश सदसद्वैलक्षण्य की उक्ति में पूर्वपक्षी इष्टापत्ति नहीं दे सकता है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा अभिमत प्रपञ्च में सत्त्व और शुक्तिरजत में असत्त्व है। अत: हमारे द्वारा प्रपञ्च में सद्वैलक्षण्य और शुक्तिरजत में असद् वैलक्षण्य रहने पर पूर्वपक्षी इष्टापत्ति नहीं दे सकता है।

शङ्का— माध्वमतानुसार भावाभावात्मक सत्त्वासत्त्व परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक का निषेध करने पर दूसरे की विधि में पर्यवसान हो जाता है। अत: एक ही प्रपञ्च रूप अधिकरण में उभय का वैलक्षण्य अर्थात् सद् वैलक्षण्य और असद्वैलक्षण्य मानने पर सत्त्व और असत्त्व को एक ही प्रपञ्चरूप अधिकरण में मानने पर विरोध होगा।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मतानुसार यद्यपि एक ही स्थल पर वास्तविक रूप से सत्त्व का अभाव और असत्त्व का अभाव नहीं रह सकता है किन्तु अतात्त्विकरूप से एक स्थल पर रह ही सकता है। अत: व्याघातदोष नहीं हो सकता है। जैसे अतात्त्विक रजत के साथ शुक्ति का विरोध नहीं होता है। अर्थात् जो वस्तु शुक्ति है, वह वास्तविक रजत तो हो नहीं सकती है, किन्तु अतात्त्विक (मिथ्या) रजत होने में कोई विरोध नहीं होता है। तर्हि= जब निषेध का समुच्चय अतात्त्विक है, तब प्रपञ्च में सद् वैलक्षण्य और असद् वैलक्षण्य वास्तविक नहीं है। अत: प्रपञ्च में सद्वैलक्षण्य और असद्वैलक्षण्य कहने का क्या प्रयोजन है? अर्थात् अतात्त्विक सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव सत्त्व और असत्त्वरूप अधिकरण में पूर्वपक्षी के मत में भी मान्य है तब सदसद्वैलक्षण्य की उक्ति व्यर्थ है। ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि सदसद्वैलक्षण्य की उक्ति व्यर्थ नहीं है, क्योंकि सत्त्वाभाव का प्रतियोगी सत्त्व और असत्त्वाभाव का प्रतियोगी असत्त्व में ''स्वान्यूनसत्ताकस्य स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावरूप प्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व के बोधन के लिए सदसद्वैलक्षण्य की उक्ति है। [इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मत में प्रपञ्च में सत्त्वादि के अभाव में तात्त्विकत्व ही मानना होगा, क्योंकि प्रपञ्च में सत्त्वादि के अभाव को अतात्त्विक मानने पर प्रपञ्च में सत्त्वाभाव का अभाव अर्थात् तात्त्विक सत्त्वादि के मानने की आपत्ति होगी। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] जो प्रपञ्च स्वरूपत: मिथ्या है। उस मिथ्यारूप प्रपञ्च के अधिष्ठान से अन्य सत्त्वादिरूप वास्तविक नहीं हो सकता है।।३।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्व का अभाव और असत्त्व का अभाव अतात्त्विक होने पर भी यदि प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्वादिकों के दुर्निरूपत्व (मिथ्यात्व) मात्र के कारण प्रपञ्च को अनिर्वाच्यत्व माना जाता है, तब पञ्चम प्रकारात्मक अविद्या निवृत्ति में ''अविद्या की निवृत्ति भी अनिर्वाच्य नहीं है।'' इस प्रकार से अनिर्वाच्यत्व का निषेध नहीं करना चाहिए। अर्थात् जब प्रपञ्च का सत्त्वेन या असत्त्वेन निरूपण नहीं हो पाता है तब प्रपञ्चगत अनिर्वाच्यत्व माना जाता है। इसी प्रकार पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति का भी ''न सत्त्वेन, न असत्त्वेन'' इस प्रकार से सत्त्वादि के रूप से निरूपण नहीं माना जाता है। अत: पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति में भी अनिर्वाच्यत्व का

निवृत्तौ 'नानिर्वाच्योऽपि तत्क्षयः' इति अनिर्वाच्यत्वनिषेधायोगः, सत्त्वादिवत्तद्राहित्यस्याप्यतात्त्विकत्वे सत्त्वादौ प्रमाणनिरासेन तद्राहित्ये तदुक्त्ययोगः, अविरोधाय विधिसमुच्चयस्यैवातात्त्विकत्वस्वीकारश्चेति चेन्न; पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिपक्षे नैतत्त्रितयविलक्षणत्वमात्रमनिर्वाच्यत्वम्, किन्तु मुक्तिकालानवस्थायित्वसहितम्। तथा च मुक्तिकालावस्थायिन्यामविद्यानिवृत्तौ अनिर्वाच्यत्वनिषेधो युज्यते। सत्त्वादिराहित्ये तु अबाधितार्थविषयकप्रमाणोक्तिर्नास्त्येव ज्ञापकमात्रोक्तिः। तदंशेऽसाधारण्यतो वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्था। अतात्त्विकविधिसमुच्चयापत्तिस्त्विष्टैव। न ह्यतात्त्विकसत्त्वासत्त्वे निषेधसमुच्चयेऽपि विरुध्येते। यत्तु विधिसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वपक्षे भ्रान्तिबाधव्यवस्था न स्यादित्युक्तम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

निषेध नहीं होना चाहिए और प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्वादि के समान सत्त्वादि का अभाव भी अतात्त्विक (मिथ्या) है। अतः अतात्त्विक होने से प्रपञ्चनिष्ठसत्त्वादि में प्रमाणाभाव कहा गया तब अतात्त्विक होने से प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्वादि के अभाव में भी प्रमाण नहीं कहना चाहिए अपितु प्रमाणाभाव ही कहना चाहिए। प्रमाणाभाव स्वीकार करने पर प्रपञ्च में सत्त्वाभाव का अभाव=सत्त्व और असत्त्वाभाव का अभाव= असत्त्व मानना पड़ेगा। ऐसा स्वीकार करने पर विरोध होगा। अतः सिद्धान्ती को सत्त्व और असत्त्व में अविरोध आपदान के लिए विधिरूप सत्त्व और असत्त्व का अतात्त्विक समुच्चय स्वीकार कर लेना चाहिए। जैसे सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव रूप निषेधों का अतात्त्विक समुच्चय सिद्धान्ती स्वीकार करते हैं।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति पक्ष में सद्विलक्षण, असद्विलषण और सदसद्विलक्षण इन तीनों मात्र को अनिर्वचनीय नहीं कहते हैं, अपितु मुक्तिकालानवस्थायित्व सहित उक्त त्रितयविलक्षणत्व को अनिर्वाच्यित्व कहा जाता है। अर्थात् ''मुक्तिकालानवस्थायित्वे सति सद्विलक्षणत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वे सति सदसदुभयविलक्षणत्वमनिर्वाच्यत्वम्।'' इस प्रकार का अनिर्वचनीयता का लक्षण होने से मुक्तिकाल अवस्थायी पञ्चमप्रकारक अविद्यानिवृत्ति में अनिर्वचनीयता का निषेध करना आवश्यक है, क्योंकि अविद्या निवृत्ति को मोक्ष मानने वाले अविद्या निवृत्ति में अनिर्वचनीयता (मिथ्यात्व) नहीं मानते हैं। सत्त्वादि के अभाव में जो प्रमाण दिया जाता है। वह अबाधितार्थविषयकत्वरूप पारमार्थिक प्रमाण नहीं है किन्तु व्यावहारिक प्रमाण है। इस प्रकार व्यावहारिक सत्त्वादि के अभाव का साधक जो व्यावहारिक अनुमानादि प्रमाणों का कथन किया गया है। वह व्यावहारिक सत्त्वाभावादि अंश में असाधारणी है। अर्थात् व्यावहारिक सत्त्वाभावादि अंश को सूचित करने मात्र के लिए दिया है। इससे वादिगणों की विप्रतिपत्ति (प्रपञ्च सत् है या प्रपञ्च असत् है—इत्यादि रूप विप्रतिपत्ति) का निरास हो जाता है। अर्थात् उक्तार्थ विषयक प्रमाण वादियों की सत्त्वादिविषयक विप्रतिपत्ति के निराश के लिये दिये गये हैं। पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चनिष्ठ विधिरूप सत्त्व और असत्त्व के समुच्चय की जो स्वीकारापत्ति दी गयी थी। उसमें हमें इष्टापत्ति है,क्योंकि सत्त्व और असत्त्व का अतात्त्विक समुच्चय सत्त्व और असत्त्व के निषेध समुच्चय का विरोधी नहीं होता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि विधिसमुच्चय के अतात्त्विकत्व पक्ष में भ्रान्ति और बाध की व्यवस्था नहीं बन पायेगी। अर्थात् सत्त्वादि को और सत्त्वादि अभाव को अतात्त्विक मानने पर सत्त्वादि की धी भ्रान्ति है और सत्त्वादि के अभाव की धी बाध है—ऐसी व्यवस्था नहीं बन पायेगी, क्योंकि अतात्त्विक का बाध तात्त्विकाभावधीरूप होता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सत्त्वादि के अतात्त्विकत्व होने से ही अतात्त्विकसत्त्वादिविषयकत्वेन सत्त्वादिविषयक ज्ञान में भ्रान्तित्व की उपपत्ति हो जायेगी। (जैसे रजत के अतात्त्विक होने से

तन्न, अतात्त्विकत्वादेव भ्रान्तेर्बाधस्य सत्त्वप्रतिषेधस्याप्रतिक्षेपात् सत्त्वस्यातात्त्विकत्वाच्च तदुपपत्तेः।।४।।

ननु निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वं किमुभयातात्त्विकत्वाद्वा? एकैकातात्त्विकत्वाद्वा? नाद्यः, उभयतात्त्विकत्ववदुभयातात्त्विकत्वस्यापि विरुद्धत्वात्, विधिसमुच्चयस्य तात्त्विकत्वापाताच्च, एकैकप्रतियोगितात्त्विकत्वापत्तेरेव न द्वितीयोऽपि, तात्त्विकात्यन्ताभावप्रतियोगिन एव अतात्त्विकत्वादिति चेन्न, उभयातात्त्विकत्वादेव निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वम्। न चोभयतात्त्विकवदुभयातात्त्विकत्वमप्येकत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतात्त्विक रजत विषयकज्ञान को भ्रमज्ञान माना जाता है।) इसी प्रकार सत्त्व का अभाव बाध का विरोधी नहीं होता है, क्योंकि सत्त्व अतात्त्विक है। इसलिए बाध की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् अतात्त्विक सत्त्व का अभाव होने से बाध की उपपत्ति हो जायेगी। जैसे अतात्त्विक रजत का अभाव होने से बाध की उपपत्ति हो जाती है।।४।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्व निषेध और असत्त्व निषेध का जो समुच्चय है, उसमें सिद्धान्ती अतात्त्विकत्व मान रहे हैं। वह क्या सत्त्व निषेध और असत्त्वनिषेध उभय के अतात्त्विकत्व होने के कारण मान रहे हैं? अथवा एक—एक निषेध (सत्त्वनिषेध अथवा असत्त्वनिषेध) के अतात्त्विकत्व होने के कारण मान रहे हैं? प्रथम पक्ष उचित नहीं है क्योंकि जैसे एक ही धर्मी में तात्त्विक सत्त्वाभाव और तात्त्विक असत्त्वाभाव का रहना विरुद्ध माना जाता है, ठीक वैसे ही एक ही धर्मी में अतात्त्विकसत्त्वाभाव और अतात्त्विक असत्त्वाभाव का रहना भी विरुद्ध माना जाता है। दूसरी बात यह है कि सत्त्वाभाव को अतात्त्विक मानने पर सत्त्वाभावाभाव=सत्त्व की सिद्धि और असत्त्वाभाव को अतात्त्विक मानने पर असत्त्वाभावाभाव=असत्त्व की सिद्धि होने से एक ही धर्मी में सत्त्व और असत्त्व के समुच्चय को तात्त्विक मानने की आपत्ति होगी। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव को एक—एक करके अतात्त्विक मानने पर सत्त्वाभाव के प्रतियोगी सत्त्व और असत्त्वाभाव के प्रतियोगी असत्त्व को तात्त्विक मानना पड़ेगा, क्योंकि तात्त्विक निषेध के प्रतियोगी को अतात्त्विक और अतात्त्विक निषेध के प्रतियोगी को तात्त्विक माना जाता है।

समाधान—पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्वनिषेध और असत्त्वनिषेध दोनों के अतात्त्विक होने के कारण ही निषेध समुच्चयगत अतात्त्विकत्व माना जाता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि एकत्र दो विरोधी पदार्थों रहना विरुद्ध है। इसलिए जैसे एकाधिकरण में दोनों निषेधों को तात्त्विक नहीं माना जाता है, ठीक वैसे ही एकाधिकरण में दोनों निषेधों को अतात्त्विक भी नहीं माना जा सकता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि जहां एक ही वल्मीक में देवदत्त को स्थाणुत्व का भ्रम हो रहा है और चैत्र को पुरुषत्व का भ्रम हो रहा है, वहां पर एक ही बल्मीक (बॉबी) रूप अधिकरण में स्थाणुत्व और पुरुषत्व रूप दोनों अतात्त्विक धर्मों का समुच्चय देखा जाता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि उन दो अतात्त्विक धर्मों का एकाधिकरण में रहना विरुद्ध है जो दो अतात्त्विक धर्म परस्पर विरह रूप हो। प्रकृत में सत्त्वाभाव=असत्त्व और असत्त्वाभाव=सत्त्व। इस प्रकार से ये दोनों परस्पर विरह रूप हैं। अतः अतात्त्विक सत्त्वाभाव और अतात्त्विक असत्त्वाभाव दोनों एकत्र नहीं रह सकते हैं। सिद्धान्ती ने जो बल्मीक में स्थाणुत्व और पुरुषत्व का समुच्चय दिखलाया था। वह स्थाणुत्व और पुरुषत्व परस्पर विरहरूप नहीं है। अतः उनको दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि एक ही तन्तु में किसी को घट का भ्रम और किसी को घट के प्रागभाव का भ्रम हो रहा है। ऐसे स्थल पर घट और घटप्रागभाव परस्पर विरहरूप है, क्योंकि घट का अभाव=घटप्रागभाव और घटप्रागभाव का अभाव=घट है और एक ही

विरुद्धम्, वल्मीकादावेकत्र स्थाणुत्वपुरुषत्वयोरतात्त्विकत्वदर्शनात्। न च परस्परविरहरूपयोरेकत्रो– भयोरतात्त्विकत्वं विरुद्धम्, एकत्र तन्त्वादौ घटतत्प्रागभावयोरुभयोरपि अतात्त्विकत्वदर्शनात्। न च प्रतियोगितदत्यन्ताभावयोरेवायं नियमः नियामकाभावादस्माकमसम्प्रतिपत्तेः।।५।।

वस्तुतस्तु सत्त्वासत्त्वयोर्न परस्परविरहरूपत्वम्, किन्तु परस्परविरहव्याप्यतामात्रम्। न च तादृशपारिभाषिकसदसद्वैलक्षण्योक्तौ नास्माकमनिष्टमिति वाच्यम्, सत्त्वमबाध्यत्वम्, असत्त्वं सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वम्, तदुभयवैलक्षण्यं च तव जगत्यसंप्रतिपन्नमिति कथमिष्टापत्त्यवकाशः? इष्टापत्तौ च कथं न मतक्षतिः? अत एव ध्वंसानुपलक्षिततदुपलक्षितसत्तायोगित्वरूपनित्यत्वानित्यत्वयोः सत्ताहीने

सत्यानन्दप्रबोधिका

तन्तु रूप अधिकरण में रह रहे हैं और अतात्त्विक भी है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रतियोगी और प्रतियोगी के प्रागभाव से भिन्न प्रतियोगी और प्रतियोगी के अत्यन्ताभाव स्थल पर ही यह नियम माना जाता है कि परस्पर विरह रूप जो दो पदार्थ उन दो पदार्थों का एकाधिकरण में अतात्त्विक रूप से रहना विरुद्ध है। ऐसा भी पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे घट और घट का अत्यन्ताभाव का एकत्र रहना विरुद्ध है, वैसे ही एक ही समय में एकत्र घट और घट का प्रागभाव का रहना भी विरुद्ध है। अतः प्रागभाव के लिए उक्त नियम नहीं लगेगा और अत्यन्ताभाव के लिए उक्त नियम लगेगा– ऐसा मानने में कोई तर्क नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा कथित नियम में हमारी सम्मति नहीं है।।५।।

पीछे खण्ड संख्या ३ में सिद्धान्ती ने समाधान देते हुए कहा था कि ''पराभिमतसत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते.....'' अर्थात् पूर्वपक्षी के मतानुसार जो सत्त्व और असत्त्व है उसको मानकर समाधान दिया था। अब अद्वैतवेदान्तमत के अनुसार समाधान देते हुए कह रहे हैं कि अद्वैत सिद्धान्त में वस्तुतः सत्त्व (त्रिकालाबाध्यत्वमं सत्त्वम्) और असत्त्व (क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्वमसत्त्वम्) में परस्पर विरह रूपता नहीं मानी जाती है, अपितु गोत्व और अश्वत्व के जैसे परस्परविरहव्याप्यत्व मात्र माना जाता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती के द्वारा कथित लक्षण वाले सत्त्व और असत्त्व को मानकर प्रपञ्चगत सदसद्वैलक्षण की उक्ति से भी माध्वमत में कोई क्षति नहीं होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व और सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूप असत्त्व। इन दोनों का वैलक्षण्य प्रपञ्च में पूर्वपक्षी नहीं मानता है। अतः पूर्वपक्षी को इष्टापत्ति कहने का अवसर ही प्राप्त नहीं है। यदि पूर्वपक्षी इष्टापत्ति कहता है तब तो पूर्वपक्षी के मत की ही हानि हो जायेगी। अत एव = सिद्धान्तमत के अनुसार सत्त्व और असत्त्व का लक्षण मानने पर जैसे कोई अनुपपत्ति नहीं होती है, ठीक वैसे ही, ध्वंसाप्रतियोगिवृत्तित्व विशिष्ट जो सत्ता तादृशसत्तायोगित्वरूप नित्यत्व (अर्थात् जिसका ध्वंस नहीं होता है उसमें रहने वाली सत्ता से युक्त को नित्य कहा जाता है।) और ध्वंसप्रतियोगिवृत्तित्वविशिष्ट जो सत्ता तादृशसत्तायोगित्व अनित्यत्व है। (अर्थात् जिसका ध्वंस होता है। उसमें रहने वाली सत्ता से युक्त को अनित्य कहा जाता है।) ऐसे नित्य और अनित्य का अभाव जैसे सत्ता से रहित सामान्यादि में रहता है, क्योंकि लक्षण घटक सत्तायोगित्व सामान्यादि में रहता नहीं है, ठीक वैसे ही उत्तरावधिराहित्य=ध्वंसाप्रतियोगित्व रूप नित्यत्व। [पटादि वस्तु की पूर्व अवधि पटादि वस्तु का प्रागभाव होता है और उत्तर अवधि पटादि वस्तु का ध्वंस होता है। अतः उत्तर अवधि से राहित्य का अर्थ हुआ–ध्वंसाप्रतियोगित्व। अद्वैत सिद्धान्त में ''अतोऽन्यदार्तम्'' इस श्रुति के अनुसार आत्मा से भिन्न समस्त अनात्म पदार्थ विनाशी माने जाते हैं। अतः उसमें ध्वंसाप्रतियोगित्व रूप नित्यत्व का लक्षण नहीं माना जाता है।] और भाव से भिन्न जो निवृत्ति उस निवृत्ति का प्रतियोगित्व अनित्यत्व है। [अर्थात् जब निवृत्ति भाव= अधिकरण रूप न होती हो अर्थात्

सामान्यादावभाववदुत्तरावधिराहित्यं नित्यत्वं, भावान्यनिवृत्तिमत्त्वं चानित्यत्वम्, तदुभयाभावः प्रागभाव इव शुक्तिरूप्यादौ (क्वचिद् रूप्यादौ) मिथ्याभूते सत्त्वासत्त्वयोरभावः स्यादित्याहुः, उक्तसत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहव्याप्यत्वेऽपि परस्परविरहानात्मकत्वाद्, उक्तनित्यत्वानित्यत्ववत्।।६।।

ननु—इदं नित्यत्वानित्यत्वयोर्मिलितयोर्व्यतिरेकः सामान्ये प्रागभावे चास्तीत्युक्तम्(तद्)अयुक्तम्, नित्यत्वस्य सामान्यानुगतध्वंसाप्रतियोगितत्वरूपत्वाद्, अनित्यत्वस्य च (प्रागभावानुगततत्प्रति—योगित्वरूपत्वात्) प्रागभावस्यापि प्रतियोग्येव ध्वंसः, भावस्यैवाभावो निवृत्तिः, अभावस्य तु भाव एवेति स्वीकारात्। ध्वंसोपलक्षितानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपनित्यत्वानित्यत्वयोरेकत्र सामान्यादौ भाववदेकत्र सत्त्वासत्त्वे स्यातामित्यपि स्यादिति चेन्न, नहि वयं दृष्टान्तमात्रेण सत्त्वासत्त्वव्यतिरेकयोरेकत्र स्थितिं

सत्यानन्दप्रबोधिका

जब निवृत्ति अभाव रूप ही रहती हो। उस निवृत्ति का प्रतियोगी जो होगा, वह अनित्य होगा।] इस इस प्रकार के नित्यत्व और अनित्यत्व का अभाव जैसे प्रागभाव में रहता है। [क्योंकि प्रागभाव में ध्वंसाप्रतियोगित्व नहीं है। अतः प्रागभाव में नित्यत्व का लक्षण नहीं गया और भावान्यनिवृत्तिप्रतियोगित्व प्रागभाव में नहीं है, क्योंकि प्रागभाव की निवृत्ति अभाव रूप नहीं होती है किन्तु भावरूप होती है। अतः प्रागभाव में अनित्यत्व का भी लक्षण नहीं गया।] ठीक वैसे ही मिथ्याभूत शुक्तिरजत में सत्त्व और असत्त्व का अभाव रहता है—ऐसा प्राचीन आचार्यों ने कहा है। अनुपदनिर्दिष्टनित्यत्व और अनित्यत्व जैसे परस्पर विरह रूप न होने पर भी उनमें परस्पर विरह व्याप्यता मानी जाती है ठीक वैसे ही सत्त्व और असत्त्व परस्पर विरहरूप न होने पर भी उनमें परस्पर विरह व्याप्यता मानी जाती है।।६।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्त नित्यत्व और अनित्यत्व का मिलित अभाव सामान्य और प्रागभाव में रहता है—ऐसा जो सिद्धान्ती ने कहा। वह उचित नहीं है, क्योंकि ध्वंसाप्रतियोगित्व रूप नित्यत्व सामान्य में रहता है। अतः सामान्य में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों का अभाव नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार ध्वंसप्रतियोगित्वरूप अनित्यत्व प्रागभाव में रहता है। अतः प्रागभाव में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों का अभाव नहीं माना जा सकता है। पटादि के प्रागभाव का ध्वंस पटादि प्रतियोगी का स्वरूप माना जाता है। अतः उसे निवृत्ति शब्द से नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि भाव के अभाव को निवृत्ति कहते हैं और अभाव के अभाव को भाव कहते हैं। ध्वंसोपलक्षितसत्ताराहित्य रूप नित्यत्व सामान्यादि में रहता है, क्योंकि ध्वंसोपलक्षितसत्ताराहित्य=ध्वंसप्रतियोगिवृत्तिसत्ताराहित्य। जाति में जाति मानी नहीं जाती है। अतः ध्वंसप्रतियोगिवृत्तिसत्ता का अभाव नित्य पदार्थ सामान्यादि में रहेगा। इसी प्रकार ध्वंसानुपलक्षितसत्ताराहित्य=ध्वंसाप्रतियोगिवृत्तिसत्ताराहित्य। जाति में जाति मानी नहीं जाती है। अतः ध्वंसाप्रतियोगिवृत्ति सत्ता सामान्यादि में रहेगी नहीं। इस प्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व जैसे सामान्यादि में एकत्र रह जाते हैं, वैसे ही सत्त्व और असत्त्व भी एकत्र रह जायेंगे। ऐसा होने पर सिद्धान्ती ने जो कहा—''शुक्तिरूप्यादौ (क्वचिद्रूप्यादौ) मिथ्याभूते सत्त्वासत्त्वयोरभावः स्यादित्याहुः'' इसका खण्डन हो गया।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हम केवल दृष्टान्त से सत्त्व और असत्त्व इन दोनों के निषेधों की एकत्र (शुक्तिरूप्यादि अथवा प्रपञ्च में) स्थिति को सिद्ध नहीं करते हैं। जिससे कि पूर्वपक्षी के द्वारा पारिभाषिक (कल्पित) ध्वंसोपलक्षितसत्ताराहित्य रूप नित्यत्व और ध्वंसानुपलक्षितसत्ताराहित्य रूप अनित्यत्व इन दोनों के सामान्यादि रूप एकाधिकरण में सद्भाव के दृष्टान्त से सत्त्व और असत्त्व इन दोनों का एकाधिकरण में सत्त्व कहा जाय। [अर्थात् यदि हम केवल दृष्टान्त से सत्त्व और असत्त्व के निषेधों को एकत्र सिद्ध करते तब तो पूर्वपक्षी भी

ब्रूमः, येन ध्वंसोपलक्षितानुपलक्षितसत्ताराहित्यरूपपारिभाषिकनित्यत्वानित्यत्वयोरेकत्र सामान्यादौ सद्भावनिदर्शनेन सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र सत्त्वमुच्येत, किन्तु प्रमाणैः सिद्धे निषेधसमुच्चये सामान्यादिव्यावृत्त–नित्यत्वानित्यत्वयोर्निषेधसमुच्चयं दृष्टान्तयामः। एवं च सामान्याद्यनुगतत्वदुक्तनित्यत्वानित्यत्व–योर्निषेधसमुच्चयस्यादृष्टान्तत्वेऽपि न क्षतिः। अत एवोक्तमध्यस्ते नित्यत्वानित्यत्वयोरिव सत्त्वासत्त्वयोरप्यभावौ न विरुद्धौ, धर्मिण एव कल्पितत्वेन विरुद्धयोरपि धर्मयोरभावादिति।।७।।

न चैवं कल्पितस्यानित्यत्वाभ्युपगमविरोधः, तात्त्विकानित्यत्वाभावेऽपि धर्मिसमसत्ताकानित्य–त्वसत्त्वेनाभ्युपगमे विरोधाभावात्। न च कल्पितत्वहेतोर्विरुद्धधर्माभावरूपसाध्यस्य च भावाभावाभ्यां

सत्यानन्दप्रबोधिका

केवल दृष्टान्त से स्वकल्पित नित्यत्व और अनित्यत्व के लक्षणों का एकाधिकरण में सत्त्व कह सकता था, किन्तु हम केवल दृष्टान्त के बल पर सत्त्व और असत्त्व के अभावों की एकत्र स्थिति सिद्ध नहीं करते हैं,] किन्तु प्रमाणों के बल पर सत्त्व निषेध और असत्त्व निषेध का समुच्चय शुक्तिरूप्यादि में सिद्ध हो जाने पर सामान्यादि में न रहने वाले नित्यत्व और अनित्यत्व के निषेधों के समुच्चय को दृष्टान्त के रूप से प्रदर्शित करते हैं। [कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी ने दृष्टान्त के बल पर प्रपञ्च में सत्त्व और असत्त्व सिद्ध किया। अर्थात् दृष्टान्त (सामान्यादि) में नित्यत्व और अनित्यत्व जैसे रहता है, वैसे ही प्रपञ्च में भी सत्त्व और असत्त्व रहेगा, किन्तु हमने केवल दृष्टान्त के बल पर प्रपञ्चादि में सत्त्वनिषेध और असत्त्वनिषेध के समुच्चय को सिद्ध नहीं किया, किन्तु प्रमाणों के बल पर सिद्ध किया है। जैसे प्रपञ्चगत सत्त्व नहीं है क्योंकि प्रपञ्चगत बाध्यत्व है और प्रपञ्चगत असत्त्व नहीं है, क्योंकि प्रपञ्चगत सत्त्वेन प्रतीयमानत्व है। इस प्रकार प्रपञ्च में सत्त्व और असत्त्व दोनों का अभाव सिद्ध होने पर हमने दृष्टान्त दिया कि नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों के अभाव का समुच्चय सामान्य–प्रागभाव में मिलता है। अतः पूर्वपक्षी प्रमाण न देकर केवल दृष्टान्त से जो सिद्ध कर रहा है वह पक्ष मान्य नहीं है।] एवं च= जब प्रमाणों के बल पर सत्त्व और असत्त्व के अभावों का समुच्चय शुक्तिरूप्यादि और प्रपञ्च में सिद्ध हो जाता है तब, पूर्वपक्षी के द्वारा कथित सामान्याद्यनुगत नित्यत्व और अनित्यत्व के अभावों के समुच्चय का दृष्टान्त न बन पाने पर भी कोई क्षति नहीं होगी। इसलिए यह उचित ही कहा गया है कि जैसे कल्पित पदार्थ रज्जुसर्पादि में नित्यत्व का अभाव और अनित्यत्व का अभाव रहने में कोई विरोध नहीं होता है ठीक वैसे ही कल्पित प्रपञ्चादि में सत्त्व का अभाव और असत्त्व का अभाव रहने में भी कोई विरोध नहीं होता है, क्योंकि धर्मी (रज्जुसर्पादि और प्रपञ्च) ही जब कल्पित है तब उसमें विरुद्ध धर्म (नित्यत्व और अनित्यत्व, सत्त्व और असत्त्व धर्म) का अभाव रहेगा ही।।७।।

शङ्का– एवम्= अध्यस्त पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों का ही अभाव स्वीकार करने पर, अध्यस्त पदार्थ में नित्यत्व का अभाव मानना उचित होने पर भी अध्यस्त पदार्थ में अनित्यत्व का अभाव मानने पर विरोध होगा, क्योंकि सिद्धान्ती स्वयम् ही कल्पित पदार्थ में अनित्यत्व स्वीकार करते हैं।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अध्यस्त पदार्थ में तात्त्विक अनित्यत्व का अभाव होने पर भी धर्मिसमसत्ताक अनित्यत्व (धर्मी=अध्यस्त पदार्थ के समान सत्तावाला अनित्यत्व अर्थात् काल्पनिक अनित्यत्व) सिद्धान्तमत में स्वीकार किया जाता है। अतः स्वाभ्युपगम विरोध नहीं होगा।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने शुक्तिरूप्यादि अध्यस्त पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व रूपविरुद्ध धर्म का तात्त्विक अभाव माना है। अतः सिद्धान्ती के कथनानुसार अनुमान का

व्याघात इति वाच्यम्, अतात्त्विकहेतुसद्भावेन तात्त्विकधर्माभावस्य साधनेन व्याघाताभावात्। अत एव ''स्वरूपतो दुर्निरूपस्य न किञ्चिदपि रूपं वास्तवं सम्भवति'' इति प्राचामुक्तिरपि सङ्गच्छते, व्यावहारिकेणैव दुर्निरूपत्वेन हेतुना व्यावहारिकवास्तवरूपाभावस्य साधनात्। अत एव दुर्निरूपत्वरूप–हेतोर्वास्तवरूपाभावसाध्यस्य चातात्त्विकत्वेऽसिद्धिबाधौ तात्त्विकत्वे व्याघात इति निरस्तम्, धर्मिसम–सत्ताकहेतुसाध्यादिसत्त्वेनासिद्ध्याद्यभावात्, तात्त्विकहेत्वाद्यभावाच्च न व्याघातः, स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं च कल्पितत्वमेव।।८।।

एतेन किमिदं स्वरूपतो दुर्निरूपत्वं केनापि प्रकारेण वा? केनापि दुर्निरूपत्वमित्येतदन्यप्रकारेण

सत्यानन्दप्रबोधिका

आकार होगा–शुक्तिरूप्यं तात्त्विकत्वेन नित्यत्वानित्यत्वादिविरुद्धधर्मस्याभाववत्, कल्पितत्त्वात्। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि पक्ष में हेतु है तब तो तादृशहेतुमत्त्वेन उसका निर्वचन हो सकता है। अतः उसमें अनिर्वचनीयत्व मानने पर व्याघातदोष होगा। यदि पक्ष में हेतु नहीं है तब स्वरूपासिद्धिदोष होगा। इसी प्रकार पक्ष में यदि साध्य रहता है तब तद्वत्त्वेन पक्ष =अध्यस्तशुक्तिरूप्यादि का निर्वचन हो सकता है। अतः उसमें अनिर्वचनीयत्व मानने पर व्याघातदोष होगा। यदि पक्ष में साध्य नहीं रहता है तब बाधदोष होगा।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अतात्त्विक हेतु के पक्ष में रहने के द्वारा पक्ष में विरुद्धधर्मों के तात्त्विक अभाव की सिद्धि करने पर व्याघातदोष नहीं होता है। [अर्थात् अतात्त्विक हेतु के पक्ष में रहने पर तादृशहेतुमत्त्वेन पक्ष=अध्यस्त पदार्थ का निर्वचन होने पर भी सिद्धान्तमत में कोई क्षति नहीं होती है, क्योंकि ऐसा निर्वचन मिथ्यात्व का विरोधी नहीं है। अर्थात् सत्त्वेन या असत्त्वेन या सत्त्वासत्त्वेन निर्वचन मिथ्यात्व का विरोधी होता है। इसी प्रकार पक्ष में साध्य के रहने पर तादृशसाध्यवत्त्वेन पक्ष का निर्वचन होने पर भी सिद्धान्त मत में कोई क्षति नहीं है,क्योंकि ऐसा निर्वचन मिथ्यात्व का विरोधी नहीं होता है।] अत एव = पक्ष में उक्तविध हेतु और साध्य के सद्भाव के विवक्षित होने से ही, ''स्वरूपतः दुर्निरूप का कुछ भी वास्तविक रूप सम्भव नहीं होता है।''– यह प्राचीन आचार्यों का कथन भी चरितार्थ हो जाता है, क्योंकि ''प्रपञ्चः सत्त्वासत्त्वाभाववान्, दुर्निरूपत्वात्, (अनिर्वचनीयत्वात्) इस अनुमान में व्यावहारिक दुर्निरूपत्व (अनिर्वचनीयत्व) हेतु से ही व्यावहारिक वास्तव रूप (सत्त्व–असत्त्व) का अभाव की सिद्धि की जाती है। इसलिए दुर्निरूपत्वरूप हेतु के अतात्त्विकत्व होने पर असिद्धि और वास्तवरूपाभावरूप साध्य का अतात्त्विकत्व होने पर बाध दोषहोगा। (क्योंकि अतात्त्विक कहीं रहता नहीं है– यह पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।) और उक्त हेतु और साध्य के तात्त्विक होने पर व्याघात होगा, क्योंकि सिद्धान्ती ब्रह्म से अतिरिक्त में तात्त्विकत्व मानते नहीं हैं। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन खण्डित हो गया, क्योंकि धर्मी (पक्ष=अध्यस्तपदार्थ) के समान सत्ता हेतु और साध्य की मानेंगे, ऐसा मानने से असिद्धि और बाधदोष नहीं होगा, क्योंकि अतात्त्विक धर्मी में अतात्त्विक हेतु और साध्य रह ही सकता है। हेतु और साध्य के तात्त्विक न होने से उक्त प्रकार से पूर्वपक्षी व्याघातदोष नहीं दे सकता है और यहां स्वरूपतः दुर्निरूपत्व का अर्थ कल्पितत्व ही करना चाहिए।।८।।

शङ्का–एतेन निरस्तम्–ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन का अर्थ है–कल्पितत्त्व ही स्वरूपतः दुर्निरूपत्व होने से। पूर्वपक्षी का कथन है कि ''प्रपञ्चः अतात्त्विकः, स्वरूपतो दुर्निरूपत्वात्,'' इस अनुमान के हेतु स्वरूपतः दुर्निरूपत्व का क्या अर्थ है? केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व? अर्थात् किसी भी प्रकार से जिसका निरूपण न हो सकता हो? अथवा केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व से अन्य जो

वा? सत्त्वासत्त्वाभ्यां वा? नाद्यः, केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्यनेन प्रकारेण दुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वाभ्यां व्याघातात्। अत एव न द्वितीयः, केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वमित्येतदन्यप्रकारेण दुर्निरूपत्वस्य केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वा(न)न्यत्वात्, मिथ्यात्वादिना कल्पितस्य सुनिरूपत्वाच्च। न तृतीयः, तस्य सदसद्वैलक्षण्यावास्तवत्वाहेतुत्वादिति निरस्तम्, तृतीयपक्षस्य क्षोदसहत्वाच्च। तथा हि सत्त्वासत्त्वाभ्यां

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रकार उस प्रकार से दुर्निरूपत्व? अथवा सत्त्व और असत्त्व रूप से जिसका निरूपण नहीं हो सकता हो? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है,क्योंकि ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वम्'' इस प्रकार से यदि प्रपञ्च दुर्निरूप है तब तो प्रपञ्च में स्वरूपतः दुर्निरूपत्व भी नहीं रह सकता है, क्योंकि स्वरूपतः दुर्निरूपत्व भी एक प्रकार है। अर्थात् केनापि से जब सभी प्रकारों का निषेध किया गया तब स्वरूपतः दुर्निरूपत्व प्रकार भी नहीं रह पायेगा। जबकि सिद्धान्ती पक्ष (प्रपञ्च) में स्वरूपतः दुर्निरूपत्व (हेतु) मान रहे हैं। अतः व्याघातदोष होगा। यदि ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वम्'' इस प्रकार से प्रपञ्च दुर्निरूप नहीं है तब तो प्रपञ्च सुनिरूप हो जायेगा, क्योंकि दुर्निरूप का अभाव सुनिरूप होता है। ऐसा होने से प्रपञ्चगत दुर्निरूपत्व का अभाव सुनिरूपत्व के सिद्ध होने से व्याघातदोष होगा, अत एव द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता है। अत एव के अर्थ को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व '' इसप्रकार से अन्य जो प्रकार उस प्रकार से जो दुर्निरूपत्व, उस दुर्निरूपत्व में ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व'' से अन्यत्व होने से फलतः ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व'' इस प्रकार से सुनिरूपत्व होने से व्याघात है। [केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वान्यत्वात्'' के स्थान पर ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्वानन्यत्वात्'' ऐसा पाठान्तर है। इसके अनुसार अर्थ होगा कि घटत्वान्यप्रकारेण दुर्निरूपत्व जैसे घटत्व में पर्यवसित होता है, ठीक वैसे ही ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व से अन्य प्रकारेण दुर्निरूपत्व भी केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व इस प्रकार से सुनिरूपत्व में पर्यवसित हो जायेगा। ऐसा होने पर व्याघात होगा।] दूसरी बात यह भी है कि ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व'' इस प्रकार से भिन्न मिथ्यात्वादि रूप से कल्पित का जब निरूपण हो रहा है तब ''केनापि प्रकारेण दुर्निरूपत्व से अन्य प्रकार से दुर्निरूपत्व कहने पर इस द्वितीय पक्ष में व्याघातदोष होता है। तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि सत्त्वासत्त्व से दुर्निरूपत्व सदसद्वैलक्षण्यगत अवास्तवत्व में हेतु नहीं हो सकता है। [कहने का भाव यह है कि सिद्धान्ती ने खण्ड संख्या ३ में कहा था कि ''निषेधसमुच्चयस्यातात्त्विकत्वाङ्गीकारात्।'' अर्थात् सिद्धान्ती सदसद्वैलक्षण्य में अवास्तविकत्व है—यह मान रहे हैं, किन्तु यहां व्याप्ति बन रही है कि ''यत्र यत्र सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वं तत्र तत्र अवास्तविकत्त्वम्।'' इस व्याप्ति के बल पर जिसमें ''सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुनिरूपत्वम्'' रहेगा, उसमें ही अवास्तविकत्व की सिद्धि होगी, किन्तु सदसद्वैलक्षण्य में ''सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वम्'' नहीं रहता है, क्योंकि ''सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वम्'' और सदसद्वैलक्षण्य ये दोनों समानाधिकरण धर्म हैं, क्योंकि शुक्तिरजतादि में ''सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वम्'' है और सदसद्वैलक्षण्य भी है। फलतः शुक्तिरजतादि में सत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्व है और सदसद्वैलक्षण्य भी है। फलतः शुक्तिरजतादि में सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्व है और सदसद्वैलक्षण्य में नहीं है। अतः ''सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वम्'' हेतु के द्वारा सदसद्वैलक्षण्य में अवास्तविकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। यही पूर्वपक्षी के कथन का भाव है।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि तृतीय पक्ष को स्वीकार कर पूर्वपक्षी की सभी शङ्काओं का निराकरण किया जा सकता है। जैसे ''सत्त्वासत्त्वाभ्यां

दुर्निरूपत्वं हि बाधिततद्द्वयकत्वम्। तच्च धर्मविशिष्टधर्म्यताात्त्विकत्वे हेतुः। तथा च सदसद्वैलक्षण्यमपि धर्मस्तदतात्त्विकत्वे कथं न हेतुः स्यात्॥९॥

न च—एवं कल्पितस्य दृश्यादृश्यबाध्याबाध्यदुर्निरूपसुनिरूपत्वादिबहिर्भावोऽपि स्यादिति वाच्यम्, तात्त्विकदृश्यत्वाद्यशेषधर्मबहिर्भावस्य कल्पिते इष्टत्वात्, अतात्त्विकस्य दृश्यत्वादेर्व्यावहारिकप्रमाणैर्यथायथमङ्गीकृतस्यैवमप्यविरोधात्। अदृश्यत्वादिकं तु व्यावहारिकं नास्त्येव। प्रातिभासिकं चैतदप्यङ्गीकुर्म एव। एवं च तार्किकमते संयोगतदभावयोरिव भट्टमते भेदाभेदयोरिव सत्त्वासत्त्वाभावयोरप्यविरोध एव। न च—एवं सत्त्वासत्त्वयोरपि तद्वदेवाविरोधः स्यादिति वाच्यम्, अतात्त्विकयोरविरोधे

सत्यानन्दप्रबोधिका

दुर्निरूपत्वम्'' का अर्थ है बाधित सत्त्वासत्त्वोभयकत्व (बाधित है सत्त्वासत्त्वरूपद्वय जहां उसमें रहेगा—बाधितसत्त्वासत्त्वोभयकत्व) ऐसा बाधिततद्द्वयकत्व रूप हेतु के द्वारा सदसद्वैलक्षण्यरूप धर्म से विशिष्ट शुक्तिरजतादि रूप धर्मी में अतात्त्विकत्व की सिद्धि की जाती है। फलतः उक्त हेतु के द्वारा जब धर्म (सदसद्वैलक्षण्य) विशिष्ट धर्मी (शुक्तिरजतादि) में अतात्त्विकत्व की सिद्धि हो रही है तब धर्म (सदसद्वैलक्षण्य) गत अतात्त्विकत्व की सिद्धि में ''सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वम्'' (बाधिततद्द्वयकत्व) को हेतु अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि यह हेतु जब विशिष्ट में रहता है तब विशेषण में भी रहेगा और यह हेतु जब विशिष्ट में अतात्त्विकत्व की सिद्धि करता है तब विशेषण में भी अतात्त्विकत्व की सिद्धि करेगा। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि ''सत्त्वासत्त्वाभ्यां दुर्निरूपत्वम्'' हेतु के द्वारा केवल धर्मी में ही अवास्तविकत्व की सिद्धि होगी धर्म में नहीं—उसका खण्डन हो गया॥९॥

शङ्का—एवम्—सदसद्वैलक्षण्य धर्म से विशिष्टशुक्तिरजतादि रूप कल्पित धर्मी का जैसे सदसत् से बहिर्भाव है ठीक वैसे ही दृश्य—अदृश्य बाध्य—अबाध्य दुर्निरूपत्व—सुनिरूपत्व से भी बहिर्भाव रहेगा। [कहने का भाव यह है कि यदि कल्पित प्रपञ्चादि में सत्त्व—असत्त्व कुछ भी नहीं रहता है तब उसमें दृश्यत्वादि भी नहीं रहेगा। ऐसा होने पर ''प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'' इत्यादि प्रपञ्चगत मिथ्यात्व साधक अनुमानों में असिद्धि और बाधादि दोष होगा।]

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि तात्त्विक दृश्यत्वादि अशेष धर्मो का अभाव उक्त कल्पित धर्मी में हमें अभीष्ट है किन्तु व्यावहारिक प्रमाणों से यथायोग्य अङ्गीकृत अतात्त्विक (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) दृश्यत्व—बाध्यत्व—दुर्निरूपत्वादि को उक्त कल्पित धर्मी में मानते हैं। ऐसा मानने पर कोई विरोध उपस्थित नहीं होता है। अदृश्यत्व—अबाध्यत्वादि को व्यावहारिक के रूप से उक्त कल्पित धर्मी में नहीं स्वीकार करते हैं किन्तु प्रातिभासिक के रूप से अङ्गीकार करते ही हैं। इस प्रकार से तार्किक मत में जैसे संयोग और संयोगाभाव का और भाट्ट मत में भेद और अभेद का विरोध नहीं माना जाता है ठीक ऐसे ही उक्त कल्पितधर्मी प्रपञ्चादि में सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव का भी विरोध नहीं माना जाता है।

शङ्का— एवम्= जैसे एकाधिकरण में सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव के रहने पर भी विरोध नहीं होता है, ठीक वैसे ही, एकाधिकरण में सत्त्व और असत्त्व के रहने पर भी विरोध नहीं होना चाहिए, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त दोनों में ही समान भावाभावरूपता होती है। जैसे—सत्त्वाभाव=असत्त्व और असत्त्वाभाव=सत्त्व। इसी प्रकार असत्त्व=सत्त्वाभाव और सत्त्व=असत्त्वाभाव।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अतात्त्विक सत्त्व और असत्त्व के अविरोध में हमारी इष्टापत्ति है और सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव का समुच्चय जो हम मानते हैं, वह भी तात्त्विक नहीं मानते हैं। अर्थात् अतात्त्विक मानते हैं। अतः अतात्त्विक निषेध समुच्चय की समानता के बल

इष्टापत्तेः, निषेधसमुच्चयस्यापि तात्त्विकस्यानङ्गीकारेण तत्साम्येन विधिसमुच्चयस्य तात्त्विकस्यापादयितुमशक्यत्वात्। न च तात्त्विकसंयोगतदभावनिदर्शनबलात्तदापादनीयम्, दृष्टान्तेऽपि तात्त्विकत्वासम्प्रतिपत्तेः।।१०।।

ननु—अनिर्वाच्यत्वं सत्त्वासत्त्वादिना विचारासहत्वम्। तच्च न तावत् सत्त्वाद्यनधिकरणत्वम्, असतो ब्रह्मणश्च निर्धर्मकत्वेन तत्रातिव्याप्तेः। न च कल्पितसत्त्वाधिकरणत्वं ब्रह्मण्यपीति वाच्यम्, तस्य जगत्यपि विद्यमानत्वेन तत्राव्याप्तेः। नापि सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वम्, निर्धर्मकब्रह्मणः सत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावेन तुच्छेऽप्यसत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावेन कथञ्चिदतिव्याप्तिनिरासेऽपि तुच्छब्रह्मणोर्निर्धर्मकत्वेन धर्मवत्त्वादेरेवानिर्वाच्यत्वलक्षणत्वापातात्, निर्विशेषत्वश्रुत्यापि व्याघातेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर सत्त्व और असत्त्व के तात्त्विक समुच्चय का आपादान नहीं किया जा सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि संयोग और संयोगाभाव के तात्त्विक समुच्चय को दृष्टान्त बनाकर के उसके बल पर सत्त्व और असत्त्व के तात्त्विक समुच्चय का आपादान करेंगे। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि तार्किकादि सम्मत संयोग और संयोगाभाव के समुच्चयगत तात्त्विकत्व में भी हमारी सम्मति नहीं है किन्तु संयोग और संयोगाभाव एक अधिकरण में रहने से विरोध नहीं होता है—इतने मात्र में हमने उसको दृष्टान्त के रूप से स्वीकार किया है। अतः उस दृष्टान्त के आधार पर भी सत्त्व और असत्त्व का तात्त्विक समुच्चय सिद्ध नहीं किया जा सकता है।।१०।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती अनिर्वाच्यत्व का अर्थ सत्त्वासत्त्वादि से विचारासहत्त्व करते हैं किन्तु (१) सत्त्वासत्त्वादि से विचारासहत्व का अर्थ यदि सत्त्व और असत्त्व का अनधिकरणत्व किया जाता है तब तो बन्ध्यासुतादि अलीक और शुद्धब्रह्म में ऐसे अनिर्वाच्यत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि दोनों ही निर्धर्मक हैं। अतः उनमें कोई भी धर्म न रहने के कारण सत्त्व और असत्त्व धर्म भी नहीं रहेगा। इसलिए सत्त्वाद्यनधिकरणत्व बन्ध्यासुतादि अलीक और शुद्ध ब्रह्म में रहेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि कल्पित जो सत्त्व है, उसका अधिकरणत्व ब्रह्म में भी है। अतः ब्रह्म में सत्वाद्यनधिकरणत्व न होने से अतिव्याप्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि ब्रह्म में कल्पित सत्त्व की अधिकरणता मानकर अतिव्याप्ति का वारण किया जाता है तब तो जगत् में अव्याप्ति हो जायेगी, क्योंकि जगत् में भी कल्पित सत्त्व की अधिकरणता सिद्धान्ती मानते हैं। अतः जगत में सत्वाद्यनधिकरणता की सिद्धि नहीं हो पायेगी। (२) सिद्धान्ती यदि सत्त्वासत्त्वादि से विचारासहत्व का अर्थ सत्त्व और असत्त्व के अत्यन्ताभाव का अधिकरणत्व करते हैं, तब निर्धर्मक ब्रह्म और असत् में सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्व होने से अतिव्याप्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्म में सत्त्व धर्म जैसे नहीं रहता है ठीक वैसे ही सत्त्व का अत्यन्ताभावरूप धर्म भी नहीं रहता है। इसी प्रकार असत् में असत्त्व धर्म जैसे नहीं रहता है, ठीक वैसे ही असत्त्व का अत्यन्ताभावरूप धर्म भी नहीं रहता है। अतः निर्धर्मक ब्रह्म और असत् में अतिव्याप्ति नहीं होगी। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि इस प्रकार से अतिव्याप्ति का निरास होने पर भी तुच्छ और ब्रह्म दोनों निर्धर्मक पदार्थों की व्यावृत्ति और लक्ष्यीभूत प्रपञ्च में समन्वय के लिए अनिर्वाच्यत्व का लक्षण ''सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वम्'' न कहकर ''धर्मवत्त्वमनिर्वाच्यत्वम्'' ऐसा लक्षण करना उचित होगा, क्योंकि ऐसा लक्षण करने पर लाघव होता है और यह लक्षण लक्ष्यीभूत प्रपञ्च में चला जायेगा और असत् तथा ब्रह्म में जायेगा नहीं। दूसरी बात यह है कि ब्रह्म को निर्विशेष कहने वाली श्रुति [निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः (अध्यात्मोपनिषद्—२२)] के द्वारा यह

धर्ममात्रनिषेधायोगेन ब्रह्मणि सत्त्वराहित्ये तदत्यन्ताभावस्य दुर्वारत्वाच्च। नापि सद्रूपत्वाद्यभावः, ब्रह्मणः सत्त्वाभावे सद्रूपत्वाभावेन तत्रातिव्याप्तेः। नापि सत्त्वादेरित्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वम्, ब्रह्मण्यपि सत्त्वस्येत्थमिति निर्वक्तुमशक्यत्वात्। नापि सत्त्वादिना प्रमाणागोचरत्वम्, अखण्डार्थनिष्ठवेदान्तैकवेद्य— ब्रह्मणोऽपि सत्त्वादिप्रकारकप्रमाणागोचरत्वादिति चेत्।।११।।

न, सत्त्वादिना विचारासहत्वं सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वम्। न चातिव्याप्तिः, ब्रह्मणि सत्त्ववत्तदत्यन्ताभावस्याप्यभावात्, अन्यथा निर्विशेषत्वादिश्रुतिविरोधापत्तेः। न च निर्विशेषत्वरूपविशेष—

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्ध होता है कि ब्रह्म में कोई विशेष नहीं रहता है। अर्थात् ब्रह्म में विशेषाभावरूप धर्म रहता है। अतः निर्विशेष का अर्थ करना पड़ेगा कि ब्रह्म में भावरूप कोई धर्म नहीं रहता है किन्तु अभावरूप धर्म रहता है। किन्तु सिद्धान्ती जब ब्रह्म में अभावरूप धर्म नहीं मानेंगे तब निर्विशेष श्रुति का व्याघात होगा, क्योंकि निर्विशेष श्रुति ब्रह्म में विशेषाभावरूप धर्म का प्रतिपादन कर रही है। अतः धर्ममात्र (अर्थात् भावरूपधर्म और अभावरूपधर्म) का निषेध नहीं होता है किन्तु भावरूपधर्म का ही निषेध होता है। इसलिए ब्रह्म में सत्त्व राहित्य=सत्त्व का असंसर्ग होने पर अर्थात् ब्रह्म में सत्त्वरूपभाव धर्म के न रहने पर सत्त्वात्यन्ताभावरूप धर्म रहेगा। इसी प्रकार ब्रह्म में असत्त्वात्यन्ताभाव भी रहेगा। अतः ब्रह्म में अनिर्वाच्यत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। (३) सत्त्वासत्त्वादि से विचारासहत्व का अर्थ सद्रूपत्व और असद्रूपत्व का अभाव भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म में सत्त्व का अभाव होने से सद्रूपत्व भी नहीं रहेगा। (और असद्रूपत्व ब्रह्म में रहता ही नहीं है।) अतः ब्रह्म में अनिर्वाच्यत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। (४) सत्त्वासत्त्वादि से विचारासहत्व का अर्थ सत्त्वादिनिष्ठ इत्थम्—इस रूप से निर्वचन का अशक्यत्व भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि ब्रह्म में भी सत्त्व का इत्थम् रूप से निर्वचन करना अशक्य है। (५) सत्त्वासत्त्वादि से विचारासहत्व का अर्थ सत्त्वादि रूप से प्रमाणागोचरत्व भी नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि निष्प्रकारकत्व का बोधक जो वेदान्त है। तादृश वेदान्तैकवेद्य ब्रह्म में भी सत्त्वादिप्रकारक प्रमाविषयकत्व नहीं रहता है।।११।।

सिद्धान्ती— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सत्त्वासत्त्वादि से विचारासहत्त्व का अर्थ है— सत्त्व और असत्त्व के अत्यन्ताभाव की अधिकरणता। ऐसा लक्षण करने पर ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्म में भावरूप सत्त्व धर्म जैसे नहीं रहता है, वैसे ही सत्त्व का अत्यन्ताभाव रूप विशेषधर्म भी नहीं रहता है। अन्यथा=यदि ब्रह्म में सत्त्वात्यन्ताभाव रूप विशेष धर्म को माना जाता है तब तो धर्ममात्र निषेध बोधक निर्विशेषत्व श्रुतियों से विरोध होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि निर्विशेषत्वरूप जो विशेष है, उस विशेष के सत्त्व से तथा असत्त्व से व्याघात होने के कारण निर्विशेषत्वबोधिका श्रुति अन्यार्थपरा है। [कहने का भाव यह है कि श्रुति प्रतिपादित निर्विशेषत्व (विशेषाभाववत्त्व) ब्रह्म में रहता है? या नहीं? यदि रहता है तब तो एक विशेष (निर्विशेषत्वरूपएक विशेष) के ब्रह्म में रह जाने पर ''ब्रह्म सभी विशेषों से रहित है''— ऐसा अर्थ निर्विशेष श्रुति का करने पर व्याघात होगा। यदि ब्रह्म में निर्विशेषत्वरूप विशेष नहीं रहता है तब जैसे जिसमें घटत्व नहीं रहता, उसको घट नहीं कहा जाता है, ठीक वैसे ही ब्रह्म में निर्विशेषत्व के न रहने पर ब्रह्म को निर्विशेष नहीं कहा जा सकता है। अतः निर्विशेष श्रुति का अर्थ ऐसा करना चाहिए कि ब्रह्म में भावरूप विशेषों (धर्मों) का विरह होने पर भी निर्विशेषत्व रूप अभावात्मक विशेष (धर्म) रहता है। अतः ब्रह्म में सत्त्वाद्यत्यन्ताभाव के रहने से अनिर्वाच्यत्व के

सत्त्वासत्त्वाभ्यां व्याघातेन श्रुतिरन्यापरा, विशेषस्य कल्पितत्वेन तदभावासत्त्वेन (तत्सत्त्वाभावेन=व्याघाताभावात्) स्वाप्नगजतदभाववत्। अत एव सत्त्वराहित्येऽपि तदत्यन्ताभाव आवश्यक—इत्यपास्तम्।

ननु—एवं विशेषवत्त्वम्, धर्मवत्त्वं वा अनिर्वाच्यत्वमस्त्विति चेन्न, आस्तां तावदयं सुहृदुपदेशः। उक्तलक्षणस्य निष्पन्नत्वात्। यद्वा सत्त्वादिना विचारासहत्वं सद्रूपत्वाद्यभावः। सत्त्वरूपधर्माभावेऽपि यथा ब्रह्मणः सद्रूपत्वं तथोपपादितमधस्ताद्, अतो न तत्रातिव्याप्तिः। न च—एवं सदात्मके ब्रह्मणि

सत्यानन्दप्रबोधिका

लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।]

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में विशेषमात्र (भावरूपविशेष और अभावरूपविशेष अर्थात् सभी विशेष) कल्पित होने से विशेषाभावरूप विशेष नहीं रहता है। अतः विशेषाभाव रूप विशेष का सत्त्व न होने से पूर्वपक्षी ने निर्विशेषत्व (विशेषाभाववत्त्व) के सत्त्व प्रयुक्त जो व्याघात दिया था। उस व्याघात का अभाव सिद्ध हो गया। विशेष और विशेषाभाव के एकत्र कल्पितत्व में दृष्टान्त है। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे स्वाप्न गज और गजाभाव दोनों के कल्पित होने से उनका अभाव होता है ठीक वैसे ही ब्रह्म में विशेष और विशेषाभाव—दोनों के कल्पित होने से उनका अभाव होता है। अत एव =ब्रह्म में विद्यमान सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव के कल्पित होने से उनका ब्रह्म में अभाव होने से ही, पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ब्रह्म में सत्त्व का राहित्य होने पर ब्रह्म में सत्त्वात्यन्ताभाव रहेगा। उसका खण्डन हो गया, क्योंकि ब्रह्म में सत्त्वात्यन्ताभाव भी कल्पित है। अतः वह भी नहीं रहेगा।

शङ्का— यदि ब्रह्म और असत् में भावरूप धर्म और अभावरूप धर्म—दोनों ही नहीं रहते हैं तब विशेषवत्त्व (धर्मवत्त्व) को ही अनिर्वाच्यत्व का लक्षण कहना चाहिए।

समाधान— सिद्धान्ती इष्टापत्ति देते हुए कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का यह उपदेश सुहृद्भाव से स्वीकार्य है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित विशेषवत्त्व या धर्मवत्त्व भी अनिर्वाच्यत्व के लक्षण के रूप से निष्पन्न हो सकता है, किन्तु इस प्रकार के लक्षण के द्वारा सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व का लक्षण गतार्थ नहीं होता है, क्योंकि एक ही लक्ष्य के अनेक लक्षण हो सकते हैं। सभी लक्षणों के व्यावर्त भिन्न—भिन्न होते हैं। जैसे प्रकृत में धर्मवत्त्व (विशेषवत्त्व) रूप अनिर्वाच्यत्व का लक्षण ब्रह्म में धर्ममात्र का व्यावर्तक है और सत्त्वाद्यत्यन्ताभावाधिकरणत्वरूप अनिर्वाच्यत्व का लक्षण ब्रह्म में सदसद्रूपत्व का व्यावर्तक है। अतः दोनों ही लक्षण सार्थक हैं। अथवा सदसदादि से विचारासत्त्व का अर्थ सद्रूपत्व और असद्रूपत्व का अभाव भी किया जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि निर्धर्मक ब्रह्म में सत्त्व न होने पर ब्रह्म में सद्रूपत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अतः ब्रह्म में अनिर्वाच्यत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में सत्त्व के न होने पर भी ब्रह्म में सद्रूपत्व रहता है—इस प्रतिपादन द्वितीयमिथ्यात्वविचार के खण्ड संख्या ४९ में किया जा चुका है। अतः ब्रह्म में अनिर्वाच्यत्व के लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि एवम्=ब्रह्म में सद्रूपत्व मानने पर, सदात्मक ब्रह्म में श्रौत सत्यादि पदों का वाच्यार्थत्व ही मानना चाहिए न कि लाक्षणिकत्व।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है,क्योंकि सदात्मक ब्रह्म में सत्त्व धर्म नहीं माना जाता है। इसलिए ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' (छा.उ.६—२—१) इत्यादि श्रुति घटक सदादि पदों की निर्धर्मक

श्रौतसत्यपदादौ लाक्षणिकत्वं न स्यादिति वाच्यम्, सत्त्वधर्मविशिष्टवाचकस्य तस्य निर्धर्मके लक्षणाया आवश्यकत्वात्। नहि निर्धर्मकस्वरूपवाचकत्वं कस्यचिदपि पदस्यास्ति।।१२।।

ननु—सत्त्वादिराहित्यमतात्त्विकमपि न तावत् प्रातिभासिकम्, रूप्यप्रपञ्चयोर्ब्रह्मवत् पारमार्थिकत्वापत्तेः, नापि धर्मिसमसत्ताकम्, बाधबोध्यस्य भ्रान्तिसिद्धेन साम्यायोगात्। नापि व्यावहारिकम्, जगति व्यावहारिकत्वे रूप्ये प्रातिभासिकत्वे चोक्तदोषात्, रूप्ये व्यावहारिकत्वे च

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्म में लक्षणा मानी जाती है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सत् पद का ''सत्त्वधर्मविशिष्ट'' अर्थ वाच्य और निर्धर्मक ब्रह्म लक्ष्यार्थ होता है, क्योंकि प्रवृत्तिनिमित्तभूत धर्म से रहित वस्तुस्वरूप मात्र की वाचकता किसी पद में नहीं मानी जाती है, किन्तु धर्मरहित वस्तुस्वरूप मात्र का बोध लक्षणा के द्वारा ही होता है। [इस पर प्रश्न होता है कि आकाशादि में जाति नहीं मानी जाती है। अत: आकाशादि पदों की वाच्यता आकाशादि में कैसे मानी जाती है? इसका समाधान यह है कि आकाशादि पदों की आकाशादि में वाच्यता जाति को लेकर नहीं मानी जाती है किन्तु शब्दाश्रयत्वादि रूप उपाधि को लेकर मानी जाती है]।।१२।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्वादि के अत्यन्ताभाव को अतात्त्विक मानते हैं। यहां अतात्त्विक शब्द का अर्थ क्या (१) प्रातिभासिक है? या (२) धर्मिसमानसत्ताक है? अथवा (३) व्यावहारिक है? प्रथम पक्ष (प्रातिभासिक) स्वीकार करने पर शुक्तिरजत और प्रपञ्च को ब्रह्म के समान ही पारमार्थिक स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि ब्रह्म में भी प्रातिभासिक सत्त्वाद्यभाव माना जाता है। अत: उससे शुक्तिरजतादि में पारमार्थिकत्व की सिद्धि की जा सकती है। जैसे—शुक्तिरूप्यादिकं पारमार्थिकम्, प्रातिभासिकसत्त्वाद्यभाववत्त्वात्, ब्रह्मवत्। द्वितीय पक्ष (धर्मिसमसत्ताक) को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है,क्योंकि बाध से बोध्य का भ्रान्ति सिद्ध के साथ साम्य का अयोग होता है। [अर्थात् धर्मी=शुक्तिरजतादि की सत्ता प्रातिभासिक है। अत: शुक्तिरजतादि में रहने वाले सत्त्वाद्यभाव को प्रातिभासिक मानना पड़ेगा, किन्तु यह सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि शुक्तिरजतादि भ्रान्तिज्ञान से बोधित है और शुक्तिरजतादि निष्ठ सत्त्वाद्यत्यन्ताभाव ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक बाधरूप प्रमा से बोधित है। इसलिए दोनों में समानता नहीं हो सकती है। अन्यथा भ्रान्ति और प्रमा में कोई अन्तर ही सिद्ध नहीं हो पायेगा।] तृतीय पक्ष (व्यावहारिक) भी माना नहीं जा सकता है, क्योंकि आकाशादि प्रपञ्च और शुक्तिरजतादि की न्यूनाधिक सत्ता लोकप्रसिद्ध है। अत: दोनों में एक (व्यावहारिक) प्रकार का सत्त्वाद्यभाव नहीं माना जा सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्वाद्यभाव को व्यावहारिक मानेंगे और शुक्तिरजतादिनिष्ठ सत्त्वाद्यभाव को प्रातिभासिक मानेंगे तब द्वितीय पक्ष के दोष के समान तृतीय पक्ष में भी दोष होगा, क्योंकि प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्वाद्यभाव ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि बाधरूप प्रमा के द्वारा बोधित है और ''अयं घट:'' इस प्रकार भ्रम के द्वारा घटादि प्रपञ्च बोधित है। इसलिए घटादि प्रपञ्च और प्रपञ्चनिष्ठ सत्त्वाद्यभाव की समान सत्ता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि एक बाधरूपप्रमा के द्वारा सिद्ध है और दूसरा भ्रमज्ञान के द्वारा सिद्ध है। ठीक इसी प्रकार प्रातिभासिक स्थल में शुक्तिरजतादि में सत्त्वाद्यभाव ''नेदे रजतम्'' इस प्रकार बाधरूप प्रमा के द्वारा बोध्य है और शुक्तिरजत ''इदं रजतम्'' इस भ्रमज्ञान के द्वारा बोध्य है। इसलिए शुक्तिरजत और उसमें रहने वाले सत्त्वाद्यभाव की समान सत्ता नहीं हो सकती है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि शुक्तिरजतादिनिष्ठ सत्त्वाद्यभाव को व्यावहारिक मानेंगे, तब पूर्वपक्षी कह रहा है कि शुक्तिरजतादिनिष्ठ सत्त्वाद्यभावगत व्यावहारिकत्व मानने पर प्रपञ्च में

जगति पारमार्थिकत्वापातेनाद्वैतहानिरिति चेन्न, धर्मिसमसत्ताकस्यैव सत्त्वादिविरहस्येष्टत्वात्। न च बाधबोध्यस्य भ्रान्तिसिद्धेन साम्यायोगः, बाधस्याधिष्ठानमात्रगोचरत्वेन रूप्यवत्तत्सत्त्वविरहस्यापि साक्षिसिद्धतया बाधबोध्यत्वाभावात्। न चैवं सत्त्वप्रतीतिविरोधः, अतात्त्विकस्य तस्याप्यङ्गीकारात्।१३।।

न च—एवं तात्त्विकसत्त्वविरहस्यैव लक्षणत्वपर्यवसानम्, तात्त्विकत्वं चाबाध्यत्वम्, तथा च बाध्यत्वमेव लक्षणमस्त्विति वाच्यम्, बाध्यत्वस्यान्यविशेषणत्वेनोपात्तस्य लक्ष्ये धर्मिण्यनन्वयेन तन्मात्रमुपादायेतरवैयर्थ्यस्य वक्तुमशक्यत्वात्। न च श्रुत्या युक्त्या च भेदं निराकुर्वता कथं सदसद्भिन्नत्वरूपं

सत्यानन्दप्रबोधिका

रहने वाले सत्त्वाद्यभाव में पारमार्थिकत्व मानना पड़ेगा, क्योंकि शुक्तिरजतादि की सत्ता से प्रपञ्च की सत्ता अधिक मानी जाती है। अतः ब्रह्मातिरिक्त में पारमार्थिकत्व के रह जाने से अद्वैत की हानि होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हम द्वितीय पक्ष मानते हैं। अर्थात् सत्त्वाद्यत्यन्ताभाव को धर्मिसमसत्ताक मानना हमें अभीष्ट है। इस पर पूर्वपक्षी ने कहा था कि बाधरूप प्रमा के द्वारा बोधित पदार्थ और भ्रान्ति ज्ञान से बोधित पदार्थ समान नहीं हो सकते हैं। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि बाधरूप प्रमा के द्वारा अधिष्ठान का ही बोध होता है, न कि सत्त्वाद्यत्यन्ताभाव का। शुक्तिरजत का बोध जैसे साक्षी के द्वारा होता है, वैसे ही शुक्तिरजतनिष्ठ सत्त्वाद्यभाव का भी बोध साक्षी के द्वारा ही होता है न कि बाधरूपप्रमा के द्वारा। इस प्रकार शुक्तिरजतादि और शुक्तिरजतादिनिष्ठ सत्त्वाद्यत्यन्ताभाव दोनों ही भ्रान्तिज्ञान से बोधित होने से दोनों समानसत्ता मानी ही जा सकती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि शुक्तिरजतादि और शुक्तिरजतादिनिष्ठ सत्त्वाद्यभाव का ग्राहक साक्षी है, अधिष्ठान का ग्राहक साक्षी नहीं है— ऐसा मानने पर ''इदं रजतं सत्'' इत्याकारक प्रतीति से विरोध होगा, क्योंकि इस प्रतीति में सत् (अधिष्ठान) का भान हो रहा है, जबकि सिद्धान्ती के उक्त नियम के अनुसार अधिष्ठान का भान नहीं होना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''इदं रजतं सत्'' इस प्रतीति स्थल पर प्रातिभासिक रजत के समान ही प्रातिभासिक सत्ता की प्रतीति मानी जाती है न कि अधिष्ठान में भासित होने वाली सत्ता की प्रतीति ''इदं रजतं सत्'' इस स्थल पर सत् शब्द से ही होती है। अतः कोई दोष नहीं है।।१३।।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती शुक्तिरजतादि की प्रातिभासिक सत्ता और आकाशादी प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता मानते हैं, केवल ब्रह्म की ही तात्त्विक सत्ता मानते हैं। अतः तात्त्विकसत्त्वाभाव को अनिर्वाच्यत्व का लक्षण बनाने पर लक्ष्य (शुक्तिरजत और प्रपञ्च) में लक्षण चला जायेगा और अलक्ष्य (ब्रह्म) में लक्षण नहीं जायेगा। अबाध्यत्व को ही तात्त्विकत्व कहा जाता है। अतः अबाध्यत्वाभाव=बाध्यत्व को ही अनिर्वाच्यत्व का लक्षण कहना चाहिए।

समाधान— सिद्धान्ती का कथन है कि बाधितसत्त्वासत्त्वकत्वमनिर्वाच्यत्वम्'' यह हमारे कथित अनिर्वाच्यत्व का लक्षण है। इसमें बाधितत्व सत्त्वादि का विशेषण है। अतः सत्त्वासत्त्व धर्म से भिन्न प्रपञ्च और शुक्तिरजतादि रूप धर्मी के साथ बाधितत्व का अन्वय नहीं हो सकता है। अर्थात् जिसका अन्वय धर्म (सत्त्वादि) के साथ है, उसका अन्वयधर्मी (प्रपञ्चादि) के साथ नहीं हो सकता है। अतः ''बाधितत्त्वमनिर्वाच्यत्वम्'' ऐसा अनिर्वाच्यत्व का लक्षण बनाकर शेषभाग (सत्त्वासत्त्वकत्वम्) को व्यर्थ सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि भाष्यकार—वार्त्तिककारादि अद्वैताचार्यों ने ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा तात्त्विक भेद का निराकरण किया है और खण्डनखण्डखाद्यकारादि

तद्व्याप्तं वाऽनिर्वाच्यत्वं समर्थ्यत इति वाच्यम्, मा विषीद, अतात्त्विकस्यैव तस्य समर्थनात्, बाध्यत्वं तु मिथ्यात्वनिरूपणसमय एव निरूपितम्। तस्मान्न शुक्तिरूप्यप्रपञ्चसाधारणा–निर्वाच्यत्वलक्षणानुपपत्तिः।।१४।।

।। इत्यद्वैतसिद्धावनिर्वाच्यत्वलक्षणम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अद्वैताचार्यों ने ''चतुर्विधभेदखण्डनम्'' में कहा है कि ''किञ्च ये ते वैधर्म्ये भेदौ ते किं घटादितो भिन्ने धर्मिणी निविशेते, किमभिन्ने? परस्परविरुद्धयोरनयोः पृथग्भूतस्य प्रकारस्यासम्भवात्। आद्ये येन भेदेन भिन्नत्वं वैधर्म्याश्रियोर्मन्तव्यं तत्रापि पर्यनुयोग इत्यनवस्थायां पर्यवसानं स्यात्....... यदि च अभिन्ने भेदो निविशेत, तदा याऽप्येका व्यक्तिः प्रतीयते घटादिः, सापि तेनैव भेदेनानेका स्यादित्येकाभावे नानेकमपि व्यवतिष्ठेत।'' इस प्रकार की युक्तियों से तात्त्विक भेद का निराकरण किया है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों का अनुसरण करने वाले सिद्धान्ती जब भेद को ही नहीं मान रहे हैं तब भेदघटित सदसद्भिन्नत्वरूप अनिर्वाच्यत्व का अथवा ''यत्र यत्र अनिर्वाच्यत्वं तत्र तत्र सदसद्भिन्नत्वम्'' इस प्रकार से भेद घटित सदसद्भिन्नत्व का व्याप्यरूप अनिर्वाच्यत्व का समर्थन नहीं कर सकते हैं।

समाधान– पूर्वपक्षी को खिन्नचित्त वाला नहीं होना चाहिए, क्योंकि अतात्त्विक भेद से घटित सदसद्भिन्नत्वरूप अनिर्वाच्यत्व का ही हम समर्थन करते हैं। अतात्त्विक भेद को पूर्वाचार्यों ने भी माना है। अतः कोई दोष नहीं है। न्यायामृत में कहा गया कि ''बाध्यत्वमनिर्वाच्यत्वमिति तु मिथ्यात्वभङ्गे एव निरस्तम्।'' इसका खण्डन करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि प्रथममिथ्यात्वनिरूपण के समय ही बाध्यत्व का निरूपण कर दिया गया है। इस प्रकार पूर्वपक्षी की शङ्काओं का सर्वथा निरास हो जाने से शुक्तिरजतादि और आकाशादि प्रपञ्च में समानरूप से रहने वाले अनिर्वाच्यत्व के लक्षण में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।।१४।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामनिर्वाच्यत्वलक्षणम्

१६— अनिर्वाच्यत्वसाधकप्रत्यक्षप्रमाणविचारः

प्रमाणं च प्रत्यक्षानुमानागमार्थापत्तयः। प्रत्यक्षं तावत् ''मिथ्यैव रजतमभात्''इत्यादि। न च मिथ्याशब्दोऽसत्पर्यायः, वक्ष्यमाणयुक्त्या नृशृङ्गादिसाधारणासत्त्वस्य ख्यायमानरूप्यादौ वक्तुमशक्यत्वात्। न चैतावन्तं कालमसदेव रजतमभादित्यनुभवविरोधः, अनिर्वाच्यत्वैकदेश सत्त्वव्यतिरेकविषयत्वेनैवोपपत्तेः।।१ ।।

न चैवं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यत्रापि सत्यमित्यस्यासत्त्वव्यतिरेकविषयतयैवोपपत्तिः, ब्रह्मणि

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविद्या और अविद्या से प्रयुक्त शुक्तिरूप्यादि और आकाशादि प्रपञ्च में समानरूप से रहने वाले अनिर्वाच्यत्व में (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम (४) अर्थापत्ति प्रमाण हैं। सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''मुझको मिथ्या ही रजत प्रतीत हुआ।'' इत्यादि प्रत्यक्ष शुक्तिरजतादिगत अनिर्वाच्यत्व में प्रमाण है। (ऐसे ही जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है तब जीवन्मुक्त महापुरुषों को भी 'मिथ्यैव जगदभात्'' ऐसी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। यहां मिथ्या शब्द अनिर्वचनीय का बोधक है। अतः इस प्रत्यक्ष को आकाशादि प्रपञ्चगत अनिर्वाच्यत्व में प्रमाण माना जाता है।) ''मिथ्यैव रजतमभात्'' इत्यादि वाक्य का घटक मिथ्या शब्द असत् का पर्यायवाची नहीं माना जा सकता है, क्योंकि आगे कही जाने वाली युक्तियों के आधार पर नरशृङ्गादि साधारण असत्त्व का ख्यायमान (प्रत्यक्ष) शुक्तिरजतादि में निराकरण हो जाता है। अर्थात् बन्ध्यासुत—नरशृङ्गादि अलीक में समानरूप से रहने वाला जो असत्त्व है। उसका ऐसा कोई भी लक्षण नहीं कहा जा सकता है, जो कि प्रत्यक्षीभूत शुक्तिरजतादि में भी रहता हो, क्योंकि ''ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिसमर्थनम्'' के अवसर पर आगे कही जाने वाली युक्तियों से विरोध होता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती यदि शुक्तिरजतादिगत असत्त्व नहीं मानते हैं तब तो ''इसे काल तक असत् ही रजत प्रतीत हुआ।'' इत्याकारक अनुभव के साथ विरोध होगा।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि उक्त अनुभवघटक असत् शब्द का अर्थ है सत्त्वाभाव। वह सत्त्वाभाव (असत्) सत्त्वासत्त्वाभावरूप अनिर्वाच्यत्व का एक भाग ही है। इसलिए उक्त अनुभव आंशिक रूप से सिद्धान्ती के द्वारा समर्थित अनिर्वाच्यत्व को ही विषय करता है न कि पूर्वपक्षी के द्वारा समर्थिक अलीक को विषय करता है।।१ ।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती यदि उक्त अनुभव घटक असत् शब्द का अर्थ सत्त्वाभाव करते हैं तब तो ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (तै.उ.२—१—१) इस श्रुति वाक्य के घटक सत्य शब्द का अर्थ असत्त्वाभाव करके यह मान लेना चाहिए कि उक्त श्रुति वाक्य घटक सत्य शब्द भी अनिर्वाच्यत्व घटक असत्त्वाभाव को ही विषय करता है। ऐसा मानने पर ब्रह्मगत मिथ्यात्व की आपत्ति होगी, जिसे सिद्धान्ती स्वीकार नहीं करते हैं। अतः श्रुति घटक सत् शब्द का अर्थ जब सत्त्व किया जाता है तब उक्त अनुभव घटक असत् शब्द का अर्थ भी असत्त्व ही करना होगा। ऐसा होने पर पूर्वोक्त अनुभव विरोध बना ही रहेगा।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि द्वितीयमिथ्यात्वविचार के खण्ड संख्या ४९ में ब्रह्म की सद्रूपता का प्रतिपादन किया जा चुका है। उसी सद्रूपता को ही उक्त श्रुति घटक ''सत्यम्'' पद से कहा गया है। अतः उक्त श्रुति घटक ''सत्यम्'' पद से जन्य ज्ञान में असत्त्वाभावविषयत्व की कल्पना करना सर्वथा अनुचित है। दूसरी बात यह भी है कि ब्रह्म में जो

सद्रूपतायाः प्रागुपपादितत्वेन तस्यासत्त्वव्यतिरेकविषयत्वकल्पनाया अनुचितत्वात्। तथा च ब्रह्मणि सत्प्रत्ययस्य रूप्ये असत्प्रत्ययस्य च सत्त्वासत्त्वयोर्बाधकासत्त्वतत्सत्त्वाभ्यां विशेषेण न प्रसङ्गसाम्यम्।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्प्रत्यय (सत्यम्—इसप्रकार का प्रत्यय) होता है, उसको अबाध्यत्व रूपसत्त्वविषयकत्व होने में कोई बाधक नहीं है और शुक्तिरजतादि में जो असत् प्रत्यय (असदेव रजतमभात्) होता है, उसमें असत्त्वविषयकत्व मानने में प्रत्यक्ष (इदं रजतं सत्—ऐसा प्रत्यक्ष) ही बाधक है। फलत: बाधकासत्त्व और बाधकसत्त्व एतदुभयकृत विशेष (भेद) होन से जैसे शुक्तिरजतादि में असत् प्रतीति सत्त्वाभाव को विषय करती है, वैसे ही ब्रह्म में सत् प्रतीति असत्त्वाभाव को विषय करती है—ऐसा नहीं माना जा सकता है अपितु असत् प्रतीति को ही सत्त्वाभाव विषयक माना जाता है।।२।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामनिर्वाच्यत्वसाधकप्रत्यक्षम्

१७— अनिर्वाच्यत्वसाधकानुमानप्रमाणविचारः

अनुमानं च 'विमतं सत्त्वरहितत्वे सति असत्त्वरहितत्वे सति सत्त्वासत्त्वरहितम्, बाध्यत्वाद् दोषप्रयुक्तभानत्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा ब्रह्म। न चाप्रसिद्धविशेषणत्वम्, 'सत्त्वासत्त्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वाद्रूपरसवत्, सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, असत्त्वं वा,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

अविद्या और अविद्या प्रयुक्त शुक्तिरजतादि तथा आकाशादि प्रपञ्च में समानरूप से रहने वाले अनिर्वाच्यत्व में प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण करने के पश्चात् अनुमान प्रमाण का निरूपण करते हुए आचार्यप्रवर अनुमान को दिखला रहे हैं—विमतं सत्त्वरहितत्त्वे सति असत्त्वरहितत्त्वे सति सत्त्वासत्त्वरहितम्, बाध्यत्वाद् दोषप्रयुक्तभानत्वाद्वा, यन्नैवं तन्नैवं यथा ब्रह्म। [इस अनुमान में पक्ष = अविद्या और अविद्या प्रयुक्त शुक्तिरजतादि और प्रपञ्च है। साध्य= सत्त्वरहितत्व विशिष्ट असत्त्वरहितविशिष्ट सत्त्वासत्त्वोभयरहितत्त्व है। हेतु=बाध्यत्व अथवा दोषप्रयुक्तप्रतीतिविषयत्व। व्यतिरेकी दृष्टान्त=ब्रह्म है। अर्थात् जो उक्त साध्याभाव वाला है, वह हेत्वभाववाला है। जैसे शुद्ध ब्रह्म। पक्ष में हेतु है और दृष्टान्त में साध्याभाव और हेत्वभाव है। अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानरूप परामर्श की सिद्धि हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाती है। अर्थात् अविद्या और अविद्या प्रयुक्त शुक्तिरजतादि और प्रपञ्च में अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि हो जाती है।]

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त साध्य में सत्त्वासत्त्वरहितत्व विशेष्य है और विशेषण= सत्त्वाभावसामानाधिकरण्यासत्त्वाभाव है। (एक ही अधिकरण में रहने वाले सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव मिलकर के विशेषण हैं।) यह विशेषण भाग अप्रसिद्ध है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में किसी भी एक ही अधिकरण (सत् अथवा असत्) में सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव नहीं माना जाता है। इस प्रकार साध्य का विशेषण भाग प्रसिद्ध न होने से विशेषण से विशिष्ट साध्य ही अप्रसिद्ध हो गया। अतः अनुमान अप्रसिद्धविशेषणता दोष से ग्रस्त हो गया।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव दोनों एक ही अधिकरण में रहते हैं। इसको सामान्यतः अनुमान के द्वारा सिद्ध करेंगे। जैसे (१) सत्त्वासत्त्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वात्, रूपरसवत्। [इस अनुमान में पक्ष सत्त्व और असत्त्व है। साध्य—एकाधिकरणवृत्ति—अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व है। हेतु—धर्मद्वयत्व है। दृष्टान्त—रूपरसद्वय। पक्ष में हेतु का समन्वय—सत्त्व और असत्त्व धर्मद्वय है। अतः उसमें धर्मद्वयत्व रहेगा। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—रूप रस धर्मद्वय है। अतः उसमें धर्मद्वयत्व रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—पवनादि रूप एक ही अधिकरण में रूप और रस दोनों का अत्यन्ताभाव रहता है। अतः पवनादि रूप एक ही अधिकरणवृत्ति—अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूपरसधर्मद्वय में रहेगा। इसलिए इस अनुमान के द्वारा विशेषतः अनिर्दिष्ट किसी एक अधिकरण में सत्त्व और असत्त्व का अभाव सिद्ध हो जायेगा। विशेष धर्मी कौन है? ऐसा प्रश्न होने पर "विमतं सत्त्वरहितत्त्वे सति...... यथा ब्रह्म।" इस अनुमान के धर्मी आदि का उल्लेख कर दिया जायेगा—यह सिद्धान्ती का भाव है। इस प्रकार इस अनुमान के द्वारा एक ही अधिकरण में सत्त्व और असत्त्व का अभाव सिद्ध किया गया। आगे दो अनुमान से यह दिखलाया जा रहा है कि जहां सत्त्व है वहीं सत्त्व का अभाव रहेगा और जहां असत्त्व है वहीं पर असत्त्व का भी अभाव रहेगा। यह पूर्वपक्षी के लिए कठोर प्रहार है।] अथवा (२) सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वात्, रूपवत्। [पक्ष=सत्त्व है। साध्य=

सत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वाद्रूपवद्' इति सामान्यतस्तत्सिद्धेः। न च साध्यैकदेशसिद्ध्या अंशतः सिद्धसाधनम्, गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नम्, समानाधिकृतत्वादित्यत्रेव सिषाधयिषाबलेन सिद्धसाधनविरहस्योपपादितत्वात्। न च सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहरूपतया साध्यं व्याहतमिति वाच्यम्, अतात्त्विकत्वेन परस्परविरहानात्मकत्वेन च समाहितत्वात्। भेदस्य तात्त्विकस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

असत्त्वानधिकरण में अवृत्तित्व। हेतु =धर्मत्व। दृष्टान्त=रूप। पक्ष में हेतु है और दृष्टान्त में भी हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय=असत्त्व का अनधिकरण=पवनादि उसमें रूप नहीं रहता है। अतः असत्त्वानधिकरणावृत्तित्व रूप में चला जायेगा। इस प्रकार इस अनुमान के द्वारा जहां सत्त्व है, वहीं सत्त्वाभाव है—यह सिद्ध किया गया है।] अथवा (३) असत्त्वं सत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वात्, रूपवत्। [पक्ष= असत्त्व है। साध्य= सत्त्वानधिकरण में अवृत्तित्व। हेतु, =धर्मत्व, दृष्टान्त= रूप। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय=सत्त्व का अनधिकरण वन्ध्यासुतादि। उसमें रूप नहीं रहता है। अतः सत्त्वानधिकरणावृत्तित्व रूप में चला जायेगा। इस अनुमान के द्वारा जहां असत्त्व है, वहीं पर असत्त्वाभाव सिद्ध कर दिया गया है।] इस प्रकार इन अनुमानों द्वारा सामान्यतः साध्यसिद्धि हो जाने से पूर्वपक्षी अप्रसिद्धविशेषणता दोष नहीं दे सकता है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती द्वारा प्रयुक्त अनिर्वाच्यत्व साधक अनुमान के साध्य का घटक असत्त्वाभाव को आकाशादि प्रपञ्च में मानते हैं। अतः सिद्धान्ती के उक्त अनुमान में अंशतः सिद्धसाधनता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि भेदाभेदवादी मीमांसक के द्वारा ''गुणादिकं गुण्यादिना भिन्नाभिन्नं समानाधिकृतत्वात्'' इस प्रकार से अनुमान करने पर भेदवादी नैयायिक जैसे आंशिक सिद्धसाधनता दोष का उद्भावन नहीं कर पाता है, क्योंकि साध्य का एक अंश सिद्ध होने पर भी उक्त न्याय प्रयोग की तात्पर्यविषयीभूता भिन्नाभिन्नत्व मिलित प्रतीति सिद्ध नहीं है। ठीक इसी प्रकार से प्रकृत साध्य का एक भाग सिद्ध होने पर भी मिलित भाग सिद्ध नहीं है। अतः सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। इसका विशेष प्रतिपादन प्रथम मिथ्यात्व विचार के खण्ड संख्या ८ में किया जा चुका है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सत्त्व और असत्त्व परस्पर अभावरूप हैं। अतः जहां सत्त्वाभाव रहेगा वहां असत्त्व रहेगा न कि असत्त्वाभाव और जहां असत्त्वाभाव रहेगा, वहां सत्त्व रहेगा न कि सत्त्वाभाव। अतः एक ही अधिकरण में सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव मानने पर व्याघातदोष होगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव के समुच्चय को अतात्त्विक माना जाता है। अतः कोई दोष नहीं होता है—इसका निरूपण अनिर्वाच्यत्वलक्षण विचार के खण्ड संख्या ३ में किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि सत्त्व और असत्त्व को परस्पर विरहरूप नहीं माना जाता है। इसका प्रतिपादन प्रथम मिथ्यात्वविचार के खण्ड संख्या ५ में किया जा चुका है। अतः सत्त्व और असत्त्व को परस्पर विरह रूप मानकर व्याघातदोष नहीं दिया जा सकता है। [पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती भेदमात्र का निराकरण करते हैं। अतः प्रपञ्च में भेद घटित सदसद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि करने पर विरोध होगा, क्योंकि जब सत्त्वराहित्य का अर्थ सद्भिन्नत्व और असत्त्वराहित्य का अर्थ असद्भिन्नत्व किया जायेगा, तब साध्य का आकार भेदघटित होगा—सदसद्भिन्नत्व, इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती

निरसिष्यमाणत्वेन न तेन विरोधः। न च ब्रह्मवत् सत्त्वराहित्येऽपि सद्रूपत्वेनानिर्वाच्यत्वाभावोपपत्त्या अर्थान्तरम्, सत्त्वरहितस्य प्रपञ्चस्य सद्रूपत्वे मानाभावेन बाधात्। ब्रह्मणि च शून्यतापत्तिरेव सद्रूपत्वे प्रमाणम्।।१।।

न च विमतं सदसदात्मकम्, बाध्यत्वाद् व्यतिरेकेण ब्रह्मवदित्याभाससाम्यं, विमतमसत् सत्त्वानधिकरणत्वात्, नृशृङ्गवदिति सत्प्रतिपक्षश्चेति वाच्यम्, ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिलक्षण–

सत्यानन्दप्रबोधिका

कह रहे हैं कि] हमारे द्वारा तात्त्विक सद्भेद का ही निराकरण किया जाता रहा है, अतात्त्विक भेद का नहीं। अतः कोई विरोध नहीं है। अर्थात् अतात्त्विक भेद को मानकर साध्यादि की व्यवस्था की गयी है। अतः कोई दोष नहीं है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ब्रह्म को निर्धर्मक मानते हैं। अतः ब्रह्म में सत्त्व धर्म नहीं मानते हैं किन्तु ब्रह्म में सत्त्व न होने पर भी ब्रह्म में सद्रूपता मानते हैं। ठीक ऐसे ही पक्ष (प्रपञ्चादि) में सत्त्व का राहित्य होने पर भी प्रपञ्च में सद्रूपता और मिथ्यात्वाभाव की उपपत्ति हो जाने से अर्थान्तरदोष होगा। अर्थात् सिद्धान्ती के ऊपर ''विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्'' यह न्याय लागू होता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्व से रहित प्रपञ्च के सद्रूपत्व में प्रमाण का अभाव होने से सद्रूपत्व का बाध हो जाता है। [अर्थात् प्रपञ्च में सत्त्व न रहने पर भी प्रपञ्च सत् है—ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च की सद्रूपता की सिद्धि करने वाले ''घटः सन्'' इत्यादि प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों का निरास किया जा चुका है। इसलिए प्रपञ्च को सत् मानने पर उसका बाध हो जाता है।] ब्रह्म में सत्त्व न रहने पर भी ब्रह्म सत् है— इसमें क्या प्रमाण है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि ब्रह्म को सत् न मानकर अध्यस्त मानने पर सर्वशून्यतापत्ति होगी। अतः शून्यतापत्ति परिहार की अन्यथानुपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण (ब्रह्म सद्रूपत्वं विना सर्व शून्यतापत्तिपरिहारोऽनुपपन्नम्) तथा श्रुत्यादि प्रमाण ब्रह्म की सद्रूपता में प्रमाण माने जाते हैं।।१।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा प्रपञ्चादिगत अनिर्वाच्यत्वसाधक अनुमान अनुमानाभास है। जैसे—प्रपञ्चादि सदसदात्मक है,क्योंकि उसमें बाध्यत्व है। जो सदसदात्मक नहीं होता है, उसमें बाध्यत्व भी नहीं होता है जैसे शुद्ध ब्रह्म। यह व्यतीरेकी प्रयोग अनुमानाभास है, क्योंकि प्रपञ्चादि को वादी—प्रतिवादी दोनों ही सदसदात्मक नहीं मानते हैं। दूसरा दोष यह भी है कि सिद्धान्ती द्वारा रचित अनिर्वाच्यत्वसाधक अनुमान सत्प्रतिपक्षदोष से ग्रस्त है। सत्प्रतिपक्ष अनुमान का आकार है—प्रपञ्चादि असत् हैं, क्योंकि उसमें सत्त्व का अनधिकरणत्व है जैसे नरशृङ्ग में। [सिद्धान्ती ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्चादि को सत् नहीं मानते हैं। अतःपक्ष में सत्त्वानधिकरणत्वरूप हेतु रहेगा और दृष्टान्त में साध्य और हेतु दोनों रहते हैं—यह सिद्धान्ती मानते ही हैं। अतः पक्ष में साध्य के मानने की आपत्ति होगी—यह पूर्वपक्षी का आशय है।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इस प्रकरण के अव्यवहित पश्चात् आने वाला '' अनिर्वाच्यत्वेऽर्थापत्तिप्रमाणविचारः'' के प्रारम्भ में ही प्रत्यक्ष (''अयं घटः'' और ''इदं रजतम्'') और बाध (''नेह नानास्ति किञ्चन'' और ''नेदं रजतम्'') की अन्यथानुपपत्ति रूप विपक्ष बाधक तर्क कहा जायेगा। ऐसे तर्क के द्वारा आभाससाम्य और सत्प्रतिपक्ष का निराकरण हो जाता है। [कहने का आशय यह है कि शुक्तिरजतादि और प्रपञ्च को असत् मानने पर उसकी ''इदं रजतम्'' और ''अयं घटः'' इस प्रकार से ख्याति (प्रत्यक्षात्मक प्रतीति) नहीं हो

विपक्षबाधकतर्कस्य वक्ष्यमाणत्वेनाभाससाम्यसत्प्रतिपक्षयोरभावात्। न चासदेव रजतमभादिति प्रत्यक्षबाधः, असदित्यस्य सत्त्वाभावविषयकत्वस्योक्तत्वात्, अन्यथा ख्यात्यनुपपत्तेः। अत एव मिथ्याशब्दोऽप्यसत्यपर्याय इति निरस्तम्। न चैवं ब्रह्मण्यपि सत्त्वाभावेनासदिति बुद्धिः स्यात्, निर्धर्मके सत्त्वरूपधर्माभावविषयकप्रतीतेरिष्टत्वात्, तुच्छत्वविषयकप्रतीतेरापादकाभावात्। न चैवमसत्त्वाभावेन जगति सदिति प्रतीत्यापत्तिः इष्टापत्तेः। न च नृशृङ्गासत्त्वबुद्धितो नास्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

पायेगी, क्योंकि बन्ध्यासुतादि अलीक पदार्थों की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति नहीं होती है। इसी प्रकार शुक्तिरजतादि और प्रपञ्च को सत् मानने पर उसका ''नेदं रजतम्'' और ''नेहनानास्ति किञ्चन'' के द्वारा बाध नहीं हो पायेगा, क्योंकि सत् का तीनों कालों में बाध नहीं होता है। अतः ख्याति (प्रत्यक्ष) और बाध की अन्यथानुपपत्ति विपक्षबाधक तर्क के द्वारा पूर्वपक्षी द्वारा कथित अनुममाभास और सत्प्रतिपक्ष का खण्डन हो जाता है।] '' असत् ही रजत प्रतीत हुआ'' इत्याकारक प्रत्यक्ष से अनिर्वाच्यत्वसाधक अनुमान का बाध हो जायेगा–ऐसा भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है, क्योंकि उक्त प्रत्यक्ष के घटक असत् शब्द सत्त्वाभाव को विषय करता है न कि बन्ध्यासुतादिगत असत्त्व को, अन्यथा (असत् शब्द का असत्त्व ही अर्थ करने पर) ''इदं रजतं सत्'' इस प्रकार की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति ही उपपन्न नहीं हो पायेगी। इसका निरूपण अनिर्वाच्यत्व साधकप्रत्यक्षप्रमाणविचार के खण्ड संख्या १ में किया जा चुका है। अत एव=बन्ध्यासुतादि अलीक की प्रत्यक्षात्मक प्रतीति न होने से और ''इदं रजतं सत्'' इत्यादि प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति होने से ही, मिथ्याशब्द असत् का बोधन है–ऐसा पूर्वपक्षी का कथन खण्डित हो गया।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''असदेव रजतमभात्'' इस वाक्य के घटक असत् शब्द का सत्त्वाभाव अर्थ करने पर जहां–जहां सत्त्वाभाव होगा, वहां–वहां पर असत् बुद्धि होगी। सिद्धान्ती ब्रह्म में सत्त्वाभाव मानते हैं। अतः ''असद् ब्रह्म'' ऐसी बुद्धि होने की आपत्ति होगी।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''असद् ब्रह्म'' के घटक असत् शब्द का सत्त्वाभाव अर्थ करके ''असद् ब्रह्म'' का अर्थ यदि ''सत्त्वरूपधर्माभाववद् ब्रह्म'' ऐसा करते हैं, तब तो हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि अद्वैतमत में निर्धर्मक ब्रह्म की सत्त्वरूपधर्माभावविषयक प्रतीति मानी ही जाती है। यदि ''असद् ब्रह्म'' के घटक असत् शब्द का अलीक अर्थ करके ''अलीकं ब्रह्म'' ऐसा करते हैं तब तो शून्यवाद की आपत्ति होगी। अतः ब्रह्म में तुच्छत्वविषयक प्रतीति का आपादन सम्भव नहीं है।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रपञ्च में असत्त्व न होने के कारण प्रपञ्च में असत्त्वाभाव मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर जगत् में सत् इत्याकारक प्रतीति की आपत्ति होगी, क्योंकि असत्त्वाभाव का अर्थ सत्त्वाभावाभाव=सत्त्व है।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि जगत् में सत् इत्याकारक प्रतीति में इष्टापत्ति है, क्योंकि जगत् की व्यावहारिक सत्ता हम मानते ही हैं।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि ''असद् नृशृङ्गम्'' इत्याकारक बुद्धि से ''असद् ब्रह्म'' इत्याकारक बुद्धि का वैलक्षण्य अनुभूत होता नहीं है, क्योंकि नृशृङ्ग और ब्रह्म में समानरूप से असत्त्व=सत्त्वाभाव रहता है। अतः ''नृशृङ्गमसत्'' के समान ही ''असद् ब्रह्म'' इस प्रतीति को भी तुच्छविषयक मानने की आपत्ति होगी।

समाधान– सिद्धान्ती का कथन है कि असत्त्व=सत्त्वाभाव को लेकर दोनों प्रतीतियों में

वैलक्षण्यमनुभूयत इति वाच्यम्, एतावता तस्या अपि सत्त्वराहित्यविषयकत्वमस्तु न तु तदनुरोधेन एतस्यास्तुच्छत्वविषयकत्वम्, तुच्छत्वे अत्र बाधकसत्त्वात्, समानाकारप्रतीत्योरपि विचित्रविषयकत्वस्य प्रागेव दर्शितत्वाच्च।।२।।

यत्तु सत्त्वासत्त्वविकल्पेषु आद्यद्वितीययोर्जगति सत्त्वराहित्यांशे रूप्यादावसत्त्वराहित्यांशे, तृतीयचतुर्थयोः उभयत्राप्यसत्त्वराहित्यांशे, पञ्चमे तूभयत्र सत्त्वराहित्यांशे, सप्तमेऽप्युक्तन्यायेन उभयत्राप्यसत्त्वराहित्यांशे, एवमेवाबाध्यत्वशून्यत्वे, प्राणाणिकत्वशून्यत्वे च पक्षे बाधः, षष्ठे

सत्यानन्दप्रबोधिका

समानता होने पर भी ''असद् नृशृङ्गम्'' इस बुद्धि को ही सत्त्वाभावविषयक माना जा सकता है। नृशृङ्गासत्त्वविषयक बुद्धि के अनुरोध से ''असद् ब्रह्म'' इस बुद्धि को तुच्छ विषयक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म में तुच्छत्व मानने पर ''ब्रह्म सत्'' इत्याकारक प्रतीति के बाध और शून्यवाद की आपत्ति होगी। दूसरी बात यह है कि ''घटः सन्'' इत्याकारक प्रतीतियों को व्यावहारिक सत्विषयक और ''ब्रह्म सत्'' इत्याकार प्रतीति को पारमार्थिकसत्विषयक माना जाता है। इन प्रतीतियों के समान शब्द (सत्) के रहने पर भी विलक्षणता होती है—इसका निरूपण पहले किया जा चुका है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी ने ''अनिर्वाच्यत्वलक्षणविचारः'' के खण्ड संख्या ३ में सत्त्व के विषय में विकल्प किया था कि सत्त्व क्या (१) नैयायिक सम्मत सत्ता जाति है? या (२) बौद्धसम्मत अर्थक्रियाकारित्व है? या (३) अबाध्यत्व है? या (४) प्रामाणिकत्व है? या (५) अशून्यत्व है? या (६) ब्रह्मत्व है? या (७) द्वैतीसम्मत असत्त्वाभावात्मक सत्त्व है? इन्हीं विकल्पों के अनुसार इनके सात अभावों का विकल्प करके असत्त्व को कहा गया था। जैसे असत्त्व क्या (१) नैयायिक सम्मत सत्ता जाति का अभाव है? या (२) बौद्ध सम्मत अर्थक्रियाकारित्व का अभाव है? या (३) अबाध्यत्व का अभाव है? है या (४) प्रामाणिकत्व का अभाव है? (५) अशून्यत्व का अभाव है? या (६) ब्रह्मत्व का अभाव है? (७) द्वैती सम्मत असत्त्वाभावात्मक सत्त्व का अभाव है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सत्त्व के इन सात विकल्पों में से प्रथम और द्वितीय विकल्प स्वीकार करने पर अनिर्वाच्यत्वसाधक अनुमान के पक्ष अन्तःपाती प्रपञ्चगत सत्त्वराहित्य अंश में बाधदोष होगा, क्योंकि प्रपञ्च में सत्ताजाति और अर्थक्रियाकारित्व ही माना जाता है न कि इनका अभाव। इसी प्रकार उक्त अनुमान के पक्ष अन्तःपाती शुक्तिरजतादिगत असत्त्वराहित्य अंश में भी बाधदोष होगा, क्योंकि शुक्तिरजतादि में असत्त्वराहित्य=सत्ताजाति के अभाव का अभाव और अर्थक्रियाकारित्व के अभाव का अभाव अर्थात् सत्ता जाति और अर्थक्रियाकारित्व नहीं माना जाता है। तृतीय और चतुर्थ विकल्प स्वीकार करने पर उक्त अनिर्वाच्यत्वसाधक अनुमान के पक्ष=प्रपञ्च और शुक्तिरजतादि दोनों में ही असत्त्वराहित्य अंश में बाधदोष होगा, क्योंकि शुक्तिरजतादि और प्रपञ्च में असत्त्वराहित्य=अबाध्यत्व के अभाव का अभाव= अबाध्यत्व और प्रामाणिकत्व के अभाव का अभाव=प्रामाणिकत्व स्वीकार नहीं किया जाता है। पञ्चम विकल्प स्वीकार करने पर उक्त अनिर्वाच्यत्व साधक अनुमान के पक्ष प्रपञ्च और शुक्तिरजतादि दोनों में ही सत्त्वराहित्य अंश में बाधदोष होगा, क्योंकि प्रपञ्च और शुक्तिरजतादि में सत्त्वराहित्य=अशून्य का अभाव=शून्यत्व नहीं माना जाता है। सप्तम् विकल्प स्वीकार करने पर उक्त न्यायेन =सत्त्व का निषेध होने पर सत्त्वाभावरूप असत्त्व आवश्यक होने से असत्त्वराहित्य अंश में बाधदोष होगा, क्योंकि शुक्तिरजतादि में असत्त्व का अभाव=सत्त्वाभाव का अभाव=सत्त्व नहीं माना जाता है। इसी प्रकार तृतीय पक्ष=अबाध्यत्वरूपसत्त्व और चतुर्थपक्ष=प्रामाणिकत्वरूप

त्वबाध्यत्वरूपसत्त्वेनाप्युपपत्त्या अर्थान्तरम्—इति तन्न, पूर्वोक्तासत्त्वमादायांशतो बाधसिद्धसाधनादेः परिहृतत्वात्। एवं सामान्यतो अनिर्वाच्यत्वसाधकमप्येतदर्थपरतया नेयम्। व्याघातादिपरिहारोऽप्येवमेव।।३।।

ननु साध्यप्रसिद्ध्यर्थानुमाने सत्त्वासत्त्वे, 'समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी न भवतः, परस्परात्यन्ताभावत्वात्, घटत्वाघटत्ववत्, असत्त्वं, सत्त्वानधिकरणानिष्ठं न, तत्प्रतिषेधरूपत्वात्, यथा अनित्यत्वं, नित्यत्वानधिकरणानिष्ठं न, एवं सत्त्वमपि पक्षीकृत्य प्रयोक्तव्यमिति सत्प्रतिपक्षता,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्त्व मानने पर उक्त अनिर्वाच्यत्वसाधक अनुमान के पक्ष घटक प्रपञ्च में सत्त्वराहित्य अंश में बाधदोष होगा, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में प्रपञ्चगत अबाध्यत्व और प्रामाणिकत्व माना ही जाता है। षष्ठ पक्ष स्वीकार करने पर अर्थान्तरदोष होगा, क्योंकि प्रपञ्चगत अबाध्यत्व मानने पर भी प्रपञ्च में ब्रह्मत्वाभाव मानने में कोई आपत्ति नहीं है। अतः प्रपञ्च में अबाध्यत्व के रहने से सिद्धान्ती को अभिप्रेत प्रपञ्चगत अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि न होकर प्रपञ्च ही अबाध्य सिद्ध हो जाने से अर्थान्तरदोष होगा।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पराङ्गीकृतसत्त्व को लेकर अथवा सत्त्वेन प्रतीत्यनर्हत्वरूप असत्त्व को लेकर बाध और सिद्धसाधनादि दोषों का परिहार अनिर्वाच्यत्व लक्षण विचार के खण्ड संख्या ३ और खण्ड संख्या ६ में किया जा चुका है। इसी प्रकार इस प्रकरण के खण्ड संख्या १ में प्रदर्शित सामान्यतः अनिर्वाच्यत्व साधक अनुमानों का भी इसी प्रकार के सत्त्वासत्त्व राहित्य में तात्पर्य समझ लेना चाहिए और व्याघातादि दोषों का भी परिहार भी खण्ड संख्या १ के अनुसार कर लेना चाहिए।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा खण्ड संख्या १ में सिद्धान्ती के द्वारा साध्यप्रसिद्धि के लिए किये गये सामान्यतः अनुमान में सत्प्रतिपक्ष प्रयोग और उपाधि दोष दिया जा रहा है। प्रथम सत्प्रतिपक्ष प्रयोग का आकार इस प्रकार से है—सत्त्व और असत्त्व ये दोनों एक अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी नहीं हैं, क्योंकि उसमें परस्परात्यन्ताभावरूपत्व है, जैसे घटत्व और अघटत्व । [पूर्वपक्षी के अनुसार सत्त्व और असत्त्व परस्पर अत्यन्ताभावरूप है। अतः सत्त्व और असत्त्वरूप पक्ष में परस्परात्यन्ताभावरूपत्व (हेतु) रहेगा। दृष्टान्त में हेतु है, क्योंकि घटत्व का अभाव=अघटत्व और अघटत्व का अभाव = घटत्व है। इस प्रकार दोनों में परस्परात्यन्ताभावरूपत्व है। दृष्टान्त में साध्य है क्योंकि एक ही अधिकरण में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी घटत्व और अघटत्व नहीं होते हैं। यह पूर्वपक्षी का भाव है।] द्वितीय सत्प्रतिपक्ष प्रयोग का आकार इस प्रकार से है— असत्त्व सत्त्व के अनधिकरण में अनिष्ठ नहीं है, क्योंकि उसमें सत्त्व का प्रतिषेधरूपत्व है, जैसे अनित्यत्व नित्यत्वानधिकरण में अनिष्ठ नहीं है। [पक्ष में हेतु है क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में सत्त्व प्रतिषेधरूपत्व असत्त्व में माना जाता है। दृष्टान्त में हेतु है क्योंकि नित्यत्व का प्रतिषेधरूपत्व अनित्यत्व में रहता है और दृष्टान्त में साध्य है क्योंकि अनित्यत्व नित्यत्व में अनधिकरण अनित्य में नहीं रहता है—ऐसी बात नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षी हेतु —साध्य का पक्षादि में समन्वय करता है।] इसी प्रकार असत्त्व के स्थान पर सत्त्व रखकर भी सत्प्रतिपक्ष अनुमान हो जायेगा। जैसे—सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानिष्ठ न भवति, असत्त्वप्रतिषेधरूपत्वाद्, यथा नित्यत्वमनित्यत्त्वानधिकरणानिष्ठ न भवति। इस प्रकार के सत्प्रतिपक्ष प्रयोगों से अतिरिक्त सिद्धान्ती के अनुमान (सत्त्वासत्त्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वात्, रूपरसवत्) में ''परस्परविरहानात्मकत्व'' उपाधि है। जैसे दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है, क्योंकि रूप रस में परस्परविरहानात्मकत्व है। अतः साध्यव्यापकत्व उपाधि में गया। पक्ष में

परस्परविरहानात्मकत्वं चोपाधिरिति चेन्न, सत्त्वासत्त्वयोः परस्परविरहानात्मकत्वस्योक्तत्वेन हेतोरसिद्धत्वाद्, उपाधेः साधनव्यापकत्वाच्च, ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या विपक्षबाधकतर्केण उपाधिसत्प्रतिपक्षयोरन—वकाशात्। यत्तु नित्यानित्यत्वदृष्टान्ते साधनवैकल्यमुक्तं, तदयुक्तम्, परेण ध्वंसाप्रतियोगित्वतत्प्रयोगित्वयोः परस्परविरहरूपयोः नित्यत्वानित्यत्वयोः सविध एवोक्तेः।।४।।

यत्तु घटत्वाघटत्वे, समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वाद्, रूपरसवत्, कल्पितत्वम—कल्पितत्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वाद्, रूपवदिति चाभाससाम्यम्, सद्विलक्षणत्वा—

सत्यानन्दप्रबोधिका

हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि पक्ष में परस्परविरहात्मकत्व है न कि परस्परविरहानात्मकत्व। अतः उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी है। अतः सिद्धान्ती का उक्त साध्य प्रसिद्धि साधक अनुमान सत्प्रतिपक्ष और सोपाधिक दोष से ग्रस्त है।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में सत्त्व और असत्त्व को परस्पर विरह रूप नहीं माना जाता है—इसे अनिर्वाच्यत्वलक्षण विचार के खण्ड संख्या ६ में कहा जा चुका है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा सत्प्रतिपक्ष अनुमान में कथित हेतु पक्ष में नहीं रहने से स्वरूपासिद्धि दोष से ग्रस्त है और सत्त्व तथा असत्त्व के परस्पर विरह रूप न होने से उपाधि भी पक्ष पर रहेगी। अतः उपाधि में साधन का व्यापकत्व होने से अर्थात् उपाधि में साधन का अव्यापकत्व न मिलने से उपाधि भी खण्डित हो गयी। ख्याति (प्रत्यक्ष) और बाध की अन्यथानुपपत्तिरूप विपक्ष में बाधक तर्क के होने से सत्प्रतिपक्ष और उपाधि को साध्यप्रसिद्धि साधक अनुमानों को दूषित करने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि जहां विपक्षबाधक तर्क नहीं होता है, वहां ही सत्प्रतिपक्षादि दोष होता है। पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित सत्प्रतिपक्ष अनुमान का किसी के द्वारा इस प्रकार खण्डन किया जाता है कि दृष्टान्त में साधन विकलता है, क्योंकि नित्यत्व का अभाव अनित्यत्वरूप नहीं माना जाता है और अनित्यत्व का अभाव नित्यत्व रूप नहीं माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी परस्परविरह के प्रतियोगीभूत ध्वंसाप्रतियोगित्व और ध्वंसप्रतियोगित्व का नित्यत्व—अनित्यत्व में परस्पर विरह स्वभावता सविधे=समीप में ही अनिर्वाच्यत्वलक्षणविचार के खण्ड संख्या ७ में माना है। अतः दृष्टान्त में साधनविकलता दोष नहीं कहा जा सकता है। अतः जो स्वरूपासिद्धिदोषादि दिया गया है। उसी के द्वारा ही पूर्वपक्षी के द्वारा कथित सत्प्रतिपक्ष अनुमानों का खण्डन करना चाहिए।।४।।

शङ्का— सिद्धान्ती के द्वारा अनिर्वाच्यत्व साधक अनुमान के साध्य प्रसिद्धि के लिए खण्ड संख्या १ में तीन अनुमान किये गये हैं। इस पर पूवपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा कथित अनुमान अनुमानाभास के समान है। अनुमानभासों का आकार इस प्रकार का है— घटत्व तथा अघटत्व ये दोनों समानाधिकरण अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी हैं, क्योंकि उसमें धर्मत्व है, जैसे रूप रस। कल्पितत्व अकल्पितत्व के अनधिकरण में अनिष्ठ है, क्योंकि उसमें धर्मत्व है, जैसे रूप। इस प्रकार सिद्धान्ती के अनुमानों में आभास साम्यता है। सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित प्रथम अनुमान (सत्त्वासत्त्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वात्, रूपरसवत्।) के हेतु में व्यभिचारदोष है, क्योंकि सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व में हेतु=धर्मत्व=धर्मद्वयत्व है किन्तु साध्य नहीं है, क्योंकि उसमें समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व नहीं रहता है। इस प्रकार कल्पितत्व और अकल्पितत्व में हेतु (धर्मद्वयत्व) है किन्तु साध्य नहीं है और दृश्यत्व और अदृश्यत्व में हेतु है साध्य नहीं और दुर्निरूपत्व और अदुर्निरूपत्व में हेतु है साध्य नहीं है। इस प्रकार प्रथम हेतु में व्यभिचारदोष दिया गया है।

सद्विलक्षणत्वकल्पितत्वाकल्पितत्वदृश्यत्वादृश्यत्वदुर्निरूपत्वादुर्निरूपत्वादौ प्रथमस्य द्वितीयतृतीय- योर्यथाक्रममसद्वैलक्षण्ये सद्वैलक्षण्ये च त्रिष्वपि ज्ञेयत्वव्यवहार्यत्वादौ व्यभिचारश्च-इति।।५।।

तन्न, क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवदित्यनुमाने अङ्कुरः सकर्तृकः कार्यत्वादित्याभाससाम्यं अङ्कुरादौ व्यभिचारो वा यथा न दोषः, तथा धर्मत्वेन हेतुना समानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वं साधयतो मम घटत्वाघटत्वादौ साध्यसत्त्वेन व्यभिचाराभावाद् हेतोश्चानाभासत्वात्। न ह्यविरुद्धधर्मत्वादिकं तादृक्साध्यसत्त्वे प्रयोजकम्, किन्तु धर्मत्वमात्रम्। नहि दृश्यत्वादिधर्माणां कुत्राप्यभावासम्भवः। तदुक्तं

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वितीयतृतीययोः= सत्त्वपक्षक द्वितीय अनुमान (सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वात्, रूपवत्) और असत्त्वपक्षक तृतीय अनुमान (असत्त्वं सत्त्वानधिकरणानिष्ठम्, धर्मत्वात्, रूपवत्) में से द्वितीय अनुमान के हेतु का असद्वैलक्षण्य में व्यभिचार है, क्योंकि असद्वैलक्षण्य में धर्मत्व हेतु है किन्तु असत्त्वानधिकरण में अनिष्ठत्व नहीं है किन्तु निष्ठत्व है। तृतीय अनुमान को हेतु का सद्वैलक्षण्य में व्यभिचार है, क्योंकि सद्वैलक्षण्य में धर्मत्व हेतु है किन्तु सत्त्वानधिकरण में अनिष्ठत्व नहीं है किन्तु निष्ठत्व है। प्रथम-द्वितीय-तृतीय अनुमानों के तीनों हेतुओं का ज्ञेयत्वव्यवहार्यत्वादि में व्यभिचार है, क्योंकि ज्ञेयत्व-व्यवहार्यत्वादि में तीनों हेतु रहते हैं किन्तु उक्त तीनों साध्य नहीं रहते हैं, क्योंकि ज्ञेयत्व-व्यवहार्यत्वादि के केवलान्वयित्व होने से यत्किञ्चित् निरूपित भी अनिष्ठत्व (अवृत्तित्व) नहीं मिलता है।।५।।

समाधान- पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि क्षिति सकर्तृका है, क्योंकि उसमें कार्यत्व है, जैसे घट। इस अनुमान में जैसे अङ्कुर सकर्तृक है क्योंकि उसमें कार्यत्व है- इस अनुमानाभास का साम्य तथा अङ्कुरादि में व्यभिचारदोष नहीं दिया जाता है। [क्योंकि अङ्कुरादि पक्ष सम है। अतः पक्ष सम में व्यभिचारादि दोष का उद्भावन नहीं किया जाता है। अर्थात् बौद्ध अङ्कुर को जन्य नहीं मानता है। अतः अजन्यत्व वाला अङ्कुर को पक्ष बनाकर आभास साम्य दोष देता है और अङ्कुर में अजन्यत्व होने से साध्याभाव है और हेतु है। अतः व्यभिचारदोष देता है। इसका खण्डन करते हुए दीधिकार ने कहा- न हि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः।] ठीक इसी प्रकार धर्मत्व रूप हेतु से समानाधिकरणाभावप्रतियोगित्व की सिद्धि करने वाले सिद्धान्ती के मत में जैसे सत्त्व और असत्त्व में साध्य सिद्ध किया जाता है, वैसे ही घटत्व और अघटत्व में भी साध्य सिद्ध किया जाता है। अतः घटत्वाघटत्व पक्षसम है। इसलिए उसमें व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है और उसको पक्ष बनाकर आभाससाम्य का प्रदर्शन भी नहीं किया जा सकता है। फलतः सिद्धान्ती के द्वारा दिया गया हेतु व्यभिचारादि दोषों से रहित होने के कारण सद्हेतु ही है। ''सत्त्वासत्त्वे समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिनी, धर्मत्वात्, रूपरसवत्'' इस अनुमान के हेतु धर्मत्व का अर्थ है धर्मद्वयत्व। यहां पर सिद्धान्ती का कथन है कि हेतु (धर्मत्व) का अर्थ अविरुद्धधर्मत्व नहीं है। अर्थात् अविरुद्धधर्मत्व के द्वारा समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व रूप साध्य की सिद्धि हम नहीं करते हैं किन्तु धर्मत्व मात्र के द्वारा ही उक्त साध्य की सिद्धि करते हैं। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि दृश्यत्वादि धर्म केवलान्वयी है। अतः उनमें हेतु के रहने पर भी साध्य (समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) नहीं रहने से व्यभिचार होगा- ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दृश्यत्वादि धर्मों को हम केवलान्वयी नहीं मानते हैं। अतः दृश्यत्वादि का भी अभाव सम्भव है। जैसा कि अनिर्वाच्यत्वलक्षणविचार के खण्ड संख्या ३ में कहा जा चुका है कि स्वरूपतः दुर्निरूपवस्तु (मिथ्यावस्तु) में कोई भी वास्तविक रूप (धर्म) नहीं होता है। अर्थात् जब दृश्य मिथ्या

'न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किञ्चिदपि रूपं वास्तवं सम्भवति' इति। अत एवात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि न व्यभिचारः। न चात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेनार्थान्तरम्, आत्मनो निर्धर्मकत्वेनात्यन्ता–भावस्याप्यभावाद्, अनात्मनिष्ठत्वेन विशेषणाद्वा।।६।।

न चैवं कल्पितत्वमकल्पितत्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मनिष्ठा–त्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, अकल्पितत्ववदित्याभाससाम्यम्, अस्याः प्रसक्तेरिष्टत्वात्।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है तब उसमें रहने वाला दृश्यत्व धर्म भी वास्तविक नहीं होगा। अतः दृश्यत्वादि का अत्यन्ताभाव मिल जाने से दृश्यत्वादि में हेतु और साध्य दोनों ही रह जायेंगे। अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा। अत एव=स्वरूपतः मिथ्या वस्तु में कोई भी वास्तविक धर्म के न रहने से ही, अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व में भी व्यभिचारदोष नहीं होगा। [कहने का भाव यह है कि प्रपञ्च में अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व और अत्यन्ताभाव अप्रतियोगित्व—इन दोनों का समानाधिकरण अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च में अत्यन्ताभाव अप्रतियोगित्व का अत्यन्ताभाव मिल जाने पर भी अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व का अत्यन्ताभाव नहीं मिलेगा, क्योंकि प्रपञ्च में अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही माना जाता है। अतः अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व और अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्व में साध्य=समानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगित्व नहीं गया, किन्तु हेतु (धर्मत्व=धर्मद्वयत्व) गया। अतः व्यभिचारदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जब प्रपञ्च मिथ्या है तब उसमें रहने वाला धर्म=अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व भी मिथ्या होगा। अतः उसका भी अभाव मिल जाने से अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व और अत्यन्ताभाव अप्रतियोगित्व में साध्य (समानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) और हेतु रहने से व्यभिचारदोष नहीं होगा।] पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि आत्मा निर्धर्मक होने से उसमें सत्त्व का अत्यन्ताभाव रहेगा और आत्मा असत् न होने से उसमें असत्त्व का अत्यन्ताभाव रहेगा। अतः आत्मनिष्ठ सत्त्वासत्त्व अत्यन्ताभाव को लेकर अर्थान्तरदोष होगा—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा निर्धर्मक होने से उसमें जैसे भावरूपधर्म (सत्त्वादि) नहीं रहता है, वैसे ही उसमें अभावरूप धर्म (सत्त्वात्यन्ताभावादि) भी नहीं रहते हैं। अतः आत्मनिष्ठ सत्त्वादि के अत्यन्ताभाव को लेकर अर्थान्तरदोष नहीं दिया जा सकता है। अथवा साध्य का अनात्मनिष्ठत्व विशेषण देने से उक्त प्रकार से अर्थान्तरदोष नहीं होगा। अर्थात् अनात्मनिष्ठसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व कहने से आत्मनिष्ठ सत्त्वासत्त्व के अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व को लेकर अर्थान्तरदोष नहीं दिया जा सकेगा।।६।।

शङ्का— यदि साध्य का अनात्मनिष्ठत्व विशेषण दिया जाता है तब, कल्पितत्व अकल्पितत्वानधिकरण—अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी है, क्योंकि उसमें अनात्मनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व है, जैसे अकल्पितत्व। इस प्रकार के अनुमानाभास के समान प्रकृत अनुमान है।

समाधान— पूर्वपक्षी का भाव यह था कि सिद्धान्ती अकल्पितत्व का अनधिकरण और अनात्मपदार्थ कल्पित होगा। उसमें कल्पितत्व का अत्यन्ताभाव होता नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा दिया गया अनुमान सद् अनुमान न होकर अनुमानाभास है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि कल्पित वस्तु में कोई वास्तविक धर्म नहीं रहता है। इसको खण्ड संख्या ६ में ''नहि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य. ...'' इत्यादि से कहा गया है। अतः कल्पित में वास्तविक कल्पितत्व का न होना हमें अभीष्ट ही है। अतः उक्त अनुमान को अनुमानाभास नहीं माना जा सकता है अपितु सद् अनुमान ही मानना होगा। सद् अनुमान की समानता प्रकृत अनुमान में देना अभीष्ट ही है। यह सिद्धान्ती का भाव है।।७।।

मिथ्यात्वे यथा मिथ्यात्वसाधकदृश्यत्वादेर्न व्यभिचारः, तथास्यापि वादिविशेषं प्रति एकदेशसाधनेन साध्याप्रसिद्धिशङ्कापि। तथा हि—सत्ख्यातिवादिनं प्रति असद्विलक्षणं विमतं, सद्विलक्षणम्, बाध्यत्वात्, शुक्तिरजतसंसर्गवत्, असत्ख्यातिवादिनं प्रति सद्विलक्षणं विमतम्, असद्विलक्षणम्, अपरोक्षधीविषयत्वाद्, घटवत्। पक्षधर्मताबलादनिर्वचनीयत्वसिद्धिः, यथा च न सिद्धसाधनव्याघातादिकं, तथोक्तमधस्तात्॥८॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

[सिद्धान्ती के द्वारा दो अनुमान किये जाते हैं—(१) सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, असत्त्ववत् (२) असत्त्वं सत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि साध्य में अनात्मनिष्ठ देने से आत्मा में अर्थान्तर दोष नहीं होगा अन्यथा आत्मा निर्धर्मक होने से उसमें सत्त्व और असत्त्व न होने से अर्थान्तरदोष होगा। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि मिथ्यात्व में प्रथम अनुमान का हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि मिथ्यात्व में हेतु है। जैसे खपुष्प रूप अनात्मा में मिथ्यात्व का अत्यन्ताभाव रहता है। अतः अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व मिथ्यात्व में गया किन्तु मिथ्यात्व में साध्य नहीं है। जैसे असत्त्व का अनधिकरण घटादि। उसमें मिथ्यात्व का अत्यन्ताभाव नहीं रहता है। अतः असत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप साध्य मिथ्यात्व में नहीं रहा। इस प्रकार मिथ्यात्व में हेतु के रहने और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि]जैसे मिथ्यात्व में मिथ्यात्व के रहने के कारण मिथ्यात्वसाधक दृश्यत्वादि हेतु में व्यभिचारदोष नहीं होता है ठीक वैसे ही असत्त्वानधिकरण घटादि में रहने वाले मिथ्यात्व का भी अत्यन्ताभाव होता है, क्योंकि मिथ्या वस्तु में कोई वास्तविक धर्म नहीं रहता है। इसे खण्ड संख्या ६ में कहा जा चुका है। अतः व्यभिचारदोष नहीं है। [खण्ड संख्या ८ में दिये गये प्रथम और द्वितीय अनुमान में पूर्वपक्षी साध्याप्रसिद्धि दोष इस प्रकार से देता है कि दोनों अनुमानों के साध्यों का एक अधिकरण प्रसिद्ध नहीं है। अतः साध्याप्रसिद्धि दोष है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] दोनों अनुमान किसी एक वादी के लिये कहे नहीं गये हैं। किन्तु भिन्न—भिन्न वादियों के लिये कहे गये हैं। अर्थात् एक अनुमान एक वादि विशेष के प्रति और दूसरा अनुमान दूसरे वादिविशेष के प्रति होने से भिन्न—भिन्न अधिकरणों (दृष्टान्तों) में एक देश = एक साध्य की प्रसिद्धि होने से साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं होगा। जेसे सत्ख्यातिवादी (प्रपञ्च में सत्त्व है—ऐसा कहने वाले वादी) के प्रति ''असद्विलक्षण विवादास्पद प्रपञ्चादि सत् से विलक्षण हैं, क्योंकि उसमें बाध्यत्व है, जैसे शुक्तिरजत संसर्ग।'' यहां दृश्टान्त में साध्य प्रसिद्धि है। इसी प्रकार प्रपञ्चादि को असत् मानने वाले शून्यवादी के प्रति ''सद्विलक्षण विवादास्पद प्रपञ्चादि असत् से विलक्षण हैं, क्योंकि उसमें अपरोक्षज्ञानविषयत्व है, जैसे घट।'' यहां पर भी दृष्टान्त में साध्य प्रसिद्धि है। [कहने का भाव यह है कि ''नैकदा त्रयाणां विवादः'' अर्थात् एक साथ तीन में विवाद नहीं होता है अपितु वादी—प्रतिवादी दो में होता है। अतः एक—एक के प्रति एक—एक अनुमान करना उचित ही है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि दो भिन्न—भिन्न अनुमानों के द्वारा दो भिन्न—भिन्न साध्य की सिद्धि होने से इन दो अनुमानों में से किसी भी एक अनुमान से अनिर्वाच्यत्व (सद्विलक्षणत्वे सति असद्विलक्षणत्वे सति सदसद्विलक्षणत्वम्) सिद्ध नहीं होता है। तब कह रहे हैं कि] दोनों अनुमानों का पक्ष एक ही है। उसी पक्ष में दोनों अनुमानों के दोनों हेतु रहने से अनिर्वचनीयता की सिद्धि पर्यवसित हो जाती है। इसमें पूर्वपक्षी सिद्धसाधनतादोष नहीं दे सकता है क्योंकि इसका परिहार अनिर्वाच्यत्व लक्षण के खण्ड संख्या ६ में किया जा चुका है। इसी प्रकार व्याघातदोष भी नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि इसका भी खण्डन अनिर्वाच्यत्वलक्षणविचार के खण्ड संख्या ३ में किया जा चुका है॥८॥

एवं प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्वं सत्त्वासत्त्वोभयवृत्ति, प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगि—मात्रवृत्तित्वात्, व्यवहार्यत्ववत्। सदसदुभयवृत्तित्वं, प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्ववृत्ति, सत्त्वासत्त्वोभय(वद्)वृत्त्यशेषवृत्तित्वात्, भेदप्रतियोगित्ववत्। अप्रयोजकत्वमनुकूलतर्कोक्त्या निरसिष्यते। तस्मादनुमानमत्र मानम्।।९।।

इत्यद्वैतसिद्धावनिर्वाच्यत्वसाधकानुमानम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सभी वादियों के प्रति अनिर्वचनीयता को सिद्ध करने वाला भिन्न—भिन्न अनुमान न करके एक ही अनुमान करने पर भी साध्याप्रसिद्धि दोष नहीं होगा—इस आशय से आचार्यप्रवर अनिर्वाच्यत्व को सिद्ध करने वाले अनुमानों को दिखला रहे हैं— (१) प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्व सत्त्वासत्त्वोभयवृत्ति है, क्योंकि उसमें प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकमात्रप्रतियोगित्व है, जैसे व्यवहार्यत्व। [दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—भूतलादिप्रपञ्च में घट—पटादि जिसका भी अभाव रहता हो, वे भूतलादिप्रपञ्चनिष्ठ व्यतिरेक प्रतियोगी होंगे। इसप्रकार भूतलादिनिष्ठ व्यतिरेक के प्रतियोगी घट—पटादि व्यवहार के योग्य होते ही हैं। अतः उसमें व्यवहार्यत्व रहेगा। अतः व्यवहार्यत्व प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगिमात्रवृत्ति हुआ। अतः व्यवहार्यत्व में प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगिमात्रवृत्तित्व चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—सत्त्वासत्त्व दोनों ही व्यवहार्य हैं। अतः सत्त्वासत्त्व उभयवृत्ति=व्यवहार्यत्व। इसलिए सत्त्वासत्त्वोभयवृत्तित्व व्यवहार्यत्व में चला गया। पक्ष में हेतु का समन्वय—प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगिमात्रवृत्ति= प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्व। अतः प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेक प्रतियोगिमात्रवृत्तित्व प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्व में चला जायेगा। इस प्रकार के परामर्श के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जाने से प्रपञ्च में सत्त्व—असत्त्व का अभाव सिद्ध हो जाने से प्रपञ्च में अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि हो जायेगी।] (२) सदसदुभयवृत्तित्व में प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्ववृत्तित्व है, क्योंकि सत्त्वसत्त्वोभय(वद्)वृत्यशेषवृत्तित्व है, जैसे भेदप्रतियोगित्व। [पक्ष में हेतु का समन्वय—सत्त्वासत्त्वोभयवत्= सदसदुभय। अतः सत्त्वसत्त्वोभयवत् में जितने भी रहने वाले होंगे। वे सभी सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्ति होंगे। उन सबमें अर्थात् सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्त्यशेष में सदसदुभयवृत्तित्व रहेगा। अतः सदसदुभयवृत्तित्व=सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्यशेषवृत्ति। इसलिए सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्यशेषवृत्तित्व सदसदुभयवृत्तित्व में चला जायेगा। दृष्टान्त में हेतु का समन्वयसत्त्वासत्त्वोभयवत् में जितने भी रहने वाले हैं, उनका भेद परस्पर एक दूसरे में रहेगा। अतः सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्यशेष=भेदप्रतियोगी। अतः भेदप्रतियोगित्व= सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्यशेषवृत्ति। अतः सत्त्वासत्त्वोभयवद्वृत्यशेषवृत्तित्व=भेदप्रतियोगित्व में। इस प्रकार हेतु दृष्टान्त में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्व का भेद=प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगी में रहेगा। अतः प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्व उक्त भेद के प्रतियोगी में रहेगा। अतः प्रपञ्चनिष्ठ व्यतिरेकप्रतियोगित्ववृत्ति= भेदप्रतियोगित्व। अतः प्रपञ्चनिष्ठव्यतिरेकप्रतियोगित्ववृत्तित्व भेदप्रतियोगित्व में चला जायेगा। इस प्रकार दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। इस प्रकार परामर्श की सिद्धि हो जाने पर पक्ष में साध्यसिद्धि होने से प्रपञ्चादि में अनिर्वाच्यत्व की सिद्ध हो जायेगी।] (३) यहां पर तृतीय अनुमान भी इस प्रकार किया जा सकता है— प्रपञ्चः सत्त्वासत्त्वोभयाभाववान्, बाध्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। इन अनुमानों में अप्रयोजकत्व की शङ्का अनकूलतर्क की उक्ति से अगले प्रकरण में निरस्त की जायेगी। अतः अनुमान अनिर्वाच्यत्व में प्रमाण है।।९।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामनिर्वाच्यत्वसाधकानुमानम्।

१८— अनिर्वचनीयत्वेऽर्थापत्तिप्रमाणविचारः

(क) ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिसमर्थनम्—

अर्थापत्तिरपि ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्यादिरूपा तत्र प्रमाणम्। तथाहि—विमतं रूप्यादि सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत, बाध्यते प्रतीयतेऽपि, तस्मात् सदसद्विलक्षणत्वादनिर्वचनीयम्।।१।।

ननु सत्ताजात्यर्थक्रियाकारित्वादिकमनङ्गीकारपराहतं त्वन्मते व्यभिचारि च, न च व्यवहारदशाबाध्यत्वमापाद्यम्, तथा सति 'नेह नाना'इति श्रौतनिषेधेन व्यवहारदशायामबाध्यस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

(क) ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिसमर्थनम् —

[''अर्थापत्तिरपि'' के घटक ''अपि'' पद से कहा गया कि अविद्या और अविद्याप्रयुक्त आकाशादिप्रपञ्च तथा शुक्तिरजतादि में समान रूप से रहने वाले अनिर्वाच्यत्व में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण है और] अविद्या और अविद्याप्रयुक्त आकाशादिप्रपञ्च तथा रज्जुसर्पादि में समान रूप से रहने वाले अनिर्वचनीयत्व में ख्यात्यन्यथानुपपत्तिरूप तथा बाधान्यथानुपपत्यादिरूप अर्थापत्ति प्रमाण है। इसको ''तथा हि'' से स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विवादास्पदीभूत घटादि प्रपञ्च तथा शुक्तिरूप्यादि पदार्थ यदि ब्रह्म के समान सत् है, तब बाधित नहीं होंगे और यदि बन्ध्यासुतादि के समान असत् है, तब प्रतीयमान नहीं होंगे किन्तु ''नेदं रजतम्'' इत्यादि बाध के द्वारा शुक्तिरजतादि और ''नेह नानास्ति किञ्चन'' (बृ.उ.४—४—१२) इत्यादि बाध के द्वारा घटादिप्रपञ्च बाधित होते हैं और ''इदं रजतम्'' तथा ''अयं घटः'' इत्यादि प्रकार से प्रतीयमान भी होते हैं। इसलिए अर्थात् बाध होने से और प्रतीति होने से घटादि प्रपञ्च और शुक्तिरजतादि में सदसद्विलक्षणत्व है। अतः घटादिप्रपञ्च तथा शुक्तिरजतादि में अनिर्वचनीयत्व है। अर्थात् घटादिप्रपञ्च और शुक्तिरजतादि अनिर्वचनीय हैं।।१।।

शङ्का— [पूर्वपक्षी का कथन है कि ''सच्चेन्न बाध्येत'' (प्रपञ्च में सत्त्व होता तो बाध्यत्वाभाव रहता। यहा पर आपादक=सत्त्व और आपाद्य=बाध्यत्वाभाव है।) इस स्थल पर आपाद्य (बाध्यत्वाभाव) का आपादक सत्त्व क्या (१) सत्ता जाति है? अथवा (२) अर्थक्रियाकारित्व है? या (३) अबाध्यत्व है? अथवा (४) प्रामाणिकत्व है। प्रथम और द्वितीय विकल्प स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि] सत्ता जाति और अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व शुक्तिरजतादि में माध्वमत में माना नहीं जाता है। अतः शुक्तिरजतादि में सत्ता जाति और अर्थक्रियाकारित्व के द्वारा अबाध्यत्व का आपादान नहीं किया जा सकता है। [कहने का भाव यह है कि सिद्धान्ती के आपादान का क्रम यह है कि शुक्तिरजत में यदि सत्त्व मानोगे तो उसमें बाध्यत्व नहीं मान सकते हो—यह तभी सम्भव हो सकता है यदि माध्वमत में शुक्तिरजत में सत्ता जाति या अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व माना जाता। माध्वमत में शुक्तिरजतादि में उक्त प्रकार का सत्त्व माना नहीं जाता है। अतः सिद्धान्ती उक्त प्रकार के सत्त्व के द्वारा बाध्यत्वाभाव का आपादान नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ''वह्निः न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'' इस स्थल पर पूर्वपक्षी वह्नि का अभाव मानता है। तब जाकर '' वह्निः न स्यात्'' ऐसे आपादाक के द्वारा 'धूमोऽपि न स्यात्'' ऐसे आपाद्य का उल्लेख किया जाता है।] दूसरी बात यह है कि सिद्धान्ती ने जो यह आपादान किया—सच्चेन्न बाध्येत। इसके अनुसार व्याप्ति बनेगी— ''यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र बाध्यत्वाभावः।'' किन्तु सिद्धान्ती के मतानुसार इस व्याप्ति में व्यभिचारदोष होगा, क्योंकि सिद्धान्ती प्रपञ्च में सत्त्व (सत्ता जाति और अर्थक्रियाकारित्व) मानते हैं किन्तु बाध्यत्वाभाव

जगतोऽनिर्वचनीयत्वासिद्धिप्रसङ्गाद्, यौक्तिकबाधस्य व्यवहारदशायामपि दर्शनाच्च। अबाध्यत्वरूपं सत्त्वमापाद्याविशिष्टम्, प्रामाणिकत्वं तु ब्रह्मनिष्ठनिर्विशेषत्वादौ तत्त्वावेदकश्रुतिवेद्ये ब्रह्मभिन्नतया बाध्ये व्यभिचारीति सत्त्वानिरुक्तिः इति।।२।।

मैवम्, सत्त्वं ह्यत्र प्रामाणिकत्वम्, प्रमाणत्वं च तत्त्वावेदकत्वम्, तच्च लक्षणया शुद्धब्रह्मबोधक–वेदान्तवाक्ये, न तु निर्विशेषत्वादिधर्मप्रतिपादके, अतो न तत्र व्यभिचारः। न च स्वतः प्रकाशमाने

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं मानते हैं, क्योंकि सिद्धान्ती के मतानुसार प्रपञ्च में बाध्यत्व ही है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि व्यवहारदशा में अबाध्यत्व (बाध्यत्वाभाव) आपाद्य है। अर्थात् व्याप्तिघटित अबाध्यत्व से व्यवहार दशा में अबाध्यत्वविवक्षित है—ऐसा अबाध्यत्व प्रपञ्च में रहता ही है। अतः व्यभिचारदोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि व्यवहारदशा में अबाध्यत्व को आपाद्य मान लेने पर ''नेह नानास्ति किञ्चन'' (बृ.उ.४—४—१९) इस श्रौतनिषेध से व्यवहार दशा में अबाध्य घटादिप्रपञ्च में अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। अर्थात् ''प्रपञ्चे सत्त्वं स्यात् तर्हि व्यवहारदशायां बाध्यत्वाभावः स्यात्'' इस प्रकार का आपादान होगा। इसका विपर्यय में पर्यवसान होने पर आकार होगा। ''प्रपञ्चे व्यवहार दशायां बाध्यत्वमस्ति, अतः सत्त्वाभावोऽपि अस्ति।'' किन्तु सिद्धान्ती व्यवहारदशा में प्रपञ्च में बाध्यत्व मानते नहीं हैं। अतः प्रपञ्च में सत्त्वाभाव रूप अनिर्वाच्यत्व की भी सिद्धि नहीं हो पायेगी, अपितु प्रपञ्च में सत्त्वाभाव का अभाव= सत्त्व की ही सिद्धि हो जायेगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''सच्चेन्न युक्त्या बाध्येत'' इस प्रकार का आपादान करने पर कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि अनुमानादि युक्तियों के द्वारा व्यवहारकालीन दृश्य में भी बाध्यत्व देखा जाता है। ऐसा सिद्धान्ती का कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''सच्चेन्न युक्त्या बाध्येत'' इसके अनुसार व्याप्ति का आकार होगा— यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र यौक्तिकबाध्यत्वाभावः। इस व्याप्ति का व्यभिचार स्वप्नकालीन स्वाप्नकामिनी आदि में है, क्योंकि स्वाप्नकामिनी में अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व के रहने पर भी बाध्यत्व देखा जाता है। तृतीय विकल्प के अनुसार सत्त्व का अर्थ अबाध्यत्व करने पर ''सच्चेन्न बाध्येत'' का अर्थ होगा— अबाध्यत्वं चेन्न बाध्येत'' यहां आपादक— अबाध्यत्व और आपाद्य भी अबाध्यत्व है। इस प्रकार आपादक और आपाद्य अविशिष्ट (अभिन्न) हो गये जबकि अभिन्नवस्तु में आपादक—आपाद्यभाव माना नहीं जाता है। चतुर्थ विकल्प के अनुसार सत्त्व का अर्थ प्रामाणिकत्व करने पर ''सच्चेन्न बाध्येत'' का अर्थ होगा—'' प्रामाणिकत्वं चेन्न बाध्येत।'' इसके अनुसार व्याप्ति का आकार होगा—'' यत्र यत्र प्रामाणिकत्वं तत्र तत्र अबाध्यत्वम्।'' किन्तु इस व्याप्ति में व्यभिचारदोष है, क्योंकि तत्त्वावेदक श्रुति प्रमाण के द्वारा वेद्य ब्रह्मनिष्ठनिर्विशेषत्व है। अतः ब्रह्मनिष्ठनिर्विशेषत्व में प्रामाणिकत्व गया किन्तु उसमें अबाध्यत्व नहीं है, क्योंकि निर्विशेषत्व ब्रह्म से भिन्न होने के कारण उसमें बाध्यत्व है। इस प्रकार ''सच्चेन्न बाध्येत'' से आपादकीभूत सत्त्व का निर्वचन असम्भव होने के कारण सिद्धान्ती के द्वारा कथित ''सच्चेन्न बाध्येत'' यह अर्थापत्ति खण्डित हो गयी है।।२।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''सच्चेन्न बाध्येत'' यहां आपाद्य (बाध्यत्वाभाव) का आपादक=सत्त्व का अर्थ प्रामाणिकत्व है और प्रमाणत्व तत्त्वावेदकत्वरूप है। ऐसा तत्त्वावेदकत्वरूप प्रमाणत्व लक्षणा के द्वारा शुद्धब्रह्मबोधक वेदान्त वाक्यों में रहता है, ब्रह्मनिष्ठनिर्विशेषत्वादि धर्मों के प्रतिपादक वाक्यों में नहीं रहता है। अतः ब्रह्मनिष्ठनिर्विशेषत्वादि में व्यभिचारदोष नहीं होगा।

ब्रह्मणि चिन्मात्रे वैयर्थ्येन प्रमाणाप्रवृत्त्या प्रामाणिकत्वाबाध्यत्वयोर्व्याप्तिग्रहो न स्यात्, प्रत्युत ब्रह्मभिन्न एव प्रामाणिकत्वसत्त्वेन तस्य बाध्यत्वेनैव सह व्याप्तिः स्यादिति वाच्यम्, ब्रह्मणःस्वप्रकाशत्वेऽपि व्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवृत्यर्थं प्रमाणप्रवृत्तेः सफलत्वात्। अत एव न बाध्यत्वेन सह प्रामाणिकत्वस्य व्याप्तिः, ब्रह्मणि व्यभिचाराद्विरोधाच्च। न हि तत्त्वमावेदयता वेद्यमतत्त्वं नाम।।३।।

ननु रूप्यादिबाधकस्य तत्त्वावेदकत्वे अद्वैतहानिः अतत्त्वावेदकत्वे तन्निबन्धनं रूप्यादेरप्रामाणिकत्वं न स्यादिति चेन्न, बाधकस्यातत्त्वावेदकत्वेऽपि रूप्याद्यप्रामाणिकत्वे प्रयोजकतैव, बाध्यान्यूनसत्ताकत्वस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– [पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रामाणिकत्व का अर्थ तत्त्वावेदकप्रमाणबोध्यत्व करने पर सिद्धान्ती के ''सच्चेन्न बाध्येत'' इस कथनानुसार व्याप्ति का आकार होगा– यत्र यत्र तत्त्वावेदकप्रमाणबोध्यत्वं तत्र तत्र अबाध्यत्वम्। इस व्याप्ति का समन्वय एक मात्र ब्रह्म में हो सकता है किन्तु] स्वतः प्रकाशमान चिन्मात्र जो ब्रह्म है। उस ब्रह्म में फलाभाव प्रयुक्त प्रमाण की प्रवृत्ति न होने से ब्रह्म में ''यत्र यत्र तत्त्वावेदकप्रमाणबोध्यत्वं (प्रामाणिकत्त्वं) तत्र तत्र अबाध्यत्वम्।'' इस प्रकार की व्याप्ति का निश्चय नही हो पायेगा। अतः ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च में ही प्रामाणिकत्वरूप सत्त्व मानना पड़ेगा किन्तु सिद्धान्ती प्रपञ्च में बाध्यत्व मानते हैं। अतः प्रामाणिकत्व की बाध्यत्व के साथ व्याप्ति होगी और इस व्याप्ति के अनुसार ''सच्चेद् बाध्येत'' ऐसा आपादान होगा। '' सच्चेन्न बाध्येत'' ऐसा आपादान नहीं हो पायेगा, क्योंकि इसके अनुकूल व्याप्ति नहीं है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यद्यपि ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण ब्रह्म के स्वरूप का बोधन कराने में तत्त्वावेदक श्रुतिप्रमाण की प्रवृत्ति व्यर्थ है किन्तु जीव ब्रह्म होने पर भी जीव में जो ''अहं ब्रह्मास्मि'' ऐसा व्यवहार होना चाहिए, वह अज्ञान रूप प्रतिबन्धक के कारण नहीं होता है। उस प्रतिबन्धकीभूत अज्ञान की निवृत्ति के लिए ब्रह्म में श्रुतिप्रमाण की प्रवृत्ति सफल मानी जाती है। अतः स्वयं प्रकाश ब्रह्म में ही व्याप्ति (यत्र यत्र तत्त्वावेदक प्रमाणबोध्यत्वं तत्र तत्र अबाध्यत्वम्) ग्रह हो जायेगा। अत एव=उक्त प्रकार से ब्रह्म में प्रमाण की प्रवृत्ति उपपन्न हो जाने से और ब्रह्म में उक्त व्याप्ति का ग्रह हो जाने से ही, बाध्यत्व के साथ प्रामाणिकत्व की व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि ब्रह्म में प्रामाणिकत्व के रहने पर भी बाध्यत्व नहीं है। अतः व्यभिचारदोष होता है। दूसरी बात यह है कि किसी विषय में तत्त्वावेदक प्रमाणविषयत्व और बाध्यत्व मानने पर विरोध होता है, क्योंकि तत्त्व को आवेदन करने वाले प्रमाण अर्थात् अबाधितार्थविषयकप्रमाण के द्वारा जो वेद्य होता है वह अतत्त्व=बाधित नहीं होता है।।३।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती शुक्तिरजतादि का बाधक ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक प्रत्यक्ष को तत्त्वावेदक (अबाधितार्थविषयक) प्रमाण मानते हैं? अथवा नहीं? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर ''नेदं रजतम्'' के द्वारा बोध्य पदार्थ जो रजतात्यन्ताभाव=शुक्ति है। वह तात्त्विक होगा। ऐसा होने पर द्वैतापत्ति होगी। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर अर्थात् शुक्तिरजत के बाधक ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक प्रत्यक्ष को अतत्त्वावेदकप्रमाण मानने पर ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक बाधकरूप प्रमाण के द्वारा बाधित होने के कारण शुक्तिरूप्यादि में जो अप्रामाणिकत्व आता है, वह सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि अतत्त्वावेदक प्रमाण के द्वारा किसी का भी बाध ही नहीं होता है।

समाधान–द्वितीय पक्ष को स्वीकार कर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक प्रत्यक्षरूप बाधक के अतत्त्वावेदक होने पर भी वह अतत्त्वावेदकता शुक्तिरजतादिगत अप्रामाणिकता की प्रयोजक हो जायेगी, क्योंकि बाध्य से अन्यूनसत्ताकत्व को ही बाधकत्व में प्रयोजकत्व माना जाता

बाधकत्वे तन्त्रत्वात्, अत एव अतत्त्वावेदकव्यावहारिकप्रमाणबाधितस्यापि रूप्यादेरद्वैतवत् स्वतः प्रामाण्यप्रयुक्तपारमार्थिकत्वमस्तु। न चास्य तत्त्वावेदकाद्वैतश्रुतिबाधः, तस्याः भेदश्रुतिवत् प्रत्यक्षप्राप्तव्यावहारिकरूप्यनिषेधानुवादितयोपपत्तेरिति निरस्तम्, अधिकरणानात्मकत्वपक्षे द्वैतनिषेधस्यापि व्यावहारिकत्वोपपादनाच्च।।४।।

केचित्तु— सदित्यसत एव विलक्षणमिह विवक्षितम्। न च—असत एवेत्यवधारणस्य सदसद्विलक्षणं न चेदित्यर्थपर्यवसानेन प्रतियोग्यप्रसिद्ध्या आपादकाप्रसिद्धिरिति वाच्यम्, प्रतियोगिप्रसिद्धेरनुमानेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अर्थात् बाधक वही होगा जो बाध्य से कम सत्ता वाला न हो। अर्थात् ''बाध्यान्यूनसत्ताकत्वं बाधकत्वम्'' यह बाधक का लक्षण है। प्रकृत में बाधक = ''नेदं रजतम्'' इसकी सत्ता व्यावहारिक है और बाध्य=शुक्तिरजतादि की सत्ता प्रातिभासिक है। अतः ''नेदं रजतम्'' में बाधकत्व और शुक्तिरजतादि में बाध्यत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अत एव= बाध्य से अन्यूनसत्ताकत्व के बाधकत्व में प्रयोजकत्व होने से ही, पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो कहा जाता है कि अतत्त्वावेदक प्रमाण के द्वारा शुक्तिरजतादि का बाध होने पर भी तत्त्वावेदक प्रमाण के द्वारा शुक्तिरजतादि का बाध न होने के कारण शुक्तिरजतादि में स्वतः प्रामाण्यप्रयुक्त पारमार्थिकत्व के मानने की आपत्ति होगी। जैसे तत्त्वावेदक प्रमाण के द्वारा अद्वैत (द्वैताभाव) का बाध न होने के कारण अद्वैत (द्वैताभाव) में स्वतः प्रामाण्य प्रयुक्त पारमार्थिकत्व मान लिया जाता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि अद्वैतश्रुतिरूप तत्त्वावेदक प्रमाण के द्वारा शुक्तिरजतादि का भी बाध होने से शुक्तिरजतादि में पारमार्थिकत्व के मानने की आपत्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''नेदं रजतम्'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा शुक्तिरजतादि का जो निषेध प्राप्त होता है, उसी का ही ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि अद्वैतश्रुति अनुवादिका है—ऐसा मान लेने से ही अद्वैतश्रुति की उपपत्ति हो जायेगी। जैसे भेदबोधक श्रुतियों को व्यावहारिक भेद की अनुवादिका मात्र माना जाता है। अतः अद्वैतश्रुति से शुक्तिरजतादि का बाध मानना आवश्यक नहीं है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि जिस पक्ष में द्वैताभाव को अधिकरण (ब्रह्म) स्वरूप नहीं माना जाता है, उस पक्ष में द्वैताभाव व्यावहारिक अर्थात् मिथ्या माना जाता है। उस पक्ष में द्वैतनिषेध को दृष्टान्त बनाकर शुक्तिरजतादि में पारमार्थिकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अर्थात् पूर्वपक्षी के अनुसार अनुमान होगा— शुक्तिरजतादि पारमार्थिकं तत्त्वावेदकप्रमाणाबाध्यत्वात्, द्वैताभाववत्। यहां दृष्टान्त में साध्य नहीं जायेगा, क्योंकि द्वैताभाव मिथ्या है—यह सिद्धान्ती के द्वारा कहा गया।।४।।

अद्वैत वेदान्त के हमारे कुछ आचार्यों को ''सच्चेन्न बाध्येत'' के घटक ''सत्'' पद का अर्थ= असत् से ही विलक्षण विवक्षित है। इस प्रकार अर्थ यह होगा कि ''असतः एव विलक्षणं चेन्न बाध्येत।''

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि जब यह कहा जाता है एक से ही भिन्न है तब पर्यवसित अर्थ होता है कि दो से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार जब कहा जा रहा है कि असत् से ही भिन्न है। तब पर्यवसित अर्थ होगा कि सद् और असद् से भिन्न नहीं है, क्योंकि एव के द्वारा सदसद्विलक्षण की व्यावृत्ति की गयी है। अतः ''असतः एव विलक्षणं चेन्न बाध्येत'' का पर्यवसित अर्थ हुआ—'' सदसद्विलक्षणं न चेन्न बाध्येत।'' किन्तु ''सदसद्विलक्षणं न'' अर्थात् सदसद्विलक्षण भेद। इस भेद के प्रतियोगी सदसद्विलक्षण की प्रसिद्धि न होने के कारण आपादक की अप्रसिद्धि है।

समाधान— इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सदसद्विलक्षण रूप

प्रागेव साधितत्वात्। न च सदसद्विलक्षणं न चेदित्यत्र सत् किमिति पूर्वविकल्पप्रसरः, प्रामाणिकत्वरूपसत्त्वे दोषानवकाशात्। न च बाधेनैवानिर्वाच्यत्वसिद्ध्या ख्यात्युक्त्ययोगः, तस्या अर्थापत्त्यन्तरत्वात्, आकरे एकत्वोक्तिस्तु प्रयोजनैक्यादिति कण्ठतस्तात्पर्यतश्च—आहुः।।५।।

यद्वा—अबाध्यत्वमेव सत्त्वम्, न च तर्ह्यापाद्यावैशिष्ट्यम्, अबाध्यत्वं हि त्रैकालिकनिषेधा-प्रतियोगित्वम्। तेन च विपरीतप्रमाविषयत्वाभाव आपाद्यत इति नापाद्यावैशिष्ट्यम्। व्यवहारस्यापाद्यत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतियोगी की प्रसिद्धि ''अनुमानप्रमाणविचार'' के खण्ड संख्या १ में की जा चुकी है। अतः आपादक की अप्रसिद्धि नहीं कही जा सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''सदसद्विलक्षणं न चेन्न बाध्येत'' के घटक सत् क्या है? सत्ता जाति है.... इत्यादि खण्ड संख्या २ के विकल्पों का अवसर प्राप्त होगा।

समाधान— इस शङ्का का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रामाणिकत्व रूप सत्त्व मानने पर किसी प्रकार का दोष नहीं होता है—इसका निरूपण खण्ड संख्या ३ में किया जा चुका है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित पूर्वोक्त विकल्पों को कोई अवसर नहीं प्राप्त हो सकता है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि बाधान्यथानुपपत्ति रूप एक ही अर्थापत्ति से अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि हो जाती है। अतः ख्यात्यन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति व्यर्थ है। [कहने का भाव यह है कि ''सच्चेन्न बाध्येत'' का पर्यवसित अर्थ है—'' सदसद्विलक्षणं न चेन्न बाध्येत।'' इसका विपर्यय में पर्यवसान होगा—''बाध्येत अतः सदसद्विलक्षणम्।'' इस प्रकार प्रपञ्च में बाध्यत्व के होने से सदसद्विलक्षणत्व रूप अनिर्वाच्यत्व की सिद्ध हो जायेगी। अतः '' असच्चेन्न प्रतीयेत'' इस अर्थापत्ति की आवश्यकता नहीं है।]

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ख्यात्यन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति बाधान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से भिन्न है। अर्थात् ख्यात्यन्यथानुपपत्ति और बाधान्यथानुपपत्ति—ये दोनों भिन्न-भिन्न अर्थापत्ति है। इनमें से किसी भी अर्थापत्ति के द्वारा प्रपञ्च में अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि होती है। अतः किसी एक अर्थापत्ति को व्यर्थ कहना असङ्गत है। [कहने का भाव यह है कि यदि बाध और ख्याति दोनों की अनुपपत्ति को मिलाकर एक ही अर्थापत्तिप्रमाण माना जाता तब एक भाग के व्यर्थ की आपत्ति दी जा सकती थी किन्तु दोनों को भिन्न-भिन्न अर्थापत्तिरूप प्रमाण माना जाता है। अतः किसी एक के व्यर्थ होने की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सिद्धान्ती के आकर ग्रन्थों में दोनों को मिलाकर एक ही प्रमाण माना गया है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] आकर ग्रन्थ में जो दोनों (ख्यात्यन्यथानुपपत्ति और बाधान्यथानुपपत्ति) में एक प्रमाणता का व्यवहार किया गया है। उसका सदसद् अन्यत्वरूप अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि रूप एक प्रयोजन ही कारण है। इसको कण्ठतः और तात्पर्यतः आकर ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है।५।।

अथवा ''सच्चेन्न बाध्येत'' के घटक सत् पद का अर्थ अबाध्यत्व भी माना जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी ने जो खण्ड संख्या २ में दोष दिया था कि सत् का अर्थ अबाध्यत्व कहने पर आपाद्य और आपादक में अभेदापत्ति होगी, वह उचित नहीं है, क्योंकि अबाध्यत्व का अर्थ है—त्रैकालिक निषेध का अप्रतियोगित्व। त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वरूपसत्त्व के द्वरा विपरीतप्रमाविषयत्वाभाव का आपादान किया जाता है। अर्थात् त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगित्वरूप अबाध्यत्व (आपादक) के द्वारा आपाद्य= ''इदं रजतम्'' यह भ्रम। इसका विपरीत प्रमा ''नेदं रजतम्''। इसका विषयत्व रजत में। इस प्रकार विपरीतप्रमाविषयत्व=रजतरूप बाध्यत्व में गया। उसका अभाव हो गया आपाद्य। अतः

वा नापाद्यावैशिष्ट्यम्। न च बाध्यत्वेनैवासद्व्यावृत्तेरपि सिद्ध्या अनिर्वचनीयत्वसिद्धिपर्यवसानेन शेषवैयर्थ्यम्, न प्रतीयेतेत्यत्र विपर्यये दृश्यत्वेनैव सद्वैलक्षण्यसिद्ध्या न बाध्येतेत्युक्तिरप्ययुक्तेति वाच्यम्, बाध्यत्वदृश्यत्वयोरेकैकस्य सदसद्व्यावृत्त्युभयसाधकत्वं यद्यपि सम्भवति,तथाप्येकैकस्य एकैकदेशव्याप्यत्वग्रहदशायामुभयोः साफल्यात्, उभयव्याप्यमप्येकैकमेकदेशसाधकत्वेनोपन्यस्यतः प्रति एकैकसाधकत्वस्य दोषावहत्वाभावात्। अर्थापत्तिद्वयं वैतत्, एकत्वोक्तिस्तु असतो बाध्यत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

''सच्चेन्न बाध्येत'' का अर्थ होगा– ''त्रैकालिकनिषेधाप्रतियोगी चेद् विपरीतप्रमाविषयत्वाभाववान् स्यात्''। इसलिए आपादक में आपाद्य से अभिन्नता की आपत्ति नहीं होगी। अथवा ''सच्चेन्न बाध्येत'' के घटक सत्त्व का अर्थ अबाध्यत्व और ''न बाध्येत'' का अर्थ ''अबाध्यत्वस्याव्यवहारः स्यात्= अबाध्यत्वेन प्रमितत्त्वस्य (श्रुतिमुख्यतात्पर्यविषयत्वस्य) स्यात्'' करेंगे। अतः अर्थापत्ति का आकार होगा– अबाध्यं चेद् अबाध्यत्वेन प्रमितं स्यात्। अर्थात् प्रपञ्चादि यदि अबाध्य होता तब अबाध्य के रूप से प्रमित अर्थात् श्रुति के मुख्य तात्पर्य का विषय होता। इसका विपरीत में पर्यवसान इस प्रकार होगा– प्रपञ्चादि श्रुति के मुख्य तात्पर्य का विषय नहीं है। अतः अबाध्य भी नहीं है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि बाध्यत्व से ही असद् की व्यावृत्ति और सद् की व्यावृत्ति (अपि पद से सद् की व्यावृत्ति) की सिद्धि होने से अनिर्वचनीयत्व की सिद्धि पर्यवसित हो जाने से शेष व्यर्थ है। [कहने का भाव यह है कि जैसे सत् का बाध नहीं होता है वैसे ही असत् का भी बाध नहीं होता है। प्रकृत में प्रपञ्चादि का बाध होता है। अतः प्रपञ्चादि सद् और असद् से विलक्षण सिद्ध हो जाने से उसमें अनिर्वाच्यत्व ही सिद्धि बाधान्यथानुपपत्ति से ही ही जायेगी। अतः ख्यात्यन्यथानुपपत्ति देना व्यर्थ है।] इसी प्रकार ''असच्चेन्न प्रतीयेत (न दृश्येत)'' इसका विपर्यय में पर्यवसान इस प्रकार होगा कि जिसमें दृश्यत्व है वह असत् भी नहीं हो सकता है। (और सत् भी नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मरूपसत् पदार्थ में दृश्यत्व नहीं रहता है।) प्रपञ्चादि में दृश्यत्व है। अतः प्रपञ्चादि सद् और असद् से विलक्षण सिद्ध हो जाने से उसमें अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि ख्यात्यन्यथानुपपत्ति से ही हो जायेगी। अतः बाधान्यथानुपपत्ति देना व्यर्थ है।

समाधान–सिद्धान्ती का कथन है कि यद्यपि सद्व्यावृत्ति और असद्व्यावृत्ति दोनों का साधक बाध्यत्व भी हो सकता है और दृश्यत्व भी हो सकता है। [यहां व्याप्ति का आकार होगा–''यत्र यत्र बाध्यत्वं तत्र तत्र सद्विलक्षणत्वमसद्विलक्षणत्वं च।'' इसी प्रकार दूसरी व्याप्ति का आकार होगा–'' यत्र यत्र दृश्यत्वं तत्र तत्र सद्विलक्षणत्वमसद्विलक्षणत्वं च।''] तथापि जिस वादी को ''यत्र यत्र बाध्यत्वं तत्र तत्र सद्विलक्षणत्वम्'' यह ज्ञान है किन्तु ''यत्र यत्र बाध्यत्वं तत्र तत्र असद्विलक्षणत्वम्'' यह ज्ञान नहीं है। ठीक इसी प्रकार जिस वादी को ''यत्र यत्र दृश्यत्वं तत्र तत्र असद्विलक्षणत्वम्'' यह ज्ञान है किन्तु ''यत्र यत्र दृश्यत्वं तत्र तत्र सद्विलक्षणत्वम्'' यह ज्ञान नहीं है। ऐसी दशा में उभयदल का उपन्यास करना सफल होता है। उभयव्यापक जो एक–एक है। उस एक–एक को भी एकदेशसाधकत्वेन उपन्यास करने वाले के प्रति एक–एक साधकत्व के प्रति दोषाधायक नहीं माना जाता है। [कहने का भाव यह है कि ''प्रपञ्चः सद्विलक्षणमसद्विलक्षणं च, बाध्यत्वात्।'' ऐसा अनुमान यद्यपि किया जा सकता है किन्तु यदि कोई ''प्रपञ्चः सद्विलक्षणं बाध्यत्वात्'' ऐसा अनुमान करता है। तब ऐसे स्थल पर भी दोष नहीं माना जाता है। इसीप्रकार ''प्रपञ्चः सद्विलक्षणमसद्विलक्षणं च, दृश्यत्वात्'' ऐसा अनुमान यद्यपि किया जा सकता है किन्तु यदि कोई ''प्रपञ्चः असद्विलक्षणं दृश्यत्वात्'' ऐसा अनुमान करता है, तब ऐसे स्थल पर भी दोष नहीं माना

सतोऽप्यात्मनो दृश्यत्वमङ्गीकुर्वतः परस्य मते एकैकेन उभयसाधनासम्भवनिबन्धना।।६।।

ननु न बाध्येतेत्यत्र बाधः किं बाधकज्ञानेन निवृत्तिः? त्रैकालिकनिषेधो वा? आद्य इष्टापत्तिः द्वितीये असद्विलक्षणत्वपक्षेण बाध्यते चेति विपर्ययापर्यवसानमिति—चेन्न, उभयथाप्यदोषात्। न चाद्य इष्टापत्तिः, ज्ञाननिवर्त्यत्वे श्रुत्यादिसम्मतेरुक्तत्वात्। द्वितीयेऽपि नासद्विलक्षणत्वेन विपर्ययापर्यवसानम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है।] अथवा बाधान्यथानुपपत्ति और ख्यात्यन्यथानुपत्ति ये दोनों भिन्न—भिन्न अर्थापत्ति है। इन दोनों अर्थापत्तियों में एकत्व का कथन उस वादी को ध्यान में रखकर किया गया है जो असत् में बाध्यत्व और सद्रूप आत्मा में दृश्यत्व मानता है, क्योंकि ऐसे वादी के प्रति एक—एक (बाध्यत्व का दृश्यत्व) के द्वारा उभय (सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व) का साधन नहीं किया जा सकता है। अतः दोनों अर्थापत्तियों को देना उचित ही है।।६।।

शङ्का— ''सच्चेन्न बाध्येत'' के घटक बाध का अर्थ क्या (१) बाधक ज्ञान से निवृत्ति है? अथवा (२) त्रैकालिक निषेध? प्रथम पक्ष में हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि बाधकज्ञान से शुक्तिरजतादि की निवृत्ति हमको भी इष्ट नहीं है। [कहने का भाव यह है कि प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अर्थापत्ति का आकार होगा— शुक्तिरजतं सच्चेन्न बाधकज्ञानेन निवृत्तिः स्यात्। यहां आपाद्य (न बाधकज्ञानेन निवृत्तिः स्यात्) में पूर्वपक्षी इष्टापत्ति दे रहा है, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में शुक्तिरजत असत् होने के कारण उसका बाध नहीं माना जाता है। इससे सिद्धान्ती को यह हानि हुयी की इस अर्थापत्ति का विपर्यय में पर्यवसान= ''शुक्तिरजतं बाध्येत च अतः सद्विलक्षणम्'' ऐसा नहीं हो पायेगा, क्योंकि शुक्तिरजतादि का बाध पूर्वपक्षी मान नहीं रहा है।] द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर असत् से विलक्षणत्व के साधन के लिए ''बाध्यते च'' इत्यादि जो पर्यवसायि अनुमान होता है वह नहीं होगा, क्योंकि त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व असत् में भी है। [कहने का भाव यह है कि द्वितीय पक्ष के अनुसार अर्थापत्ति का आकार होगा—सच्चेन्न त्रैकालिकनिषेधः स्यात्। किन्तु जब केवल बाध कहा जाता था तब सद् का भी बाध नहीं होता है और असत् का भी बाध नहीं होता है। किन्तु शुक्तिरजतादि का बाध होता है। अतः शुक्तिरजतादि में सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व सिद्ध हो जाता था किन्तु बाध का अर्थ त्रैकालिकनिषेध करने पर शुक्तिरजतादि का भी त्रैकालिकनिषेध होता है। अतः शुक्तिरजतादि में सद्विलक्षणत्व के सिद्ध होने पर भी असद्विलक्षणत्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि शुक्तिरजतादि में त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व ही है। अर्थात् यदि शुक्तिरजतादि में त्रैकालिकनिषेध—प्रतियोगित्व रूपबाध नहीं होता तब शुक्तिरजतादि में असद्विलक्षणता सिद्ध होती, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः शुक्तिरजतादि में असद्विलक्षणता सिद्ध नहीं हो पायेगी—यह पूर्वपक्षी का भाव है।]

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि दोनों ही पक्षों में कोई दोष नहीं है। जैसे प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर पूर्वपक्षी इष्टापत्ति नहीं दे सकता है, क्योंकि शुक्तिरजतादि में भी बाधकज्ञाननिवर्त्यत्व ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा समर्थित होने के कारण सम्भव है— यह द्वितीय मिथ्यात्व विचार के खण्ड संख्या १४—१५ में कहा जा चुका है। द्वितीय पक्ष में भी असद्विलक्षणत्वेन विपर्यय में अपर्यवसान नहीं है, क्योंकि प्रतिपन्न उपाधि (आश्रय) में होने वाले निषेध (नेदं रजतम्—इत्याकारकादि निषेध) की प्रतियोगिता रजतादि में ही मानी जा सकती है, असत् बन्ध्यासुतादि में नहीं। अतः ''न बाध्यते'' का विपर्यय=बाध्यत्व का प्रयोजक असद्वैलक्षण्य भी है। अर्थात् ''यत्र यत्र बाध्यत्वं तत्र तत्र असद्वैलक्षण्यम्'' यहां असद् वैलक्षण्य भी बाध्यत्व का प्रयोजक है। (कहीं—कहीं ब्यापक को भी प्रयोजक कह दिया जाता है।)

प्रतिपन्नोपाधिस्थनिषेधप्रतियोगित्वस्यासत्यसम्भवेनासद्वैलक्षण्यस्यैव विपर्ययपर्यवसानप्रयोजकत्वात्।।७।।

असच्चेदित्यत्रापि यद्यप्यसत्त्वं न सत्ताजातिराहित्यम्, सत्ताहीने सामान्यादौ व्यभिचारात्। यत्त्वात्मनि व्यभिचारादित्युक्तं परैः, तन्न, तन्मते आत्मनि सत्तायाः सत्त्वेनापादकस्यैवाभावाद्, अस्मन्मते च तत्र दृश्यत्वस्यैवाभावेनापाद्यस्यैवाभावात्, नापि बाध्यत्वम्, शुक्तिरूप्यादौ व्यभिचारापत्तेः, तथापि निरूपाख्यत्वं निःस्वरूपत्वं वा असत्त्वम्। न च निरुपाख्यत्वं ख्यात्यभावः तथा चापाद्यावैशिष्ट्यमिति वाच्यम्, निरुपाख्यत्वस्य पदवृत्त्यविषयत्वरूपत्वात्।।८।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि असत् में त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप बाध नहीं रहता है, किन्तु शुक्तिरजतादि में त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप बाध है। अतः शुक्तिरजतादि में असद्विलक्षणत्व पर्यवसित हो जायेगा।।७।।

''असच्चेन्न प्रतीयेत'' इस स्थल पर यद्यपि असत् पद का अर्थ सत्ताजाति राहित्य नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सत्ता जाति से रहित सामान्यादि में व्यभिचार होता है। अर्थात् ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' यहां व्याप्ति का आकार होगा— यत्र यत्र असत्त्वं तत्र तत्र प्रतीत्यभावः (दृश्यत्वाभावः)। ऐसी व्याप्ति स्वीकार करने पर सामान्यादि में सत्ताराहित्यरूप असत्त्व के रहने पर भी प्रतीत्वाभाव नहीं है किन्तु प्रतीतत्व ही है। अतः व्यभिचारदोष होगा। असत्त्व का अर्थ सत्ताजातिराहित्य करने पर न्यायामृतकार ने आत्मा में जो व्यभिचारदोष दिया है, वह उचित नहीं है, क्योंकि माध्वमतानुसार आत्मा में सत्ता जाति मानी जाती है। अतः आत्मा में सत्ताराहित्य रूप आपादक के न होने के कारण आत्मा में प्रतीत्यभाव का आपादन नहीं किया जा सकता है। अर्थात् माध्वमतानुसार आत्मा में सत्ता के होने से व्याप्य ही नहीं है। अतः व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। अद्वैतमतानुसार आत्मा में दृश्यत्वरूप प्रतीयमानत्व नहीं माना जाता है। अतः आपाद्य का ही अभाव हो जायेगा। अर्थात् अद्वैतमतानुसार आत्मा में व्याप्य और व्यापक दोनों के ही न होने से व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। इसी प्रकार ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' के घटक असत् पद का अर्थ बाध्यत्व भी नहीं किया जा सकता है,क्योंकि शुक्तिरूप्यादि में व्यभिचारदोष होगा। अर्थात् असत्त्व का अर्थ बाध्यत्व करने पर व्याप्ति का आकार होगा— ''यत्र यत्र बाध्यत्वं तत्र तत्र प्रतीत्यभावः।'' शुक्तिरूप्यादि में व्याप्य है किन्तु व्यापक नहीं है। अतः व्यभिचारदोष होगा। तथापि से अद्वैतमतानुसार असत्त्व के अर्थ का निरूपण करते हुए कह रहे हैं कि असत्त्व का अर्थ निरूपाख्यत्व या निःस्वरूपत्व करना उचित है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि निरूपाख्यत्व का अर्थ ख्यात्यभाव=प्रतीत्यभाव होता है। अतः आपादक और आपाद्य दोनों अभिन्न हो जायेंगे। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि निरूपाख्यत्व का अर्थ है पदवृत्ति की अविषयता। [अर्थात् शशविषाणादि पद का जो श्रौत्रजप्रत्यक्ष होता है। उससे जो विकल्पात्मकज्ञान होता है। वह ज्ञान पदवृत्ति (शक्तिवृत्ति और लक्षणावृत्ति) की अपेक्षा नहीं रहता है। किन्तु वह विकल्पात्मक ज्ञान पदज्ञानमात्र सापेक्ष अर्थात् पद का जो श्रौत्रजप्रत्यक्ष उसी की ही अपेक्षा रखता है। जैसाकि योगदर्शन में कहा गया है कि ''शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'' (यो.द.१—९) यहां शब्द ज्ञान से शब्द का श्रौत्रजप्रत्यक्ष लेना चाहिए। अर्थात् पदवृत्ति= शक्तिवृत्ति और लक्षणावृत्ति का अविषयत्वरूप विकल्पात्मकज्ञान शशविषाणादि का होता है। अतः पदवृत्ति की अविषयतारूप आपादक से प्रतीत्यभाव रूप आपाद्य में भेद सिद्ध हो जाता है]।।८।।

ननु निःस्वरूपत्वं स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्, तच्च प्रपञ्चसाधारणमिति तत्र व्यभिचारः, न च पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधो न स्वरूपतः प्रपञ्चस्येति—वाच्यम्, निर्धर्मकब्रह्मण्यपि तेन रूपेण निषेधात्तस्यापि मिथ्यात्वापत्तेरिति—चेन्न, मिथ्यात्वलक्षणे प्रतिपन्नोपाधाविति विशेषणबलात्तत्र नातिव्याप्तिरित्युक्तत्वात्। यस्मिन्नपि पक्षे प्रपञ्चस्य स्वरूपेण निषेधः, तदा अप्रतिपन्नोपाधिकत्वे सति स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वं निःस्वरूपत्वम्! न चैतत् प्रपञ्चेऽस्ति, येन तस्मादसन्न भवतीति विपर्ययपर्यवसानं न स्यात्।।९।।

ननु न प्रतीयेतेत्यत्र प्रतीतिसामान्यविरहस्तावदापाद्यते, तदयुक्तम्, असन्नृशृङ्गमित्यादिवाक्यादसतोऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि असत्त्व का अर्थ सिद्धान्ती ने निःस्वरूपत्व किया है जबकि निःस्वरूपत्व का अर्थ होता है स्वरूपेण निषेध प्रतियोगित्व। अतः अर्थापत्ति का आकार होगा— स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वं चेन्न प्रतीयेत। इसके अनुसार व्याप्ति होगी— यत्र यत्र स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वं तत्र तत्र प्रतीत्यभावः (दृश्यत्वाभावः)। प्रपञ्च में व्याप्य (स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्व) है किन्तु व्यापक (प्रतीत्यभाव) नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च की प्रतीति होती है। अतः व्यभिचारदोष है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रपञ्च का स्वरूप व्यावहारिक होता है। हम व्यावहारिक प्रपञ्च का स्वरूपेण (व्यावहारिकत्वेन) निषेध नहीं करते हैं, किन्तु पारमार्थिकत्वेन निषेध करते हैं। अतः स्वरूपेणनिषेध की प्रतियोगिता प्रपञ्च में न होने से उक्त व्यभिचारदोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार मिथ्यात्व का लक्षण होगा— पारमार्थिकत्वेन निषेधप्रतियोगित्व। किन्तु यह मिथ्यात्व का लक्षण ब्रह्म में चला जायेगा, क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक होता है। अतः ब्रह्म में भी पारमार्थिकत्व धर्म नहीं रहेगा। इसलिए ''पारमार्थिकत्वेन ब्रह्म नास्ति'' इस प्रकार के निषेध की प्रतियोगिता ब्रह्म में भी रहेगी। अतः ब्रह्म के मिथ्यात्व की आपत्ति होगी।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त मत में पारमार्थिकत्वेन निषेधप्रतियोगित्व को मिथ्यात्व का लक्षण नहीं माना जाता है अपितु ''प्रतिपन्नोपाधौ पारमार्थिकत्वेन निषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'' इस प्रकार से मिथ्यात्व का लक्षण किया जाता है। इस प्रकार के मिथ्यात्व लक्षण में ''प्रतिपन्नोपाधौ'' इस विशेषण के बल से ब्रह्म में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि ब्रह्म का कोई ज्ञात अधिकरण होता ही नहीं है। इसका निरूपण द्वितीयमिथ्यात्वविचार के अवसर पर किया जा चुका है। [इस पर प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती ने द्वितीयमिथ्यात्वचिार के खण्ड संख्या १४ में प्रपञ्च में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व माना है। स्वरूपेण त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्व ही निःस्वरूपत्व (असत्त्व) का लक्षण है। अतः पुनः प्रपञ्च में स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व के रहने पर भी प्रतीत्यभाव के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। इस व्यभिचारदोष के वारण के लिए कह रहे हैं कि] जिस पक्ष में प्रपञ्च का स्वरूपेण निषेध माना जाता है। उस पक्ष में निःस्वरूपत्व का अर्थ होता है—अप्रतिपन्नोपाधिकत्वे सति स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्। इस प्रकार का निःस्वरूपत्व (असत्त्व) प्रपञ्च में नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च में ''प्रतिपन्नोपाधिकत्वे सति स्वरूपेण निषेधप्रतियोगित्वम्'' है न कि ''अप्रतिपन्नोपाधिकत्वे सति स्वरूपेणनिषेधप्रतियोगित्वम्''। अतः ब्रह्म में व्यभिचारदोष नहीं होगा और ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' का विपर्यय में पर्यवसान होता है—''प्रतीयते तस्मान्न असत्।'' यह प्रपञ्च में समन्वय हो जायेगा, क्योंकि प्रपञ्च की प्रतीति होती है और प्रपञ्च में उक्तविधनिःस्वरूपत्व रूप असत्त्व नहीं रहता है।।९।।

शङ्का— ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' यहां पर ''न प्रतीयेत'' इस आपाद्य का अर्थ क्या (१) प्रतीतिसामान्य का अभाव है? अथवा (२) सत्त्वेन प्रतीति का अभाव है? अथवा (३) अपरोक्ष प्रतीति

प्रतीतेः, अन्यथा असद्वैक्षण्यज्ञानायोगः, असत्प्रतीतिनिरासायोगश्च, असत्पदस्य अनर्थकत्वे प्रयुक्तपदानां सम्भूय कार्यकारित्वायोगे बोधकत्वानुपपत्तिः, असतोऽसत्त्वेनाप्रतीतौ असद्व्यवहारानुपपत्तिः, तदुक्तम्—

'असद्विलक्षणज्ञप्तौ ज्ञातव्यमसदेव हि। तस्मादसत्प्रतीतिश्च कथं तेन निवार्यते।।'

इति—चेन्न, प्रतीत्यभावेऽपि असतो असन्नृशृङ्गमिति विकल्पमात्रेणैव सर्वोपपत्तेः। तदुक्तम्— 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' इति।।१०।।

न च विकल्प इच्छादिवत् ज्ञानान्यवृत्तिर्वा? ज्ञानविशेषो वा? आद्ये अनुभवविरोधप्रतीत्ययोगौ,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

का अभाव है? अथवा (४) सत्त्वेन अपरोक्ष प्रतीति का अभाव है? प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि हम प्रथम पक्ष मानते हैं, क्योंकि यहां पर प्रतीति का विशेषण प्रत्यक्ष—अनुमितिशाब्दादि दिया नहीं गया है। अतः ''न प्रतीयेत'' इस वाक्य के द्वारा प्रतीति सामान्य के विरह का ही आपादान होता है। अर्थात् असत् की किसी भी प्रकार की प्रतीति होती ही नहीं है—ऐसा ही आपादन होता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यह उचित नहीं है, क्योंकि ''असत् नृशृङ्ग है।'' इत्यादि वाक्य से असत् की भी प्रतीति होती है। अन्यथा = असत् की प्रतीति न मानने पर, असत् पद से भी असत् की प्रतीति नहीं हो पायेगी, तब प्रपञ्चादि में असद् वैलक्षण्य का ज्ञान नहीं हो पायेगा, क्योंकि असद्वैलक्षण्य के घटक असत् पद से किसी अर्थ की प्रतीति ही नहीं हो रही है। इसी प्रकार ''असत् प्रतीतिः न भवति'' इस प्रकार से असत् प्रतीति का जो निरास किया जाता है वह भी नहीं हो पायेगा,क्योंकि असत् पद से किसी अर्थ की प्रतीति ही नहीं हो रही है। ''असत्'' पद के अनर्थक अर्थात् किसी अर्थ का बोधक न होने पर ''असत् प्रतीतिः न भवति'' इत्याकारक वाक्यों में प्रयुक्त पदों के मिलकर कार्यकारित्व (कार्य=वाक्यार्थबोध, कारित्व= जनकत्व), न होने के कारण वाक्यार्थ बोधकत्व की अनुपपत्ति होगी और असत् की असत्त्वेन प्रतीति न होने पर ''असन्नृशृगम्'' इत्यादि व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि ज्ञान होने पर ही व्यवहार होता है। जैसा कि कहा गया है—(प्रपञ्चादि में) असद्भिन्नत्व का ज्ञान करने के लिए असद्रूप प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यक है। अतः अद्वैतवादी के द्वारा असत् की प्रतीति का कैसे निवारण होगा? अर्थात् असत् की प्रतीति का निरास नहीं हो सकता है। (इस प्रकार पूर्वपक्षी के कथन का सारांश यह निकला कि ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' ऐसा आपादन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि असत् के सामान्य प्रतीति का अभाव होता ही नहीं है।)

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि असत् की प्रतीति (प्रमाणादि चैतसिक वृत्तियों) के न होने पर भी असद्विषयक जो ''असत् नृशृङ्गम्'' इत्याकारक विकल्प वृत्ति होती है। उससे ही असत् घटित वाक्य के वाक्यार्थ की प्रतीति और असद् व्यवहारादि की उपपत्ति हो जायेगी। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—''शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'' (यो.सू.१—९) अर्थात् शब्दविषयकश्रोत्रज प्रत्यक्ष के पश्चात् होने वाला चित्त का विषय वस्तु से रहित जो परिणाम विशेष है, उसको विकल्प वृत्ति कहते हैं।।१०।।

शङ्का—सिद्धान्ती ने पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार जो असत् की विकल्प वृत्ति माना है, वह इच्छादि के जैसे ज्ञान से भिन्न कोई वृत्ति है? अथवा ज्ञानविशेष ही है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अनुभव विरोध और असत् की प्रतीति का अयोग है। [अर्थात् विकल्पवृत्ति को ज्ञान से भिन्न मानने पर ''असन्नृशृङ्गम्'' इस वाक्य से असत् का जो अनुभवात्मक ज्ञान होता है, उससे विरोध होगा और असत् पद से असत् का ज्ञान न होने पर असत् पद घटित वाक्यों से वाक्यार्थ बोध ही नहीं हो पायेगा

द्वितीये असतः प्रतीतिरागतैव। वस्तुशून्य इत्यत्रापि किमपि नोल्लिखतीति वा? असदेवोल्लिखतीति वा? आद्ये अनुभवविरोधः, द्वितीये इष्टापत्तिरिति वाच्यम्, विकल्पस्य ज्ञानान्यवृत्तित्वे बाधकाभावात्, शशविषाणमनुभवामीत्यप्रत्ययाच्च। वस्तुशून्यता च सोपाख्यधर्मानुल्लेखित्वम्, अतो न कोऽपि दोषः। विकल्पस्य ज्ञानत्वे तु तदन्यज्ञान विषयत्वाभाव आपाद्यः। शुक्तिरूप्यादेरसत्त्वे च प्रतीतिविषयत्वं विकल्पान्यप्रतीतिविषयत्वं वानुपपन्नमित्यनिर्वाच्यत्वसिद्धिः। यद्वा—सत्त्वेन प्रतीत्यभाव एवापाद्यः।।११।।

ननु प्रमारूपतादृक्प्रत्ययाभावापादनमिष्टमेव। नह्यसतः सत्त्वेन प्रतीतिः केनचित् प्रमोच्यते। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

तथा असत् का ज्ञान न होने पर असत् व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।] द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर असत् शब्द से असत् की प्रतीति सिद्ध हो जायेगी। ऐसा होने पर ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' ऐसा आपादन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो असत् होता है, उसकी भी प्रतीति होती ही है। पातञ्जल योगसूत्र घटक ''विकल्पशून्य'' पद का क्या यह अर्थ है कि विकल्पवृत्ति किसी को भी विषय नहीं करती है? अथवा असत् को ही विषय करती है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अनुभव विरोध होगा, क्योंकि ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' ''असन्नृशृङ्गम्'' इत्यादि स्थलों पर असत् पद से असत् विषय का उल्लेख अनुभव सिद्ध है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर इष्टापत्ति है। ऐसा होने पर ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' ऐसा आपादन नहीं हो पायेगा, क्योंकि असत् की भी प्रतीति होती ही है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करत हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ज्ञान से भिन्न विकल्पवृत्ति मानने में कोई बाधक नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी ने जो अनुभव विरोध कहा था, वह उचित नहीं है, क्योंकि ''शशविषाणमनुभवामि'' इत्याकारक प्रत्यय होता ही नहीं है। वस्तुशून्यता का अर्थ सोपाख्य धर्म (अस्तित्व धर्म) का अनुल्लेख है। ऐसा अर्थ करने पर कोई दोष नहीं है,क्योंकि ''असन्नृशृङ्गमस्ति'' इस वाक्य के श्रवण के पश्चात् जो विकल्पवृत्ति होती है, उसमें ''असन्नृशृङ्गमस्ति'' इस प्रकार से अस्तित्व धर्म का उल्लेख नहीं होता है। विकल्पवृत्ति को ज्ञानात्मक वृत्ति मानने पर विकल्प से भिन्न ज्ञान की विषयता का अभाव आपाद्य होता है। अर्थात् ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' का अर्थ होगा—''असच्चेन्न विकल्पान्यज्ञानविषयः स्यात्।'' यदि शुक्तिरजतादि असत् माने जाते हैं तब प्रतीतिविषयत्व या विकल्पान्यप्रतीतिविषयत्व अनुपपन्न होगा। अर्थात् ''शुक्तिरूप्यादेः असत्त्वे प्रतीतिविषयत्वं विकल्पान्यप्रतीतिविषयत्वं वा अनुपपन्नम्।'' इस प्रकार शुक्तिरूप्यादि में असद्विलक्षणत्व की सिद्धि हो जाने से अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि हो जाती है। खण्ड संख्या १० के द्वितीय पक्ष (सत्त्वेन प्रतीति के अभाव) का समर्थन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अथवा सत्त्वेन प्रतीति का अभाव आपाद्य है। अर्थात् प्रतीति का विशेषण सत्त्वप्रकारकत्व देंगे। तब ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' का अर्थ होगा—''असच्चेन्न सत्त्वप्रकारकप्रतीतिः स्यात्।''।।११।।

शङ्का—सिद्धान्ती के द्वारा जो सत्त्वेन प्रतीति के अभाव को अपाद्य कहा गया है। उसमें प्रतीति पद से क्या (१)प्रमा प्रतीति विवक्षित है? अथवा (२) भ्रमप्रतीति विवक्षित है? अथवा (३) भ्रमप्रमासाधारणप्रतीति विवक्षित है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अर्थापत्ति का आकार होगा—'' असच्चेन्न सत्त्वेन प्रमाप्रतीतिः स्यात्।'' इस पर पूर्वपक्षी इष्टापत्ति देते हुए कह रहा है कि सत्त्वेन प्रमात्मक प्रतीति का अभाव यदि आपाद्य है तब इष्टापत्ति है, क्योंकि असत् की सत्त्वेन प्रमात्मक प्रतीति कोई भी नहीं मानता है। द्वितीय अथवा तृतीय पक्ष स्वीकार करने पर अर्थात् सत्त्वेन भ्रमप्रतीति का अभाव अथवा सत्त्वेन भ्रमप्रमासाधारणप्रतीति का अभाव को भी आपाद्य नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि तृतीय पक्ष में सत्त्वेन प्रमात्मक प्रतीति का अभाव को आपाद्य बनाने पर प्रथम पक्ष का

तादृग्भ्रान्तिविरहः तादृक्प्रतीतिसामान्यविरहो वाऽऽपाद्यः, येन पुंसा शशे शृङ्गाभावो नावगतः तस्य गोशृङ्गमस्तीति वाक्यादिव शशशृङ्गमस्तीति वाक्यादपि भ्रान्तिदर्शनात्, न हि घढधषादिशब्दवदत्र पदार्थानुपस्थापकत्वम्, न वा कुण्डमजाजिनमित्यादिवदन्वयाबोधकत्वम्, अयोग्यताज्ञानाभावस्य योग्यताभ्रमस्य वा आकाङ्क्षादिसामग्रीसध्रीचीनस्य सत्त्वाद्, अन्यथा प्रतीत्याद्यभावप्रसङ्ग इति चेन्न, 'इदं रजतम्' इति प्रात्यक्षिकभ्रमवद् अस्याप्यनिर्वाच्यविषयत्वात्।।१२।।

न च—अस्याप्यनिर्वाच्यत्वे रूप्यात् भेदो न स्यादिति वाच्यम्, को हि अनिर्वाच्यादनिर्वाच्यं

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोष आयोग। सत्त्वेन भ्रमात्मक प्रतीति के अभाव को आपाद्य बनाने पर द्वितीय पक्ष का दोष आयेगा। द्वितीय पक्ष में कैसे दोष होगा। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि द्वितीय पक्ष के अनुसार अर्थापत्ति का आकार होगा—" असच्चेन्न सत्त्वेन भ्रमप्रतीतिः स्यात्।" यहां पर सत्त्वेन भ्रम प्रतीति का अभाव का अर्थ सत्त्वेन किसी भी प्रकारक का भ्रम नहीं होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जिस चैत्र को शश में शृङ्गाभाव का ज्ञान नहीं है, उस चैत्र को जैसे "गोशृङ्गमस्ति" इस वाक्य से सत्त्वप्रकारकप्रमात्मक ज्ञान होता है, वैसे ही "शशशृङ्गमस्ति" इस वाक्य से भी सत्त्वप्रकारकभ्रम ज्ञान होता है। जैसे घढधष शब्द में पदार्थ का उपस्थापकत्व (स्मारकत्व) नहीं माना जाता है, वैसे ही "शशशृङ्गमस्ति" इस वाक्य में पदार्थ का उपस्थापकत्वाभाव नहीं माना जाता है और "कुण्डमजाजिनम्" यहां पर अन्वय का अबोधकत्व है। अर्थात् यहां प्रत्येक पदों से अर्थ बोध होता है किन्तु सभी पद मिलकर वाक्यार्थबोध के जनक नहीं होते हैं, वैसे ही "शशशृङ्गमस्ति" यहां पर अन्वय का अबोधकत्व नहीं है, क्योंकि यहां अयोग्यता ज्ञान का अभाव अथवा योग्यता भ्रम के साथ—साथ आकाक्षादि घटित सम्पूर्ण शाब्दबोध की सामग्री विद्यमान है। [शाब्दबोध की सामग्री में कुछ लोग अयोग्यताज्ञानाभाव को मानते हैं और कुछ लोग योग्यताज्ञान को मानते हैं। इसलिए मूल में कहा गया है कि शाब्दबोध की सामग्री के अन्तर्गत अयोग्यताज्ञानाभाव को रखें अथवा योग्यताज्ञान को रखें। हमें कोई भी आपत्ति नहीं है। उनसे घटित शाब्दबोध की सम्पूर्ण सामग्री विद्यमान है। अतः "शशश्रङ्गमस्ति" इस वाक्य से भी सत्त्वेन भ्रमात्मक प्रतीति होगी।]अन्यथा=शाब्दबोध की सामग्री के रहने पर भी प्रतीति न मानने पर किसी भी वाक्य से कोई भी प्रतीति नहीं हो पायेगी।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि "इदं रजतम्" यह प्रात्यक्षिक भ्रम जैसे अनिर्वाच्यशुक्तिरजत को विषय करता है, ठीक वैसे ही "शशशृङ्गमस्ति" इस वाक्य से जन्य भ्रमज्ञान भी अनिर्वाच्य शशशृङ्ग को विषय करता है। [कहने का भाव यह है कि जिस देवदत्त को शश में शृङ्गाभाव का ज्ञान नहीं है, उसको "शशशृङ्गमस्ति" इस वाक्य के श्रवणानन्तर जो भ्रम ज्ञान होता है। उस भ्रमज्ञान का विषय अनिर्वचनीय शशशृङ्ग है न कि असत् शशशृङ्ग। किन्तु जिस चैत्र को शश में शृङ्गाभाव का ज्ञान है, उसको "शशशृङ्गमस्ति" इस वाक्य के श्रवणानन्तर केवल असत् शशशृङ्ग की विकल्प वृत्ति होती है न कि ज्ञान। अतः कोई दोष नहीं है।] ।।१२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि "शशशृङ्गमस्ति" इस वाक्य से जन्य ज्ञान के विषयीभूत शशशृङ्ग में अनिर्वाच्यत्व मानने पर शुक्तिरजतादि से शशशृङ्ग का भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी से किसने कहा कि हम अनिर्वचनीय से अनिर्वचनीय का भेद मान रहे हैं। अतः हमारे ऊपर उक्त प्रकार से पूर्वपक्षी उपालम्भ नहीं दे सकता है। अद्वैत सिद्धान्त में निःस्वरूपात्मक असत् से अनिर्वचनीय का भेद माना जाता है, क्योंकि निःस्वरूपात्मक असत् में सत्त्वेन प्रतीति विषयता नहीं होती है। इसका निरूपण

भेत्तुमध्यवसितः? यमेवमाक्षिपसि, किन्तु निःस्वरूपात्। यथा च सत्त्वेन न निःस्वरूपविषयत्वं तथोक्तं प्राक्। न चैवं शशशृङ्गादेरनिर्वाच्यत्वे निःस्वरूपत्वोच्छेदः, शशशृङ्गमस्तीत्यत्र शशे शृङ्गारोपेण शृङ्गे शशीयत्वारोपेण वा अनिर्वाच्यविषयत्वेऽपि 'असन्नृशृङ्गम्'इत्यादिवाक्यश्रवणसमनन्तरं विकल्प्यमानाखण्डशशशृङ्गादेरनिर्वाच्यानात्मकस्य निःस्वरूपत्वात्। न चात्र निःस्वरूपत्वादिविकल्पः, उक्तोत्तरत्वात्।।१३।।

न च—'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।' इति त्वन्मते तस्याध्यस्तस्यास्तित्व—

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वितीय मिथ्यात्व विचार के खण्ड संख्या ३० में किया जा चुका है। [कहने का भाव यह है कि जहां पर ''शशशृङ्गमस्ति'' इस वाक्य से भ्रमज्ञान होगा, वहां पर इसके विषय (अनिर्वचनीय शशशृङ्ग) से ''इदं रजतम्'' इस प्रात्यक्षिक भ्रम के विषय (अनिर्वचनीय शुक्तिरजत) से भेद नहीं माना जाता है किन्तु जहां पर ''शशशृङ्गमस्ति'' इस वाक्य से विकल्पवृत्ति होती है, वहां पर इसके विषय (असत् शशशृङ्ग) से ''इदं रजतम्'' इस प्रात्यक्षिक भ्रम के विषय (अनिर्वचनीय शुक्तिरजत) से भेद माना जाता है, क्योंकि असत् में सत्त्वेन प्रतीतिविषयता नहीं रहती है जब कि अनिर्वचनीय में सत्त्वेन प्रतीति विषयता आदि रहती है।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि सिद्धान्ती शशशृङ्गादिगत अनिर्वचनीयता मानते हैं, तब तो सिद्धान्ती के ही द्वारा स्वीकृत शशशृङ्गादि गत निःस्वरूपत्व का उच्छेद हो जायेगा और असत् शशशृङ्गादि की व्यावृत्ति के लिए अनिर्वचनीयत्व के लक्षण में दिया गया''असद्भिन्नत्व'' विशेषण भी व्यर्थ हो जायेगा।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तमत में सर्वत्र शशशृङ्ग में अनिर्वचनीयत्व नहीं माना जाता है किन्तु जिस व्यक्ति को शश में शृङ्ग नहीं होता है—ऐसा ज्ञान नहीं है। ऐसे स्थल पर ''शशशृङ्गमस्ति'' इस प्रकार की प्रतीति में शश में शृङ्ग का आरोप अथवा शृङ्ग में शशीयत्व का आरोप होता है। इस प्रकार शशशृङ्गादि का सखण्ड ज्ञान होता है। अर्थात् ''शशे'' इस खण्ड में शश का एक ज्ञान और ''शृङ्गम्'' इस खण्ड में शृङ्ग का दूसरा ज्ञान होता है। इसप्रकार खण्ड—खण्ड में शश और शृङ्ग का ज्ञान होने से इसे सखण्ड ज्ञान कहा जाता है और शश में शृङ्ग का और शृङ्ग में शशीय का आरोप होने के कारण इस प्रतीति का विषय अनिर्वचनीय शशशृङ्ग माना जाता है किन्तु जिस व्यक्ति को शश में शृङ्ग नहीं होता है—ऐसा ज्ञान है। ऐसे स्थल पर ''असत् शशशृङ्गम्'' इस प्रकार के वाक्य के श्रवणान्तर अखण्ड शशशृङ्गाकार जो चित्त की विकल्पसंज्ञक वृत्ति उत्पन्न होती है। उस वृत्ति का विषय अनिर्वाच्यानात्मक निःस्वरूप असत् ही होता है। अर्थात् शश और शृङ्ग का खण्ड—खण्ड में ज्ञान न होकर एक साथ ''असन्नृशृङ्गम्'' ऐसा ज्ञान जब होता है तब इस ज्ञान को अखण्ड कहा जाता है और इसका विषय निःस्वरूप (असत्) कहा जाता है। ऐसे असत् की व्यावृत्ति के लिए अनिर्वचनीयत्व के लक्षण में जो ''असद्भिन्नत्व'' विशेषण दिया जाता है। वह उचित ही है। निःस्वरूपत्व क्या है? सत्ताजातिराहित्य रूप है? अथवा बाध्यत्वरूप है?— इत्यादि विकल्पों को पूर्वपक्षी के द्वारा करना उचित नही है, क्योंकि पदवृत्यविषयत्वरूप निःस्वरूपत्व होता है—इसका निरूपण खण्ड संख्या ८ में किया जा चुका है।।१३।।

शङ्का— खण्डनखण्डखाद्य के ''अद्वैते प्रमाणविचारः'' में आचार्यप्रवरश्रीश्रीहर्ष ने कहा है—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्।।

स्यानिर्वाच्यत्वेऽपि 'शशशृङ्गमसत्'इति वाक्यादिव 'शशशृङ्गमस्ति'इति वाक्येऽपि शशशृङ्गशब्देनासत एव प्रतीतिरिरिति वाच्यम्, अस्तित्वस्यानिर्वाच्यत्वेन शशशृङ्गपदाभ्यां तदधिष्ठानमवश्यं वक्तव्यम्। अत्यन्तासच्चानधिष्ठानमिति न शशशृङ्गपदाभ्यां तदुपस्थितिः,दृष्टान्तीकृतवाक्ये तु नानिर्वाच्यं किञ्चिदपि प्रतीयत इति नाधिष्ठानज्ञानापेक्षेति वैषम्यात् अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमित्यादि तु अस्त्यादिपदासमभिव्याहृत– शशशृङ्गमसदिति वाक्यपरम्। न च 'तद्धैक आहुः असदेवेदमग्र आसीत्'इति श्रुत्या असतः सत्त्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

[अङ्गुल्यग्रे करिशतं विहरति, मम कर्णकुहरं प्रविश्य: सिंह: क्रीडति'' ''शशशृङ्गमस्ति'' इत्यादि वाक्यों से अत्यन्त असत् अर्थ के ज्ञान को शब्द उत्पन्न करता है। परन्तु पश्चात् में बाध होने पर यह ज्ञान भ्रम सिद्ध हो जाता है और पश्चात् में अबाध होने पर उसमें स्वतः प्रामाण्य से निश्चल प्रमात्व सिद्ध हो जाता है।] इस प्रकार खण्डनखण्डखाद्यकार ने स्वीकार किया है कि शशशृङ्गादि शब्दों के द्वारा अत्यन्त असत् अर्थ का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार सिद्धान्ती के मत में भी ''शशशृङ्गमस्ति'' इस स्थल पर शशशृङ्ग में अस्तित्व का भ्रमज्ञान होने पर शशशृङ्ग में अध्यस्त अस्तित्व के अनिर्वचनीय होने पर भी, उस अध्यस्त अस्तित्व के अधिष्ठान शशशृङ्गरूप असत् अर्थ का ही ज्ञान ''शशशृङ्गमस्ति'' इस वाक्य से होता है न कि शशशृङ्गरूप अनिर्वचनीय अर्थ का ज्ञान होता है। जैसे ''शशशृङ्गमसत्'' इस स्थल पर असत् शशशृङ्ग का ज्ञान होता है। अतः असत् शशशृङ्ग की विकल्पात्मक वृत्ति मानना उचित नहीं है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''शशशृङ्गमस्ति'' इस स्थल पर अस्तित्व के अनिर्वाच्यत्व होने से शश तथा शृङ्ग इन दोनों पदों के द्वारा अध्यस्त अस्तित्व के अधिष्ठान की उपस्थिति कराना आवश्यक है। अत्यन्त असत् वस्तु किसी का अधिष्ठान होती नहीं है। अतः ''शशशृङ्गमस्ति'' इस दार्ष्टान्तीभूत वाक्य में शश और शृङ्ग इन दोनों पदों से अत्यन्त असत् की उपस्थिति नहीं हो सकती है। '' शशशृङ्गमसत्'' इस दृष्टान्तीभूतवाक्य में कोई भी अनिर्वचनीय पदार्थ प्रतीत नहीं होता है। अतः यहां पर अधिष्ठान ज्ञान की अपेक्षा भी नहीं होती है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। [अर्थात् जब ''शशशृङ्गमस्ति'' इस वाक्य से शश में शृङ्ग के अस्तित्व का आरोप होता है। अथवा शृङ्ग में शशीयत्व के अस्तित्व का आरोप होता है। ऐसे स्थल पर जिसका आरोप होता है, वह प्रातिभासिक सत्ता वाला होता है और अधिष्ठान शश अथवा शृङ्ग व्यावहारिक सत्ता वाला होता है। ऐसे शश अथवा शृङ्ग का ज्ञान होता है न कि विकल्पात्मक वृत्ति। किन्तु ''शशशृङ्गमसत्'' इस स्थल पर अधिष्ठानज्ञान की आवश्यकता होती नहीं है। अतः यहां पर असत् शशशृङ्ग की विकल्पात्मिकता वृत्ति ही होती है न कि ज्ञान]'' अत्यन्तासत्यपि....'' ऐसा जो कहा गया है। वह ''अस्ति, भवति'' इत्यादि अस्तित्व बोधक पदों का जहां उल्लेख नहीं होता है, ऐसे ''शशशृङ्गमसत्'' इत्यादि स्थलों पर असत् शशशृङ्ग की विकल्पात्मक वृत्ति होती है। उस उद्देश्य से कहा गया है। जहां पर ''अस्ति'' इत्यादि अस्तित्वबोधक पदों का प्रयोग होता है। ऐसे ''शशशृङ्गमस्ति'' इत्यादि स्थलों पर शश अथवा शृङ्ग की विकल्पात्मक वृत्ति नहीं होती है अपितु शश अथवा शृङ्ग का ज्ञान होता है।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि ''तद्धैक आहुः असदेवेदमग्र आसीत्'' (छा.उ.६–२–१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा असत् की भी सत्त्वेन प्रतीति कही गयी है। अतः असत् की विकल्पात्मक वृत्ति मानना उचित नहीं है।

समाधान– ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि इस श्रुति के द्वारा असत् के सत्त्व का प्रतिपादन

प्रतीतिरिति—वाच्यम्, यथा नानया असतः सत्त्वप्रतिपादनं तथोक्तं मिथ्यात्वलक्षणे।।१४।।

तार्किकास्तु शशशृङ्गादिपदानामपार्थकतैवेति वदन्ति। न चानन्वयनिश्चयविरहदशायां प्रवृत्तिपर्यन्तानुभवविरोधः, अनन्वयनिश्चयदशायामेवाबोधकतोक्तेस्तद्विरहदशायामपि नाखण्डशशशृङ्गादिबोधकत्वम्, किन्तु सन्मात्रगोचरव्यधिकरणप्रकारकज्ञानं वा, सदुपरागेणासद्गोचरज्ञानं वा। केवलासद्भाने सामग्रीविरहात्। तदुक्तं बौद्धाधिकारे 'सङ्गतिग्रहणाभावात् शशशृङ्गादिपदानामबोधकता'इति। न च यौगिकशब्दानाम—

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं किया गया है, अपितु प्रथम सत् ही था— इस अर्थ के अभाव का ही नञ् के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। यह चतुर्थमिथ्यात्वविचार के खण्ड संख्या ८ में कहा जा चुका है।।१४।।

''शशशृङ्गादि पदों में अपार्थकता (वाक्यार्थबोधकता) ही है''—ऐसा तार्किकगण कहते हैं। अर्थात् शशशृङ्गादि पद निरर्थक हैं—ऐसा तार्किक लोगों का मानना है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शशशृङ्गादि पदों में वाक्यार्थबोधकता मानने पर अनुभव विरोध होगा, क्योंकि देवदत्त को जिस काल में शश पदार्थ का शृङ्ग पदार्थ के साथ अनन्वय के निश्चय का विरह है। अर्थात् जिस काल में देवदत्त को शश में शृङ्ग का अनन्वय (सम्बन्ध का अभाव) है—ऐसा निश्चय नहीं है। उस काल में ''शशशृङ्गमस्ति'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा बोध भी होता है और उस बोध के द्वारा देवदत्त की प्रवृत्ति भी देखी जाती है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है,क्योंकि जिस व्यक्ति को यह निश्चय है कि शश का शृङ्ग नहीं होता है। उस व्यक्ति के प्रति जब शशशृङ्ग पद घटित वाक्य का प्रयोग किया जाता है, तब वह वाक्य के किसी अर्थ का बोधक नहीं होता है— ऐसा तार्किकों के उक्त कथन का तात्पर्य है। किन्तु शश का शृङ्ग नहीं होता है—ऐसा जिस व्यक्ति को निश्चय नहीं है। उस व्यक्ति के प्रति जब शशशृङ्ग पद से घटित वाक्य का प्रयोग किया जाता है तब उस वाक्य में अखण्ड शशशृङ्ग के बोध की जनकता नहीं रहती है अपितु सन्मात्रविषयक व्यधिकरणप्रकारक बोध की जनकता रहती है। अर्थात् शशीयत्व शशवृत्ति लोमादि में रहता है। अतः शृङ्ग में उसका भान व्यभिकरण प्रकारक भान है और '' शृङ्गे शशीयत्वम्'' इस स्थल पर शृङ्ग और शशीयत्व दोनों ही सत् होते हैं। इसमें किसी भी असत् पदार्थ का भान नहीं होता है। इस प्रकार ''शृङ्गे शशीयत्वम्'' यह ज्ञान सन्मात्र विषयक है और व्यधिकरणप्रकारक है किन्तु इस पक्ष में अरुचि यह है कि जब व्यधिकरण प्रकारक ज्ञान होता है, तब प्रकार और विशेष्य के सत् होने पर भी प्रकार और विशेष्यमें जो सम्बन्ध होता है। वह सत् नहीं होता है। अतः व्यधिकरणप्रकारकज्ञान को सन्मात्रविषयक नहीं कहा जा सकता है। इस अरुचि के कारण दूसरा पक्ष दे रहे हैं कि श्रीवाचस्पतिमिश्र के मत में सदुपरागेण असत् के संसर्ग का भान भ्रमस्थल पर होता है। जैसे शृङ्ग रूप सत् में शशीयत्व का सम्बन्ध जो असत् है, उसका भान होता है। केवल अखण्ड असद् वस्तु का भान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उसके भान की सामग्री का अभाव है। जैसा कि श्रीउदयनाचार्य ने आत्मतत्त्वविवेक में बौद्धमत का खण्डन करते हुए कहा है कि ''सङ्गतिग्रहणाभावात् शशशृङ्गादि पदानामबोधकता।'' अर्थात् लोक में जो असत् बन्ध्यासुतादि विषय प्रसिद्ध ही नहीं है। उनके साथ किसी शब्द का सङ्गति ग्रह (शक्तिग्रह) ही सम्भव नहीं है। कहने का भाव यह है कि जो गवादि वस्तु लोक में प्रसिद्ध है, उसमें ही ''गामानय'' ''गां वधान'' इत्यादि प्रकार से शक्तिग्रह बच्चे को होता है। जो वस्तु लोक में ही नहीं है। उसका किसी प्रकार से शक्तिग्रह ही नहीं हो सकता है। अतः अग्रहीतसङ्गतिक बन्ध्यासुतादि पदों में अर्थ की बोधकता नहीं मानी जा सकती है।

वयवसङ्गत्यतिरेकेण पृथक्सङ्गत्यनपेक्षत्वम्, अवयवशक्तिप्राधान्येन बोधने अखण्डासद्बोधनस्याशक्तत्वाद्, अवयवानां स्वशक्त्यपुरस्कारेणाप्रत्यायकत्वात्। न हि पाचकादि: पाकादिमबोधयन् बोधयति। न च तर्हि शशशृङ्गमसच्छशशृङ्गं नास्तीत्यादिवाक्यानामबोधकत्वम्, तेषां शशे शृङ्गाभावबोधकत्वात्। एषा तु बोधकता न शशशृङ्गपदमात्रे, किन्तु नास्तीतिपदसमभिव्याहृते। अतो न नास्तीति पौनरुक्त्य–रूपशङ्काभासाद्यवकाश इति।।१५।।

यद्वा–अपरोक्षप्रतीत्यभाव आपाद्य:। न च यदसत्तन्न प्रतीयत इति व्याप्तिज्ञानस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि यौगिक शब्दों से अवयवशक्ति से अतिरिक्त शक्ति का अनपेक्षत्व है। [अर्थात् शशशृङ्ग एक यौगिक शब्द है। इसके दो अवयव हैं। प्रथम–शश और द्वितीय शृङ्ग। ऐसे स्थल पर शश पद में शशपदार्थ बोधिका शक्ति है और शृङ्ग पद में शृङ्ग पदार्थबोधिका शक्ति है। अत: इन दोनों शक्तियों के ज्ञानरूप सामग्री से ही अखण्ड शशशृङ्ग के अर्थ का ज्ञान हो जायेगा। अत: अखण्ड शशशृङ्ग के ज्ञान के लिए उक्त दो शक्तियों से अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है।]

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अवयव शक्ति को प्रमुख रखकर जहां यौगिक शब्द अर्थ बोधन कराते हैं, वहां अवयवार्थ से अतिरिक्त किसी अर्थ का बोधन नहीं कराते हैं, क्योंकि उनके अवयव भूत प्रकृति और प्रत्यय अपनी शक्ति की अपेक्षा न करके किसी अर्थ के बोधक नहीं होते हैं। जैसे पाचकादि पद पाकक्रिया और पाकक्रिया का कर्ता अर्थ का बोध न कराकर अन्य किसी अर्थ का बोध नहीं कराते हैं। अर्थात् पाकक्रिया और पाकक्रिया के कर्तारूप अर्थ का ही बोधन कराते हैं। अत: शशशृङ्ग यह दोनों एक अखण्ड अर्थ (असत् शशशृङ्ग) का बोध नहीं करा सकते हैं, किन्तु दोनों पद पृथक्–पृथक् अपने अर्थ का ही बोध करायेंगे।

शङ्का–तर्हि= ''शशशृङ्गमसत्'' इत्यादि वाक्य यदि अखण्ड शशशृङ्ग असत् का बोध नहीं कराते हैं तो ''शशशृङ्गमसत्'', ''शशशृङ्गं नास्ति'' इत्यादि वाक्यों में वाक्यार्थबोध के अबोधकत्व की आपत्ति होगी।

समाधान– उक्त शङ्का अनुचित है, क्योंकि उक्त वाक्यों के द्वारा अखण्ड शशशृङ्ग का बोध न होने पर भी सखण्ड बोध होता ही है। अर्थात् शश में शृङ्गाभाव (और शृङ्ग में शशीयत्वाभाव) का बोध होता ही है। शश में शृङ्गाभाव की बोधकता भी ''शशशृङ्गम्'' इतने मात्र पद में नहीं होती है किन्तु ''नास्ति'' इस पद के साथ उच्चरित ''शशशृङ्गं नास्ति'' में है। अर्थात् ''शशे शृङ्गाभाव:'' यह अर्थ केवल शशशृङ्ग पद का नहीं है किन्तु ''नास्ति'' पद के सहित उच्चरित ''शशशृङ्गं नास्ति'' इस सम्पूर्ण वाक्य का है। अत: ''नास्ति'' इसमें पुनरुक्ति रूप शङ्काभासादि का अवकाश नहीं है। अर्थात् यदि केवल शशशृङ्ग का अर्थ शश में शृङ्गाभाव अर्थ किया जाता है तब अभावार्थक ''नास्ति'' की पुनरुक्ति की शङ्का हो सकती थी, किन्तु केवल शशशृङ्ग का अर्थ ''शश में शृङ्गाभाव'' किया नहीं गया है। अत: ''नास्ति'' के अभावरूप अर्थ को लेकर पुनरुक्ति रूप दोष नहीं होगा।।१५।।

खण्ड संख्या १० के तृतीय पक्ष (अपरोक्ष प्रतीति का अभाव) का समर्थन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अथवा ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' इस स्थल पर ''न प्रतीयेत'' इस आपाद्य का अर्थ है–अपरोक्षप्रतीति का अभाव। अर्थात् ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' का अर्थ है–असच्चेन्न प्रत्यक्षप्रतीति: स्यात्।

शङ्का– असत् की भी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है– इसको सिद्ध करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है

प्रत्यक्षमावश्यकम्, अतश्चासतोऽपि प्रत्यक्षत्वम्, ज्ञानज्ञानस्य तद्विषयविषयकत्वनियमात्। किञ्च शशशृङ्गाद्यत्यन्ताभावप्रत्यक्षमावश्यकम्, अन्यथा असतोऽपि असत्त्वबुद्धिर्न स्यात्, तथा च शशशृङ्गादेः प्रत्यक्षत्वमेवेति वाच्यम्, साक्षादित्यनिषेध्यतयेति चापरोक्षप्रतीतिविषयविशेषणात्। उक्त स्थले च ज्ञान(ज्ञाने)विषयतया निषेध्यतया च विषयत्वमिति नास्ति विशिष्टाभावस्यापाद्यस्यासम्भवः।।१६।।

यद्वा सत्त्वेनापरोक्षप्रतीतिविषयत्वाभाव आपाद्यः। न च—इदं रूप्यमित्यादि भ्रान्त्या अत्यन्तासदेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि ''जो असत् है वह प्रतीत नहीं होता है'' इत्याकारक व्याप्तिज्ञान (व्यवसायज्ञान) का प्रत्यक्ष (अनुव्यवसायज्ञान) होना आवश्यक है। असद् विषयक व्याप्तिज्ञान का प्रत्यक्ष होने पर परम्परया असत् का भी प्रत्यक्ष हो जायेगा,क्योंकि ज्ञान (व्यवसायज्ञान) के ज्ञान (अनुव्यवसाय ज्ञान) में अनुव्यवसायज्ञान का जो विषय व्यवसायज्ञान है। उसका जो विषय है। उस विषय विषयकत्व माना जाता है। अर्थात् असत् विषयक जो व्याप्तिज्ञान (व्यवसायज्ञान) है। उसका जो अनुव्यवसाय प्रत्यक्ष है। उस का विषय =असत्विषयक व्याप्तिज्ञान (व्यवसायज्ञान) है। इस व्यवसायज्ञान का जो विषय असत् है। वह असत् अनुव्यवसायज्ञान प्रत्यक्ष का भी विषय होगा। दूसरी बात यह भी है कि शशशृङ्गादि के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। अन्यथा= असत् के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष न मानने पर, असत् की भी असत्त्व बुद्धि नहीं होगी। ''असत्त्वबुद्धि'' के स्थान पर ''असत्त्वसिद्धिः'' ऐसा पाठान्तर है। इसके अनुसार अर्थ होगा कि असत् के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष न होने पर असत् में असत्त्व का लक्षण समन्वय नहीं हो पायेगा, क्योंकि ''सर्वकालिकसर्वदेशीयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम्'' ही असत्त्व का लक्षण है। अतः शशशृङ्गादि के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष न होने पर शशशृङ्गादि में असत्त्व के लक्षण का समन्वय ही नहीं होगा। ऐसा होने पर शशशृङ्गादि में असत्त्व की बुद्धि ही नहीं होगी। शशशृङ्गादि के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष होने पर शशशृङ्गादि का भी प्रत्यक्ष हो जायेगा, क्योंकि अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष प्रतियोगी के प्रत्यक्षत्व के विना हो नहीं सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान का विषय असत् शशशृङ्गादि के हो जाने से ''असच्चेन्न प्रत्यक्षप्रतीतिः स्यात्'' ऐसा आपादन नहीं किया जा सकता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अपरोक्षप्रतीति का साक्षात् और अनिषेध्यतया विशेषण दे देने से उक्त दोनों दोषों का निवारण हो जायेगा। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्रथम स्थल का प्रत्यक्षज्ञान का विषय असत् परम्परया हो रहा है। अर्थात् अनुव्यसायप्रत्यक्ष का विषय व्यवसाय ज्ञान और व्यवसायज्ञान का विषय असत् है और द्वितीय स्थल पर प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय असत् निषेध्यतया हो रहा है। अर्थात् शशशृङ्गात्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष होने पर भी शशशृङ्ग में निषेध्यतया प्रत्यक्षज्ञान की विषयता है। अतः साक्षात् और अनिषेध्यतया अपरोक्षप्रतीति का विशेषण देने से उक्त दोनों विशेषणों से विशिष्ट अपरोक्ष प्रतीति का अभाव रूप आपाद्य असम्भव नहीं होगा। अतः अर्थापत्ति का आकार होगा— असच्चेन्न साक्षाद्—अनिषेध्यतया चापरोक्षप्रतीतिविषयः स्यात्।।१६।।

खण्ड संख्या १० के चतुर्थ पक्ष (सत्त्वेन अपरोक्ष प्रतीति का अभाव) का समर्थन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अथवा ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' इस स्थल पर ''न प्रतीयेत'' इस आपाद्य का अर्थ है— सत्त्वेन अपरोक्ष प्रतीति का अभाव। अर्थापत्ति का आकार होगा— असच्चेन्न सत्त्वेन अपरोक्षप्रतीतिविषयः स्यात्।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''इदं रूप्यमस्ति'' इस प्रत्यक्षभ्रान्तिस्थल पर सत्त्वेन असत्

सत्त्वेन प्रतीयत इति—वाच्यम्, अत्यन्तासतस्तादृशप्रतीतिविषयत्वे सामग्र्यभावात्। इन्द्रियसन्निकर्षो हि प्रत्यक्षे सामान्यसामग्री, न चासति सोऽस्ति। न च प्रातिभासिकत्वपक्षे रूप्यादेः प्रतीतिपूर्वकालेऽसत्त्वेन कथं सन्निकर्षरूपप्रत्यक्षसामग्रीसम्भव इति वाच्यम्, अस्मन्मते ज्ञातैकसति रूप्यादौ साक्ष्यपरोक्षे अज्ञाननाशकान्तःकरणवृत्तिप्रयोजकसन्निकर्षानुपयोगात्। न हि तवापीश्वरसाधारणप्रत्यक्षमात्रे सन्निकर्षो हेतुः। न च प्रमायां निर्दुष्टेन्द्रियसन्निकर्षो हेतुः, न तु भ्रमे, स हि दोषसहितेन्द्रियादेव भविष्यतीति

सत्यानन्दप्रबोधिका

रजत की प्रतीति होती है।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अत्यन्त असत् के प्रत्यक्ष प्रतीतिविषयत्व में सामग्री का अभाव है, क्योंकि इन्द्रिय का विषय के साथ जो सन्निकर्ष है। वह प्रत्यक्ष ज्ञान में सामान्य सामग्री है, किन्तु असत् पदार्थ में वह इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं है। [कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी ''इदं रजतमस्ति'' इस भ्रमस्थल पर रजत को अलीक मानता है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि अलीक का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि अलीक के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होता नहीं है। अतः ''इदं रजतमस्ति'' इस स्थल पर रजत को अलीक न मानकर प्रातिभासिक सत्ता वाला मानना चाहिए। अतः प्रातिभासिक रजत के सत्त्व की ही ''इदं रजतमस्ति'' इस स्थल पर प्रतीति होती है न कि अलीक रजत के सत्त्व की। अतः इसको दृष्टान्त बनाकर दोषोद्भावन नहीं किया जा सकता है।]

शङ्का—(पूर्वपक्षी का कथन है कि शुक्तिरजत को अलीक मानने पर शुक्तिरजत के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष रूप प्रत्यक्ष की सामान्य सामग्री की उपपत्ति जैसे नहीं हो सकती है, वैसे ही सिद्धान्ती के द्वारा शुक्तिरजतादि को प्रातिभासिक सत्ता वाला मानने पर भी शुक्तिरजतादि के प्रतीति के पूर्व काल में न होने से शुक्तिरजतादि के साथ इन्द्रियसन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष की सामान्य सामग्री की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। अर्थात् शुक्तिरजतादि ज्ञातैकसत्त्व वाला होने के कारण प्रतीति के पूर्व क्षण में रहते नहीं हैं। जबकि प्रतीति जनक इन्द्रियसामग्री पूर्वक्षण में ही चाहिए। अतः सिद्धान्ती के मत में शुक्तिरजत के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष की उपपत्ति नहीं हो सकती है।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्तमत में प्रत्यक्ष प्रतीति दो प्रकार की मानी जाती है। प्रथम—ऐंद्रियकप्रत्यक्ष और द्वितीय—साक्षी प्रत्यक्ष। शुक्तिरजतादि का साक्षी प्रत्यक्ष होता है न कि ऐन्द्रियकप्रत्यक्ष और शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक पदार्थों की सत्ता हमेशा ज्ञात ही रहती है। अतः शुक्तिरजतादि का अज्ञान नहीं रहता है। अतः शुक्तिरजतादि का अज्ञान न रहने के कारण अज्ञान का नाशक अन्तःकरण की वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति को उत्पन्न करने के प्रति हेतु जो इन्द्रिय सन्निकर्ष है, उसकी प्रातिभासिक पदार्थ के प्रत्यक्ष करने के लिए कोई उपयोगिता नहीं है। [यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ऐन्द्रियकप्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियसन्निकर्ष को हेतु मानना और साक्षी प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियसन्निकर्ष को हेतु न मानना उचित नहीं है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सभी प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रिय सन्निकर्ष को पूर्वपक्षी भी हेतु नहीं मानता है, क्योंकि] पूर्वपक्षी के मत में भी जीव को जो ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष होता है, उस में ही इन्द्रियसन्निकर्ष को हेतु माना जाता है और ईश्वर को जो प्रत्यक्ष होता है, उसके प्रति इन्द्रिसन्नकर्ष को हेतु नहीं माना जाता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रमा के लिए निर्दोष इन्द्रिय का सन्निकर्ष हेतु है और भ्रम के लिए इन्द्रियसन्निकर्ष हेतु नहीं है, किन्तु भ्रमज्ञान तो इन्द्रियसन्निकर्ष निरपेक्ष केवल दोष सहित इन्द्रिय से ही उत्पन्न हो जाता है।

वाच्यम्, सन्निकर्षो हि इन्द्रियवत्सामान्यसामग्री, तदनपेक्षस्येन्द्रियस्याजनकत्वमित्युक्तत्वात्। न च तर्हि शाब्दबोधसामान्यसामग्र्या योग्यताज्ञानादेरभावात् कथं परोक्षविकल्पः स्यात्? अयोग्यताज्ञानविरहो हि सामान्यसामग्री, न तु योग्यताज्ञानम्, असंसर्गग्रहरूपायोग्यताज्ञानविरहस्य विशिष्टज्ञाने आवश्यकत्वात्। स चासद्बोधके वाक्येऽस्त्येव। न हि शशशृङ्गे असत्त्वं नास्तीति जानानः शशशृङ्गमसदित्यवगच्छति। एतन्निबन्धन एवापरोक्षप्रतीतौ प्रद्वेषः।।१७।।

एतेन सन्मात्राविषयकापरोक्षज्ञानमसद्विषयकम्, सत्त्वानधिकरणविषयकप्रतीतित्वाद–

सत्यानन्दप्रबोधिका

समाधान– उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि जैसे सभी प्रत्यक्ष (प्रमा और भ्रम) के लिए इन्द्रिय कारण होती है, वैसे ही इन्द्रियसन्निकर्ष भी सभी प्रत्यक्ष के प्रति कारण है। अतः इन्द्रियसन्निकर्ष की अपेक्षा न रखकर केवल इन्द्रिय कोई भी प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती है। इसको इसी खण्ड में ''इन्द्रियसन्निकर्षो हि प्रत्यक्षे सामान्यसामग्री.....'' से कहा जा चुका है।

शङ्का– तर्हि= प्रत्यक्ष की सामान्य सामग्री (इन्द्रियसन्निकर्ष) के विना प्रत्यक्ष की उत्पत्ति रूप विशेष कार्य नहीं होता है तब तो शाब्दबोध की सामान्यसामग्री जो योग्यताज्ञानादि है, उस योग्यताज्ञानादि रूप सामान्यसामग्री का अभाव होने से बन्ध्यासुतादि शब्दों के श्रावण प्रत्यक्ष के पश्चात् शब्दज्ञानानुपाती वस्तु शून्य विकल्पात्मक परोक्षवृत्ति की उत्पत्ति भी सिद्धान्ती नहीं मान सकते हैं।

समाधान–उक्त शङ्का ठीक नहीं है,क्योंकि अयोग्यता ज्ञान का अभाव शाब्दबोध की सामान्य सामग्री है न कि योग्यताज्ञान क्योंकि असंसर्ग का ग्रहरूप जो अयोग्यताज्ञान है, उसका विरह सभी विशिष्टज्ञानों में आवश्यक होता है। शाब्दबोध की अयोग्यता ज्ञान का अभाव रूप सामान्यसामग्री ''शशशृङ्गमसत्'' इत्यादि असत् बोधक वाक्य में भी है, क्योंकि शशशृङ्ग में असत्त्व नहीं है– इस प्रकार से शशशृङ्ग में असत्त्व के संसर्ग को न जानता हुआ कोई भी व्यक्ति शशशृङ्ग असत् है–ऐसा ज्ञान नहीं कर सकता है। अतः ''शशशृङ्गमसत्'' इस स्थल पर शाब्दबोध है और प्रत्यक्ष की सामग्री नहीं है–इस कारण से ही असद्विषयक अपरोक्षप्रतीति में विद्वेष है। अर्थात् ''शशशृङ्गमसत्'' इस स्थल पर शाब्दबोध की सामान्यसामग्री होने से असत् का विकल्पवृत्ति रूप शाब्दबोध को हम मानते हैं और प्रत्यक्ष की सामान्यसामग्री के न होने से असत् का प्रत्यक्ष ज्ञान हम नहीं मानते हैं।।१७।।

एतेन निरस्तम्– ऐसा अन्वय करना चाहिए। एतेन=असत् के प्रत्यक्ष प्रतीति की सामान्य सामग्री न रहने के कारण ही, निरस्तम्=पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुमान भी निरस्त हो गया। पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुमान का आकार है–सन्मात्राविषयकापरोक्षज्ञानमसद्विषयकम्, सत्त्वानधिकरणविषयकप्रतीतित्वात्, असद्विषयकपरोक्षप्रतीतिवत्। [यहां पर पक्ष= ''सन्मात्रा–विषयकापरोक्षज्ञानम्'' का अर्थ है कि जिस अपरोक्षज्ञान का विषय सन्मात्र ही नहीं है। अर्थात् जिस अपरोक्षज्ञान का विषय कुछ सत् होने के साथ–साथ कुछ असत् भी है। जैसे ''सदिदं रजतम्'' यह प्रत्यक्ष ज्ञान अधिष्ठानात्मक सद् विषयक होने पर भी रजतात्मत्वेन सद्विषयक नहीं है। अतः ऐसे ज्ञानों का पक्षकोटि में संग्रह हो जाता है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय= असद्विषयक परोक्षप्रतीति अर्थात् असद् का विकल्पवृत्तिरूप प्रतीति में सिद्धान्ती सत्त्व का भान नहीं मानते हैं। इसलिए सत्त्वानधिकरणविषयकप्रतीति=असद्विषयकपरोक्षप्रतीति। अतः सत्त्वानधिकरणविषयकप्रतीतित्व असद्विषयकपरोक्षप्रतीति में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–शशशृङ्गादि असद्विषयक विकल्पवृत्तिरूपपरोक्ष प्रतीति असद्विषयक है। अतः उसमें असद्विषयकत्व रहेगा। पक्ष में हेतु का

सद्विषयकपरोक्षप्रतीतिवत्। न च—अत्र प्रातिभासिकसाधारणसद्विवक्षायामाश्रयासिद्धिः। परमार्थसद्विवक्षायां मात्रपदवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, भ्रममात्रस्यैवाधिष्ठानीभूतपरमार्थसद्विषयतया मात्रपदं विना आश्रयासिद्धे— र्दुष्परिहरत्वादिति निरस्तम्, सामग्रीविरहेण बाधात्, शाब्दत्वस्योपाधित्वाद्, धर्मादिकमपरोक्षप्रतीतिविषयः

सत्यानन्दप्रबोधिका

समन्वय—सन्मात्र अविषयक अपरोक्ष प्रतीति=सत्त्वानधिकरणविषयकप्रतीति, क्योंकि सन्मात्र अविषयक अपरोक्ष प्रतीति असद्विषयक भी है। अतः सन्मात्र अविषयक अपरोक्ष प्रतीति में सत्त्वानधिकरणविषयकप्रतीतित्व रहेगा। अतः ''इदं रजतम्'' इस प्रतीति के विषय रजत को अनिर्वचनीय न मानकर अलीक मानना चाहिए। यह पूर्वपक्षी का भाव है।] इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि इस अनुमान के पक्ष ''सन्मात्राविषयकापरोक्षज्ञानम्'' के घटक सत् शब्द का अर्थ प्रातिभासिकसाधारण है। अर्थात् सत् शब्द से प्रातिभासिक—व्यावहारिक और पारमार्थिक तीनों ही सत्त्व लेने पर पक्षतावच्छेदक का अभावरूप आश्रयासिद्धि दोष होगा, क्योंकि ''इदं रजतम्'' यह ज्ञान प्रातिभासिक सद्विषयक ही होता है न कि सदविषयक। यदि पक्ष घटक सत् शब्द का अर्थ पारमार्थिक सत्त्व करते हैं तब मात्र पद व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि ''इदं रजतम्'' यह ज्ञान पारमार्थिकसद्विषयक होता नहीं है। अतः ''सदविषयक'' इतना कह देने से ही ''इदं रजतम्'' का संग्रह हो जायेगा। इसके लिए मात्र पद देने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। सिद्धान्ती की ऐसी शङ्का का समाधान करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्त मत में भ्रमज्ञान मात्र का विषयीभूत जो अधिष्ठान होता है, उसमें पारमार्थिकसत्त्व ही माना जाता है। अतः मात्र पद न देकर ''सदविषयक'' ऐसा कहने पर भ्रमज्ञानों के पक्ष में प्रवेश न हो पाने से आश्रयासिद्धि दोष का परिहार नहीं हो पायेगा। मात्र पद देने पर आश्रयासिद्धिदोष नहीं होगा, क्योंकि भ्रमज्ञान के विषय में प्रविष्ट अधिष्ठान में पारमार्थिक सत्त्व के रहने पर भी भ्रमज्ञान के अधिष्ठान से अन्य विषयों में पारमार्थिकसत्त्व नहीं रहता है। अतः ''सन्मात्राविषयकापरोक्ष ज्ञानम्'' ऐसा कहने से ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रमज्ञानों के पक्ष कोटि में प्रविष्ट हो जाने से आश्रयासिद्धिदोष नहीं होगा। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के अनुमान में तीन दोष हैं— (१) बाध (२) सोपाधिकता (३) आभास साम्य। जैसे असद् विषयक अपरोक्ष भान की सामान्य सामग्री (इन्द्रियसन्निकर्षादि) न होने के कारण ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रमात्मक ज्ञान को असद् विषयक नहीं माना जा सकता है। अतः पक्ष में साध्याभाव के होने से बाधदोष है। उक्त अनुमान में ''शाब्दत्व'' उपाधि भी है, क्योंकि '' शशशृङ्गम्'' इत्यादि शब्दों से उपस्थापित असद्विषयक परोक्ष प्रतीति (विकल्पात्मक वृत्ति) स्थल पर साध्य (असद्विषयकत्व) है और उपाधि (शाब्दत्व) भी है। अतः उपाधि में साध्यव्यापकत्व रहेगा और पक्ष में हेतु है, किन्तु उपाधि नहीं है,क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान में शाब्दत्व नहीं रहता है। अतः उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी है। अतः उक्त अनुमान के हेतु में सोपाधिकता है। इसी प्रकार ''धर्मादिकमपरोक्षप्रतीतिविषयः, प्रतीतिविषयत्वात्, घटादिवत्।'' यह अनुमानाभास है, क्योंकि इसमें बाधदोष है। इस अनुमानाभास की समानता पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान में है। दूसरी बात यह भी है कि यदि पूर्वपक्षी शुक्तिरजतादि को असत् मानकर पुनः उसमें अपरोक्ष प्रतीति की विषयता मानता है तब तो असत् शशशृङ्गादि में भी अपरोक्ष प्रतीति की विषयता मानने की आपत्ति पूर्वपक्षी के मत में होगी, क्योंकि पूर्वपक्षी जैसे शुक्तिरजतादि को असत् मानता है, वैसे ही शशशृङ्गादि को भी असत् मानता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि शुक्तिरजतादि में शुक्तिरजतत्वादि रूप विशेष रहता है। अतः शुक्तिरजतादि की अपरोक्ष प्रतीति होती है और शशशृङ्गादि में कोई विशेष नहीं रहता है। अतः

प्रतीतिविषयत्वादित्याद्याभाससाम्याच्च। किञ्चासतो रूप्यस्यापरोक्षप्रतीतिविषयत्वे शशशृङ्गादेरप्यपरोक्ष–प्रतीतिविषयत्वं स्याद्, विशेषाभावात्, सविशेषत्वे असत्त्वव्याकोपात्।१८।।

ननु—सदसतोः सत्तानिःस्वरूपत्वादिनेव नृशृङ्गशशशृङ्गादीनामपि परस्परं नृशृङ्गशशशृङ्गादिशब्दैरेव परोक्षप्रतीतिव्यवहारविषयत्वादेर्विशेषस्यासत्त्वाविरोधिनो बुद्धिसिद्धस्य सम्भवः। न च सर्वसामर्थ्यहीनस्यासतः सता ज्ञानेन कथं सम्बन्धः? विषयत्वस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वाद्, भाति प्रतीयत इत्यादिकर्तृकर्मत्वादिविरोधाच्चेति वाच्यम्, अतीतादेः स्मृत्यनुमित्यादिविषयत्वादिवदुपपत्तेः, न च तत्र प्रतीत्यादेरेव (विषयीत्वं नत्वतीतादेः) विषयत्वम्, तावतैव तत्र विषयताव्यवहार इति—वाच्यम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसकी अपरोक्षप्रतीति नहीं होती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि असत् पदार्थ निर्विशेष होता है। उसमें कोई भी विशेषता मानने पर असत्त्व का ही व्याकोप हो जायेगा। अर्थात् शुक्तिरजतादि में कोई विशेषता मान लेने पर शुक्तिरजतादि को पूर्वपक्षी असत् नहीं मान सकता है।१८।।

शङ्का—असत् में कोई विशेषता मानने पर असत्त्व का व्याकोप हो जायेगा— सिद्धान्ती के इस कथन का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि असत् में विशेषता मानने पर भी असत्त्व का व्याकोप नहीं होगा, क्योंकि जैसे सत् में सत्ता विशेष है और असत् में निःस्वरूपत्व विशेष है। उसी प्रकार नृशृङ्ग में नृशृङ्ग शब्द के द्वारा परोक्ष प्रतीतिविषयक और परोक्ष व्यवहार विषयत्व रूप असत्त्व अविरोधी विशेष रहता है और शशशृङ्ग में शशशृङ्ग शब्द के द्वारा परोक्ष प्रतीतिविषयत्व और परोक्षव्यवहार विषयत्व रूप असत्त्व अविरोधी विशेष रहता है। यह अनुभव से सिद्ध है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि सत् जो प्रत्यक्ष ज्ञान उसके साथ सर्व सामर्थ्य से रहित असत् का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है। अतः असत् में ज्ञान की विषयता रूपसम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात यह है कि ''शशशृङ्गं भाति'' इस प्रकार से असत् में ज्ञान क्रिया के प्रति कर्तृत्व और ''शशशृङ्ग प्रतीयते'' इस प्रकार से असत् में ज्ञान क्रिया के प्रति कर्मत्व माना नहीं जा सकता है, क्योंकि एक ही क्रिया का कर्तृत्व और कर्मत्व एकत्र नहीं रहते हैं। सिद्धान्ती के इस कथन का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अतीत पदार्थ की स्मृति और अतीत पदार्थ की अनुमिति काल में अतीत पदार्थ नहीं रहता है किन्तु अतीत पदार्थ में स्मृतिज्ञान और अनुमितिज्ञान की विषयता रहती है, ठीक उसी प्रकार असत् ज्ञान काल में असत् पदार्थ के न रहने पर भी असत् ज्ञान की विषयता की उपपत्ति असत् पदार्थ में हो जायेगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अतीतादि की स्मृति और अतीतादि की अनुमिति स्थल पर प्रतीति (पूर्वानुभवरूप ज्ञान) में ही विषयता रहती है न कि अतीतादि पदार्थ में।। इस प्रकार प्रतीत्यादि में ही विषयता मानने से ही अतीतादि अविद्यमान पदार्थों में विषयता का व्यवहार उपपन्न हो जाता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे सिद्धान्ती अतीतादि की स्मृति की विषयता पूर्वानुभवरूपज्ञान में मान रहे हैं, उसी प्रकार हम भी ''असत् विषयकज्ञान में विषयता रहती है न कि असत् में'' इस प्रकार से मान लेंगे और असत् विषयक ज्ञान में विषयता मानने से ही असत् पदार्थों में विषयता का व्यवहार उपपन्न हो जायेगा।

समाधान— [पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि शशशृङ्ग शब्द से शशशृङ्ग की ही (न कि नृशृङ्ग की) प्रतीति और व्यवहार होता है। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे घट और कलश पर्यायवाची होने के कारण घट शब्द से कलश की प्रतीति और व्यवहार और कलश शब्द से घट की प्रतीति और व्यवहार होता है, वैसे ही] जिस व्यक्ति को नर शब्द और शश शब्द पर्यायवाची हैं—ऐसा भ्रम है, उसको नृशृङ्ग शब्द के द्वारा ही शशशृङ्ग की प्रतीति और व्यवहार तथा नृशृङ्ग की

समं ममापीति चेत्, मैवम्, शशशब्दस्य नरि भ्रमदशायां नृशृङ्गशब्देनेव शशशृङ्गशब्देनापि नृशृङ्गस्य प्रतीयमानत्वेन नृशृङ्गादिशब्दैरेव प्रतीयमानत्वादेरपि परस्परविशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात्।।१९।।

न च दुष्टेन्द्रियादे रूप्यसंस्कारसाचिव्यवच्छशशृङ्गसंस्कारसाचिव्याभावात् तस्यापरोक्षभ्रमाविषयत्वम्, अन्यथा तवाप्यनिर्वाच्यान्तरमेव तत्र कथं नोत्पद्येतेति वाच्यम्, संस्कारस्य न तावत्प्रतीतौ साक्षादुपयोगः, स्मृतित्वापत्तेः, किन्त्वर्थोत्पत्तिद्वारा। तथा च संस्कारनियामकतापि अनिर्वाच्यतापक्ष एव, न त्वसद्विषयतापक्षे। वस्तुतस्तु संस्कारस्तावत् तात्त्विकरजतादिगोचर एव प्राथमिकरजतादिभ्रमे प्रयोजकः

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतीति और व्यवहार होता है। अतः नृशृङ्ग आदि शब्द से नृशृङ्ग आदि की ही प्रतीति और व्यवहार होता है। इस प्रकार से नृशृङ्ग में प्रतीति और व्यवहाररूप विशेष और शशशृङ्ग में प्रतीति और व्यवहार रूप विशेष पृथक्–पृथक् रहता है। ऐसा जो पूर्वपक्षी ने कहा था, उसका खण्डन हो गया। अतः असत् को निर्विशेष ही मानना पड़ेगा। इसलिए पूर्वपक्षी जब शुक्तिरजतादि को असत् मान रहा है तब शुक्तिरजतादि की जब अपरोक्ष प्रतीति होती है, तब शशशृङ्गादि की भी अपरोक्ष प्रतीति होने की आपत्ति होगी।।१९।।

शङ्का– सिद्धान्ती के द्वारा कहा गया कि शशशृङ्गादि के अपरोक्ष प्रतीति की आपत्ति होगी। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यद्यपि शुक्तिरजतादि और शशशृङ्गादि दोनों असत् हैं, तथापि शुक्तिरजतादि के अपरोक्षभ्रम का मुख्य कारण है, दुष्ट इन्द्रिय और सहकारी कारण है रजतविषयक संस्कार। अतः रजतविषयक संस्कार की सहायता प्राप्त हो जाने से जैसे दुष्ट इन्द्रिय के द्वारा शुक्तिरजत का अपरोक्षभ्रम होता है। ठीक वैसे ही शशशृङ्गादि के संस्कारों का सहयोग दुष्ट–इन्द्रिय के साथ नहीं है, क्योंकि शशशृङ्गादि का संस्कार होता ही नहीं है। इसलिए शुक्तिरजतादि के समान शशशृङ्गादि में अपरोक्षभ्रम की विषयता नहीं मानी जा सकती है। अन्यथा =शुक्तिरजतादि के अपरोक्षभ्रम में रजतविषयक संस्कार का सहयोग न मानने पर, सिद्धान्ती के मत में भी शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति न होकर अनिर्वचनीय सर्पादि के उत्पत्ति की आपत्ति होगी।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजत की प्रतीति में रजतविषयक संस्कार की कोई साक्षाद् उपयोगिता नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजत की प्रतीति रजतविषयकसंस्कार से जन्य मानने पर शुक्तिरजत की प्रतीति में स्मृतित्व की आपत्ति होगी। अतः अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति में रजत संस्कार की साक्षाद् उपयोगिता मानी जाती है। अर्थात् रजतविषयक संस्कार से अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होता है और साक्षी के द्वारा उसकी प्रतीति होती है। इस प्रकार से रजतविषयक संस्कार रजत के साक्षी प्रत्यक्ष के प्रति परम्परया कारण है और अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति के प्रति साक्षाद् कारण है। फलतः संस्कारों में अध्यास की नियामकता भी अनिर्वचनीय बाद में ही सम्भव है, अध्यास के असद् विषयता पक्ष में नहीं। अर्थात् शुक्तिरजत की प्रतीति के प्रति रजत संस्कार का साचिव्य नियामक है–यह शुक्तिरजत को अनिर्वचनीय मानने के पक्ष में ही सम्भव है, न कि शुक्तिरजत को अलीक मानने के पक्ष में, क्योंकि रजतविषयकसंस्कार से जैसे अनिर्वचनीय शुक्तिरजत की उत्पत्ति सिद्धान्त मत में मानी जाती है, वैसे ही पूर्वपक्षी रजतविषयक संस्कार से अलीक शुक्तिरजत की उत्पत्ति नहीं मान सकता है, क्योंकि उत्पत्ति मानने पर जो उत्पन्न होता है, उसको अलीक नहीं माना जा सकेगा। वस्तुतः सर्व मत में तात्त्विक (व्यावहारिक) रजतविषयक संस्कार ही प्रथम होने वाले शुक्तिरजत भ्रम के प्रति प्रयोजक माना जाता है, क्योंकि जब सर्वप्रथम शुक्ति में रजत भ्रम होता है, उसके पूर्व प्रातिभासिक रजत का संस्कार होता ही नहीं है। वह व्यावहारिक रजतविषयक संस्कार

सर्वमते, स चासद्रूप्यशशशृङ्गादिसर्वसाधारण एव, तदविषयत्वाविशेषात्। तथा च कथं स नियामको भवतु?।।२०।।

(ख) प्रवृत्तिविषयत्वान्यथानुपपत्तिसमर्थनम्

एवं प्रवृत्तिविषयत्वान्यथानुपपत्तिरपि प्रमाणम्। इदमंशस्यासद्रूप्यात्मना प्रतीतौ सामग्रीविरह– स्योपपादनात्।।२१।।

ननु–अनिदंरूपे प्रातिभासिके यदिदन्त्वं व्यावहारिकसत्त्वं च तद्द्वयं न तावत् सत्, अद्वैतव्याकोपात्, नाप्यनिर्वाच्यम्, तथा सति तस्यासद्वैलक्षण्यार्थं प्रातिभासिकत्वाय सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यम्। एवं च तदपि सत्त्वमनिर्वाच्यं चेत्, तस्यापि सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यमित्यनवस्था, तथा च तयोरसत्त्वं वाच्यम्। तदुक्तम्–

सत्यानन्दप्रबोधिका

असत् रजत, शशशृङ्गादि सभी असत् पदार्थों के भ्रमोत्पादन की योग्यता रखता है, क्योंकि तात्त्विक रजत गोचर होने से संस्कार में तात्त्विकरजतविषयत्व है और शुक्तिरजत, शशशृङ्गादि का अविषयत्व है। अर्थात् असत् रजत में जैसे तात्त्विकरजत के संस्कार की विषयता नहीं है, वैसे ही शशशृङ्गादि में भी तात्त्विकरजत के संस्कार की विषयता नहीं है। अतः जब तात्त्विकरजतविषयक संस्कार से असत् रजत का भ्रम हो सकता है, तब तात्त्विक रजतविषयकसंस्कार से असत् शशशृङ्गादि का भी भ्रम हो सकता है। इस प्रकार तात्त्विक रजतविषयकसंस्कार से जब असत् शुक्तिरजत और शशशृङ्गादि का भ्रम हो रहा है, तब उस संस्कार को असत् शुक्तिरजतभ्रम और शशशृङ्गादि भ्रम में विशेषता का नियामक नहीं माना जा सकता है।।२०।।

(ख) प्रवृत्तिविषयत्वान्यथानुपपत्तिसमर्थनम् –

इसी प्रकार प्रवृत्तिविषयत्व की अन्यथानुपपत्ति भी शुक्तिरजतादि के अनिर्वचनीयत्व में प्रमाण है। अर्थात् "शुक्तिरजतस्यानिर्वचनीयत्व विना शुक्तिरजतस्य प्रवृत्तिविषयत्वमनुपपन्नम्।" इस अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा भी शुक्तिरजतादि में सद्विलक्षण और असद्विलक्षण तथा सदसदुभयविलक्षणरूप अनिर्वाच्यत्व सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि सद् (ब्रह्म) और असत् दोनों के लिए प्रवृत्ति नहीं होती है। [इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि इदन्त्व विशिष्ट असद् रजत की प्रतीति होना सम्भव होने के कारण, उस प्रतीति के बल पर असद् रजत में प्रवृत्तिविषयता की उपपत्ति हो जाने से सिद्धान्ती के द्वारा कथित उक्त अन्यथानुपपत्ति का खण्डन हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] इदमंश की असत् रजतरूप से प्रतीति में सामग्री का अभाव है, क्योंकि असत् के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं हो सकता है। अतः असत् की प्रतीति नहीं हो सकती है। इसका प्रतिपादन खण्ड संख्या १७ में किया जा चुका है।।२१।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रातिभासिक जो रजत है वह इदम् रूप नहीं है, क्योंकि इदम् तो पुरोवर्ति पदार्थ शुक्ति है। ऐसे अनिदंरूप प्रातिभासिक रजत में जो "इदं रजतम्" इस ज्ञान के द्वारा इदन्त्व और व्यावहारिक सत्त्व धर्म भासता है। वे दोनों धर्म सत् है? अथवा अनिर्वचनीय है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर अद्वैत की हानि होगी। इदन्त्व और व्यावहारिक सत्त्व अनिर्वचनीय है–इस द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर अनवस्था होगी, क्योंकि उक्त इदन्त्व और व्यावहारिक सत्त्व एतद् द्वय में असत् से विलक्षणता करने के लिए और प्रातिभासिकत्व सिद्ध करने के लिए उक्त इदन्त्व और व्यावहारिकसत्त्व को विषय करने वाली सत्त्वेन प्रतीति माननी पड़ेगी। इसी प्रकार इदन्त्व

'अन्यथात्वमसत्तस्माद् भ्रान्तावेव प्रतीयते।
सत्त्वस्यासत एवं हि स्वीकार्यैव प्रतीतता।
तस्यानिर्वचनीयत्वे स्यादेव ह्यनवस्थितिः।' इति।

टीकायामपि इदन्त्वसत्त्वयोः सत्त्वायोगादनिर्वाच्यत्वे (इदन्त्वे रूप्यावगाहि) तदप्रतीतौ प्रवृत्त्ययोगात् सत्त्वेन भाने च तस्मिन्नपि सत्त्वादिविकल्पप्रसरेणानवस्थानादिदन्त्वव्यावहारिकसत्त्वयोरसत्त्वमित्युक्तमिति चेत्।।२२।।

न, तयोरसत्त्वे अपरोक्षप्रतीतिविषयत्वे सामग्र्यभावादेर्बाधकस्योक्तत्वादनिर्वाच्यत्वमेव। न च तथा सति सत्त्वेन प्रतीत्या भाव्यम्, इष्टापत्तेः। न चैवमनवस्था, सत्त्वस्य सदिति प्रतीतावतिरिक्तसत्त्व-

सत्यानन्दप्रबोधिका

और व्यावहारिक सत्त्व को सत्त्वेन प्रतीति के लिए जो प्रकारीभूत सत्त्व माना है। वह सत्त्व क्या अनिर्वचनीय है? अथवा सत् है? द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर अद्वैत की हानि होगी और यदि प्रथम पक्ष स्वीकार कर कहते हैं कि वह सत्त्व अनिर्वचनीय है तब तो (उसमें असत् से विलक्षणता करने के लिए और प्रातिभासिकत्व सिद्ध करने के लिए) उस सत्त्व की भी सत्त्वेन प्रतीति माननी होगी। इसी प्रकार सत्त्वान्तर को भी अनिर्वचनीय मानने पर सत्त्वान्तर रूप से प्रतीति मानते रहने पर अनवस्था होगी। इस प्रकार अनिदं रूप प्रातिभासिक रजतगत इदन्त और व्यावहारिक सत्त्व को सत् और अनिर्वचनीय मानने पर अद्वैत हानि और अनवस्थारूप दोष के आ जाने के कारण उक्त इदन्त्व और व्यावहारिक सत्त्व को असत् ही मान लेना चाहिए। पूर्वपक्षी उक्तार्थ संग्राहक अपने पूर्वाचार्य की कारिका को उपन्यास करते हुए कह रहा है कि उसके पूर्वाचार्य ने कहा है—''इदं रजतम्'' इस स्थल पर इदन्त्वादि को सत् या अनिर्वचनीय मानना सम्भव न होने के कारण ही शुक्त्यादि का रजतादिरूपत्व असत् ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार ''इदं रजतं सत्'' इस प्रकार से रजत में जो सत्त्व की प्रतीति होती है, उस सत्त्व को भी असत् ही स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उस सत्त्व को अनिर्वचनीय मानने पर अनवस्था दोष होगी ही। इसी प्रकार भामती टीका में भी कहा गया है कि शुक्तिरजतादिनिष्ठत्वेन ज्ञायमान जो इदन्त्व और सत्त्व है। इन दोनों को सत् नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अद्वैत की हानि होगी और उक्त इदन्त तथा सत्त्व को अनिर्वचनीय मानने पर इदन्त्वेन शुक्तिरजतावगाहि ज्ञान में इदन्त और सत्त्व की अनवस्था के भय से सत्त्वेन प्रतीति में न मानने पर प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि असत् वन्ध्यासुतादि के लिए प्रवृत्ति होती नहीं है। यदि प्रवृत्ति की उपपत्ति के लिए इदन्त और सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति मानी जाती है, तब उस सत्त्व की भी सत्त्वेन प्रतीति एवं सत्त्वान्तर की भी सत्त्वान्तर रूप से प्रतीति मानते रहे पर अनवस्था होगी। फलतः अनिदं रूप प्रातिभासिक रजत में जो इदन्त्व और व्यावहारिक सत्त्व है। इन दोनों को असत्त्व ही मानना उचित है।।२२।।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजतादि गत इदन्त और व्यावहारिक सत्त्व को असत् नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उन दोनों में अपरोक्षप्रतीतिविषयता ही सिद्ध नहीं हो पायेगी, क्योंकि असत् के साथ इन्द्रियसन्निकर्षाभावरूप बाधक खण्ड संख्या १७ में कहा जा चुका है। फलतः शुक्तिरजतादिगत इदन्त और व्यावहारिक सत्त्व को अनिर्वचनीय ही मानना चाहिए। इस पर पूर्वपक्षी ने जो अनवस्था दोष देते हुए कहा था कि इदन्त और व्यावहारिक सत्त्व को अनिर्वचनीय मानने पर इन दोनों को भी सत्त्वेन प्रतीति मानने की आपत्ति होगी। ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि उक्त दोनों की हम सत्त्वेन प्रतीति मानते हैं। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ऐसा मानने पर पूर्वोक्त प्रकार से अनवस्था होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे

स्यानपेक्षणात्, अन्यथा त्वत्पक्षेऽप्यसतिरूप्ये यत्सत्वं प्रतीयते तस्य सत्त्वायोगात् असत्त्वे च तथैव प्रतीतौ प्रवृत्यनुपपत्तिः, सत्त्वेन प्रतीतावनवस्था च स्यात्।।२३।।

न च सत्त्वे सत्त्वासत्त्वयोरौदासीन्येऽपि असतः सत्त्वेन प्रतीत्या प्रवृत्त्युपपत्तेः असति प्रतीतस्य सत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतावपि असत्त्वसिद्धेश्च नास्माकं काप्यनुपपत्तिः, तव तु रूप्यादिसत्त्वस्य सत्त्वेनाप्रतीतौ प्रवृत्त्युपपत्तावपि प्रातिभासिकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, एवं हि तत्सत्त्वं स्वरूपतो न सत्, तुच्छत्वात्, विज्ञानतोऽपि न सत्, सत्त्वेनाप्रतीतेः। तथा च असति कथं तन्निबन्धनो व्यवहारः। न च—प्रतिभासकाले

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं कि जैसे ''रजतं सत्'' इस प्रतीति की उपपत्ति के लिए रजत से भिन्न प्रातिभासिक सत्त्व माना जाता है किन्तु ''सत्त्वं सत्'' इस प्रतीति की उपपत्ति के लिए सत्त्व से भिन्न सत्त्व नहीं माना जाता है, अपितु ''सत्त्वं सत्''इस स्थल पर सत्त्व का स्वरूपतः ही भान माना जाता है। अन्यथा = प्रकारीभूत सत्त्व को सत्त्वेन प्रतीति के लिए प्रकारीभूत सत्त्व से भिन्न सत्त्व को मानने पर, अलीकवादी पूर्वपक्षी के मत में भी ''इदं रजतं सत्'' इस प्रकार से असत् रजत में जो सत्त्व की प्रतीति होती है, उस सत्त्व को सत् मान नहीं सकते हो क्योंकि अलीकवाद की हानि होगी और उस सत्त्व को असत् मानने पर उसकी असत्त्वेन प्रतीति होगी। ऐसा होने पर उसके लिए प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि असत् वन्ध्यासुतादि के लिए प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि उस सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति मानते हैं, तब पूर्वोक्त प्रकार से पूर्वपक्षी के मत में भी अनवस्था दोष होगा। अतः ''सत्त्वं सत्'' इस स्थल पर सत्त्व का स्वरूपतः भान मानना उचित है।।२३।।

शङ्का— ''इदं रजतं सत्'' इस स्थल पर शुक्तिरजत में भासित होने वाला जो सत्त्व है, उसमें पुनः सत्त्व मानने पर अनवस्था और उसमें असत्त्व मानने पर प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त सत्त्व में सत्त्व और असत्त्व इन दोनों के न रहने पर भी असत् शुक्तिरजत की सत्त्वेन प्रतीति (इदं रजतं सत्) मात्र से रजतार्थी के प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जाती है। दूसरी बात यह है कि असत् शुक्तिरजत में जो सत्त्व ''इदं रजतं सत्'' इस प्रकार से प्रतीत होता है। उस सत्त्व का सत्त्वेन प्रतीति मानने पर अनवस्था दोष होगा। अतः असत् शुक्तिरजत में प्रतीयमान सत्त्व की हम सत्त्वेन प्रतीति नहीं मानेंगे। (इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति न मानने पर उक्त सत्त्व में असत्त्व की आपत्ति होगी। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि) हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि हम जैसे शुक्तिरजत को असत् मानते हैं, वैसे ही उसमें भासित होने वाले सत्त्व को भी असत् मानते हैं। अतः हमारे मत में किसी प्रकार का दोष नहीं होगा। किन्तु सिद्धान्ती के मतानुसार शुक्तिरजतगत सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति न होने पर यद्यपि प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि शुक्तिरजत में सत्त्व की प्रतीति हो रही है। तथापि शुक्तिरजतगत सत्त्व में प्रातिभासिकत्व की उपपत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि अनवस्था के भय के कारण सिद्धान्ती उक्त सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति नहीं मान रहे हैं। अर्थात् जब किसी पदार्थ में प्रातिभासिकत्व माना जाता है तब उस पदार्थ में असत् वैलक्षण्य की उपपत्ति के लिए उस पदार्थ की सत्त्वेन प्रतीति भी मानी जाती है। प्रकृत में शुक्तिरजतगत सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति सिद्धान्ती मान नहीं रहे हैं। अतः उक्त सत्त्व में प्रातिभासिकत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि शुक्तिरजत को असत् मानने पर शुक्तिरजत निष्ठत्वेन प्रतीति सत्त्व के स्वरूप को सत् नहीं माना जा सकता है, क्योंकि असत् शुक्तिरजत का स्वरूप तुच्छ है। इसीप्रकार असत् शुक्तिरजत निष्ठत्वेन प्रतीति जो सत्त्व है, उस सत्त्व का ज्ञान भी सत् नहीं है, क्योंकि अनवस्था के भय से उस सत्त्व की सत्त्वेन प्रतीति नहीं

सत्त्वे स्वरूपतो निषेधप्रतियोगित्वं न स्यात्, पारमार्थिकत्वेन निषेधप्रतियोगित्वे अनवस्थैवेत्यसत्त्वमेव रूप्यादीनामिति वाच्यम्; प्रतीतिकाले सत्त्वेऽपि स्वरूपतो निषेधस्य पारमार्थिकत्वेन निषधेऽप्यनवस्थापरिहारस्य चोक्तत्वात्।।२४।।

नापि प्रत्येकात्मकत्वे अनुपपत्त्या उभयात्मकतैवास्त्विति वाच्यम्, दत्तोत्तरत्वातत्, भ्रमत्वानुपपत्तेश्च। न चानिर्वाच्यविषयत्वेन यथा तव मते भ्रमत्वं, तथा सदसदात्मकत्वे यत् सत्त्वं तद्विषयत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानी जा रही है। अत: उस सत्त्व के ज्ञान को विकल्पात्मकवृत्ति रूप मानना पड़ेगा। अत: असत् शुक्तिरजत में प्रतीति सत्त्व जिसका स्वरूप भी सत् नहीं है और जिसका ज्ञान भी सत् नहीं है– ऐसे सत्त्व के कारण अर्थात् उक्त प्रकार के सत्त्व के बल पर असत् शुक्तिरजत के लिए रजतार्थी के प्रवृत्तिरूप व्यवहार की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि जब तक प्रातिभासिक रजत की प्रतीति होती है, तब तक प्रातिभासिक रजत का सत्त्व मानने पर शुक्तिरजत में स्वरूपत: त्रैकालिकनिषेध प्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि सिद्धान्ती शुक्तिरजत की उत्पत्ति से पूर्व और बाध के पश्चात् सत्ता न मानने पर भी प्रतिभास काल में शुक्तिरजत की सत्ता मान ही रहे हैं। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि शुक्तिरजत स्वरूप से तीनों कालों में नहीं रहता है–ऐसा हम नहीं कह रहे हैं, किन्तु शुक्तिरजत पारमार्थिकत्वेन तीनों कालों में नहीं रहता है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती शुक्तिरजत में जो पारमार्थिकत्व का निषेध कर रहे हैं, उस पारमार्थिकत्व का स्वरूपेण निषेध तो कर नहीं सकते हैं, क्योंकि पारमार्थिकत्व का स्वरूपेण निषेध मानने के लिए भ्रम काल में पारमार्थिकत्व के सत्त्व की प्राप्ति माननी पड़ेगी और जब भ्रम काल में पारमार्थिकत्व का सत्त्व रहता है, तब पारमार्थिकत्व का स्वरूपत: त्रैकालिक निषेध नहीं कहा जा सकता है। अत: बाध्य होकर पारमार्थिकत्व का पारमार्थिकत्वान्तर से निषेध मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर अनवस्था होगी। अत: शुक्तिरजत में किसी भी प्रकार का सत्त्व न मानकर असत्त्व ही मानना उचित है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रातिभास काल में शुक्तिरजतादि का सत्त्व मानने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजतादि में स्वरूपत: त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व रूप मिथ्यात्व की उपपत्ति हो जाती है। इसका निरूपण द्वितीय मिथ्यात्व विचार के खण्ड संख्या १४ से लेकर १७ तक किया गया है। इसी प्रकार पारमार्थिकत्वेन निषेध मानने पर भी अनवस्था दोष नही होता है। इसका निरूपण खण्ड संया २३ में किया जा चुका है।।२४।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि शुक्ति रजतादि में सत्यात्मकत्व और असत्यात्मकत्व की अनुपपत्ति होने से शुक्तिरजतादि में सदसदुभयात्मकत्व ही मान लेना चाहिए।

समाधान–उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि परस्पर विरूद्धोभयात्मकत्व एक पदार्थ में बन नहीं सकता है। अर्थात् सद् और असद् दोनों में विरोध होने के कारण एक ही वस्तु को सद् और असद् उभय रूप नहीं माना जा सकता है। इसको पीछे कहा जा चुका है। दूसरी बात यह है कि भ्रमत्व की अनुपपत्ति के कारण भी इस पक्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अर्थात् शुक्तिरजतादि को सदसदुभयरूप मानने पर सत् भी मानना होगा। ऐसा होने पर सद्विषयक शुक्तिरजतादि के ज्ञान में भ्रमत्व न मानकर प्रमात्व मानने की आपत्ति होगी।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि अनिर्वाच्यत्वविषयत्वेन जैसे सिद्धान्त मत में भ्रमत्व है, वैसे ही सदसदात्मकत्व में जो सत्त्व है। तद्विषयत्वेन भ्रम की उपपत्ति हो जायेगी। [कहने का भाव यह

भ्रमत्वमस्तु, एवं तर्हि 'सच्चासच्च रजतम्'इत्याकारताया दुर्निवारत्वापत्तेः। न च—असदेव रूप्यमिति बाधस्य सद्वैलक्षण्यविषयत्ववत् सद्रजतमिति भ्रमस्याप्यसद्वैलक्षण्यमेव विषयोऽस्तु, तथा च प्रातीतिकमपि सत्त्वं मास्त्विति वाच्यम्, तथा सति बाधेन भ्रमविषयसत्त्वानपहारे बाधकत्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्, अगृहीतासत्त्वस्यापि इदं रजतं सदिति प्रतीतेश्च। न हि पुनरगृहीतसत्त्वस्यासद्रूप्यमभादिति प्रत्ययः, बाधस्य प्रसक्तिपूर्वकत्वात्।।२५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है कि ''इदं रजतम्'' इस ज्ञान का विषय अनिर्वचनीय है। अर्थात् शुक्तिरजत सत् भी नहीं है असद् भी नहीं है किन्तु उसकी प्रतीति ''इदं रजतं सत्'' इस प्रकार से होती है। इसलिए इस ज्ञान को भ्रमात्मक माना जाता हैं इसी प्रकार शुक्तिरजत को सदसदुभयात्मक मानने के पक्ष में भी यदि शुक्तिरजत सदसदुभयात्मकत्वेन भासता है, तब ''इदं रजतम्'' इस ज्ञान को भ्रम नहीं माना जाता किन्तु ''इदं रजतम् सत्'' इस ज्ञान में रजत केवल सत् रूप से भासता है न कि सदसदुभयात्मकत्व के रूप से। अतः इस ज्ञान में भ्रमत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् शुक्तिरजत को सदसदुभयात्मक मानने पर भी भ्रमत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अतः सिद्धान्ती जो शुक्तिरजत को सदसदुभय से विलक्षण मान रहे हैं। वह असङ्गत है।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यदि शुक्तिरजत को सदसदुभयात्मक माना जाता है तब तो ''सच्चासच्च रजतम्'' इस प्रकार दोनों रूपों में शुक्तिरजत के प्रतीति की आपत्ति होगी। अतः शुक्तिरजत को सदसदुभय से विलक्षण मानना ही उचित है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''असदेव रजतमभात्'' इस प्रतीति के बल पर सिद्धान्ती शुक्तिरजत को असत् नहीं मानते हैं किन्तु असत् पद का अर्थ सद्विलक्षण करके उक्त प्रतीति का विषय (शुक्तिरजत) सद्विलक्षण है—ऐसा मानते हैं। इसी प्रकार ''इदं रजतसत्'' इस स्थल पर भी सद् पद का अर्थ असद्विलक्षण करना चाहिए, क्योंकि जैसे असद् का अर्थ सद्विलक्षण किया गया वैसे ही सद् का अर्थ असद्विलक्षण भी किया जा सकता है। ऐसा होने पर ''इदं रजतं सत्'' इस प्रतीति के आधार पर शुक्तिरजत की प्रातिभासिक सत्ता नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि ''इदं रजतं सत्'' के घटक सत् पद का अर्थ असद् वैलक्षण्य है न कि प्रातिभासिकसत्त्व।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ''इदं रजतं सत्'' इस ज्ञान के द्वारा शुक्तिरजत निष्ठत्वेन सत्त्व नहीं भासता है, अपितु असद् वैलक्षण्य भासता है—ऐसा मानने पर बाध से भ्रमविषय के सत्त्व का अपहार न होने पर बाधकत्व व्यवहार के उच्छेद की आपत्ति होगी। [कहने का भाव यह है कि ''इदं रजतं सत्'' इस स्थल पर यदि सत् पद का अर्थ सत्त्व किया जाता है तब ''नेदं रजतम्'' इस बाधज्ञान के द्वारा शुक्तिरजतनिष्ठसत्त्व का निषेध होने पर ही ''नेदं रजतम्'' इस बाधज्ञान में बाधकत्व की उपपत्ति होती है। यदि पूर्वपक्षी के कथनानुसार सत् पद का अर्थ असद्वैलक्षण्य किया जाता है तब ''नेदं रजतम्'' इस बाधज्ञान के द्वारा भ्रमविषयीभूत सत्त्व का निषेध नहीं होगा। ऐसा होने पर बाधज्ञान की बाधकता की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।] जिस पुरुष को शुक्तिरजत में असत्त्व (बाध) का ज्ञान नहीं हुआ है, उस पुरुष को भी ''इदं रजतं सत्'' इस प्रकार की प्रतीति होने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्राप्ति के लिए उससे पूर्व निषेध की कोई आवश्यकता नहीं होती है किन्तु जिस पुरुष ने शुक्तिरजत में सत्त्व का ग्रहण नहीं किया है, उस पुरुष को ''असदेव रजतमभात्'' ऐसा बाधज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि वस्तु की प्राप्ति होने पर ही वस्तु का बाध होता है। अर्थात् भ्रम में सत् का भान हो तभी बाध तदभाव को विषय करता है अन्यथा नहीं।।२५।।

ननु—असद्विलक्षणं चेन्न बाध्येत, सद्विलक्षणं चेन्न प्रतीयेत, अतोऽनुपपत्त्या अनिर्वाच्यत्वाभाव एव किं न सिध्येत्, न च—बाधाप्रतीत्योर्लाघवात् सत्त्वासत्त्वे प्रयोजके, नत्वसद्वैलक्षण्यसद्वैलक्षण्ये, गौरवादिति—वाच्यम्, बाधप्रतीत्योरेव प्रथमोपस्थितयोः प्रयोजकजिज्ञासायामसत्त्वसत्त्वयोः प्रयोजकत्वं कल्प्यते, लाघवात्, प्रथमोपस्थितत्वाच्च, न तु सद्विलक्षणत्वादेः गौरवात्, चरमोपस्थितत्वाच्च।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का—[पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जैसे शुक्तिरजतादि में सदसद्वैलक्षण्य सिद्ध करने के लिए (ख्यातिबाधान्याथानुपपत्ति रूप) अर्थापत्ति का प्रयोग करते हैं, वैसे ही शुक्तिरजतादि में अनिर्वाच्यत्वाभाव अर्थात् सदसदुभयरूपता की सिद्धि के लिए भी अर्थापत्ति का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे–] शुक्तिरजतादि यदि असत् से विलक्षण है तब बाधित नहीं होंगे और यदि सत् से विलक्षण है तब प्रतीत नहीं होंगे। इस प्रकार की अनुपपत्ति से शुक्तिरजतादि में सदसदुभयरूपता अर्थात् अनिर्वाच्याभाव की ही सिद्धि क्यों न मान लिया जाय? इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि '' सच्चेन्न बाध्येत'' इसकी अपेक्षा ''असद्विलक्षणं चेन्न बाध्येत'' ऐसा कथन गौरव ग्रस्त है। इसलिए लघुमार्ग का अनुसरण करते हुए ''यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र बाध्यत्वाभावः'' इस प्रकार से सत्त्व को ही अबाध का प्रयोजक मानना चाहिए न कि असद् वैलक्षण्य को। इसी प्रकार ''असच्चेन्न प्रतीयेत'' इसकी अपेक्षा ''सद्विलक्षणं चेन्न प्रतीयेत'' ऐसा कथन गौरव ग्रस्त है। अतः लघुमार्ग का अनुसरण करते हुए ''यत्र यत्र असत्त्वं तत्र तत्र प्रतीयत्यभावः'' इस प्रकार से असत्त्व को ही अप्रतीति का प्रयोजक मानना चाहिए न कि सद्विलक्षण को। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि बाधाभाव और प्रतीत्यभाव के प्रयोजक की दृष्टि से सिद्धान्ती के मत में लाघव है। अर्थात् ''यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र बाध्यत्वाभावः और ''यत्र यत्र असत्त्वं तत्र तत्र प्रतीत्यभावः'' ऐसी व्याप्ति मानने में लाघव है और बाध और प्रतीति के प्रयोजक की दृष्टि से पूर्वपक्षी के मत में लाघव है। अर्थात् ''यत्र यत्र असत्त्वं तत्र तत्र बाधः'' और ''यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र प्रतीतिः'' ऐसी व्याप्ति मानने में लाघव है। अतः किसका पक्ष स्वीकार किया जाय? इसका समाधान करते हुए पूर्वपक्षी कह रहे हैं कि अबाध (बाधाभाव) का प्रयोजक क्या है? इस जिज्ञासा की अपेक्षा बाधाभाव के प्रतियोगी बाध का प्रयोजक क्या है? यह जिज्ञासा प्रथम उपस्थित होती है। इसी प्रकार अप्रतीति (प्रतीत्यभाव) का प्रयोजक क्या है? इस जिज्ञासा की अपेक्षा प्रतीत्यभाव के प्रतियोगी प्रतीति का प्रयोजक क्या है? यह जिज्ञासा प्रथम उपस्थित होती है। अतः प्रथमोपस्थित जो बाध और प्रतीति इन दोनों के प्रयोजक की जिज्ञासा होने पर लाघव होने से और प्रथमोपस्थित होने से असत्त्व में बाध की प्रयोजकता (यत्र यत्र असत्त्वं तत्र तत्र बाधः) का उपन्यास करना चाहिए न कि सद्वैलक्षण्य में अर्थात् '' यत्र यत्र सद्वैलक्षण्य तत्र तत्र बाधः इस प्रकार से सद्वैलक्षण्य में बाध की प्रयोजकता नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह पक्ष गौरवग्रस्त तथा चरमोपस्थित है। अर्थात् सत्त्व की अपेक्षा सद्विलक्षणत्व में गौरव है और सत्त्व के ज्ञान के पश्चात् सद्विलक्षणत्व का ज्ञान होता है। इसी प्रकार लाघव होने से और प्रथमोपस्थित होने से सत्त्व में प्रतीति की प्रयोजकता (यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र प्रतीतिः) का उपन्यास करना चाहिए न कि असद्वैलक्षण्य में। अर्थात् '' यत्र यत्र असद्वैलक्षण्य तत्र तत्र प्रतीतिः'' इस प्रकार से असद्वैलक्षण्य में प्रतीति की प्रयोजकता नहीं माननी चाहिए, क्योंकि यह पक्ष गौरवग्रस्त है तथा चरमोपस्थित है। अर्थात् असत्त्व की अपेक्षा से असद्विलक्षणत्व में गौरव है और असत्त्व के ज्ञान के पश्चात् असद्विलक्षणत्व का ज्ञान होता है। तदन्तरम्= बाध और प्रतीति जो प्रथमोपस्थित है, उन दोनों का प्रयोजक क्रम से असत्त्व और सत्त्व के निश्चय हो जाने के पश्चात्, प्रतीति (भान) का

तदनन्तरं च भानप्रयोजकाभावादेवाभानोपपत्तौ न प्रयोजकान्तरकल्पना। नृशृङ्गादेरसत्त्वेऽपि न बाधः, प्रसक्त्यभावादिति चेत्, मैवम्, सत्त्वं न तावत् प्रतीतिप्रयोजकम्, रूप्यस्य उभयमतेऽप्यप्रतीत्यापत्तेः, नाप्यसत्त्वं बाधप्रयोजकम्, उभयमतसिद्धासति बाधादर्शनात्, रूप्ये चासत्त्वस्याद्याप्यसिद्धेः, प्रत्युतासत्त्वेऽनुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् गौरवं प्रामाणिकम्। तस्मात् सिद्धं ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या अनिर्वाच्यत्वमिति।।२६।।

इत्यद्वैतसिद्धौ ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रयोजक जो सत्त्व है। उसका अभाव ही प्रतीत्यभाव का प्रयोजक हो जायेगा, इसलिए सत्त्वाभाव ही प्रतीत्यभाव का प्रयोजक है। इससे भिन्न प्रयोजक असत्त्व जो कि प्रतीत्यभाव का सिद्धान्ती मानते हैं। उसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है। [प्रश्न होता है कि बाध का प्रयोजक जो असत्त्व है। वह नृशृङ्गादि में है किन्तु उसका बाध होता नहीं है। इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि] नृशृङ्गादि में असत्त्व होने पर भी नृशृङ्गादि का बाध इसलिए नहीं होता है कि उसकी प्राप्ति ही नहीं है अर्थात् जिसकी प्राप्ति होती है, उसी का बाध होता है। प्रकृत में नृशृङ्गादि की प्राप्ति ही नहीं है। अत: उसका बाध भी नहीं होता है।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सत्त्व जो है, वह प्रतीति का प्रयोजक नहीं हो सकता है, क्योंकि शुक्तिरजतादि में उभयमत से भी सत्त्व नहीं माना जाता है। अत: शुक्तिरजतादि के अप्रतीति की आपत्ति होगी। [कहने का भाव यह है कि शुक्तिरजतादि को पूर्वपक्षी असत् मानता है और सिद्धान्ती शुक्तिरजतादि में सत्त्वाभाव और असत्त्वाभाव दोनों मानते हैं। इस प्रकार दोनों ही मतों में शुक्तिरजतादि में सत्त्व नहीं माना जाता है। अत: ''यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र प्रतीतिः'' पूर्वपक्षी की इस व्याप्ति के अनुसार शुक्तिरजतादि में व्याप्य (सत्त्व) के न होने से व्यापक (प्रतीति) भी नहीं होने की आपत्ति होगी।] इसी प्रकार असत्त्व को बाध का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शुक्तिरजतादि उभयमत सिद्ध असत् नही है किन्तु उभयमत सिद्ध असत् पदार्थ बन्ध्यासुतादि है और उसका बाध दोनों ही मतों में नहीं होता है क्योंकि जिसकी प्राप्ति होती है, उसका ही बाध माना जाता है। बन्ध्यासुतादि की प्राप्ति ही नहीं है। अत: उसका बाध दोनों ही मतों में नहीं माना जाता है। अत: '' यत्र यत्र असत्त्वं तत्र तत्र बाधः'' पूर्वपक्षी की यह व्याप्ति बन्ध्यासुतादि में व्यभिचरित है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि शुक्तिरजतादि में असत्त्व भी मानते हैं और उसका बाध भी मानते हैं। अत: बाध का प्रयोजक असत्त्व को मानने में कोई दोष नहीं है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि शुक्तिरजतादि में भी तक पूर्वपक्षी के द्वारा असत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सका है, प्रत्युत शुक्तिरजतादि को असद् मानने पर निषेध प्रतियोगित्वादि की अनुपपत्ति आगे कही जायेगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा बाध और प्रतीति का प्रयोजक क्रमश: जो असत्त्व और सत्त्व को माना गया। वह लाघव होने पर भी दूषित होने के कारण नहीं माना जा सकता है। सिद्धान्ती के द्वारा बाध और प्रतीति का प्रयोजक क्रमश: सद्वैलक्षण्य और असद् वैलक्षण्य को मानने पर यद्यपि गौरव होता है किन्तु कोई दोष न होने के कारण सिद्धान्ती का पक्ष प्रामाणिक है। अत: प्रामाणिक गौरव दोष नहीं माना जाता है। अन्यथा जगतीतल में लाघव से एक ही घट मानने की आपत्ति होगी। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा कथित दोषों का निराकरण हो जाने से प्रतीति और बाध की अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से अविद्या और अविद्या प्रयुक्त प्रपञ्चादि में अनिर्वाच्यत्व सिद्ध हो जाता है।।२६।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिः

(ग) निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्तिसमर्थनम्—

केचित्तु— बाध्यत्वं सत्यसति चानुपपन्नमिति अनिर्वाच्यत्वमिति—आहुः। न च—अतीते तत्कालासति ध्वंसप्रतियोगित्ववत् सर्वदा असत्यप्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं स्यात्, तथा च बाध्यत्वं नात्यन्तासत्त्वविरोधीति वाच्यम्; कालान्तरसत्तायाः कालान्तरसत्तां प्रत्यनुपयोगेऽपि विद्यमानतादशायामेव घटादौ ध्वंसप्रतियोगित्वम्; 'अनित्यो घटोऽस्ति' इति प्रतीतेः, न तु ध्वंसादिकाले घटे ध्वंसप्रतियोगित्वम्;

सत्यानन्दप्रबोधिका

(ग) निषेधप्रतियोगित्वनुपपत्तिसमर्थनम् —

न्यायचन्द्रिकाकार का कथन है कि शुक्तिरजतादि को ऐकान्तिक सत् अथवा असत् मानने पर शुक्तिरजतादि में बाध्यत्व मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि सत् (ब्रह्म) का भी बाध नहीं होता है और असत् (बन्ध्यासुतादि) का भी बाध नहीं होता है, क्योंकि पीछे खण्ड संख्या २६ में कहा जा चुका है कि— नृशृङ्गादिसत्त्वेऽपि न बाधः, प्रसक्त्यभावात्। अतः शुक्तिरजतादि में सद्विलक्षणत्व और असद् विलक्षणत्व होने से शुक्तिरजतादि में अनिर्वचनीयत्व सुतराम् सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—[पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि जिसका बाध होता है, वह असत् से विलक्षत होता है किन्तु सिद्धान्ती का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि असत् का भी बाध हो सकता है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि] तत्काल= ध्वंसकाल में असत् जो अतीत पदार्थ है। [अर्थात् अतीत पदार्थ सर्वदा असत् नहीं है किन्तु ध्वंसकाल में ही असत् है, क्योंकि जिस काल में अतीत पदार्थ था। उस समय वह असत् नहीं था, किन्तु सत् था।] अतः जो किञ्चित् काल (ध्वंसकाल) में असत् है, उसमें भी ध्वंसप्रतियोगित्व अर्थात् निषेध प्रतियोगित्वरूपबाध्यत्व रह सकता है, तब जो शशशृङ्गादि सर्वदा असत् है। अर्थात् जिसकी भूतभावि वर्तमान किसी भी काल में सत्ता नहीं है, उसमें अत्यन्ताभावप्रतियोगित्व अर्थात् निषेधप्रतियोगित्व रूप बाध्यत्व रह ही सकता है। अतः बाध्यत्व अत्यन्त असत्त्व का विरोधी नहीं है। अर्थात् जिस पदार्थ में बाध्यत्व है, वह पदार्थ असत् से विलक्षण होगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। ऐसा सिद्ध हो जाने पर निषेध ाप्रतियोगित्वानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति का खण्डन हो गया।

समाधान— उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कालान्तर में रहने वाली सत्ता का कालान्तर सत्ता के प्रति उपयोग न होने से, घट जिस समय वर्तमान रहता है, उसी वर्तमानकालीन घटादि में ही ध्वंसप्रतियोगित्व रहता है। इसमें आगे प्रमाण देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''अनित्योघटोऽस्ति'' ऐसी ही प्रतीति होती है। अनित्यत्व का लक्षण है—ध्वंसप्रतियोगित्व। अतः ''अनित्यो घटोऽस्ति'' का अर्थ होगा— ध्वंसप्रतियोगी घटोऽस्ति। ''अस्ति'' पद से यह सूचित हो रहा है कि घट वर्तमान है। अतः वर्तमान घट दशा में ही ध्वंस प्रतियोगित्व रहता है— यह उक्त प्रतीति से सिद्ध हो गया। घटध्वंसकाल में अतीत घट में ध्वंसप्रतियोगित्व क्यों नहीं माना जाता है? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ध्वंसादि काल में घट में ध्वंसप्रतियोगित्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ध्वंसकाल में घटादि का ही अभाव होता है। अर्थात् जब घटादि की ही सत्ता नहीं है तब उसमें ध्वंसप्रतियोगित्वादि धर्म ही कैसे रह सकते हैं? इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि घट ध्वंसकाल में अतीत घट में ध्वंसप्रतियोगित्व नहीं रहता है—ऐसा मानने पर घट ध्वंसकाल में ''घट ध्वंस का प्रतियोगी नहीं है।''ऐसा प्रत्यय होना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त प्रकार से आपत्ति करने पर ''घटो न रूपवान्'' ऐसी प्रतीति की भी आपत्ति होगी। अर्थात् किसी

तदानीं घटादीनामेवाभावात्। न च तर्हि तदा घटो न ध्वंसप्रतियोगीति प्रत्ययः स्यात्; न, रूपवानित्यस्यापि प्रसङ्गात्। अथ यावत्सत्त्वं रूपसत्त्वान्नैवम्, समं प्रकृतेऽपि। वस्तुतस्तु—ध्वंसकालेऽपि घटो ध्वस्त इति ध्वंसप्रतियोगिता घटे प्रतीयत एव। तथा चानागतवर्तमानातीतावस्थाः क्रमेणाविर्भावयन् तिरोभावयंश्चानिर्वाच्यो घटः कालत्रयेऽप्यनुस्यूत इति नः सिद्धान्तः। एवं च सत्यनिर्वाच्यत्वमेव प्रतियोगित्वादौ प्रयोजकमिति स्थितम्।१ ।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

काल में पदार्थ का रह जाना ही उसके सामान्याभाव की प्रतीति का प्रतिबन्धक माना जाता है। इसीलिए घट की विद्यमान दशा में जैसे घट में रूप रहता है, किन्तु घट के अविद्यमान दशा में घट में रूप नहीं रहता है तथापि ''घटो न रूपवान्'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। ठीक वैसे ही घट की विद्यमान दशा में घट में ध्वंसप्रतियोगित्व रहता है किन्तु घट के अविद्यमान दशा में घट में ध्वंसप्रतियोगित्व नहीं रहता है तथापि ''घटो न ध्वंसप्रतियोगी'' ऐसा प्रतीति नहीं होती है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि घट जब तक विद्यमान रहता है तब तक घट में रूप रहने के कारण घट के अविद्यमान दशा में भी ''घटो न रूपवान्'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि इसी प्रकार प्रकृत में भी माना जा सकता है। अर्थात् जब तक घट विद्यमान रहता है तब तक घट में ध्वंसप्रतियोगित्व रहने के कारण घट के अविद्यमान दशा में भी ''घटो न ध्वंसप्रतियोगी' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। वस्तुतः ध्वंसकाल में भी ''घटो ध्वस्तः'' इस प्रकार से ध्वंसप्रतियोगिता घट में ही प्रतीत होती है। ''ध्वंसकालेऽपि'' के घटक अपि पद से कहा गया कि घट के विद्यमान दशा में घट में ध्वंस की प्रतियोगिता भी रहती है। अर्थात् घट के विद्यमान दशा में और घट के अतीत दशा में ध्वंस की प्रतियोगिता घट में ही रहती है। अतः ''घटो न ध्वंसप्रतियोगी'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अतः घट ध्वंस काल में भी जब ''घटो ध्वंसप्रतयोगी'' ऐसी प्रतीति होती है, तब घट ध्वंसकाल में भी अनिर्वचनीय घट विद्यमान है—ऐसा मानना पड़ेगा। अन्यथा अधिकरण (घट) के अभाव में ध्वंसप्रतियोगित्व रूप धर्म की भी प्रतीति नहीं हो पायेगी। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि ''अतीते तत्कालासति ध्वंसप्रतियोगित्ववत्'' अर्थात् अतीत पदार्थ वर्तमानकाल में अर्थात् ध्वंसकाल में असत् है। उस असत् घटादि में ध्वंसप्रतियोगित्व (निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध) रहता है। उसका खण्डन हो गया, क्योंकि घटध्वंस काल में भी अनिर्वचनीय घट रहता है और अनिर्वचनीय घटादि में ही ध्वंसप्रतियोगित्व रहता है न कि असत् घटादि में। फलतः अनागत वर्तमान अतीत ये जो तीन अवस्थाएं हैं। इन अवस्थाओं को क्रमशः आविर्भाव तिरोभाव करता हुआ अनिर्वाच्य घट कालत्रय में भी अनुस्यूत है—यह हम लोगों का सिद्धान्त है। अर्थात् संकुचित प्रसारितादि नाना अवस्थाओं में वस्त्राादिस्वरूप के जैसे मृत्यिपिण्ड, कपाल, घट भग्न आदि नाना अवस्थाओं में एक ही घटस्वरूप अनुस्यूत है। इसीलिए ही जो पहले मिट्टी थी या कपाल था पश्चात् वही जलाहरण के योग्य हो जाता है और वही भग्न होने पर '' इस समय जलाहरण के अयोग्य है'' ऐसी प्रत्यभिज्ञा का विषय होता है। अतः अवस्थाओं के भिन्न—भिन्न होने पर भी उन सभी अवस्थाओं में अनुगत घट व्यक्ति स्वरूप होता है। इस प्रकार तीनों कालों में अनिर्वचनीय घट पदार्थ अनुस्यूत होने पर चाहे ध्वंसप्रतियोगित्वरूपबाध हो या अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप बाध हो। इन सभी की प्रतियोगिता अनिर्वचनीय घट में ही रहती है। सत् अथवा असत् में नहीं रहती है। अतः अनिर्वाच्यत्व ही निषेधप्रतियोगित्वादि में प्रयोजक है—यह सिद्ध हो गया। इसलिए यह उचित ही कहा गया है कि शुक्तिरजतस्य अनिर्वचनीयत्व विना बाध्यत्वं (निषेधप्रतियोगित्वम्) अनुपपन्नम्।१ ।।

ननु—असद्वैलक्षण्यापेक्षया लघुत्वात् सत्त्वमेव प्रतियोगित्वादौ प्रयोजकमस्तु, तथा चानिर्वाच्यत्वेऽपि प्रतियोगित्वादिकमनुपपन्नमेवेति चेत्, सत्यम्; सत्त्वमेव यत्किञ्चित्कालाबाध्यत्वरूपं तत्र प्रयोजकम्, न तु त्रिकालाबाध्यत्वरूपम्; गौरवात्। न च तर्हि कथं? सति बाध्यत्वमनुपपन्नम्; न सन्मात्रे, किन्तु परमार्थसतीत्यवेहि। तथा चानिर्वाच्यतापक्षे नानुपपत्तिः। न च तर्हि कथमसद्वैलक्षण्यप्रतियोगित्वमसति

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि निषेधप्रतियोगित्वरूप बाध का प्रयोजक असद्वैलक्षण्य रूप अनिर्वाच्यत्व को मानने की अपेक्षा सत्त्व को प्रयोजक मानने में ही लाघव है। निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध में सत्त्व ही प्रयोजक होने से शुक्तिरजत को अनिर्वचनीय (सदसद्विलक्षण) मानने पर भी शुक्तिरजत में निषेधप्रतियोगित्वरूप बाध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सदसद्विलक्षणरूप अनिर्वचनीय में सत्त्व नहीं रहता है। अतः शुक्तिरजतत को अनिर्वचनीय मानने पर भी निषेधप्रतियोगित्वरूप बाध की उपपत्ति न हो पाने से सिद्धान्ती के द्वारा कथित अर्थापत्ति का खण्डन हो गया।

समाधान— यदि ऐसा पूर्वपक्षी का कथन है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि यत्किञ्चित् कालाबाध्यत्वरूप सत्त्व को निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध का प्रयोजक हम भी मान लेंगे किन्तु त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्व को निषेध प्रतियोगित्वरूप बाध का प्रयोजक हम नहीं मानते हैं, क्योंकि गौरवदोष होगा। अर्थात् यत्किञ्चित् काल की अपेक्षा से तीनों काल लेने पर गौरवदोष होगा। [सिद्धान्ती के कथन का तात्पर्य यह है कि यत्किञ्चित्कालावच्छिन्नाबाध्यत्वरूपसत्त्व में किञ्चित्कालावच्छिन्न'' यह विशेषण भाग ब्रह्म और तुच्छ को व्यावृत्त करने के लिए दिया गया है। अर्थात् ब्रह्म में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व रहता है। अतः यत्किञ्चित्कालावच्छिन्नाबाध्यत्व ब्रह्म में नहीं जायेगा। तुच्छ के साथ काल का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। इसलिए तुच्छ में भी यत्किञ्चित्कालावच्छिन्नाबाध्यत्व नहीं रह सकता है। अतः यत्किञ्चित्कालावच्छिन्नाबाध्यत्वरूप सत्त्व को निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध का प्रयोजक मानने पर कहीं पर अतिव्याप्ति नहीं होगी और शुक्तिरजतादि में यत्किञ्चित्कालावच्छिन्नाबाध्यत्वरूप सत्त्व के रहने से निषेधप्रतियोगित्वबाध्य की ही उपपत्ति हो जायेगी। अतः सिद्धान्ती के द्वारा कथित उक्त अर्थापत्ति में कोई दोष नहीं है। यही सिद्धान्ती के कथन का भाव है।] सिद्धान्ती के भाव को न समझने के कारण यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सत्त्व को निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध्यत्व का प्रयोजक मानने पर जो आपने कहा था कि जो सत् है, उसका बाध नहीं होता है—इसकी उपपत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि आपने सत् को ही बाध का प्रयोजक मान लिया। इसका खण्डन करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि हम सन्मात्र में बाध्यत्व की अनुपपत्ति नहीं कह रहे हैं किन्तु परमार्थ सत् में बाध्यत्व की अनुपत्ति कह रहे हैं—ऐसा पूर्वपक्षी को समझ लेना चाहिए। अर्थात् ''यत् सत् तन्न बाध्येत'' के घटक सत् शब्द का अर्थ है—परमार्थसत् न कि यत्किञ्चित्कालावच्छिन्नाबाध्यत्वरूप सत्। अतः अर्थापत्ति में कोई दोष नहीं है। तथा च= परमार्थ सत् में बाध्यत्व अनुपपन्न होने से और यत्किञ्चित्कालावच्छिन्नाबाध्यत्वरूप सत्त्व वाले शुक्तिरजतादि में बाध्यत्व अनुपपन्न न होने से अनिर्वाच्यता पक्ष में निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध्यत्व की अनुपपत्ति नहीं है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि तर्हि= सत्त्व को निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध्यत्व का प्रयोजक मानने पर और असत्त्व को निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध्यत्व का प्रयोजक न मानने पर अर्थात् निषेध की प्रतियोगिता असत् में नहीं रहती है—ऐसा मानने पर असद् वैलक्षण्य की प्रतियोगिता असत् में कैसे

कथं वा नासदासीदिति श्रौतनिषेधः, असत्त्वं तावन्निस्वःरूपत्वम्। तद्वैलक्षण्यं सत्स्वरूपत्वं तच्च निष्प्रतियोगिकमेव। श्रुत्यर्थोऽपि तदेव। तथा च नास्ति (नासति) प्रतियोगित्वप्रतिपत्तिः॥२॥

नच शशशृङ्गं नास्तीति प्रत्यक्षत एवासति निषेधप्रतियोगित्वमनुभूयत इति वाच्यम्, योग्यानुपलब्धिस्तावदभावग्राहिका। योग्यता च शशशृङ्गादीनां दोषघटिता वाच्या। तस्यां नानुपलम्भः। अनुपलम्भे च न सेति योग्यानुपलब्धेरसम्भवात्। तदुक्तं—'दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता। तस्यां नानुपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने।' इति।

सत्यानन्दप्रबोधिका

रहेगी? और ''असत् न था'' (ऋ.सं. मण्ड.१० सूत्र १२९ मं.१) इस प्रकार के श्रौत निषेध की प्रतियोगिता असत् में कैसे उपपन्न हो पायेगी?

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि असत्त्व का अर्थ है—निःस्वरूपत्व। उसका वैलक्षण्य है सत्स्वरूपत्व। सत्स्वरूपत्व निष्प्रतियोगिक भाव रूप होता है। अतः उसकी प्रतियोगिता मानी ही नहीं जाती है, क्योंकि अभाव की ही प्रतियोगिता मानी जाती है। इसी प्रकार ''न असद् आसीत्'' का अर्थ है—सदासीत्। इस प्रकार यहां पर भी किसी प्रकार का निषेध विवक्षित नहीं है। अतः यहां पर भी प्रतियोगिता मानने की आवश्यकता नहीं है। फलतः असद्वैलक्षण्य और नासदासीत् इत्यादि स्थलों पर असत् में किसी भी प्रकार की प्रतियोगिता का बोध नहीं होता है। अतः उक्त स्थलों को दृष्टान्त बनाकर असत् में निषेध की प्रतियोगिता की उपपत्ति नहीं की जा सकती है॥२॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''शशशृङ्ग नहीं है'' इत्याकारक प्रत्यक्ष से ही असत् में निषेधप्रतियोगित्व अनुभूत होता है। जबकि असत् में सत्त्व नहीं है। अतः सत्त्व को निषेधप्रतियोगित्वरूपबाध्यत्व का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव की ग्राहिका प्रतियोगिसत्त्व प्रसञ्जनप्रसञ्जित प्रतियोगित्वरूपा योग्यानुपलब्धि है। [अर्थात् यदि प्रतियोगी प्रत्यक्ष योग्य है और उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है, तभी उस प्रतियोगी के अभाव का प्रत्यक्ष माना जाता है। प्रतियोगी यदि प्रत्यक्ष योग्य नहीं है, तब उसकी अनुपलब्धी होने पर भी उसके अभाव का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता है। प्रकृत में शशशृङ्ग प्रत्यक्ष के योग्य नहीं होने से उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा।] वस्तुतः शशशृङ्गादि में प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं है। अतः किसी दोष के कारण ही शशशृङ्ग में प्रत्यक्ष की योग्यता आ सकती है—ऐसा ही कहना पड़ेगा, क्योंकि योग्यता होती तो शशशृङ्गादि की अनुपलब्धि नहीं होती। अर्थात् उसकी उपलब्धि हो जाती किन्तु उपलब्धि नहीं होती है। अतः उसमें योग्यता नहीं है। अतः जब शशशृङ्ग की अनुपलब्धि हो रही है। अर्थात् कभी भी उपलब्धि नहीं हो रही है तब उसमें प्रत्यक्ष की योग्यता नहीं मानी जा सकती है। इस प्रकार से शशशृङ्गादि असत् में योग्यानुपलब्धि का असम्भव है। अतः असत् में प्रत्यक्षतः निषेधप्रतियोगित्व का अनुभव नहीं हो सकता है। इसको स्पष्ट करते हुए श्री उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि में कहा है—

दुष्टोपलम्भसामग्री शशशृङ्गादियोग्यता।
तस्यां नानुपलम्भोऽस्ति नास्ति सानुपलम्भने॥ (न्या. कु. ३—३)

[अर्थात् शशशृङ्गादि में प्रत्यक्ष की योग्यता की सामग्री दोष घटित है। अर्थात् वास्तव में प्रत्यक्ष की योग्यता की सामग्री नहीं है। वास्तविक सामग्री यदि रहती, तब तो शशशृङ्गादि का उपलम्भ (ज्ञान) हो जाता, अनुपलम्भ नहीं होता किन्तु जब शशशृङ्गादि का अनुपलम्भ अर्थात्

न च प्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धिरेव तद्ग्राहिका, सा च प्रकृतेऽस्त्येवेति—वाच्यम्, स्तम्भात्मनि योग्यत्वप्रसिद्ध्या पिशाच उपलम्भापादनं सम्भवति। शशशृङ्गास्तित्वं न योग्यतया व्याप्तम्। यद्बलात्तेन उपलम्भ आपद्येत। तथा च नात्र प्रतियोगिसत्त्वविरोधिनी अनुपलब्धिः। अतएव पिशाचादीनां भेदः प्रत्यक्षः, नात्यन्ताभावः। न च शृङ्गादिकं योग्यतया व्याप्तमेवेति वाच्यम्, तावता हि शृङ्गाभाव एव

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपलम्भ नहीं होता है, तब इसी से सिद्ध हो गया कि शशशृङ्गादि के उपलम्भ की सामग्री नहीं है। फलतः शशशृङ्गादि असत् पदार्थों के अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रतियोगी के सत्त्व के द्वारा जिस प्रतियोगी के उपलब्धि का आपादन करना सम्भव है। (अर्थात् यदि प्रतियोगी होता तो उसकी उपलब्धि होती—ऐसा आपादन करना सम्भव है।) उस प्रतियोग्युपलब्धि का अभाव रूप जो अनुपलब्धि है। वही अनुपलब्धि अभाव की ग्राहिका है और वह प्रकृत में है, क्योंकि ''शशशृङ्गः स्यात् तर्हि उपलभ्येत'' ऐसा आपादन करना सम्भव है और शशशृङ्ग की अनुपलब्धि भी है। अतः शशशृङ्गाभाव का प्रत्यक्ष होगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि स्तम्भ में योग्यत्व की प्रसिद्धि से अर्थात् स्तम्भ उपलब्धि का विषय है—यह प्रसिद्ध होने से ''पिशाचः यदि स्तम्भः स्यात् तर्हि उपलभ्येत।'' ऐसा आपादन करना सम्भव है। (इसलिए स्तम्भ में पिशाच के भेद का प्रत्यक्ष हो जाता है।) किन्तु '' यत्र यत्र शशशृङ्गास्तित्वं तत्र तत्र उक्तयोग्यत्वम्'' ऐसी व्याप्ति नहीं मिलती है। अतः योग्यता से व्याप्त शशशृङ्ग के अस्तित्व के द्वारा ''यदि शशशृङ्गः स्यात् तर्हि उपलभ्येत'' ऐसा आपादन सम्भव नहीं है। अतः यहां पर प्रतियोगिसत्त्वविरोधिनी अनुपपलब्धि नहीं है। इसलिए शशशृङ्गाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतएव= प्रतियोगिसत्त्वविरोधिनी अनुपपलब्धि को संसर्गाभाव के प्रत्यक्ष में हेतुत्व होने से ही, स्तम्भ में पिशाचादि के भेद का प्रत्यक्ष होता है, पिशाचात्यन्ताभाव का नहीं। [कहने का भाव यह है कि स्तम्भ निष्ठ पिशाच भेद का प्रतियोगी पिशाच। उसके सत्त्व के द्वारा उसकी अनुपलब्धि का ''यदि स्तम्भः पिशाचः स्यात् तर्हि पिशाचत्वेन उपलभ्येत न तु स्तम्भत्वेन, उपलभ्यते च स्तम्भत्वेन तेन स्तम्भः पिशाचो न'' ऐसा आरोप करना सम्भव है। इसलिए स्तम्भनिष्ठ पिशाच के भेद का प्रत्यक्ष हो जाता है किन्तु ''स्तम्भे यदि पिशाचः स्यात् तर्हि उपलभ्येत'' ऐसा आपादन करना सम्भव नहीं है, क्योंकि पिशाच की अनुपलब्धि पिशाच सत्त्व की विरोधिनी नहीं होती है, क्योंकि जहां पिशाच रूप प्रतियोगी का सत्त्व होता है, वहां भी पिशाच रूप प्रतियोगी के ग्रहण की रूपवत्तादि घटित सामग्री के न होने से पिशाच की अनुपलब्धि ही है। अतः उक्त प्रकार से आपादन करना सम्भव न होने से स्तम्भनिष्ठ पिशाच के अत्यन्ताभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता है।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शशशृङ्गादि में योग्यता का व्याप्यत्व न होने पर भी शश और शृङ्ग पृथक्—पृथक् उक्त योग्यता के व्याप्त हो ही सकते हैं। अर्थात् ''यदि शशः स्यात् तर्हि उपलभ्येत'' '' यदि शृङ्गः स्यात् तर्हि उपलभ्येत'' इस प्रकार से आपादन किया ही जा सकता है। इन दोनों आपादनों के बल पर शशशृङ्गाभाव का प्रत्यक्ष हो जायेगा। यही पूर्वपक्षी का भाव है।

समाधान— इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि शश और शृङ्ग पृथक्—पृथक् उक्त योग्यता से व्याप्त होने से शश में शृङ्ग के अभाव का आपादन हो सकता है। अर्थात् ऐसे स्थल पर योग्यानुपलब्धि सम्भव है। किन्तु इसके बल पर शश में शृङ्गाभाव का ही प्रत्यक्ष हो सकता है, शशशृङ्गाभाव का नहीं। इसी प्रकार ''शशशृङ्गं नास्ति'' इस प्रकार अलीक प्रतियोगी को उल्लेख करती हुई बुद्धि का भी शश में शशशृङ्गाभाव ही विषय है। अर्थात् ''शशे यदि शृङ्गं स्यात् तर्हि

योग्यानुपलब्धिसम्भवः, न त्वलीकाभावे। एवञ्च सति शशशृङ्गं नास्तीत्युल्लिखन्त्या अपि बुद्धेः शशे शृङ्गाभाव एव विषयः। गवि शशशृङ्गं नास्तीत्यस्या अपि गवाधिकरणकशृङ्गे शशीयत्वाभावो विषयः, अनन्यगतिकत्वात्। अत एव गोरनन्वयोऽपि नास्ति, शशशृङ्गादेरुपस्थित्यभावात् न तदभावग्रह इति तार्किकरीत्या उक्तत्वाच्च। अत एव सप्तमे पदार्थत्वनिषेधस्यासम्भवात् पदार्थाः षडेवेत्यत्र न कुसृष्टिव्याख्यानम्।।३।।

न च 'घटो नास्ति'इति बुद्धेर्घटसंसर्गाभाव एव विषयः, नतु घटाभावः, पूर्वं तत्र घटस्य सत्त्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपलभ्येत'' ऐसा आपादन करना सम्भव होने से शश में शृङ्ग की अनुपलब्धिरूप प्रमाण से शश में शृङ्ग के अभाव का प्रत्यक्ष हो जायेगा। गौ में शशशृङ्ग नहीं है—इस बुद्धि का भी गौ में रहने वाले शृङ्ग में शशीयत्वाभाव विषय है, क्योंकि असत् शशशृङ्ग में निषेधप्रतियोगित्व मानना सम्भव न होने के कारण उक्त प्रकार (गवाधिकरणशृङ्गे शशीयत्वाभावो विषयः) से समाधान देने से पृथक् और कोई उपाय नहीं है। अत एव= गौ में शश शृङ्ग नहीं है—इस बुद्धि का विषय गौ में रहने वाले शृङ्ग में शशीयत्वाभाव के होने से ही, गौ का अनन्वय भी नहीं होगा। अर्थात् पूर्वपक्षी के कथनानुसार ''गवि शशशृङ्गं नास्ति'' का अर्थ होता कि गौ में असत् शशशृङ्ग प्रतियोगिकाभाव रहता है, किन्तु ऐसा अर्थ सम्भव नहीं है, क्योंकि असत् में निषेध की प्रतियोगिता ही नहीं मानी जाती है। इसका निरूपण खण्ड संख्या २ में किया जा चुका है। सिद्धान्तमतानुसार ''गवि शशशृङ्गं नास्ति'' का अर्थ गौ अधिकरण शृङ्ग में शशीयत्वाभाव करने पर कोई दोष नहीं है। [इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''शश में शृङ्गाभाव'' अथवा ''गौ अधिकरणकशृङ्ग में शशीयत्वाभाव'' इस प्रकार से शशशृङ्गाभाव का ज्ञान होता है— ऐसा आप मान रहे हैं। जबकि आपके पूर्वाचार्यों ने ''शशशृङ्गाभाव का ज्ञान नहीं होता है'' ऐसा कहा है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों के कथन के साथ आ के कथन का विरोध हो रहा है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] शशशृङ्गादि की उपस्थिति न होने के कारण शशशृङ्गादि के अभाव का ग्रह नहीं होता है— ऐसा जो अद्वैतवेदान्तग्रन्थों में पूर्वाचार्यों ने कहा है, वह तार्कित रीति से ही कहा गया है। अत एव= अप्रसिद्ध पदार्थ (अलीक पदार्थ) का अभाव बुद्धि में विशेष्यतया अथवा विशेषणतया प्रत्यय न होने से ही, सप्तम में पदार्थत्व के निषेध के असम्भव से ही षट् पदार्थ ही है— यहां पर कुसृष्टिव्याख्यान नहीं है। [कहने का भाव यह है कि प्राचीन नैयायिकों ने ''षडेव भाव पदार्थाः'' ऐसा कहा है। इसमें एवकार से ''सप्तमभावो नास्ति'' इस प्रकार से सप्तमभावपदार्थ का अभाव प्रतीत होता है। इस पर शङ्का की जाती है कि सप्तमभाव पदार्थ प्रमित है या नही? यदि प्रमित है तब उसका अभाव माना नहीं जा सकता है। इसलिए सप्तमभाव पदार्थ की सिद्धि हो जायेगी। यदि सप्तम भाव पदार्थ अप्रमित है, तब भी सप्तमभाव पदार्थ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि अप्रमित पदार्थ अलीक है और अलीक प्रतियोगिकाभाव माना नहीं जाता है। इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा गया कि ''सप्तमभावो नास्ति'' का अर्थ है कि द्रव्यादिषट्कात्यन्ताभाव में भावत्व का सामानाधिकरण्य नहीं है। अर्थात् द्रव्यादिषड्कात्यन्ताभाव सप्तम अभाव पदार्थ में रहता है और वहां भावत्व नहीं रहता है। ऐसा अर्थ करने पर सप्तम की भावत्वेन प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं है और अलीकप्रतियोगिकाभाव की भी आपत्ति नहीं होगी। इस यथार्थ को पूर्वपक्षी ने भ्रान्ति से न्यायामृत ग्रन्थ में कुसृष्टिव्याख्यान कहा और अलीकप्रतियोगिकाभाव मानकर अर्थात् सप्तमभाव पदार्थ का अभाव मानकर आत्मीय व्याख्यान को सुसृष्टिव्याख्यान माना है, किन्तु अलीकप्रतियोगिक अभाव के सिद्ध न होने के कारण प्रथम व्याख्यान ही सुसृष्टिव्याख्यान है और पूर्वपक्षी का व्याख्यान ही कुसृष्टिव्याख्यान है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर ने कहा कि ''न

तदत्यन्ताभावस्याभावात्, प्राक्प्रध्वंसाभावयोः प्रतियोगिकाले असम्भावितत्वात्, भेदस्य घटापसरणानपसरणयोस्तुल्यत्वात्, संसर्गोऽपि न तात्त्विकः, प्रतियोगिनि पूर्ववद्ध्वंसाद्यनुपपत्तेः, किन्तु असन् संसर्ग इति वाच्यम्, उक्तमत्रोदयनाचार्यैः यन्निबन्धनाहि यत्प्रतीतिः तदभावनिबन्धनैव तदभावप्रतीतिः। इह च घटास्तित्वप्रतीतिः संयोगनिबन्धना, तदभावप्रतीतिः संयोगाभावनिबन्धनैव। स च संयोगस्तात्त्विक एव। न च ध्वंसादिविकल्पः, घटानयनात् प्राक् संयोगप्रागभावस्य घटे

सत्यानन्दप्रबोधिका

कुसृष्टिव्याख्यानम्''। अर्थात् प्रथम व्याख्यान कुसृष्टिव्याख्यान नहीं है किन्तु सुसृष्टिव्याख्यान है।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जिस भूतल में पहले घट था, उसी भूतल में घट के अपसरण दशा में ''घटो नास्ति'' ऐसी जो बुद्धि होती है। उस बुद्धि का विषय घट के संयोग का अभाव होता है न कि घट का अत्यन्ताभाव। (इस पर यदि कहा जाय कि उस भूतल पर घट का अत्यन्ताभाव ही क्यों न मान लिया जाए? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) पूर्वकाल में जिस भूतल पर घट विद्यमान था। उस भूतल में घट का अत्यन्ताभाव (त्रैकालिक अभाव) नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वायु में जैसे रूप सर्वदा नहीं रहता है। अतः वायु में रूप का अत्यन्ताभाव माना जाता है किन्तु उत्पत्तिकालीन घट में रूप के न रहने पर भी घट में रूप का अत्यन्ताभाव नहीं माना जाता है, क्योंकि उसी घट में आगे रूप उत्पन्न होने वाला है। (इस पर यदि कहा जाय कि उक्त बुद्धि का विषय उस भूतल पर घट का अत्यन्ताभाव न होने पर भी घट का प्रागभाव या घट का प्रध्वंसाभाव ही क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) प्रतियोगी (घट) जिस काल में है। उस काल में प्रतियोगी (घट) का प्रागभाव अथवा प्रध्वंसाभाव माना नहीं जा सकता है। अतः भूतल में इस समय घट न रहने पर भी अन्यत्र घट रहता है। अतः यह काल प्रतियोगी (घट) का विद्यमान काल है। अतः ऐसे स्थल पर घट का प्रागभाव अथवा घट का प्रध्वंसाभाव नहीं माना जा सकता है। (इस पर यदि कहा जाय कि उस भूतल पर घट का अत्यन्ताभाव या प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव मानना सम्भव न होने पर भी उस भूतल में घट का भेद ही उक्त बुद्धि का विषय क्यों न मान लिया जाय? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि घट का भेद भूतल में घटानयनानय में तुल्य है। अर्थात् घट के वर्तमान काल में भी भूतल में घट भेद था किन्तु ''घटो नास्ति'' ऐसी बुद्धि नहीं होती थी। अतः घट के अपसरण दशा में भी जो ''घटो नास्ति'' ऐसी बुद्धि होती है। उसका विषय घट भेद नहीं हो सकता है। (यदि कहा जाय कि उक्त स्थल पर किसी भी प्रकार का घट का अभाव मानना सम्भव न होने पर भी यदि घट के संसर्ग का अभाव मान भी लिया जाय तो भी उस घट संसर्गाभाव के प्रतियोगी घट संसर्ग को तात्त्विक मानने में क्या आपत्ति है? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि) घट को जब प्रतियोगी बनाया गया था। उस समय जैसे घट का अत्यन्ताभाव या प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव या भेद मानना सम्भव नहीं हुआ था। उसी प्रकार घट के तात्त्विक संसर्ग को प्रतियोगी मानने पर पूर्वोक्त युक्तियों से तात्त्विक संसर्ग का अत्यन्ताभाव या प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव या भेद नहीं माना जा सकता है। अतः उक्त स्थल पर प्रतियोगीभूत जो घट संसर्ग है। वह तात्त्विक नहीं है किन्तु असत् है। अतः असत् में निषेध प्रतियोगित्व सिद्ध हो गया।

समाधान—सिद्धान्ती उक्त स्थलीय भूतल पर घट अपसरण दशा में जो ''घटो नास्ति'' ऐसी प्रतीति होती है वहां घट का अभाव न मानकर घट के संयोग का अभाव मानकर समाधान देते हुए कह रहे हैं कि ऐसे स्थल के विषय में श्रीउदयनाचार्य ने कहा है कि जिसके अधीन जिसकी प्रतीति होती है। उसके अभाव के अधीन उसके अभाव की प्रतीति होती है। प्रकृत में ''भूतले घटोऽस्ति''

अपसारिते संयोगध्वंसस्य सत्त्वात्। न हि घटे अन्यत्र नीते तद्देशे घटसंयोगोऽस्ति, येन प्रागभावादिर्व्याहन्येत। तथा च संसर्गप्रतियोगिकाभावस्वीकारेऽपि नासत्प्रतियोगिकाभावसिद्धिः।।४।।

वस्तुतस्तु घटप्रतियोगिकत्वेनैवाभावस्यानुभवान्नायं संयोगप्रतियोगिको भवितुमर्हति। एवं च सति (१) कालविशेषसंसर्ग्यत्यन्ताभावो वा (२) उत्पादविनाशशीलः तुरीयः संसर्गाभावो वा (३) भूतलादिसंयुक्तस्य घटस्य विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावो वा अङ्गीकरणीयः। न च—अत्राद्ये ध्वंसादेरुच्छदः कपालेऽपि घटान्यकालसंसर्गिणैवात्यन्ताभावेन तद्व्यवहारोपपत्तेरिति वाच्यम्, 'दण्डी

सत्यानन्दप्रबोधिका

ऐसी प्रतीति घटसंयोगसम्बन्ध के अधीन है। अतः ''भूतले घटो नास्ति'' ऐसी प्रतीति घटसंयोगाभाव के अधीन है और वह घटसंयोग तात्त्विक ही है। (यदि तात्त्विक घटसंयोगाभाव को ही पूर्वोक्त ''घटो नास्ति'' इस बुद्धि का विषय माना जाय, तब घट संयोगाभाव को अत्यन्ताभाव—प्रागभाव—प्रध्वंसाभाव—भेद मानने पर पूर्वपक्षी ने जो दोष दिया था। उसका निवारण कैसे होगा? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भूतल में घट लाने से पूर्व घट संयोग का प्रागभाव वहां था और घट के अपसरण दशा में वहां पर घट संयोग का ध्वंस रहता है,क्योंकि घट के अन्यत्र ले जाने पर भी उस देश में घट संयोग नहीं रहता है। अतः वहां पर प्रागभावादि को मानने पर किसी प्रकार का दोष नहीं होता है। इस प्रकार उक्त स्थल पर संसर्गप्रतियोगिक अभाव को स्वीकार करने पर भी असत् प्रतियोगिक अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है।।४।।

वस्तुतः ''घटो नास्ति'' इस स्थल पर घटप्रतियोगिकत्वेन ही अभाव का अनुभव होने से यह अभाव संयोगप्रतियोगिक नहीं हो सकता है। ''घटो नास्ति'' इस बुद्धि का विषय घटप्रतियोगिक अभाव जब अनुभव सिद्ध है, तब उक्त स्थल पर (१) समय विशेष में रहने वाला नित्य अत्यन्ताभाव मान लेना चाहिए। [कहने का भाव यह है कि वायु में रूप तीनों कालों में नहीं रहता है। वहां वायु में रूप का अत्यन्ताभाव जो रहता है, वह भी नित्य है किन्तु ''घटो नास्ति'' इस स्थल पर ऐसा नित्य अत्यन्ताभाव हम नहीं मान रहे हैं अपितु सामयिक नित्य अत्यन्ताभाव मान रहे हैं। अर्थात् भूतल पर घट के आने से घट का अत्यन्ताभाव घटशून्यदेश पर चला जाता है न कि उसका नाश होता है। घट के चले जाने पर पुनः घटशून्यपदेश पर अत्यन्ताभाव आ जाता है कि न वहां पर वह उत्पन्न होता है। इस प्रकार से ''घटो नास्ति'' इस स्थल पर सामयिक नित्य अत्यन्ताभाव माना जा सकता है।] अथवा (२) उत्पत्तिविनाशस्वभाववाला चतुर्थ (प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव— इन तीनों से भिन्न) संसर्गाभाव=सामयिकात्यन्ताभाव। [अर्थात् घट के चले जाने पर घट का अत्यन्ताभाव उस काल में उत्पन्न हो जाता है और घट के आने पर घट का अत्यन्ताभाव नष्ट हो जाता है। ऐसा सामयिक अनित्य अत्यन्ताभाव ''घटोनास्ति'' इस स्थल पर माना जा सकता है।] अथवा (३) उक्त स्थल पर भूतलादि संयोगयुक्त घट का संयोगरूपविशेषण के अभाव से प्रयुक्त विशिष्टाभाव को माना जा सकता है। [अर्थात् उक्त स्थल पर विशेषण=संयोग तो नहीं है किन्तु विशेष्य=घट है, क्योंकि घट अन्यत्र विद्यमान है। इसप्रकार विशेषण नहीं है किन्तु विशेष्य है। अतः उक्त स्थल पर विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव माना जा सकता है।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त तीनों पक्षों में से प्रथम पक्ष (समयविशेष में रहने वाला नित्य अत्यन्ताभाव) को स्वीकार कर लेने पर ध्वंस और प्रागभाव के मानने की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी, क्योंकि कपाल में घटभिन्नकालसंसर्गी अत्यन्ताभाव से ही अर्थात् घट की उत्पत्ति से पहले रहने वाले सामयिक नित्य अत्यन्ताभाव से ही ''घटोभविष्यति'' ऐसे व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी

गौरश्चलति'इति विलक्षणव्यवहारत्रये द्रव्यगुणकर्माणि विलक्षणानि हेतुर्यथा, तथात्रापि नास्ति नष्टो भविष्यतीति विलक्षणव्यवहारत्रयस्यैकेनात्यन्ताभावेनोपपादयितुमशक्यत्वाद्विलक्षणाभावत्रयसिद्धिः॥५॥

समयविशेषसंसर्गश्च तत्समयावच्छिन्नं स्वरूपमेव संयोगध्वंसादिर्वा। न च संयोगादिध्वंसादि— नैवावश्यकेन तर्हि प्रतीत्युपपत्तिरिति वाच्यम्, घटप्रतियोगिकत्वेनानुभवानुपपत्तेरुक्तत्वात्। न च कपालेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

और कपाल में घट के पश्चात् रहने वाले सामयिक नित्य अत्यन्ताभाव से ही ''घटो ध्वस्तः'' ऐसे व्यवहार की भी उपपत्ति हो जायेगी।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे ''दण्डी'', ''गौरः'', ''चलति'' इस प्रकार परस्पर विलक्षण व्यवहारों का निर्वाह परस्पर विलक्षण द्रव्य (दण्डी), गुण (गौरत्व) और कर्म (चलन क्रिया) रूप तीनों हेतुओं से होता है, न कि किसी एक हेतु के द्वारा होता है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में भी ''नास्ति'', ''ध्वस्तः'' और ''भविष्यति'' इन परस्पर विलक्षण तीनों व्यवहारों का उपपादन एक ही अत्यन्ताभाव से नहीं हो सकता है, अपितु ''नास्ति'' इस व्यवहार का उपपादन अत्यन्ताभाव से होगा और ''ध्वस्तः'' इस व्यवहार का उपपादन प्रध्वंसाभाव से होगा तथा ''भविष्यति'' इस व्यवहार का उपपादन प्रागभाव से होगा। इस प्रकार से अत्यन्ताभाव, प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव की सिद्धि हो जायेगी॥५॥

खण्ड संख्या ५ में जो तीन प्रकार का अत्यन्ताभाव कहा गया था, उसमें से प्रथम काल विशेषसंसर्गी जो अत्यन्ताभाव कहा गया था, उसमें कालविशेष का अत्यन्ताभाव के साथ जो संसर्ग है, उसका क्या स्वरूप है? इसका समाधान दो प्रकार से सिद्धान्ती दे रहे हैं। प्रथम समाधान यह है कि जिस समय में काल विशेष और अत्यन्ताभाव का संसर्ग है। उस समय से अवच्छिन्न अधिकरण स्वरूप ही उक्त सम्बन्ध है। अर्थात् केवल अधिकरण नहीं किन्तु तत्कालावच्छिन्न अधिकरण स्वरूप ही उक्त सम्बन्ध है। द्वितीय समाधान यह है कि घट को भूतल देश में लाने से पहले जो ''भूतले घटोनास्ति'' ऐसी बुद्धि होती है। उस बुद्धि का विषय जो समयविशेषसंसर्गी अत्यन्ताभाव है। उस अत्यन्ताभाव का समयविशेष के साथ सम्बन्ध=संयोग का प्रागभावस्वरूप है और घट अपसरण दशा में होने वाली ''भूतले घटोनास्ति'' इस बुद्धि का विषयीभूत समयविशेष संसर्गी अत्यन्ताभाव का समयविशेष के साथ सम्बन्ध=संयोग ध्वंस स्वरूप है।

शङ्का— [पूर्वपक्षी का कथन है कि जब भूतल में घट आया ही नहीं था तब उससे जो ''भूतले घटो नास्ति'' ऐसी बुद्धि हो रही थी। उस बुद्धि का विषय भूतल अनुयोगिक घटसंयोगप्रतियोगिकप्रागभाव है। अर्थात् भूतल में घटसंयोग का प्रागभाव है। किन्तु भूतल में जब घट को लाया गया और पश्चात् भूतल से घट को हटा दिया गया, तब उस समय उक्त घट संयोग का ध्वंस हो गया और वह घट संयोग का ध्वंस तत्कालीन ''भूतले घटो नास्ति'' इस प्रतीति का विषय हो जायेगा। इस प्रकार] आवश्यक जो संयोगादि का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव है। उस संयोगादि का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव से ही ''भूतले घटो नास्ति'' इत्याकार अभावविषयकप्रतीति की उपपत्ति होती जा रही है तब कालविशेषसंसर्गी अत्यन्ताभाव को मानने की आवश्यकता ही नहीं है।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''भूतले घटोनास्ति'' इस स्थल पर घटप्रतियोगिकत्वेन अत्यन्ताभाव का अनुभव होता है। इस प्रतिपादन खण्ड संख्या ५ के प्रारम्भ में ''वस्तुतस्तु घट प्रतियोगिकत्वेनैवाभावस्यानुभवात्..... '' किया गया है। अतः उक्त अनुभव के अनुपपत्ति के कारण ''भूतले घटो नास्ति'' इस प्रतीति का विषय संयोगप्रतियोगिक प्रागभाव अथवा संयोगप्रतियोगिकध्वंस

घटध्वंसादिः सम्बन्धस्थानीयोऽस्तु, एक एवात्यन्ताभावो व्यवहारयत्विति वाच्यम्, विलक्षण–व्यवहारत्रयानुपपत्त्या दत्तोत्तरत्वात्।।६।।

अत एव द्वितीयतृतीयपक्षावपि क्षोदसहौ, घटप्रतियोगिकत्वानुभवस्यान्यथा उपपादयितुमशक्यत्वात्। एतेन दण्डसत्त्वेऽपि पुरुषासत्त्वाद्दण्डव्यभावदर्शनादस्तु तत्र विशिष्टाभावः, न चात्र संयोगसत्त्वे संयोग्यभावो दृष्टः, तथा च न विशिष्टस्याभावः, किन्तु विशेषणस्यैवेति निरस्तम्, संयोगिप्रतियोगिकत्वेनानुभवात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं माना जा सकता है।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि कपाल में ''घटो नष्टः'' और ''घटोभविष्यति'' इस प्रकार के व्यवहार का निर्वाहक एक ही काल विशेषसंसर्गी अत्यन्ताभाव को मान लिया जाय और घट ध्वंस तथा घटप्रागभाव को उसका सम्बन्ध मान लिया जाय। [कहने का भाव यह है कि घट के ध्वंसकाल में कपाल में घट ध्वंस रहता है। उस समय जो ''घटो ध्वस्तः'' ऐसी प्रतीति होती है। उसका भी विषय घट ध्वंस को न मानकर कालविशेष संसर्गी अत्यन्ताभाव को ही मान लिया जाय और खण्ड संख्या ६ के प्रारम्भ में कहे गये ''समयविशेषसंसर्गश्च........संयोगध्वंसादिर्वा'' के अनुसार काल विशेष के साथ अत्यन्ताभाव का सम्बन्ध=घटध्वंस को मान लेना चाहिए। अर्थात् जैसे आपने ''भूतले घटो नास्ति'' इस प्रतीति का विषय कालविशेष संसर्गी अत्यन्ताभाव माना और कालविशेष के साथ अत्यन्ताभाव के साथ सम्बन्ध=संयोगध्वंस माना। वहां संयोग का ध्वंस था। यहां घट का ध्वंस है। ठीक इसी प्रकार कपाल में घट उत्पत्ति के पूर्व में जो ''घटो भविष्यति'' ऐसी प्रतीति होती है। उसका भी विषय घटप्रागभाव को न मानकर कालविशेष संसर्गी अत्यन्ताभाव को ही मान लिया जाय और काल विशेष के साथ अत्यन्ताभाव का सम्बन्ध= घटप्रागभाव को मान लिया जाय। इससे यह लाभ होगा कि ''घटोनास्ति'' ''घटोध्वस्तः'', ''घटो भविष्यति'' इन सभी व्यवहारों का निर्वाह एक ही काल विशेषसंसर्गी अत्यन्ताभाव से हो जायेगा और इससे लाघव होगा।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विलक्षण जो व्यवहारत्रय अर्थात् ''घटोनास्ति'', ''घटो ध्वस्तः'', ''घटो भविष्यति'' इन तीन परस्पर विलक्षण प्रतीतियों का निर्वाहक किसी एक ही अभाव को नहीं माना जा सकता है। अतः प्रागभाव–प्रध्वंस और अत्यन्ताभाव–इन तीनों अभावों को मानना आवश्यक है। इसे खण्ड संख्या ५ के समाप्ति के अवसर पर कहा जा चुका है।।६।।

अत एव द्वितीय (उत्पाद विनाशशाली चतुर्थ संसर्गाभाव) और तृतीय (भूतलादि संयोग युक्त घट का संयोगरूप विशेषण रूप विशेषण के अभाव से प्रयुक्त विशिष्टाभाव) पक्ष का भी समर्थन किया जा सकता है। ''अत एव'' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस भूतल में घट अपसरण दशा में ''भूतले घटो नास्ति'' ऐसी प्रतीति हो रही है, वहां घटप्रतियोगिक द्वितीय या तृतीय पक्ष वाले अभाव का अनुभव होता है। ऐसी प्रतीति का उपपादन घट प्रागभाव या घट ध्वंस या घट के नित्य अत्यन्ताभाव से नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ''भूतले घटो नास्ति'' इस प्रतीति स्थल पर अन्यत्र घट विद्यमान होता है। अर्थात् जब घट अन्यत्र विद्यमान है, तब उसका प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव या नित्य अत्यन्ताभाव नहीं माना जा सकता है। तृतीय पक्ष का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि दण्डरूप विशेषण के रहने पर भी पुरुषरूप विशेष्य के न रहने के कारण विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव (दण्डविशिष्टपुरुष का अभाव) देखने से ऐसे स्थल पर विशिष्टाभाव माना जाता है किन्तु प्रकृत में घट संयोग (विशेषण) के रहने पर संयोगीघट

संविदेव हि भगवती वस्तूपगमे शरणमिति। तस्मान्निषधप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्त्यापि अनिर्वाच्यत्वसिद्धिः।।७।।

इत्यद्वैतसिद्धौ निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्त्याऽनिर्वचनीयत्वसमर्थनम्।

****

(घ) श्रुत्यर्थापत्तिसमर्थनम्—

'नासदासीन्नो सदासीत्' इत्यादिश्रुतयोऽप्यनिर्वाच्यत्वे प्रमाणम्।।१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

(विशेष्य) का अभाव देखा नहीं जाता है। इसलिए यहां पर विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव नहीं माना जा सकता है, अपितु केवल विशेषण (संयोग) का ही अभाव मानना चाहिए। पूर्वपक्षी के इस कथन का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि संयोगी जो घट, तत्प्रतियोगिकत्वेन ही ''घटो नास्ति'' इस प्रकार के अभाव की अनुभूति होती है। यदि ''संयोगी नास्ति'' ऐसा अनुभव होता, तब संयोग को अभाव का विषय माना जा सकता था, किन्तु ऐसा नहीं है। प्रतीति भगवती ही वस्तु के अङ्गीकार में शरण है। दूसरी बात यह है कि जिस भूतल से घट का अपसरण हो गया है, वहां पर संयोगरूप विशेषण का अभाव होता है और घट अन्यत्र विद्यमान रहता है। ऐसे स्थल पर विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव माना जाता है न कि विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव। अतः विशेष्याभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव को दृष्टान्त में रखकर दोष नहीं दिया जा सकता है। फलतः निषेधप्रतियोगित्वान्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से भी शुक्तिरजतादिगत अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि हो जाती है।।७।।

इति सत्यानन्द प्रबोधिकायां निषेधप्रतियोगित्वानुपपत्याऽनिर्वचनीयत्वसमर्थनम्।

****

(घ) श्रुत्यर्थापत्तिसमर्थनम् —

शुक्तिरजतादि और आकाशादि प्रपञ्च में समानरूप से रहने वाले अनिर्वाच्यत्व में ''नासदासीन्नो सदासीत्'' (ऋग्वेद मण्डल १० अध्याय ११ सूक्त १२९) इत्यादि श्रुतियां भी प्रमाण हैं। [प्रस्तुत मन्त्र ऋग्वेद से लिया गया है। सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार से है—

नासदसीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरोधत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गंभीरम्।।१।।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धन्यन्नपरः किञ्चनास।।२।।

इस मन्त्र का अन्वय और अर्थ इस प्रकार से है—तदानीम्= प्रलय में असत्= निरुपाख्य नासीत्= न था (अर्थात् असत् के अकारणत्व होने से वह न था।) सत् नो आसीत्= सत्त्वेन निरुक्ति के योग्य भी न था। (अर्थात् सद्रूप में स्वविलक्षण जगत् का परिणामित्व नहीं बन सकता है। अतः सत् भी नहीं था। फलतः अनिर्वचनीय था। रजः = लोका रजांस्युच्यन्ते (नि.अ.४खण्ड १९) इस वचन से रज नाम लोकों का है और जात्या एकवचन प्रयोग है। यद्यपि निरुक्ति में रज शब्द के व्योमादि रूप अनेक अर्थों का उल्लेख किया गया है किन्तु यहां पर व्योभादि को पृथक् से उल्लेख किया गया है।

न च—अत्र सदसच्छब्दौ पञ्चभूतपरौ, 'न सत्तन्नासदुच्यते' इत्यादौ भूते प्रयोगात्, 'यदन्यद्वायोरन्तरिक्षाच्चैतत्सद्वायुरन्तरिक्षं चेत्यसत्'इति श्रुतेश्चेति—वाच्यम्, प्रसिद्धपरत्वे सम्भवति अप्रसिद्धपरताया अयुक्तत्वात्, न हि भूते सदसच्छब्दौ प्रसिद्धौ, किन्तु पारमार्थिकापारमार्थिकयोरेव। न च 'नासदासीत्'इत्यत्राप्रसिद्धप्रतिषेधापत्तिः, 'नो सदासीत्'इत्यनेन सद्भिन्नत्वे उक्ते असत्त्वस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः यहां पर रज शब्द से व्योभादि से भिन्न लोकों को ही लेना चाहिए। फलतः व्योमादि से भिन्न लोकों का भी अभाव प्रलय में था। इस प्रकार चतुर्दश भुवनों से गर्भित ब्रह्माण्ड का निषेध कर पुराण प्रसिद्ध भूतों का निषेध करते हुए कह रहे हैं कि किमावरीवः = क्या प्रलय में आवरणीय पदार्थ को भूत आवृत्त करेंगे। अर्थात् आवरणीय पदार्थ के अभाव के कारण प्रलय में आवरक भूत नहीं थे। कुह= किस देश में स्थित होकर भूत आवृत्त करेगा। अर्थात् प्रलय में देश भी नहीं था। कस्य = किस शर्मन्=सुख के लिए अर्थात् भोग के लिए भूत आवृत्त करेगा। अर्थात् मनोरूप उपाधि के लय के कारण प्रलय में भोक्ता भी नहीं थे। ''आपो वा इदमग्रे सलीलमासीत्'' (नृ.पू.ता. १—१) इस श्रुति से प्रलय में जल के सत्त्व भ्रम को निवृत्त करते हुए कह रहे हैं कि अम्भ किमासीत् गहनं गम्भीरम्= प्रलय में गहन गम्भीर जल भी नहीं था। न मृत्युरासीत्= प्रत्यय में मृत्यु भी नहीं थी। अमृतं न=प्रलय में जीवन भी नहीं था। रात्र्याः अह्नः प्रकेतः न = रात का दिन का विज्ञान न था। अर्थात् सूर्य और चन्द्र के अभाव के कारण रात—दिन का ज्ञान न था। तत्= सर्ववेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्म आनीत्= जीवितवत् था। प्राण का सम्बन्ध न होने से जीवन कैसे होगा? इसके समाधानार्थ कहते हैं कि अवातम्=वातशून्य। कहने का भाव यह है कि आनीत् का अर्थ यहां पर आसीत् है। स्वधया= माया के सहित बात रहित एकम्=अद्वितीय ब्रह्म था। (यहां पर स्वधा के साहित्य का कथन व्यावहारिक दृष्टि से है न कि पारमार्थिक दृष्टि से। स्वस्मिन् धार्यते इति स्वधा—इस व्युत्पत्तिक के अनुसार स्वधा शब्द माया का वाचक है। इस पर शङ्का होती है कि यदि स्वधा (माया) सहित ब्रह्म प्रलयकाल में था तब ''न रजः'' इत्यादि कथन असङ्गत है, क्योंकि मायारूप स्वधा से अतिरिक्त रज आदिक नहीं है। इसके समाधानार्थ कह रहे हैं कि तस्मात्= माया सहित ब्रह्म से, अन्यः परः= सृष्टिकाल में जायमान कुछ भी नास= प्रलयकाल में नहीं था]।।१ ।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रकृत श्रुति का घटक सत् और असत् पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों के बोधक है, क्योंकि ''न सत् तन्नासदुच्यते'' (गी.१३—१२) इत्यादि स्मृति वाक्यों के घटक सत् और असत् शब्द का प्रयोग महाभूतों के लिए किया गया है। ''यदन्यद् वायोरन्तरिक्षाच्चैतत् सद् वायुरन्तरिक्षं चेत्यसत्'' (बृ.उ.२—३—२—) इस श्रुति में कहा गया कि वायु और अन्तरिक्ष से जो पृथक् है। वह सत् है। अर्थात् पृथिव्यादि सत् है और वायु तथा अन्तरिक्ष ये दोनों असत् हैं। इसलिए प्रकृत श्रुति का घटक सत् और असत् महाभूतों के ही बोधक मानने चाहिए। ऐसा होने पर प्रकृत श्रुति के द्वारा अविद्यादि में अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जब किसी शब्द में प्रसिद्धार्थ बोधकत्व सम्भव है, तब उस शब्द में अप्रसिद्धार्थ बोधकत्व मानना अनुचित होता है। महाभूतों में सत् और असत् शब्द प्रसिद्ध नहीं है किन्तु पारमार्थिक अर्थ में सत् शब्द और अपारमार्थिक (निरुपाख्य) अर्थ में असत् शब्द की प्रसिद्धि है। [कहने का भाव यह है कि पञ्चभूतरूप अर्थ में सत् और असत् शब्द की केवल शास्त्रीय प्रसिद्धि है और सत् तथा असत् शब्द का सत्य और अलीक अर्थ में शास्त्रीय प्रसिद्धि भी है और लौकिक प्रसिद्धि भी है। अतः सत् और

प्रसक्तेः। न च तदानीमित्यस्य वैयर्थ्यम्, 'नासीद्रजो नो व्योम'इति रजोनिषेधादावेव तदन्वयात्। न हि रजःप्रभृतीनां सर्वदा अनस्तित्वम्।।२।।

न च 'नो सदासीत् 'इत्यनेनैव रजःप्रभृतिनिषेधे सिद्धे पृथङ्निषेधानुपपत्तिः, 'नो सदासीत्'इत्यत्र सच्छब्दस्य परमार्थसत्परत्वेन व्यावहारिकसतो रजःप्रभृतेर्निषेधस्य ततः प्राप्त्यभावात्। 'आनीदवातं स्वधया

सत्यानन्दप्रबोधिका

असत् शब्द की सत्य और अलीक अर्थ में जो प्रसिद्धि है, वह बलवती है। दूसरी बात यह भी है कि माध्वीय भाष्य में भी उक्त श्रुतिस्थ सत् और असत् शब्द का सत्य और अलीक अर्थ ही किया गया है। अतः उक्त श्रुति के द्वारा अविद्यादि में अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि करना उचित ही है।]

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार असत् शब्द यदि अलीक का वाचक है तब ''असत् न था'' इस वाक्य के द्वारा जिस असत् का निषेध अविद्या और तत्प्रयुक्तप्रपञ्च में किया जा रहा है। उस असत् की कहीं प्रसिद्धि नहीं है। अतः अप्रसक्त प्रतिषेध की आपत्ति होगी।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है,क्योंकि जब श्रुति ने कहा कि '' नो सदासीत्'' अर्थात् सत् नहीं था। ऐसा कहने पर क्या असत् था? ऐसी प्राप्ति होती है। अतः असत् की प्रसक्ति है। उसका निषेध ''असत् न था'' इस वाक्य के द्वारा किया गया है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती सम्मत अविद्यादि में सत्त्व और असत्त्व का निषेध सर्वदा माना जाता है। अतः तदानीम् (प्रलयकाल में) अविद्यादि में असत्त्व नहीं था। ऐसा कहना अनुचित है। अर्थात् ''तदानीम्'' पद व्यर्थ है।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''तदानीम्'' का अन्वय ''नासदासीत्'' के साथ नहीं है, किन्तु ''नासाद्रजो नो व्योम'' इस प्रकार से रजोनिषेधादि (चतुर्दश लोकों के निषेधादि) के साथ है। चतुर्दश लोकों का सर्वदा अभाव नहीं रहता है अपितु प्रलयकाल में ही रहता है। अतः ''तदानीम्'' पद सार्थक है।।२।।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नो सदासीत्'' इस प्रकार सत् के निषेध से ही रज (चतुर्दश लोकों) का भी निषेध उपपन्न हो जाता है, तब ''नासीद्रजः'' इस प्रकार से उनका पृथक् निषेध करना उचित नहीं है।

समाधान–उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''नो सदासीत्'' के घटक सत् शब्द केवल पारमार्थिक सत् का बोधक है, व्यावहारिक सत् का नहीं। अतः सत् शब्द के द्वारा व्यावहारिकसत्त्व वाले रज आदि का निषेध ''नो सदासीत्'' इस वाक्य से प्राप्त नहीं होता है। अतः उनका निषेध करने के लिए ''नासीद् रजः'' इस वाक्य का प्रयोग किया गया है। अतः सत् से भिन्न रज आदि का निषेध करना उचित ही है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नासदासीन्नो सदासीत्'' इस श्रुति वाक्य का जो वाक्यशेष है– ''आनीदवातं स्वधया तदेकम्''। इस वाक्य शेष में कहा गया कि वह एक (ब्रह्म तत्त्व) स्वधा (माया) के साथ अवात (प्राणों के बिना ही, आनीत् (जीवित था) इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रलयकाल में ब्रह्म था। इसी प्रकार ''तम आसीत्'' इस वाक्य शेष से तमोरूप माया की भी सिद्धि प्रलयकाल में होती है। इस प्रकार प्रलयकाल में माया और ब्रह्म जब दोनों है तब उपक्रम (नासदासीन्नो सदासीत्) में जो कहा गया कि प्रलय में जो कुछ था, वह सत् और असत् से विलक्षण था, तब प्रलयकाल में स्थित माया में जैसे सदसद्भिन्नत्व सिद्धान्ती मान रहे हैं, वैसे ही प्रलयकाल में विद्यमान

तदेकम्'इति वाक्यशेषाद् ब्रह्मणोऽपि अनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः 'तम आसीत्'इति वाक्याद् अविद्याया इवेति चेत्, श्रुत्यन्तराविरोधाय सदेकं ब्रह्म सदासीन्न सदसद्विलक्षणमित्यर्थपर्यवसानात्।।३।।

इत्यद्वैतसिद्धौ नासदासीदित्यादिश्रुत्यर्थापत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्म में भी सदसद्भिन्नत्वरूप अनिर्वाच्यत्व मानना चाहिए।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' (छा.उ. ६–२–१) ''सदेव पुरस्तात् सिद्धं ब्रह्म'' (नृ.उ.९–६) ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' (जा.द.उ.२–९) ''सत्यं ब्रह्म'' (बृ.उ.५–४–१) इत्यादि श्रुतियों से अविरोध के लिए ''नासदासान्नो सदासीत्.....'' इस नासदीय सूत्र में कथित ब्रह्म को सत् मानना ही उचित है न कि सदसद्विलक्षण। इस प्रकार ''शुक्तिरजतादेः अनिर्वचनीयत्वं बिना नासदासीदित्यादिश्रुतिः अनुपपन्ना स्यात्'' इस अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा भी अविद्या और तत्प्रयुक्त शुक्तिरजतादि में अनिर्वाच्यत्व की उपपत्ति हो जाती है।।३।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां नासदासीदित्यादिश्रुत्यर्थापत्तिः।

१९— ख्यातिविचारः

(क) असत्ख्यातिभङ्गः —

तस्मादनिर्वाच्यख्यातिरेव, प्रमाणसम्भवात्, न त्वसदन्यथाख्यातिः, प्रमाणविरहात्। न चासद्भाने असदेव रजतमभादिति प्रत्यक्षं मानम्, अनन्तरोक्तबाधकेन सद्वैलक्षण्यविषयकत्वात्। न चेदं प्रत्यक्षमपि, त्वयापि हि असदात्मनः सतः प्रत्यक्षत्वमङ्गीक्रियते। न चात्र पूर्वकालीनभानविषये रजते असत्त्वमिति ज्ञानमसदात्मना सद्विषयीकरोति।।१ ।।

न च 'विमतमसत्, सत्त्वानधिकरणत्वात्, शशशृङ्गवत्, विमता अप्रमा असद्विषयिणी,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

(क) असत्ख्याति निरास —

पूर्वोक्त लक्षण और प्रमाणों के द्वारा भ्रमस्थल पर अनिर्वचनीय ख्याति की ही सिद्धि होती है। असत्ख्याति और अन्यथाख्याति को माना नहीं जा सकता है, क्योंकि प्रमाण का अभाव है।

शङ्का— असत्ख्याति के समर्थन के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि असत् के भान में ''असत् ही रजत प्रतीत हुआ'' यह प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

समाधान— पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि असत् के भान में प्रत्यक्ष को प्रमाण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसमें बाधक ''ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिसमर्थनम्'' के खण्ड संख्या १७ में कहा जा चुका है कि असत् के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं हो सकता है। अतः असत् का भान नहीं हो सकता है। अतः उक्त बाधक से ''असदेव रजतमभात्'' यह प्रत्यक्ष सद्वैलक्षण्यविषयक माना जाता है न कि असद्विषयक। दूसरी बात यह भी है कि पूर्वपक्षी (माध्व) ''असदेव रजतमभात्'' इस स्थल पर शुक्ति के सद्रूप इदमंश का भी असत् रूप से भान मानता है। इसलिए पूर्वपक्षी के मत में कोई सत् यदि असत् रूप से भासता तब तो कहा जाता है कि वस्तुतः जो सत् रजत था। वह असत् रूप से प्रत्यक्ष हो रहा था किन्तु ऐसा नहीं है। अतः असत्ख्याति के समर्थन के लिए ''असदेव रजतमभात्'' इसको पूर्वपक्षी प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकता है और अत्र =''असदेव रजतमभात्'' यहां पर, पूर्वकालीन भान= इदं रजतम्—यह भ्रमज्ञान, उसका विषयीभूत जो रजत, उसमें असत्त्व था—इस प्रकार से पूर्वकालीन स्मृति विषयीभूत रजत में असत्त्व को '' असदेव रजतमभात्'' यह ज्ञान विषय करता है— ऐसा भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त ज्ञान असद् रूपेण सत् को विषय नहीं करता है, क्योंकि पूर्वपक्षी शुक्ति के सद्रूप इदमंश का भी असत् रूप से भान मानता है। अतः स्मृति का विषय रजत जब सत् (विद्यमान) नहीं है अर्थात् अलीक है, तब उसमें असत्त्व धर्म का भान नहीं माना जा सकता है।।१ ।।

शङ्का— पूर्वपक्षी के द्वारा शुक्तिरजतादि के असद्रूपता की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण दिया जा रहा है। (१) विवादास्पद शुक्तिरजतादि असत् हैं, क्योंकि उसमें सत्त्व धर्म का अनधिकरणत्व है, जैसे शशशृङ्ग। [इस अनुमान में पक्ष= शुक्तिरजतादि हैं, साध्य=असत्त्व है, हेतु= सत्त्वानधिकरणत्व है, और दृष्टान्त शशशृङ्ग है। पूर्वपक्षी हेतु घटक सत्त्व का अर्थ पारमार्थिकसत्त्व करता है। अतः पक्ष में हेतु चला जायेगा और दृष्टान्त में हेतु और साध्य है। अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श के रहने से पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए— यह पूर्वपक्षी का भाव है।] (२) विवादास्पद अप्रमा (इदं रजतम्—यह प्रतीति) असद्विषयिणी है, क्योंकि उसमें सत्त्व के अनधिकरणीभूत पदार्थ का विषयकत्व है। अथवा सन्मात्र को विषय न करने वाली सविषयक प्रतीति के होने से। जैसे ''नृशृङ्गमसत्'' इस वाक्य से जन्य परोक्षप्रतीति। इस अनुमान के प्रथम हेतु

सत्त्वानधिकरणविषयकत्वात्, सन्मात्राविषयकत्वे सति सविषयकत्वात्, नृशृङ्गमसदित्यादिवाक्य– जन्यपरोक्षवदिति– अनुमानं तत्र मानम्। पूर्वोक्तयुक्त्या तत्र बाधात्, प्रथमानुमाने शब्दैकसमधिगम्यत्वस्य द्वितीयतृतीययोः परोक्षत्वस्योपाधित्वाच्च।।२।।

किञ्चासत्ख्यात्यङ्गीकारेण बौद्धमतप्रवेशापत्तिः। न च सदुपरागो विशेषः, तथाप्यसत्ख्यात्यापत्तेः तदवस्थत्वात्। न च तार्किकैरपि असतः संसर्गस्य भानाङ्गीकारेण तेषामप्येवमापाद्येतेति–वाच्यम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटक सत्त्व का अर्थ पारमार्थिक सत्त्व और द्वितीय हेतु घटक सत् का अर्थ पारमार्थिक सत् करके हेतु को पक्ष और दृष्टान्त में समन्वय करना चाहिए।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त दोनों अनुमानों को शुक्तिरजतादिगत असत्त्व की सिद्धि में प्रमाण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शुक्तिरजतादि को अलीक मानने पर उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि अलीक के साथ इन्द्रियसन्निकर्षादि सम्भव नहीं है–यह ''ख्यातिबाधान्यथानुपपत्ति'' के खण्ड संख्या १७ में कहा जा चुका है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित उक्त तीनों हेतुओं में बाधदोष है और प्रथम हेतु में ''शब्दमात्रसमधिगम्यत्व'' उपाधि भी है। [उपाधि का समन्वय इस प्रकार से होगा– दृष्टान्त में शब्दमात्र समधिगम्यत्व और असत्त्व के होने के कारण उपाधि में साध्य की व्यापकता है और पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजतादि शब्दैक समधिगम्य न होकर प्रत्यक्षादि से भी वेद्य है। अतः उपाधि में साधन की अव्यापकता भी है।] इसी प्रकार द्वितीय और तृतीय हेतु में ''परोक्षत्व'' उपाधि है। [उपाधि का समन्वय इसप्रकार से होगा–दृष्टान्त में साध्य है और उपाधि भी है। अतः उपाधि में साध्य की व्यापकता है और पक्ष में हेतु है किन्तु उपाधि नहीं है क्योंकि शुक्तिरजतादि प्रत्यक्षभ्रम में परोक्षत्व नहीं रहता है। अतः उपाधि में साधक की अव्यापकता भी है।]।।२।।

दूसरी बात यह भी है कि पूर्वपक्षी अपने को अन्यथाख्यातिवादी मानता है किन्तु भ्रमस्थल पर शुक्तिरजतादि असत् का भान मानने पर पूर्वपक्षी (माध्व) को बौद्धमत में प्रवेश की आपत्ति होगी।

शङ्का– इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि माध्वमत में रजतादि सत् का असदात्मना भान माना जाता है। अर्थात् असत् (भ्रमस्थलीय असत् रजत) में हट्टस्थ सत् रजत का सम्बन्ध भासता है। अर्थात् कोई सत् होता है और उस सत् का उपराग (सम्बन्ध) असत् में भासता है जबकि असत्ख्याति में सत् का उपराग नहीं भासता है किन्तु असत् ही भासता है। इस प्रकार माध्वमत और बौद्धमत में भिन्नता होने के कारण पूर्वपक्षी को बौद्धमत में प्रवेश की आपत्ति नहीं दी जा सकती है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त प्रकार से मानने पर भी पूर्वपक्षी को बौद्धमत में प्रवेश की आपत्ति पूर्ववत् रहेंगी ही, क्योंकि भ्रमज्ञान की विषयवस्तु को माध्व और बौद्ध दोनों ही असत् मानते हैं।

शङ्का– [पूर्वपक्षी का कथन है कि भ्रमस्थल पर भासमान सभी पदार्थ को असत् मानने पर ही असत्ख्याति वादी बौद्धमत में प्रवेश की आपत्ति दी जाती है, न कि भ्रमस्थल पर भासमान किसी एक पदार्थ को असत् मानने पर बौद्धमत में प्रवेश की आपत्ति दी जा सकती है, अन्यथा] तार्किकगण भी शुक्तिरजत का अभेदरूप असत्संसर्ग का भान भ्रमस्थल पर मानते हैं। अतः तार्किकों को भी बौद्धमत में प्रवेश की आपत्ति होगी।

समाधान– [पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भ्रमस्थल पर भासमान सभी पदार्थों को असत् माना जाय अथवा किसी एक पदार्थ को असत् माना जाय। ऐसे स्थल पर

तथाङ्गीकारे तेषामपि तथैव। वस्तुतस्तु तेषामपि सत्संसर्गभान एव निर्भरता। शुक्तीरूप्यं तत्तादात्म्यं चेत्यतोऽन्यस्य रजतभ्रमे अविषयत्वात्, तेषां च सत्यत्वात्, न च तर्हि भ्रमत्वानुपपत्तिः, व्यधिकरणप्रकारकत्वेन तत्त्वात्।।३।।

न च रजतप्रतियोगिकसंसर्गस्य शुक्त्यनिष्ठत्वादसत्संसर्गभानं विना व्यधिकरणप्रकारकत्वमेव न स्यादिति वाच्यम्, तत्किमायुष्मन्नसत्संसर्गः शुक्तिनिष्ठः, येन तद्विषयत्वं व्यधिकरणप्रकारकत्वाय

सत्यानन्दप्रबोधिका

असत्ख्याति की आपत्ति आयेगी ही, क्योंकि असत् का भान माना ही जा रहा है। अतः] असत् संसर्ग का भान अङ्गीकार करने पर तार्किकों को भी माध्वमत के जैसे ही बौद्धमत में प्रवेश की आपत्ति होगी। वस्तुतः भ्रमस्थल पर तार्किकगण भी सत्संसर्ग का ही भान मानते हैं, क्योंकि शुक्तिरजतभ्रमस्थल पर शुक्ति, हट्टस्थ सत्य रजत और हट्टस्थ सत्यरजत का सम्बन्ध इन तीनों पदार्थों से अन्य कोई पदार्थ प्रतीत नहीं होता है और ये तीनों पदार्थ सत्य हैं, क्योंकि शुक्ति सत्य है और हट्टस्थ रजत सत्य है और सम्बन्ध भी सत्य है, क्योंकि प्रमास्थल पर रजत का जो सम्बन्ध (अभेदसम्बन्ध) रजत में भासता है, वही सत्यसम्बन्ध भ्रमस्थल पर शुक्ति में भासता है, जैसे हट्टस्थ सत्य रजत भ्रमस्थल पर भासता है।

शङ्का—शुक्ति और हट्टस्थ रजत तथा इन दोनों के सम्बन्ध को सत्य मान लेने पर ''इदं रजतम्'' इस ज्ञान में तार्किक मतानुसार भ्रमत्व की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि तार्किक मत में व्याधिकरण प्रकारकत्वेन भ्रमत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् शुक्ति में रजतत्व धर्म के न रहने के कारण रजतत्व अभाव वाली शुक्ति में रजतत्व प्रकारकज्ञान होने से ''इदं रजतम्'' इस ज्ञान में भ्रमत्व की उपपत्ति हो जायेगी।।३।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शुक्ति में रजतप्रतियोगिकसंसर्ग न होने से ''इदं रजतम्'' इस भ्रमस्थल पर असत् संसर्ग के भान के विना व्यधिकरण प्रकारकत्व की ही उपपत्ति नहीं हो पायेगी [कहने का भाव यह है कि रजतप्रतियोगिकसंसर्ग शुक्ति में नहीं है। अतः उस संसर्ग को असत् मानना पड़ेगा और उस संसर्ग का भ्रम में भान माने विना उस भ्रमज्ञान को व्यधिकरणप्रकारक सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि भासमान वैशिष्ट्यप्रतियोगित्व ही प्रकारत्व है। अर्थात् जिसका वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) ज्ञान में भासता है। वह उस सम्बन्ध का प्रतियोगी होगा और वह प्रतियोगी ही प्रकार होगा। जैसे ''अयं घटः'' यहां पर घट में घटत्व का सम्बन्ध भासता है। इस सम्बन्ध का प्रतियोगी जो घटत्व है, वही घटत्व प्रकार है। इसके अनुसार पूर्वपक्षी कह रहा है कि व्यधिकरणप्रकारक ज्ञान सिद्ध करने के लिए पहले रजत को प्रकार सिद्ध करना पड़ेगा किन्तु प्रकार के लक्षण के अनुसार रजत= प्रकार तभी हो पायेगा, जब रजत का वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) ज्ञान में भासमान हो। इसलिए रजत का संसर्ग शुक्ति में भासता है। भ्रमज्ञान के द्वारा यह मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर ही वह भ्रमज्ञान व्यधिकरणप्रकारक होगा, किन्तु वह संसर्ग शुक्ति में न रहने के कारण असत् है। अतः नैयायिक को भ्रम में असत् संसर्ग का भान मानना आवश्यक है।]

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि क्या आयुष्मन् असत् का संसर्ग शुक्ति निष्ठ है— जिससे कि तद्विषयत्व व्यधिकरणप्रकारकत्व के लिए अङ्गीकार करते हों? [अर्थात् यहां प्रश्न होता है कि शुक्ति में रजत का अभेद (तादात्म्य) सम्बन्ध भासता है। वह रजत में रहने वाला रजत का अभेद सम्बन्ध शुक्ति में भासता है? अथवा शुक्ति में रहने वाला रजत का अभेद सम्बन्ध शुक्ति में भासता है? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर रजत का अभेद सम्बन्ध सत्य होगा,

अङ्गीकुरुषे? तस्माद् भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं न प्रकारत्वम्, किन्तु ज्ञानविषययोः स्वरूपसम्बन्धविशेषः। स च स्वरूपसम्बन्धः सन् वा संसर्गो भासतामसन्वा। उभयथापि समान एव। न च शशशृङ्गमसदित्यादिवाक्यैरसत्यपि परोक्षप्रतीतेस्त्वयाङ्गीकारेण तवाप्यसत्ख्यात्यापत्तिः, तत्र हि न

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्योंकि रजत में रजत का अभेद वास्तव में रहता ही है। अतः जैसे हट्टस्थ सत्य रजत शुक्ति देश में भासित होता है, वैसे ही सत्य सम्बन्ध भी शुक्ति देश में भासित हो जायेगा। इसलिए शुक्ति और हट्टस्थ रजत तथा हट्टस्थ रजत का सत्य अभेद सम्बन्ध—ये तीनों ही सत्य ही सिद्ध होंगे। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर वह रजत का अभेद सम्बन्ध जिसको कि शुक्तिनिष्ठ मान रहे हों, वह असत् तो हो जायेगा किन्तु उसके द्वारा वह भ्रमज्ञान व्यधिकरण प्रकारक सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि शुक्ति में रहने वाला रजत का अभेद सम्बन्ध यदि शुक्ति में ही भासता है, तब वह व्यधिकरण प्रकारक नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्य में रहने वाला सम्बन्ध यदि शुक्ति में भासित होता तब व्यधिकरण प्रकारक होता, परन्तु वह रजत का अभेद सम्बन्ध शुक्ति में ही बैठा है। अतः व्यधिकरण प्रकारक नहीं होगा। अतः पूर्वपक्षी का कथन भ्रान्ति युक्त है।] इसलिए भासमान जो वैशिष्ट्य (सम्बन्ध), तादृशवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वरूप प्रकारत्व भी नहीं माना जा सकता है किन्तु विशेष्यता—प्रकारतादि को ज्ञान और विषय का स्वरूप सम्बन्ध विशेष माना जाता है। प्रमा स्थल पर सत्संर्ग भासता है और भ्रमस्थल पर असत् संसर्ग भासता है किन्तु उभयत्र उस संसर्गरूप प्रकार के साथ ज्ञान का स्वरूप सम्बन्ध ही होता है और ऐसा मानने पर व्यधिकरण प्रकारता का भी निर्वाह हो जाता है। [कहने का भाव यह है कि पूर्वपक्षी ने ''भासमानवैशिष्ट्यप्रतियोगित्वं प्रकारत्वम्'' ऐसा मान कर जो कहा था, उससे पूर्वपक्षी को कोई लाभ भी नहीं मिला अपितु असङ्गत ही हो गया। इसलिए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विशेष्यता प्रकारतादि को ज्ञान और विषय का स्वरूप सम्बन्ध विशेष माना जाता है। अतः शुक्ति रजत का जो अभेद संसर्ग है, वह भी ''इदं रजतम्'' इस ज्ञान का विषय है। उस संसर्गरूप विषय के साथ जो स्वरूप सम्बन्ध है, उस स्वरूपसम्बन्ध को प्रकारता कहते हैं और शुक्तिरूप जो धर्मी वह भी उसी ज्ञान का विषय है। उस शुक्तिरूप विषय के साथ उक्त ज्ञान (इदं रजतम्—इस ज्ञान) का जो सम्बन्ध है, उसे विशेष्यता कहते हैं। इस प्रकार स्वीकार करने पर भी ''इदं रजतम्'' यह ज्ञान व्यधिकरण प्रकारक हो जायेगा, क्योंकि रजत प्रतियोगिक अभेदसंसर्ग (प्रकार) जो कि वस्तुतः रजत में रहता है, वह उक्त ज्ञान (इदं रजतम्—इस ज्ञान) में शुक्तिगत रहता हुआ भासता है। इसलिए रजत प्रतियोगिक अभेदसंसर्गाभाव वाले शुक्ति में रजतसंसर्गप्रकारता ''इदं रजतम्'' इस ज्ञान में है। अतः तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान होने से ''इदं रजतम्'' यह भ्रमज्ञान व्यधिकरण प्रकारक हो गया। प्रमास्थल पर अर्थात् जहां रजत को देखकर ''इदं रजतम्'' यह प्रमाज्ञान होता है, वहां पर रजतप्रतियोगिक अभेद संसर्ग जो कि वस्तुतः रजत में रहता है, वहां पर रजतप्रतियोगिक अभेद संसर्ग वाले रजत में रजतसंसर्गप्रकारता होने से ऐसा ज्ञान तदवति तत्प्रकारक होने से समानाधिकरण प्रकारक हो गया।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्द करोति'' इस नियम को सिद्धान्ती मानते हैं। अर्थात् ''शशशृङ्गमसत्'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा असद्विषयिणी परोक्ष प्रतीति सिद्धान्ती भी मानते हैं। अतः सिद्धान्तमत में भी असत्ख्याति की आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''शशशृङ्गमसत्'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा हम असत् की प्रतीति नहीं मानते हैं। किन्तु शब्द ज्ञानानुपाती वस्तुशून्य

प्रतीतिः, किन्तु विकल्पमात्रमित्युक्तत्वात्। तस्मान्नासत्ख्यातिः।।४।।

इत्यसत्ख्यातिभङ्गः।

****

(ख) अन्यथाख्यातिभङ्गः –

नाप्यन्यत्र स्थितस्य रूप्यस्य भानादन्यथाख्यातिः, अत्यन्तासत इवान्यत्र सतोऽप्यपरोक्षप्रतीति–प्रयोजकसन्निकर्षानुपपत्तेस्तुल्यत्वात्। न च संस्कारस्मृतिदोषाणां प्रत्यासत्तित्वम्, रजतप्रत्यक्षमात्रे

सत्यानन्दप्रबोधिका

विकल्पात्मक वृत्ति की उत्पत्ति मानते हैं और वह ज्ञानात्मक नहीं मानी जाती है। इसका निरूपण ''ख्यातिबाधान्यथानुपपत्तिसमर्थनम्'' के खण्ड संख्या १० में किया जा चुका है। अत: यह सिद्ध हो गया कि असत् की ख्याति नहीं होती है।।४।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामसत्ख्यातिभङ्गः

(ख) अन्यथाख्याति निरास–

अन्यत्र स्थित (हट्टस्थ) रजत की शुक्ति में प्रत्यक्ष प्रतीतिरूप अन्यथाख्याति भी नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि जैसे अत्यन्त असत् में अपरोक्ष प्रतीति का प्रयोजक इन्द्रियसन्निकर्षादि सम्भव नहीं है, ठीक उसी प्रकार हट्ट में रजत के विद्यमान होने पर भी शुक्ति में रजत के विद्यमान न होने के कारण शुक्ति में रजत के अपरोक्षप्रतीतिजनक इन्द्रियसन्निकर्षादि की उपपत्ति नहीं हो सकती है। अत: असत् ख्याति के समान ही अन्यथाख्याति भी युक्तिविरुद्ध है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि हट्टस्थ रजत के साथ इन्द्रिय का संस्कार या स्मृति अथवा दोषात्मक सन्निकर्ष सम्भव है। [जैसे हट्टस्थ रजत के साथ चक्षु का संस्कार रूप सन्निकर्ष अर्थात् स्वसंयुक्तमन: संयुक्तात्मवृत्तिसंस्कारविषयत्व को सन्निकष्र माना जा सकता है। स्वसंयुक्त.... में स्व शब्द से चक्षु लेना चाहिए। संस्कार जन्यत्वेन स्मृतित्व की आपत्ति होगी–इस अरुचि के कारण कह रहे हैं कि अथवा हट्टस्थ रजत के साथ चक्षु का स्मृतिरूपसन्निकर्ष अर्थात् स्वसंयुक्तमन:संयुक्तात्मवृत्तिस्मृतिविषयत्व को सन्निकर्ष माना जा सकता है। स्वसंयुक्त... में स्व शब्द से चक्षु लेना है। इस प्रकार भ्रमस्थल पर रजत का भान यदि उक्त संस्कार अथवा उक्त स्मृति रूप अलौकिक सन्निकर्ष से माना जाय तब अलौकिक सन्निकर्ष के बल पर रजत में जो विषयता आयेगी, वह लौकिक विषयता न होने के कारण ''इदं रूप्यं साक्षात्करोमि'' इस प्रकार का प्रत्यय नहीं हो पायेगी। इस अरुचि के कारण कह रहे हैं कि अथवा भ्रमीय लौकिक विषयता में दोषों को ही नियामक (सन्निकर्ष) माना जाता है।]

समाधान– पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐन्द्रियक रजतप्रत्यक्षमात्र में रजतेन्द्रियसंयोगत्वेन रजतेन्द्रिययसंयोग की कारणता का निश्चय होने से अन्यसन्निकर्ष (पूर्वपक्षी के द्वारा कथित रजत के साथ संस्कारादि सन्निकर्ष) के रहने पर भी रजतेन्द्रिय संयोग के न होने पर रजतविषयक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानना सम्भव नहीं है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि रजत का लौकिकप्रमा रूप जो प्रत्यक्ष होता है, उस प्रत्यक्ष में ही रजतेन्द्रिय संयोग का कारणत्व है, न कि रजत के लौकिक भ्रमप्रत्यक्ष में। अत: उक्त संस्कारादिरूप संन्निकर्षों के बल पर हट्टस्थ रजत की शुक्ति में प्रत्यक्ष प्रतीति रूप अन्यथाख्याति

रजतसंयोगत्वेन कारणत्वावधारणात्, सन्निकर्षान्तरसत्त्वेऽपि तदभावे रजतप्रत्यक्षोत्पत्तेर्वक्तुमशक्यत्वात्। न च लौकिकप्रमारूपप्रत्यक्ष एव तस्य कारणत्वम्, अस्य विभागस्य स्वशिष्यानेव प्रत्युचितत्वात्, गौरवकरत्वात्, निर्विकल्पकसाधारण्याभावाच्च।।१ ।।

रजतेन्द्रियसन्निकर्षजस्य रजते रजतत्वप्रकारकज्ञानस्य भ्रमत्वानुपपत्तेः। 'इमे रङ्गरजते' इति भ्रमे विद्यमानोऽपि रजतसन्निकर्षो जनको न भवति, अनुमिताविव क्वचिद्विद्यमानोऽपि विषयः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की उपपत्ति हो जायेगी।

समाधान— लौकिक प्रमा प्रत्यक्ष में लौकिक सन्निकर्ष कारण है और लौकिक भ्रमप्रत्यक्ष में अलौकिक सन्निकर्ष कारण है— नैयायिकों का यह उपदेश उनके शिष्यों के प्रति ही उचित है। अर्थात् नैयायिकों के द्वारा कल्पित लौकिकालौकिक प्रत्यक्ष की परिभाषा को अन्य दार्शनिक नहीं मानते हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर गौरवदोष होगा। [कहने का भाव यह है कि जिस द्रव्य के प्रमात्मक प्रत्यक्षस्थल पर द्रव्य में लौकिक विषयता रहती है, उस प्रत्यक्ष के प्रति इन्द्रियसंयोग को नैयायिक कारण मानता है और उसी द्रव्य के भ्रमात्मक प्रत्यक्ष स्थल द्रव्य में अलौकिक विषयता रहती है, उस प्रत्यक्ष के प्रति संस्कार या स्मृति रूप अलौकिक सन्निकर्ष को नैयायिक कारण मानता है। इस प्रकार भिन्न–भिन्न कार्य–कारणभाव मानने पर गौरव होगा। इसकी अपेक्षा से सभी प्रकार के प्रत्यक्ष स्थल पर इन्द्रियसंयोग को कारण मानने से लाघव होगा। चाकचिक्यादिदोष को इन्द्रिय और रजत के मध्य में सन्निकर्ष के रूप से नहीं माना जाता है, किन्तु अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति के प्रति कारण माना जाता है। यदि कहा जाय कि अनिर्वचनीय ख्याति में रजत का ज्ञातैक सत्त्व है। अतः रजत के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष सम्भव न होने के कारण रजतभ्रम में चाक्षुषत्व की उपपत्ति कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि अधिष्ठान अंश प्रत्यक्ष में ही चाक्षुषत्व की प्रतीति होती है और उसके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होता ही है। रजत का साक्षी प्रत्यक्ष होता है। उसके लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं है।] दूसरा दोष यह भी होगा कि लौकिक प्रमा प्रत्यक्ष में लौकिक सन्निकर्ष कारण है और भ्रमप्रत्यक्ष में अलौकिक सन्निकर्ष कारण है—ऐसा मानने पर निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के प्रति लौकिक–अलौकिक कोई भी सन्निकर्ष न रहने के कारण उसका प्रत्यक्ष ही नहीं होगा।।१ ।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि ''इदं रजतम्'' इस भ्रमज्ञान को पूर्वोक्त अलौकिक सन्निकर्ष से जन्य न मानकर रजत और इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जन्य मानने पर यह ज्ञान रजतत्ववति रजतत्वप्रकारकज्ञान अर्थात् समानाधिकरणप्रकारक ज्ञान होगा। व्यधिकरणप्रकारक ज्ञान नहीं होगा। अतः ''इदं रजतम्'' इस ज्ञान में भ्रमत्व की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''इदं रजतम्'' यह साक्षिभास्य ज्ञान है। इस भ्रमज्ञान के प्रति इन्द्रियसन्निकर्ष कारण नहीं होता है, क्योंकि रजतसन्निकर्ष और रजतविषयकप्रत्यक्ष का अन्वय व्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार देखा जाता है। जैसे रजत और रङ्ग एक साथ रखे हुए हैं और उन दोनों के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष भी है किन्तु देखने वाला रजत को रङ्ग समझ रहा है और रङ्ग को रजत समझ रहा है। ऐसा होने से देखने वाले को ''इमे रङ्गरजते'' ऐसा भ्रम होता है। ऐसे स्थल पर रजत के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष होने पर भी रजतप्रत्यक्ष नहीं होता है अपितु रङ्ग प्रत्यक्ष होता है। अतः अन्वय व्यभिचारदोष है। इसी प्रकार रङ्ग स्थल पर रजतसन्निकर्ष न होने पर भी रजतप्रत्यक्ष होता है। अतः व्यतिरेकव्यभिचारदोष है। अतः ''इमे रजतरङ्गे'' इस भ्रमस्थल पर विद्यमान भी रजतसन्निकर्ष जनक नहीं होता है। जैसे अनुमिति में कहीं पर विद्यमान

अथानुमितेर्विषयजन्यत्वे प्रत्यक्षत्वापत्तिः, अतीते अनागते च विषये अनुमितिर्न स्यादिति बाधकम्, रजतप्रत्यक्षस्य रजतसन्निकर्षजन्यत्वे प्रमात्वापत्तिः, असन्निकर्षे च तत्प्रत्यक्षं न स्यादिति बाधकं प्रकृतेऽपि तुल्यम्। यदि तु दोषमहिम्ना रजतसन्निकर्षस्य रङ्गज्ञानांशे जनकत्वम्, रङ्गसन्निकर्षस्य च रजतज्ञानांशे, तदा रजतज्ञानांशे तत्सन्निकर्षाजन्यत्वात् प्रमात्वाभाववत् प्रत्यक्षत्वाभावोऽपि स्यात्। तस्मात् 'इमे'— इत्येवेन्द्रियजन्यम्, 'रङ्गरजते'—इति तु स्मृतिस्वरूपमविद्यावृत्त्यात्मकमनिर्वचनीय—त्वादित्यन्यत्र विस्तरः।।२।।

इत्यन्यथाख्यातिभङ्गः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता हुआ भी विषय अनुमिति का जनक नहीं होता है। [अर्थात् जहां वर्तमान धूम को देखकर के वर्तमान वह्नि का अनुमान किया है, वहां अनुमिति के अव्यवहित पूर्वकाल में विषय (वह्नि) के विद्यमान होने पर भी विषय (वह्नि) में अनुमिति के प्रति कारणता नहीं मानी जाती है। (क्योंकि विषय प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति ही कारण होता है।) इसी प्रकार भ्रमस्थल पर इन्द्रियसन्निकर्ष कहीं विद्यमान भी है तो भी उस भ्रम प्रत्यक्ष के प्रति कारण नहीं माना जा सकता है।] यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अनुमिति को विषय से जन्य मानने पर अनुमितिज्ञान में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति होगी। (क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान विषय से जन्य होता है।) और अतीत तथा अनागतविषयक अनुमिति नहीं हो पायेगी (क्योंकि अतीत और अनागत विषय अतीत तथा अनागत विषयक अनुमिति के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान नहीं होता है।) इन बाधकों के कारण अनुमिति ज्ञान को विषय से जन्य नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि रजत प्रत्यक्ष को रजतेन्द्रियसन्निकर्ष से जन्य मानने पर रजतप्रत्यक्ष में प्रमात्व की आपत्ति तथा भ्रमत्व की अनापत्ति होगी और ''इदं रजतम्'' इस भ्रमस्थल पर रजत के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न रहने के कारण रजत का प्रत्यक्ष ही नहीं हो पायेगा। इस प्रकार प्रकृत में भी इन बाधकों के रहने के कारण रजत प्रत्यक्ष को रजतेन्द्रियसन्निकर्ष से जन्य नहीं माना जा सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि दोष के प्रभाव से रजतसन्निकर्ष को रङ्गज्ञानांश में जनकत्व है और रङ्गसन्निकर्ष को रजतज्ञानांश में जनकत्व है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि रजतज्ञानांश में रजतसन्निकर्षजन्यत्व के अभाव से अर्थात् दोषयुक्त रङ्गसन्निकर्ष को रजतज्ञानांश के प्रति कारण मानने से जैसे पूर्वपक्षी के मत में उस ज्ञान को प्रमा नहीं कहा जाता है, वैसे ही उस ज्ञान को प्रत्यक्ष भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि रजतप्रत्यक्ष रजतेन्द्रियसन्निकर्ष से जन्य होता है और वह ज्ञान रजतेन्द्रियसन्निकर्ष से जन्य नहीं है। अतः ''इमे रङ्गरजते'' यह भ्रमात्मक ज्ञान ''इमे'' इस अंश में इन्द्रियजन्य है और ''रङ्ग रजते'' इस अंश में तत्तद्दोषसंस्कारादि सहकृत अविद्यावृत्यात्मक है, क्योंकि अनिर्वचनीय है। इसका विस्तार आगे के प्रकरण में किया गया है।।२।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामन्यथाख्यातिभङ्गः

२०— आविद्यकरजतोत्पत्तिविचारः

तच्चानिर्वचनीयमज्ञानोपादानकम्, तत्त्वज्ञानेन नाश्यं च। ननु—एवं 'रूप्यमुत्पन्नं नष्टं च'इति धीप्रसङ्गः, त्रैकालिकनिषेधप्रतीतिश्च न स्यादिति चेन्न, उत्पादविनाशप्रतीतिरियं भ्रान्तिसमये आपाद्यते? बाधसमये वा? नाद्यः, पूर्वोत्पन्नाविनष्टशुक्त्यभिन्नतया ग्रहस्यैव तत्र प्रतिबन्धकत्वाद्, विरोधिज्ञानानुदयेन रूप्यस्याविनाशाच्च। न द्वितीयः, अत्यन्ताभावग्रहस्यैव प्रतियोगिग्रह इव तदुत्पादविनाशग्रहेऽपि प्रतिबन्धकत्वात्। न हि कुत्रापि कदापि अत्यन्ताभावाधिकरणत्वेन प्रतीते उत्पादविनाशप्रतीतिरस्ति। न च—त्रयाणां सत्त्वे कथमत्यन्ताभावबुद्ध्या विनाशबुद्धिप्रतिबन्धः? विनाशबुद्ध्यैवात्यन्ताभावबुद्धिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

वह अनिर्वचनीय रजत अज्ञानरूप उपादानकारण से उत्पन्न होता है और उसकी तत्त्वज्ञान से निवृत्ति होती है।

शङ्का— एवम्= भ्रमस्थल पर अविद्या के द्वारा अनिर्वचनीय रजत पदार्थ उत्पन्न होता है और तत्त्वज्ञान से उसका नाश हो जाता है—ऐसा मानने पर, जिस व्यक्ति को पहले भ्रम और भ्रम के पश्चात् तत्त्वज्ञान हुआ। उसको यह प्रतीत होना चाहिए कि रजत पहले (भ्रम काल में) उत्पन्न हुआ था और अब (तत्त्वज्ञान काल में) नष्ट हो गया। दूसरा दोष यह है कि रजत की उत्पत्ति मानने पर उसकी भ्रमकाल में सत्ता माननी पड़ेगी, तब तो बाधकज्ञान के द्वारा तीनों काल में रजत की सत्ता के निषेध की प्रतीति नहीं होनी चाहिए।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''रजत उत्पन्न हुआ और नष्ट हुआ' इत्याकारक प्रतीति भ्रान्ति के समय में आपादन की जाती है? अथवा बाध के समय में? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि भ्रम से पहले जो शुक्ति उत्पन्न हुयी है और भ्रमकाल में जिस शुक्ति का विनाश हुआ नहीं है। उससे अभिन्न के रूप से रजत की जो प्रतीति होती है, वही प्रतीति '' रूप्यमुत्पन्नं नष्टं च'' इस प्रतीति के उत्पत्ति के प्रति प्रतिबन्धक है और भ्रान्तिकाल में रजतज्ञान के विरोधी बाधज्ञान (नेदं रजतम्) की उत्पत्ति न होने के कारण रजत के अविनाश से भी रजत का विनाश ग्रह भ्रान्तिकाल में उत्पन्न नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष अर्थात् बाधज्ञान के समय में ''रूप्यमुत्पन्नं नष्टं च'' इत्याकारक प्रतीति का आपादन भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जैसे प्रतियोगी के अत्यन्ताभाव का ग्रह प्रतियोगी के ग्रह के प्रति प्रतिबन्धक होता है, ठीक वैसे ही प्रतियोगी के अत्यन्ताभाव का ग्रह प्रतियोगी के उत्पाद और विनाश ग्रह के प्रति भी प्रतिबन्धक होता है, क्योंकि जिस काल में जिस भूतल में घट के अत्यन्ताभाव का ग्रह हो रहा है, उसी काल में उस भूतल में जैसे घट की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं होता है वैसे ही उसी काल में उस भूतल में घट के ध्वंस का भी ज्ञान नहीं होता है। अथवा जिस वायु की रूप के अत्यन्ताभावाधिकरणत्वेन प्रतीति हो रही है। उस वायु में कहीं भी और कभी भी रूप उत्पन्न हुआ था और अब नष्ट हो गया—ऐसी प्रतीति नहीं होती है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा जब शुक्ति में रजत का उत्पाद, विनाश और अत्यन्ताभाव तीनों ही माना जाता है, तब रजत के अत्यन्ताभाव की बुद्धि से रजत के विनाश (और उत्पत्ति) की बुद्धि का ही प्रतिबन्ध क्यों माना जाता है? इसके विपरीत रजत के उत्पत्ति या विनाश बुद्धि के द्वारा रजत के अत्यन्ताभाव की बुद्धि का प्रतिबन्ध क्यों नहीं माना जा रहा है? सिद्धान्ती के मत के समर्थन में कोई विनिगमक नहीं है। अतः पूर्वपक्षी का कथन भी माना जा सकता है। अर्थात् रजत के उत्पत्ति और विनाश बुद्धि के द्वारा रजत के अत्यन्ताभाव की बुद्धि का ही

किमिति न प्रतिबध्यते? नियामकाभावदिति वाच्यम्, फलबलेनात्यन्ताभावधीसामग्र्या एव बलवत्त्वेन तस्यैव विनिगमकत्वात्। न च तर्हि उत्पादाद्यधिकरणे अत्यन्ताभावः कथम्? प्रतीतिमुपलभस्व, यया अपरोक्षप्रतीत्याद्यन्यथानुपपत्त्या सिद्धोत्पादादिकस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं विषयीक्रियते।।१।।

यद्वा न स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्, किन्तु पारमार्थिकत्वाकारेण। न च पारमार्थिक(स)

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतिबन्ध हो जाता है। ऐसा होने पर पूर्वोक्त ''रूप्यमुत्पन्नं नष्टं च'' ऐसी प्रतीति की आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि फल (कार्य) को देखकर ही उसके कारण की सत्ता का निश्चय किया जाता है। प्रकृत में जहां पर अत्यन्ताभाव के बुद्धि की सामग्री और विनाशादि के बुद्धि की सामग्री दोनों है, वहां पर विनाशादि की बुद्धि को रोकती हुयी अत्यन्ताभाव की बुद्धि होती है—यह अनुभव सिद्ध होने के कारण विनाशादि की बुद्धि की सामग्री की अपेक्षा से अत्यन्ताभाव की बुद्धि की सामग्री बलवती मानी जाती है। यही अत्यन्ताभाव के बुद्धि की सामग्री का बलवत्त्व ही विनाशादि बुद्धि के प्रतिबन्धक में विनिगमक है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि शुक्ति में ही रजत की उत्पत्ति—विनाश और अत्यन्ताभाव जो सिद्धान्ती मान रहे हैं, वह उचित नहीं है क्योंकि जिस शुक्ति में रजत की उत्पत्ति आदि होती है, उसी शुक्ति में रजत का अत्यन्ताभाव नहीं रह सकता है। [पूर्वपक्षी के कथन का भाव यह है कि जैसे एककालावच्छेदेन प्रतियोगी के साथ अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य नहीं होता है, ठीक वैसे ही एककालावच्छेदेन प्रागभाव तथा प्रध्वंस के साथ भी अत्यन्ताभाव का सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता है।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी को प्रमात्मिका प्रतीति का अनुसरण करना चाहिए। [अर्थात् जिस शुक्ति में रजत की उत्पत्ति आदि होती है, उसी शुक्ति में ''इह कालत्रयेऽपि रजतं नास्ति'' इत्याकारक प्रमात्मिका प्रतीति होती है। इस प्रमात्मिका प्रतीति के बल पर ही उत्पत्ति आदि के अधिकरण में अत्यन्ताभाव को माना जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] '' रजतोत्पत्तिं विना इदं रजतमिति अपरोक्षप्रतीतिः अनुपपन्नाः'' इस अर्थापत्ति के द्वारा रजत की उत्पत्ति सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार ''रजतविनाशं विना नेदं रजतमिति बाधप्रतीतिः अनुपपन्नाः'' इस अर्थापत्ति के द्वारा रजत का विनाश सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सिद्ध है उत्पाद और विनाश जिस रजत का उस प्रातिभासिक रजत में ही त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिता की विषयता रहती है। अतः जिस शुक्ति में रजत की उत्पत्ति आदि होती है। उसी शुक्ति में रजत का अत्यन्ताभाव माना जा सकता है।।१।।

अथवा रजत में स्वरूप से त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व नहीं है, किन्तु पारमार्थिकत्वेन त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व रजतादि में है। अर्थात् शुक्ति में प्रातिभासिकत्वेन रूपेण रजत की उत्पत्ति आदि होती है और पारमार्थिकत्वेन उसका अत्यन्ताभाव माना जाता है। अतः शुक्ति में जिस रूप से रजत की उत्पत्ति हो रही है, उसी रूप से शुक्ति में रजत का अत्यन्ताभाव नहीं माना जाता है। इसलिए रजत के उत्पत्ति आदि के अधिकरण में ही रजत का अत्यन्ताभाव मानने पर कोई विरोध नहीं होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि रजत प्रतिभासकाल में पारमार्थिकत्व की भी प्रतीति होती है। अतः पारमार्थिकत्वेन रजत का त्रैकालिकनिषेध मानना सम्भव नहीं है। [पूर्वपक्षी के कथन का भाव यह है कि प्रातिभासिक रजत का स्वरूपेण त्रैकालिक निषेध नहीं माना जाता है। वह इसलिए

त्वस्यापि प्रतिभाससमये प्रतीतत्वेन न त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं सम्भवति रजतप्रतियोगित्वेनानुभव–विरोधश्चेति वाच्यम्, प्रतीतिकालप्रतीतं पारमार्थिकत्वमपि प्रातीतिकमेवेति न तन्निषिध्यते, किन्त्वन्यत्रवृत्त्येवेति तेनाकारेण रजतस्यैव निषेध इति न तत्प्रतियोगित्वेऽनुभवविरोधोऽपि। ननु यद्यपि प्रसक्तिर्ज्ञानम्, सा च स्मृतिरूपा पारमार्थिकत्वस्यास्त्येव, तथापि निषेध्यताप्रयोजकपारमार्थिकत्वाकारेण प्रातिभासिकस्य प्रसक्तिर्नास्तीति चेन्न, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिको ह्ययमभावः, तत्प्रतीतौ च

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि भ्रमकाल में प्रातिभासिक रजत की उत्पत्ति सिद्धान्ती के द्वारा मानी गयी है और रजत की उत्पत्ति भी रजत की प्रतीति के बल पर ही मानी गयी है, तब तो पारमार्थिकत्व की भी रजत के प्रतिभास के समय ''रजतं सत्'' इस प्रकार से पारमार्थिकविषयक प्रतीति होने के कारण रजत में पारमार्थिकत्व की भी अनिर्वचनीय उत्पत्ति मानना पड़ेगा और तब जैसे रजत की उत्पत्ति के कारण रजत का स्वरूपेण त्रैकालिक निषेध सिद्धान्ती के द्वारा नहीं माना जाता है, वैसे ही पारमार्थिकत्व की उत्पत्ति भ्रमकाल में मानने के कारण पारमार्थिकत्व का भी स्वरूपेण त्रैकालिकनिषेध नहीं माना जा सकता है। अतः पारमार्थिकत्वेन भी रजत का त्रैकालिकनिषेध नहीं हो सकता है।] दूसरा दोष यह भी है कि रजत में पारमार्थिकत्व का त्रैकालिकनिषेध मानने पर रजतनिष्ठ जो त्रैकालिकनिषेध की प्रतियोगिता का अनुभव होता है। उससे विरोध होगा। [अर्थात् रजत में पारमार्थिकत्व का निषेध मानने पर प्रतियोगिता पारमार्थिकत्व में रहेगी, जबकि ''नेदं रजतम्'' इस निषेध की प्रतियोगिता रजत में भासती है। अतः अनुभव विरोध होगा।]

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिभासकाल में प्रतीयमान पारमार्थिकत्व भी प्रातितिक ही होता है। अतः उस रूप से रजत का त्रैकालिकनिषेध सिद्धान्तमत में नहीं माना जाता है, किन्तु रजत से अन्यत्र शुक्ति में वृत्ति पारमार्थिकत्व (लौकिक पारमार्थिकत्व=व्यावहारिकत्व) रूप से ही रजत का निषेध माना जाता है। अतः ''नेदं रजतम्'' इस निषेध के द्वारा जो रजतप्रतियोगित्वावगाहि अनुभव होता है। उस अनुभव से विरोध भी नहीं होगा।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि जो प्रसक्त है, उसी का प्रतिषेध होता है। प्रसक्ति का अर्थ ज्ञान होता है। अर्थात् ज्ञात या स्मर्यमाण पदार्थ का भी निषेध किया जाता है। इसलिए शुक्ति में जो पारमार्थिकत्व है, उसकी स्मृतिरूपा प्रसक्ति है। अतः रजत में उसका निषेध किया जा सकता है। किन्तु शुक्ति में रहने वाला जो पारमार्थिकत्व है। उस पारमार्थिकत्वेन रजत का निषेध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि निषेध्यता का प्रयोजक (अवच्छेदक) जो पारमार्थिकत्व, तादृशपारमार्थिकत्वाकार से प्रातिभासिक रजत की प्रसक्ति ही नहीं है। अर्थात् शुक्ति में रहने वाला जो पारमार्थिकत्व है। उस पारमार्थिकत्व से विशिष्ट प्रातिभासिक रजत की प्रसक्ति नहीं है। अतः तादृश पारमार्थिकत्वेन प्रातिभासिक रजत का निषेध भी नहीं हो सकता है।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में शुक्ति में रहने वाला जो पारमार्थिकत्व है। तादृश पारमार्थिकत्वेन जो प्रातिभासिक रजत का निषेध किया जाता है। वह व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अत्यन्ताभाव होता है। व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतीति में निषेध्यतावच्छेदकीभूत शुक्ति में रहने वाले पारमार्थिकत्व धर्म से विशिष्ट प्रातिभासिक रजत की प्रसक्ति अपेक्षित नहीं होती है, किन्तु शुक्ति में पारमार्थिकत्व की प्रसक्ति और भ्रमस्थल पर प्रातिभासिक रजत की प्रसक्ति से ही व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की उत्पत्ति हो जाती है। यदि पारमार्थिकत्व विशिष्ट रजत

न विशिष्टप्रसक्तिरुद्देश्या, प्रत्येकप्रसक्त्यैव तत्प्रतीत्युपपत्तेः। निर्विकल्पकादभावप्रतीतिरिष्टापत्त्यैव परिहरणीया॥२॥

यद्वा लौकिकपरमार्थरजतस्यैव तत्र त्रैकालिकनिषेधः। न च तर्हि 'नेह नाना'इति निषेधायापि तात्त्विकप्रपञ्चान्तरोररीकारापत्तिः, 'नेह नाना'इति निषेधस्थले किञ्च नेति पदसन्दंशात् प्रतीयमान सर्वनिषेधस्यावश्यकतया निषेध्यत्वेन प्रपञ्चान्तरकल्पनाया गौरवकरत्वात्, प्रकृते तु सर्वत्वेन प्रतियोग्यनुल्लेखाद् आपणस्थरूप्यनिषेधस्य इदम्यावश्यकत्वेनाप्रतीतनिषेधकल्पनैव युक्ता। न चान्यथाख्यातिभिया तस्याप्रसक्तौ कथं तन्निषेधः? अपरोक्षत्वाभावेऽपि स्मृतिरूपतत्प्रसक्तेः सम्भवात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की प्रसक्ति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतीति में अपेक्षित नहीं है तब तो पारमार्थिकत्व के निर्विकल्पात्मक ज्ञान से भी पारमार्थिकत्वधर्मावच्छिन्नरजतनिष्ठप्रतियोगिताकाभाव अर्थात् व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतीति होनी चाहिए—ऐसी जो पूर्वपक्षी के द्वारा जो आपत्ति दी जाती है। उसमें इष्टापत्ति है। अर्थात् उक्त प्रकार से व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव की प्रतीति को मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है॥२॥

अथवा शुक्ति में लौकिक परमार्थ (व्यावहारिक) रजत का ही त्रैकालिक निषेध होता है, न कि प्रातिभासिक रजत का।

शङ्का —तर्हि= ''इदं रजतम्'' इस भ्रमस्थल पर अध्यस्त पदार्थ प्रातिभासिक रजत की सत्ता से अधिक सत्ताक व्यावहारिक रजत का ही त्रैकालिकनिषेध होता है—ऐसा मानने पर, ''नेह नानास्ति किञ्चनः'' इस श्रुति से प्रतिपादिक प्रपञ्च के त्रैकालिक निषेध के लिए व्यावहारिक प्रपञ्च से अधिक सत्ता वाले तात्त्विक प्रपञ्चान्तर के अङ्गीकार की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ''नेह नानास्ति किञ्चनः'' इत्याकारक त्रैकालिक निषेध स्थल पर प्रतियोगी—उपस्थापक ''किञ्चन'' इस पद के सन्दंश (सम्बन्ध) से प्रतीयमान सभी पदार्थों का निषेध आवश्यक होने से निषेध्यत्वेन अन्य प्रपञ्च की कल्पना में गौरव है। [कहने का भाव यह है कि किञ्चन पद से प्रतीयमान सर्व का निषेध ''नेह नानास्ति किञ्चनः'' श्रुति के द्वारा कर दिया गया है—ऐसा मानना आवश्यक होने से व्यावहारिक प्रपञ्च का निषेध के लिए प्रपञ्चान्तर की कल्पना करने पर भी कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि वह प्रपञ्चाकार भी सर्व के अन्तर्गत होने के कारण निषेध्य कोटि में ही माना जायेगा। अतः जब निषेध्य ही है प्रपञ्चान्तर तब उसका मानना गौरवप्रद है। प्रकृत में ''नेदं रजतम्'' इस स्थल पर प्रतियोगी—उपस्थापक ऐसा कोई पद नहीं है, जिससे सर्व का उल्लेख होता हो। इसलिए यहां आपणस्थ व्यावहारिक रजत का इदमर्थ में निषेध मानना आवश्यक है, क्योंकि भ्रान्ति व्यक्ति यद्यपि प्रातिभासिक रजत को देख रहा है किन्तु प्रतीयमान रजत को प्रातिभासिक न समझकर व्यावहारिक समझ रहा है। अतः अप्रतीत= व्यावहारिक रजत का निषेध न करने पर उसके व्यवहार की निवृत्ति नहीं हो पायेगी। इसलिए अप्रतीत = व्यावहारिक रजत के निषेध की कल्पना उचित ही है।

शङ्का— अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक भ्रमस्थल पर व्यावहारिक रजत की प्रतीति मानता है। यदि सिद्धान्ती ऐसा ही मानेंगे तब अनिर्वचनीयख्याति की हानि और अन्यथाख्याति के मानने की आपत्ति होगी। इस भय से सिद्धान्ती ने इदमर्थ में व्यावहारिक रजत अप्रतीत= अप्रसक्त माना किन्तु ऐसा मानने पर अप्रसक्त प्रतिषेध की आपत्ति होगी।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि आपणस्थ रजत का इदमर्थ में त्रैकालिकनिषेध

एतेन—अधीस्थं पारमार्थिकत्वमवच्छेदकम्, अनवच्छेदकस्याभासस्य धीस्तु निषेधधीहेतुरिति—परास्तम्। न च—आरोपपूर्विकैव निषेधधी:, तस्यानारोपात् कथं तदभावप्रत्यय इति वाच्यम्, आरोपस्य हेतुतायां मानाभावेन प्रतियोगिस्मरणाधिकरणानुभवादिनैव तदुपपत्तेः। अत एव न बुद्धिपूर्वकतदारोपोऽपि, अन्यथाख्यातेः सामग्र्यभावेनासत्ख्यातिवत् प्रागेव निरासादारोपस्य विशेषादर्शनजन्यत्वेन बुद्धिपूर्वकत्वानुपपत्तेश्च।।३।।

किञ्चाभासप्रसक्तिरेव तत्प्रसक्तिः। ननु— आभास इत्यप्रसक्ते रजतत्वाकारेणाभासानाभासयोः

सत्यानन्दप्रबोधिका

से पूर्वकाल में अपरोक्षत्वेन प्रसक्ति न होने पर भी व्यावहारिक रजत की स्मृतिरूपत्वेन प्रसक्ति सम्भव है। अत: अप्रसक्त प्रतिषेध की आपत्ति नहीं होगी। व्यावहारिक रजत की स्मृतिरूपत्वेन प्रसक्ति सम्भव होने से ही पूर्वपक्षी का यह कथन खण्डित हो गया कि सिद्धान्ती के मत में निषेध्यतावच्छेदक होता है—व्यावहारिकरजतत्व, वह बुद्धिस्थता (प्रसक्ति विषयता) का अवच्छेदक नहीं है किन्तु प्रसक्ति विषयता का अवच्छेदक रजताभासत्व है और बुद्धिस्थतावच्छेदक रजताभासत्व है। वह निषेध्यतावच्छेदक नहीं है किन्तु निषेध्यतावच्छेदक व्यावहारिक रजतत्व है। इस प्रकार प्रतियोगी की प्रसक्ति में अप्रकार जो व्यावहारिक रजतत्व वह निषेध्यतावच्छेदक है और निषेध्यता का अनवच्छेदकीभूत जो रजताभासत्व है, तद्विषयकधी निषेध धी की हेतु है। जबकि सामान्य नियम है कि निषेध्यता का अवच्छेदक ही उपस्थितिविषयता का अवच्छेदक होता है। अत: प्रसक्ति और निषेध में वैरूप्य की आपत्ति होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन खण्डित हो गया, क्योंकि निषेध्यभूतव्यावहारिक रजत की ही स्मृति के द्वारा उपस्थिति होती है। इसलिए एक ही व्यावहारिक रजतत्व धर्म ही निषेध्यता और प्रसक्ति विषयता का अवच्छेदक है। अत: प्रसक्ति और निषेध में किसी भी प्रकार का वैरूप्य प्रसक्त नहीं होता है।

शङ्का — पूर्वपक्षी का कथन है कि आरोप पूर्वक अर्थात् प्रतियोगी की प्रसक्तिपूर्वक ही निषेध धी होती है। इदमर्थ में प्रतियोगी व्यावहारिक रजत की प्रसक्ति न होने के कारण व्यावहारिक रजत के अभाव की बुद्धि नहीं हो सकती है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रतियोगी की प्रसक्ति निषेध धी के प्रति हेतु है— इसको नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि ''नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्य:'' (तै.ब्रा.५—३—७) इस श्रुति से अन्तरिक्षादि में अप्राप्त इष्टिका चयन का निषेध देखा जाता है। केवल प्रतियोगी (व्यावहारिक रजत) का स्मरण और अधिकरण (इदमर्थ) का अनुभव निषेध धी के पूर्व में होने मात्र से ही निषेध धी की उपपत्ति प्रकृत में हो जायेगी। अत एव= प्रतियोगी के आरोप (प्रसक्ति) के विना ही उक्त हेतु से निषेध धी की उपपत्ति हो जाने से ही, आरोप से पहले आरोप्य की बुद्धि होनी चाहिए—ऐसा भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अत्यन्त असत् के प्रत्यक्ष की इन्द्रियसन्निकर्षादि सामग्री न होने से जैसे असत्ख्याति को नहीं माना जा सकता है, ठीक उसी प्रकार आपणस्थ रजत के प्रत्यक्ष की इन्द्रियसन्निकर्षादि सामग्री न होने से अन्यथाख्याति को भी नहीं माना जा सकता है। इसको पूर्व प्रकरण में कहा जा चुका है। अत: आरोप से पहले आरोप्य की प्रत्यक्ष बुद्धि नहीं मानी जा सकती है। दूसरी बात यह भी है कि विशेष अदर्शन से भ्रम उत्पन्न होता है और विशेष दर्शन से भ्रम की निवृत्ति होती है। अत: आरोप के पूर्व में आरोप्य की बुद्धि (आरोप्य का विशेष दर्शन) नहीं माना जा सकता है।।३।।

किञ्च प्रातिभासिक रजत की प्रसक्ति ही व्यावहारिक रजत की प्रसक्ति है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती आभासत्वेन आभास की प्रसकित नहीं कह सकते

प्रसक्तिर्वाच्या, सा चानुपपन्ना, उभयोरेकसामान्याभावात्, फलबलेन व्याप्तिग्रहे सामान्यस्य प्रत्यासत्तित्वेऽपि अन्यत्रातिप्रसङ्गेन तदभावाच्चेति चेन्न, शुक्तिरूप्यस्यापणरूप्येण प्रातीतिकस्य सामान्यस्याभावे तदर्थिप्रवृत्त्यनुपपत्त्या तदुभयसामान्यस्यैकस्यावश्यकत्वात्। तेन सामान्येन प्रत्यासत्त्या आपणरूप्ये ज्ञानं न ब्रूमः, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारकं ज्ञानं प्रतियोग्यविषयकमपि अभावप्रतीत्युपयुक्तं

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं, क्योंकि भ्रान्त व्यक्ति यद्यपि प्रातिभासिक रजत को देख रहा है किन्तु उसमें आभासत्व (प्रातिभासिकत्व) है— यह समझ नहीं रहा है। इसलिए व्यावहारिक और प्रातिभासिक उभय साधारण जो रजतत्व है, उस रजतत्व रूपेण प्रातिभासिक और व्यावहारिक रजत की प्रसक्ति कहना पड़ेगा, किन्तु वह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रातिभासिकरजत और व्यावहारिकरजत में एक सामान्य धर्म नहीं है, अपितु प्रातिभासिकत्व और व्यावहारिकत्व दो पृथक्–पृथक् धर्म हैं। [दूसरी बात यह है कि उभय साधारण रजतत्व नामक कोई धर्म है–ऐसा मान भी लें तो भी व्यावहारिक रजत के प्रत्यक्ष करने में उभय साधारण रजतत्व को सन्निकर्ष नहीं मान सकते हैं, क्योंकि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति रूप सन्निकर्ष को केवल व्याप्ति ज्ञान करने में ही माना जाता है, इसमें हेतु देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि] फलबलेन= महानस के धूम में व्याप्ति ग्रह होने के पश्चात् पर्वतीय धूम को देखकर पर्वतीय वह्नि की अनुमिति होते हुए देखा गया है। यह अनुमिति ही फल है। इस फल के सामर्थ से यह बाध्य होकर मानना पड़ता है कि महानसीय धूम में व्याप्ति ज्ञानकाल में पर्वतीय धूम में भी व्याप्ति का ज्ञान हो गया, जो पर्वतीय धूम व्याप्ति ज्ञानकाल में वर्तमान नहीं था। उसमें व्याप्ति का ज्ञान होना तभी सम्भव है। यदि उस समय धूमत्वेन भूत भावि वर्तमान सकल धूम के साथ पर्वतीय धूम का प्रत्यक्ष हो जाता है–ऐसा माना जाय। इस प्रकार व्याप्तिग्रह में बाध्य होकर फल बल से सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष मानना पड़ता है। किन्तु व्याप्ति ग्रह से भिन्न स्थल पर अर्थात् प्रातिभासिक रजत का प्रत्यक्ष करते समय अभासानाभास उभयसाधारण रजतत्व रूप सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष के द्वारा व्यावहारिक रजत का प्रत्यक्ष करने पर सर्वज्ञतापत्ति रूप अतिप्रसङ्ग होगा। अतः व्याप्ति ग्रह से भिन्न स्थल पर सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष का अभाव होता है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजत का आपणस्थ रजत के साथ प्रतीति में प्रकारीभूत सामान्य का अभाव होने पर अर्थात् प्रातिभासिक रजत की प्रतीति में जो प्रकार रजतत्व है। वह रजतत्व व्यावहारिक प्रातिभासिक उभय साधारण में रहने वाला है–ऐसा नहीं मानने पर व्यावहारिक रजतार्थी की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति (आभासानाभासोभयसाधारणं रजतत्वं विना व्यावहारिक रजतार्थी प्रवृत्त्यनुपपन्नाः।'') होने के कारण से आभासानाभास उभयवृत्ति एक ही रजतत्व मानना आवश्यक है। उस आभासानाभास उभय अनुगत रजतत्व रूप सामान्य लक्षणा सन्निकर्ष से आपणस्थरजतविषयक ज्ञान होता है— यह हम नहीं कहते हैं किन्तु प्रतियोग्यविषयक भी प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान अभावप्रतीति में उपयुक्त संवृत्त (घटित) हो गया। [कहने का भाव यह है कि व्यावहारिकरजत में जो रजतत्व है, तत्प्रकारेण प्रातिभासिक रजत का ज्ञान भ्रमकाल में होता है। ऐसा मानने से दो लाभ हुआ। प्रथम— व्यावहारिकरजतनिष्ठ रजतत्व प्रकारेण प्रातिभासिक रजत का ज्ञान होने पर व्यावहारिक रजतार्थी के प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जायेगी। द्वितीय—'नेदं रजतम्' इस प्रकार से व्यावहारिक रजत के निषेध की भी उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि अभावज्ञान के लिए प्रतियोगी की प्रसक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्रतियोगितावच्छेदकप्रकारक ज्ञान की आवश्यकता है। वह प्रकृत में है। अतः= भ्रमस्थल पर रजतत्व रूप सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष के द्वारा

संवृत्तमिति। अतो न सामान्यप्रत्यासत्तिनिबन्धनातिप्रसङ्गावकाशः।।४।।

यत्तु व्याप्तिग्रहे सामान्यप्रत्यासत्तिमङ्गीकृत्यातिप्रसङ्गेनान्यत्र तदनङ्गीकरणं, तदाशीविषमुखे अङ्गुलिं निवेश्य वृश्चिकाद्भयनाटनम्। प्रमेयत्वेन व्याप्तिं परिच्छिन्दन् सर्वज्ञः स्यादिति व्याप्तिग्रह एवातिप्रसङ्गस्य प्राचीनैरुक्तत्वात्। इदं च यथाश्रुतप्राचीनग्रन्थानुसारेणोक्तम्। अन्योन्याभावमादाय तु लौकिकपरमार्थरजतस्य निषेध्यत्वं प्राग्व्याख्यातं न विस्मर्त्तव्यम्। न च सोपादानत्वे सकर्तृकत्वापत्तिः, इष्टापत्तेः।।५।।

ननु—एवमपि रूप्यस्य कथमज्ञानमुपादानम्? तदनुविद्धतया अप्रतीतेः, इदमंशानुविद्धतया प्रतीतेरङ्गुलिनिर्देशाच्चेलाञ्चलबन्धनादितश्चेदमंश एव सत्यविकाराविरोधन मिथ्याविकारात्मना विवर्तत

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रातिभासिक—व्यावहारिक सर्व रजतों का प्रत्यक्ष हमारे द्वारा नहीं माने जाने से, सामान्यलक्षणासन्निकर्ष को लेकर जो सर्वज्ञता की आपत्ति रूप दोष दिया गया था। वह दोष सिद्धान्तमत में नहीं आयेगा।।४।।

पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि व्याप्तिग्रह में सामान्यलक्षणासन्निकर्ष स्वीकार करना उचित है किन्तु व्याप्तिग्रह से अन्यत्र सामान्यलक्षणासन्निकर्ष स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सर्वज्ञतापत्ति रूप अतिप्रसङ्ग होगा—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन एक वैसा नाटक है जैसे कोई व्यक्ति भयङ्कर विषधर सर्प के मुख में अङ्गुली डालकर बिच्छू के भय से भाग रहा हो। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रमेयत्वेन व्याप्ति को जानता हुआ सर्वज्ञ होगा—इस प्रकार से व्याप्तिग्रह में भी अतिप्रसङ्ग को श्रीचित्सुखाचार्यादि प्राचीन आचार्यों ने कहा है। यह (लौकिक परमार्थरजत ही निषेध का प्रतियोगी है।) यथाश्रुत लौकिक परमार्थ रजत निषेध्यताबोधक तत्त्वप्रदीपिकादि वाक्य के अनुसार ही प्रकृत में कहा गया है। अन्योन्याभाव को लेकर लौकिक परमार्थ रजत का निषेध्यत्व द्वितीय मिथ्यात्व विचार में जो व्याख्यात है। उसको विस्मरण नहीं करना चाहिए। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि अनिर्वनचीन रजत का उपादान कारण मानने पर अनिर्वनचीय रजत का कर्ता भी मानना पड़ेगा। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ऐसा मानना हमें इष्ट ही है, क्योंकि अध्यास में अधिष्ठान ज्ञान अपेक्षित होता है, उसी ज्ञान के कर्ता को अर्थात् भ्रान्त पुरुष को अनिर्वचनीय रजत का कर्ता माना जा सकता है।५।।

शङ्का—एवमपि = अनिर्वचनीयरजत का उपादानकारण मानने पर भी, रजत का उपादानकारण अज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि अज्ञान अनुविद्धतया रजत की प्रतीति नहीं होती है। (अर्थात् जैसे घट की अपने उपादान कारण मिट्टी से अनुविद्धतया ''मृद् घटः'' ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही रजत की अज्ञान से अनुविद्धतया ''अज्ञानं रजतम्'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है।) अपितु इदम् अंश से अनुविद्ध होकर ''इदं रजतम्'' ऐसी प्रतीति होती है। अतः इदम् को ही रजत का उपादान कारण सिद्धान्ती को मानना चाहिए। इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि अङ्गुली से निर्देश भी इदम् की ओर ही होता है और इदम अंश को लेने के लिए रजत लोलुप व्यक्ति वस्त्रादि को संभालकर दौड़ता है। (शीघ्रता से चलने के लिए या दौड़ने के लिए जो वस्त्र—उपवस्त्र सम्भालने पड़ते हैं। उनको चेलाञ्चलबन्धनादि शब्द से कहा गया है।) अतः सिद्धान्ती को ऐसा मानना चाहिए कि इदम् अंश ही अपना सत्य जो विकार (कार्य) स्वरूप है। उसको विकृत किये विना मिथ्या स्वरूपरूप रजत में विवर्त हो जाता है।

समाधान— पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि शुक्ति अज्ञान के साथ रजत का अन्वय व्यतिरेक होने के कारण शुक्ति अज्ञान को रजत का कारण मानना आवश्यक है। [अर्थात्

इत्यङ्गीक्रियतामिति चेन्न, शुक्त्यज्ञानस्य तावदन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वमावश्यकमिति उपादानमपि तदेवास्तु। तत्कल्पनाया एवाभ्यर्हितत्वाद्, उपादानान्तरासिद्धेः। किञ्च शुक्तिज्ञानमज्ञानं नाशयद्रूप्यमपि नाशयति। तच्च तदुपादानत्वं विना न घटते, निमित्तनाशस्य कार्यनाशं प्रत्यप्रयोजकत्वाद्, उपादेये उपादानानुवेधनियमाभावात्, 'रूपं घटः' 'कपालं घटः' इत्यप्रतीतेः, कथञ्चिदनुवेधस्य जडत्वादिनात्रापि सम्भवात्। अज्ञानावच्छेदकतया इदमंशे इदमंशानुविद्धतया प्रतीतिरेव तदनुविद्धतया प्रतीतिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

शुक्ति का अज्ञान होने पर रजतभ्रम होता है और शुक्ति का अज्ञान न होने पर रजतभ्रम नहीं होता है। अतः रजतभ्रम के प्रति शुक्ति अज्ञान ही कारण है। इदम् के साथ रजतभ्रम का अन्वय व्यतिरेक नहीं है, क्योंकि इदम् के साथ रजतभ्रम का अन्वय मिलने पर भी व्यतिरेक नहीं मिलेगा, क्योंकि परोक्षभ्रमस्थल पर इदमंश का अभाव होने पर भी रजत का परोक्षभ्रम होता है। अतः इदमंश को रजत का उपादानकारण नहीं माना जा सकता है।] अतः शुक्ति अज्ञान को ही रजत का उपादान कारण मानना उचित ही है, क्योंकि शुक्ति अज्ञान के उपादानत्व की कल्पना अन्वयव्यतिरेक से युक्त होने के कारण अभ्यर्हित (श्रेष्ठ) है, जबकि शुक्ति अज्ञान से अन्य इदमंशादि के उपादानत्व की कल्पना अन्वयव्यतिरेक से रहित होने के कारण असिद्ध (अनुचित) है। दूसरी बात यह भी है कि शुक्ति का ज्ञान शुक्ति के अज्ञान को नाश करता हुआ रजत को भी नष्ट करता है। शुक्ति अज्ञान के नाश से रजत का नाश अज्ञान को रजत का उपादान माने विना घट नहीं सकता है, क्योंकि यह नियम है कि कार्य नाश उपादान कारणनाशपूर्वक ही होता है। उपादानकारण से भिन्न निमित्तकारण नाशपूर्वक कार्य का नाश नहीं माना जाता है, क्योंकि निमित्तकारण कुलालादि के रहने पर भी घटादि कार्य का नाश हो जाता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि उपादेयभूत रजत में अज्ञान का अनुवेध न होने के कारण अज्ञान को रजत का उपादान कारण नहीं माना जा सकता है—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि उपादेय में उपादान का अनुवेध होता है— ऐसा नियम माना नहीं जा सकता है, क्योंकि घट का रूप उपादेय है और उसका उपादान घट है किन्तु ''रूपं घटः'' इस प्रकार उपादेय में उपादान के अनुवेध की प्रतीति अनुभव में नहीं आती है। इसी प्रकार कपाल उपादान है और घट उपादेय है किन्तु ''कपालं घटः'' इस प्रकार उपादेय में उपादान के अनुवेध की प्रतीति नहीं होती है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त स्थलों पर घटत्वादि के रूप से उपादान का अनुवेध न होने पर भी जड़त्वादि के रूप से उपादान का अनुवेध होता है। अर्थात् ''जड़ं रूपम्'' ''जड़ो घटः'' इस प्रकार जड़तादि के रूप में उपादान का अनुवेध होता है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि प्रकृत में भी अज्ञानत्वेन अज्ञान का अनुवेध न होने पर भी ''जड़ं रजतम्'' इस प्रकार जड़त्वेन अज्ञान का अनुवेध माना जा सकता है। इदमंश के ज्ञान से पहले इदमंश का अज्ञान था। अतः इदमंश अज्ञान का अवच्छेदक है। अतः ''इदं रजतम्'' इस प्रकार से इदमंशानुविद्धतया रजत की जो प्रतीति होती है, वही अज्ञानानुविद्धतया रजत की प्रतीति होती है, क्योंकि जहां अवच्छेदक इदमंश है, वहां उस अवच्छेदक से अवच्छिन्न अज्ञान रहेगा ही। [पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि रजतार्थी की अङ्गुली निर्देशपूर्वक इदमंश को उठाने के लिए ही प्रवृत्ति होती है, अतः रजत का कारण इदमंश को ही मानना चाहिए, न कि अज्ञान को। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] कार्य और कारण में अभेद होता है। अतः कार्य (रजत) और कारण (इदमंशावच्छिन्नाज्ञान) अभिन्न होने के कारण रजतार्थी की अङ्गुली निर्देशपूर्वक इदमंश को लेने के लिए प्रवृत्ति की भी उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि जो व्यक्ति इदमंश को लेने जा रहा है, उसका अर्थ यह किया ही जा सकता है कि वह

कार्यकारणयोरभेदादङ्गुलिनिर्देशादिकमप्युपपद्यते।।६।।

न च परोक्षज्ञानस्याप्यज्ञाननाशकतया श्वैत्यानुमित्या अज्ञाने नाशिते पीतभ्रमानुदयः स्यात्, उपादानाभावादिति वाच्यम्, विषयगताज्ञानस्य परोक्षवृत्त्याऽनाशात्। न च—अपरोक्षवृत्तेर—ज्ञाननाशकतायामपि 'घटोऽयम्'इति साक्षात्कृते पटोऽयमिति वाक्याभासाद् भ्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गः। न ह्यत्र वह्निना सिञ्चतीत्यत्रेवान्वयविरोध्युपस्थितिरस्ति, येनेष्टापत्तिरवकाशमासादयेदिति वाच्यम्, यदा हि घटत्वं पटत्वविरुद्धतयाऽवगतं, तदा हि तद्दर्शनं विरोधिदर्शनमेवेति कथं नेष्टापत्त्यवकाशः? यदा घटत्वस्य पटत्वविरुद्धतया न ज्ञानं, तदा घटत्वज्ञानेन तदज्ञाननाशेऽपि पटत्वविरुद्धतया अज्ञातविशेषाज्ञानस्य सत्त्वात्तदुपादानक एव भ्रम इति न काप्यनुपपत्तिः।।७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्यक्ति इदमंशावच्छिन्नचैतन्याज्ञान रूप कारण से अभिन्न रजतरूपकार्य को लेने जा रहा है।।६।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अज्ञान को रजत का उपादान कारण मानने पर, ज्ञान अज्ञान का नाशक होता है। अतः परोक्षज्ञान भी अज्ञान का नाशक होगा। इसलिए ''अयं शङ्खः श्वेतः, शङ्खत्वात्, शङ्खान्तरवत्।'' इस श्वैत्य अनुमान से अर्थात् श्वैत्य के परोक्षज्ञान से शङ्ख के श्वैत्य के अज्ञान के नाशित होने पर पीतरोगी को शङ्ख में पीतभ्रम का उदय नहीं होगा,क्योंकि पीतभ्रम का उपादान कारण (श्वैत्य का अज्ञान) का अभाव है।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि परोक्षज्ञान से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में रहने वाला असत्त्वापादक अज्ञान का नाश होने पर भी विषयावच्छिन्नचैतन्य में रहने वाला अभानापादक अज्ञान का नाश नहीं होता है, क्योंकि अभानापादक अज्ञान का नाश अपरोक्षज्ञान से होता है। अतः पीतभ्रम का उपादानकारण (श्वैत्य का अभानापादक अज्ञान) के रहने से पीतभ्रम का उदय होगा।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्त प्रकार से अपरोक्षज्ञान विषयावच्छिन्न चैतन्य में रहने वाले अभानापादक अज्ञान का नाशक है—ऐसा मानने पर भी, ''घटोऽयम्'' इस प्रकार से जहां घट का अपरोक्षज्ञान हुआ, वहां पर घटावच्छिन्नचैतन्य में रहने वाले अभानापादक अज्ञान का नाश हो गया। ऐसे स्थल पर ''पटोऽयम्'' इस वाक्याभास से घट में पटभ्रम की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि ऐसे स्थल पर पट भ्रम का उपादान कारण घटावच्छिन्नचैतन्य में रहने वाला अभानापादक अज्ञान पहले ही नष्ट हो चुका है। इस पर सिद्धान्ती इष्टापत्ति नहीं दे सकते हैं, क्योंकि '' वह्निना सिञ्चति'' के जैसे यहां पर अन्वय विरोधी अयोग्यता ज्ञान नहीं है। अतः यहां भ्रम होना चाहिए, किन्तु सिद्धान्ती के कथनानुसार भ्रम नहीं होगा।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि जब घटत्व पटत्वविरुद्धतया अवगत है। अर्थात् पटत्वाभाव व्याप्यतया घटत्व का अवगम है। अर्थात् '' यत्र यत्र घटत्वं तत्र तत्र पटत्वाभावः'' ऐसा अवगम है, तब घट का दर्शन जहां है, वहां पर पट भ्रम का विरोधी पटाभाव का दर्शन होगा। अतः वहां पर पट भ्रम के न होने में इष्टापत्ति देना उचित ही है। यदि कहो कि पटत्वाभाव व्याप्यतया घटत्व का अवगम नहीं है। तब घटत्व के ज्ञान से घटत्व का अज्ञान नाश होने पर भी पटत्वाभाव व्याप्यतया अज्ञात जो घटत्व रूप विशेष का अज्ञान रह जाने से, उस घट विशेष का अज्ञान है, उपादानकारण जिसका ऐसा पटभ्रम हो ही जायेगा। अतः सिद्धान्ती के पूर्वोक्त कथन में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं दिखायी जा सकती है।।७।।

न च साक्षिवेद्याज्ञानसुखादौ ज्ञानाभावत्वदुःखाभावत्वारोपौ न स्याताम्, अज्ञानरूपोपादाना– भावादिति वाच्यम्, दुःखाभावभिन्नत्वेन ज्ञानाभावभिन्नत्वेन दुःखत्वविरुद्धधर्मवत्तयाऽज्ञानत्व– विरुद्धधर्मवत्तया वा अधिष्ठानज्ञानं भ्रमनिवर्त्तकम्। तच्च विरोधभेदादि न साक्षिगम्यम्, किन्त्वनुप– लब्धिगम्यम्। तथा च तदज्ञानमेव भ्रमोपादानम्। न च परोक्षाध्यासो न परोक्षज्ञानेन निवर्तेत,

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि साक्षिवेद्य अज्ञान तथा सुखादि हैं। उन साक्षिवेद्य अज्ञान और सुखादि में ज्ञानाभावत्व और दुःखाभावत्व का भ्रम नहीं होगा, क्योंकि साक्षिवेद्य अज्ञान तथा सुखादि का अज्ञान होता नहीं। अतः अज्ञानरूप उपादानकारण न रहने के कारण साक्षिवेद्य अज्ञानादि में ज्ञानाभावत्वादि का भ्रम नहीं होगा। [कहने का भाव यह है कि नैयायिकादि अज्ञान को ज्ञानाभाव रूप मानते हैं और सुषुप्तिकालीन सुख को दुःखाभाव रूप मानते हैं। सिद्धान्ती की दृष्टि से यह दोनों ही भ्रम हैं। इस भ्रम की सिद्धि के लिए पहले अज्ञान का अज्ञान और सुख का अज्ञान हो, तब जाकर के अज्ञान में ज्ञानाभाव का भ्रम और सुख में दुःखाभाव का भ्रम होगा। किन्तु अज्ञान का अज्ञान और सुख का अज्ञान होता ही नहीं, क्योंकि साक्षिवेद्य पदार्थों का अज्ञात सत्त्व सिद्धान्ती नहीं मानते हैं।]

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा कथित उक्त स्थलों में दुःखाभावभिन्नत्वेन और ज्ञानाभावभिन्नत्वेन अधिष्ठानज्ञान भ्रम का निवर्तक है। अथवा दुःखत्व विरुद्ध धर्मवत्तया और अज्ञानत्व विरुद्ध धर्मवत्तया अधिष्ठानज्ञान भ्रम का निवर्तक है किन्तु उनके घटक विरुद्धत्व और भिन्नत्वादि साक्षिवेद्य नहीं है अपितु अनुपलब्धि गम्य हैं। इस प्रकार विरुद्धत्व तथा भिन्नत्वादि का जो अज्ञान है वही अज्ञान में ज्ञानाभाव, सुषुप्तिकालीन सुख में दुःखाभाव भ्रम का हेतु हो जायेगा। [कहने का भाव यह है कि साक्षी के द्वारा अज्ञानत्वेन अज्ञान ज्ञात होने के कारण अज्ञान का अज्ञान नहीं रहता है किन्तु साक्षी के द्वारा ज्ञानाभावभिन्नत्वेन अज्ञान अथवा ज्ञानाभावत्वविरुद्ध ध ार्मवत्त्वेन अज्ञान ज्ञात नहीं है, क्योंकि ''ज्ञानाभावभिन्नत्वेन अज्ञान'' का घटक ''ज्ञानाभावभिन्नत्व'' अनुपलब्धि गम्य है। इसी प्रकार ''ज्ञानाभावत्वविरुद्धत्वेन अज्ञान'' का घटक ''ज्ञानाभावत्वविरुद्धत्व'' अनुपलब्धि गम्य है। अतः साक्षी के द्वारा ज्ञानाभावभिन्नत्वेन अज्ञान अथवा ज्ञानाभावविरुद्धत्वेन अज्ञान का ज्ञान न होने से इनका अज्ञान रहेगा। इसी अज्ञानरूप उपादान के बल पर अज्ञान में ज्ञानाभाव का भ्रम हो जायेगा। इसी प्रकार साक्षी के द्वारा सुखत्वेन सुख ज्ञात होने के कारण सुख का अज्ञान नहीं रहता है किन्तु साक्षी के द्वारा दुःखाभावभिन्नत्वेन सुख अथवा दुःखाभावत्वविरुद्धधर्मवत्त्वेन सुख ज्ञात नहीं है, क्योंकि ''दुःखाभावभिन्नत्वेन सुख'' का घटक ''दुःखाभावभिन्नत्व'' अनुपलब्धि गम्य है। इसी प्रकार ''दुःखाभावत्वविरुद्धत्वेन सुख'' का घटक ''दुःखाभावत्वविरुद्धत्व'' अनुपलब्धि गम्य है। अतः साक्षी के द्वारा दुःखाभावभिन्नत्वेन सुख अथवा दुःखाभावत्वविरुद्धत्वेन सुख का ज्ञान न होने से इनका अज्ञान रहेगा। इसी अज्ञानरूप उपादानकारण के बल पर सुख में दुःखाभाव का भ्रम हो जायेगा। इस पर प्रश्न होता है कि ऐसे भ्रम की निवृत्ति कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि उक्त स्थलों पर जब अनुपलब्धि प्रमाण की सहायता से ज्ञानाभावभिन्नत्वेन अज्ञान या ज्ञानाभावत्वविरुद्धधर्मत्वेन अज्ञान का ज्ञान हो जायेगा। तब अज्ञान में दुःखाभाव भ्रम की निवृत्ति हो जायेगी। इसी प्रकार जब अनुपलब्धि प्रमाण की सहायता से दुःखाभावभिन्नत्वेन सुख या दुःखाभावत्वविरुद्धधर्मवत्त्वेन सुख का ज्ञान हो जायेगा, तब सुख में दुःखाभावभ्रम की निवृत्ति हो जायेगी। मूलस्थ ''दुःखत्वविरुद्धधर्मवत्तया'' के घटक ''दुःखत्व'' का अर्थ दुःखत्व से घटित दुःखाभावत्व लेना है। इसी प्रकार ''अज्ञानत्वविरुद्धधर्मवत्तया'' के घटक ''अज्ञानत्व'' का अर्थ अज्ञानत्व से घटित ज्ञानाभावत्व लेना है।

तस्याज्ञानानिवर्तकत्वादिति वाच्यम्, परोक्षाध्यासे हि प्रमातृगताज्ञानमेवोपादानम्। तच्च परोक्षज्ञानेनापि निवर्तत इत्युक्तत्वात्॥८॥

न च रूप्यं दृष्ट्वाऽधिष्ठानतत्त्वज्ञानं विना निवृत्तस्य पुंसोऽज्ञाननिवृत्त्यभावेन रूप्यतज्ज्ञानयोरविद्यापरिणामयोरनिवृत्त्या रूप्यधीसामग्रीसद्भावेन तद्धीर्दुर्वारैवेति वाच्यम्,रूप्यं तद्धीश्च उत्पन्ने तावदुदीच्यज्ञानेन उपादाने विलीयते। उपादानस्य निवृत्तिः परं न भवति; अधिष्ठानतत्त्वज्ञानाभावात्। रूप्यबुद्ध्यन्तरोत्पत्तिस्तु इदमाकारन्तःकरणवृत्तिसद्भावेनानुत्पन्नाधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारस्य भवत्येव। तदभावे तद्विलम्बादेव विलम्ब इति न काप्यनुपपत्तिः। तथा च सर्वप्रत्ययानां स्वगोचरशूरत्वात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थात् दुःखत्वविरुद्धधर्मवत्तया= दुःखाभावत्व विरुद्धधर्मवत्तया। अज्ञानत्वविरुद्धधर्मवत्तया= ज्ञानाभावत्वविरुद्धधर्मवत्तया।]

शङ्का— यदि अपरोक्षज्ञान को ही भ्रम के उपादान कारण अज्ञान और अज्ञान प्रयुक्त भ्रम का निवर्तक माना जाता है तब तो परोक्षज्ञान से परोक्षभ्रम के उपादानकारण अज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त भ्रम की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि परोक्षज्ञान अज्ञान और अज्ञान प्रयुक्त भ्रम का निवर्तक होता है—ऐसा सिद्धान्ती नहीं मान रहे हैं।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में परोक्षभ्रम का प्रमातृगत अज्ञान (अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य में रहने वाला असत्त्वापादक अज्ञान) ही उपादान कारण होता है। उसी के द्वारा परोक्षभ्रम होता है, जब परोक्षज्ञान होता है, तब प्रमातृगत अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से परोक्ष भ्रम भी निवृत्त हो जाता है। इसे खण्ड संख्या ७ में स्पष्ट किया जा चुका है॥८॥

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि किसी वैराग्यवान् पुरुष को शुक्ति में रजत का भ्रम हुआ, किन्तु वह रजत को देखकर अधिष्ठान तत्त्व ज्ञान के विना ही निवृत्त हो गया। अतः उसके अज्ञान की निवृत्ति न होने से अविद्या के परिणामभूत रजत और रजत के ज्ञान की भी निवृत्ति नहीं होगी। अतः रजत और रजतज्ञान की सामग्री (शुक्ति का अज्ञानादि) के सद्भाव के कारण रजतज्ञान बना रहना चाहिए।

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि रजत और रजत का भ्रम ज्ञान जो कि शुक्ति के अज्ञान के द्वारा उत्पन्न हुए थे। वे दोनों (रजत और रजत का भ्रमज्ञान) उत्तरभावी घटादि ज्ञान के द्वारा अपने उपादान कारण (शुक्ति के अज्ञान) में विलीन हो जाते हैं। केवल उनके उपादानभूत शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान (शुक्ति का ज्ञान) उत्पन्न नहीं हुआ था। अतः शुक्त्यज्ञान के रहने से ही रजतान्तर और रजतज्ञानान्तर की उत्पत्ति उस वैराग्यवान् व्यक्ति में मानी जाती है, जिसमें इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति का सद्भाव और अधिष्ठानतत्त्व साक्षात्कार का असद्भाव होता है। यदि वैराग्यवान् व्यक्ति शुक्ति की ओर देखता ही नहीं है, तब इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति का अभाव होने पर उक्त वृत्यादि रूप सामग्री के विलम्ब होने के कारण ही रजतान्तर और रजतभ्रमज्ञानान्तर रूप कार्य की उत्पत्ति में भी विलम्ब हो जाता है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है। फलतः सभी प्रत्यय स्वविषय के व्यवस्थापकत्व में दक्ष होते हैं। अतः ''इदं रजतम्'' यह भ्रमज्ञान भी स्वप्रतीति काल में अपने विषय रजत की विद्यमानता को सिद्ध करता है।

शङ्का— एवम्=सभी प्रत्यय स्वविषय के व्यवस्थापकत्व में दक्ष होते हैं। इसलिए ''इदं रजतम्''

प्रतीतिकाले रजतस्य विद्यमानता सिद्धा। न चैवं तात्त्विकत्वमपि सिध्येत्, तस्यापि प्रातीतिकत्वादिति वाच्यम्, अपरोक्षप्रतीत्या तावत् त्रिकालाबाध्यत्वरूपं तात्त्विकत्वं विषयीकर्तुं न शक्यत इत्युक्तत्वात्। परोक्षप्रतीत्या विषयीकृतमपि तात्त्विकत्वं प्रातीतिकमेव, कालान्तरबाधेन पुनरतात्त्विकत्वस्य सम्भवात्।।९।।

इत्याविद्यकरजतोत्पत्त्युपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस प्रत्यय के बल पर अनिर्वचनीयरजत की सिद्धि होती है—ऐसा मानने पर, ''इदं रजतं सत्'' इस प्रतीति के बल पर रजत में तात्त्विकत्व भी मानना चाहिए, क्योंकि रजतगत तात्त्विकत्व भी ''इदं रजतं सत्'' इस प्रतीति से सिद्ध है।

समाधान – पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''इदं रजतं सत्'' इस अपरोक्षभ्रम ज्ञान के द्वारा त्रिकालाबाध्यत्वरूपतात्त्विकत्व का भान मान रहे हो? अथवा प्रातिभासिक तात्त्विकत्व का? प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि उक्त अपरोक्ष भ्रमज्ञान के द्वारा त्रिकालाबाध्यत्वरूप तात्त्विकत्व का भान नहीं हो सकता है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्व का घटक जो त्रिकाल है। वह प्रत्यक्ष के योग्य नहीं है। इसको प्रत्यक्षयोग्यसत्त्वविचार के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है। यदि अनुमान (शुक्तिरजतं तात्त्विकम्, उत्पत्तिकत्वात्, घटवत्) के द्वारा उक्त भ्रमज्ञान के विषय में तात्त्विकत्व सिद्ध किया जाता है तो भी वह तात्त्विकत्व प्रातिभासिक ही होगा, क्योंकि उक्त अनुमान का कालान्तर में चल कर बाध हो जाने पर अतात्त्विकत्व ही सिद्ध होता है।।९।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामाविद्यकरजतोत्पत्त्युपपत्तिः।।

२१— भ्रमस्य ज्ञानद्वयात्मकत्वविचारः

तस्मादधिष्ठानांशे अन्तःकरणवृत्तिः, अध्यस्तांशे चाविद्यावृत्तिः, तस्यां च तादात्म्यस्य भानात् नाख्यातिमतप्रवेशः। ननु—एवमिदमशंस्याप्यध्यस्तत्वेन इदमिति द्व्यात्मकम्, इदं रूप्यमिति च त्र्यात्मकम्, स्वप्ने इदं रूप्यमिति ज्ञानं चतुरात्मकं च स्यादिति चेन्न, इदन्त्वस्याध्यस्तत्वेऽपि नेदमिति द्व्यात्मकम्, इदन्त्वाद्यधिष्ठानस्य स्वप्रकाशत्वात्। न हि वयं सर्वत्राध्यासे द्व्यात्यकतां ब्रूमः, अपि—त्वन्तःकरणवृत्तिसव्यपेक्षाधिष्ठानप्रकाशे। अत एव नेदं रूप्यमिति त्र्यात्मकम्, स्वप्ने तु चतुरात्मकत्वशङ्का

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वोक्त प्रकार से भ्रमस्थल पर आविद्यक रजतादि की उपपत्ति हो जाने से ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रमस्थल पर शुक्त्यादि अधिष्ठान अंश में इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति और रजतादि अध्यस्त अंश में रजताकार अविद्या वृत्ति सिद्धान्तमत में मानी जाती है। शुक्त्यादि अधिष्ठान अंश को विषय करने वाली इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति में रजताकार अविद्यावृत्ति का तादात्म्य (अभेद) का भान होता है। अतः प्रभाकर सम्मत अख्याति मत में प्रवेश की आपत्ति नहीं होगी। [अर्थात् अख्यातिमत में ''इदं रजतम्'' इस स्थल पर इदम् का प्रत्यक्ष ज्ञान और रजत का स्मृतिज्ञान माना जाता है और सिद्धान्तमत में दो वृत्ति मानी जा रही है। इसलिए अख्याति मत में प्रवेश की शङ्का हो रही थी किन्तु अख्यातिमत में प्रवेश की आशङ्का नहीं होगी, क्योंकि अख्याति मत में दो ज्ञानों के तादात्म्य (अभेद) का भान नहीं माना जाता है, क्योंकि अख्यातिवादी यदि अभेद का भान मानेंगे तो उनको भ्रमज्ञान मानना पड़ेगा, जबकि वह भ्रमज्ञान मानता नहीं है। सिद्धान्त मत में ''इदं रजतम्'' इस स्थल पर दो ज्ञानों की पृथक्—पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती है अपितु एक विशिष्टात्मक भ्रमज्ञान माना जाता है।]

शङ्का— एवम्= अध्यस्त का जो अधिष्ठान तद्विषयक जो मनोवृत्ति उस मनोवृत्ति की अपेक्षा अध्यस्त को होती है—ऐसा मानने पर। इदमंशस्य=इदन्त्व के भी संस्पृष्ट रूप से अध्यस्तत्व होने से ''इदम्'' यह द्वयात्मक होगा और ''इदं रजतम्'' यह ज्ञान त्रयात्मक होगा। [कहने का भाव यह है कि जैसे इदम् (अधिष्ठान) में रजत अध्यस्त है। उसके लिए सिद्धान्ती जैसे इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति मान रहे हैं, वैसे ही रजत में इदन्त्व का आरोप होने के कारण इदन्त्व का अधिष्ठान जो रजत (रजतावच्छिन्नचैतन्य), उस रजत के आकार की भी मनोवृत्ति माननी पड़ेगी। इस प्रकार प्रथम इदमाकार मनोवृत्ति और द्वितीय इदन्त्वाधिष्ठान (रजत) के आकार की मनोवृत्ति तथा तृतीय रजताकार अविद्यावृत्ति। इस प्रकार ''इदं रजतम्'' यह वृत्ति त्रयात्मक हो गया। (वस्तुतः पूर्वपक्षी को यहां वृत्ति चतुरात्मक कहना चाहिए था, क्योंकि इदन्त्व को रजत में जब अध्यस्त माना जा रहा है तब इदन्त्वाकार अविद्यावृत्ति भी माननी पड़ेगी। ऐसा होने पर उक्त तीन वृत्ति और इदन्त्वाकार की अविद्यावृत्ति मिलकर चार वृत्तियां हो जायेगी।)] जब स्वप्न में ''इदं रजतम्'' यह भ्रम होगा, तब ''इदं रजतम्'' यह वृत्ति चतुरात्मक मानना पड़ेगी, क्योंकि उक्त तीनों वृत्तियों से पृथक् कथित तीनों विषयों की एक स्वाप्न वृत्ति अधिक माननी पड़ेगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि रजतावच्छिन्न चैतन्य में इदन्त्व के अध्यस्त होने पर भी ''इदम्'' यह द्वयात्मक नहीं है। अर्थात् इदमाकारान्तःकरण की वृत्ति और इदन्त्वाधिष्ठानाकारान्तःकरण की वृत्ति—इस प्रकार दो वृत्ति के मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इदन्त्वाधिष्ठान (रजतावच्छिन्नचित्) के आकार की मनोवृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें हेतु देते हुए कह रहे हैं कि इदन्त्व का अधिष्ठान रजतावच्छिन्नचैतन्य स्वयंप्रकाश है।

सर्वथाऽनुपपन्ना, इदंरूप्ययोरप्यध्यसनीयत्वाद्, अविद्यावच्छिन्नचैतन्यरूपाधिष्ठानस्य स्वप्रकाशत्वात्। न च रूप्यज्ञानस्याचाक्षुषत्वे 'रूप्यं पश्यामि'इति चाक्षुषत्वानुभवविरोधः, चाक्षुषेदं वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्थाविद्यापरिणामत्वेन चाक्षुषत्वोपचाराद्, अनुभवत्वमात्रानुभव एव 'आत्मनं पश्यामि'इत्युल्लेखदर्शनाच्च।।१।।

ननु रूप्यज्ञानस्याविद्यावृत्तित्वेन प्रातिभासिकतया प्रतिभासावश्यंभावेनाध्यस्तविषयज्ञानस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः इदन्त्वाधिष्ठानाकार मनोवृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् इदन्त्व के अधिष्ठान (रजतावच्छिन्नचैतन्य) के आकार की मनोवृत्ति की अपेक्षा रखकर इदन्त के अधिष्ठान (रजतावच्छिन्नचैतन्य) का प्रकाश नहीं होता है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है। अतः इदन्त्वाधिष्ठानाकार मनोवृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। हम लोग सर्वत्र अध्यास में मनोवृत्ति का विषय अधिष्ठान और अविद्यावृत्ति का विषय आरोप है। इस प्रकार अध्यस्त में वृत्तिद्वयात्मकता नहीं मानते हैं, किन्तु जिस भ्रमस्थल पर अन्तःकरण की वृत्ति की अपेक्षा रखकर अधिष्ठान का प्रकाश होगा, उसी भ्रम में उक्तविधवृत्तिद्वयात्मकता को मानते हैं। अत एव= इदम् और रजतावच्छिन्नचैतन्य की दो मनोवृत्ति न मानने से ही, ''इदं रजतम्'' इस भ्रमज्ञान को वृत्ति त्रयात्मक नहीं माना जाता है और स्वप्न में तो चतुरात्मकत्व की शङ्का सर्वथा ही अनुपपन्न है, क्योंकि स्वप्न में इदम् और रजत दोनों ही अध्यस्त होते हैं और अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप अधिष्ठान स्वप्रकाश होता है। [अर्थात् स्वप्न में जिस स्थल पर शुक्ति को देखकर यह ज्ञान हुआ कि यह रजत है। ऐसे स्थल पर शुक्ति और रजतविषयक दो अविद्यावृत्ति बनती है और एक अधिष्ठानाकार अविद्यावृत्ति बनती है। इस प्रकार तीन अविद्यावृत्ति बनती है और जिस स्थल पर स्वप्न में इदम् और रजत दोनों का अध्यास एक साथ होता है, वहां उन दोनों को विषय करने वाली एक ही वृत्ति होगी और अविद्यावच्छिन्न चैतन्यरूप अधिष्ठान को विषय करने वाली दूसरी अविद्या वृत्ति होगी। इस प्रकार दो वृत्ति बनेगी। अर्थात् स्वप्न में ''इदं रजतम्'' इस स्थल पर चार वृत्ति कहीं बनती ही नहीं है।]

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि साक्षिचैतन्य रजताकाराविद्यावृत्ति के माध्यम से रजत को प्रकाशित करता है–सिद्धान्ती के द्वारा ऐसा मानने पर रजतज्ञान में अचाश्रुषत्व मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर ''रजतं पश्यामि'' इस अनुभव से विरोध होगा।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु से इदम् के सन्निकर्ष से जन्य जो इदमाकार वृत्ति, उस वृत्ति से अवच्छिन्न (अभिव्यक्त) जो इदमवच्छिन्न चैतन्य, उस चैतन्य के आश्रित शुक्ति की अविद्या, उसका परिणाम रजताकाराविद्यावृत्ति है। इस कारण से रजत में चाक्षुषत्व का उपचार हो जाता है। पूर्वपक्षी ने कहा था कि ''रजतं पश्यामि'' के ''पश्यामि'' पद से चाक्षुषत्व का अनुभव होता है– उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''पश्यामि'' पद से केवल अनुभवत्व का ही अनुभव होता है न कि चाक्षुषत्व रूप अनुभवत्व का, क्योंकि ''आत्मानं पश्यामि'' इस स्थल पर अचाश्रुष पदार्थ आत्मा में चाक्षुषत्वरूप अनुभवत्व न रहने पर भी ''पश्यामि'' पद का प्रयोग होता है। यहां ''पश्यामि'' पद के द्वारा केवल अनुभवत्व का ही अनुभव होता है। अतः रजत को साक्षिभास्य मानने पर ''रजतं पश्यामि'' इस अनुभव से विरोध नहीं होता है।।१।।

शङ्का– [पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे रजत अध्यस्त होने के कारण रजत के प्रकाश के लिए रजताकार अविद्यावृत्ति मानकर उस अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित साक्षिचैतन्य के द्वारा रजत का प्रकाश होता है–ऐसा सिद्धान्ती मानते हैं, उसी प्रकार सिद्धान्ती] रजतज्ञान को अविद्यावृत्तिरूप

चाध्यस्तत्वनियमेनाविद्यावृत्तेरपि अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यवेद्यत्वम्, एवं तस्यापि तस्यापीत्यनवस्थितिरिति चेत्, सत्यमेतत्। न पुनरनवस्था, अविद्यावृत्तिप्रतिभासके चैतन्ये अविद्यावृत्तेः स्वत एव उपाधित्वेन वृत्त्यन्तरानपेक्षत्वात्। ननु—अज्ञानस्य रूप्याकारज्ञानात्मना परिणामे रूप्यमिति प्रतीतेर्ज्ञानगताकारेणैवोपपत्तावतीतविषयकज्ञानन्यायेन वोपपत्तौ रूप्यरूपाविद्यापरिणामकल्पना न युक्तेति चेन्न, ज्ञानाकारेणैव सविषयकत्वे साकारवादप्रसङ्गात्। अतीतविषयवदुपपादनेऽपि अपरोक्षत्वानुपपत्तेरुक्तत्वात्।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

और प्रातिभासिक मानते हैं। अतः रजतविषयक अविद्यावृत्ति के प्रातिभासिक होने से अविद्यावृत्तिविषयक भी ज्ञान आवश्यक है और प्रातिभासिक वस्तुविषयक ज्ञान भी नियमतः अध्यस्त होता है। इसलिए रजताकाराविद्यावृत्ति भी अध्यस्त होने के कारण उस वृत्ति के आकार की दूसरी वृत्ति मानकर उसमें प्रतिबिम्बित साक्षिचैतन्य के द्वारा प्रथम अविद्यावृत्ति का प्रकाश मानना होगा। इस प्रकार से अध्यस्तीभूताविद्यावृत्तियों के प्रकाश के लिए उत्तरोत्तर अविद्यावृत्तियों की कल्पना करने पर अनवस्था होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अविद्यावृत्ति अध्यस्त होने के कारण अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित साक्षिचैतन्य के द्वारा अविद्यावृत्ति का प्रकाश होता है—इतने अंश में पूर्वपक्षी का कथन ठीक ही है, किन्तु अनवस्था नहीं है,क्योंकि रजत के प्रकाश के लिए जो रजताकाराविद्यावृत्ति मानी गयी है, उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित जो साक्षिचैतन्य, उस साक्षिचैतन्य के द्वारा रजत के प्रकाश के साथ—साथ अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य (साक्षी) की उपाधि (रजताकाराविद्यावृत्ति) का भी प्रकाश हो जाता है। रजताकाराविद्या के प्रकाश के लिए उस वृत्ति के आकार की दूसरी अविद्यावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः अनवस्था दोष नहीं होगा।

शङ्का— [पूर्वपक्षी का कथन है कि अज्ञान का रजताकार परिणाम मानने की आवश्यकता नहीं है, अपितु] अज्ञान का रजताकार ज्ञान के रूप में परिणाम मानने पर भी ''रजतम्'' इस प्रकार की प्रतीति ज्ञानगत आकार से ही उपपन्न हो जायेगी, अर्थात् ज्ञान के आकार से ही ज्ञानगत सविषयकत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अथवा जैसे अतीत घटादि विषय के वर्तमान में न रहने पर भी ''सः घटः'' इस प्रकार की स्मृत्यात्मक प्रतीति की उपपत्ति हो जाती है। वैसे ही भ्रम स्थल पर अविद्या के परिणाम के रूप से रजत के न रहने पर भी अविद्या के रजताकार ज्ञान के परिणाम से ही ''रजतम्'' इस प्रत्यय की उपपत्ति हो जायेगी। अतः रजतरूप से अविद्या के परिणाम की कल्पना व्यर्थ है। अर्थात् भ्रमस्थल पर ज्ञानाध्यास से ही सभी व्यवहारों की उपपत्ति हो जायेगी। अतः भ्रमस्थल पर अर्थाध्यास मानना व्यर्थ है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ज्ञान के आकार से ही ज्ञानगत सविषयकत्व मानने पर बौद्ध (विज्ञानवादी योगाचार) अभिमत साकारवाद के मानने की आपत्ति होगी। इस प्रकार प्रथम पक्ष का खण्डन हो गया। द्वितीय पक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अतीत विषयक ज्ञान के समान भ्रम स्थलीय रजतज्ञान का विषय (रजत) की उपस्थिति के विना ही उपपत्ति हो जाती है—ऐसा मानने पर रजतज्ञान में अपरोक्षत्व की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। अर्थात् भ्रमस्थल पर अर्थाध्यास न मानने पर ''रजतं पश्यामि'' इत्यादि रूप प्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। इसका निरूपण किया जा चुका है।।२।।

न च दोषाणां स्वाश्रय एवातिशयहेतुत्वेन चक्षुर्गतदोषजन्यो भ्रमः कथमचाक्षुषः स्यात्? अन्यथा त्वचा गृहीते शङ्खे चक्षुषा गृहीते रूप्यसादृश्ये च निमीलितचक्षुषोऽपि पीतभ्रमरूप्यभ्रमयोरापत्तेरिति वाच्यम्, दोषाणां स्वाश्रय एवातिशयजनकत्वमित्यस्यैवासिद्धेः नियामकाभावात्। न चोक्तातिप्रसङ्गो नियामकः, स्वसम्बन्धिनि कार्यजनकत्वाङ्गीकारेणानतिप्रसङ्गात्, सम्बन्धश्च स्वाश्रयजन्यज्ञानविषयत्वरूपः। स च न तदेति संस्कारविषयग्राहीन्द्रियजन्याधिष्ठानज्ञानस्यापरोक्षभ्रमहेतुत्वात् त्वचा गृहीते तदभावात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि नेत्रस्थ काच—कामलादि दोष स्वाश्रयजन्य अर्थात् स्व= काचकामलादि दोष, उसका आश्रय= चक्षु, उससे जन्य= ज्ञान में ही अतिशय (भ्रमत्व) के हेतु होते हैं। अतः नेत्रस्थ काच—कामलादि दोष से जन्य भ्रम को अचाक्षुष नहीं माना जा सकता है। अन्यथा= स्वाश्रयजन्य से भिन्न में भी दोषों के अतिशय जनकत्व होने पर, त्वगिन्द्रिय से गृहीत जो शङ्ख उस शङ्ख में ''पीतः शङ्खः'' इस प्रकार का भ्रम नेत्र के बन्द होने पर भी होना चाहिए। [अर्थात् नेत्र इन्द्रियगत पीत रोग से जन्य जो पीत भ्रमत्व रूप अतिशय वह उस दोष का अनाश्रय जो त्वगिन्द्रिय उससे जन्य नेत्र बन्द वाले पुरुष को भी जिसको शङ्ख का त्वाचप्रत्यक्ष होता है, उसमें भी पीतभ्रमत्वापत्ति होगी।] इसीप्रकार नेत्र से गृहीत रजत सादृश्य से नेत्र बन्द किये हुए पुरुष को भी ''इदं रजतम्'' इत्याकारक भ्रम की आपत्ति होगी। [अर्थात् देवदत्त को नेत्र से शुक्ति और रजत के सादृश्य का ज्ञान हुआ। यह सादृश्य ज्ञान रजतभ्रम के प्रति दोष है। उक्त सादृश्यज्ञान का जनकता सम्बन्ध से आश्रय चक्षु है। (जैसे चक्षु से ही उक्त सादृश्यज्ञान हुआ है। अतः स्व=सादृश्यज्ञान, उसका जनक=चक्षु । अतः स्वजनकत्व चक्षु में चला जायेगा।) इस प्रकार सादृश्यज्ञानरूप दोष का आश्रय चक्षु हो गया। उस चक्षु से जन्य जो रजतभ्रमत्व रूप अतिशय, वह उस दोष का अनाश्रय जो त्वगिन्द्रिय उससे जन्य नेत्र बन्द किये हुए देवदत्त को त्वगिन्द्रिय से शुक्ति का जो त्वाचप्रत्यक्ष है उसमें भी रजतभ्रमत्वापत्ति होगी।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि दोष सदैव अपने आश्रय से जन्य में ही अतिशय को उत्पन्न करते हैं—ऐसा पूर्वपक्षी का कथन नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसा नियम मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि यदि दोषों को स्वाश्रयजन्य में अतिशय का आधायक नहीं माना जायेगा, तब तो पूर्वोक्त प्रकार से अतिप्रसङ्ग की आपत्ति होगी। अतः उक्त नियम को मानने में उक्त अति प्रसङ्ग ही नियामक है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त अतिप्रसङ्ग का परिहार स्वसम्बन्धी में कार्यजनकत्व को अङ्गीकार करने से ही हो जाता है। यहां सम्बन्ध=स्वाश्रयजन्यज्ञानविशेष्यत्वरूप है। अर्थात् स्व=दोष, उसका आश्रय=इन्द्रिय, उससे जन्य= ज्ञान, उसका जो विशेष्य। उसमें उक्त विशेषत्व रहेगा। अर्थात् काच—कामलादि दोष, अपने आश्रयीभूत नेत्र के द्वारा जन्य ज्ञान के विषय (विशेष्य) शङ्खादि में पीतत्वप्रकारक भ्रमविषयत्वरूप अतिशय का प्रयोजक होता है। स च= पित्ताश्रयनेत्रजन्यज्ञान विशेष्यत्वरूप सम्बन्ध, तदेति= त्वङ्मात्र से शङ्ख ग्रहण काल में नहीं है। अर्थात् त्वगिन्द्रिय से गृहीत शङ्ख काच—कामलादि के आश्रयीभूत नेत्र से जन्यज्ञान का विषय (विशेष्य) नहीं होता है। अतः त्वगिन्द्रिय गृहीत शङ्ख में पीतत्वप्रकारकभ्रमविषयत्वरूप अतिशय नहीं होता है। ''अयं पीतः शङ्खः'' इस भ्रम के प्रति पीतरूप विषयक संस्कार हेतु है। उस पीतरूप विषयक संस्कार का जनक जो अनुभव है। उस अनुभव का जनक जो नेत्र इन्द्रिय है। उस नेत्र इन्द्रिय से जन्य जो अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान (इदमाकार मनोवृत्तिरूपज्ञान) है। वह अपरोक्ष भ्रम के प्रति हेतु होता है। जहां पर नेत्र

सादृश्यं गृहीत्वा चक्षुर्निमीलनस्थले इदंवृत्तिसद्भावे प्रमाणाभावेन नातिप्रसङ्गापादनं शक्यम्। तत्सत्त्वे इष्टापत्तिरेव।।३।।

ननु—एवं वृत्तिभेदे ज्ञानैक्यानुभवविरोधः। न च—अध्यस्तेनाभेदेन विषययोरेकतापन्नत्वात् ज्ञानयोरैक्यमुपचर्यत इति—वाच्यम्, एवमेकत्वप्रतिपादकप्रयोगसमर्थनेऽपि अनुभवविरोधस्यापरिहारा—दिति—चेन्न, विषययोरभेदाध्यासे ज्ञानयोरप्यभेदाध्यास इत्यस्य उपचारशब्दार्थत्वेनानुभवविरोधाभावात्। न च—तर्हि धारावाहिकज्ञानेष्वैक्याध्यासापत्तिः विषयैक्यस्यारोपनिदानस्य सत्त्वादिति—वाच्यम्, आरोपस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

बन्द कर व्यक्ति त्वगिन्द्रिय से शङ्ख को ग्रहण कर रहा है। वहां पर ''अयं पीतः शङ्खः'' इस भ्रम का हेतु भूत संस्कारजनकानुभवजनक इन्द्रिय जन्य अधिष्ठानज्ञान (इदमाकार मनोवृत्तिरूप ज्ञान) नहीं है। अतः नेत्र बन्द किये हुए पुरुष के द्वारा त्वगिन्द्रिय से शङ्ख के ग्रहणकाल में ''अयं पीतः शङ्खः'' इस प्रकार के भ्रम की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। इसी प्रकार शुक्ति और रजत का सादृश्य नेत्र से ग्रहण कर नेत्र बन्द कर त्वगिन्द्रिय से जहां शङ्ख का ग्रहण होता है, वहां ''इदं रजतम्'' इस भ्रम का जनकीभूत इदं वृत्ति= अधिष्ठान का सामान्यज्ञान होने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः ऐसे स्थल पर भी ''इदं रजतम्'' इस प्रकार के भ्रम की आपत्ति नहीं दी जा सकती है। कथञ्चित् उक्त स्थल पर ''इदं रजतम्'' इस भ्रम का जनकीभूत अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान हो जाता है, तब उक्त स्थल पर ''इदं रजतम्'' इस प्रकार का भ्रम मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है।।३।।

शङ्का—पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार ''अयं सर्पः'' इत्यादि भ्रमस्थलों पर इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति और सर्पाकार अविद्यावृत्ति—इस प्रकार पृथक्—पृथक् दो वृत्तियों (ज्ञानों) के मानने पर ''अयं सर्पः इस ज्ञान में जो ऐक्य का अनुभव होता है। उस अनुभव से विरोध होगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि इदमर्थ और सर्प में आध्यासिक तादात्म्य (अभेद) होने के कारण इदमर्थ और सर्प के दोनों ज्ञानों में भी एकता का उपचार हो जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त प्रकार से औपचारिक एकता को लेकर एकत्व—प्रतिपादक शब्द प्रयोग का समर्थन हो जाने पर भी उक्त दोनों ज्ञानों में रहने वाले द्वित्व का निराकरण तो नहीं होता है। अतः ''अयं सर्पः'' इत्यादि स्थल पर होने वाले विशिष्ट विषयक एक ज्ञानरूपता के अनुभव से विरोध होगा।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विषयों में अभेदाध्यास होने पर उनके ज्ञानों में भी अभेदाध्यास हो जाता है—यही उपचार शब्द का अर्थ है। इसलिए किसी प्रकार का अनुभव विरोध नहीं है।

शङ्का— तर्हि= विषयों में अभेदाध्यास को ज्ञानों में अभेदाध्यास के प्रति हेतु मानने पर, समानविषयक धारावाहिक ज्ञानों में भी अभेदाध्यास हो जाना चाहिए, क्योंकि ज्ञानों में अभेदाध्यास का कारण जो विषयों में अभेदाध्यास है, वहां यहां पर विद्यमान है। [अर्थात् ''अयं घटः— अयं घट अयं घटः'' इत्याकारक धारावाहिक स्थल पर क्षणभेद से विषय भिन्न—भिन्न होता है किन्तु अध्यास के कारण सभी विषय एक ही रूप से ज्ञात होता है। अतः धारावाहिक स्थल पर विषयों में अभेदाध्यास है। अतः ज्ञानों में भी अभेदाध्यास मानने की आपत्ति होगी।]

समाधान—उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि नैमित्तिक (ज्ञानों में अभेदाध्यास रूप कार्य) को देखकर उसके निमित्त (विषयों में अभेदाध्यास रूप कारण) की कल्पना की जाती है, किन्तु इसके विपरीत निमित्त के होने पर सर्वत्र नैमित्तिक की कल्पना नहीं की जाती है, क्योकि निमित्त के रहने

कारणानापाद्यत्वात्। न च–विषयैक्यस्य ज्ञानैक्याध्यासनिमित्तत्वं न दृष्टमिति–वाच्यम्, पूर्वोक्तयुक्त्या ज्ञानभेदे सिद्धे अपूर्वकल्पनायामपि दोषाभावात्।।४।।

यद्वा–यथेदमंशावच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वात् रूप्यमिदन्त्वेन भाति, तथेदमाकारान्तः–करणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यगताविद्यापरिणामत्वेन रूप्यज्ञानमिदंज्ञानत्वेन भाति। न च तर्हि बाधकाद्विषययोरिव ज्ञानयोरपि भेदधीसप्रसङ्गः, विषयभेदग्रहज्ञानभेदग्रहयोर्भिन्न सामग्रीकत्वेनापादनस्याशक्यत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर नैमित्तिक हो–यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि निमित्त जिस क्षण में है, उसके द्वितीय क्षण में यदि उसका नाश हो जाता है, तब वह किसी कार्य को उत्पन्न नहीं कर पाता है किन्तु नैमित्तिक के रहने पर निमित्त का होना आवश्यक होता है।

शङ्का–पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती का यह जो कथन है कि विषयों में अभेदाध्यास ज्ञानों में अभेदाध्यास के प्रति हेतु होता है– यह कथन असङ्गत है, क्योंकि धारावाहिक स्थल पर विषयों में अभेदाध्यास होने पर भी ज्ञानों में अभेदाध्यास नहीं देखा गया है।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से ज्ञान में भेद सिद्ध होने पर [अर्थात् भ्रमज्ञान के लिए अधिष्ठान ज्ञान कारण है। अतः रजताकार अविद्यावृत्ति से पहले अधिष्ठान के ज्ञान के रूप में इदमाकार मनोवृत्ति मानना आवश्यक है। इस प्रकार से भ्रमस्थल पर ज्ञान में भेद सिद्ध होने पर] अपूर्व कल्पना में दोष का अभाव है। [अर्थात् विषयैक्याध्यास ज्ञानैक्याध्यास के प्रति निमित्त है–ऐसा यद्यपि अन्यत्र (समानविषयक धारावाहिक स्थल पर) नहीं देखा गया है। तथापि भ्रम स्थल पर विषयैक्याध्यास के बल पर ज्ञानैक्याध्यास की जो अदृष्टचर कल्पना की जाती है, उसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसी कल्पना में प्रमाण है। वह प्रमाण यही है कि पूर्वोक्त युक्ति से ज्ञानों में भेद भी सिद्ध है और ज्ञानों में एकत्व का अनुभव भी सिद्ध है।।४।।

[अब तक कह रहे थे कि इदमवच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली शुक्ति की अविद्या रूप एक ही कारण से ही रजत और रजताकार अविद्यावृत्ति दोनों ही उत्पन्न होते हैं। आगे यह कहा जा रहा है कि इदमवच्छिन्नचैतन्य में रहने वाली शुक्ति की अविद्या से केवल रजत (न कि रजताकार अविद्यावृत्ति) उत्पन्न होता है और इदमाकारवृत्ति अवच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली शुक्ति की वृत्ति की जो अविद्या है, उससे रजताकार वृत्ति उत्पन्न होती है। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] अथवा जैसे इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली शुक्ति की अविद्या का परिणाम होने से रजत का इदम् अभिन्नत्वेन भान होता है, ठीक वैसे ही इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली शुक्ति की वृत्ति की अविद्या का परिणाम होने से रजतज्ञान का इदं ज्ञान से अभिन्नत्वेन भान होता है।

शङ्का– तर्हि= रजत और इदम् में अभिन्नत्वेन भ्रम के साथ–साथ रजतज्ञान का इदम् ज्ञान से अभिन्नत्वेन भ्रम मानने पर बाधक ज्ञान (नेदं रजतम्–इत्याकारक ज्ञान) के द्वारा जैसे विषयगत अभिन्नता का निरास होकर के विषयों (शुक्ति और रजत) में भेद की प्रतीति होने लगती है, ठीक वैसे ही बाधकज्ञान के द्वारा ज्ञानगत अभिन्नता का निरास होकर के ज्ञानों (इदम् ज्ञान और रजत ज्ञान) में भेद की प्रतीति होनी चाहिए जबकि दोनों ज्ञानों में भेद बुद्धि का अनुभव किसी को होता नहीं है।

समाधान–पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विषयभेद ग्रह और ज्ञानभेदग्रह की सामग्री से भिन्न–भिन्न है। अतः विषयभेदग्रह की सामग्री (नेदं रजतम्–इत्याकारक बाध) के द्वारा ज्ञानों में भेदग्रह का आपादन नहीं किया जा सकता है। [अर्थात् विषयभेद ग्रह की

केचित्तु—भ्रमकाले विषयैक्यग्रहनियमवत् न ज्ञानैक्यग्रहनियमः, तं विनापि प्रवृत्याद्युपपत्तेः, तथा च बाधकाले न तदनैक्यग्रहनियमोऽपीति—आहुः।।५।।

न च—इदंवृत्तेर्ज्ञातैकसत्त्वेन तदवच्छिन्नचैतन्यगताज्ञानमेव नास्तीति—वाच्यम्, वृत्तेः साक्षिवेद्यत्वेन यद्यपि तद्गोचराज्ञानं नास्ति, तथापि तदवच्छिन्नचैतन्ये शुक्त्यवच्छिन्नगोचराज्ञानसत्त्वात्। तथा च इदंवृत्तिराश्रयावच्छेदिका न तु विषयावच्छेदिकेति वस्तुस्थितिः। अत एव—शुक्तितत्त्वं जानतः इदंवृत्तितत्त्वं चाजानतो रूप्यनिवृत्तावपि तदज्ञानानुवृत्तिप्रसङ्ग इति—निरस्तम्,शुक्तितत्त्वाज्ञानस्यैव, उभयपरिणामित्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

सामग्री ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक बाध है। इसके द्वारा शुक्ति और रजत में भेद की प्रतीति होती है और ज्ञानभेदग्रह की सामग्री ''नेदं रजतज्ञानम्'' इत्याकारक बाध है। इसके द्वारा इदम् ज्ञान और रजत ज्ञान में भेद की प्रतीति होती है किन्तु जिस काल में ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक बाधज्ञान हो रहा है। उसी काल में ''नेदं रजतज्ञानम्'' इत्याकारक बाध ज्ञान नहीं होता है। अतः उस काल में ज्ञानों में भेद की प्रतीति नहीं होती है।]

कुछ आचार्यों का कथन है कि भ्रमकाल में जैसे विषयगत ऐक्य ग्रह का नियम है, ठीक वैसे ही ज्ञानगत ऐक्य ग्रह का नियम नहीं है, क्योंकि ज्ञानगत ऐक्य ग्रह के विना भी केवल विषयगत ऐक्य के बल पर ही पुरुष के प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जाती है। फलतः बाधकाल में ज्ञानों के भेदग्रह का नियम नहीं होता है।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि इदमाकार अन्तःकरण को वृत्ति का ज्ञातैकसत्त्व माना जाता है, क्योंकि इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति साक्षिवेद्य मानी जाती है। अतः इदमाकार अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्नचैतन्य में अज्ञान ही सम्भव नहीं है। अतः अज्ञान को रजतादि का उपादानकारण नहीं माना जा सकता है।

समाधान— उक्त शङ्का का समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति साक्षिवेद्य मानी जाती है। अतः इदमाकार अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य विषयक अज्ञान नहीं होता है, तथापि इदमाकार अन्तःकरण वृत्यवच्छिन्न चैतन्य में शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान का सत्त्व होता है। इदमाकार वृत्ति आश्रय की अवच्छेदिका है न कि विषय की अवच्छेदिका। [अर्थात् शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान का आश्रय= इदमाकार वृत्यवच्छिन्न चैतन्य। अतः आश्रय का अवच्छेदक=इदमाकार वृत्ति और शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान का विषय=शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य। अतः विषय का अवच्छेदक शुक्ति है। यह वस्तुस्थिति है।] पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जो व्यक्ति रजतभिन्नत्वेन शुक्ति को जानता है किन्तु रजतवृत्ति भिन्नत्वेन इदं वृत्ति को नहीं जानता है। उस व्यक्ति को जब ''नेदं रजतम्'' इत्याकारक बाधज्ञान होता है, तब रजत की निवृत्ति हो जाने पर भी रजतज्ञान की निवृत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि रजत और रजतज्ञान दोनों का एक ही अज्ञान उपादान कारण नहीं माना जाता है। शुक्ति का अज्ञान ही रजत का उपादान कारण है। इसलिए उसका शुक्ति के ज्ञान से नाश हो जाने पर उसके कार्य रजत का भी नाश हो जाता है किन्तु इदं वृत्ति और रजतवृत्ति के भेद का अज्ञान की अनुवृत्ति बनी रहनी चाहिए, क्योंकि उसका नाश शुक्ति के ज्ञान से नहीं होता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन निरस्त हो गया, क्योंकि शुक्ति तत्त्व का अज्ञान ही रजत और रजतवृत्ति के रूप में परिणत होता है। इसलिए उस अज्ञान का नाश होने पर रजत और रजतवृत्ति दोनों की ही निवृत्ति हो जाती है। इदम् और इदमाकार वृत्ति ये दोनों आश्रय (इदं वृत्यवच्छिन्न चैतन्य) के अवच्छेदक होते हैं। इसको इसी खण्ड के प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका

इदमंशस्तदाकारवृत्तिश्च एतद्द्वयमाश्रयमात्रावच्छेदकमित्युक्तत्वात्। न चैवमपि अबाधितज्ञानैक्यानुभव– विरोधः, अध्यस्तेन सहेन्द्रियासंप्रयोगस्यैव बाधकत्वात्। न च सन्निकर्षःप्रमासामग्री, करणानां प्राप्यकारित्वनियमेन सन्निकर्षस्यापि सामान्यसामग्रीत्वात्। न हि दृष्टा छिदा दारुवियुक्तकुठारेणेत्यन्यत्र विस्तरः। यत्तु शुक्तिरेव विवर्ताधिष्ठानमस्तु, न चैतन्यमिति, तन्न, अधिष्ठानस्य भ्रमजनकाज्ञानविषयत्वेन तदकल्पिततया सत्यत्वनियमात्, शुक्तेश्च मिथ्यात्वात्।।६।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अर्थात् साक्षिवेद्य इदमाकार वृत्ति का अज्ञान नहीं होता है किन्तु शुक्ति का अज्ञान होता है। उस अज्ञान का नाश हो जाने पर रजत और रजतवृत्ति दोनों का ही नाश हो जाता है। अतः इदं वृत्ति में रजतवृत्ति के भेद के अज्ञान की अनुवृत्ति नहीं हो सकती है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति और रजताकार अविद्यावृत्ति मानने पर अनुभव विरोध होगा, क्योंकि ''इदं रजतम्'' इस रूप से जो ज्ञानैक्य का अनुभव होता है, उसका कभी बाध नहीं होता है। यदि उसका बाध होता तब उस एकत्व के अनुभव को भ्रमात्मक माना जाता और तब दो ज्ञान माना जाता किन्तु ऐसा अनुभव होता नहीं है।

समाधान– उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अध्यस्त के साथ में इन्द्रिय के असंयोग को ही ज्ञानैक्य की अनुभूति का बाधक माना जाता है। अर्थात् इदम् के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष है। अतः इदमाकार मनोवृत्ति माननी पड़ेगी और रजत के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं है। अतः इदम् ज्ञान में रजत भास नहीं हो सकता है। इसलिए रजताकार अविद्यावृत्ति माननी पड़ेगी। अतः दो वृत्तियों (ज्ञानों) को मानना आवश्यक है। जब दो ज्ञान हैं तब एक ज्ञान के अनुभव के बाधक भी होंगे। अतः दो ज्ञान मानना उचित ही है।

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि इन्द्रिय का विषय के साथ जो सन्निकर्ष है, वह प्रमा की सामग्री है, न कि भ्रम की। अतः रजतभ्रम स्थल में रजत का विना सन्निकर्ष के ही ऐन्द्रियक ज्ञान हो जायेगा। अतः अध्यस्त के साथ में इन्द्रिय के असंयोग को ज्ञानैक्य में बाधक नहीं माना जा सकता है।

समाधान–उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रियां विषयों को प्राप्त करके ही अर्थात् इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर ही इन्द्रिय ज्ञान की जनक होती है। इसलिए इन्द्रिय का विषय के साथ जो सन्निकर्ष है, वह भ्रम प्रमासाधारण ज्ञान की सामग्री माना जाता है। अर्थात् यदि इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष नहीं है, तब इन्द्रिय ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकती है। जैसे जब कुठार काष्ठ से संयुक्त नहीं होता है तब कुठार काष्ठ के छेदन को नहीं कर सकता है। इसका अन्यत्र विस्तार से निरूपण किया गया है। [कहने का भाव यह है कि इन्द्रियविषय को प्राप्त करके ज्ञान को उत्पन्न करती है? अथवा इन्द्रिय विषय को प्राप्त किये विना ही ज्ञान को उत्पन्न करती है? बौद्धाभिमत द्वितीय पक्ष का निरास एवं प्रथम पक्ष का समर्थन प्रकरणादि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक किया गया है।]

शङ्का– पूर्वपक्षी का कथन है कि रजत लोलुप व्यक्ति की वस्त्रादि समेट कर शुक्ति की ओर जो प्रवृत्ति होती है। उससे यह सिद्ध होता है कि रजताध्यास का अधिष्ठान शुक्ति ही है न कि शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य।

समाधान– उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रम जनक अज्ञान के विषय को अधिष्ठान कहा जाता है। वह सभी कल्पनाओं का आधार होने से अकल्पित एवं नियमत सत्य माना जाता है। शुक्ति स्वयं ही कल्पित है। अतः कल्पित रजत का अधिष्ठान शुक्ति नहीं हो सकती है। इसलिए कल्पित रजत का अधिष्ठान शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य को माना जाता है और शुक्ति को केवल उसका

यद्वा—अविद्यावृत्तेर्न ज्ञानत्वम्, अतः ज्ञानैक्यधीः, ज्ञानत्वस्याज्ञाननिवर्तकमात्रवृत्तित्वात्। न च—एवं धारावाहनस्थले द्वितीयादिज्ञाने ज्ञानत्वं न स्यादिति—वाच्यम्, तस्यापि तत्तत्कालविशिष्ट—ग्राहकत्वेनागृहीतग्राहकतयाऽज्ञाननिवर्तकत्वात्। वस्तुतस्तु—यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीति व्यवहितज्ञानेनेवाव्यवहितज्ञानेनापि अज्ञाननिवर्तनादिति न काप्यनुपपत्तिः। परोक्षस्थलेऽपि प्रमातृगताज्ञान—निवृत्तिरस्त्येवेति तत्र जानामीति प्रत्ययः। तेन सहाभेदग्रहात् परोक्षभ्रमेऽपि जानामीति प्रत्ययः। न च

सत्यानन्दप्रबोधिका

अवच्छेदक माना जाता है।।६।।

अथवा अविद्या की वृत्ति में ज्ञानत्व नहीं है। इसलिए ज्ञानैक्य की अनुभूति होती है। ज्ञानत्व की अज्ञाननिवर्तकमात्र में वृत्तिता होती है। [कहने का भाव यह है कि इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति और रजताकार अविद्यावृत्ति दोनों को भ्रमस्थल पर मानने पर दो ज्ञान मानना पड़ रहा था। अब कह रहे हैं कि रजताकार अविद्यावृत्ति को ज्ञान नहीं मानते हैं, क्योंकि वह अज्ञान का निवर्तक नहीं है। अतः दो ज्ञान की आपत्ति भी नहीं होगी और एक ज्ञान के अनुभव से विरोध भी नहीं होगा।]

शङ्का— एवम्=ज्ञानत्व की अज्ञाननिवर्तकमात्र में वृत्तिता स्वीकार करने पर, धारावाहिक ज्ञानस्थल में द्वितीयादि ज्ञानों में ज्ञानत्व सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि धारावाहिकस्थल पर प्रथम ज्ञान से ही अज्ञाननिवृत्त हो जाता है। अतः द्वितीयादि ज्ञान अज्ञान का निवर्तक न होने से उनमें ज्ञानत्व ही नहीं माना जायेगा। अर्थात् उनको ज्ञान न मानने की आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि धारावाहिक ज्ञानस्थल पर भी द्वितीयादि ज्ञान में भी पूर्व—पूर्वज्ञानाविषय तत्तत्क्षणविशिष्टविषयग्राहकत्व होने से अग्रहीत ग्राहकत्व प्रयुक्त अज्ञान की निवर्तकता होती है। [अर्थात् प्रथम ज्ञान प्रथम क्षण विशिष्ट विषय के अज्ञान का नाश करेगा, द्वितीय क्षण विशिष्ट विषय के अज्ञान का नाश नहीं करेगा। उसका नाश द्वितीय क्षण का ज्ञान करेगा। अतः द्वितीयादि ज्ञानों में ज्ञानत्व का उक्त लक्षण जाने से उनमें ज्ञानत्व की उपपत्ति हो जायेगी। इसको आगे के ग्रन्थ से स्पष्ट किया जा रहा है।] वस्तुतः ''यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति अज्ञानानि'' इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवहितज्ञान (पूर्वज्ञान अर्थात् प्रथम ज्ञान) जैसे अज्ञान का निवर्तक होता है, ठीक वैसे ही द्वितीयादि ज्ञान भी अज्ञान का निवर्तक होता है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है। [कहने का भाव यह है कि जैसे एक पटज्ञान के पश्चात् कुछ काल के व्यवधान से उत्पन्न द्वितीय पट ज्ञान प्रथम पट ज्ञान से निवर्तनीय अज्ञान से भिन्न अज्ञान का निवर्तक होता है, वैसे ही धारावाहिक स्थल पर एक पट ज्ञान के अव्यवहित द्वितीय क्षण में होने वाला द्वितीय पट ज्ञान भी प्रथम पट ज्ञान से निवर्तनीय अज्ञान से भिन्न अज्ञान का निवर्तक होता है। अतः धारावाहिक स्थल पर द्वितीयादि ज्ञानों में भी ज्ञानत्व की उपपत्ति हो जायेगी।] परोक्ष ज्ञान स्थल पर भी परोक्षज्ञान के द्वारा भी प्रमातृगत असत्त्वापादक अज्ञान की निवृत्ति होती है। इसलिए परोक्षज्ञानस्थल में ''जानामि'' ऐसा प्रत्यय होता है। (अतः परोक्षज्ञान में भी उक्त ज्ञानत्व का लक्षण चला जायेगा।) परोक्षज्ञान जो अज्ञान का निवर्तक है। उस परोक्षज्ञान के साथ परोक्षभ्रम का अभेद ग्रह होने से परोक्षभ्रम में भी ''जानामि'' ऐसा प्रत्यय होता है। वस्तुतः भ्रम अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है। अतः उसमें ज्ञानत्व नहीं माना जाता है। अतः ज्ञानत्व के उक्त लक्षण की भ्रम में अव्याप्ति नहीं दी जा सकती है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रीविवरणकार ने अन्तःकरण के परिणाम वृत्ति में ज्ञानत्व नहीं माना है अपितु उसमें ज्ञानत्व का गौण प्रयोग माना है। जैसे कि श्रीविवरणकार ने कहा है—अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचारात्। प्रकृत में इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति में सिद्धान्ती ज्ञानत्व

विवरणे अन्तःकरणपरिणामे ज्ञानत्वोपचाराद् इदंवृत्तेरपि ज्ञानत्वोक्तौ विवरणविरोधः, तस्य प्रकाशत्वनिबन्धनज्ञानपदप्रयोगविषत्वमित्येतत्परत्वात्, नत्वज्ञाननिवर्तकत्वनिबन्धनज्ञानपदप्रयोगोऽप्यौपचारिक इति तस्यार्थः। तथा चाविद्यावृत्तौ यत्र ज्ञानपदप्रयोगः, तत्रौपचारिक एव। न च—अविद्यावृत्तेरज्ञानत्वे ज्ञानस्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यमिति विरुध्येत,निरपवादनियमस्यैव सम्भवादिति—वाच्यम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

मान रहे हैं। अतः श्रीविवरणकार के कथन से विरोध होगा।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण के परिणामवृत्ति में प्रकाशत्वनिबन्धनज्ञानप्रयोगविषयता औपचारिक है—इस अर्थ को विवरण वाक्य के द्वारा कहा गया है। अज्ञाननिवर्तकत्व निबन्धन ज्ञानपद प्रयोग भी अन्तःकरण के परिणामवृत्ति में औपचारिक है—इस अर्थ को विवरण वाक्य के द्वारा नहीं कहा गया है। अतः अविद्या वृत्ति में जहां ज्ञानपद का प्रयोग होता है, वहां गौणार्थक ही होता है। [कहने का भाव यह है कि किसी वस्तु में दो कारण से ज्ञान पद का प्रयोग होता है। प्रथम—उस वस्तु में प्रकाशत्व रहने के कारण। द्वितीय—उस वस्तु में अज्ञाननिर्वकत्व रहने के कारण। प्रथम कारण से जहां ज्ञानपद का प्रयोग किया जाता है, वहां अन्तःकरण की वृत्ति में मुख्यरूपेण ज्ञानपद का प्रयोग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वृत्ति में प्रकाशत्व नहीं है, अपितु वृत्यवच्छिन्नचैतन्य में प्रकाशत्व है। जिसमें प्रकाशत्व है, उसका अवच्छेदक केवल मनोवृत्ति है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति में प्रकाशत्व निबन्धन ज्ञान पद का गौण प्रयोग किया जाता है और प्रकाशत्व निबन्धन ज्ञानपद का मुख्य प्रयोग वृत्यवच्छिन्न चैतन्य में किया जाता है। यदि द्वितीय कारण से अर्थात् अज्ञान निवर्तकत्व रहने के कारण किसी वस्तु में ज्ञानपद का प्रयोग किया जाता है तब अन्तःकरण की वृत्ति में ज्ञानपद का मुख्य प्रयोग माना जायेगा, न कि गौण प्रयोग, क्योंकि अन्तःकरण की वृत्ति में अज्ञान निवर्तकत्व रहता है। अविद्यावृत्ति में अज्ञाननिवर्तकत्व नहीं रहता है। अतः अविद्या वृत्ति में ज्ञानपद का प्रयोग गौणार्थक ही माना जायेगा।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अविद्यावृत्ति को ज्ञान न मानकर केवल इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति को ही ज्ञान मानने पर ''इदं रजतम्'' इस ज्ञान में नैसर्गिक प्रामाण्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि स्वतः प्रामाण्यवाद के अनुसार भ्रमात्मक या प्रमात्मक कोई भी ज्ञान हो, उसमें प्रथमतः प्रामाण्य ही माना जाता है। बाध होने के पश्चात् उसमें अप्रामाण्य माना जाता है। इसको ही स्पष्ट करते हुए मूल ग्रन्थ में कहा गया है कि कोई भी औत्सर्गिक नियम तब तक रहता है जब तक उसका अपवाद (बाध) नहीं होता है। अविद्यावृत्ति के ज्ञानरूप होने पर ही उसमें प्रथमतः प्रामाण्य और बाध होने के पश्चात् अप्रामाण्य आता है। अविद्यावृत्ति को ज्ञान न मानने पर अपवाद या बाध के द्वारा जो उसमें अप्रामाण्य आता है वह सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि वह ज्ञान ही नहीं है और इदमाकार वृत्तिरूप ज्ञान में नैसर्गिक प्रामाण्य ही है। अतः ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रमज्ञानों में नैसर्गिक प्रामाण्य की आपत्ति होगी।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जो भी वृत्ति इच्छा की जननी है, उन सभी वृत्तियों को ज्ञान कहा जाता है। इसी अभिप्राय को लेकर के ही ज्ञान के औत्सर्गिक प्रामाण्य का नियम माना गया है। अविद्यावृत्ति भी इच्छा की जननी होने से अविद्यावृत्ति को भी ज्ञान माना जाता है और बाध के द्वारा उसमें अप्रामाण्य माना जाता है। अतः ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रमात्मक ज्ञानों में नैसर्गिक प्रामाण्य की आपत्ति नहीं होगी। [पीछे जो अविद्यावृत्ति को ज्ञान नहीं माना गया था। उसका कारण यह था कि जहां प्रकाशत्व या अज्ञाननिवर्तकत्व है, वहां पर ही ज्ञान पद का प्रयोग होगा। अविद्यावृत्ति में ये दोनों नहीं थे। इसलिए अविद्यावृत्ति को ज्ञान नहीं माना गया। यहां

इच्छाजनकवृत्तिमात्रस्य ज्ञानत्वमभिप्रेत्य उत्सर्गत्वोक्तेः।।७।।

यद्वा—वृत्तिभेदेऽपि इदंरूप्ययोरिदमंशावच्छिन्नचैतन्यप्रकाश्यत्वेन फलैक्यात् ज्ञानैक्यधीः। न च—परोक्षभ्रमे अपरोक्षैकरसचैतन्यरूपफलैक्याभावात् कथं तन्निबन्धनज्ञानैक्यानुभव इति—वाच्यम्, तत्र फलैक्यमप्युपचर्य ज्ञानैक्योपचार इत्येव विशेषात्। ननु—त्वन्मते यथाक्रममिदंरूप्याकारान्तः—

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर अविद्यावृत्ति को ज्ञान मानने में हेतु यह कहा गया है कि जो वृत्ति इच्छा की जननी है। उस वृत्ति को ज्ञानात्मक माना गया। अविद्यावृत्ति भी इच्छा की जननी है। अतः अविद्यावृत्ति को ज्ञानात्मक माना गया। अतः पूर्वापर में विरोध नहीं है]।।७।।

अथवा अन्तःकरण की इदमाकार और अविद्या की रजताकार वृत्तियों में भेद होने पर भी इदमर्थ और रजत दोनों ही इदमंशावच्छिन्न चैतन्य रूप एक ही फल से प्रकाशित है। इस प्रकार फल के ऐक्य से (आवरण नाशरूपफलविशिष्टेदमंशावच्छिन्न चैतन्य ही फल है, उसके ऐक्य से) ज्ञान के ऐक्य की अनुभूति होती है।

शङ्का— [पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के कथनानुसार प्रत्यक्ष भ्रमस्थल पर अनावृत्त चैतन्यरूप फल की एकता से दो ज्ञानों में एकता का व्यवहार हो जायेगा, किन्तु] परोक्ष भ्रम स्थल पर विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष न होने के कारण अपरोक्षैकरसचैतन्यरूप फल ही नहीं होता है। अतः फल के ऐक्य से दो ज्ञानों (अन्तःकरण की वृत्ति और अविद्यावृत्ति) में ऐक्य धी की उपपत्ति नहीं हो पायेगी।

समाधान—पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि परोक्षभ्रम स्थल पर फल के ऐक्य का उपचार कर ज्ञान के ऐक्य का उपचार होता है। यही परोक्षभ्रम में अपरोक्षभ्रम से विशेषता है। [अर्थात् परोक्षभ्रमस्थल पर जो मनोवृत्ति बनती है, वह विषयदेश पर जाकर नहीं बनती है, अपितु अन्तःकरण में ही बनती है। अतः वहां एक ही असत्त्वापादक अज्ञान का नाश होता है। दूसरे अभानापादक अज्ञान का नाश नहीं होता है। इसलिए प्रकाशक चैतन्य को फल नहीं कहा जाता है। अर्थात् असत्त्वापादक और अभानापादक अज्ञान के नाश के पश्चात् अभिव्यक्त चैतन्य को फल कहा जाता है। अतः एक अज्ञान के नाश होने पर गौण रूप से फलैक्य कहा गया है और बाद में उसमें गौणरूप से ज्ञानैक्य कहा गया है। यही परोक्षभ्रम में अपरोक्षभ्रम से भिन्नता है।]

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि भ्रमस्थल पर सिद्धान्ती के मतानुसार भी फल चैतन्य की एकता सम्भव नहीं हो सकती है, क्योंकि इदमाकार अन्तःकरण वृत्ति में प्रतिबिम्बित इदमंश के अधिष्ठान चैतन्य के द्वारा इदमंश वेद्य है। इसी प्रकार रजताकार अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित रूप्याधिष्ठान चैतन्य के द्वारा रूप्य वेद्य है। जो प्रकाशक होता है वही फल होता है। यहां इदम् और रूप्य का प्रकाशक चैतन्य भिन्न—भिन्न है। अतः सिद्धान्ती के मतानुसार फल में एकता नहीं मानी जा सकती है। [ऐसा अर्थ स्पष्ट करने के लिए मूल का इस प्रकार अन्वय करें— यथाक्रममिदंरूप्याकारान्तःकरणवृत्त्यविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बिताभ्यां इदमंशरूप्याधिष्ठानचैतन्याभ्यां वेद्यत्वेनावच्छिन्नफलस्य भेदात् त्वन्मते कथं फलैक्यम्?] अथवा इदमाकार अन्तःकरण वृत्ति में अभिव्यक्त इदमंश के अधिष्ठान चैतन्य के द्वारा इदमंश वेद्य है और रजताकार अविद्यावृत्ति में अभिव्यक्त रजत के अधिष्ठान चैतन्य के द्वारा रजत वेद्य है। इस प्रकार इदम् और रजत का प्रकाशक चैतन्य रूप फल भिन्न—भिन्न है। अतः सिद्धान्ती के मतानुसार फल में एकता नहीं मानी जा सकती है। [ऐसा अर्थ स्पष्ट करने के लिए मूल का इस प्रकार अन्वय करें— तद् (= यथाक्रममिदंरूप्याकारान्तःकरणवृत्त्यविद्यावृत्ति) अभिव्यक्ताभ्यां इदमंशरूप्याधिष्ठानचैतन्याभ्यां

करणवृत्त्यविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बिताभ्यां वा, तदभिव्यक्ताभ्यां वा, इदमंशावच्छिन्न– तदनवच्छिन्नाभ्यामिद– मंशरूप्याधिष्ठानचैतन्याभ्यां वा, वेद्यत्वेनावच्छिन्नफलस्य भेदात् कथं फलैक्यम्? अनवच्छिन्नफलीभूत– चिन्मात्राभेदस्य सर्वत्र समानत्वात्। नहीदमंशेऽपि तदवच्छिन्नमेव चैतन्यमुपादानम्, आत्माश्रयात्। न वा रूप्ये इदमंशानवच्छिन्नमुपादानम्, 'इदं रूप्यम्'इति प्रतीत्यनुपपत्तेरिति–चेत्।।८।।

न, अविद्यावृत्तिस्तावन्नाज्ञाननाशिका, किन्त्वःकरणवृत्तिरिदमाकारा। तथा च तदभिव्यक्तचैतन्यमेव रूप्यमभिव्यनक्तीति फलैक्यसम्भवात्। न ह्यवच्छेदकभेदेन फलभेदः, किन्तु व्यञ्जकभेदेन। तथा च परमार्थसच्चैतन्यमधिष्ठानमध्यस्तज्ञातस्य। तच्च द्विविधं व्यावहारिकसत् प्रातिभासिकसच्चेति। तदुक्तं प्राग–'व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वात् प्रत्यक्षं नागमबाधकम्' इति। परमार्थसत्त्वमादाय त्रिविधं सत्त्वम्।।९।।

।। इति भ्रमस्य वृत्तिद्वयत्वोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

वेद्यत्वेनावच्छिन्नफलस्य भेदात् त्वन्मते कथं फलैक्यम्।] अथवा इदमंशावच्छिन्न जो इदमंश का अधिष्ठान चैतन्य है और इदमंश से अनवच्छिन्न अर्थात् रूप्यावच्छिन्न जो रूप्य का अधिष्ठान चैतन्य है। इस प्रकार दो पृथक्–पृथक् फल होते हैं। अतः सिद्धान्ती के मतानुसार फल में एकता नहीं मानी जा सकती है। इदम् और रूप्य से अनवच्छिन्न जो शुद्ध चैतन्य जिसको की फल नहीं कहा जाता है। उसको लेकर के अभेद तो सर्वत्र समान है। अर्थात् ''अयं घटः, अयं पटः'' दोनों ज्ञानों का अनवच्छिन्नचैतन्य एक ही है। अतः दोनों ज्ञानों को एक मानना पड़ेगा। अतः अनवच्छिन्न चैतन्य को लेकर के फल में एकता नहीं मानी जा सकती है। दूसरी बात यह भी है कि जैसे रजत के प्रति अधिष्ठान इदमंशावच्छिन्न चैतन्य है, वैसे ही इदमंश का उपादान (अधिष्ठान) इदमंशावच्छिन्नचैतन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि इदं वृत्ति को स्वकीय अधिष्ठानता में स्व की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होगा। इसी प्रकार इदमंश का अधिष्ठान जैसे इदमनवच्छिन्नचैतन्य है, वैसे ही रजत का अधिष्ठान इदमनवच्छिन्न चैतन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि अधिष्ठान के साथ तादात्म्येन अध्यस्त की जो प्रतीति ''इदं रजतम्'' इस प्रकार से होती है। वह नहीं हो पायेगी।।८।।

समाधान– पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अविद्यावृत्ति अज्ञान की नाशिका नहीं मानी जाती है, अपितु इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति ही अज्ञान की नाशिका मानी जाती है। अतः इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्यरूप फल ही रजत का प्रकाशक है। अतः फलैक्य सम्भव है। अवच्छेदक के भेद से फल का भेद नहीं होता है। किन्तु व्यञ्जक के भेद से अर्थात् अज्ञाननाशकवृत्ति के भेद से फल का भेद होता है। (प्रकृत में इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति ही अज्ञाननाशक वृत्ति है। अतः अज्ञाननाशक इदमाकार अन्तःकरण की वृत्ति के एक होने से फल भी एक ही होगा।) फलतः परमार्थ सत् चैतन्य ही समस्त अध्यस्त वस्तु का अधिष्ठान होता है। वह अध्यस्त वस्तु दो प्रकार की होती है– व्यावहारिक सत् और प्रातिभासिक सत्। जैसा कि पहले कहा जा चुका है– व्यावहारिकसत्त्वविषयत्वात् प्रत्यक्षं नागमबाधकम्। परमार्थसत्त्व को लेकर तीन प्रकार का सत्त्व माना जाता है।।९।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां भ्रमस्य वृत्तिद्वयत्वोपपत्तिः।

२२— सत्तात्रैविध्यविचारः

ननु—एवं सत्त्वत्रैविध्यविभागो नोपपद्यते, प्रातिभासिकादप्यपकृष्टस्य स्वाप्नरूप्यस्य व्यावहारिकादप्युत्कृष्टाया अविद्यानिवृत्तेः सद्भावादिति चेन्न, स्वाप्ने प्रातिभासिकनिकृष्टत्वे प्रमाणाभावात्। तथाहि प्रातिभासिकत्वं हि प्रतिभासमात्रसत्त्वम्, तच्च, स्वप्नजागरयोः समानम्। ननु—जागरे अधिष्ठान—तावच्छेदकेदमंशस्याधिकसत्ताकत्वम्, स्वप्नकाले तस्यापि प्रातिभासिकत्वमित्येव निकृष्टत्वमिति—चेन्न, स्वप्ने हि इदमो नाधिष्ठानावच्छेदकत्वम्, तुल्यवदारोप्यत्वात्। तत्राधिष्ठानमविद्यावच्छिन्नमेव चैतन्यमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वप्रकरण में प्रतिपादित व्यावहारिक, प्रातिभासिक और पारमार्थिक रूप से जो सत्त्व का त्रिविध विभाग है, वह उपपन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रातिभासिक से भी अपकृष्ट स्वाप्नरजतादि होते हैं। [अर्थात् जाग्रत्काल में शुक्ति रजत का अधिष्ठान इदमवच्छिन्नचैतन्य है। यहां अधिष्ठानता का अवच्छेदक इदम् अंश है और वह व्यावहारिक है। स्वाप्नशुक्तिरजत का अधिष्ठान भी यद्यपि इदमवच्छिन्न चैतन्य है और अधिष्ठानता का अवच्छेदक इदम् अंश है, तथापि वह प्रातिभासिक है। अतः जाग्रत्कालीन शुक्तिरजत की अपेक्षा से स्वाप्निक शुक्तिरजत अपकृष्ट है। इसलिए उसको प्रातिभासिक न मानकर प्रातिभासिक से निम्नस्तर की कोई एक और सत्ता स्वाप्निक शुक्तिरजत की माननी चाहिए।] इसी प्रकार व्यावहारिक प्रपञ्च से भी उत्कृष्ट पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति है। [अर्थात् पञ्चमप्रकारक अविद्या निवृत्ति को व्यावहारिक नहीं मान सकते हैं, क्योंकि व्यावहारिक पदार्थ मोक्षकाल में नहीं रहता है, जबकि पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति मोक्षकाल में रहती है। अतः व्यावहारिक पदार्थों से उत्कृष्ट है किन्तु पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति को पारमार्थिक नहीं माना जाता है। अतः इसकी सत्ता उक्त तीनों की सत्ता से पृथक् मानना चाहिए। इस प्रकार कुल पांच सत्ता माननी चाहिए। यह पूर्वपक्षी का भाव है।]

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि स्वाप्निक रजतादि में प्रातिभासिक से भी निकृष्टत्व रहता है— इसमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रातिभासिकत्व का अर्थ होता है प्रतिभास मात्र सत्त्व। वह प्रतिभास मात्र सत्त्व स्वप्नस्थ प्रातिभासिक में और जागरस्थ प्रातिभासिक में समान रूप से रहता है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि जाग्रत् काल में ''इदं रजतम्'' इस भ्रमस्थल पर अधिष्ठानतावच्छेदक इदमंश प्रातिभासिक की अपेक्षा से अधिक सत्ता (व्यावहारिक सत्ता) वाला है और स्वप्नकाल में ''इदं रजतम्'' इस भ्रमस्थल पर अधिष्ठानतावच्छेदक इदमंश प्रातिभासिक ही है। अतः स्वाप्निक रजत जाग्रत्कालीन प्रातिभासिक रजत से अपकृष्ट मानना चाहिए।

समाधान— उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि स्वप्नकाल में ''इदं रजतम्'' इस भ्रमस्थल पर इदमंश को अधिष्ठानतावच्छेदक नहीं माना जाता है, क्योंकि रजत के समान ही इदम् भी आरोपित ही होता है। स्वप्न में स्वाप्निक रजत का अधिष्ठान अविद्यावच्छिन्न चैतन्य होता है। अतः अधिष्ठानतावच्छेदक अविद्या होगी, न कि इदम्। इसको आगे कहा जायेगा। पञ्चमप्रकारक अविद्या निवृत्ति भी संसारकालीन (व्यवहारकालीन) सत्ता का ही एक भाग है। इसलिए सत्ता त्रैविध्यविभाग में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। [इस पक्ष में यह अरुचि है कि पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति मोक्षकाल में रहती है, जबकि व्यावहारिक सत्ता वाला कोई पदार्थ मोक्षकाल में रहता नहीं है। इस अरुचि के कारण यद्वा से कह रहे हैं कि] अथवा पञ्चम प्रकारक अविद्या निवृत्ति में सत्त्व माना ही नहीं जाता है। अतः सत्त्व के विभाग में अविद्यानिवृत्ति का सङ्ग्रह न होने से कोई दोष नहीं है।

वक्ष्यते। अविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारतापक्षे संसारकालीनसत्त्वस्यैवायं विभाग इति न न्यूनता।।१ ।।

यद्वा—अविद्यानिवृत्तेः सत्त्वाभावेन सत्त्वविभागे न तदसंग्रहनिबन्धनो दोषः। वस्तुतस्तु—अविद्यानिवृत्तिः ब्रह्मस्वरूपा अनिर्वचनीया वेति न विभागन्यूनता। न च—विभागस्य तात्त्विकत्वे अपसिद्धान्तः, अतात्त्विकत्वे त्रिविधत्वं गतमेवेति—वाच्यम्, ब्रह्मातिरिक्तमतात्त्विकमिति वदतो विभागातात्त्विकत्वस्येष्टत्वात्। न च तर्हि तात्त्विकत्रैविध्यहानिः, को हि त्रैविध्यस्य तात्त्विकत्वं ब्रवीति? किन्तु व्यावहारिकत्वमेव। न च तात्त्विकस्य ब्रह्मणोऽतात्त्विकाच्छुक्तिरूप्याद् बाधादिगम्यस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

वस्तुतः जिस पक्ष में अभाव को अधिकरण स्वरूप माना जाता है। उस पक्ष में अविद्यानिवृत्ति को ब्रह्मस्वरूप माना जाता है और जिस पक्ष में अभाव को अधिकरण स्वरूप नहीं माना जाता है, उस पक्ष में अविद्यानिवृत्ति को अनिर्वचनीय (व्यावहारिक) माना जाता है। अतः सत्ता त्रैविध्यविभाग में कोई न्यूनता नहीं है।।१ ।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के द्वारा सत्ता त्रैविध्य विभागगत तात्त्विकत्व मानने पर अपसिद्धान्त की आपत्ति होगी, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिकत उक्त विभाग में तात्त्विकत्व होने पर ब्रह्ममात्र में तात्त्विकत्व रहता है—यह सिद्धान्त अद्वैतवादी का भङ्ग हो जायेगा। यदि सिद्धान्ती के द्वारा उक्त विभागगत अतात्त्विकत्व माना जाता है, तब तो सत्ता त्रैविध्य सिद्ध नहीं होगा,क्योंकि अतात्त्विक विभाग से कोई वस्तु विभक्त सिद्ध नहीं होती है। जैसे एक चन्द्र अतात्त्विक विभाग से विभक्त नहीं होता है।

समाधान— उक्त शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त अतात्त्विक है—ऐसा स्वीकार करने वाले ब्रह्मवादी के मत में उक्त विभागगत अतात्त्विकत्व अभीष्ट ही है। उक्त विभागगत अतात्त्विकत्व मानने पर तात्त्विक त्रैविध्य की हानि होगी—ऐसा नहीं कहा जा सकता है,क्योंकि त्रैविध्यगत तात्त्विकत्व हम नहीं मानते हैं, अपितु त्रैविध्यगत व्यावहारिकत्व ही मानते हैं। वह अतात्त्विक त्रैविध्य विभाग व्यावहारिक घटादि के समान उपपन्न हो जायेगा।

शङ्का— ''विभागः तात्त्विकः, बाधबोधितत्त्वात् ब्रह्मवत्।'' इस अनुमान का आश्रय कर के शङ्का करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे बाधज्ञान सत्य अधिष्ठान (ब्रह्म) को बोधित करता है। वैसे ही शुक्तिरजतादि से ब्रह्म के विभाग को भी बोधित करता है। अतः विभाग को भी ब्रह्म के समान तात्त्विक मानना चाहिए।

समाधान— उक्त शङ्का अनुचित है, क्योंकि ''यत्र यत्र बाधबोधितत्त्वं तत्र तत्र तात्त्विकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि ''नेदं रजतम्'' इस बाध के द्वारा जैसे अधिष्ठान का बोध होता है, वैसे रजतादि का भी बोध होता है। किन्तु रजतादि में तात्त्विकत्व नहीं माना जाता है। अतः ''यत्र यत्र अबाध्यत्वं तत्र तत्र तात्त्विकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति मानी जाती है। ऐसी व्याप्ति मानने पर पक्ष में हेतु की सिद्धि नहीं होगी,क्योंकि ''नेह नानास्ति किञ्चनः'' (बृ.उ. ४—४—१९) इत्यादि श्रौत बाधों के द्वारा ब्रह्मभिन्न विभाग भी बाधित है। अतः ''विभागः तात्त्विकः, अबाध्यत्वात्, ब्रह्मवत्'' ऐसा अनुमान करने पर पक्ष में हेतु के न होने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि तीन प्रकार का सत्त्व स्वीकार करने पर ब्रह्म ही सत् है—ऐसा अद्वैतवादी का सिद्धान्त भङ्ग हो जायेगा। अर्थात् एक ओर कहा जा रहा है कि ब्रह्म से अतिरिक्त कोई सत् नहीं है और दूसरी ओर कहा जा रहा है कि तीन सत् हैं। अतः व्याघातदोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''ब्रह्मैव सत्'' इस वाक्य का अर्थ है कि ''ब्रह्मैव परमार्थ सत्।'' अर्थात् केवल ब्रह्म

विभागस्य कथमतात्त्विकत्वमिति—वाच्यम्, बाधबोध्यत्वं न तात्त्विकत्वे प्रयोजकम्, किन्त्वबाध्यत्वम्। तच्च न ब्रह्मातिरिक्तवृत्ति, नेह नानेत्यादिना बाधात्। न च त्रिविधसत्त्वाङ्गीकारे ब्रह्मैव सदिति स्वमतविरोधः, तस्य परमार्थसद् ब्रह्मैवेत्येतत्परत्वात्। एतेन विश्वमिथ्यात्वब्रह्मनिर्विशेषत्वादावप्येवं विकल्प्य दूषणमिति—अपास्तम्।।२।।

ननु—अत्र परमार्थसदेव सदितरद्वयं सद्विलक्षणमेव सत्त्वेन भाति, बाधविलम्बाविलम्बाभ्यां तद्भेद इत्यभिप्रेतम्? उत वा सत्त्वस्यैवावान्तरभेद इति? नाद्यः, त्वन्मते रूप्याभावे रूप्यधीरिव सत्त्वाभावे सत्त्वबुद्धेरयोगात्। कदाचिदपि सत्त्वाभावे तुच्छवदुत्पत्त्याद्ययोगात्, व्यावहारिके प्रातिभासिकादर्थगतविशेषाभावेन तत्रार्थक्रियादेः श्रुतीनां तद्विषयत्वेन प्रामाण्यस्य चायुक्त्यापातात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही परमार्थ सत् है, ब्रह्म से भिन्न कुछ भी परमार्थ सत् नहीं है। अतः प्रपञ्च में व्यावहारिकसत्त्व और शुक्तिरजतादि में प्रातिभासिकसत्त्व मानने पर कोई विरोध नहीं है। एतेन= परमार्थसत् एकमात्र ब्रह्म होने से और अन्य व्यावहारिक सत् तथा प्रातिभासिक सत् होने से पूर्वपक्षी का यह कथन भी खंडित हो गया कि विश्वमिथ्यात्व और ब्रह्मनिर्विशेषत्व ये दोनों सत्य हैं? अथवा मिथ्या हैं? सत्य मानने पर द्वैतापत्ति होगी और मिथ्या मानने पर अर्थात् विश्वमिथ्यात्व को मिथ्या मानने पर विश्व सत्य हो जायेगा और ब्रह्मनिर्विशेषत्व मिथ्या होने पर ब्रह्मनिर्विशेष सिद्ध न होकर सविशेष सिद्ध हो जायेगा इत्यादि प्रकार से विकल्प कर जो दोष दिये गये हैं, उन दोषों का प्रतिकार हो जाता है। अर्थात् ब्रह्म को परमार्थसत् मानकर और विश्वमिथ्यात्वादि को व्यावहारिक सत् मानकर उक्त दोषों का निराकरण हो जाता है।।२।।

शङ्का— पूर्वपक्षी सिद्धान्ती सम्मत सत्त्व के विषय में दो विकल्प उठाते हुए कह रहा है कि ब्रह्म ही परमार्थ सत् है—इससे सिद्धान्ती को क्या यह अभिप्रेत है कि परमार्थ सत् ही एक सत् तत्त्व है, उससे इतर जो दो सत् (व्यावहारिक सत् और प्रातिभासिक सत्) है। वे दोनों ही सत् से विलक्षण हैं और केवल सत्त्वेन प्रतीयमान होते हैं। व्यावहारिक सत् और प्रातिभासिक सत् में केवल इतना ही भेद है कि व्यावहारिक सत् का बाध कुछ विलम्ब से होता है और प्रातिभासिक सत् का बाध अविलम्ब से होता है? अथवा व्यावहारिक सत् और प्रातिभासिक सत्—ये दोनों सत् के ही अवान्तर भेद हैं? प्रथम पक्ष माना नहीं जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्त मतानुसार जैसे शुक्ति में रजत न होने पर रजत की प्रतीति नहीं होती है, वैसे ही घट—पटादि प्रपञ्च में सत्त्व न होने पर घट—पटादि प्रपञ्च में ''घटः सन्, पटः सन्'' इत्याकार सत्त्व बुद्धि नहीं हो सकती है। दूसरी बात यह भी है कि यदि व्यावहारिक और प्रातिभासिक की किसी भी काल में सत्ता नहीं है, तब नृशृङ्गादि के समान इनके उत्पत्यादि की सिद्धि नहीं हो पायेगी। व्यावहारिक पदार्थों में प्रातिभासिक पदार्थों से कुछ अन्तर न मानने पर व्यावहारिक पदार्थों में अर्थक्रियाकारित्व की उपपत्ति नहीं हो पायेगी और ''तस्माद् वा एतस्माद् आकाशः सम्भूत'' इत्यादि प्रपञ्च को विषय करने वाली श्रुतियों का विषय व्यावहारिक आकाशादि जिनको प्रथम पक्ष में सत् ही नहीं माना गया है। अतः असत् को विषय करने वाली होने से उक्त श्रुतियों में प्रामाण्य नहीं माना जायेगा, प्रत्युत नभगत नीलता के बोधक प्रत्यक्ष और ''नीलं नभः'' इत्यादि अनाप्त वाक्यों में जैसे अप्रामाण्य का निश्चय होता है, वैसे ही व्यावहारिक पदार्थ बोधक प्रत्यक्ष और श्रुत्यादि में भ्रान्ति जनकता होने के कारण अप्रामाण्यनिश्चय ही हो जायेगा। द्वितीय पक्ष अर्थात् व्यावहारिक और प्रातिभासिक ये दोनों सत् के ही अवान्तरभेद हैं—यह भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि द्रव्य के पृथिव्यादि अतान्तर भेदों में एक द्रव्यत्व सामान्य अनुगत माना

प्रत्युत नभो नैल्यभ्रमहेतोरिव अर्थभ्रान्तिहेतुत्वेनाप्रामाण्यनिश्चय एव स्यात्। नान्त्यः, आरोपितानारोपितसाधारणसामान्यधर्माभावाद्, व्यावहारिकस्यानारोपितविशेषत्वे इष्टापत्तेश्चेति—चेत्।।३।।

न, द्वितीयपक्षस्यैव क्षोदक्षमत्वात्। तथा हि—अबाध्यत्वरूपमारोपितानारोपितयोः सामान्यमन्यदा बाध्येऽपि स्वकालाबाध्यत्वमात्रेणारोपितेऽपि तस्य सम्भवात्, आरोपितानारोपितयोरेकसामान्याभावे प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेरुक्तत्वात्। अत एवोक्तम्—

'आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या।
तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र।।' इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है, ठीक वैसे ही आरोपित (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) और अनारोपित (पारमार्थिक) में एक सामान्य धर्म नहीं रहता है। जिसके बल पर इन तीनों को सत् कहा जा सके। प्रातिभासिक में न रहने वाला ऐसा कोई अनारोपित सत्त्वविशेष का आश्रय व्यावहारिक है—ऐसा मानने पर द्वैतवादियों को इष्टापत्ति है।।३।।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है। [द्वितीय पक्ष में पूर्वपक्षी ने दोष दिया था कि आरोपित और अनारोपित में एक सामान्य धर्म नहीं है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि] आरोपित और अनारोपित इन दोनों में अबाध्यत्वरूप सामान्यधर्म रहता है। [अर्थात् अनारोपित (पारमार्थिक सत्) में त्रैकालिक अबाध्यत्व रूप सामान्यधर्म रहता है। आरोपित अर्थात् व्यावहारिक सत् में व्यवहार कालीन अबाध्यत्वरूप सामान्यधर्म रहता है। तथा प्रातिभासिक सत् में प्रतिभासकालीन अबाध्यत्वरूपसामान्य धर्म रहता है।] क्योंकि अन्यदा= भ्रम निवृत्ति काल में अर्थात् तत्त्वज्ञान होने पर आरोपित (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) का बाध होने पर भी स्वकाल (व्यावहारिक और प्रातिभासिककालीन) अबाध्यत्वमात्र रूप सामान्यधर्म आरोपित (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) में भी स्वीकार करना सम्भव है। आरोपित और अनारोपित इन दोनों में एक सामान्यधर्म न मानने पर भ्रान्त पुरुष के प्रवृत्ति की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। अर्थात् व्यावहारिक रजत में रहने वाले रजतत्व रूप सामान्यधर्म को यदि प्रातिभासिक रजत में नहीं माना जाता है, तब रजतार्थी की रजत लेने के लिए प्रवृत्त्यादि की उपपत्ति नहीं हो पायेगी—इसका निरूपण आविद्यकरजतोत्पत्ति विचार के खण्ड संख्या ४ में किया जा चुका है। अत एव= प्रवृत्त्यादि व्यवस्था के प्रतिपादन के लिए ही श्रीसंक्षेपशारीरककार ने कहा है—

आकाशादौ सत्यता तावदेका, प्रत्यङ्मात्रे सत्यता काचिदन्या।
तत्सम्यर्कात् सत्यता तत्र चान्या, व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र।।

[आकाशादि में एक आरोपित सत्यता है और शुद्धात्मा में आरोपित सत्यता से भिन्न अनारोपित अर्थात् पारमार्थिक सत्यता है। उक्त उभयविधसत्यता के संसर्ग से तत्र = आकाशादि और आत्मा में पारमार्थिक सत्यता से भिन्न व्यावहारिक सत्यता है, इसी व्यावहारिक सत्यता को सत्य शब्द के द्वारा कहा जाता है। अर्थात् इसी व्यावहारिक सत्यता में सत्य शब्द का शक्ति ग्रह होता है— सं. शा.—१—१७८] श्रीसंक्षेपशारीरककार के भावों को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रातिभासिक रजत में प्रतीति समकालीन एक रजतत्व है। अर्थात् जब रजतत्व की प्रतीति होती है, तब प्रातिभासिक रजत में रजतत्व का अस्तित्व रहता है और व्यवहारिक रजत में अज्ञातसत्ताक दूसरा रजतत्व है। अर्थात् जब रजतत्व की प्रतीति नहीं होती है तब भी व्यावहारिक रजत में रजतत्व

यथा प्रातिभासिकरजते ज्ञातैकसदेकं रजतत्वम्, लौकिकपरमार्थरजते चाज्ञातसदपरं रजतत्वम्, तदुभयानुगतं चारोपितानारोपितसाधारणं रजतत्वं, रजतशब्दालम्बनम्, एवमाकाशादावारोपितैका सत्यता, चिदात्मनि चानारोपिताऽपरा, तदुभयसाधारणी चान्या व्यावहारिकी सत्यता सत्यशब्दालम्बनमिति भावः। ।४।।

सद्विशेषत्वेऽपि व्यावहारिकस्य प्रपञ्चस्य नानारोपितविशेषत्वम्, येनेष्टापत्तिरवकाशमासादयेत्, सत्त्वस्यानारोपितत्वात्मकत्वाभावात्। सत्त्वाङ्गीकारादेव नोत्पत्त्यादिविराधोऽपि। न च—स्वरूपेण बाध्यत्वं प्रपञ्चेऽपि नास्ति, तुच्छत्वप्रसङ्गात्, पारमार्थिकत्वाकारेण बाध्यत्वं निर्धर्मकतया ब्रह्माण्यप्यस्तीति कथं कदाचिद्बाध्यत्वमादाय व्यावहारिकत्वादिस्थितिरिति—वाच्यम्, मिथ्यात्वरूपसाध्यनिरुक्तावेवास्य दत्तोत्तरत्वात्। यत्तु—सप्रकारकस्यैव ज्ञानस्य प्रपञ्चबाधकत्वं वक्तव्यम्, निष्प्रकारकत्वे बाधकत्वायोगात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

का अस्तित्व रहता है। उभयविध रजत में अनुगत आरोपित—अनारोपित साधारण रजतत्व है और वह रजतत्व रजत शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। इसी प्रकार आकाशादि में आरोपित एक सत्यता है और चिदात्मा में अनारोपित दूसरी सत्यता है। आत्मा और आकाशादि में अनुगत पारमार्थिक सत्यता से भिन्न तीसरी व्यावहारिक सत्यता है। यही व्यावहारिक सत्यता सत्य शब्द का आलम्बन (प्रवृत्ति निमित्त) है। यह श्रीसंक्षेपशारीरककार के कथन का भाव है।।४।।

[पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि प्रातिभासिक में न रहने वाला ऐसा कोई अनारोपित (सत्य) विशेष का आश्रय व्यावहारिक को मानने पर इष्टापत्ति है—इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि] प्रातिभासिकनिष्ठ सत्यत्व की अपेक्षा से व्यावहारिक पदार्थों में विशेष प्रकार का सत्यत्व मानने पर भी व्यावहारिक प्रपञ्च में अनारोपित विशेषत्व नहीं है, क्योंकि प्रपञ्चगत व्यावहारिक सत् विशेष भी अनारोपितत्वात्मक नहीं माना जाता है। अर्थात् प्रपञ्चगत व्यावहारिक सत् विशेष भी ब्रह्म में आरोपित ही माना जाता है। व्यावहारिक पदार्थ निष्ठ सत्त्व अनारोपित स्वरूप वाला न होने से पूर्वपक्षी को इष्टापत्ति कहने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। प्रातिभासिक और व्यावहारिक पदार्थों की सत्ता मानी जाती है। अत: इनकी उत्पत्यादि मानने में किसी भी प्रकार का विरोध भी नहीं होता है।

शङ्का— [पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने कहा था कि अनारोपित अर्थात् ब्रह्म में त्रैकालिक अबाध्यत्व रहता है और आरोपित (व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक) में कदाचिद् बाध्यत्व रहता है—यही आरोपित और अनारोपित में भेद है—ऐसा सिद्धान्ती का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि] स्वरूपेण प्रपञ्च का भी बाध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रपञ्चगत तुच्छत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि शशशृङ्गादि तुच्छ पदार्थों का स्वरूपेण ही बाध होता है। अत: प्रपञ्च का बाध पारमार्थिकत्वेन मानना पड़ेगा। किन्तु पारमार्थिकत्वेन बाध तो ब्रह्म का भी सम्भव है,क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक है। अत: ''पारमार्थिकत्वेन ब्रह्म नास्ति'' ऐसा कहा ही जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्म, घटादि प्रपञ्च तथा शुक्तिरजतादि—इन तीनों में ही बाध्यत्व है, तब ब्रह्म में त्रैकालिक अबाध्यत्व है और व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक में कदाचिद् बाध्यत्व है—इस प्रकार से कदाचित् बाध्यत्व के द्वारा आरोपित (व्यावहारिक और प्रातिभासिक) की व्यवस्था नहीं की जा सकती है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि उक्त शङ्का का समाधान '' प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात्'' इस अनुमान के साध्य (मिथ्यात्व) का निरूपण करते समय द्वितीय मिथ्यात्व विचार के खण्ड संख्या ११ से प्रारम्भ होकर खण्ड संख्या ३० तक किया जा चुका है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि घटादि प्रपञ्च और शुक्तिरजतादि का बाधक ज्ञान को

तथा च स प्रकारस्तात्त्विक एव स्यात्—इति तन्न, स्वरूपोपलक्षणोपलक्षितस्वरूपविषयक—व्यावृत्ताकारज्ञानस्यैव निष्प्रकारकत्वेऽपि बाधकत्वमित्यस्यापि प्रागेवोक्तत्वात्। स्वरूपोपलक्षणनिबन्धन—व्यावृत्ताकारत्वेऽपि यथा नाखण्डार्थत्वक्षतिः, तदप्युक्तमधस्तात्।।५।।

ननु—व्यावहारिकप्रातिभासिकयोर्बाध्यत्वाविशेषे किन्निबन्धनो भेदः? न तावन्मायिकत्वाविद्यकत्वाभ्यां भेदः, मायाविद्ययोरभेदात्। अर्थगतविशेषाभावे तदयोगाच्च। नाप्यर्थक्रियाकारित्वाकारित्वाभ्यां विशेषः, स्वाप्नघटादौ स्वाप्नजलाहरणाद्यर्थक्रियादर्शनात्। न चार्थक्रियायां व्यावहारिकत्वं विशेषणम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

सप्रकारक ही मानना चाहिए, क्योंकि जिस ज्ञान में निष्प्रकारकत्व रहता है, उस ज्ञान में बाधकत्व नहीं रहता है। अर्थात् निष्प्रकारकज्ञान बाधक नहीं हो सकता है। अतः जब प्रकारकज्ञान (सर्वज्ञतादि से विशिष्ट ब्रह्म का ज्ञानादि) जब बाधक है तब बाधकज्ञान का विषयीभूत जो प्रकार वह बाधकज्ञान का विषय होने के कारण बाध्य ज्ञान का विषय नहीं होगा। अतः उक्त प्रकार को तात्त्विक मानने पर द्वैतापत्ति होगी।

समाधान— ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि स्वरूप रूप उपलक्षण से उपलक्षित जो स्वरूप है। तादृशस्वरूपविषयक व्यावृत्ताकार ज्ञान के निष्प्रकारकत्व होने पर भी उसमें बाधकता मानी जाती है। इसका निरूपण "प्रत्यक्षस्य भाविबाधंविचारः" के खण्ड संख्या ४ में किया जा चुका है। स्वरूपभूत उपलक्षण के द्वारा बाधकज्ञान में व्यावृत्ताकारता आने पर भी अखण्डार्थता की हानि नहीं होती है—इसका भी निरूपण संक्षेप से उक्त खण्ड संख्या ४ में किया गया है और विस्तार से द्वितीय परिच्छेद में किया जायेगा।।५।।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैत मतानुसार ब्रह्मज्ञान से व्यावहारिक और प्रातिभासिक दोनों का ही बाध माना जाता है। अतः इन दोनों में जब बाध्यत्व समान रूप से रहता है, तब उन दोनों में भेद किस कारण से माना जाता है? यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि व्यावहारिक प्रपञ्च में मायिकत्व है और प्रातिभासिक शुक्तिरजतादि में आविद्यकत्व है। अतः इन दोनों में भेद माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि माया और अविद्या में अभेद होने के कारण जिसमें मायिकत्व रहेगा, उसमें आविद्यकत्व भी रहेगा और जिसमें आविद्यकत्व रहेगा, उसमें मायिकत्व भी रहेगा। अतः मायिकत्व और आविद्यकत्व के आधार पर व्यावहारिक और प्रातिभासिक में भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है। व्यावहारिक और प्रातिभासिक विषयों में कोई विशेषता न होने के कारण व्यावहारिक और प्रातिभासिक में मायिकत्व और आविद्यकत्व प्रयुक्त भेद नहीं माना जा सकता है। अर्थात् एक में मायिकत्व और दूसरे में आविद्यकत्व नहीं माना जा सकता है। अर्थात् उक्त दोनों में या तो मायिकत्व रहेगा अथवा आविद्यकत्व ही रहेगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि व्यावहारिक घटादि में जलाहरणादि रूप अर्थ क्रियाकारित्व (कार्यकारित्व) है और प्रातिभासिक घटादि में अर्थ क्रियाकारित्व नहीं है। अतः व्यावहारिक और प्रातिभासिक में भेद माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे व्यावहारिक घटादि में जलाहरणरूप अर्थ क्रियाकारित्व है ठीक उसी प्रकार स्वाप्निक प्रातिभासिक घटादि में भी स्वाप्निक जलाहरणादि रूप अर्थ क्रियाकारित्व देखा जाता है। अतः कार्यकारित्व और कार्याकारित्व के द्वारा व्यावहारिक और प्रातिभासिक में भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि अर्थक्रिया में व्यावहारिकत्व विशेषण देंगे। अर्थात् व्यावहारिक पदार्थ में व्यावहारिक अर्थक्रियाकारित्व है और प्रातिभासिक पदार्थ में प्रातिभासिक अर्थ क्रियाकारित्व है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा

अन्योन्याश्रयात्, स्वाप्नाङ्गनालिङ्गनादौ प्रातिभासिके व्यावहारिकसुखजनके अतिव्याप्तेश्च। नापि ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वतद्भिन्नज्ञानबाध्यत्वाभ्यां विशेषः, त्वन्मते रूप्यादेरपि शुक्त्यवच्छिन्नब्रह्मधीबाध्यत्वाद्, ब्रह्मण्यध्यस्तस्य क्षणिकत्वादेरपि प्रातिभासिकस्य ब्रह्मधीबाध्यत्वेनातिप्रसङ्गाच्च। नापि ब्रह्मप्रमाबाध्यत्वतदन्यप्रमाबाध्यत्वाभ्यां विशेषः, त्वन्मते ब्रह्मज्ञानस्यैव प्रमात्वात्। नापि प्रमाबाध्यत्व– भ्रान्तिबाध्यत्वाभ्यां विशेषः, भ्रान्तिबाध्यत्वस्य ब्रह्मण्यपि सत्त्वात्। नापि पारमार्थिकविषयधीबाध्य–

सत्यानन्दप्रबोधिका

है कि अर्थक्रियाकारित्व में व्यावहारिकत्व विशेषण देने पर आत्माश्रय–अन्योन्याश्रयादि दोष होंगे। जैसे वह पदार्थ व्यावहारिक है जिसमें व्यावहारिक–अर्थक्रियाकारित्व है। इस प्रकार व्यावहारिक के ज्ञान में व्यावहारिक की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होगा। इसी प्रकार व्यावहारिकत्व के ज्ञान में व्यावहारिकत्व विशिष्ट अर्थ क्रियाकारित्व की अपेक्षा है और व्यावहारिकत्वविशिष्ट अर्थक्रियाकारित्व के ज्ञान में व्यावहारिकत्व की अपेक्षा है। अतः अन्योन्याश्रयदोष होगा। व्यावहारिक पदार्थ का लक्षण व्यावहारिकत्व विशिष्ट अर्थक्रियाकारित्व करने पर स्वाप्न कामिनी–स्पर्शादि रूप प्रातिभासिक पदार्थ में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उसमें व्यावहारिक सुख की जनकता अर्थात् व्यावहारिकत्वविशिष्ट अर्थक्रियाकारिता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि व्यावहारिक ब्रह्मज्ञान से बाध्य है और प्रातिभासिक ब्रह्मज्ञान से भिन्न ज्ञान से बाध्य है। अतः दोनों में भेद है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती के मत में प्रातिभासिक रजत का शुक्त्यवच्छिन्न ब्रह्मरूप चैतन्य से ही बाध माना जाता है। अतः व्यावहारिक का लक्षण प्रातिभासिक में चले जाने से अतिव्याप्ति होगी। दूसरा दोष यह भी होगा कि ''आत्मा क्षणिक है''– ऐसा बौद्ध मानता है किन्तु सिद्धान्ती की दृष्टि से यह ज्ञान भ्रमात्मक है। अतः आत्मा में अध्यस्त क्षणिकत्वादि प्रातिभासिक पदार्थों का भी ''आत्मा क्षणिक नहीं है''– इत्याकारक आत्मज्ञान के द्वारा ही बाध होने के कारण व्यावहारिकत्व का लक्षण आत्मा में अध्यस्त क्षणिकत्वादि प्रातिभासिक पदार्थ में जाने से अतिव्याप्त हो जाता है। ब्रह्मप्रमाबाध्यत्व जिसमें रहता है, उसको व्यावहारिक कहते हैं और ब्रह्मप्रमान्यप्रमाबाध्यत्व जिसमें रहता है, उसको प्रातिभासिक कहते हैं। इस प्रकार से भी व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों में भी भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती के मत में ब्रह्मज्ञान में ही प्रमात्व माना जाता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञान से भिन्न ज्ञान में प्रमात्व ही प्रसिद्ध नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञान से अन्य प्रमाज्ञान होता नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञान से अन्य प्रमा से बाध्य को प्रातिभासिक नहीं माना जा सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान सर्वथा अबाधित विषयक होने से प्रमा है और ''नेदं रजतम्'' इत्यादि व्यावहारिक बाध ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाधित होते हैं। अतः बाधित विषयक होने के कारण भ्रान्तिरूप माने जाते हैं। अतः व्यावहारिक में प्रमा बाध्यत्व और प्रातिभासिक में भ्रान्तिबाध्यत्व होने से दोनों में भेद माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''ब्रह्म मिथ्या'' इस प्रकार की भ्रान्ति से ब्रह्म का भी बाध देखा जाता है। अतः भ्रान्तिबाध्यत्व जो कि प्रातिभासिक का लक्षण है। उसके ब्रह्म में जाने से अतिव्याप्ति होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ब्रह्मरूप पारमार्थिक विषय को विषय करने वाली बुद्धि से व्यावहारिक आकाशादि का और रज्वादि व्यावहारिक विषय को विषय करने वाली बुद्धि से प्रातिभासिक सर्पादि का बाध होता है। अतः दोनों में भेद माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ऐसा मानने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि पारमार्थिकत्व का ज्ञान होने पर पारमार्थिकत्व से घटित व्यावहारिकत्व का ज्ञान होता है और व्यावहारिकत्व का ज्ञान होने पर पारमार्थिकत्व का ज्ञान होता है, क्योंकि व्यावहारिक पदार्थ के बाधक ज्ञान के विषय को

त्वव्यावहारिकविषयधीबाध्यत्वाभ्यां विशेषः, अन्योन्याश्रयात्। नाप्यन्योन्येतरत्वाभ्याम्, भेदकाभावे इतरत्वस्यैवायोगाद्, अन्योन्याश्रयाच्चेति—चेत्।।६।।

न, सप्रकारकनिष्प्रकारकज्ञानबाध्यत्वाभ्यां शुद्धब्रह्मधी— बाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा महावाक्यजन्यधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा स्वबाधकधीबाध्यत्वतदन्यधीबाध्यत्वाभ्यां वा भेदसम्भवात्। शुद्धशब्देन निर्धर्मकाधिष्ठानमात्रमेवात्र विवक्षितम्। न च—निर्धर्मकं यद् वस्तुगत्या तज्ज्ञानं भ्रमकालेऽपि, निर्धर्मकत्वविशिष्टस्य तदुपलक्षितस्य वा ज्ञानं चेद्विवक्षितं, तदा अखण्डार्थताहानिः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

पारमार्थिक कहा जाता है। व्यावहारिक कौन है? जो प्रातिभासिक से भिन्न है। प्रातिभासिक कौन है? जो व्यावहारिक से भिन्न है। इस प्रकार से भी व्यावहारिक और प्रातिभासिक में भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि भेदक का अभाव है। अर्थात् अनुगत अनतिप्रसक्त भेदीय प्रतियोगितावच्छेदक का ज्ञान न होने के कारण उन दोनों में भेद का ज्ञान नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रातिभासिक= व्यावहारिक भेद विशिष्ट। अतः भेदीयप्रतियोगितावच्छेदक= व्यावहारिकत्व। इसका पृथक् से लक्षण जब तक नहीं बन जाता तब तक प्रातिभासिक का व्यावहारिक के भेद से घटित उक्त लक्षण नहीं बन सकता है। इसी प्रकार व्यावहारिक= प्रातिभासिकभेद विशिष्ट। अतः भेदीयप्रतियोगितावच्छेदक= प्रातिभासिकत्व। इसका पृथक् से लक्षण जब तक नहीं बन जाता तब तक व्यावहारिक का प्रातिभासिक के भेद घटित उक्त लक्षण नहीं बन सकता है। दूसरी बात यह भी है कि इस पक्ष में अन्योन्याश्रयदोष भी होगा, क्योंकि प्रातिभासिक के लक्षण के लिए व्यावहारिक के ज्ञान की आवश्यकता है और व्यावहारिक के लक्षण के लिए प्रातिभासिक के ज्ञान की आवश्यकता है।।६।।

सिद्धान्ती— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि (१) प्रातिभासिक में सप्रकारक ज्ञानबाध्यत्व रहता है और व्यावहारिक में निष्प्रकारकज्ञान (ब्रह्मज्ञान) बाध्यत्व रहता है। अतः व्यावहारिक और प्रातिभासिक में भेद माना जा सकता है। (२) [प्रथम कल्प के अनुसार निष्प्रकारकज्ञानबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व के लक्षण की प्रातिभासिक में अतिव्याप्ति हो रही है, क्योंकि ''सोऽयम्'' इस प्रत्यभिज्ञावाक्य से जन्य निष्प्रकारक ज्ञान के द्वारा बाधित प्रातिभासिक (तदर्थ और इदमर्थ का) भेद भी होता है। इस अरुचि के कारण द्वितीय पक्ष को कह रहे हैं कि] व्यावहारिक में शुद्ध ब्रह्म धी बाध्यत्व रहता है और प्रातिभासिक में शुद्ध ब्रह्म धी से अन्य धी बाध्यत्व रहता है। अतः दोनों में भेद माना जा सकता है। (३) [द्वितीय पक्ष में यह अरुचि है कि जब शुद्ध ब्रह्म में ज्ञान की विषयता नहीं मानी जाती है, तब असम्भव दोष हो जाता है। अतः तृतीय पक्ष को कहा जा रहा है।] व्यावहारिक में महावाक्यजन्यज्ञानबाध्यत्व रहता है और प्रातिभासिक में महावाक्यजन्यज्ञान भिन्नज्ञानबाध्यत्व रहता है। अतः व्यावहारिक और प्रातिभासिक में भेद मानना सम्भव है। (४) [तृतीय पक्ष में यह अरुचि है कि श्रीवाचस्पतिमिश्र के मत में प्रपञ्च का बाधक अखण्ड साक्षात्कार महावाक्यजन्य नहीं होता है, अपितु भावना सहकृत मन से उत्पन्न होता है। अतः चतुर्थ पक्ष को कहा जा रहा है।] व्यावहारिक में स्व की बाधक जो धी तादृश धी बाध्यत्व रहता है और प्रातिभासिक में स्वबाधक धी भिन्न बाध्यत्व रहता है। अतः व्यावहारिक और प्रातिभासिक में भेद माना जा सकता है। द्वितीय कल्प के घटक शुद्ध ब्रह्म शब्द से निर्धर्मक अधिष्ठान मात्र ब्रह्म विवक्षित है।

शङ्का— पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त द्वितीय पक्ष में जो वस्तुतः निर्धर्मक ब्रह्म कहा गया है। उसका ज्ञान विवक्षित है? अथवा निर्धर्मकत्वविशिष्ट ब्रह्म का ज्ञान विवक्षित है? अथवा निर्धर्मकत्वोपलक्षित ब्रह्म का ज्ञान विवक्षित है? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि जो वस्तुगत्या निर्धर्मक ब्रह्म है। वह

प्रकारीभूतनिर्धर्मकत्वद्वितीयाभावादेस्तात्त्विकत्वापत्तिश्चेति—वाच्यम्, निर्धर्मकं यद् वस्तुगत्या तन्मात्रगोचरज्ञानस्य विवक्षितत्वात्, तस्य च भ्रमकालेऽभावात्। निर्धर्मकत्वादेस्तद्बुद्धावुपायत्वमात्रम्, न तु तद्बुद्धौ विषयत्वम्। अतो नाखण्डार्थताहानिप्रकारतात्त्विकत्वपत्ती। निष्प्रकारकत्वेऽपि संशयादिनिवर्तकत्वमुपपादितमेव। तस्मादज्ञानोपादानकं जगत् मिथ्येति सिद्धम्।।७।।

उपाधिबाधप्रतिपक्षशून्यं विपक्षबाधागमसव्यपेक्षम्।
दृश्यत्वमव्याहतमम्बरादिमिथ्यात्वसिद्धौ सुदृढं हि मानम्।।

तदेवं दृश्यस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वात्तदतिरिक्तब्रह्मरूपाखण्डार्थनिष्ठवेदान्तवाक्यं परतत्त्वावेदकम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्वप्रत्ययवेद्य होने के कारण उसका ज्ञान भ्रान्तिकाल में ही रहेगा। अत: वह भ्रान्ति का बाधक नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर विशिष्टबोध होने के कारण अखण्डार्थता की हानि होगी। इसी प्रकार तृतीय पक्ष स्वीकार करने पर भी अखण्डार्थता की हानि होगी, क्योंकि काकोपलक्षित गृह जैसे उत्तृणत्व धर्म से विशिष्ट होता है, वैसे ही निर्धर्मकत्वोपलक्षित ब्रह्म भी किसी धर्म से विशिष्ट होगा। दूसरी बात यह है कि बाधकज्ञान=निर्धर्मकत्वविशिष्ट ब्रह्मज्ञान अथवा द्वितीयाभावोपलक्षित ब्रह्मज्ञान। प्रथम ज्ञान में प्रकार है निर्धर्मकत्व और द्वितीय ज्ञान में प्रकार है द्वितीयाभाव। ये दोनों प्रकार तात्त्विक हो जाना चाहिए, क्योंकि व्यावहारिक पदार्थ के बाधक ज्ञान का विषय पारमार्थिक (तात्त्विक) होता है।

समाधान— पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम पक्ष में कथित वस्तुगत्या निर्धर्मक जो ब्रह्म है, तन्मात्रगोचर ज्ञान ही उक्त द्वितीय पक्ष के घटक शुद्ध ब्रह्म धी शब्द से कहा गया है। ऐसा ज्ञान भ्रमकाल में नहीं होता है, क्योंकि भ्रमकाल में निष्प्रकारक ब्रह्म का ज्ञान नहीं रहता है अपितु सप्रकारक ब्रह्म का ज्ञान रहता है। बाधकज्ञान=निर्धर्मकत्वोपलक्षित ब्रह्म का ज्ञान अथवा द्वितीयाभावोपलक्षित ब्रह्म का ज्ञान मानने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि निर्धर्मकत्व और द्वितीयाभाव ये तो बाधकबुद्धि में उपायत्व=इतर व्यावृत्ति के साधन मात्र हैं, न कि बाधकबुद्धि में निर्धर्मकत्वादि विषय हैं, क्योंकि उपलक्षण कार्यानन्वयी होता है। प्रकृत में कार्य=विषयत्व। अत: उपलक्षण (निर्धर्मकत्व—द्वितीयाभावादि) कार्य (विषयत्व) कोटि में अन्वयी नहीं है। विषयत्व कोटि में केवल ब्रह्म ही प्रविष्ट है। अत: अखण्डार्थता की हानि नहीं होगी और प्रकार (निर्धर्मकत्व और द्वितीयाभावादि) के तात्त्विकत्व की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि बाधकज्ञान के विषय कोटि में जो प्रविष्ट होता है, वही तात्त्विक होता है। प्रकृत में प्रकार (निर्धर्मकत्वादि) बाधकज्ञान के विषय कोटि में प्रविष्ट ही नहीं है। अत: प्रकार में तात्त्विकत्व की आपत्ति नहीं होगी। निष्प्रकारक ज्ञान भी संशयादि का निवर्तक होता है—इसका निरूपण ''प्रत्यक्षस्य भाविबाधविचार:'' के खण्ड संख्या ४ में किया जा चुका है। फलत: प्रपञ्च में अज्ञानोपादनकत्व और मिथ्यात्व है—यह सिद्ध हो गया है।।७।।

उपाधिबाधप्रतिपक्षशून्यं विपक्षबाधागमसव्यपेक्षम्।
दृश्यत्वमव्याहतमम्बरादिमिथ्यात्वसिद्धौ सुदृढं हि मानम्।।

[उपाधि बाध और प्रतिपक्ष (सत्प्रतिपक्ष) इत्यादि दोषों से रहित, विपक्ष बाधक अनुकूलतर्क एवं आगम से सव्यपेक्ष (सहकृत) व्याघातशून्य (आत्मीय कार्य करने में सक्षम) ऐसा जो दृश्यत्वादि रूप हेतु है। वह आकाशादि प्रपञ्च के मिथ्यात्व सिद्धि में अकाट्य और सुदृढ़ प्रमाण है।] पूर्वोक्त प्रकार से आकाशादि दृश्य रूप प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि होने से आकाशादि दृश्यरूप प्रपञ्च से भिन्न ब्रह्मरूप अखण्डार्थ के बोधक वेदान्तवाक्य परम तत्त्व के आवेदक माने जाते हैं और सखण्डार्थविषयक

सखण्डार्थविषयकं सर्वमतत्वावेदकमेवेति। यद्यपीदं ब्रह्मज्ञानाव्यवहितभ्रमविषये प्रातिभासिके व्यावहारिकलक्षणमतिव्याप्तम्। प्रातिभासिकलक्षणं चाव्याप्तम्, तथापि करणसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वं तदसंसर्गिदोषप्रयुक्तत्वं च तयोर्लक्षणं निरवद्यम्।।८।।

इति सत्त्वत्रैविध्योपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्व वेदान्तवाक्य अतत्त्वावेदक माने जाते हैं। यद्यपि निष्प्रकारकज्ञानबाध्यत्वादि रूप जो व्यावहारिकत्व के पूर्वोक्त चारों लक्षण कहे गये हैं, वे सभी लक्षण ब्रह्मज्ञान से अव्यवहित पूर्व क्षण में उत्पन्न भ्रम के विषयीभूत प्रातिभासिक पदार्थ में अतिव्याप्त हैं, क्योंकि उक्त प्रातिभासिक पदार्थ में सप्रकारकज्ञानबाध्यत्वादि नहीं है, अपितु निष्प्रकारकज्ञानबाध्यत्वादि ही है। इसी प्रकार सप्रकारकज्ञानबाध्यत्वादि रूप प्रातिभासिक के जो चारों लक्षण कहे गये हैं, वे सभी लक्षण ब्रह्मज्ञान से अव्यवहित पूर्वक्षण में उत्पन्न भ्रम के विषयीभूत प्रातिभासिक पदार्थ में अव्याप्त हैं,क्योंकि उसमें सप्रकारकज्ञानबाध्यत्वादि नहीं है। तथापि नेत्रादिकरण सम्बन्धी आगन्तुक दोष (काच—कामलादि दोष) प्रयुक्तत्त्व प्रातिभासिकत्व का लक्षण है और करणासम्बन्धी अविद्यादि दोष प्रयुक्तत्त्व व्यावहारिकत्व का लक्षण है। अर्थात् मूला अविद्या से अन्य करणसम्बन्धी दोषप्रयुक्तत्त्व प्रातिभासिक का लक्षण है और मूला अविद्या से प्रयुक्तत्त्व व्यावहारिक का लक्षण है। यहां पर अविद्याप्रयुक्तत्त्व का अर्थ है— अविद्यातत्प्रयुक्तान्यतरत्व। ऐसा अर्थ करने पर अविद्या में व्यावहारिकत्व की अव्याप्ति नहीं होगी।।८।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सत्त्वत्रैविध्योपपत्तिः

२३— मङ्गलाचरणम्

अविद्यातत्कार्यात्मकनिबिडबन्धव्यपगमे यमद्वैतं सत्यं प्रततरपरमानन्दममृतम्।
भजन्ते भूमानं भवभयभिदं भव्यमतयो नमस्तस्मै नित्यं निखिलनिगमेशाय हरये।।१।।
अनादिसुखरूपता निखिलदृश्यनिर्मुक्तता निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः।
त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्मि पूर्णो हरिः।।२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

महाभाष्यकार भगवान् श्रीपतञ्जलि ने ''वृद्धिरादैच्च'' (अ.सू. १—१—१) सूत्र के महाभाष्य में कहा है कि— ''मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शात्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युः'' इस वृद्धिसूत्रस्थमहाभाष्यादि स्मृति सिद्ध कर्तव्यता का अनुसरण करते हुए आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार प्रथम परिच्छेद के पूर्णता के अवसर पर मङ्गलाचरण कर रहे हैं—

अविद्यातत्कार्यात्मकनिबिडबन्धव्यपगमे, यमद्वैतं सत्यं प्रततरपरमानन्दममृतम्।
भजन्ते भूमानं भवभयभिदं भव्यमतयो, नमस्तस्मै नित्यं निखिलनिगमेशाय हरये।।१।।

भव्यमतयः= कामक्रोधादिरूप स्थूल और विषयाशक्तिरूप सूक्ष्म इन दोनों प्रकार के दोषों से रहित है अन्तःकरण जिन महापुरुषों का ऐसे शुद्ध सात्त्विक अन्तःकरणवाले यतिगण, अविद्यातत्कार्यात्मकनिबिडबन्धव्यपगमे= अविद्या और अविद्या प्रयुक्त प्रपञ्च रूप जो जटिल (कठोर) बन्ध है, उस बन्ध के निवृत्ति के निमित्त (यहां पर सप्तमी विभक्ति निमित्तार्थक है, जैसे ''चर्मणि द्वीपिनं हन्ति'' इत्यादि स्थलों पर निमित्तार्थक सप्तमी होती है।) यमद्वैतं सत्यं प्रततरपरमानन्दममृतं भवभयभिदं भूमानम्= जिस अद्वैत, सत्य, व्यापक, परमानन्द, अमृत (मरण धर्म से रहित अर्थात् अमर) भवभयापहारि भूमा तत्त्व की, भजन्ते= श्रवणादि द्वारा तद्विषय प्रत्ययों का धारावाहिक रूप से अनन्तरित सत्कारित दीर्घ सामयिक सन्तान का सम्पादन करते हैं, तस्मै निखिलनिगमेशाय हरये नित्यं नमः = उस निखिलनिगमेश हरि के लिए मेरा नित्य नमस्कार है।।१।।

अनादिसुखरूपता निखिलदृश्यनिर्मुक्तता, निरन्तरमनन्तता स्फुरणरूपता च स्वतः।
त्रिकालपरमार्थता त्रिविधभेदशून्यात्मता, मम श्रुतिशतार्पिता तदहमस्ति पूर्णो हरिः।।२।।

मेरी अनादि सुखरूपता, निखिल दृश्यनिर्मुक्तता, नित्य अनन्तता, स्वतःप्रकाशरूपता, त्रिकाल परमार्थता और त्रिविधभेदरहिता श्रुतिशत से अर्पिता है। अतः मैं पूर्णः = मन्निष्ठत्वेन उक्तश्रुतिशतार्पितनिखिलविशेषण से उपलक्षित हरिः = ब्रह्म हूं।।२।।

गुरोरधीत्य विधिवद् ध्रुवमात्मविशुद्धये।
स्वामिविशुद्धानन्देन निरमायि प्रबोधिका।।१।।
मायावृता तारपदेन यर्हि चिन्तामणीति प्रथिता भवेद्धि।
विद्या सुगुप्ता विपुलप्रभावा यां प्राप्य हर्षोऽपि जगाम हर्षम्।।२।।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्ति भेदविभागिने।
व्योमवद् व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।३।।
नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत्परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखीभव।।४।।
जड़तां वर्जयित्वैतां शिलाया हृदयं च यत्।
अमनस्कं महावाहो तन्मयो भव सर्वदा।।५।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीश्रीचरणशिष्यश्रीमधुसूदन- सरस्वतीविरचितायामद्वैतसिद्धौ सपरिकरप्रपञ्चमिथ्यात्वनिरूपणं नाम प्रथमः परिच्छेदः॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्यस्वामि- विशुद्धानन्दगिरिकृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां सत्यानन्दप्रबोधिकायां सपरिकरप्रपञ्चमिथ्यात्वनिरूपणं नाम प्रथमः परिच्छेदः।

॥ श्रीशङ्करः प्रीयताम्॥